ग्रन्थ का नाम—

श्री आचाराङ्ग सूत्र

प्रथम-श्रुतस्कन्ध

व्याख्याकार :—

स्व० आचार्य प्रवर
श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक —

मुनि श्री समदर्शी जी

परिशिष्ट सम्पादक —

मुनि श्री समदर्शी जी

प्रकाशक —

आचार्य श्री आत्माराम जी
जैनागम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक लुधियाना

प्रथम प्रवेश

जनवरी ३१ १९६३

वीर सं० २४८९

—पंद्रह रुपये

सुनिष्णातं शास्त्रे, विजित कुसुमास्त्रं यमिवरं,
भवज्वाला माला ऽऽकुलितजनशान्त्यै जलधरम्।
ममेषां लोकानां, हृदयकमलेभ्यो दिनकरं,
नमाम्यात्मारामं, मुनिपतिमहोऽमंगलहरम् ॥

मुनि समदर्शी

[सम्पादक]

—मुद्रक—

पूर्णचन्द्र शर्मा प्रभाकर ने गौतम एजन्सी, मोचपुरा बाजार से कम्पोज करके सरदार सज्जन सिंह प्रिंटर की गुरुदत्तमैस प्रिंटिंग प्रेस लुधियाना के प्रबन्ध में छपवाई।

श्री आचाराङ्ग—सूत्र

प्रथम-श्रुतस्कन्ध की

विषय-सूचि

तं सच्चं भगवं—

सत्य ही भगवान है।

एवं खु नाणिणो सारं,

ज्ञानी होने का सार यह है कि—

जं न हिंसइ किंचणं।

किसी की भी हिंसा न करे।

नाणं नरस्स सारं,

ज्ञान-मानवता का सार है।

सारोवि नाणस्स होइ सम्मत्तं।

ज्ञान का सार है—सम्यक्त्व।

—भगवान महावीर

❀ गुर्वावली ❀

अणुत्तरेहिं गुणसहस्सेहिं जुत्ता सागरो व्व गम्भीरो दीहदसी महप्पा ।
नाहस्स सण्णा सिरिमोत्तीरामो आयरिओ आसी विसालकित्ती ॥१॥

तस्सतेवासी पुण्णपुञ्जस्सामी, कुम्मोव दत्तो ससीव सोमो ।
परे मुणी गणवई य नामेण गणावच्छेअपयालंकिओ ॥२॥

तस्स सीसे य महाणुभावो, गुरुभत्तिकारओ पण्णासधीरो ।
विक्खायकित्ती जयरामो नाम रत्तो वएसु सया अपमत्तो ॥३॥

तस्स सिक्खिओ इंगियागारसम्पन्नो, सुहुमनाणेसु आसी विसारओ ।
नामत्थि जस्स सिरिसालिग्गामो, तस्स पसाएण लिहिओ एस गंथो ॥४॥

आयारधम्मदप्पणमिव सविमर्शं, आयारसुयं अघतिमिरविणासयं ।
साहु आयार बोहयं वीरेण पण्णत्तं चारित्तविवड्ढणं मोक्खमग्गपयासयं ॥५॥

इम्मस्स सुयस्स 'हिंदी' पयत्थो छाया आदि विभूसिओ य ।
लिहिओ मया गुरुपसाएण आयरिएण अप्पारामेण ॥६॥

आचारांग—प्रथम श्रुतस्कन्ध

गाथा विषय सूचि (Index)

श्री आचारांग सूत्र-प्रथम श्रुतस्कन्ध

सूत्र-सूचि (Index)

प्रकाशकीय

आज हम पाठकों के हाथ मे जैन धर्म दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर,साहित्यरत्न स्व० आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा चिर-अनूदित इस शास्त्र-रत्न का प्रथम भाग समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ का नाम श्री आचाराङ्ग सूत्र है, जो साधना—जगत मे प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आत्मोत्थान की प्रथम श्रेणी है। जिस प्रकार शारीरिक अङ्गों में मस्तिष्क का सर्वोपरि स्थान है, तथैव जैनागमों मे अंग शास्त्र और अङ्ग शास्त्रों मे आचाराङ्ग सूत्र सर्व-प्रथम स्थान लिए हुए है। इसमे साधु जीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का विशद वर्णन है। आचार धर्म की प्रधानता होने से ही इसका नाम आचाराङ्ग है।

स्व० आचार्य श्री ने तो कई वर्ष पूर्व ही इस शास्त्र के अनुवाद कार्य को समाप्त कर दिया था, परन्तु समिति कई कारणों से चाहती हुई भी इसका प्रकाशन न कर सकी, इसके लिए पाठक क्षमा करें।

स्व० आचार्य श्री के नाम से कौन अपरिचित है, वह दिव्य दिवाकर जब तक इस भूतल पर रहा, तब तक उसके जीवन का कण-कण अनन्त-अनन्त ज्ञान-रश्मियों का प्रादुर्भाव कर जन-मानस के अज्ञानान्धकार को दूर करने का सत्प्रयास करता रहा। और यह उन्हीं की सत्कृपा का मधुर फल है, जो आज हमारे पाठकों के समक्ष है।

आचार्य श्री द्वारा अनूदित एव लिखित अन्य भी कई ग्रन्थ-रत्न समिति के पास हैं, जिनमे से कुछ तो समय-समय पर प्रकाशित होकर भूले-भटके भ्रान्त मानवों का मार्ग-दर्शन करते रहे हैं और कुछ अभी अप्रकाशित ही हैं, जिन्हें समिति यथाशीघ्र प्रकाश मे लाने का भरसक प्रयास कर रही है। आशा है, प्रस्तुत सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध तो शीघ्र ही पाठकों के कर कमलों को सुशोभित करेगा।

इस बात को प्रकट करते हुए भी हम हर्ष अनुभव करते हैं कि प्रकाशन-समिति के स्थायी सदस्यों की सख्या ८० के लगभग पहुच गई है। समिति का स्थायी सदस्य ६२५ रुपए देने से बनता है। इन रुपयों द्वारा शास्त्रों का प्रकाशन होता है शास्त्र विक्रय से भी जो धन प्राप्त होता है उससे पुन शास्त्रों का प्रकाशन किया जाता है।

दूसरी ओर हम उन ५८ दानी महानुभावों के नाम की सूचि प्रकाशित करते हैं जिनके चित्र श्री दशवैकालिक सूत्र और श्री विपाक सूत्र में छप चुके हैं। और जो नए सदस्य हैं उन के चित्र अग्रिम पृष्ठों पर दिए जा रहे हैं।

१ श्री गजानन्दी राम जी जैन, मेरठा ।
२ स्व० श्री आशाराम जी जैन कसूर वाले।
३ स्व० श्री मस्त लाल जी जैन लुधियाना ।
४ श्री सोहन लाल जी जैन लुधियाना ।
५ स्व बाबू परमानन्द जी वकील, जैन, कसूर वाले ।
६ श्री गोपीराम जी जैन होशयारपुर ।
७ स्व० श्री रोडो शाह जी जैन रावलपिंडी वाले ।
८ स्व० श्री तेजे शाह जी रावलपिंडीवाले ।
९ श्री शालिग्राम जी जैन जम्मू ।
१ श्री बख्शीराम पिमन लाल जी लुधियाना
११ श्री नन्दलाल जी जैन, लुधियाना ।
१२ श्री घूमीराम पेमचन्द्र जालन्धर छावनी
१३ श्री मंगलसेन रोशन लाल जी जैन
१४ श्री तेलू राम जी जैन जालन्धर छावनी
१५ श्री करमे शाह जी जैन, देहली ।
१६ श्री हुकमचन्द जी जैन, लुधियाना ।
१७ श्री रामजी दास जी जैन फकीरकोटला ।
१८ बहिन देवकी देवी जी जैन लुधियाना ।
१९ श्री विलायती राम जी जैन न्यूदेहली
२ बहिन सावित्री देवी जी जैन रोपड़ ।
२१ श्री विलायती राम जी सुपुत्र श्री गेन्दामल जी जैन न्यू देहली ।
२२ श्री सावन मल जी नाहर लुधियाना।
२३ श्री चरणदास जी जैन पटियाला ।
२४ श्री अमरनाथ जी लाहौर वाले, देहली
२५ श्री हंसराज जी जैन लुधियाना ।
२६ बहिन महेन्द्र कुमारी जी जैन गुजरांवाला
२७ श्री देशराज जी जैन सुलतानपुरलोधी ।
२८ श्री मन्शीराम जी जैन लुधियाना ।
२९ „ शिवप्रसाद जी जैन अम्बाला शहर ।

३ बनारसीदास जी जैन कपूरथला
३१ „ चूनीलाल जी जैन कपूरथला ।
३२ दौलतराम जी जैन समराला ।
३३ „ मालकराम जी जैन, लुधियाना ।
३४ „ धनीराम जी जैन सुलतानपुर लोधी
३५ कुन्दनलाल जी जैन सदर बाजार देहली
३६ „ प्यारेलाल जी जैन, लुधियाना ।
३७ स्वर्गीय श्री मुंशीराम जी जैन, फरीदकोट
३८ „ , सुखचन्द जी जैन जौहरी देहली ।
३९ „ , बांकेराय जी जैन लुधियाना
४ श्री अच्छरूमल जी जैन पटियाला ।
४१ „ चूनीशाह जी जैन स्यालकोट वाले ।
४२ „ कुन्दनलाल जी जैन रामा मण्डी ।
४३ स्व० श्री रायूशाह जी जैन रावलपिण्डी ।
४४ बहिन चन्द्रापति जी जैन देहली ।
४५ स्व० श्री नत्थूशाह जी जैन स्यालकोट ।
४६ श्री जवंदयाल शाह जी जैन,स्यालकोट ।
४७ स्व० श्री हंसराज जी जैन होशयारपुर ।
४८ श्री मोहनलाल जी बैंकर, बनूड़ ।
४९ श्री हरिराम जी थापर, लुधियाना ।
५ स्व० श्री बैजनाथ दास जी अमृतसर ।
५१ श्री मोतीलाल जी जैन जौहरी देहली ।
५२ श्रीमति हुकमदेवी जी जैन फरीद कोट
५३ श्री सत्यप्रकाश जी जैन फगवाड़ा ।
५४ श्री सन्तराम जी जैन, अमृतसर ।
५५ श्रीमति माम्मवती जी जैन लुधियाना
५६ श्रीमति बसन्तदेवी जी जैन जम्मू ।
५७ श्रीमति द्रौपदी देवी जी जैन कपूरथला
५८ श्रीमती विष्णु देवी जैन, जैतों मण्डी ।

प्रकाशकीय

आज हम पाठकों के हाथ मे जैन धर्म दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर,साहित्यरत्न स्व० आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा चिर-अनूदित इस शास्त्र-रत्न का प्रथम भाग समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ का नाम श्री आचाराङ्ग सूत्र है, जो साधना—जगत मे प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आत्मोत्थान की प्रथम श्रेणी है। जिस प्रकार शारीरिक अङ्गों मे मस्तिष्क का सर्वोपरि स्थान है, तथैव जैनागमों में अग शास्त्र और अङ्ग शास्त्रों में आचाराङ्ग सूत्र सर्व-प्रथम स्थान लिए हुए है। इसमें साधु जीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का विशद वर्णन है। आचार धर्म की प्रधानता होने से ही इसका नाम आचाराङ्ग है।

स्व० आचार्य श्री ने तो कई वर्ष पूर्व ही इस शास्त्र के अनुवाद कार्य को समाप्त कर दिया था, परन्तु समिति कई कारणों से चाहती हुई भी इसका प्रकाशन न कर सकी, इसके लिए पाठक क्षमा करें।

स्व० आचार्य श्री के नाम से कौन अपरिचित है, वह दिव्य दिवाकर जब तक इस भूतल पर रहा, तब तक उसके जीवन का कण-कण अनन्त-अनन्त ज्ञान-रश्मियों का प्रादुर्भाव कर जन-मानस के अज्ञानान्धकार को दूर करने का सत्प्रयास करता रहा। और यह उन्हीं की सत्कृपा का मधुर फल है, जो आज हमारे पाठकों के समक्ष है।

आचार्य श्री द्वारा अनूदित एव लिखित अन्य भी कई ग्रन्थ-रत्न समिति के पास हैं, जिनमे से कुछ तो समय-समय पर प्रकाशित होकर भूले-भटके भ्रान्त मानवों का मार्ग-दर्शन करते रहे हैं और कुछ अभी अप्रकाशित ही हैं, जिन्हें समिति यथाशीघ्र प्रकाश मे लाने का भरसक प्रयास कर रही है। आशा है, प्रस्तुत सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध तो शीघ्र ही पाठकों के कर कमलों को सुशोभित करेगा।

इस बात को प्रकट करते हुए भी हम हर्ष अनुभव करते हैं कि प्रकाशन-समिति के स्थायी सदस्यों की सख्या ८० के लगभग पहुंच गई है। समिति का स्थायी सदस्य ६२५ रुपए देने से बनता है; इन रुपयों द्वारा शास्त्रों का प्रकाशन होता है शास्त्र विक्रय से भी जो धन प्राप्त होता है उससे पुन शास्त्रों का प्रकाशन किया जाता है।

दूसरी ओर हम उन ५८ दानी महानुभावों के नाम की सूचि प्रकाशित करते हैं जिनके चित्र श्री दशवैकालिक सूत्र और श्री विपाक सूत्र में छप चुके हैं। और जो नए सदस्य हैं उन के चित्र अग्रिम पृष्ठों पर दिए जा रहे हैं ।

१ श्री लखमीचन्द राम जी जैन, देहली।
२ स्व० श्री आशाराम जी जैन कसूर वाले।
३ स्व० श्री सन्त लाल जी जैन लुधियाना।
४ श्री सोहन लाल जी जैन लुधियाना।
५ स्व बाबू परमानन्द जी वकील, जैन कसूर वाले।
६ श्री गोपीराम जी जैन होश्यारपुर।
७ स्व० श्री टेकी शाह जी जैन रावलपिंडी वाले।
८ स्व० श्री लेखे शाह जी रावलपिंडीवाले।
९ श्री शालिग्राम जी जैन जम्मू।
१ श्री बख्शीराम विसन लाल जी लुधियाना
११ श्री नन्दलाल जी जैन, लुधियाना।
१२ श्री धूमीराम पेखब सन्ज,जालन्धर छावनी
१३ श्री मंगलसेन रोशन लाल जी जैन
१४ श्री तेलू राम जी जैन जालन्धर छावनी
१५ श्री छज्जू शाह जी जैन देहली।
१६ श्री हुकमचन्द जी जैन लुधियाना।
१७ श्री रामजी दास जी जैन मालेरकोटला।
१८ बहिन देवकी देवी जी जैन लुधियाना।
१९ श्री बिशम्बरी राम जी जैन न्यूदेहली
२ बहिन सावित्री देवी जी जैन जीरा।
२१ श्री बिशम्बरी राम जी सुपुत्र श्री गेन्दामल जी जैन, न्यू देहली।
२२ श्री सावन मल जी नाहर लुधियाना।
२३ श्री चरणदास जी जैन पटियाला।
२४ श्री अमरनाथ जी लाहौर वाले, देहली
२५ श्री हंसराज जी जैन लुधियाना।
२६ बहिन महेन्द्र कुमारी जी जैन गुजरांवाला
२७ श्री देशराज जी जैन सुलतानपुरलोधी।
२८ श्री मस्तीराम जी जैन लुधियाना।
२९ „ शिवप्रसाद जी जैन अम्बाला शहर।

१ „ बनारसीदास जी जैन कपूरथला
३१ „ चूनीलाल जी जैन कपूरथला।
३२ दौलतराम जी जैन; समराला।
३३ „ बालकराम जी जैन, लुधियाना।
३४ „ मनीराम जी जैन सुलतानपुर लोधी
३५ कुन्दनलाल जी जैन, सदर बाजार देहली
३६ „ प्यारेलाल जी जैन, लुधियाना।
३७ स्वर्गीय श्री मुंशीराम जी जैन, फरीदकोट
३८ „ , खुशचन्द जी जैन जौहरी,देहली।
३९ बांकेराम जी जैन लुधियाना
४ श्री अच्छरूमल जी जैन, पटियाला।
४१ चूनीशाह जी जैन स्यालकोट वाले।
४२ कुन्दनलाल जी जैन रामा मण्डी।
४३ स्व० श्री रामूशाह जी जैन रावलपिण्डी।
४४ बहिन चम्पापति जी जैन देहली।
४५ स्व० श्री नत्थूशाह जी जैन स्यालकोट।
४६ श्री जयदयाल शाह जी जैन,स्यालकोट।
४७ स्व० श्री हंसराज जी जैन होश्यारपुर।
४८ श्री मोहनलाल जी बैंकर, बनूड़।
४९ श्री हरिराम जी थापर लुधियाना।
५ स्व० श्री देवराज दास जी अमृतसर।
५१ श्री मोतीलाल जी जैन जौहरी देहली।
५२ श्रीमति हुकमदेवी जी जैन फरीद कोट
५३ श्री सत्यप्रकाश जी जैन,फगवाड़ा।
५४ श्री सन्तराम जी जैन, अमृतसर।
५५ श्रीमति भाग्यवती जी जैन लुधियाना
५६ श्रीमति उत्तमदेवी जी जैन जम्मू।
५७ श्रीमति द्रौपदी देवी जी जैन कपूरथला
५८ श्रीमती विद्या देवी जैन जैतों मण्डी।

प्रकाशकीय

आज हम पाठकों के हाथ में जैन धर्म दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर, साहित्यरत्न स्व० आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा चिर-अनूदित इस शास्त्र-रत्न का प्रथम भाग समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ का नाम श्री आचाराङ्ग सूत्र है, जो साधना—जगत मे प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आत्मोत्थान की प्रथम श्रेणी है। जिस प्रकार शारीरिक अङ्गों मे मस्तिष्क का सर्वोपरि स्थान है, तथैव जैनागमों मे अग शास्त्र और अङ्ग शास्त्रों मे आचाराङ्ग सूत्र सर्व-प्रथम स्थान लिए हुए है। इसमे साधु जीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का विशद वर्णन है। आचार धर्म की प्रधानता होने से ही इसका नाम आचाराङ्ग है।

स्व० आचार्य श्री ने तो कई वर्ष पूर्व ही इस शास्त्र के अनुवाद कार्य को समाप्त कर दिया था, परन्तु समिति कई कारणों से चाहती हुई भी इसका प्रकाशन न कर सकी, इसके लिए पाठक क्षमा करें।

स्व० आचार्य श्री के नाम से कौन अपरिचित है, वह दिव्य दिवाकर जब तक इस भूतल पर रहा, तब तक उसके जीवन का कण-कण अनन्त-अनन्त ज्ञान-रश्मियों का प्रादुर्भाव कर जन-मानस के अज्ञानान्धकार को दूर करने का सत्प्रयास करता रहा। और यह उन्हीं की सत्कृपा का मधुर फल है, जो आज हमारे पाठकों के समक्ष है।

आचार्य श्री द्वारा अनूदित एवं लिखित अन्य भी कई ग्रन्थ-रत्न समिति के पास हैं, जिनमें से कुछ तो समय-समय पर प्रकाशित होकर भूले-भटके भ्रान्त मानवों का मार्ग-दर्शन करते रहे हैं और कुछ अभी अप्रकाशित ही हैं, जिन्हें समिति यथाशीघ्र प्रकाश मे लाने का भरसक प्रयास कर रही है। आशा है, प्रस्तुत सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध तो शीघ्र ही पाठकों के कर कमलों को सुशोभित करेगा।

इस बात को प्रकट करते हुए भी हम हर्ष अनुभव करते हैं कि प्रकाशन-समिति के स्थायी सदस्यों की सख्या ८० के लगभग पहुच गई है। समिति का स्थायी सदस्य ६२५ रुपए देने से बनता है। इन रुपयों द्वारा शास्त्रों का प्रकाशन होता है शास्त्र विक्रय से भी जो धन प्राप्त होता है उससे पुन: शास्त्रों का प्रकाशन किया जाता है।

दूसरी ओर हम उन ५८ दानी महानुभावों के नाम की सूचि प्रकाशित करते हैं जिनके चित्र श्री दशवैकालिक सूत्र और श्री विपाक सूत्र मे छप चुके हैं। और जो नए सदस्य है उन के चित्र अग्रिम पृष्ठों पर दिए जा रहे है ।

१ श्री सुखानन्दी राम जी जैन, देहली।
२ स्व० श्री आशाराम जी जैन कसूर वाले।
३ स्व० श्री सन्त लाल जी जैन लुधियाना।
४ श्री सोहन लाल जी जैन लुधियाना।
५ स्व० बाबू परमानन्द जी वकील, जैन, कसूर वाले।
६ श्री गोपीराम जी जैन होशयारपुर।
७ स्व० श्री रोची शाह जी जैन रावलपिंडी वाले।
८ स्व० श्री तेजे शाह जी रावलपिंडीवाले।
९ श्री शालिग्राम जी जैन जम्मू।
१ श्री वसतीराम चिमन लाल जी लुधियाना
११ श्री नन्दलाल जी जैन, लुधियाना।
१२ श्री धूमीराम पेयव सन्स् जालन्धर छावनी
१३ श्री मंगलसेन रोशन लाल जी जैन
१४ श्री तेलू राम जी जैन जालन्धर छावनी
१५ श्री बड़े शाह जी जैन, देहली।
१६ श्री हुकमचन्द जी जैन लुधियाना।
१७ श्री रामजी दास जी जैन माळेरकोटला।
१८ बहिन देवकी देवी जी जैन लुधियाना।
१९ श्री विलायती राम जी जैन न्यूदेहली
२ बहिन सावित्री देवी जी जैन जीरा।
२१ श्री विलायती राम जी सुपुत्र श्री गेन्दामल जी जैन न्यू देहली।
२२ श्री सावन मल जी नाहर लुधियाना।
२३ श्री चरनदास जी जैन पटियाला।
२४ श्री अमरनाथ जी लाहौर वाले, देहली
२५ श्री हंसराज जी जैन लुधियाना।
२६ बहिन महेन्द्र कुमारी जी जैन गुड़गांवां
२७ श्री देसराज जी जैन सुलतानपुरलोधी।
२८ श्री मग्घीराम जी जैन लुधियाना।
२९ „ शिवप्रसाद जी जैन अम्बाला शहर।
१ बनारसीदास जी जैन, कपूरथला
११ „ चूनीलाल जी जैन कपूरथला।
१२ „ दौलतराम जी जैन समराला।
१३ „ बालकराम जी जैन लुधियाना।
१४ „ धनीराम जी जैन सुलतानपुर लोधी
१५ कुन्दनलाल जी जैन, सदर बाजार देहली
१६ „ प्यारेलाल जी जैन, लुधियाना।
१७ स्वर्गीय श्री मुन्शीराम जी जैन, फरीदकोट
१८ „ „ सुखचन्द जी जैन जौहरी, देहली।
१९ चौकेराम जी जैन लुधियाना
४ श्री बाबूहरूमल जी जैन, पटियाला।
४१ „ चूनीशाह जी जैन, स्यालकोट वाले।
४२ „ कुन्दनलाल जी जैन रामा मण्डी।
४३ स्व० श्री रायूशाह जी जैन, रावलपिण्डी।
४४ बहिन चन्द्रावति जी जैन देहली।
४५ स्व० श्री मस्तूशाह जी जैन स्यालकोट।
४६ श्री जयदयाल शाह जी जैन,स्यालकोट।
४७ स्व० श्री हंसराज जी जैन होशयारपुर,
४८ श्री मोहनलाल जी बैंकर, बनूड़।
४९ श्री हरिराम जी बापर लुधियाना।
५ स्व० श्री वैष्णव दास जी अमृतसर।
५१ श्री मोतीलाल जी जैन जौहरी देहली।
५२ श्रीमति हुकमदेवी जी जैन फरीदकोट
५३ श्री सत्यप्रकाश जी जैन,फगवाड़ा।
५४ श्री सन्तराम जी जैन अमृतसर।
५५ श्रीमति भाग्यवती जी जैन लुधियाना
५६ श्रीमति रत्तमदेवी जी जैन जम्मू।
५७ श्रीमति द्रौपदी देवी जी जैन कपूरथला
५८ श्रीमती विद्या देवी जैन, जैतों मण्डी।

स्वर्गीया बहिन देवकी देवी जैन
प्रिंसीपल, जैन गर्ल्ज हायर सैकेंडरी स्कूल,
लुधियाना।

इस तप, त्याग तथा ब्रह्मचर्य की सजीव प्रतिमा का जन्म १२-३-१९०६ मे पिता श्री भक्त प्रेम चन्द जी और माता श्री भानी देवी के घर हुआ। आप अपने जीवन मे अनेक दीन, हीन, दलित और अनाथ विधवाओ का सहारा बनी। आपने अपने द्वारा सस्थापित जैन गर्ल्ज हायर सैकेन्डरी स्कूल की तन, मन और सहस्रो की सम्पत्ति मे सहायता की। शास्त्रो के प्रकाशन मे भी समय २ पर आप अपना योग-दान देती रही है। प्रस्तुत शास्त्र के प्रकाशन मे भी आपने पाँच हजार की राशि प्रदान की है। ७-४-१९६२ को आप की पुनीत आतमा इस ससार से प्रस्थान कर गई।
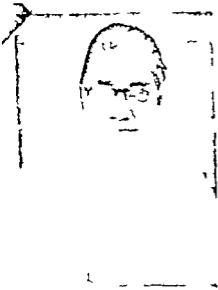
श्री वरखाराम जी जैन
पटियाला।
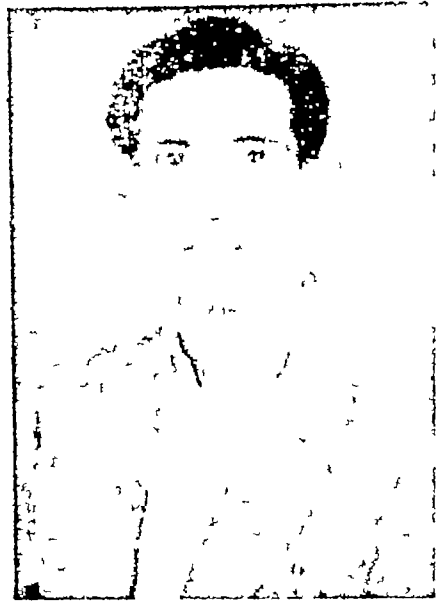
श्री तेलूराम जी जैन
प्रो० सी एल. जैन होजरी,
लुधियाना।

श्री अमृतसरियामल जी जैन
सराफ, समाना मंडी।

न,
मण्डी।

श्री भान चन्द जी जैन
सुपुत्र श्री बहुम्मल जैन
मानसा मण्डी।

स्वर्गीय-श्री रामजी दास जी जैन
मालेरकोटला वाले
(आपने शास्त्र प्रकाशन के लिये ₹ ₹
की पूंजी प्रदान की है)

कुछ नये सदस्यों के चित्र प्रयास करने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हो सके। जिनके नाम लेने पर ही हम सन्तुष्ट होना पड़ रहा है। श्री कुलयश राय जी जैन स्यालकोट वाले श्री अमोलक सिंह जी हांसी वाले श्रीमति केसर बाई जैन धर्मपत्नी श्री कुन्दन लाल जैन देहली श्री अमर नाथ जी जैन प्रो० रामा जैन हौजरी लुधियाना श्री ज्ञान चन्द जैन यूनाईटिड होजरी लुधियाना श्री हरि राम बजाज धनौर (पटियाला) श्री लद्धाशाह जी मुनीलाल जी जैन लाहौर वाले देहली।

पांच बहनें गुप्तदान देकर स्थायी सदस्य बनी है उन्होंने जिस विशाल हृदय का परिचय दिया है हम उनकी सराहना करते है।

इसके अतिरिक्त कुछ बहनो ने सौ-सौ रु० दिया है उनके नाम इस प्रकार है
शान्ति देवी धर्मपत्नि मनोहर लाल गुजरांवाला वाले रत्नी बाई धर्मपत्नि अगौरी लाल स्यालकोट वाले सुमित्रा देवी जैन धर्म० डा जैन लुधियाना श्री दयावती जी धर्म० शिवचरण जैन जम्मू।

जिन बहन भाईयों के उदार सहयोग से समिति का कार्य सफलता पूर्वक चल रहा है हम उनका हार्दिक धन्यवाद करते है और भविष्य के लिए इससे भी अधिक सहयोग की आशा रखते है

मन्त्री —
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक लुधियाना।

प्रस्तावना

श्रुतज्ञान का महत्व

प्रत्येक साधक का— चाहे वह श्रमण-श्रमणी हो या श्रावक-श्राविका, लक्ष्य मोक्ष है। उसका प्रत्येक पग अपने साध्य पथ पर बढता है। परन्तु, पथ पर कदम रखने के पूर्व उस पथ का ज्ञान होना भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसलिए जैनागमों में क्रिया के पहले ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है। आगम मे यहा तक उल्लेख मिलता है कि सम्यक् चारित्र क अभाव मे ज्ञान सम्यक् रह सकता है, परन्तु सम्यग् ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता। इसलिए क्रिया के पहले ज्ञान का महत्व स्वीकार किया गया है। साधक को यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया ही आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करने मे सहायक हो सकती है और सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला साधक ही मोक्ष मार्ग का आराधक हो सकता है।

ज्ञान के ५ भेद हैं— १-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-मन पर्यवज्ञान और ५-केवलज्ञान। इनमे प्रथम के दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं और शेप तीन ज्ञान अपनी अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों का ज्ञान करने मे इन्द्रिय एव मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। तीसरा और चौथा ज्ञान सीमित क्षेत्र मे स्थित सीमित पदार्थों को जानता-देखता है, परन्तु, केवल ज्ञान असीम होता है। वह समस्त पदार्थों के समस्त भावों को जानता-देखता है। उससे लोकालोक का कोई पदार्थ एव भाव छुपा हुआ नहीं रहता है। अत वह पूर्णत अनावृत्त होता है।

इन पाचों ज्ञानों मे श्रुतज्ञान उपकारी माना गया है। क्योंकि, श्रुतज्ञान सर्वज्ञ पुरुषों की वाणी है। इसमें द्वादशागी का समावेश हो जाता है। वस्तुत तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करके द्वादशागी का उपदेश देते हैं और इसी को श्रुतसाहित्य या श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान का अर्थ है— अपनी इन्द्रियों एव बुद्धि के द्वारा पदार्थों का बोध करना और श्रुतज्ञान का अभिप्राय है कि सर्वज्ञोपदिष्ट श्रुतसाहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करके पदार्थों का सही बोध करना। अत. अपनी बुद्धि को यथार्थ रूप से सोचने-समझने की प्रेरणा श्रुतज्ञान से ही मिलती है। श्रुतज्ञान के आधार पर ही साधक पदार्थों की सही जानकारी कर सकता है। और वह अपने चिन्तन का विकास करके आगे बढ सकता है। आगम में स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि साधक श्रुतज्ञान को सुनकर या पढ़कर ही कल्याणकारी एवं पापकारी अथवा हेय एव उपादेय पथ को

जान सकता है*। उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर पूछा गया है कि श्रुतज्ञान की आराधना से क्या फल मिलता है? भगवान फरमाते हैं कि श्रुतज्ञान की आराधना के द्वारा साधक अज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करता है†। यह आत्मज्ञान की ज्योति पर आए हुए आवरण को अनावृत्त करते-करते एक दिन निरावरण केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस तरह श्रुतज्ञान साधना की सिद्धि में विशेष सहायक होने के कारण उपकारी माना गया है‡। वर्तमान युग में साधक श्रुतज्ञान के आधार पर ही पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके आत्मा का विकास कर सकता है। मोक्ष मार्ग पर कदम बढ़ा सकता है। अतः आत्मविकास के लिए श्रुतज्ञान महत्वपूर्ण है।

तीर्थंकर सर्वज्ञ होते ही तीर्थ-संघ की स्थापना करते हैं और भव्य प्राणियों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। उनके विस्तृत प्रवचनों को गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं अर्थात्—उस अर्थ रूप वाणी का संक्षिप्त संस्करण तैयार करते हैं। उसे द्वादशांगी कहते हैं*। इस द्वादशांगी के निर्माता गणधर होते हैं, परन्तु इसका मूलाधार तीर्थंकरों की वाणी है। वे उन्हीं भावों को संक्षेप में अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु वे उसमें अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाते हैं। इसलिए द्वादशांगी सर्वज्ञ (तीर्थंकर) प्रणीत कहलाती है।

द्वादशाङ्गी में आचाराङ्ग का स्थान

द्वादशांगी में आचाराङ्ग सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रथम अङ्ग सूत्र है। जितने तीर्थंकर हुए हैं उन सबने सर्वप्रथम आचाराङ्ग का उपदेश दिया है। वर्तमान काल में जो तीर्थंकर (विहरमान) महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान हैं, वे भी अपने शासनकाल में सर्वप्रथम आचाराङ्ग का उपदेश देते हैं और भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी सर्वप्रथम इसका प्रवचन देंगे। और गणधर भी इसी क्रम से अंग सूत्रों को ग्रथित करते हैं।

---

* सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं।

—दशवैकालिक सूत्र, ४ ११।

† सुयस्स आराहणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र २९ २४।

‡ अनुयोगद्वार सूत्र।

* अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तई।

—अनुयोगद्वार सूत्र और आवश्यक निर्युक्ति।

आचाराङ्ग सूत्र को सर्वप्रथम स्थान देने के रहस्य का उद्घाटन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है॥। प्रश्नोत्तर के रूप मे आचार के महत्व को बताते हुए निर्युक्तिकार प्रश्न उठाते हैं कि अङ्ग सूत्रों का सार क्या है? आचार। आचार का सार क्या है? अनुयोग—अर्थ। अनुयोग का सार क्या है? प्ररूपणा करना। प्ररूपणा का सार क्या है? सम्यक् चारित्र को स्वीकार करना। चारित्र का सार क्या है? निर्वाण पद की प्राप्ति, निर्वाण पद पाने का सार क्या है? अक्षय सुख को प्राप्त करना†। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति एव अव्याबाध सुख का मूल आचार है। क्योंकि कर्म के आने का कारण भी क्रिया है और निर्जरा का कारण भी क्रिया है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया निर्जरा का कारण है। अत ज्ञान एव क्रिया की समन्वित साधना से मुक्ति मानने वाले जैनागमों मे सम्यग्दृष्टि को क्रियावादी भी कहा गया है। इसका कारण यही है कि क्रिया के बिना आत्मा अक्रिय अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है। अस्तु मुक्ति के लिए सबसे पहली आवश्यकता चारित्र है। चारित्र शब्द का अर्थ है—कर्मजल को खाली करना या कर्म समूह का नाश करना‡। इसी कारण सभी तीर्थंकर भगवान तीर्थ की स्थापना करते समय सर्व प्रथम आचाराङ्ग का उपदेश देते हैं।

द्वादशाङ्गी का वर्गीकरण

समस्त जैनवाङ्मय को चार अनुयोगों मे विभक्त किया जा सकता है—१-धर्मकथानुयोग, २-गणितानुयोग, ३-द्रव्यानुयोग और ४-चरण-करणानुयोग। ज्ञाता-धर्मकथाङ्ग, अन्तकृतदशाङ्ग आदि सूत्र धर्म कथानुयोग का वर्णन करते हैं। गणितानुयोग का वर्णन भगवती सूत्र एव सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगमों में मिलता है। द्रव्यानुयोग का विवेचन स्थानाङ्ग, समवायाङ्गादि सूत्रों मे उपलब्ध होता है। और आचाराङ्ग सूत्र

॥ सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइ अगाइ एक्कारस आणुपुव्वीए॥
आयारो अगाण पढम, अग दुवालसण्हंपि।
इत्थ य मोक्खो वा ओ एस य सारो पवयणस्स॥ —आचाराग निर्युक्ति, ८,९

† अगाण किं सारो? आयारो, तस्स हवइ किं सारो?
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणा सारो॥
सारो परूवणाए चरण, तस्सवि य होइ निव्वाण।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाह जिणाविंति॥
—आचाराग निर्युक्ति, १६, १७।

‡ एय चयरित्तकर, चारित्त होइ आहिय। —उत्तराध्ययन, २८, ३३।

में चरण-करणानुयोग का वर्णन है।

प्रस्तुत वर्गीकरण में प्रयुक्त अनुयोग शब्द का अर्थ है व्याख्या करना वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है कि सूत्र के पश्चात् उसके अर्थ का कथन करना या संक्षिप्त सूत्र का विस्तृत विवेचन करना अनुयोग कहलाता है*।" इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरों का प्रवचन चार अनुयोगों में विभक्त होता है। या यों कहिए कि वे चार शैलियों में मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं या वस्तु का तथा लोक का यथार्थ स्वरूप समझाते हैं। इस आचाराङ्ग में चरण करणानुयोग की शैली का स्पष्ट वर्णन होता है। क्योंकि यह आगम आचार का निरूपण करता है।

आचार पंचक

प्रस्तुत आगम में पांच आचारों का वर्णन मिलता है—१ ज्ञानाचार, २-दर्शनाचार ३ चारित्राचार ४-तपाचार और ५ वीर्याचार। ज्ञानाचार का अर्थ है—ज्ञान की आराधना करना। आगम में इसके आठ भेद बताए गए हैं—१ नियत समय पर शास्त्र का स्वाध्याय करना २ विनय-भक्तिपूर्वक सूत्र का अनुशीलन करना ३ बहुमानपूर्वक उसका अध्ययन करना ४-उपधान—तप करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना, ५-जिस से आगम का ज्ञान प्राप्त किया हो, उसके नाम को गुप्त नहीं रखना ६-सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना ७-उसके शुद्ध एवं यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना और ८-सूत्र और अर्थ को बहुमान एवं आदर पूर्वक स्वीकार करना†।

इसी तरह दर्शनाचार के आठ भेद हैं— १-जिनवाणी में संशय नहीं करना, २-अन्य मत की प्रशंसा नहीं करना ३-स्वकृत कर्म के फल के विषय में सन्देह नहीं करना ४-अमूढ दृष्टि होना ५ गुणिजनों के गुणों की प्रशंसा करना ६-धर्म से गिरते हुए व्यक्ति को धर्म में स्थिर करना ७ सधर्मी भाईयों में वात्सल्य रखना और (धर्म की) प्रभावना करना‡।

आगम में चारित्राचार भी आठ प्रकार बताया गया है— १-ईर्या समिति

---

* आचारस्यानुयोग —अर्थकथनमाचारानुयोगः सूत्रादनुपश्चादर्थस्यानुयोगोऽनुयोगः सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना अणोर्वा अणीयसः सूत्रस्य महताऽर्थेन योगोऽनुयोग इति।
—आचाराङ्ग वृत्ति।

† काले विणए, बहुमाणे उवहाणे तहा अनिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए, अट्ठविहो णाणमायारो॥

‡ निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह, थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥

२-भाषा समिति, ३-एषणा समिति, ४-आदाणभंडनिक्षेपणा समिति, ५-उच्चार-प्रश्रवण-खेल-जल्लसिंघाण परिष्ठापना समिति, ६-मन गुप्ति, ७-वचन गुप्ति और ८-काय गुप्ति। इस तरह पाच समिति और तीन गुप्ति इन ८ प्रवचन माता को चारित्राचार कहते हैं॥।

तपाचार के बारह भेद बताए हैं— १-अनशन, २-औनोदर्य, ३- भिक्षाचारी, ४-रसत्याग, ५-काय क्लेश और ६-प्रतिसलीनता, यह बाह्य तप के ६ भेद हैं। और १ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ कायोत्सर्ग यह ६ प्रकार का आभ्यन्तर तप होता है। इस तरह तपाचार के १२ भेद होते हैं†।

वीर्याचार का परिपालन अनेक तरह से किया जा सकता है। इसे किसी निश्चित सख्या मे नहीं बाधा जा सकता। वीर्य का अर्थ शक्ति है। अत कर्म क्षय करने या सयम साधना मे अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना ही वीर्याचार है‡। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे पाचों आचारों का सागोपाग वर्णन किया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे

आचाराङ्ग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों मे विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन हैं। आगमों मे ब्रह्मचर्य के नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। स्थानाङ्ग सूत्र में लिखा है—'ब्रह्मचर्य के नव अध्ययन हैं—१-शस्त्र परिज्ञा, २-लोक विजय, ३-शीतोष्णीय, ४-सम्यक्त्व, ५-लोकसार, ६-धूत, ७-विमोह, ८-उपधान और ९-महापरिज्ञा॥।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है कुशल अनुष्ठान। अस्तु, जिस आगम मे कुशल अनुष्ठान-सयम साधना का वर्णन है, उसे ब्रह्मचर्य अध्ययन कहते हैं। प्रस्तुत आगम में साध्वाचार का ही विशेष रूप से वर्णन होने से इसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम दिया गया है।

॥ तिन्नेव य गुत्तीओ पच समिइओ अट्ठ मिलियाओ।
पवयण माईउ इमा तासु ठिओ चरण सपन्नो॥

† अणसणमूणोयरियां, वित्ति सखेवण रसच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य वज्झो तवो होइ॥
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण उस्सग्गो विय, अब्भितरओ, तवो होइ॥

‡ अणिगूहिय बलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो।
झाण उस्सग्गोविय, अब्भितरओ तवो होइ॥

॥ णव बंभचेरा प० तजहा—सत्थपरिन्ना, लोग विजओ जाव उवहाणसुय महापरिण्णा।

—स्थानाङ्गसूत्र, ९, ६६२।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। शस्त्र दो प्रकार का होता है— १-द्रव्य शस्त्र और २ भाव शस्त्र। लाठी तलवार, पिस्तौल, बन्दूकादि द्रव्य शस्त्र हैं और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि भाव शस्त्र हैं। परिज्ञा का अर्थ है— शस्त्रों की भयंकरता एवं उनके द्वारा बढ़ने वाले संसार परिभ्रमण के स्वरूप को जानकर उनका परित्याग करना। द्रव्य और भाव शस्त्रों का त्याग करना साधना का पहला कदम है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक विजय है। लोक-संसार भी दो प्रकार का है— १-द्रव्य और २-भाव। द्रव्य लोक ४ गति रूप है और राग-द्वेष भाव लोक है। राग-द्वेष के कारण ही आत्मा द्रव्य लोक में परिभ्रमण करती है। अत राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना ही लोक—संसार पर विजय प्राप्त करना है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्ययन का शीतोष्णीय नाम है। शीत का अर्थ है— अनुकूल परीषह और उष्ण का अभिप्राय है — प्रतिकूल परीषह। प्रस्तुत अध्ययन में यही बताया गया है कि साधना के पथ पर गतिशील साधु को अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उत्पन्न होने पर समभाव रखना चाहिए।

चतुर्थ सम्यक्त्व अध्ययन है। प्रस्तुत अध्ययन में समभाव की साधना का उपदेश दिया गया है। साधु को दृष्टि मोह का त्याग करके अचल भाव से साधना में संलग्न रहने का वर्णन किया गया है।

पांचवां लोकसार अध्ययन है। रत्नत्रय— सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही लोक में सार पदार्थ हैं। अत प्रस्तुत अध्ययन में कषाय त्याग एवं रत्नत्रय की साधना करने का उल्लेख किया गया है।

षष्ठम धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है— परिजनों के संग — आसक्ति का त्याग करना। क्योंकि पारिवारिक स्नेह एवं मोह साधक को संसार से ऊपर नहीं उठने देता है। अत मुमुक्षु को उनके संग—साथ का त्याग करना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का उल्लेख किया गया है।

सातवां विमोह अध्ययन है। मोह एवं राग-भाव उत्पन्न परीषहों पर विजय प्राप्त करना ही साधक की सच्ची विजय है। अत मोह से उत्पन्न होने वाले कष्टों से घबराकर साधु को मन्त्र-मन्त्र का सहारा नहीं लेना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का उपदेश दिया गया है। परन्तु वर्तमान में प्रस्तुत अध्ययन उपलब्ध नहीं है।

अष्टम अध्ययन का नाम उपधान या विमोक्ष है। उपधान का अर्थ तप होता

है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए कर्म का नाश करना आवश्यक है। कर्म निर्जरा के लिए तप अनिवार्य है। इसलिए इसमे यह बताया गया है कि साधु को वस्त्र-पात्र मे कमी करके परीषहों को सहन करना चाहिए और पण्डित मरण को प्राप्त करने के लिए सलेखना एव अनशन व्रत को स्वीकार करके सयम साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

नवम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। इसमे भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। महा का अर्थ है— महान् और परिज्ञा का अर्थ है— ससार के स्वरूप को जानकर उसका परित्याग करना और परीपहों के उत्पन्न होने पर भी त्याग मार्ग से च्युत नहीं होना। भगवान महावीर की साधना सर्वोत्कृष्ट साधना थी। उसका अनुशीलन-परिशीलन करके मन मे परीपहों को सहने की भावना जागृत होती है। अस्तु प्रस्तुत अध्ययन मे भगवान महावीर की विशिष्ट साधना का उल्लेख करके साधु को अपने साधना पथ पर दृढता से चलने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे प्राय साध्वाचार का वर्णन किया गया है। वह पाच चूला रूप है और उसके १६ अध्ययन हैं।

निर्युक्तिकार का कहना है कि आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १८ हजार पद हैं। पञ्चचूलात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पदों की सख्या इससे भिन्न है*। टीकाकार ने भी निर्युक्तिकार के विचारों का समर्थन किया है। आचाराङ्ग वृत्ति के रचयिता शीलाक आचार्य, नवाङ्गी वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि एव आचार्य मलयगिरि प्रभृति टीकाकारों ने भी येन-केन प्रकारेण निर्युक्तिकार के मत को ही परिपुष्ट किया है।

परन्तु, जब हम आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो निर्युक्तिकार का मत उचित प्रतीत नहीं होता है। आगमों मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "चूलिका सहित आचाराग भगवान के १८ हजार पद हैं।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही नहीं, अपितु उभय श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद हैं†। प्रस्तुत पाठ की टीका मे आचार्य अभय देव सूरि ने निर्युक्ति के मत को ही पुष्ट करने का असफल प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं कि "प्रस्तुत मे जो पद सख्या दी गई है वह समग्र आचाराङ्ग की नहीं, प्रत्युत नव अध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कन्ध की समझनी चाहिए। क्योंकि निर्युक्ति-

---

* नव बभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वे ओ।
हवइ य सपच चूलो बहु-बहुत्तरओ पयग्गेण॥

—आचाराग निर्युक्ति।

† आयारस्स ण भगवओ सचूलियागस्स अट्ठारस्स पय सहस्साइ पयग्गेण।

—समवायाङ्ग सूत्र १८।

कार ने केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही १८ हजार पद बताए हैं चूलिका सहित सम्पूर्ण आचाराङ्ग के नहीं। मूल पाठ में जो 'चूलिका सहित (सचूलियागस्स) पद दिया है उस का अभिप्राय केवल चूलिकाओं की सत्ता का प्रतिपादन करना है न कि चूलिका सहित समग्र आचाराङ्ग की पद संख्या बतलाना। अतः प्रथम श्रुतस्कन्ध के १८ हजार पद हैं और सूत्रों का अर्थ बहुत विचित्र है। इसलिए वह गुरु परम्परा से ही समझा जा सकता है*।

प्रस्तुत विवेचन में आचार्य अभयदेव सूरि ने निर्युक्ति का अनुकरण किया है। आगम का मूल पाठ सम्पूर्ण आचाराङ्ग १८ हजार पदों का स्पष्ट उल्लेख कर रहा है फिर भी टीकाकार उसे इसलिए नहीं मान रहे हैं कि निर्युक्तिकार उससे सहमत नहीं हैं। वे निर्युक्ति को आगम से अधिक प्रामाणिक मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी टीका में जो नन्दी सूत्र के टीकाकार का उल्लेख किया है, वह भी आगम के अनुकूल नहीं है। नन्दी सूत्र के मूल पाठ में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'प्रथम अङ्ग (आचारांग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध हैं पच्चीस अध्ययन हैं ८५ उद्देशन काल ८५ समुद्देशन काल हैं और १८ हजार पद हैं†। प्रस्तुत पाठ में आचारांग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह स्पष्ट ही है। इसमें आचारांग के समग्र श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद स्वीकार किए हैं केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नहीं। यदि सूत्रकार को प्रथम श्रुतस्कन्ध के १८ हजार पदों का उल्लेख करना होता तो वे सम्पूर्ण सूत्र के अन्य प्रसंगों का वर्णन करने से पूर्व ही उसका उल्लेख कर देते। परन्तु, ऐसा नहीं किया गया इससे स्पष्ट होता है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद हैं।

आचार्य मलयगिरि ने उक्त सूत्र की टीका करते समय अभयदेव सूरि का ही अनुकरण किया है। उन्होंने जिस रूप में निर्युक्ति का समर्थन किया है, उससे उनकी परवशता ही झलकती है। पद प्रमाण के विषय में आप मतान्तर के रूप में लिखते हैं

---

* अथ नव ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक प्रथमश्रुतस्कन्ध स्यैव अष्टादशपद सहस्राणि पदप्रमाणं न चूलिकासहितस्य .... यत्र चैतदुक्तं अट्ठारसपयसहस्साणि पुण पढमसुयखंधस्स नवबंभचेरमइयस्स पमाणं विचित्तत्थाणि य सुत्ताणि गुरूवएसओ तेसिं अत्थो जाणियव्वो ॥१॥ इति। यच्च सचूलिकाकस्येति विशेषणं तत्तस्य चूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थं न पुनः पदप्रमाणाभिधानार्थम्। यदाह-अपि नन्दी टीका कृता अट्ठारस पय सहस्साणि पुण पढमसुयखंधस्स नव बंभचेरमइयस्स पमाणं विचित्तत्थाणि य सुत्ताणि गुरूवएसओ तेसिं अत्थो जाणियव्वो। —समवायांग टीका।

† से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयक्खंधा पणवीसं अज्झयणा पंचासीई उद्देसणकाला पंचासीई समुद्देसणकाला अट्ठारस पय सहस्साणि पयग्गेणं।

—नन्दी सूत्र द्वादशांगी वर्णन

कि यदि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन और १८ हजार पद माने तो निर्युक्तिकार के कथन से विरोध होगा। क्योंकि वे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही १८ हजार पद मानते हैं। जब कि नन्दी सूत्र के मूल पाठ मे दोनों श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद माने हैं ? इस प्रश्न के समाधान मे वे लिखते हैं कि 'प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध और २५ अध्ययन हैं, परन्तु १८ हजार पद सम्पूर्ण आचारांग के नहीं, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही हैं। इस सूत्र से यही अर्थ अभिप्रेत है। क्योंकि सूत्र अर्थ विलक्षण होता है। अत गुरुपरंपरा से ही उसे समझा जा सकता है❀।

इससे यही स्पष्ट होता है कि टीकाकारों को निर्युक्ति के विचारों का मोह है। जबकि आचार्य मलयगिरि स्वय मानते हैं कि मूल पाठ मे समग्र आचाराङ्ग के १८ हजार पद माने हैं। परन्तु, वे उसका, इसलिए समर्थन नहीं कर पा रहे हैं कि निर्युक्तिकार इससे सहमत नहीं हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी बुद्धि एव चिन्तन स्वातन्त्र्य को भी खो दिया।

हम यह नहीं समझ पाए कि प्रस्तुत पाठ मे अर्थ वैचित्र्य क्या है? और गुरु परम्परा क्या है? नन्दी सूत्र मे सूत्रकृताङ्ग के सम्बन्ध में भी ऐसा ही पाठ मिलता है कि "दूसरे अग (सूत्रकृताङ्ग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध, २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशन काल और ३६ हजार पद हैं†। आचाराङ्ग सूत्र के जैसा वर्णन होने पर भी टीकाकार ने प्रस्तुत आगम के दोनों श्रुतस्कन्धों के ३६ हजार पद माने हैं। इससे स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने अपनी बुद्धि से बिना सोचे-समझे ही निर्युक्ति का अनुकरण मात्र किया है। अत. यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है और जब मूल पाठ सामने हो तब निर्युक्ति किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। क्योंकि मूल पाठ स्वत प्रमाण है और निर्युक्ति एव टीका आदि परत प्रमाण हैं। अत. इससे यही सिद्ध होता है कि समग्र आचाराङ्ग के ही १८ हजार पद हैं।

आचाराङ्ग की भाषा

भाषा ग्रन्थ का प्राण है। किसी भी ग्रन्थ के आन्तरिक एव बाह्य परिचय को प्राप्त करने के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण साधन है। उससे ग्रन्थ का यथार्थ स्वरूप सामने आ

❀ समवायाङ्ग टीका।

† बिइए अगे दो सुयक्खधा, तेवीस अज्झयणा, तित्तीसं उद्देसण काला, तित्तीस समुद्देसण काला, छत्तीस पयसहस्साणिपयग्गेण।

— नन्दी सूत्र, द्वादशांगी अधिकार।

जाता है और इसके आधार पर किया गया निर्णय अधिक प्रामाणिक एवं संतोषप्रद होता है ।

जैनागमों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्द्ध मागधी भाषा में उपदेश देते हैं*। केवल तीर्थंकर ही नहीं प्रस्तुत देव एवं आर्य पुरुष भी अर्द्ध मागधी भाषा में बोलते हैं। भगवती एवं प्रज्ञापना सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि देवों एवं आर्यों की अर्द्ध मागधी भाषा है†। इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्द्ध मागधी भाषा गहन गम्भीर एवं श्रेष्ठ मानी गई है। ऐतिहासिक अन्वेषण से भी यह स्पष्ट होता है कि यह भारत की अति प्राचीन भाषा रही है। संस्कृत का उद्गम भी इसी भाषा से हुआ है।

प्रस्तुत आगम भी अर्द्ध मागधी भाषा में रचा गया है। प्रस्तुत आगम की भाषा एवं शैली अधिक प्राचीन है। इसमें आर्य अर्द्ध मागधी के अधिक प्रयोग मिलते हैं। इसका प्रत्येक पद अर्थ गाम्भीर्य पद लालित्य एवं भाषा सौष्ठव को लिए हुए है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग सूत्र सबसे प्राचीन है और इसी कारण इसकी अत्यधिक महत्ता है।

सूत्र शब्द का विश्लेषण

जैन परम्परा में आगमों का सूत्र के नाम से भी उल्लेख किया गया है। आचाराङ्ग श्रुत-आगम साहित्य का सर्व प्रथम सूत्र ग्रंथ है। सूत्र शब्द के भेद एवं उसकी व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु बृहत्कल्प सूत्र की निर्युक्ति में लिखते हैं— १-सूत्र अर्थ से प्रबोधित होता है २-सुप्त है, ३-श्लेष है ४-सूक्त है, ५-सूचक है ६-सूचिका-सूई है ७-उत्पादक है ८-अनुसरण कर्ता है।

---

* भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। — समवायाङ्ग सूत्र ३४।

अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्मं परिकहेइ। — औपपातिक सूत्र।

† से किं तं भासारिया? भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासेंति जत्थ वि य णं बंभी लिवी पवत्तइ। बंभीए णं लिवीए अट्ठारसविहे लेक्खविहाणे पं० तं० बंभी१ जवणालिया२ दोसापुरिया३ खरोट्ठी४ पुक्खरसारिया५ भोगवइया६ पहराइया७ अंतक्खरिया८ अक्खरपुट्ठिया९ वेणइया१० णिण्हइया११ अंकलिवी१२ गणियलिवी१३, गंधव्वलिवी१४ आयंसलिवी१५ माहेसरी१६ दामिलिवी१७ पोलिंदी१८ सेत्तं भासारिया।

— (प्रज्ञापना १ पद)

देवा णं भंते! कयराए भासाए भासंति? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति? गोयमा! देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।

— भगवती० श० ५ उ० ४ सू० १९१।

१-अर्थ से अवोधित— सूत्र अर्थ रूप से विस्तृत शब्दों का सक्षिप्त रूप होता है। उसमे अर्थ अन्तर्निहित रहते हैं।

२-सुप्त— जैसे ७२ कलाओं मे प्रवीण पुरुष जब सो जाता है, तब उसे अपनी कलाओ का कोई ज्ञान नहीं रहता है। परन्तु, जागृत होने ही उसका ज्ञान भी जागृत हो जाता है। इसी तरह जब तक सूत्र का अर्थ के द्वारा बोध नहीं कराया जाता, तब तक उसके अर्थ को नहीं जाना जा सकता। परन्तु, ज्यों ही उसके अर्थ का परिज्ञान करा दिया जाता है, त्यों ही वह अपने समस्त अर्थों को अभिव्यक्त करने लगता है।

३-श्लेप— जैसे श्लेप मे अनेक तन्तु सघटित-मिले हुए होते है, उसी तरह सत्र मे अनेक अर्थ सन्निहित रहते हैं।

४-सूक्त— सूत्र सुन्दर एव शोभनीय लगता हैं। इसलिए इसे सूक्त कहा है।

५-सूचक— सूई खो जाने पर जल्दी नहीं मिलती। परन्तु, यदि वह सूत्र-धागे के साथ हो तो शीघ्र मिल जाती है। सूत्र सूई का सूचक है। इसी तरह सूत्र आगम के अर्थ का परिसूचक है। इससे भगवान के द्वारा उपदिष्ट अर्थ रूप वाणी की सूचना मिलती है।

६-सूचिका— जैसे सूचिका-सूई से वस्त्रों की सिलाई करके उन्हें एक जगह जोड लिया जाता है। उसी तरह सूत्र भी अनेक अर्थों को सकलित करता है।

७-उत्पादक— जैसे अग्नि में सूर्यकान्त मणि और जल मे चन्द्रकात मणि अपनी प्रभा को प्रकट करती है, उसी प्रकार सूत्र भी अर्थ का प्रसव-उत्पादन (पैदा) करता है, इसलिए इसे उत्पादक कहते हैं।

८-अनुसरण—अनुसरण द्रव्य और भाव से दो प्रकार का कहा गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक अन्ध वणिक्पुत्र का दृष्टान्त दिया गया है। एक दिन वैश्य ने सोचा कि यह अन्धपुत्र निकम्मा बैठ कर खाएगा तो इसका तिरस्कार होगा। अत उस वैश्य ने अपने घर के आगे पीछे दो स्तम्भ खडे कर दिए और उसमें एक रस्सी बाध दी और उसे कहा कि इस रस्सी के सहारे तुम इस कचरे को बाहर फैंक दिया करो। इस तरह पिता के वचनों का अनुसरण करने से उस का जीवन सम्मान पूर्वक बीतने लगा। यहा आचार्य पिता के तुल्य हैं, साधु अन्धे पुत्र के समान है, सूत्र रस्सी के तुल्य है और अष्ट कर्म कचरे के समान हैं। साधक सूत्र का अनुसरण

करके भ्रष्ट कममल से रहित हो जाता है, अतः इसे अनुस्मरण कहा है*।

इसके अतिरिक्त सूत्र के और भी भेद बताए गए हैं। इस सम्बन्ध में निर्युक्ति कार कहते हैं कि सूत्र तीन प्रकार का होता है—१ संज्ञा सूत्र, २ कारक सूत्र और ३ प्रकरण सूत्र अथवा उत्सर्ग और अपवाद के भेद से भी सूत्र दो प्रकार का होता है। इसमें उत्सर्ग श्रेष्ठ है या अपवाद ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि उभय सूत्र अपने अपने स्थान पर श्रेयस्कर और बलवान हैं†।

संज्ञा सूत्र—जो सूत्र सामयिक संज्ञा के द्वारा किसी बात का निर्देश करता है, उसे संज्ञा सूत्र कहते हैं। जैसे—"जे छेए से सागारियं परियाहरे" आचारांग सूत्र के इस पाठ में मैथुन के लिए सागारिय शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह लोक के लिए प्रायः संसार के लिए 'भार' और मोक्ष के लिए 'पार' शब्द का प्रयोग किया गया है ये सब संज्ञा सूत्र हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि संज्ञा सूत्र का प्रयोग करने से क्या लाभ है ? इससे सब से महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि पारस्परिक सभ्यता एवं शिष्टता का पालन होता है। जैसे प्रवचन करते समय या साधु साध्वी को सूत्र का अध्ययन कराते समय मैथुन आदि अशिष्ट शब्दों के स्थान में 'सागरिय' आदि संज्ञा शब्दों का प्रयोग करने से व्यावहारिक शिष्टता का भंग नहीं होता है और साध्वी

---

* सुत्तं तु सुत्तमेव उ अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो ।
अत्थस्स सूयणा वा सुवुत्तमिइ वा भवे सुत्तं ॥
नेरत्तियाइ तस्स य सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइत्ति ।
अणुसरतित्ति य भेया तस्स उ नामा इमा हुंति ॥
पासुत्तसमं सुत्तं अत्थेणाबोहियं न तं जाणे ।
लेसं सरिसेण तेणं अहवा संवाइया अहवे ॥
सूइज्जइ सुत्तेणं सूई नट्ठावि तह सुएनट्ठो ।
सिव्वइ अत्थ पयाणि व जह सुत्तं कंचुगाईणि ॥
पुरिसव्वो जलकतो य अत्थमेवं तु पसवई सुत्तं ।
वयिय समय बयनो तदणुसरता तं एवं ॥

— बृहत्कल्प निर्युक्ति, गाथा ३१ —३१४।

† सन्ना य कारगे पकरणे य सुत्तं तु त भवे तिविहं ।
उस्सग्गे अववाए अप्पे सेए य बलवते ॥

— बृहत्कल्प निर्युक्ति ३१२।

एव अन्य उपस्थित व्यक्तियों को लज्जित होने का प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता है† ।

कुछ विचारक सज्ञा सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि जिसमे किसी अर्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाए । वस्तुत वस्तु के नाम निर्देश को सज्ञा कहते है। अत नाम निर्देशक सूत्र सज्ञा सूत्र कहलाते हैं ।

कारक सूत्र—जिस सूत्र मे विचार-चर्चा या शका समाधान के द्वारा किसी विधान की परिपुष्टि की जाए उसे कारक सूत्र कहते हैं । जैसे—भगवती सूत्र मे यह उल्लेख किया गया है कि "आधाकर्मी आहार करने वाला साधु आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों की कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है‡ ।" इसके बाद गौतम स्वामी इसके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी करने के लिए भगवान से प्रश्न पूछते हैं और शका-समाधान के द्वारा वस्तु का निर्णय करते हैं। इस तरह विचार-चर्चा के द्वारा किए गए निर्णय को कारक सूत्र कहतें है ।

प्रकरण सूत्र—जिन सूत्रों में स्व समय की अपेक्षा से ही आक्षेप और निर्णय का वर्णन किया गया हो उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। नमिपवज्जा, गौतमकेसीय, नालन्दीयादि, उत्तराध्ययन और सूत्रकृताग आदि के अध्ययन प्रकरण सूत्र की शैली मे रचे गए हैं ।

उत्सर्ग और अपवाद

निर्युक्तिकार ने सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद दो भेद किए हैं तथा उत्सर्ग, अपवाद और उत्सर्ग-अपवाद ये तीन और उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग ये चार भेद भी किए हैं। जो सूत्र निषेध प्रधान है, वह उत्सर्ग सूत्र है, जो विधि प्रधान है वह अपवाद सूत्र, जो निषेध और विधि प्रधान है वह उत्सर्ग-अपवाद सूत्र हैं और जो विधि और निषेध प्रधान है वह अपवाद-उत्सर्ग सूत्र है। जैसे—साधु साध्वी को अपक्व ताल फल अभिन्न (बिना काटा हुआ) लेना नहीं कल्पता, यह उत्सर्ग सूत्र है। साधु को पक्व (पका हुआ) ताल फल भिन्न या अभिन्न लेना कल्पता है, यह अपवाद सूत्र है। साधु साध्वी को परस्पर एक दूसरे के प्रस्रवण को देना—लेना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता परन्तु असाध्य रोग एव विशेष परिस्थिति मे एक दूसरे को लेना देना भी

† बृहत्कल्प निर्युक्ति, ३१६ ।

‡ आहाकम्मन्न भुजमाणे समणे निग्गथे कइ कम्म पगडीओ बधंति ? गोयमा ! आउ वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ ?

— भगवती सूत्र, १, ९ ।

कल्पता है और साधु-साध्वी फल का गूदा तो ग्रहण करले, परन्तु गुठली को ग्रहण न करें*।

पहला उदाहरण पूर्णतः निषेध का है। साधु को कच्चा तालफल लेना नहीं कल्पता यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु वह फल पक्व हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है यह अपवाद मार्ग है। शेष दो भेद क्रमशः उत्सर्ग अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग के हैं और ये इस विधि और निषेध को साथ लेकर ही बनाए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निवृत्ति उत्सर्ग मार्ग है और प्रवृत्ति अपवाद मार्ग है।

परन्तु, हैं दोनों ही मार्ग। साधक सदा-सर्वदा उत्सर्ग मार्ग पर गति नहीं कर सकता है। जैसे पटना या कलकत्ता आदि शहरों को जाने वाला पथिक निरन्तर दौड़ता हुआ राह को तय नहीं कर सकता है। इतने लम्बे मार्ग को पार करने के लिए वह रास्ते में बैठता भी है शयन भी करता है आहार-पानी भी करता है, मल मूत्र का भी त्याग करता है, तब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचता है। इसी तरह साधक भी साधना पथ पर चलते २ विघ्न—बाधाएं या रोग आदि के उपस्थित होने पर अपवाद मार्ग का सहारा न ले तो वह शुद्ध संयम का पूर्णरूपेण परिपालन नहीं कर सकता। अतः महा-पुरुषों ने उत्सर्ग और अपवाद दोनों को मार्ग कहा है और अपने अपने स्थान पर दोनों को श्रेयस्कर एवं समान बल वाला कहा है। परन्तु पर-स्थान में दोनों अश्रेयस्कर हैं। स्व-स्थान और पर स्थान साधक की अपेक्षा से हैं। समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्व-स्थान एवं अपवाद पर-स्थान है और असमर्थ साधक के लिए रोगादि अवस्था में अपवाद स्व-स्थान और उत्सर्ग पर-स्थान है। जिस समय साधक स्वस्थ है परीषहों को सहन करने में सक्षम है उस समय यदि वह अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेता है तो अपवाद मार्ग उसके लिए परस्थान है अश्रेयस्कर है। इसी तरह अस्वस्थ एवं विकट परिस्थिति में साधक परीषहों को सहन में सक्षम नहीं है उसका मन डांवा-डोल हो रहा है, उस समय अपवाद मार्ग उसके लिए स्वस्थान है, श्रेयस्कर है। यदि ऐसी स्थिति में वह अपवाद मार्ग पर न चलकर उत्सर्ग पर चलने का ही हठ रखता है, तो उसकी साधना में पूर्ण विशुद्धता नहीं रह पाती। इसी अपेक्षा से यह कहा गया है कि साधक

---

* (१) नो कप्पइ निग्गंथाण-निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए। (२) कप्पइ निग्गंथाण-निग्गंथीण पक्के तालपलंबे भिन्नेअभिन्ने वा पडिगाहित्तए। (३) नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आवित्तए वा आयमित्तए वा नन्नत्था गाढेहिं रोगायंकेहिं। (४) वच्छमंसं च इमाहि मा अद्दिट्ठयाति।

— बृहत्कल्प सूत्र १ १ २, ३ ५, ४७-४८ आचारांग सूत्र।

को अपनी योग्यता के अनुसार परिस्थितिवश अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़े तब भी वह साधना पथ से च्युत नही होता है, उसके महाव्रतों का भग नहीं होता है। क्योंकि उत्सर्ग की तरह अपवाद भी साध्य को सिद्ध करने का मार्ग है और उस मार्ग पर चलने की भी वीतराग (तीर्थंकर) भगवान की आज्ञा है । और आज्ञा मे प्रवृत्ति करना धर्म है* ।

निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आगम मे उत्सर्ग और अपवाद दोनों तरह के सूत्र मिलते है। साधक के लिए दोनों मार्गों का अवलम्बन लेने की आज्ञा दी गई है अत दोनों ही मार्ग अपने-अपने स्थान पर श्रेयस्कर हैं और दोनों मार्गों का अवलम्बन लेकर ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। अत उत्सर्ग के द्वारा अपवाद प्रसिद्ध है और अपवाद के द्वारा उत्सर्ग प्रसिद्ध है । दोनों ही समान बल वाले हैं, इन मे कोई छोटा-बडा नहीं है† ।

सूत्र का लक्षण

सूत्र शब्द की परिभाषा करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि "जो अक्षर संख्या मे अल्प और अर्थ से महान एव विराट हो तथा बत्तीस दोष से रहित एव आठ गुणों से सयुक्त हो उसे सूत्र कहते हैं‡ ।" प्रस्तुत गाथा मे उल्लिखित "थोडे शब्दों मे विस्तृत अर्थ को व्यक्त करने वाला सूत्र कहलाता है ।" यह सूत्र का लक्षण है और "वह ३२ दोषों से रहित एव अष्ट गुणों से युक्त है" यह अश उसकी विशेषता को प्रकट करता है ।

कुछ विद्वानों का कहना हैं कि निर्युक्ति में सूत्र के जिन ३२ दोषों एव अष्ट गुणों का उल्लेख मिलता है, वह निर्युक्तिकार का अपना अभिमत है, मूल आगमों मे इस सबन्ध मे कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। आगमों में भी सूत्र के गुण-दोषों का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार सूत्र में भी सूत्र के आठ गुणों एव ३२ दोषों का वर्णन मिलता है*। निर्युक्तिकार ने ३२ दोषों का इस प्रकार

---

* आणाए धम्म । — आचाराङ्ग सूत्र ।

† बृहत्कल्प निर्युक्ति गाथा ३१९-३२३ ।

‡ अप्पगन्थ महत्थ बत्तीसा दोस विरहिय जं च ।
लक्खण जुत्त सुत्त, अट्ठगुणेहि उववेय ॥
— बृहत्कल्प निर्युक्ति ३२४ ।

* छद्दोसे अट्ठगुणे तिण्णि विय वित्ताइं ।
एए नव कब्बरसा बत्तीसा दोस विहि समुप्पण्णा ।
— अनुयोग द्वार सूत्र, ४६, ८२ ।

उल्लेख किया है—

१ अनृतदोष—सत्य का अपलाप करना एवं असत्य की स्थापना करना अनृत दोष है। जैसे—अनादि काल से चले आ रहे जगत का ईश्वर कर्तृक बतलाना असत्य की स्थापना करना है और आत्मा, परलोकादि के अस्तित्व का निषेध करना सत्य का अपलाप करना है।

२ उपघात—हिंसा का विधान करना उपघात दोष है। जैसे-वेद विहित हिंसा हिंसा (पाप) नहीं धर्म है।

३ निरर्थक—जिस सूत्र में मात्र वर्णों का निर्देश हो, परन्तु उसका कोई अर्थ न निकलता हो वह सूत्र का निरर्थक दोष है। जैसे अ आ इ ई या डित्थ डविथ आदि।

४-अपार्थक—जो सूत्र असम्बद्धार्थक हो या अर्थ के संबंध से शून्य हो उसे अपार्थक कहते हैं। जैसे-दशदाडिमानि षडपूपा आदि।

५-छल—जहां विवक्षित अर्थ का अनिष्ट अर्थान्तर के द्वारा उपघात किया जाए उसे छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा देवदत्त के पास नव (नया) कम्बल है। उसने 'नव' शब्द का नवीन के अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु कोई व्यक्ति यह कह कर उसका विरोध करे कि उसके पास नव (९) कम्बल कहां हैं? वह नवीन अर्थ में प्रयुक्त नव शब्द को संख्यावाची बनाकर विरोध करे तो यह छल है।

६-द्रुहिल—जो सूत्र साधक को अहितकर उपदेश दे और पाप कार्य का परिपोषक हो उसे द्रुहिल कहते हैं।

७-निस्सार—जिस सूत्र में कोई युक्ति या तर्क न हो। केवल शब्दाडम्बर हो उसे निस्सार कहते हैं।

८-अधिक—जिस सूत्र में पद या अक्षर अधिक हों या एक हेतु या उदाहरण से अर्थ की सिद्धि होने पर भी कई हेतु एवं उदाहरण दिए हों उसे अधिक दोष कहते हैं।

९-ऊन—जिस में अक्षर, मात्रा पद आदि कम हों वह सूत्र ऊन दोष वाला कहा जाता है। जैसे— जैसे कृतक होने से शब्द अनित्य है। यहां उदाहरण की कमी है।

१०-पुनरुक्त—एक ही बात को पुन: २ दोहराना पुनरुक्त दोष कहलाता है।

११-व्याहत—जिस सूत्र में पूर्व कथन का पर वाक्य से खण्डन होता है उसे व्याहत दोष कहते हैं।

१२-अयुक्त—जो वाक्य उपपत्ति से युक्त न हो उसे अयुक्त दोप कहते है।

१३-क्रमभिन्न—जिस मे पदार्थों को क्रमश न रखा जाए उसे क्रमभिन्न दोप कहते हैं। जैसे—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय न कहकर घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, स्पर्श और रसनेन्द्रिय कहना क्रमभिन्न दोप है।

१४-वचनभिन्न—जिस सूत्र मे विशेष्य और विशेपण मे वचन भिन्न हो, उसे वचनभिन्न दोप कहते है।

१५-विभक्ति भिन्न—जिस सूत्र मे विशेष्य और विशेषण मे विभक्ति भिन्न हो उसे विभक्ति भिन्न दोप कहते हैं।

१६-लिंग भिन्न—जिस सूत्र में विशेष्य और विशेषण मे लिंगभिन्न हो उसे लिंगभिन्न दोप कहते हैं।

१७-अनभिहित—अपनी सैद्धान्तिक मान्यता के विरुद्ध पदार्थों का वर्णन करना अनभिहित दोप है।

१८-अपद—पद्य-छन्द के सबन्ध मे अनुचित योजना करना अपद दोष है।

१९-स्वभावहीन—जिस सूत्र मे वस्तु स्वभाव से विपरीत चित्रण किया जाए, उसे स्वभावहीन दोप कहते हैं।

२०-व्यवहित—प्रासगिक विपय को छोड़ कर अप्रासगिक विषय का वर्णन करना और पुन प्रासगिक विपय पर आ जाना व्यवहित दोष है।

२१-कालदोप—जिस सूत्र मे भूत, भविष्य और वर्तनमान काल का ध्यान न रखा हो वह कालदोप कहलाता है।

२२-यतिदोष—पद्य या गद्य रचना मे पूर्णविराम, अर्धविराम आदि का ध्यान न रखना यतिदोप है।

२३-छविदोष—जहा पर कोई विशेष अलकार उपयुक्त हो, फिर भी उसे वहा नही कहना छविदोष कहलाता है।

२४-समयविरुद्ध—किसी के मान्य सिद्धान्त के विरुद्ध मत की स्थापना करना समय विरुद्ध दोष है। जैसे—वेदान्त को द्वैतवादी और जैनदर्शन को अद्वैतवादी कहना समय विरुद्ध दोष है।

२५-निर्हेतुक—जिस सूत्र मे युक्ति-हेतु आदि कुछ न हो, केवल शब्द मात्र हो उसे निर्हेतुक दोष कहते हैं।

२६-अर्थापत्ति—जिस वाक्य का अर्थापत्ति से अनिष्ट अर्थ निकलता हो उसे अर्थापत्ति दोष कहते हैं।

२७-असमास—जिस जगह समास होता हो वहां समास नहीं करना या विपरीत समास करना असमास दोष कहलाता है।

२८-उपमादोष—उपमा दोष दो प्रकार का है—१-हीनोपमा और २-अधिकोपमा। जैसे मेरु पर्वत को सरसों (राई) के दाने की उपमा देना हीनोपमा है और सरसों के दाने को मेरु बताना अधिकोपमा है और ये दोनों दोष हैं।

२६ रूपकदोष—पदार्थ के स्वरूप एवं अवयवों का विपरीत रूपक के द्वारा वर्णन करना रूपक दोष है।

३ निर्देशदोष—निर्दिष्ट पदों में एक रूपता नहीं रखना निर्देश दोष है।

३१-पदार्थदोष—पदार्थ के पर्याय को पदार्थान्तर से वर्णन करना पदार्थ दोष है।

३२-सन्धि दोष—जहां पर सन्धि होती हो वहां सन्धि नहीं करना या विपरीत सन्धि करना सन्धि दोष कहलाता है।

अष्ट गुण

१-निर्दोष—समस्त दोषों से रहित हो।

२-सारवत्—जो अनेक पर्यायों से युक्त हो।

३-हेतुयुक्त—अन्वय, व्यतिरेक आदि हेतुओं से संयुक्त हो।

४-अलंकृत—उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से विभूषित हो।

५ उपनीत—उपनय के द्वारा जिसका उपसंहार किया गया हो।

६-सोपचार—जो असभ्य कहावतों से नहीं अपितु सभ्य एवं शिष्ट कहावतों से युक्त हो।

७-मित—वर्णादि के नियत परिमाण से युक्त हो।

८-मधुर—जो सुनने में मधुर हो।

आचारांग सूत्र में प्रयुक्त सूत्रों मे थोड़े शब्दों में विस्तृत अर्थ समाविष्ट कर दिया गया है और ये सूत्र भी उक्त दोषों से रहित एवं गुणों से युक्त है।

आचाराङ्ग का महत्व

हम पहले बता चुके हैं कि आचारांग द्वादशांगी का सार है। क्योंकि द्वादशांगी के उपदेश का उद्देश है—मोक्ष मार्ग को बताना और मोक्ष के लिए आचार का परिपालन करना अत्यावश्यक है। आचारांग में आचार का ही उपदेश दिया गया है,

अत यह तीर्थंकरों की वाणी का सार है। अत साधु जीवन के लिए इसका स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन करना तथा इसे आचरण में साकार रूप देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। व्यवहार सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि नव दीक्षित साधु या साध्वी प्रमादवश या रोगादि के कारण आचारांग सूत्र को भूल गई हो तो उसे पूछे कि तू प्रमादवश भूल गई है या रोगादि के कारण यह सूत्र तेरी स्मृति मे नहीं रहा ? यदि वह कहे कि मैं प्रमादवश भूल गई हू तो उसे कभी भी प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका आदि पद प्रदान न करे। यदि वह कहे कि रोगादि के कारण यह शास्त्र मेरी स्मृति से ओझल हो गया है और अब मैं पुन इसे याद कर लूगी और वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार पुन याद कर ले तो उसे प्रवर्तिनी आदि पद से विभूषित किया जा सकता है। यदि वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार याद न करे तो वह किसी भी पद देने के योग्य नहीं है*। इसके आगे के पाठ मे यही बात तरुण साधु के लिए कही गई है कि यदि वह प्रमादवश आचाराग सूत्र को भूल जाए तो उसे आचार्य, गणावच्छेदकादि का पद नहीं देना चाहिए†। प्रस्तुत आगम में आगे चलकर कहा है कि स्थविर को भी सदा आचाराग का स्वाध्याय करना चाहिए। स्थविर के लिए अनेक सुविधाए दी गई हैं, परन्तु उनके लिए भी आचाराग को स्वाध्याय अनिवार्य बनाया है। आगम में कहा है कि जब कोई स्थविर रोग के कारण आचाराग को भूल गया हो या भूल रहा हो तो उसका कर्त्तव्य है कि वह बैठे-बैठे या लेटकर या अधिक अस्वस्थ हो तो करवट बदलते हुए आचाराग का स्वाध्याय करे। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चाहे जिस स्थिति मे क्यों न हो आचाराग का स्वाध्याय अवश्य करे‡। क्योंकि, साधना का मूल आचार ही है।

प्रस्तुत आगम में एक जगह लिखा है कि यदि तीन वर्ष की पर्याय (दीक्षा) वाला साधु आचार कुशल है, सयम-निष्ठ है और प्रवचन में पारङ्गत है और कम से कम

---

* निग्गथीए ण नव डहर तरुणियाए आयारप्पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा 'केण भे कारणेण' अज्जो ! आयारप्पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे, कि आवाहेण पमाएण ? सा य वएज्जा 'नो आवाहेण पमाएण' जावज्जीवाए तीसे तप्पत्तीय नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, सा य वएज्जा 'आवाहेण नो पमाएण' सा य सठवेस्सामीति सठवेज्जा, एव से कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा सा य सठवेस्सामीति नो सठवेज्जा एव से नो कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। — व्यवहार सूत्र, ५, १५

† व्यवहारसूत्र, ४, १६।

‡ व्यवहार सूत्र, ५, १८।

आचाराङ्ग का परिज्ञाता है, तो उसे उपाध्याय पद से अलंकृत किया जा सकता है*।

इसके अतिरिक्त साधु साध्वी के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्व प्रथम आचाराङ्ग का अध्ययन करे। निशीथ सूत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जो साधु आचाराङ्ग का अध्ययन किए बिना ही अन्य आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करता है, तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है†।

उक्त पाठों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत-साहित्य में आचाराङ्ग सूत्र का कितना महत्व है। आचाराङ्ग* सूत्र का परिज्ञाता मुनि ही आचार्य आदि पद को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जिस साधु को आचाराङ्ग का बोध नहीं उसे कोई पद नहीं दिया जा सकता। इससे आचाराङ्ग का गौरव स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। उसके फिर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

आचाराङ्ग सूत्र जितना सरल है उतना ही गम्भीर है। छोटे-छोटे सूत्रों में इतने गहन भाव समाविष्ट कर दिए हैं कि मानों गागर में सागर भर दिया हो। अत उसके अर्थ एवं भावों को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने इस पर विशद टीकाएं लिखी हैं सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस पर निर्युक्ति लिखी थी। इसके पश्चात् सिद्ध सेनाचार्य ने गन्धहस्ति भाष्य नामक टीका की रचना की। विद्वानों का अभिमत है कि यह टीका बहुत विशाल एवं आध्यात्मिक अर्थ को प्रकट करने वाली थी। प्रस्तुत आगम के टीकाकार श्री शीलांकाचार्य ने अपनी टीका उसी के आधार पर लिखी है। श्री गन्ध हस्ति टीका की गहनता को स्पष्ट करते हुए भी शीलांकाचार्य आचाराङ्ग टीका की उत्था निका में लिखते हैं कि गन्धहस्ति कृत आचाराङ्ग सूत्र के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन का वर्णन अत्यन्त गहन-गम्भीर है। जिज्ञासु सज्जनों को उसका सुगमता से बोध हो सके, इसके

---

* व्यवहार सूत्र ३, ३।

† जे भिक्खू णव बंभचेराइं अवाएत्ता उवरिमसुयं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ।

— निशीथ सूत्र १९ २।

* प्रस्तुत पाठों में प्रयुक्त 'आयारप्पकप्पे' का तात्पर्य आचार प्रकल्प अर्थात् निशीथ सहित आचाराङ्ग सूत्र से है। निशीथ आचाराङ्ग का एक अध्ययन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पांच चूलाओं में पांचवीं चूला का नाम आचारप्रकल्प या निशीथ है और यह आचाराङ्ग संबद्ध थी। परन्तु बाद में यह आचाराङ्ग से पृथक कर दी गई और इसे निशीथ सूत्र के नाम से छेद सूत्रों में स्थान दे दिया गया। अतः यहां आचाराङ्ग के अध्ययन का अर्थ है— आचारप्रकल्प या निशीथ नामक अध्ययन सहित पूरे आचाराङ्ग का परिज्ञान करना।

लिए मैं अपनी टीका में उसमें से कुछ सार ग्रहण करता हूँ†।

जब शीलाकाचार्य जैसे प्रौढ़ विद्वान गन्धहस्ति कृत टीका को महत्ता को स्वीकार करते हैं, तो उसकी गहनता एव विशिष्टता को मानने मे किसी भी प्रकार के सन्देह को अवकाश नहीं रह जाता है। परन्तु, हमारे दुर्भाग्य से वह टीका आज उपलब्ध नहीं है, उसका नाम मात्र ही शेष रह गया है।

अत विचारशील पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे आचाराङ्ग के महत्व को समझने एव उसके गम्भीर विषय पर तटस्थ मनोवृत्ति से चिन्तन-मनन करने का प्रयत्न करें। और उसके स्थूल शब्दार्थ में ही न उलझकर, उसके आध्यात्मिक एव वास्तविक अर्थ को समझने का पुरुषार्थ करें। गन्धहस्ति टीका में प्राय आध्यात्मिक अर्थ को ही महत्व दिया गया था और आज भी जो टीकाए उपलब्ध हैं, उनमें भी कई स्थलों पर आध्यात्मिक अर्थ करने की शैली अपनाई गई है। मैंने भी प्रस्तुत विवेचन मे उस शैली का अनुसरण किया है। यदि अन्य आगमों के विवेचन में भी इस शैली का उपयोग किया जाए तो श्रुत साहित्य का गौरव अधिक बढ़ सकता है।

प्रस्तुत विवेचन की आवश्यकता

आचाराग सूत्र इतना गम्भीर एव महत्वपूर्ण है कि इस पर प्राचीन काल से ही निर्युक्ति, वृत्ति एव टीका आदि विवेचन लिखे जाते रहे हैं। फिर भी उसका अर्थ अभी तक पूर्णत स्पष्ट नहीं हो पाया है। और वे प्राचीन विवेचन प्राकृत एव सस्कृत में हैं, अत प्राकृत एव संस्कृत के ज्ञान से रहित व्यक्तियों के लिए उनका कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ विचारकों ने हिन्दी एव गुजराती भाषा में भी अनुवाद किया है। फिर भी यह विषय इतना गम्भीर है कि इसका जितना विवेचन किया जा सके, उतना ही कम है। इस दृष्टि से मैंने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध और अनुत्तरोपपातिक सूत्र के विवेचन एवं अनुवादादि से अवकाश मिलते ही आचाराग का लेखन कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसमें इस बात का पूरा ख्याल रखा गया कि विवेचन की भाषा सरल-सुगम हो और अर्थ पूरी तरह स्पष्ट हो, जिससे प्रत्येक हिन्दी भाषी लाभ उठा सके। अत मैंने मूल के साथ छाया पदार्थ और मूलार्थ देकर, उस पर विशद विवेचन भी कर दिया। विवेचन में सूत्र के मूल भावों को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न किया गया है।

---

† शस्त्र-परिज्ञा विवरणमति बहुगहनञ्च गन्धहस्तिकृतम्। तस्मात् सुख बोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसासारम्।

— आचाराग टीका (श्री शीलाकाचार्य)

सहायक ग्रन्थ

प्रस्तुत विवेचन करते समय मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई उसका मैंने उन्मुक्त हृदय से उपयोग किया। परन्तु, इसमें शीलांकाचार्य की टीका को प्रमुख स्थान दिया गया है। क्योंकि, वर्तमान में उपलब्ध टीकाओं में यह सबसे विशद प्रौढ़ एवं प्राचीन है। इसके अतिरिक्त जिनसिंहसूरि कृत आचारांग प्रदीपिका पार्श्वचन्द्रसूरि कृत आचारांग बालावबोध टीका (गुजराती) एक अज्ञात लेखक का आचारांग टब्बा और प्रो० रवजी भाई देवराज का मूल सहित आचारांग अनुवाद का भी सहयोग लिया गया है। प्रस्तुत विवेचन के लेखन कार्य में जिन ग्रंथों का सहयोग है, उनके लेखकों का आभारी हूँ।

इस तरह अनेक ग्रंथों का अवलोकन करके प्रस्तुत विवेचन को हर तरह से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। और इसमें इस बात का पूरा ख्याल रखा गया है कि विवेचन में मूल पाठ के भावों के अनुरूप ही व्याख्या हो। फिर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण भूल का हो जाना स्वाभाविक है। क्योंकि छद्मस्थ भूल का पात्र है। अतः सावधानी रखते हुए भी कहीं त्रुटि रह गई हो तो विचारशील पाठक हमें सूचित करें जिससे उस पर विचार किया जा सके और आगामी संस्करण में सुधार किया जा सके।

शिवमस्तु सर्व जगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः।

—मुनि आत्माराम

वन्दे वीरम्

ॐ महाराज

आत्माराम

ॐ आत्माराम

ॐ महाराज

ॐ आत्माराम

ॐ महाराज

आत्माराम

ॐ महाराज
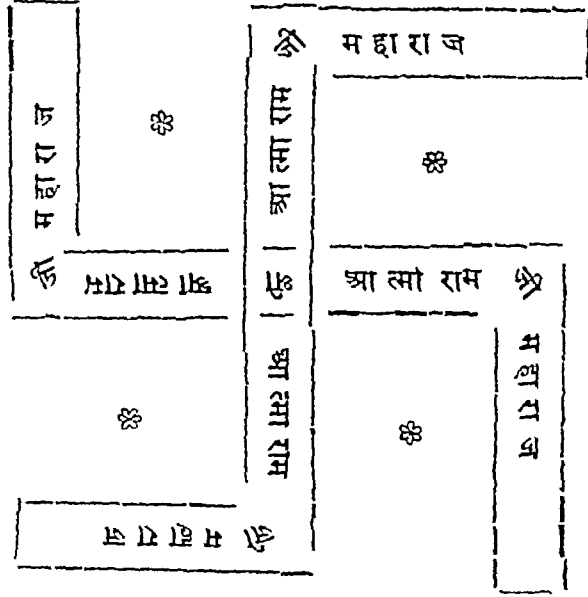
वन्दे वीरम्

वन्दे वीरम्

वन्दे वीरम्

आचारांग—एक अनुशीलन

भारतीय-संस्कृति

भारतीय-संस्कृति क्या है ? विभिन्न दिशाओं में प्रवहमान तीन स्वतन्त्र विचार-धाराओं का संगम। भारत में तीन विचार धाराएं प्रवहमान रही हैं— १-जैन, बौद्ध और ३-वैदिक। तीनों ही विचार-परम्पराएं अपने—आप में स्वतन्त्र हैं। तीनों का अपना स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तन है, स्वतन्त्र अस्तित्व है। परन्तु, फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि तीनों विचार-धाराएं एक-दूसरी से पूर्णतया असंबद्ध हैं। तीनों में कुछ हद तक या किसी अपेक्षा विशेष से विचार साम्य भी है। दृष्टि-भेद होने पर भी एक दर्शन दूसरे दर्शन से प्रभावित भी है। एक-दूसरे में शब्दों का, भावों का, शैली का आदान-प्रदान भी होता रहा है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि तीनों संस्कृतियों का संगम-स्थल ही भारतीय-संस्कृति है। तीनों विचार-धाराओं का अनुशीलन-परिशीलन ही समग्र भारतीय-संस्कृति का अध्ययन है। यदि जैन विचारधारा या श्रमण-परम्परा का अध्ययन करना है, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि बौद्ध और वैदिक-विचारधारा का भी गहन अध्ययन किया जाए। जब तक तीनों धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक हम उस दर्शन का या इस परम्परा का समग्र एवं निर्भ्रम अध्ययन नहीं कर सकते। क्योंकि, तीनों विचार परम्पराओं की शृंखला इतनी गहरी जुड़ी हुई है कि उसे हम एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। इसलिए प्रबुद्ध जैन-विचारकों एवं वरिष्ठ आचार्यों का यह अभिमत बुद्धि एवं न्याय-संगत है कि प्रवचनकार एवं चर्चावादी को स्व-दर्शन और पर-दर्शन का अथवा अपनी एवं अन्य धर्म की परम्पराओं का, विचारधारा का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जिससे वह अपनी संस्कृति का स्पष्ट चित्र जनता के सामने रख सके। अतः तीनों विचारधाराओं का समन्वित रूप ही भारतीय संस्कृति है। वह समन्वय की संस्कृति है, अनेकता में भी एकत्व को खोजने एवं पाने की संस्कृति है।

आगम-श्रुत-साहित्य

भारतीय विचारकों एवं चिन्तकों ने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में गहरी खोज की है। और अपनी शोध (Research) में जो कुछ पाया उसे शिष्य-प्रशिष्यों को सिखा-कर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। इस ज्ञान परम्परा को भारतीय-संस्कृति में 'श्रुत या श्रुति' कहते हैं। 'श्रुत' का अर्थ है— सुना हुआ और 'श्रुति' का तात्पर्य है— सुनी हुई।

जैन परम्परा में तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट वाणी को श्रुत-साहित्य कहते हैं। जैनागमों में पांच ज्ञान का उल्लेख मिलता है— १ मति ज्ञान २ श्रुत-ज्ञान ३ अवधि ज्ञान ४ मन-पर्यव ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। इसमें मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना गया है। द्वादशांगी का ज्ञान श्रुत ज्ञान माना गया है। वर्तमान में उपलब्ध ११ अंग १२ उपांग, ४ छेद शास्त्र ४ मूल-सूत्र और आवश्यक सूत्र श्रुत-साहित्य कहलाता है। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में ४५ आगम श्रुत-साहित्य के रूप में माने जाते हैं। क्योंकि, तीर्थंकर इनके उपदेष्टा होते हैं और उनके द्वारा श्रुत— सुनी हुई वाणी को गणधर अपने शिष्यों को सुनाते हैं और यह वाणी अनागत में शिष्य-परम्परा से एक दूसरे को सुनाई जाती है। आचारांग सूत्र के प्रारम्भ में यह सूत्र आता है— "सुयं मेआउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं" हे शिष्य ! मैंने सुना है कि उस —श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

वैदिक साहित्य में 'श्रुति' शब्द का प्रयोग होता है। श्रुति का अर्थ भी सुनी हुई बात होता है। वैदिक ऋषियों द्वारा रचित ऋचाओं एवं स्मृतियों को श्रुति कहते हैं। क्योंकि ऋषियों के मुख से प्रवहमान वेद-वाणी को सुनकर शिष्यों ने उसे स्मृति में रखा और अपने शिष्य-प्रशिष्यों को सुनाकर उसके प्रवाह को सतत गतिमान रखने का प्रयत्न किया।

जैनागमों की तरह बौद्ध-ग्रन्थों में 'सुत्त' शब्द मिलता है। उसका अर्थ भी वही है जो सुत शब्द का है अर्थात् सुना हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय-संस्कृति की तीनों परम्पराओं में आगम के लिए प्रयुक्त श्रुति श्रुत-सुयं और सुत्त संज्ञा— नाम सर्वथा सार्थक है।

द्वादशांगी वाणी

श्रुत-साहित्य— आगमों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक युग में होने वाले तीर्थंकर द्वादशांगी का उपदेश देते हैं। इस दृष्टि से द्वादशांगी को अनादि-अनन्त भी मानते हैं। फिर भी वेदों की तरह अपौरुषेय नहीं है। यह एक विचार परम्परा है कि अनादि काल से होने वाले तीर्थंकर अपने शासनकाल में द्वादशांगी का उपदेश देते हैं और अनागत काल में होने वाले तीर्थंकर इसी का उपदेश देंगे और वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में स्थित तीर्थंकर इसका उपदेश दे रहे हैं। इस तरह प्रवाह की दृष्टि से द्वादशांगी-वाणी अनादि अनन्त है। उसका प्रवाह न कभी विच्छिन्न हुआ है और न होगा। परन्तु, व्यक्ति की दृष्टि से विचार करते हैं, तो इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थंकर इसका उपदेश देते हैं। अतः उस शासन-काल में विद्यमान द्वादशांगी उनके द्वारा उपदिष्ट होती है। जैसे—वर्तमान में द्वादशांगी के

उपदेष्टा श्रमण भगवान महावीर हैं। इस तरह द्वादशागी प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त होने पर भी अकृतक नहीं, कृतक है, अपौरुपेय नहीं, पौरुपेय है। क्योकि, वह वाणी है, शब्दों एवं अक्षरों का समूह मात्र है। और वाणी, शब्द या अक्षर का निर्माता कोई व्यक्ति ही होता है, ईश्वर नहीं। अत किसी शास्त्र, धर्म ग्रन्थ एव वेद वाक्य या श्रुति-स्मृति और श्रुत-साहित्य को ईश्वर-वाणी मानना भ्रम है। क्योकि ईश्वर शरीर रहित है और वाणी शरीर का धर्म है। अत जब ईश्वर के शरीर ही नहीं है, तब वह वाणी का प्रयोग कैसे करेगा? यह स्पष्ट समझ मे आने वाली बात है।

भगवती सूत्र मे भगवान की वाणी को द्वादशांगी गणि-पिटक कहा है। वस्तुत वह ज्ञान का पिटारा अर्थात् ज्ञान-मञ्जूषा ही है, जिसमे आत्मा, परमात्मा एव सपूर्ण विश्व के यथार्थ रूप ज्ञान-विज्ञान निहित है। वह द्वादशागी निम्न प्रकार है— १-आचाराङ्ग, २-सूत्रकृताङ्ग, ३-स्थानाङ्ग, ४-समवायाङ्ग, ५-विवाहपन्नत्ति-भगवती, ६-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, ७-उपासकदशाङ्ग, ८-अन्तकृतदशाङ्ग, ९-अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १०-प्रश्न-व्याकरण, ११-विपाक और १२-दृष्टिवाद। वर्तमान मे दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है, शेप ग्यारह अङ्ग उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत आगम

द्वादशाग मे आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। इसलिए आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत आगम को भगवान॰ और वेद† कहा है। क्योंकि तीर्थ प्रवर्तन मे आचार का सर्व प्रमुख स्थान है। शेप ग्यारह अग उसके बाद है। इसका कारण यह है कि इसमे मुक्ति प्राप्त करने के साधन की चर्चा है और वस्तुत देखा जाए तो समग्र प्रवचन एवं द्वादशागी सार भी मोक्ष है॰। और आचाराग मे मोक्ष-साधना का ही उपदेश है। इसलिए आचाराग को द्वादशागी का सार कहा है†। और इसी कारण उसे इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

आचारांग का उपदेश

आचार्य भद्रबाहु, चूर्णिकार और आचार्य शीलाक इस विपय मे एकमत है कि

॰ आयारस्स 'भगवओ' निज्जुत्ति कित्तइस्सामि। — आचाराग नि० १।

† आचारांग, नि०, ११।

॰ आचा० नि० ८, ९।

† अगाणा कि सारो ? आयारो। —आचा०, नि०।

द्वादशांगी का उपदेश और इसकी रचना सब प्रथम हुई है‡। परन्तु, आवश्यक चूर्णि में इसके विपरीत मतों का उल्लेख भी मिलता है। कुछ विचारकों का अभिमत है कि तीर्थकरों ने सर्व प्रथम अर्थ रूप से पूर्वों का उपदेश दिया परन्तु गणधरों ने सूत्र रूप से सब प्रथम आचारांग की रचना की। किन्तु, कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि सर्व प्रथम उपदेश भी पूर्वों का दिया गया और ग्रन्थ रचना भी पूर्वों की ही की गई। उपदेश एवं रचना की दृष्टि से पहले 'पूर्व' हैं इसके बाद आचारांगादि अंग शास्त्र हैं, किन्तु, स्थापन की दृष्टि से आचारांग को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है*। इन विचार-भेदों के आधार पर हम इतना तो निस्संदेह कह सकते हैं कि समग्र श्रुत-साहित्य में आचारांग का अपना विशिष्ट स्थान है। भले ही वह उपदेश की दृष्टि से प्रथम न रहा हो रचना की दृष्टि से रहा हो या स्थापना की दृष्टि से प्रथम रहा हो, परन्तु इसमें किसी के दो मत नहीं हैं कि आचारांग का आगम-साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। वह जैन-साहित्य गगन का चमकता हुआ सूर्य है।

आचारांग का परिचय

आचारांग सूत्र का परिचय नन्दी† और समवायांग सूत्र‡ में दिया गया है। नन्दी सूत्र की अपेक्षा समवायांग सूत्र में दिए गए परिचय में कुछ विशेषता अधिक है। परन्तु, इस बात में उभय आगमों में एकरूपता है कि आचारांग सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं, उनके २५ अध्ययन ८५ उद्देशे और १८ हजार पद हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य 'धवला' ग्रंथ में भी आचारांग सूत्र के इतने ही पदों का उल्लेख मिलता है*। इसमें भी उभय आगमों में एक वाक्यता है कि आचारांग में प्रमुख रूप से साध्वाचार का वर्णन है। आचार्य अकलंक कृत राजवार्तिक† धवला‡ और जयधवला* में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि आचारांग सूत्र में मुनि धर्म का वर्णन है। इससे स्पष्ट होता है कि

---

‡ सव्वतित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खंति ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए चेव परिवाडिए गणहरा वि सुत्तं गुंथंति। —आचारांग चूर्णि, पृ १।

* आवश्यक चूर्णि पृ ५६ ५७।
† नन्दी सूत्र पृ ४१।
‡ समवायांग सूत्र पृ ११६।
* धवला भाग १ पृष्ठ ९९।
† राजवार्तिक सूत्र १२।
‡ धवला भाग १ पृष्ठ ९९।
* जयधवला भाग १ पृ १२२।

श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य आगमों मे आचाराग का परिचय समान रूप से मिलता है। ग्रन्थ की पद सख्या एव ग्रन्थ मे वर्णित विषय मे उभय परम्परा मे कोई मतभेद नहीं है।

आचाराग का मौलिक रूप

परिचय मे हम देख चुके हैं कि नन्दी सूत्र एव समवायाग सूत्र मे प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध बताए हैं। वर्तमान में उपलब्ध आचाराग सूत्र भी दो श्रुतस्कन्धों मे विभक्त है। परन्तु, यह एक प्रश्न है कि आचाराग के दोनों श्रुतस्कन्ध मौलिक हैं या एक श्रुतस्कन्ध मौलिक है और दूसरा उसके साथ पीछे से जोड़ा गया है? इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया गया है— एक पक्ष प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानता है। आचारांग निर्युक्ति एव आचाराग चूर्णि मे भी इस मत का समर्थन मिलता है। निर्युक्तिकार ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर कृत माना है†। इससे स्पष्ट होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध पीछे से जोडा गया हो। चूर्णि मे आदि, मध्य और अन्तिम मगल के प्रकरण मे प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तिम वाक्य को अन्तिम मंगल कहा है‡, इससे भी उक्त पक्ष को समर्थन मिलता है। भारतीय एवं श्रुत-साहित्य के विचारक जर्मन विद्वान प्रो० हर्मन-जैकोबी भी प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानते हैं❀। 'आज के कुछ विचारक सन्त एव विद्वान भी द्वितीय-श्रुतस्कन्ध को पीछे से सम्बद्ध किया हुआ मानते हैं। परन्तु, नन्दी-सूत्र एव समवायाग सूत्र दोनों श्रुतस्कन्धों को मौलिक मानते हैं। प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री आत्मा राम जी महाराज भी उभय आगमों के मत से सहमत हैं। परन्तु, भाषा एव विषय की दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि नन्दी और समवायाग का सकलन होने के पूर्व द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम के साथ सम्बद्ध कर दिया गया हो। इतना तो स्पष्ट है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय निरूपण पद्धति द्वितीय-श्रुतस्कन्ध से सर्वथा भिन्न है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आचार का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है, उसकी भाषा भी गूढ है और सूत्र-सक्षिप्त शैली है। थोडे शब्दों मे बहुत कुछ या सब कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय-श्रुतस्कन्ध मे ऐसी बात नहीं है। उसमे आचार के नियमों का परिगणन किया गया है, इसलिए उस की भाषा और शैली भी सरल है। और यह भी स्पष्ट है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूला रूप हैं, उसमे पाच चूलाएं हैं। वर्तमान में चार चूलाएं ही हैं, पाचवीं 'आयार पकप्प' चूला जिसे निशीथ

---

† आचाराङ्ग निर्युक्ति पृ० ३१-३२।

‡ आचाराङ्ग चूर्णि, पृ० १।

❀ Sacrd Book of th East, Vol 22, Introduction, P 47

— By Jacobi

भी कहते हैं इससे पृथक कर दी गई और वह स्वतन्त्र रूप से छेद सूत्र के रूप में स्वीकार कर ली गई। चूलाएं जोड़ने की परम्परा बहुत पुरानी रही है। मूल ग्रंथ को स्पष्ट करने के लिए उसके साथ चूलाएं जोड़ दी जाती थीं। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी विशिष्ट साधुओं के लिए उपयोगी था। सर्व साधारण उसका अनुशीलन करके उसे हृदयस्थ नहीं कर पाते थे। इस कठिनता को दूर करने के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध को सब साधारण के लिए उसके साथ संलग्न कर दिया हो। विषय की दृष्टि से देखते हैं तो जो भाव द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कही गई है वह सब प्रथम श्रुतस्कन्ध में आ ही गई है। अन्तर इतना ही है कि वह संक्षिप्त एवं गम्भीर शैली तथा प्रौढ़ भाषा में कही गई है। इस से ऐसा लगता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम के साथ बाद में जोड़ा गया हो। हो सकता है कि इसका सम्पादन सुधर्मा ने नहीं, बल्कि अन्य गणधर ने किया हो या स्थविर ने। परन्तु, यह है बाद का। फिर भी इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। इस पर अभी काफी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है और यह ऐतिहासिक विद्वानों के शोध (Research) का कार्य है।

आचारांग का समय और निर्माता

नन्दी सूत्र में यह बताया गया है कि द्वादशांगी के प्रणेता तीर्थंकर हैं*। आवश्यक निर्युक्ति में भी यह अभिव्यक्त किया गया है कि अरिहन्त—तीर्थंकर भगवान द्वादशांगी का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अर्थ रूप से उपदिष्ट उस वाणी को गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। शासन के हित के लिए गणधर तीर्थंकर भगवान के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्रबद्ध करते हैं†। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग का अर्थ रूप से उपदेश भगवान महावीर ने दिया था और गणधर सुधर्मा ने इसे सूत्रबद्ध किया था। अतः गणधरों की सूत्र रचना का मूलाधार (Original source) तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी होने से तीर्थंकरों को आगम प्रणेता कहते हैं।

इस से सिद्ध होता है कि आचारांग के मूल निर्माता भगवान महावीर हैं और उसको सूत्र बद्ध करने वाले गणधर सुधर्मा हैं। इस तरह आचारांग का समय ईसा से छट्ठी शताब्दि पूर्व का सिद्ध होता है। परन्तु, इसमें एक प्रश्न उठता है कि दोनों श्रुतस्कन्ध गणधर प्रणीत हैं या प्रथम-श्रुतस्कन्ध ? इसमें दो अभिमत हैं—आचारांग निर्युक्ति

---

* नन्दी सूत्र ४।

† अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ॥
— आवश्यक निर्युक्ति १९२।

में द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर कृत माना है‡ । स्थविर शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक ने चतुर्दश पूर्वधर को स्थविर माना है*। परन्तु, चूर्णिकार ने स्थविर का अर्थ गणधर किया है† । इससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ विचारक आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर (चतुर्दश पूर्वधर) कृत मानते हैं और कुछ विचारक दोनों श्रुतस्कन्धों को गणधर कृत मानते हैं।

वर्तमान में भारतीय एवं पाश्चात्य ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विद्वान प्रथम-श्रुतस्कन्ध को ही गणधर कृत मानते हैं । परन्तु, आज के कुछ विद्वान एवं आगमवेत्ता द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर कृत स्वीकार करते हैं । प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत मानने के पक्ष में हैं। और इस सम्बन्ध में उनके विचार द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भूमिका में दिए हैं। आचार्य श्री के द्वारा किया गया अन्वेषण (research) और दिए गए तर्क (Arguments) अपना विशेष महत्व रखते हैं। उन्होंने शोध करने वाले विद्वानों (Research scholors) के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

आचार्य श्री ने अपनी खोजपूर्ण भूमिका में उसे भाषा, भाव, शैली आदि सब दृष्टियों से गणधरकृत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका प्रयत्न कितना सफल रहा है, यह तो विज्ञ पाठक ही बता सकते हैं। परन्तु इस दिशा में जो उन्होंने प्रयत्न किया है वह स्तुत्य है और उनका श्रम हमें चिन्तन के लिए नई प्रेरणा देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह तो हम ऊपर देख चुके हैं कि भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से द्वितीय-श्रुतस्कन्ध प्रथम से सर्वथा भिन्न है। दोनों की भाषा, भाव और शैली में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा गम्भीर और प्राञ्जल है, उसके भावों में भी गहनता है और उसकी शैली सूत्र थोड़े शब्दों में बहुत कुछ या सब कुछ कह देने की, शैली

---

‡ थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पगडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥
— आचा० नि०, २८७।

* तत्र इदानीं वाच्य-केनैतानि निर्यूढानि, किमथ, कुतो वेति ? अत आह—'स्थविरैः' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्यूढानि —इति ।
—आचार्य शीलांक ।

† एयाणि पुण आयारग्गाणि आयारा चेव निज्जूढाणि केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं, थेरा—गणधरा ॥
—आचा० चूर्णि, ३२६ ।

है। परन्तु, द्वितीय-श्रुतस्कन्ध में न तो भाषा की प्राञ्जलता है, न भावों की गम्भीरता है और न सूत्र शैली के ही दर्शन होते हैं। उसमें तो सरल भाषा एवं साधारण शैली में सीधे सादे भावों की—आचार के नियमों की परिगणना करा दी है। इस कथन में कुछ तथ्य है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भाषा, भाव और शैली में सरलता लाने का कारण यह रहा है कि साधारण साधक भी आचार की महत्ता को सरलता से समझ सके और उसे आचरण में उतार सके। हम भी इस बात को मानते हैं कि इसी उद्देश्य से प्रथम-श्रुतस्कन्ध के साथ द्वितीय-श्रुतस्कन्ध को संबद्ध किया गया है। परन्तु इसके लिए अभी खोज एवं चिन्तन करने की आवश्यकता है कि दोनों के कर्ता एक ही हैं या भिन्न व्यक्ति हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कर्ता दो भिन्न व्यक्ति होने चाहिएं। क्योंकि, प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा एवं भावों को समझने में जब कठिनाई उत्पन्न हुई होगी तभी आचार्यों ने उसे दूर करने के लिए द्वितीय-श्रुतस्कंध की रचना की होगी ? आचाराङ्ग निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि आचारचूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार में से ही लेकर शिष्यों के हितार्थ चूलिकाओं में प्रविभक्त किया है*।

भले ही द्वितीय-श्रुतस्कंध को गणधर कृत मानें या स्थविरकृत, इतना तो स्पष्ट है कि उसका मूलाधार वीतराग वाणी है। स्थविरों ने जो कुछ रचना की है वह भी गणधर कृत अंग सूत्रों एवं पूर्वों में से लेकर की है और चतुर्दश पूर्वधर को भी सर्वज्ञ के समान माना है, उसे श्रुत-केवली संबोधन से संबोधित किया है। गणधर सुधर्मा भी आचार्य पद पर स्थापित करते समय सर्वज्ञ नहीं, चतुर्दश पूर्वधर ही थे और वे कई वर्षों तक छद्मस्थ रहे हैं। परन्तु उनके ज्ञान की विशिष्टता के कारण उनकी वाणी को भी वीतराग-वाणी की तरह प्रामाणिक माना गया है। यही कारण है कि अंग बाह्य आगमों को—जो स्पष्टतः स्थविर कृत हैं और अनेक आगमों के रचयिता स्थविरों के नाम भी उनके साथ संबद्ध हैं, भी प्रामाणिक माना है। परन्तु मध्य काल में स्थविर की अपेक्षा गणधर शब्द का अधिक महत्व माना जाने लगा। और इसके कारण अंग बाह्य आगमों को भी गणधर कृत कहा जाने लगा। उस समय स्थविर शब्द का अर्थ भी गणधर किया जाने लगा। यही कारण है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर कृत माना गया।

यह ठीक है कि नन्दी एवं समवायाङ्ग सूत्र में जो आचाराङ्ग के अध्ययनों उद्देशों एवं पदों की संख्या दी गई है, उसमें समग्र आचाराङ्ग का उल्लेख है, उसमें दोनों श्रुतस्कन्धों को विभक्त नहीं किया गया है। परन्तु, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उभय आगमों का यह वर्णन उस समय का है जब आचारांग सूत्र से आचारांग के द्वितीय

---

* आचा० नि० २८७।

श्रुतस्कन्ध की पाचवीं-चूला (२५वा अध्ययन) आयारपकप्प, जो आज निशीथ सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है, अलग कर दी गई थी। आचाराङ्ग निर्युक्ति मे द्वितीय-श्रुतस्कन्ध की ५वीं चूला का नाम 'आयारपकप्प तथा निसीह' दिया हुआ है।* अत यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि समवायाङ्ग मे दी गई सख्या, गणधर सुधर्मा स्वामी के समय की है। यह ठीक है कि समवायाङ्ग के सूत्रकार गणधर ही होते हैं, क्योंकि वह अग शास्त्र है। परन्तु, समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग मे कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जो स्पष्टत प्रक्षिप्त प्रतीत होते है। स्थानाङ्ग सूत्र में सात निह्नव का उल्लेख आता है। उसमे तीसरे अव्यक्तिक से लेकर सातवा अबद्धिक निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के २१४ वर्ष वाद-से लेकर ५८४ वर्ष वाद तक हुए हैं। सातवा अवद्धिक निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के ५८४ वर्ष पीछे हुआ है, फिर भी उसका स्थानाङ्ग सूत्र मे उल्लेख मिलता है। परन्तु, उसके वाद वोटिक निह्नव हुआ, वह भगवान महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष पीछे हुआ, उसका इसमे उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि वी० नि० स० ६८० में हुई वल्लभी वाचना मे नया सूत्र नहीं जोडा गया।

इससे हम यह नहीं कह सकते कि आगम मे मौलिकता है ही नहीं? उसमें बहुत कुछ मौलिक है और गणधर कृत भी है। परन्तु, आगमो का सूक्ष्म अवलोकन करने के वाद हम निश्चित रूप से ऐसा नहीं कह सकते कि इसमे उल्लिखित एक-एक शब्द वही है, जो भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट एव गणधर सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। उसमे कहीं-कहीं परिवर्तन भी हुआ है परन्तु फिर भी उसकी मौलिकता को कोई क्षति नहीं पहुची है। स्थविरों ने जो कुछ जोड़ा है, वह भी एकदम निराधार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्थविर भी १४ पूर्वधर थे और उनकी रचना का आधार भी वीतराग वाणी या तीर्थंकरों का उपदेश ही था। गणधरों ने भी तीर्थंकरों के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्र-वद्ध किया है और स्थविरों ने भी जो कुछ रचना की है, वह पूर्वों मे से लेकर या अङ्ग शास्त्रों मे से लेकर की है। अत यह कहना या मानना उपयुक्त नहीं है कि स्थविर की रचना गणधरों के मुकावले में कमजोर है या अप्रामाणिक है। क्योंकि, यह तो सबको मान्य है कि गणधर भी स्थविरों की तरह १४ पूर्वधर थे और छद्मस्थ ही थे। अंतर इतना ही है कि गणधरों के सामने भगवान महावीर स्वय विद्यमान थे और स्थविरों के सामने उनकी वाणी थी, उनका प्रवचन था।

इतना तो स्वीकार करना होगा कि श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री ने द्वितीय श्रुतस्कध के निर्माता कौन हैं? इसे खोज निकालने के लिए अथक परिश्रम किया है और उनके

---

* आचा० नि० ४६५-४६६

तक भी काफी महत्वपूर्ण एवं वजनदार हैं। इस खोज से कई नई बातें एवं कई नए तथ्य सामने आए हैं। इससे अब एकदम यह नहीं कहा जा सकता कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधरकृत है ही नहीं। मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की इस खोज से ऐतिहासिक विचारकों को मार्ग दर्शन मिलेगा और इससे वे अवश्य ही किसी निर्णय पर पहुंचने में सफल होंगे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग के उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार हैं भगवान महावीर के पञ्चम गणधर और प्रथम आचार्य सुधर्मा और इसका रचना काल ईसा से छठी शताब्दी पूर्व माना जा सकता है। और द्वितीय-श्रुतस्कन्ध का समय भी चौथी और पांचवी शताब्दी के मध्य में ही मान सकते हैं, उसके बाद नहीं। भले ही वह स्थविर कृत भी हो तब भी काफी प्राचीन है। हो सकता है, प्रथम श्रुतस्कन्ध के कुछ समय बाद ही इसकी रचना की गई हो और उसे उसके साथ संलग्न कर दिया हो।

आचाराङ्ग की शैली

आचाराङ्ग के प्रथम-श्रुतस्कन्ध की शैली की तुलना ऐतरेय ब्राह्मण कृष्ण-यजुर्वेद धर्मसूत्र आदि की शैली से की जा सकती है। प्रस्तुत आगम की यह विशेषता है कि इसमें गद्य और पद्य का मिश्रण हुआ है। नवम अध्ययन पूर्ण पद्य में ही है अन्यत्र गद्य के साथ पद्यों का सुमेल दिखाई देता है। सूत्र शैली—थोड़े में अधिक कहने की जो विशेषता है, वह भी प्रथम-श्रुतस्कन्ध में ही परिलक्षित होती है और अर्थ गाम्भीर्य भी प्रथम-श्रुतस्कन्ध की भाषा में ही है। इससे आचाराङ्ग की प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भाषा

जैन परम्परा के अनुसार आगमों की भाषा—अर्द्ध मागधी मानी गई है। तीर्थंकर सदा अर्द्ध मागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं और उसका प्रवचन समस्त जाति एवं देश के व्यक्ति तथा पशु पक्षी भी समझ लेते हैं। आगम में यह भी कहा गया है कि देवता भी अर्द्ध मागधी भाषा में बोलते हैं।

आचाराङ्ग की भाषा—अर्धमागधी है। जिसे आजकल प्राकृत कहते हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि आचाराङ्ग के प्रथम-श्रुतस्कन्ध की भाषा पाली और प्राकृत के बीच की कड़ी है। अन्य आगमों एवं प्राकृत ग्रन्थों में प्राकृत भाषा अपने विकसित रूप में मिलती है, किन्तु प्रथम-श्रुतस्कन्ध में प्राकृत का सबसे प्राचीन रूप सुरक्षित है। इसकी भाषा की तुलना सूत्रकृताङ्ग के प्रथम-श्रुतस्कन्ध के साथ कुछ अंशों में की जा

सकती है। आर्ष प्राकृत के अधिक प्रयोग प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध मे ही मिलते हैं, द्वितीय मे नहीं। प्रथम-श्रुतस्कन्ध में परस्मैपद में 'ति' प्रत्यय उसी रूप मे मिलता है, जब कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे वह 'इ' के रूप में प्रयोग किया गया है❀। इसके अतिरिक्त प्रथम-श्रुतस्कन्ध के वाक्य छोटे हैं और सादे हैं, जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के वाक्य लम्बे और अलकार युक्त भाषा मे हैं। और गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा प्रथम की अपेक्षा कुछ विकसित रूप मे परिलक्षित होती है।

नाम

आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों को ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अध्ययन कहा है†। इससे धर्म सूत्रों में प्रयुक्त ब्रह्मचर्य-आश्रम, उपनिषदों में उल्लिखित ब्रह्म शब्द और बौद्धों के ब्रह्म-विहार की स्मृति ताजी हो उठती है। नाम की साम्यता होते हुए भी अर्थ मे जो अन्तर है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। धर्मसूत्र में ब्रह्म का मुख्य अर्थ है—वेद। अत ज्ञान एवं ज्ञान प्राप्ति की चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है। उपनिषदों से ब्रह्म का मुख्य अर्थ है—विश्व का एक मूल तत्त्व या आत्म तत्त्व, उस की प्राप्ति या साक्षात्कार की चर्या-ब्रह्मचर्य है। बौद्धों मे मैत्री, प्रमोद, उपेक्षा और करुणा, इन चार भावनाओं मे विचरण करना ब्रह्म विहार माना है। जबकि आचाराङ्ग में ब्रह्म का अर्थ है—सयम। अत सयम का आचरण करना ब्रह्मचर्य है। जैन दृष्टि से अहिंसा, समभाव या समत्व की साधना का ही नाम सयम है‡। और इसी को सामायिक की साधना कहा है❀। गीता में समत्व भाव को योग कहा है† और इसे ब्रह्म भी माना है‡। आचाराङ्ग एवं गीता में इस बात को स्पष्टत स्वीकार किया गया है कि आध्यात्मिक दृष्टि अहिंसा एव समभाव की साधना के मूल में ही है❀।

आचाराङ्ग मे अहिंसा एव समभाव की साधना का ही उपदेश दिया गया है। अत. उसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम सार्थक है। और निर्युक्तिकार का यह कथन भी

❀ पमुच्चति (श्रु० १, अ० २, उ० १) परिसडइ आदि (द्वितीय श्रुतस्कन्ध)

† नवबभचेर पन्नता। —समवायाङ्ग, ६, ५१।

‡ स्थानांग सूत्र, ४२६-३०, समवायांग, १७।

❀ आवश्यक सूत्र, सामायिक अध्ययन।

† समत्व योग उच्यते।—गीता २, ४८

‡ इहैव तैर्जित. सर्गो येषा साम्ये स्थितं मन:
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिता:। —गीता, ५,१९

❀ आचा०' १, २, ३, ४, और गीता, ६-३२॥

नितान्त सत्य है कि आचाराङ्ग सब अङ्गों का सार है। क्योंकि द्वादशाङ्गी का उपदेश संयम की साधना को सेवारूपी बताने के लिए दिया गया है और आचाराङ्ग में मुख्य रूप से संयम-साधना का ही उपदेश है और संयम ही मुक्ति का कारण है। अतः आचाराङ्ग तीर्थंकर प्रवचन का सार है। और उसका ब्रह्मचर्य नाम भी उपयुक्त एवं सार्थक है।

शब्दों का आदान प्रदान

भारतीय-वाङ्मय एवं सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही श्रमण और ब्राह्मण परम्परा सर्वथा अलग-अलग रही हो परन्तु एक-दूसरी परम्परा ने परस्पर एक-दूसरे के साहित्यिक शब्दों को अपने साहित्य में ग्रहण किया है। बौद्ध साहित्य में उस युग के प्रचलित वैदिक शब्दों को निस्संकोच भाव से लिया गया है। प्रस्तुत आगम में भी ब्राह्मण-परम्परा में प्रयुक्त शब्दों को स्थान दिया गया है। परन्तु आगम-साहित्य में वैदिक शब्दों को श्रमण संस्कृति के अनुरूप ढालने का भी पूरा प्रयत्न किया है।

वेद-युग में वैदिक परम्परा का आराध्य देव इन्द्र बहुत शक्तिशाली माना गया है और उसका वीरत्व दुष्टों एवं शत्रुओं का संहार करने में माना गया है और वैदिक ऋषियों ने उसकी संहारक एवं हिंसक शक्ति की स्तुति की है, गीत गाए हैं। परन्तु आचाराङ्ग में वैदिक परंपरा में प्रयुक्त इन शब्द की कालिमा को हटा दिया गया है। इसमें वीरत्व महावीरत्व ब्राह्मणत्व आर्यत्व आदि शब्दों का वैदिकों की हिंसा प्रधान परम्परा के विपरीत करुणा दया विरत्वमूलक एवं समभाव—मूलक अहिंसा के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

नवम अध्ययन में भगवान महावीर की साधना का वर्णन है। उसके चारों उद्देशों के अन्त में यह उल्लेख किया गया है। कि 'मतिमान ब्राह्मण ने यह आचरण किया है। इसमें भगवान को क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण कहा गया है। परन्तु ब्राह्मणत्व के अर्थ का पूर्णतः परिष्कार कर दिया गया है। कहां वैदिक यज्ञ अनुष्ठान में संलग्न हिंसा में अनुरक्त रक्त रञ्जित हाथों वाला ब्राह्मण और कहां आत्म-साधना में संलग्न अहिंसा का अधिदेवता यह ब्राह्मण। दोनों की जीवन रेखा में कहीं साम्य नहीं मेल नहीं और दोनों की साधना में कहीं एकरूपता नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द की हिंसक भावना एवं कालिमा को धोकर उसके अर्थ का आध्यात्मिक विकास करके ही उसे आचाराङ्ग में स्थान दिया है।

नायपुत्त ज्ञातपुत्र या वर्द्धमान को वीर कहा है, वीर ही नहीं बल्कि महावीर कहा है। और आज तो भगवान का महावीर नाम ही सबकी जिह्वा पर चढ़ रहा है,

अन्य नाम तो आगमों एव ग्रंथों मे ही देखे-पढ़े जा सकते है। परन्तु, भगवान की महावीरता किसी का सहार करने मे नहीं थी। उन्होंने इन्द्र की तरह जन-सहारक युद्ध नहीं, लडे और न उन्होंने पशु-पक्षी का वध ही किया। फिर भी वे वीर रहे है, वीर ही नहीं महावीर माने गए हैं। यहा वीरत्व की व्याख्या ही परिवर्तित कर दी गई है। ब्राह्मण क्रूरता को वीरत्व मानते हैं। परन्तु, महावीर का वीरत्व सकषाय-चर्या (सदोष-आचरण) और अकषाय-चर्या (निर्दोष-आचरण) का परिज्ञान करके, अकषाय-चर्या को स्वीकार करने मे है। इस साधना मे राग-द्वेष का अभाव होने से हिंसा आदि दोषों को पनपने का थोड़ा-बहुत भी अवकाश नहीं है। क्योंकि भगवान महावीर ने दूसरों पर नहीं, अपनी आत्मा पर नियन्त्रण किया। अपने मन, वचन और काय योगों के प्रबल प्रवाह को ससार की ओर से हटाकर, आत्म साधना की ओर मोड़ा। उन्होंने कषायों एव राग-द्वेष पर नियत्रण किया। अत उनका वीरत्व महान है, निर्दोष और ब्राह्मणों के वीरत्व की कल्पना से सर्वथा भिन्न रहा है।

ब्राह्मण अहर्निश यज्ञ-याग की चिन्ता मे डूबे रहते थे और बहुभाषी थे, जबकि भगवान महावीर 'माहणे अबहुवाई' अल्पभाषी ब्राह्मण थे। इस तरह जब वैदिक शब्दों का स्वयं भगवान महावीर के जीवन मे परिवर्तित अर्थ परिलक्षित होता है, तो आचाराङ्ग जो उनकी साधना का निचोड है, मन्थन है, उसमे उसका बदला हुआ वास्तविक रूप दृष्टिगोचर होता है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? आचाराग मे अनेक जगह यह दोहराया गया है कि सयम-साधना वीरों का—महावीरों का मार्ग है, त्याग-तप एव सयम-निष्ठ साधकों का पथ है।

वैदिक अपने आपको आर्य कहते थे। परन्तु, वेद, पुराण और ब्राह्मण-ग्रन्थ में जो उनका हिंसा प्रधान जीवन मिलता है, वह उनके अनार्यत्व का ही परिचायक है। आचाराग में भी आर्य शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु, इसकी व्याख्या मे उज्ज्वलता, समुज्ज्वलता एव धवलता निखर आई है। वस्तुत आर्य वह नहीं है, जो रात-दिन याज्ञिक हिंसा मे उलझा रहता है तथा शूद्र और नारी का तिरस्कार एव शोषण करता है। परन्तु, आर्य वह है, जिसके जीवन-गवाक्ष से स्नेह, समता, मृदुता, कोमलता, अभय, अप्रमाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का ज्योतिर्मय प्रकाश छन-छन कर आता है और उसके साधना पथ को प्रकाशित करता है तथा जिसके अन्तर्मन मे प्राणी-जगत के प्रति प्रेम एवं करुणा का झरना झरता है और जो प्रत्येक संतप्त एव पीडित व्यक्ति के दु ख एव सन्ताप को मिटाने को सन्नद्ध—तैयार रहता है। सचमुच मे, आर्य सयम-निष्ठ होता है। आर्य करुणा-सागर होता है। आर्य विषय-विकारों

से रहित होता है। आर्य पक्ष-पात एवं ऊंच-नीच के भेद-भाव तथा छुआ-छूत की घृणित भावना से रहित होता है। आर्य विश्व के साथ भाई चारे का सम्बन्ध स्थापित करने वाला होता है और प्राणी-जगत का संरक्षक होता है।

आचारांग सूत्र में माहण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पण्डित आर्य वेद विद् आदि अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रमण भगवान महावीर ने इन शब्दों के प्रयोग में उपस्थित हिंसा शोषण एवं दलीकरण के विष को अमृत के रूप में परिणत करके इन शब्दों को बताया है और आर्यत्व एवं आर्यपथ को दिव्य, भव्य एवं उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाया है।

आचारांग क्या है?

प्रस्तुत आगम के नाम से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें आचार का वर्णन है। इसमें प्राय साध्वाचार का वर्णन है। इसी कारण यह सब अंगों एवं आगमों में महत्त्व पूर्ण एवं सब अंग-शास्त्रों का सारभूत ग्रन्थ माना गया है। क्योंकि, जीवन का, साधना का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ सम्यक्-आचार का होना आवश्यक है। अतः मुक्ति प्राप्ति का साधन आचार है और आचारांग में आचार का ही वर्णन है। और भगवान महावीर के उपदेश या प्रवचनों का उद्देश्य भी मोक्ष-मार्ग को बताना है। इसलिए आचारांग में सब अंगों का निचोड़ समाविष्ट है और इसी कारण इसे सब अंग-सूत्रों में सर्व प्रथम स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत आगम दो श्रुत-स्कन्धों में विभक्त है। प्रथम-श्रुतस्कन्ध में पञ्चाचारों—१ ज्ञान आचार, २ दर्शन आचार ३ चारित्र आचार ४ तप आचार और ५ वीर्य आचार का सूत्र-शैली में सैद्धान्तिक वर्णन किया गया है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साधना में प्रमुख होने वाले नियमों को गिना दिया गया है। प्रस्तुत-जिल्द में प्रथम-श्रुतस्कन्ध ही प्रकाशित किया जारहा है। अतः हम यहां संक्षिप्त में प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही परिचय देना उपयुक्त समझते हैं। प्रथम-श्रुतस्कन्ध नव अध्ययनों में विभक्त है और नव अध्ययन ५१ उद्देशकों में विभक्त है।

प्रथम-अध्ययन

प्रस्तुत-आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम—शस्त्र परिज्ञा है। इसके सात उद्देशक हैं। इसमें यह बताया गया है कि शस्त्र महाभय का कारण है। इससे (शस्त्र से) वैर विरोध बढ़ता है और वैर विरोध के बढ़ने से संसार परिभ्रमण बढ़ता है। शस्त्र द्रव्य और भाव से दो प्रकार के हैं—असी-तलवार अपराद लाठी

डडे से लेकर रिवाल्वर, बन्दूक, बम, अणु, और उद्जन बम और राकेट तक के हथियार द्रव्य शस्त्र हैं और रागद्वेष, काम क्रोध, भय, लोभ, मोह, माया आदि मनोविकार भाव-शस्त्र हैं। भाव शस्त्रों—काषायिक भावों की भयंकरता के अनुरूप ही द्रव्य शस्त्रों मे भयंकरता लाई जाती है। अत विश्व-शान्ति के लिए शस्त्र खतरनाक है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह द्रव्य एव भाव शस्त्रो की भयकरता का परिज्ञान करके उससे सर्वथा निवृत्त हो जाए।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे जीव का सामान्य सबोधन करके तथा अवशिष्ट ६ उद्देशों में ६ काय – १ पृथ्वी काय, २ अप्काय, ३ तेजस–काय, ४ वायु काय, ५ वनस्पति काय और ६ त्रस काय के जीवों का वर्णन किया गया है और साधक को उनकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि, हिंसा ही मृत्यु है, गाठ है, मोह है, जन्म-मरण के प्रवाह को बढाने का मूल कारण है। हिंसा से पाप-कर्म का बन्ध होता है। और हिंसा द्रव्य एव भाव शस्त्रों से होती है। अत हिंसा का परित्याग करने वाले साधक को शस्त्रों से सदा दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ "सुय मे आउसतेण" पद से होता है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि प्रस्तुत आगम के अर्थ रूप से उपदेष्टा—तीर्थंकर—भगवान महावीर हैं और सूत्रकार गणधर सुधर्मा स्वामी हैं। वे अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने भगवान महावीर के मुख से ऐसा सुना है।

आचाराङ्ग सूत्र भगवान महावीर का सर्व प्रथम प्रवचन है, ऐसी मान्यता है और इसकी भाषा, विषय एवं शैली से भी यह सब से प्राचीन प्रतीत होता है। अत इस दृष्टि से इसका प्रथम वाक्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें बताया है—"इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ, तजहा . —" अर्थात् इस ससार मे कुछ जीवों को यह भी ज्ञात नहीं होता है कि वे कहा से आए हैं और यह जन्म-ग्रहण करने वाला आत्मा है या नहीं? वे यह भी नहीं जानते कि मैं कौन हूं? और मुझे मर कर कहा जाना है?

इसके आगे कहा गया है कि जिस व्यक्ति को स्वय के चिन्तन, मनन या विशिष्ट ज्ञानी जनों के संसर्ग से जब उक्त बातों का परिज्ञान हो जाता है, तब से वह आत्म-वादी लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पहले व्यक्ति के मन में अपने एव लोक के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह उसे समझने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने क्षयोपशम से या ज्ञान-सपन्न साधकों के सम्पर्क मे आकर उसे यथार्थत जान लेता है, तभी वह आत्मवादी और लोकवादी अर्थात् आत्मा एव लोक के स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। और स्वरूप

का परिज्ञान करने के बाद ही वह कर्म एवं क्रियावादी हो सकता है। पहले जिज्ञासा उत्पन्न होती है, फिर ज्ञान होता है तब क्रिया या आचरण का नम्बर आता है।

ऋग्वेद में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। ऋषि जब अपने सामने विराट् लोक को फैला हुआ देखता है तो उसकी वाणी एकाएक मुखरित हो उठती है "कुतः आजाता कुत इयं विसृष्टिः" आचारांग के प्रस्तुत सूत्र में एवं इस वाक्य में आत्मा एवं लोक के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा समान रूप से है। अन्तर इतना ही है कि आचारांग में व्यष्टि की दृष्टि से वर्णन किया गया है और ऋषि समष्टि की दृष्टि से सोचता है। परन्तु दोनों ओर जिज्ञासा एक ही है — लोक के स्वरूप का परिज्ञान करने की संसार के रहस्य को जानने की। यह ठीक है कि दोनों की व्यक्तिगत और समष्टिगत दृष्टि एवं चिन्तन के स्तर का अन्तर अवश्य है और वह प्रत्येक व्यक्ति में देखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्म ज्ञान के लिए जिज्ञासा पहली आवश्यकता है और यह जिज्ञासा वृत्ति सभी भारतीय-आस्तिक दर्शनों में समान रूप से पाई जाती है।

प्रथम उद्देशक में प्रयुक्त "परिण्णा परिज्ञाणियव्वा, परिणाय" आदि शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ विवेक करना जानना और पृथक् करना अर्थात् हिंसा एवं शस्त्रों की भयंकरता के स्वरूप को जानकर उससे विरत होना परिज्ञा है। बौद्ध ग्रन्थों में भी परिज्ञा शब्द परित्याग के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'संज्ञा' शब्द भी अनुभवन और ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनुभवन-संज्ञा कर्मोदय जन्य है और उसके आहार, भय मैथुन परिग्रह आदि १६ भेद हैं और ज्ञान-संज्ञा के मतिज्ञान आदि ५ भेद हैं और वह क्षय या क्षयोपशम जन्य है। प्रस्तुत उद्देशक में 'संज्ञा' शब्द का ज्ञान अर्थ में प्रयोग किया गया है।

प्रथम उद्देशक में सामान्य रूप से जीव का वर्णन करके साधक को जीव हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। उसे हिंसा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करके उससे निवृत्त होने को कहा है और हिंसा से निवृत्त साधक को ही मुनि कहा गया है।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ मे बताया गया है कि लोक आर्त है, परिजीर्ण है, दुर्बोध है बाल है। वह स्वयं व्यथित है, पीड़ित है और अन्य प्राणियों को भी पीड़ित करता है। सन्ताप एवं परिताप देता है। आचारांग में संसार की आर्तता का पुनः पुनः चित्र चित्रित किया गया है। फिर भी इसे पढ़कर साधक के मन में निराशावाद का उदय नहीं होता है, बल्कि उसके मन में इससे मुक्त होने का उत्साह उत्पन्न होता है और वह मुक्त होने का मार्ग खोजता है। इसके लिए संयम विरति समभाव अप्रमाद आदि की साधना को दुःख-मुक्ति का प्रशस्त पथ बताया है।

प्रस्तुत उद्देश मे शाक्य-बौद्धादि कुछ ऐसे श्रमणों का भी उल्लेख किया गया है, जो अपने आपको त्यागी श्रमण कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रों के द्वारा रात-दिन पृथ्वीकाय की हिंसा मे सलग्न रहते है। ससार मे कुछ श्रमण ही ऐसे हैं, जो सर्वज्ञोपदिष्ट मार्ग को भली-भाति जान सकते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि इस ससार मे हिंसा ग्रन्थि-गाठ है, बन्धन है, मोह है, मार है और नरक है।

तीसरे उद्देश मे यह बताया गया है कि साधक को आत्मा का, लोक का अपलाप नहीं करना चाहिए। जो आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक का अपलाप करता है और जो लोक का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है।

इन सभी उद्देशों में अग्निकाय, अप्काय आदि जीवों की हिंसा करने का कटु फल बताया गया है और साधक को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

द्वितीय-अध्ययन

द्वितीय-अध्ययन का नाम लोक-विजय है। इसमे ६ उद्देश हैं। इस मे यह बताया गया है कि लोक-ससार का बन्धन कैसे होता है और उससे छुटकारा कैसे पाना चाहिए। निर्युक्तिकार ने छहों उद्देशों के अर्थ का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—१ स्वजन स्नेहियों के साथ निहित आसक्ति का परित्याग, २ सयम मे प्रविष्ट शिथिलता का परित्याग, ३ मान और अर्थ (परिग्रह) मे सार दृष्टि का त्याग, ४ भोगासक्ति का निषेध, ५ लोक निश्रा-लोक के आश्रय से सयम का परिपालन और ६ लोक आश्रय से सयम का निर्वाह होने पर भी लोक मे ममत्व भाव नहीं रखना। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस अध्ययन का नाम सार्थक है।

लोक शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। प्रस्तुत अध्ययन में लोक का अर्थ है—ससार। वह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। क्षेत्रादि लोक को द्रव्य लोक कहते हैं और कषाय को भाव लोक कहते हैं। और कषाय लोक ही द्रव्य लोक का कारण है। अत जो साधक कषाय लोक पर विजय पा लेता है, वह सर्व लोक विजेता बन कर सिद्धत्व को पा लेता है।

प्रथम-उद्देशक का प्रथम सूत्र है "जे गुणे, से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे" अर्थात् जो गुण है वह मूल स्थान है और जो मूल स्थान है वह गुण है। इस गूढ वाक्य का भाव यह है कि जहा गुण-विषय-कषाय है वहा मूल स्थान-आवर्त्त (ससार) है और जहा संसार है, वहा कषाय है। यदि ये गुण न हों तो जीव में कषाय, आसक्ति, तृष्णा आदि भावों का उदय होता ही नहीं और जब इनका उदय नहीं होता है तब उसके ससार में परिभ्रमण करने का सवाल ही नहीं उठता अत गुण-विषय-कषाय ही ससार है

वस्तुतः संसार का आधार गुण है। और इन्हीं कारणों से व्यक्ति स्वजन-स्नेहियों की आसक्ति में फंसता है। इस लिए इस उद्देश में बताया गया है कि साधक को परिजनों की आसक्ति का परित्याग करके साधना में संलग्न रहना चाहिए।

द्वितीय-उद्देशक में संयम पथ पर दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। संयम साधना की कठिनता के कारण उसमें अरति पैदा होना स्वाभाविक है। परन्तु परीषहों से घबरा कर साधना-पथ से भ्रष्ट होने वालों के लिए कहा गया है — "वे मंद हैं, मोह से मथित हैं। धीर वीर और मेधावी पुरुष अलोभ से लोभ पर विजय प्राप्त करके प्राप्त भोगों का आसेवन नहीं करता। अतः वह संसार से मुक्त उन्मुक्त हो जाता है।"

तृतीय उद्देशक में मान का अहं-भाव का परित्याग करने के लिए उपदेश दिया गया है— "यह जीव अनेक बार उच्च और नीच गोत्र में उत्पन्न हो चुका है। इससे न तो उसका उत्कर्ष हुआ है और न अपकर्ष ही। अतः कर्म की विचित्रता को समझ कर साधक को उच्च-गोत्र एवं ज्ञान तप आदि उच्च क्रिया काण्डों के मान का परित्याग कर देना चाहिए।"

चतुर्थ उद्देशक में भोगासक्त जीवों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। उस में बताया गया है "भोगेच्छा की पूर्ति तो होगी या न होगी किन्तु आशा एवं तृष्णा के शल्य की चुभन तो उन्हें निरन्तर परेशान करती ही रहेगी। अतः साधक को अप्राप्त पदार्थों की तृष्णा से परे रहना चाहिए।

पञ्चम उद्देशक में बताया गया है कि मुनि शरीर का निर्वाह करने के लिए हिंसा न करे। किन्तु जो गृहस्थ अपने एवं अपने परिवार के लिए आहार, पानी, वस्त्र मकान आदि बनाते या खरीदते हैं, उसमें वह निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करे। साधु आर्य है, अतः वह आमगन्ध* का त्याग करके निराम-गन्ध होकर विचरण करे।

छट्ठे उद्देश में बताया गया है कि मुनि लोक-गृहस्थ के घरों से आहारादि को ग्रहण करके जीवन का निर्वाह करता है फिर भी वह उनमें एवं आहारादि पदार्थों

---

* आम शब्द का वैदिक अर्थ अपक्व या कच्चा मांस या अन्न आदि था। वैदिक ग्रंथों में उसका अर्थ 'रोग' भी हुआ। पालि ग्रन्थ में इसका अर्थ विस्तार होकर 'पाप' होने लगा। शारीरिक रोग की तरह पाप भी आध्यात्मिक रोग है। यहां निराम का अर्थ है— विकार लोभ रहित। यहां आम-गन्ध का अर्थ होगा— 'पाप की गन्ध'। परन्तु टीकाकार यहां आमगन्ध का अर्थ आधाकर्म पर करते हैं— आधाकर्मादि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार। अतः निरामगन्ध का अर्थ हुआ— निर्दोष आहार।

—आचाराङ्ग टीका पृ [illegible]

में आसक्त न बने। क्योंकि, ममत्व भाव रखना परिग्रह है, परिग्रह बन्धन है, और बन्धन ससार है। अत निष्परिग्रही मुनि ममत्व-भाव से सर्वथा रहित होकर विचरण करे। क्योंकि निष्परिग्रही साधक ही परमार्थ मोक्ष मार्ग को जान सकता है और जो उसे जानता है वही उसे पा सकता है।

तृतीय-अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है– शीतोष्णीय। यह चार उद्देशों में विभक्त है। साधारणत शीत का अर्थ ठडा और उष्ण का अर्थ गर्म होता है। परन्तु निर्युक्तिकार नें इनके आध्यात्मिक अर्थों का भी उल्लेख किया है। उसमे परीषह (कष्ट), प्रमाद, उपशम, विरति और सुख को शीत तथा परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दु ख को उष्ण कहा है। परीषहों को शीत और उष्ण दोनों मे गिना गया है। स्त्री और सत्कार परीषह को शीत और शेष २० परीषहों को उष्ण कहा है। एक विचार धारा यह भी है कि तीव्र परिणामी उष्ण है और मदपरिणामी शीत।

प्रस्तुत अध्ययन में इन्हीं आभ्यान्तरिक एव वाह्यशीतोष्ण की चर्चा की गई है। इसमे कहा गया है कि श्रमण साधक सदा शीत उष्ण स्पर्श, सुख-दु ख, परीग्रह आदि को सहन करे और तप, सयम एव उपशम भाव मे सलग्न रहे और काम-भोगों का आसेवन न करे।

प्रथम उद्देश का प्रथम वाक्य है "सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति" अर्थात अमुनि सुषुप्त-सोए हुए हैं और मुनि सदा जागृत रहते हैं। प्रस्तुत-प्रसग मे आध्यात्मिक या भाव निद्रा एवं जागरण से तात्पर्य है। प्रमाद सर्वत्र अहितकर है, हानिप्रद है और अप्रमाद सर्वत्र सुखप्रद एवं लाभप्रद होता है. यह सब के अनुभव की बात है।

द्वितीय उद्देशे के प्रथम—वाक्य मे कहा है "प्रबुद्ध पुरुष को जब मोक्ष का ज्ञान हो जाता है तब वह पाप कर्म नहीं करता है। उसकी भावना मे पाप के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। इसके पश्चात इसका स्पष्ट चित्रण किया गया है कि पाप-कर्म करने से जीव किस प्रकार दु खी होता है। अत इस बात को जानने वाला आतकदर्शी साधक पाप कर्म नहीं करता। क्योंकि पाप कर्म मे वही प्रवृत्त होता है, जिसे जीव अजीव आदि का एव हिसा के फल का बोध नहीं है।

तृतीय उद्देश के प्रारम्भ में कहा गया है कि "साधक सब प्राणियों को आत्म-दृष्टि से देखे। किसी भी पाण, भूत जीव और सत्त्व की हिसा न करे।" इसमे आगे

कहा गया है— 'हे पुरुष ! तू ही अपना मित्र है अतः बाह्य मित्रों की खोज क्यों करता है ? तू आत्मा का ही आम्य ले, उस का ही चिन्तन एवं शोधन कर । वस्तुतः यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है।" जो साधक आत्मा का चिन्तन करता है और रात-दिन इसी को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है वह पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

चतुर्थ-उद्देशक में कहा गया है— 'मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करता है। यह त्याग-मार्ग ही बस परयक तीर्थंकर का दर्शन है।" आगे कहा गया है कि 'जो एक अपनी आत्मा को जान लेता है वह सब को जान लेता है, और जो सब को जान लेता है वह एक को जान लेता है।" आगे चलकर एक और महत्त्व पूर्ण बात कही गई है कि " प्रमादी को सर्वत्र भय है और अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं है।" क्योंकि प्रमादी हिंसा का सहारा लेता है और हिंसा के साधना भूत शस्त्र एक-दूसरे से अधिक तीक्ष्ण होते हैं इसलिए उसे रात दिन भय बना रहता है परन्तु अहिंसा में तीक्ष्णता नहीं है। उसमें समानता है। इस लिए शस्त्र का परित्याग करने वाला व्यक्ति कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है। उसके जीवन के किसी भी कोने में विषमता नहीं है। उसके जीवन में एकरूपता है समरसता है अतः साधक को अपने आत्म स्वरूप का परिज्ञान करके भाव शस्त्रों—कषायों एवं द्रव्य-शस्त्रों-हिंसा के साधनों का त्याग करके संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

चतुर्थ-अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इस के चार उद्देशक हैं। सम्यक्त्व का अर्थ है—श्रद्धा निष्ठा विश्वास। प्रश्न हो सकता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे निष्ठा रखे ? इस का उत्तर प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में दिया गया है। यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस एक सूत्र में जैन दर्शन का सार समाविष्ट है। वह सूत्र यह है—'अतीत अनागत एवं वर्तमान काल के सभी तीर्थंकरों का कथन है कि सर्व प्राण सर्व भूत सर्व जीव और सर्व सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए। उन्हें पीड़ा एवं संताप नहीं देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है नित्य है ध्रुव है और शाश्वत है। अहिंसा की इस श्रद्धा को निष्ठा को विश्वास को प्राप्त करके साधक अपनी आचरण की शक्ति का गोपन न करे, उसे छिपाए नहीं और लोकैषणा एवं लोक प्रशंसा की भी इच्छा न करे।" सम्यक्त्व या सम्यक्त्व का अर्थ है—अहिंसा, दया सत्य आदि सिद्धांत पर श्रद्धा रखना एवं यथावसर उसे आचरण में उतारने का प्रयत्न करना।

द्वितीय उद्देश के प्रारम्भ में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि आस्रव एवं संवर किसी स्थान विशेष में आबद्ध नहीं है। "जो धर्म-स्थान संवर के कारण हैं, साधन

हैं, वहा आस्रव हो सकता है और जो स्थान आस्रव-कर्म के आने के द्वार हैं, वहा संवर की साधना भी हो सकती है।" कहने का तात्पर्य यह है कि आस्रव एव सवर का आधार एकान्त रूप से स्थान एव क्रिया नहीं, वल्कि क्रिया के साथ साधक की शुभाशुभ या शुद्ध भावना है। यदि भावना मे विशुद्धता है, राग-द्वेष से रहित परिणाम है, तो क्रिया मे वाह्य रूप से हिंसा होने पर भी उससे कर्म वन्ध नहीं होता और यदि भावना में अविशुद्धता है, कषायों की आग प्रज्वलित है, तो वह सामायिक भवन में सामायिक करते हुए भी पाप कर्म का वन्ध कर लेता है। अत साधक को आस्रव एव सवर के मूल भूत साधन में विश्वास रखकर अपनी भावना को विशुद्ध एव राग-द्वेष से रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में वताया गया है कि भाव-विशुद्धि से सवर होता है, कर्मों का आना रुकता है। परन्तु, मुक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो पुरातन कर्म अवशेष हैं, उन्हें भी नष्ट किया जाए। उनका क्षय करने के लिए तप-साधना आवश्यक है। अत तप-साधना पर निष्ठा रखकर यथाशक्य उसे आचरण में लाना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक में वताया है कि साधना का मार्ग वीरों का मार्ग है। इस पर चलना कठिन है। इसके लिए साधक को शारीरिक ममत्व एवं सुखों का त्याग करना पडता है।

अन्त में कहा गया है कि वस्तुत तत्त्वज्ञ या श्रद्धा-निष्ठ वह है, जो कर्म को फल-प्रदाता समझता है, उसे ससार का कारण जानता है और उस पर विश्वास करके कर्म-वन्ध के कारणों से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

वस्तुत श्रद्धा-निष्ठ या सम्यक्त्वी वह है, जो अहिंसा पर श्रद्धा रखता है, जो आस्रव एव संवर के मूल भूत कारण को जानता है, जो तप-साधना को निर्जरा का का कारण मानता है और जो कर्म-वन्ध के साधनों को त्याज्य समझता है। और साधक, वह है, जो इस प्राणवन्त श्रद्धा को जीवन में, आचरण मे उतारने का प्रयत्न करता है।

पंचम-अध्ययन

इस लोकसार अध्ययनके ६ उद्देशक हैं। वस्तुत. धर्म ही लोक मे सारभूत तत्त्व है। धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सयम है और सयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रथम-उद्देश के पहले सूत्र में कहा गया है— "जो व्यक्ति प्रयोजन या निष्प्रोजन से जीवों की हिसा करते हैं, वे सदा उन्हीं जीवों मे घूमते हुए दु खों का अनुभव करते हैं।"

क्योंकि हिंसा से कर्म बन्ध होता है और कर्म बन्ध से संसार बढ़ता है। अत हिंसक प्राणी संसार का पार नहीं कर सकते। इसके आगे कहा गया है कि वे न भोगों के अन्दर हैं और न उनसे दूर हैं।' इसका अभिप्राय यह है कि जीव विषय-भोगों के मध्य में रहते हुए भी सभी भोगों को भोग नहीं सकता। इसलिए वह पूर्णतः उनके मध्य में भी नहीं है। और सब भोगों को भोगने की शक्ति न होने पर भी उनका मन सदा भोगों में घूमता रहता है, अत वह भोगों से दूर भी नहीं है। अत संसार से वही दूर है जो हिंसा एवं भोगों का त्याग कर चुका है और जो मन में उत्पन्न संशय—जिज्ञासा का यथार्थ परिज्ञान कर चुका है। परन्तु, जिसने हिंसा एवं भोगों का त्याग नहीं किया है और संशय का भी निवारण नहीं किया है वह संसार से पार नहीं हो सकता है। ज्ञानी पुरुषों ने उसे मुक्ति से दूर कहा है।

द्वितीय उद्देश में कहा गया है कि मुनि वही है, जो लोक के मध्य में रहकर भी हिंसा करता नहीं है। उसने यह जान लिया है कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है, जीवन चाहता है, मरण सब को अप्रिय है। अत वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता। वह हिंसा के पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय-उद्देश में अपरिग्रह की चर्चा की गई है। इसमें कहा गया है कि साधक को अपनी कामासक्त आत्मा से ही युद्ध करना चाहिए। क्योंकि आत्म-विजय ही सच्ची विजय है। अत साधक के लिए बाह्य विजय निष्प्रयोजन है। वस्तुत "यह आर्य युद्ध ही सच्चा युद्ध है और यह युद्ध अति दुर्लभ एवं कठिन है।" बाह्य युद्ध तो अनार्य युद्ध है। अत साधक को अनासक्त भाव से विकारों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

चतुर्थ-उद्देश में यह बताया है कि जो मुनि वय एवं ज्ञान से अपरिपक्व है, परीषहों को सहने में असमर्थ है, उसे एकाकी विचरण नहीं करना चाहिए।

पञ्चम-उद्देश में कहा गया है कि सदा संशयशील रहने वाले साधक को समाधि लाभ नहीं होता। उसे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करके हिंसादि दोषों से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि पर-प्राणी की हिंसा अपनी स्वयं की हिंसा है। अत यह कहा गया है कि "जिसे तू हन्तव्य-मारने योग्य मानता है, वही तू है।" क्योंकि, उसे मारने के पूर्व तू अपने आत्म गुणों का नाश करता है अपनी आत्मा का वध कर रहा है। अत साधक को चाहिए कि वह हिंसा-अहिंसा के यथार्थ स्वरूप को समझ कर हिंसा का सर्वथा परित्याग करे।

छठे-उद्देश में कहा गया है कि कुछ लोग संयम-रत हैं, किन्तु आज्ञा आराधक नहीं हैं। कुछ आज्ञा के आराधक हैं, किन्तु संयम रत नहीं हैं। कुछ न आज्ञा

आराधक है और न सयम-रत ही है। कुछ लोग आज्ञा-आराधक भी है और संयम-रत भी है। परन्तु, वस्तुत बुद्धिमान साधक वही है, जो आज्ञा के अनुरूप आचरण करता है और वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मुक्ति या मुक्त जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि "वह दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, परिमण्डल, कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल, सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर, कर्कश, मृदु, गुरु-लघु, उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, काय युक्त, रुह-पुनर्जन्म, सङ्ग, स्त्री, पुरुष और नपुसक इसमे से कुछ भी नहीं है। मुक्तात्मा या परमात्मा का यही वर्णन उपनिषद् एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों मे भी उपलब्ध होता है।

छट्ठा—अध्ययन

षष्ठम-अध्ययन का नाम 'धुत' है। इसके पाच उद्देश हैं। धुत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर करके उसे साफ-स्वच्छ बना देना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मैले-कुचेले वस्त्र को साबुन आदि क्षार पदार्थ लगाकर शुद्ध एव उज्ज्वल बनाना द्रव्य धुत है और आत्मा पर चिपटे हुए कर्म मल को तप-स्वाध्याय आदि साधना के द्वारा दूर करके आत्मा को शुद्ध, निर्मल, उज्ज्वल, समुज्ज्वल, परमोज्ज्वल बनाना भाव धुत है। प्रस्तुत उद्देशक मे भाव-धुत अर्थात् आत्मा को उज्ज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है।

प्रथम-उद्देशक मे कुछ उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि मोह में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता। जैसे तालाब में निवसित कछुआ शैवाल से आच्छादित तालाब के बाहर क्या-कुछ है और बाहर जाने का मार्ग किस ओर है यह नहीं जान सकता। और वृक्ष भी दुःख एव आपत्तियों से अपने बचाव करने के लिए अन्यत्र नहीं जा सकता है। उसी तरह मोह मे आसक्त व्यक्ति सत्य-मार्ग को नहीं देख सकता और न उसे पा सकता है, जिससे उस पथ पर चल कर शान्त-प्रशान्त स्थान पर पहुच सके। वह ससार में रहकर दुःखों की चक्की मे पिसता रहता है। अत साधक को मोह एव ससार की आसक्ति से सदा दूर रहना चाहिए।

द्वितीय-उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधक परीषहों से घबरा कर साधुत्व का परित्याग कर देते हैं। वे वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक रजोहरण आदि सयम-साधना के उपकरणों का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। इससे वे ससार मे परिभ्रमण करते-रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि साधु उक्त वस्त्र आदि उपकरणों को रखते थे। आगे बताया है कि कुछ साधक दृढ़ता के साथ सयम का पालन करके मुक्ति का प्राप्त कर लेते हैं।

तृतीय उद्देशक में यह बताया है कि वस्त्र का त्याग करने वाला मुनि इस बात की चिन्ता न करे कि मेरा वस्त्र फट गया है, अब सुई-धागा लाकर इसे सीना है। परन्तु वह इस बात का अनुभव करे कि मैं हल्का बन गया हूं और मुझे सहज ही तप-साधना का अवसर मिल गया है। अतः वस्त्र की चिन्ता न करके साधक उन महापुरुषों के जीवन का चिन्तन करे जिन्होंने निर्वस्त्र होकर भी समभाव पूर्वक साधना के द्वारा कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया है।

चौथे-उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधु आचार से च्युत होकर भी लोगों को सम्यक् आचार का उपदेश देते हैं। परन्तु, कुछ साधक आचार के साथ ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। सम्यग् ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट साधु अपने जीवन का अधःपतन कर लेते हैं। वे अनन्तकाल तक संसार में भटकते रहते हैं। अतः साधक को सदा ज्ञान एवं आचार की साधना में संलग्न रहना चाहिए।

पञ्चम उद्देशक में बताया गया है कि उपदेशक कैसा हो? उसे कब, किसको और कैसे उपदेश देना चाहिए? इसमें बताया गया है कि उपदेशक कष्ट सहिष्णु हो समस्त प्राणियों की दया एवं रक्षा करने वाला हो वेदवित्—आगमों का ज्ञाता हो सब के लिए शरणभूत हो और उसका उपदेश सबके लिए हो और सबका हित करने वाला हो। और उपदेशक को शान्ति अहिंसा, विरति उपशम निर्वाण शौच, आर्जव मार्दव और लाघव इन विषयों पर उपदेश देना चाहिए।

इस तरह की साधना के द्वारा ही साधक अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मों को दूर कर सकता है। कर्म-रज से मुक्त होने के लिए ज्ञान और आचार (क्रिया) की समन्वित साधना आवश्यक है। प्रस्तुत उद्देशक में 'वेदवित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां 'वेद' का अर्थ है— आत्मा पदार्थ एवं लोक के यथार्थ एवं सम्यक् स्वरूप का प्रतिपादक आगम। अतः "वेदवित्' का अर्थ हुआ श्रुत-आगम-साहित्य या शास्त्रों का ज्ञाता।

सप्तम-अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है और यह सात उद्देशकों में विभक्त है। वर्तमान में यह अध्ययन उपलब्ध नहीं है। महापरिज्ञा का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। आचार्य शीलांक लिखते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन में मोह के कारण से होने वाले परीषहों और उपसर्गों का वर्णन है। इसके सम्बन्ध में परम्परा से ऐसी मान्यता चली आ रही है कि इसमें मन्त्र-तन्त्र से बचने का उपदेश दिया गया था। क्योंकि मन्त्र-तन्त्र की साधना से मोह का उदय होना सम्भव है। इसलिए आचार्यों ने साधु जीवन को मोह

जन्य हानि से बचाने के लिए विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न साधकों के अतिरिक्त सर्व साधारण के लिए इसका अध्ययन करना बन्द कर दिया। इस प्रतिबन्ध के कारण इसका अध्ययन कम हो गया और एक दिन यह स्मृति से ही उतर गया। अस्तु, जो कुछ भी कारण रहा हो, इसके विच्छेद होने से एक बडी साहित्यिक क्षति अवश्य हुई, यह तो मानना ही पड़ेगा।

प्रस्तुत विमोक्ष अध्ययन आठ उद्देशों में विभक्त है। प्रथम उद्देशक मे असमान आचार वाले साधु के साथ नहीं रहने का उपदेश दिया गया है और उसे आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि देने एव उसकी सेवा करने का भी निषेध किया है। द्वितीय उद्देशक मे अकल्प्य—जो वस्तु लेने योग्य नहीं है, उसको ग्रहण नहीं करने का उपदेश दिया गया है। तृतीय उद्देशक मे बताया गया है कि यदि उस अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण न करने पर कोई गृहस्थ रुष्ट हो जाए तो उसे साध्वाचार समझाना चाहिए। इस पर भी यदि वह साधु को भला-बुरा कहे या कुछ कष्ट दे, तो उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए, परन्तु अकल्पनीय वस्तु किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करना चाहिए। चतुर्थ उद्दशक मे यह बताया है कि यदि साधु की अङ्ग-चेष्टा को देखकर किसी गृहस्थ के मन मे कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया हो तो साधु उसका अवश्य ही निवारण कर दे। पञ्चम उद्देशक मे एक पात्र एव तीन वस्त्र धारण करने वाले साधु के लिए कहा गया है कि वह इससे अधिक की अभिलाषा न रखे। छठे और सातवें उद्देशक मे क्रमश एक पात्र और दो एव एक वस्त्र धारण करने वाले के सम्बन्ध मे यही बात कही गई है। अष्टम उद्देशक में गद्य मे वर्णित विषय का गाथाओं-पद्य में वर्णन किया गया है।

नवम-अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान है। यह चार उद्देशों मे विभक्त है। इसमें एक भी सूत्र नहीं है। गाथाओं-पद्य में भगवान महावीर की साधना का वर्णन किया गया है।

प्रथम-उद्देशक के बताया गया है कि दीक्षा ग्रहण करने के बाद भगवान ने इन्द्र के द्वारा प्रदत्त देव-दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं लिया और इसके लिए भी उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि मैं हेमन्त ऋतु मे इस वस्त्र को शरीर ढकने के लिए काम में नहीं लूगा। उन्होंने उस वस्त्र को शीत निवारण एवं डंस-मशक के कष्ट से बचने के लिए कभी भी काम में नहीं लिया। उन्होंने अनुधर्मिता-पूर्व तीर्थंकरों की परम्परा को निभाने के लिए ही इसे स्वीकार किया था।

चूर्णि में अनुधर्मिता का अर्थ गतानुगत किया है। तात्पर्य यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा का पालन किया था। इसका एक दूसरा अर्थ—अनुकूल धर्म्य भी किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान को आगे चलकर सोपधिक-वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना था, इसलिए भगवान ने एक वस्त्र को स्वीकार किया।

संस्कृत कोष में यह शब्द नहीं मिलता है। परन्तु पालि ग्रन्थों में यह शब्द अनुधम्मता' रूप में मिलता है। कोष में इसका अर्थ—Lawfullness, Conformity to Dhamma" दिया है। पालि में 'अनधम्म' शब्द भी मिलता है। इसका अर्थ है—Conformity or accordance with the law, Lawfullness, relation, essence consistansy truth यदि इन अर्थों पर ध्यान दिया जाए तो अनुधर्मिता शब्द का अर्थ होता है— भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। और चूर्णिकार द्वारा किया गया अर्थ भी उपयुक्त है। क्योंकि यह प्रश्न उठेगा कि भगवान ने कौन से धर्म का आचरण किया? इसका समाधान यह होगा कि जो धर्म परम्परा से तीर्थंकरों द्वारा आचरित था और व्यवहार में रूढ़ हो रहा था। अतः वह केवल धर्म ही नहीं अनुधर्म —परम्परा से चला आ रहा धर्म था*।

इसके आगे बताया गया है कि दीक्षा के पूर्व उनके शरीर पर चन्दनादि सुवासित पदार्थों का लेपन किया गया था। उस सुवास का आस्वादन करने के लिए भ्रमर—मधुमक्खियाँ आदि जीव जन्तु उनके शरीर पर बैठने एवं डंक मारने लगे। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। वे समभाव पूर्वक उन परीषहों को तथा वैसे एवं उनसे भी भयंकर अन्य परीषहों को भी सहन करते रहे।

वे सदा ईर्यासमिति से मार्ग को देखकर चलते थे। स्त्री-संसर्ग एवं विषय-वासनाओं से पूर्णतः मुक्त थे। वे सदा अपने कर-पात्र (हाथ) में ही भोजन करते थे। उन्होंने कभी गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं किया।

द्वितीय उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान सदा शून्य-स्थानों में एवं गाँव या शहर के बाहर ठहरते थे। और यह भी बताया गया है कि छद्मस्थ अवस्था में भगवान सदा प्रमाद (निद्रा) से दूर रहे हैं। यदि कभी निद्रा आने को होती तो वे खड़े होकर या चंक्रमण—घूम-फिर करके उसे हटा देते थे। उन्हें शून्य एवं निर्जन स्थानों में

---

* श्रमण वर्ष १ अंक ८, पृष्ठ २७।

भी मैं श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री की सेवा मे अपनी श्रद्धा के कुछ पुष्प चढा सका। मुझे इस कार्य मे लेखनी का सहयोग किसी साथी से नहीं मिला। जो कुछ किया वह मेरा अपना श्रम है। परन्तु, सपादन कार्य करते समय वाह्य-सामग्री एव साधनों को जुटाने की व्यवस्था मे श्रद्धेय स्व० आचार्य श्री जी के सेवा निष्ठ और अन्तिम-साम तक उनकी सेवा मे सलग्न रहने वाले एव मेरे परम स्नेही साथी श्री रत्नमुनि जी महाराज का सदा सहयोग मिलता रहा और स्व० आचार्य श्री का वरद हस्त भी सदा बना रहा। अत मैं श्रद्धेय श्री का आभार एवं स्नेही साथी श्री रत्नमुनि जी की मधुर एव स्नेहिल स्मृति को कभी नहीं भुला सकता।

—मुनि समदर्शी

आचार्यप्रवर

श्री आत्माराम जी महाराज की संक्षिप्त जीवनी

जन्मस्थान —राहों, जिला जालन्धर ।

जन्म —भाद्रपद शुक्ला द्वादशी वि० सं० १९३९ ।

माता —परमेश्वरी देवी ।

पिता —श्री मनसाराम ।

वर्ण —क्षत्रिय ।

वंश —चोपडा ।

दीक्षा —१९५१ आषाढ मास ।

दीक्षा-स्थान —छत्त बनूड़ (पंजाब) ।

दीक्षा-गुरु —स्वामी श्री शालिग्राम जी महाराज ।

विद्या-गुरु —आचार्य श्री मोतिराम जी महाराज ।

उपाध्याय-पद —वि० सं० १९६९, अमृतसर ।

पंजाब प्रान्तीय-आचार्यपद—वि० सं० २००३, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, लुधियाना ।

श्रमणसंघीय-आचार्यपद —वि० सं० २००९ वैशाख शुक्ला तृतीया ।

स्वर्गारोहण —वि०सं० २०१८ माघ वदी ९ मी, लुधियाना ।

सर्वायु —८० वर्ष ।

प्रमुखशिष्य —श्री खजानचन्द्र जी महाराज ।

वर्तमान कालीन शिष्य-समुदाय —पंद्रह ।

गुरु–शिष्य–परम्परा

आचार्य अमरसिंह जी महाराज

श्री मोती राम जी महाराज

श्री गणपति रामजी महाराज

बाबा जयराम दास जी महाराज

श्री शालिगराम जी महाराज

श्री आचार्य आत्मा राम जी महाराज

श्री खजानचन्द्र जी स्व श्री ज्ञानचन्द्र जी पं श्री हेमचन्द्र जी, श्री ज्ञानमुनिजी, श्री प्रकाशमुनिजी श्री रत्नमुनिजी, श्री मनोहरमुनिजी, श्री मथुरादासजी

स्व श्री श्यामचन्द्र जी, श्री प्रेमचन्द्र जी

स्व० सुरजन मुनि स्व० मुनि तुलसीराम जी

श्री फूल चन्द्र जी श्री त्रिलोकमुनि जी

भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी

श्री अमरमुनि जी

श्री कांतिमुनि जी, श्री जिनेशमुनि जी,

श्री विक्रमादित्य जी

॥ णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥
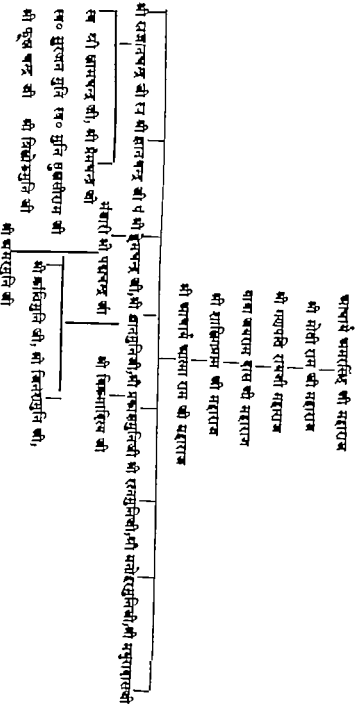
❀ श्री आचाराङ्ग सूत्र ❀

प्रथम अध्ययन—शस्त्रपरिज्ञा

प्रथम उद्देशक

मूलम्—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं ॥ १ ॥

संस्कृत-छाया—श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् ।

पदार्थ—आउस !=हे आयुष्मन् ! । मे सुय=मैंने सुना है। तेण भगवया=उस भगवान ने । एवमक्खाय=इस प्रकार कथन किया है ।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर के पञ्चम गणधर, प्रथम पट्टधर—आचार्य श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उस भगवान—भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, कहा है ।

हिन्दी विवेचन—भारतीय-संस्कृति में साहित्य-सृजन की प्राचीन पद्धति यह रही है कि पहले मंगलाचरण करके फिर सूत्र या ग्रन्थ रचना की जाती थी। जैनागमों एवं ग्रन्थों की रचना भी इसी पद्धति से की गई है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि पहले मंगलाचरण करने की परंपरा रही है, तो प्रस्तुत सूत्र में उस परंपरा को क्यों तोड़ा गया? क्योंकि, आचाराङ्ग सूत्र को प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण तो नहीं किया गया है। "सुयं मे आउसं!"—आदि पाठ लिख कर सूत्र आरम्भ कर दिया गया है। इस से ऐसा लगता है कि यहां सूत्रकार ने पुरातन परंपरा को नहीं निभाया है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। यदि गहराई से सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सूत्र के आरम्भ में मंगलाचरण किया गया है। यहां मंगलाचरण के रूप में श्रुतज्ञान का उल्लेख किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र के पहले सूत्र में कहा है कि पांच ज्ञानों में से श्रुत ज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञान स्थापने योग्य हैं। क्योंकि, पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान विशेष उपकारी है, श्रुतज्ञान को उपकारी इसलिए माना गया है कि तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मार्ग का बोध श्रुतज्ञान

के द्वारा होता है। क्योंकि, श्रुत-आगम में ही उनके प्रवचनों का संग्रह है। श्री भगवती सूत्र शतक २०, उद्देशक ८ में गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान ने फरमाया है—"हे गौतम! तीर्थंकर प्रवचन नहीं, निश्चित रूप से प्रावचनिक होते हैं, द्वादशांगी वाणी ही प्रवचन है"। और इसी द्वादशांगी वाणी को श्रुत कहते हैं। इसे सुन-पढ़ कर तथा तदनुसार आचरण करके जीव सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होता है। सर्व कर्म बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त होने के लिए तीर्थंकरों की वाणी एक प्रकाशमान सर्चलाइट है। यही कारण है कि पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान को उपकारी माना गया है। और वीतराग-वाणी होने के कारण श्रुतज्ञान मंगल है, अतः उस का मंगल रूप से ही उल्लेख किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को सर्वोत्कृष्ट मंगल माना है*। और स्थानांग सूत्र में जहां दस धर्मों का वर्णन किया गया है, वहां श्रुत और चारित्र का धर्म रूप से उल्लेख किया गया है† और टीकाकार ने इस का विवेचन करते हुए श्रुत और चारित्र धर्म को प्रमुखता दी है। क्योंकि, श्रुत धर्म मंगल रूप है।

आचाराङ्ग का पहला सूत्र है—"सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं"। इस सूत्र में श्रमण भगवान महावीर के वचनों को अङ्कित किया गया है। 'श्रुतमिति श्रुतज्ञानं' मैंने सुना है, यह श्रुत ज्ञान है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि तीर्थंकरों की वाणी को श्रुत ज्ञान कहा गया है। और प्रस्तुत सूत्र—मैंने सुना है कि उस भगवान—श्रमण भगवान महावीर ने ऐसा कहा है, यह तीर्थंकर भगवान की ही वाणी है। अतः प्रस्तुत सूत्र श्रुतज्ञान होने से मंगल रूप है। ऐसे देखा जाए तो सम्पूर्ण आगम-शास्त्र ही मंगल रूप है। क्योंकि, वह ज्ञान रूप है और ज्ञान से हेय और उपादेय का बोध होता है तथा साधक हेय वस्तुओं का त्याग कर के उपादेय को स्वीकार करता है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और एक दिन आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। कहा भी है कि अज्ञानी मनुष्य बाह्य तपस्या आदि अज्ञान क्रिया से जिन पाप कर्मों को अनेक करोड़ों वर्षों में क्षय करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है‡। अतः श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण होने से मंगल रूप है। यही कारण है कि सूत्रकार ने दूसरा मंगलाचरण न करके "सुयं मे " पद को मंगलाचरण के रूप में देकर, पुरातन परंपरा को सुरक्षित रखा है॥

* धम्मो मंगलमुक्किट्ठं —दशवैकालिक १ । १ ।

† स्थानांग सूत्र स्थान १ ।

‡ जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं, तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं।

—[illegible]

मंगलाचरण के विवेचन मे हम इस बात का उल्लेख कर चुके है कि द्वादशांगी श्रमण भगवान महावीर की धर्मदेशना का संग्रह है। भगवान महावीर ने द्वादशांगी का अर्थरूप से प्रवचन किया था, परन्तु तीर्थंकर भगवान का वह प्रवचन जिस रूप मे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ है, उस शब्द रूप के प्रणेता गणधर है*। आगमों मे एव अन्य ग्रन्थों मे जहा यह कहा गया है कि जैनागम—द्वादशांगी तीर्थंकर-प्रणीत है†, उसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर उसके अर्थरूप से प्रणेता है अर्थात् गणधरों द्वारा की गई सूत्ररचना का आधार तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी ही है। अत इस अपेक्षा से जैनागमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा जाता है।

द्वादशांगी वाणी मे श्री आचाराङ्ग सूत्र का प्रथम स्थान है। श्रमण संस्कृति मे आचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कर्म क्षय का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र—आचार का होना अनिवार्य है। आचरण के अभाव मे मात्र ज्ञान से मुक्ति का मार्ग तय नहीं हो पाता। इसलिए आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—आचार ही तीर्थंकरो के प्रवचन का सार है‡, मुक्ति का प्रधान कारण है। अत पहले उसका अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ही अन्य अङ्ग शास्त्रों के अध्ययन मे गति-प्रगति हो सकती है। यही कारण है कि द्वादशांगी का उपदेश देते समय तीर्थंकर सब से पहले आचार का उपदेश देते है और गणधर भी इसी क्रम से सूत्ररचना करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। साधारणत आचार शब्द का अर्थ होता है—आचरण, अनुष्ठान। प्रस्तुत सूत्र मे आचार शब्द साधु के आचरण या सयम-मर्यादा से संबद्ध है और अङ्ग शास्त्र को कहते है। अत आचार+अङ्ग—आचाराङ्ग का यह अर्थ हुआ कि वह शास्त्र जिसमे साधु-जीवन से सबंधित आचरण या क्रिया-काण्ड का विधान किया गया है, सयम-साधना का निर्दोष मार्ग बताया गया है।

आचाराङ्ग सूत्र दो श्रुतस्कधों में विभक्त है। पहिले श्रुतस्कध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सूत्र शैली मे अच्छा विश्लेषण किया गया है। छोटे-छोटे सूत्रों मे गभीर अर्थ भर दिया है। दूसरे श्रुतस्कध मे प्राय चारित्राचार का वर्णन है। विषय के अनुरूप उसकी निरूपण शैली भी

---

* अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गन्थन्ति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तेइ ॥ —आवश्यक निर्युक्ति, १९२

† नन्दी सूत्र, ४०।

‡ अगाणं किं सारो? आयारो।

सीधी-सादी है और भाषा भी सरल रखी गई है। दोनों श्रुतस्कंधों में पचीस अध्ययन हैं। पहले श्रुतस्कंध में नव और दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन कई उद्देशकों में बंटा हुआ है (एक अध्ययन के अनेकों विभाग में से एक विभाग को अथवा एक अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति को आगमिक भाषा में उद्देशक कहते हैं।) आचाराङ्ग सूत्र के पहिले श्रुतस्कंध का पहला अध्ययन सात उद्देशकों में विभक्त है, दूसरा अध्ययन छह तीसरा और चौथा अध्ययन चार चार, पांचवां अध्ययन छह, छठा अध्ययन पांच सातवां अध्ययन सात*, आठवां अध्ययन आठ और नवम अध्ययन चार उद्देशकों में बंटा हुआ है। इस तरह आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के ९ अध्ययनों के ५१ उद्देशक बनते हैं।

आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में तीन चूलिकाएं हैं। प्रथम चूलिका में १ से १६ तक, द्वितीय चूलिका में १७ से २३ तक और तृतीय चूलिका में २४वां और २५वां ये दो अध्ययन हैं। इस तरह द्वितीय श्रुतस्कंध में कुल १६ अध्ययन हैं। दसवें अध्ययन के ११ उद्देशक हैं। ग्यारहवें और बारहवें अध्ययन के तीन-तीन उद्देशक हैं। तेरहवें से सोलहवें अध्ययन तक सब के दो-दो उद्देशक हैं। शेष अध्ययनों में कोई उद्देशक नहीं है, उनमें एक ही विषय का एक ही धारा में वर्णन चलता है। इस तरह आचाराङ्ग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कंध की तीन चूलिकाएं, १६ अध्ययन और २५ उद्देशक हैं। यहां तक आचाराङ्ग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों में वर्णित अध्ययनों एवं उद्देशकों की संख्या का निर्देश किया गया है। इनमें वर्णित विषय का विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रस्तुत अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। जीवों की हिंसा के कारणभूत उपकरणों को शस्त्र कहते हैं। शस्त्र भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं। जिन हथियारों या अस्त्रास्त्रों से प्राणियों के प्राणों का विनाश किया जाता है, उन चाकू, तलवार, रिवाल्वर राइफल, बम आदि को द्रव्य शस्त्र कहते हैं। और जिन अशुभ भावों से प्राणियों का वध करने की भावना उत्पन्न होती है तथा मन, वचन और शरीर के योगों की हिंसा की ओर प्रवृत्ति होती है, उन राग-द्वेष युक्त विषाक्त परिणामों को भाव शस्त्र कहा गया है।

'परिज्ञा' शब्द का सीधा-सा अर्थ है—ज्ञान। परन्तु, ज्ञान का अर्थ सिर्फ जानना ही नहीं, तदनुसार आचरण करना भी है। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर परिज्ञा शब्द के दो भेद किए गए हैं—१—ज्ञ परिज्ञा और २—प्रत्याख्यान परिज्ञा। संसार के कारणभूत राग-द्वेष एवं अशुभ योगों का परिज्ञान—बोध प्राप्त करना, 'ज्ञ' परिज्ञा है और 'ज्ञ परिज्ञा' से परिज्ञापित—अच्छी-भांति जाने हुए विकारी भावों एवं अशुभ योगों का परित्याग

*इस अध्ययन का विच्छेद हो गया है यह वर्तमान में उपलब्ध नहीं होता है।

करना अथवा संसार मार्ग से निवृत्त होकर संयम साधना में प्रवृत्त होना 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा है। 'ज्ञ' परिज्ञा से ज्ञान का उल्लेख किया गया है और 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा के द्वारा त्यागमय आचरण को स्वीकार करने का आदेश दिया गया है। इस तरह एक 'परिज्ञा' शब्द मे ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय कर दिया गया है, जो वास्तव में मोक्ष का मार्ग है। और वस्तुत ज्ञान का मूल्य भी त्याग मे, निवृत्ति मे ही रहा हुआ है। श्रमण-संस्कृति के चिन्तकों ने "णाणस्स फल विरई" अर्थात् ज्ञान का फल विरक्ति है, यह कह कर इस बात को अभिव्यक्त किया है कि वही ज्ञान आत्मोत्थान मे सहायक होता है, जो आचरण रूप से जीवन मे प्रयुक्त होता है। जब तक ज्ञान आचरण का रूप नही लेता अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन के प्रवाह को नया मोड नही दिया जाता, तब तक मुक्ति के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी वह (आत्मा) उसे तय नहीं कर पाता है। अत अपवर्ग—मोक्ष की ओर बढने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। इसी बात को सूत्रकार ने 'परिज्ञा' शब्द से स्पष्ट किया है।

इस तरह शस्त्रपरिज्ञा का अर्थ हुआ—द्रव्य और भाव शस्त्रों की भयङ्करता को जान-समझ कर उसका परित्याग करना अर्थात् शस्त्र रहित बन जाना। वस्तुत ससार परिभ्रमण एव अशान्ति का मूल कारण शस्त्र ही है। सब तरह के दु ख-दैन्य एव विपत्तियें शस्त्र-अस्त्रों की ही देन हैं। भगवान महावीर की इस बात को आज के वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं। शस्त्रों की शक्ति पर विश्वास रखने वाले राजनेताओं का विश्वास भी लडखडाने लगा है। वे भी इस तरह की भाषा का प्रयोग करने लगे हैं कि विश्व शान्ति के लिए जल, स्थल एवं हवाई सभी तरह की सेनाओं के केन्द्र हटा देने तथा सभी तरह के बम्बों, राकेटों एवं आणविक शस्त्रों को समाप्त करने पर ही विश्व शान्ति का सास ले सकेगा। वस्तुत सत्य भी यही है। शस्त्र शान्ति के लिए भयानक खतरा है। अत अनन्त शान्ति की ओर बढने वाले साधक को सब से पहले शस्त्रों का परित्याग करना चाहिए। इसी अपेक्षा से सभी तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन मे शस्त्र-त्याग की बात कहते हैं। इस तरह पहले अध्ययन मे शस्त्रों के त्याग की बात कही गई है, यदि आज की भाषा मे कहूँ तो निश्शस्त्रीकरण—शस्त्ररहित होने का मार्ग बताया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन सात उद्देशकों मे विभक्त है। सातों उद्देशकों मे विभिन्न तरह से छह काय के जीवों की हिंसा एव हिंसाजन्य शस्त्रास्त्रों से होने वाले नुक्सान का एक सजीव शब्द-चित्र चित्रित किया गया है। यहा हम अधिक विस्तार मे न जाकर प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक पर विचार करेंगे। प्रस्तुत उद्देशक में आत्मा एव कर्म बन्ध के हेतुओं के संबन्ध मे सोचा-विचारा गया है। इस उद्देशक को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने—"सुय आउसं! .. " इत्यादि सूत्र का उच्चारण किया है।

वर्तमान में उपलब्ध आगम-साहित्य आर्य सुधर्मा स्वामी और श्री जम्बू स्वामी

इन दोनों महापुरुषों के सम्वाद रूप में है। आगम की विश्लेषण पद्धति से यह स्पष्ट हो जाता है कि जम्बू स्वामी अपने आराध्य देव आर्य सुधर्मा स्वामी से विनम्रता पूर्वक शास्त्र सुनने की भावना अभिव्यक्त करते हैं। वे इस बात को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं कि श्रमण भगवान महावीर ने द्वादशांगी गणिपिटक-आगमों में किन भावों को व्यक्त किया है? आत्मा को कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त करने के लिए साधना का क्या तरीका बताया है? यद्यपि, प्रस्तुत सूत्र में ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि श्री जम्बू स्वामी ने आचाराङ्ग के भाव व्यक्त करने के लिए अपने गुरुदेव आर्य सुधर्मा स्वामी से प्रार्थना की हो। परन्तु, अन्य आगमों की वर्णन पद्धति से विचार करते हैं, तो फिर शंका को अवकाश नहीं रह जाता है अर्थात् उक्त कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हो जाता है। आचाराङ्ग सूत्र के 'सुयं मे " इस सूत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के पूछने पर ही इस भाषा में आचाराङ्ग का वर्णन शुरू किया था। जो कुछ भी हो, तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्ररूप में गून्थते हैं और अपने शिष्यों की जिज्ञासा को देखकर उनके सामने अपना ज्ञान पिटारा खोल कर रख देते हैं। आर्य सुधर्मा स्वामी ने भी भगवान महावीर से प्राप्त अर्थ रूप द्वादशांगी को अपने प्रमुख शिष्य जम्बू की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सूत्र रूप में सुनाना आरम्भ कर दिया।

प्रस्तुत सूत्र का पहला सूत्र है—"सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं ॥१॥" सुयं मे अर्थात् मैंने सुना है। इस पद से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आगम मेरे मन की कल्पना या विचारों की उड़ान मात्र नहीं बल्कि श्रमण भगवान महावीर से सुना हुआ है। इस से दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि आगम सर्वज्ञ प्रणीत होने से प्रामाणिक है। श्रमण संस्कृति के विचारकों ने भी आप्त पुरुष के कथन को आगम कहा है*। आप्त पुरुष कौन है? इस का विवेचन करते हुए आगमों में कहा गया कि राग-द्वेष के विजेता तीर्थंकर—सर्वज्ञ भगवान जिनेश्वर देव आप्त हैं। फलितार्थ यह हुआ कि जिनोपदिष्ट वाणी ही जैनागम है†। और वह सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट होने के कारण प्रामाणिक है।

दूसरी बात यह है कि इस पद से गणधर देव की अपनी लघुता, विनम्रता एवं निरभिमानता भी प्रकट होती है। चार ज्ञान और चवदह पूर्वों के ज्ञाता एवं आगमों के सूत्रकार होने पर भी उन्हों ने यों नहीं कहा कि मैं कहता हूँ परन्तु यही कहा कि जैसा भगवान के मुंह से सुना है वैसा ही कह रहा हूँ। महापुरुषों की यही विशेषता होती है कि वे अहंभाव से सदा दूर रहते हैं। उनके मन में अपने आप को बड़ा बताने की कामना

* तत्त्वार्थ भाष्य १ २ । † नन्दी सूत्र ४।

नहीं रहती। अस्तु, 'सुय मे' ये पद आर्य सुधर्मा स्वामी की विनयशीलता एवं भगवान महावीर के प्रति रही हुई प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति के सूचक हैं।

"आउसं!" इस पद का अर्थ होता है—हे आयुष्मन्! यहा आयुष्मन् शब्द से जम्बू स्वामी को सम्बोधित किया गया है। अत यह सबोधन पद जम्बू स्वामी का विशेषण है। जबकि मूल सूत्र मे विशेष्य पद का निर्देश नही किया गया है, फिर भी विशेष्य पद का अध्याहार कर लिया जाता है। क्योंकि, जब भी कोई वक्ता कुछ सुनाता है तो किसी श्रोता को ही सुनाता है। यहा आर्य सुधर्मा स्वामी आचाराङ्ग सूत्र सुना रहे हैं और उसके श्रोता हैं जम्बू स्वामी। इस बात को हम पीछे की पक्तियों मे बता आए हैं कि जम्बू की आगम-श्रवण करने की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही आर्य सुधर्मा स्वामी ने आचाराङ्ग सूत्र का सुनाना शुरू किया। इस से स्पष्ट होता है कि उक्त सबोधन का विशेष्य पद जम्बू स्वामी ही है। इस तरह विशेष्य पद का अध्याहार कर लेने पर अर्थ होगा—हे आयुष्मन् जम्बू!

सस्कृत-व्याकरण के अनुसार अतिशय-दीर्घ अर्थ मे 'आयुष्' शब्द से 'मतुप्'प्रत्यय होकर आयुष्मान् शब्द बनता है‡। इस तरह आयुष्मान् का अर्थ हुआ—दीर्घजीवी। बड़ी आयु वाले व्यक्ति को दीर्घजीवी कहते हैं। श्री जम्बू स्वामी को दीर्घजीवी कहने के पीछे तीन कारण हैं। प्रथम तो यह है कि जिस समय आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आचाराङ्ग सूत्र का वर्णन सुनाने लगे, उस समय वे बडी उम्र के थे, लघु वय के नहीं। अत आर्य सुधर्मा स्वामी उन्हें आयुष्मन् शब्द से संबोधित कर के उनकी आयुगत परिपक्वता बताकर, उन मे श्रुतज्ञान तथा उपदेश श्रवण, ग्रहण, धारण एव आराधन करने की योग्यता अभिव्यक्त कर रहे हैं।

प्रस्तुत सबोधन का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय जम्बू स्वामी आचाराङ्ग सूत्र का श्रवण कर रहे थे, उस समय भले ही वे बडी उम्र के न रहे हों, परन्तु मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय इन चार ज्ञानों से युक्त आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने ज्ञान से अपने शिष्य के भावी जीवन को दीर्घ देखा गया हो और उन्हें दीर्घजीवी जान कर ही इस सबोधन से सबोधित किया हो। उनकी अन्तरात्मा ने इस बात को स्वीकार किया हो कि जम्बू दीर्घजीवी है, लम्बे समय तक जीवित रह कर यह जिन शासन की सेवा करेगा, जन-मानस मे अहिंसा, सयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित करके विश्व को जन्म-मरण के ताप से बचाएगा। अत भविष्य के दीर्घ जीवन को देखकर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को प्रस्तुत सबोधन से संबोधित

‡ भूम-निन्दा-प्रशसासु, नित्ययोगेऽतिशायने।
ससर्गेऽस्ति विवक्षाया, भवन्ति मतुवादय (वा० ३१८३) सिद्धान्तकौमुदी। अतिशयितुमायुरस्स इति आयुष्मान्। इति व्याख्यासुधाख्य-व्याख्याया व्याख्यातमेतदमरकोषे।

किया हो।

तीसरा कारण यह है कि साहित्य जगत में इस संबोधन को सुकोमल माना जाता है और आदर की दृष्टि से देखा जाता है‡। यह संबोधन इतना मधुर एवं प्रिय है कि इसके सुनने मात्र से हृदय कमल की एक-एक कली खिल उठती है, शिष्य के मन में उल्लास और प्रसन्नता की लहरें लहर-लहर कर लहराने लगती हैं। जैनागमों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि एक ऐसा युग भी रहा है कि जिस में संबोधन के लिए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, बाल-वृद्ध सभी के लिए इसका प्रयोग होता रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में जो सम्मान देवानुप्रिय शब्द को प्राप्त था वही आदर-सम्मान आयुष्मान शब्द को प्राप्त था। इस संबोधन पद से भाषा का लालित्य, सौन्दर्य एवं माधुर्य झलक रहा था। बताया गया है कि निर्युक्तिकार ने "आउसं" शब्द के दस भेद किए हैं। उनमें संयम, यश और कीर्तिमय जीवन वाले व्यक्ति को भी इस सम्बोधन से संबोधित करने की परंपरा रही है। इसी कारण आध्यात्मिक एवं लौकिक सभी क्षेत्रों में इस का प्रयोग होता रहा है। इसलिए वात्सल्यमय मधुर एवं सुकोमल भावना को अभिव्यक्त करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रमुख शिष्य जम्बू को आयुष्मान शब्द से संबोधित किया है।

'आउसं' शब्द संबोधन के रूप में प्रयुक्त होता है, इस बात का हम विवेचन कर चुके हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त इसका दूसरे रूप में भी प्रयोग घटित होता है। जब 'आउसं और 'तेणं" दोनों शब्दों को अलग-अलग न करके इनका समस्त पद के रूप में प्रयोग करते हैं, तो इस 'आउसंतेणं" पद का संस्कृत रूप 'आयुष्मता' बनता है और फिर यह शब्द संबोधन के रूप में न रहकर 'भगवया' शब्द का विशेषण बन जाता है और इसका अर्थ होता है—आयुष्य वाले भगवान ने। 'आउसंतेणं' शब्द को समस्त पद मानने के पीछे सैद्धान्तिक रहस्य भी अन्तर्निहित है। 'सुयं मे' इन पदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान किसी व्यक्ति द्वारा ही दिया गया है। परन्तु, इस पद से सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह जैन दर्शन की वह मान्यता स्पष्ट करदी गई है कि श्रुतज्ञान का प्रकाश आयु कर्म वाले शरीर-युक्त तीर्थंकर भगवान ही फैलाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण द्वारा पूछे गए "घोर अन्धेरे में निवसित संसार के प्राणियों के जीवन में कौन प्रकाश करता है?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि जब सूर्य आकाश में उदित होता है, तो सारे लोक को प्रकाशित कर देता है। इसके बाद केशी श्रमण के वह सूर्य कौन है? उनके इस संशय का निराकरण करते हुए श्री गौतम स्वामी ने कहा कि जिस का संसार क्षय हो चुका है, ऐसा जिन, सर्वज्ञरूपी

‡ आयुष्मन्! इत्यनेन तु कोमलामन्त्रणवचसा शिष्यमतः प्रह्लादनतयाचार्यैर्णापदेशो देयः।

—स्थानांग सूत्र प्रथम स्थान—वृत्ति।

स्थानांगसूत्र (श्री धनपतराय जी द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ ३।

सहस्त्ररश्मि (सूर्य) उदित होगा और वह समस्त प्राणि-जगत में धर्म का उद्योत करेगा, ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा।† इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान का प्रकाश शरीरयुक्त तीर्थंकर ही फैलाते हैं, न कि सिद्ध भगवान। सिद्ध भगवान शरीर-रहित हैं और श्रुत ज्ञान का उपदेश बिना मुख के दिया नहीं जा सकता और मुख शरीर का ही एक अङ्ग है। अत सिद्ध भगवान श्रुत ज्ञान के उपदेशक नहीं हो सकते।

इस तरह 'आउसतेण', पद के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि दुनिया का कोई भी शास्त्र ईश्वर-कृत नहीं है। वैदिक दर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे ईश्वर ने अगिरा आदि ऋषियों को वेद का उपदेश दिया था। परन्तु, यह कल्पना सर्वथा निराधार है। हम इस बात को पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि उपदेश मुख द्वारा दिया जाता है और मुख शरीर का ही एक अंग है। शरीर के अभाव मे मुख हो नहीं सकता। अत शरीर-रहित ईश्वर के द्वारा उपदेश की कल्पना करना नितान्त असत्य है। यदि वेदों का उपदेश ईश्वरकृत है और ईश्वर मुख आदि अवयवों से युक्त है तो फिर वह ईश्वर नहीं, देहधारी व्यक्ति ही है। इस तरह वेद अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं।

यदि वैदिक-दर्शन की वेदों को अपौरुषेय मानने की मान्यता को मान लें तो फिर मुसलमानों के कुरान शरीफ को भी खुदा (ईश्वर) कृत मानना होगा। क्योंकि उसका भी यह विश्वास है कि खुदा ने पैगम्बर मुहम्मद साहिब को कुरान शरीफ का ज्ञान कराया था। इस तरह कुरान भी वेदों की तरह अपौरुषेय होने के कारण वेदों के समकक्ष खड़ा हो जायगा। और इसके अतिरिक्त वेदों मे जो याज्ञिक हिंसा—यज्ञ में की जाने वाली पशु-हिंसा का आदेश दिया गया है और ईश्वर-कर्तृत्व जैसी असगत बातों का उल्लेख पाया जाता है तथा कुरानशरीफ मे मास-भक्षण आदि अधर्ममयी बातों का कथन किया है, उसे सत्य एव मोक्षोपयोगी मानना पड़ेगा। परन्तु, ये मान्यताएं नितान्त असत्य हैं। क्योंकि हिंसाजन्य प्रवृत्ति मे धर्म हो नहीं सकता। अत जो शास्त्र धर्म के नाम पर हिंसा का, पशु के बलिदान का, पशु की कुर्बानी करने का आदेश देता है, वह धर्मशास्त्र नहीं, शस्त्र है, आत्मा का घातक है। वस्तुत धर्म शास्त्र वह है, जो प्राणी मात्र की रक्षा एव दया का उपदेश देता है। क्योंकि धर्म सब जीवों के प्रति दया, करुणा एवं कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने मे है। और यह बात सर्वज्ञोपदिष्ट वाणी में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। अत आगम अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय हैं, पुरुषोपदिष्ट होने पर भी प्रामाणिक हैं। क्योंकि उसके उपदेष्टा राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हैं, सर्वज्ञ हैं, अत उनकी वाणी मे पारस्परिक विरोध नहीं मिलता। इस अपेक्षा से आगम पौरुषेय हैं और

† उत्तराध्ययन सूत्र, २३, ७५-७८।

उसकी रचना का समय भी निश्चित है। अर्थात् वर्तमान काल में उपलब्ध आगमों के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार भगवान महावीर के पञ्चम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी हैं। अतः 'आउसंतेणं' इस समस्त पद का तात्पर्य यह हुआ कि आयुष्य कर्म से मुक्त। और फलितार्थ यह निकला कि कर्म-बन्ध से मुक्त होने पर भी जिनका अभी आयु कर्म क्षय नहीं हुआ है, ऐसे तीर्थंकर आगमों का उपदेश देते हैं।

'आउसंतेणं' इस पद पर उत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन की बृहद्वृत्ति में वृत्तिकार ने भी कुछ विचार प्रस्तुत किए हैं। इस दिशा में वृत्तिकार का चिन्तन भी मननीय एवं विचारणीय होने से आगे की पंक्तियों में दे रहे हैं—

"आउसंतेणं" ति प्राकृतत्वात् विभक्तिव्यत्ययाद् आजुषमाणेन-श्रवणविधिमर्यादया गुरून् सेवमानेन, अनेनाप्येवमाह—विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्यं न तु यथा कथञ्चित् गुरुविनयभीरुतया गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात्, यदोच्यते—*परिसुट्ठियाणं पासे सुणेइ, सो विणय परिभंसि।"

अर्थात्—'आउसंतेणं' यह पद प्राकृत भाषा में विभक्ति-व्यत्यय (परस्मैपद का आत्मनेपद और आत्मनेपद का परस्मैपद) होने से परस्मैपद है, किन्तु संस्कृत में इस पद की आत्मनेपदी 'आजुषमाणेन' यह छाया बनती है। आयुष्मान् का अर्थ है—सुनने की पद्धति का पालन करते हुए गुरु की सेवा करना। सुनने की पद्धति के परिपालन का अभिप्राय यह है कि गुरुदेव से शास्त्र या हितकारी उपदेश सुनते समय शिष्य न तो गुरु से अधिक दूर बैठे और न अति निकट ही बैठे, परन्तु उचित स्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से उपदेश एवं शास्त्र को सुने। अधिक दूर बैठने से भली-भांति सुनाई नहीं पड़ेगा और अति निकट बैठने पर हाथ आदि अंगों के संचालन से उनके शरीर को आघात लग सकता है, अतः शिष्य को ऐसे स्थान में बैठ कर शास्त्र एवं उपदेश का श्रवण करना चाहिए, जहां से अच्छी तरह सुनाई भी पड़ सके और उनकी आशातना भी न हो। दूसरी बात यह है कि गुरुदेव की सभा से उठकर आने वाले लोगों से शास्त्र न सुने, परन्तु स्वयं गुरुदेव के सम्मुख उपस्थित होकर उनसे सुने। कभी-कभी कुछ अविनीत शिष्य ऐसा सोच-विचार कर कि गुरु के पास जाकर सुनेंगे तो उनका विनय करना होगा, अतः उन से सुनकर जो व्यक्ति आ रहा है, उनसे ही जानकारी करलें। यह सोचना उपयुक्त नहीं है। इससे जीवन में प्रमाद बढ़ता है, विनय भाव का नाश होता है—जो धर्म एवं संयम का मूल है। इसी बात को ध्यान में रखकर वृत्तिकार ने 'आयुष्मन्' पद देकर गुरु की सभा से आने वाले व्यक्तियों से ही सीधा शास्त्र एवं उपदेश भी सुनने की वृत्ति का निषेध

---

* पर्षदुत्थितानां पार्श्वे शृणोति स विनयपरिभ्रंशी।

मे अन्तर होते हुए भी भावों मे समानता थी। वास्तविक दृष्टि से विचारा जाए तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है। विभिन्न देश, काल और पुरुष की अपेक्षा से उस सत्य का उद्भव अनेक तरह से होता रहा है, परन्तु भाषा के उन विभिन्न रूपों मे एक ही त्रैकालिक सत्य अनुस्यूत रहा है। उस त्रैकालिक सत्य की ओर देखा जाए, और देश-काल एव पुरुष की अपेक्षा से बने आविर्भाव की उपेक्षा की जाए, तो यही कहना होगा कि जो भी तीर्थंकर, अरिहन्त राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनकर उपदेश देते हैं। वे आचार को त्रैकालिक सत्य—सामायिक—समभाव, विश्ववात्सल्य, विश्वमैत्री का और विचार के त्रैकालिक सत्य—स्याद्वाद—अनेकान्तवाद या विभज्यवाद का ही उपदेश देते है। आचार से सामायिक की साधना एव विचार से अनेकान्त—स्याद्वाद की भाषा का तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आदेश अनादि-अनन्त है, कर्तृत्व से रहित है। ऐसा एक भी क्षण नहीं मिलेगा कि विश्व मे इस सत्य का स्रोत नहीं वह रहा हो। अत इस अपेक्षा से द्वादशाग, गणिपिटक—आगम अनादि-अनन्त हैं।

बृहत्कल्प भाष्य मे एक स्थल पर कहा गया है कि भगवान ऋषभ देव आदि तीर्थंकरों और भगवान महावीर की शरीर-अवगाहना एव आयुष्य मे अत्यधिक वैलक्षण्य होने पर भी, उन सब की धृति, सघयण और संठाण तथा आन्तरिक शक्ति—केवल ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाए तो उन सब की उक्त योग्यता मे कोई अन्तर न होने के कारण उनके उपदेश मे, सिद्धान्त प्ररूपण मे कोई भेद नहीं हो सकता*। आगमों मे यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सभी तीर्थंकर वज्रऋषभनाराच सघयण और समचौरंस संठाण वाले होते हैं और ससार मे सभी तत्त्वों को, पदार्थों को तथा तीनों काल के भावों को समान रूप से जानते-देखते हैं। अतः उनके द्वारा की गई सैद्धान्तिक प्ररूपणा मे कोई भेद नहीं होता। सभी तीर्थंकरों के उपदेश की एकरूपता का एक उदाहरण प्रस्तुत सूत्र में भी मिलता है‡। उसमे लिखा है कि "जो अरिहन्त भगवान पहले हो चुके हैं, जो भी वर्तमान मे हैं और जो भविष्य मे होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश-आदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा मत करो, उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उन्हे परतन्त्र एवं गुलाम मत बनाओ और उनको संतप्त मत करो, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकशील पुरुषों ने बताया है"।

जब व्यावहारिक दृष्टि से यह देखते हैं कि वर्तमान मे उपलब्ध आगमों का आविर्भाव किस रूप मे हुआ ? किसने किया ? कब किया ? और कैसे किया तो जैनागमों

* बृहत्कल्प भाष्य

‡ आचाराग, श्रु० १, अ० ४ सू० १२६।

'आघवणिए' पद इन्हीं भावों का परिचायक है।

'भगवया' यह पद भगवान् शब्द का तृतीयान्त प्राकृत रूप है। इसका अर्थ है—भगवान ने। भगवान शब्द भग से बनता है। भग शब्द की व्याख्या करते हुए एक आचार्य लिखते हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चापि, षण्णां भग इतीङ्गना॥"

अर्थात्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, कीर्ति, श्री, ज्ञान, और वैराग्य इन छह संपदाओं के समुदाय को भग कहते हैं। अतः उक्त संपदाओं से जो युक्त है, उसे भगवान कहते हैं—

"भग—ऐश्वर्यादिषड्गुणात्मकः सोऽस्यास्तीति भगवान्।"

"अक्खायं" यह क्रिया पद है। इसका अर्थ है—कहा। इससे स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग सूत्र भगवान के द्वारा कहा गया है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि आगम किसी व्यक्ति द्वारा कहे गए हैं, जिसका विस्तृत विवेचन हम पीछे के पृष्ठों में कर आए हैं। दूसरी बात यह सामने आती है कि आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। किसी तीर्थंकर भगवान ने इनकी सर्वथा अभिनव रचना नहीं की। उन्होंने तो अनादि काल से चले आ रहे आगमों का अर्थ रूप से कथन मात्र किया है। अतः इस दृष्टि से आगम सादि भी हैं और अनादि एवं कर्तृत्व-रहित भी हैं। उनके सादित्व पर हम विचार कर चुके हैं। यहां आगमों के अकर्तृत्व एवं अनादित्व पर विचार करेंगे।

परन्तु, यह कथन भी अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि जैन विचारकों की भाषा स्याद्वादमय रही है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक विचार पर स्याद्वाद की भाषा में सोचा-विचारा है। आगम के सादित्व-अनादित्व अर्थात् आगम के मूल स्रोत की आदि निश्चित तिथि है या नहीं? दोनों पर गहराई से चिन्तन किया है। आगमों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि आगम अनादि भी है। क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं रहा है, नहीं है और नहीं रहेगा, जब कि द्वादशाङ्गभूत गणिपिटक नहीं था, नहीं है और नहीं होगा। वह तो पहले से था, अब है और अनागत में भी रहेगा। वह ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है[1]।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि अनन्त काल से चले आ रहे, अनन्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आगमों की भाषा एक ही थी, जो शब्द-भाषा वर्तमान में उपलब्ध आगमों में मिलते हैं, वे ही शब्द उन आगमों के थे। इसका अर्थ इतना ही है कि भाषा

[1] नन्दी सूत्र ५८ समवायाङ्ग सूत्र १२, द्वादशाङ्गी परिचय।

मे अन्तर होते हुए भी भावों मे समानता थी। वास्तविक दृष्टि से विचारा जाए तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है। विभिन्न देश, काल और पुरुष की अपेक्षा से उस सत्य का उद्भव अनेक तरह से होता रहा है, परन्तु भाषा के उन विभिन्न रूपों मे एक ही त्रैकालिक सत्य अनुस्यूत रहा है। उस त्रैकालिक सत्य की ओर देखा जाए, और देश-काल एवं पुरुष की अपेक्षा से बने आविर्भाव की उपेक्षा की जाए, तो यही कहना होगा कि जो भी तीर्थंकर, अरिहन्त राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनकर उपदेश देते हैं। वे आचार को त्रैकालिक सत्य—सामायिक—समभाव, विश्ववात्सल्य, विश्वमैत्री का और विचार के त्रैकालिक सत्य—स्याद्वाद—अनेकान्तवाद या विभज्यवाद का ही उपदेश देते है। आचार से सामायिक की साधना एव विचार से अनेकान्त—स्याद्वाद् की भाषा का तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आदेश अनादि-अनन्त है, कर्तृत्व से रहित है। ऐसा एक भी क्षण नहीं मिलेगा कि विश्व मे इस सत्य का स्रोत नहीं बह रहा हो। अत. इस अपेक्षा से द्वादशांग, गणिपिटक—आगम अनादि-अनन्त हैं।

बृहत्कल्प भाष्य मे एक स्थल पर कहा गया है कि भगवान ऋषभ देव आदि तीर्थंकरों और भगवान महावीर की शरीर-अवगाहना एव आयुष्य मे अत्यधिक वैलक्षण्य होने पर भी, उन सब की धृति, संघयण और संठाण तथा आन्तरिक शक्ति—केवल ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाए तो उन सब की उक्त योग्यता मे कोई अन्तर न होने के कारण उनके उपदेश मे, सिद्धान्त प्ररूपणा मे कोई भेद नहीं हो सकता❀। आगमों मे यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सभी तीर्थंकर वज्रऋषभनाराच सघयण और समचौरंस संठाण वाले होते हैं और संसार मे सभी तत्त्वों को, पदार्थों को तथा तीनों काल के भावों को समान रूप से जानते-देखते हैं। अत. उनके द्वारा की गई सैद्धान्तिक प्ररूपणा मे कोई भेद नहीं होता। सभी तीर्थंकरों के उपदेश की एकरूपता का एक उदाहरण प्रस्तुत सूत्र मे भी मिलता है‡। उसमे लिखा है कि "जो अरिहन्त भगवान पहले हो चुके हैं, जो भी वर्तमान मे हैं और जो भविष्य मे होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश-आदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा मत करो, उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उन्हें परतन्त्र एव गुलाम मत बनाओ और उनको सतप्त मत करो, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकशील पुरुषो ने बताया है"।

जब व्यावहारिक दृष्टि से यह देखते हैं कि वर्तमान मे उपलब्ध आगमों का आविर्भाव किस रूप मे हुआ ? किसने किया ? कब किया ? और कैसे किया तो जैनागमों

❀ बृहत्कल्प भाष्य

‡ आचाराग, श्रु० १, अ० ४ सू० १२६।

की आदि भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है । इसलिए कहा गया कि "तप-नियम और ज्ञानमय वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी तीर्थंकर—केवली भगवान भव्य जनों के बोध के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि पट में उन समस्त कुसुमों को झेलकर द्वादशाङ्ग रूप प्रवचन माला गून्थते हैं*।" इस तरह 'जैनागम कर्तृत्व रहित अनादि अनन्त भी हैं और कर्ता की अपेक्षा से आदि सहित भी हैं"। का इस सूत्र में सुन्दर समन्वय हो जाता है और आचार्य हेमचन्द्र का यह विचार पूर्णतया चरितार्थ होता है—

"आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु"‡

इससे स्पष्ट हो गया कि स्याद्वाद की भाषा में विरोध खड़ा होने को कहीं भी अवकाश नहीं है। अनन्त तीर्थंकरों से रही हुई केवल ज्ञान की एकरूपता के कारण य आगम अनादि काल से हैं, उनका उद्गम स्थान ढूंढना दुष्कर ही नहीं, असंभव है और वर्तमान में विद्यमान आगम के उपदेष्टा की दृष्टि से सोचते हैं तो उसकी आदि है। क्य क वर्तमान में उपलब्ध आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं। उनके प्रवचन को नव गणधरों ने सूत्ररूप से गून्था था। क्योंकि आगम में ऐसा बताया गया है कि भगवान महावीर के ग्यारह गणधर और नव गण थे। अन्य गणधरों की शिष्य परम्परा का प्रवाह आगे चला नहीं। भगवान महावीर के बाद पञ्चम गणधर सुधर्मा स्वामी की ही शिष्य परम्परा चालू रही। अतः वर्तमान में सुधर्मा स्वामी द्वारा सूत्ररूप में रचित आगम ही उपलब्ध होते हैं। अतः प्रस्तुत आगम का भगवान महावीर ने अर्थ रूप से उपदेश दिया था, और आर्य सुधर्मा स्वामी ने उसे सूत्र रूप से गून्था था।

इस तरह 'अक्खायं' इस पद से आगमों की नित्यता को प्रकट किया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आगम कूटस्थ नित्य नहीं हैं। क्योंकि हम इस बात को पहिले ही बता चुके हैं कि जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु पर अनेकान्त या स्याद्वाद की दृष्टि से सोचता-विचारता है। यहां एकान्तवाद को कोई स्थान नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म युक्त है। उसमें उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनों अवस्थाएं स्थित हैं†। इनमें

---

* "तवनियमणाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥ ८९ ॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा ॥ ९ ॥ —आवश्यकनिर्युक्तिः

‡ अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक ५.

† उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। —तत्त्वार्थ सूत्र ५, १ ।

विरोध जैसी कोई बात नहीं है। हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं कि स्वर्ण को गला कर उसका कंगन बना लेते हैं, फिर कंगन को तुड़वाकर बटन या अंगूठी या और कुछ आभूषण बना लेते हैं। इस तरह प्रत्येक बार वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। एक स्वरूप का विनाश होता है तो दूसरे स्वरूप का निर्माण होता है, परन्तु पूर्व एवं उत्तर की दोनों अवस्थाओं में स्वर्ण अपने रूप में सदा स्थित रहता है। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु की है। द्रव्य रूप से प्रत्येक वस्तु सदा स्थित रहती है तो पर्याय रूप से उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। इसलिए जब किसी वस्तु को नित्य कहा जाता है, तो उस का अभिप्राय यह है कि वह परिणामी नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। यही बात आगम के संबंध में समझनी चाहिए। द्रव्य रूप से आगम नित्य है, ध्रुव है, अनादि से विद्यमान है। परन्तु पर्याय रूप से अनित्य है। क्योंकि उस त्रैकालिक सत्य को अभिव्यक्त करने वाले अनन्त समय में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और भविष्य काल में अनन्त तीर्थंकर होते रहेंगे और अपने समय में सभी तीर्थंकर उस त्रैकालिक सत्य का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अत. उपदेष्टा की अपेक्षा से उस समय के तीर्थंकर आगम के प्ररूपक कहे जाते हैं। जैसे वर्तमान में उपलब्ध आगम के उपदेष्टा भगवान महावीर है। इस दृष्टि से आगम नित्य है, सादि है। इस तरह आगम नित्य भी है और अनित्य भी।

प्रस्तुत सूत्र में आर्य सुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से बोले—हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस सूत्र को सुन-पढ़ कर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् ने क्या प्रतिपादन किया था? किस बात को अभिव्यक्त किया? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—

मूलम्—इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ ॥ २ ॥

छाया—इहैकेषां नो संज्ञा भवति।

पदार्थ—इह=इस संसार में। एगेसिं=किन्हीं जीवों को। णो=नहीं। सण्णा=संज्ञा-ज्ञान। भवइ=होता है।

मूलार्थ—इस संसार में किन्हीं जीवों को अथवा अनेक जीवों को ज्ञान नहीं होता है।

हिन्दी विवेचन—आचारांग को प्रारम्भ करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह कहा

था कि हे आयुष्मन् जम्बू ! मैंने सुना है कि उस भगवान ने ऐसा कहा है। क्या कहा है ? इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि भगवान ने बताया है कि इस प्राणि-जगत में परिभ्रमण करने वाले अनेकानेक जीव ऐसे हैं कि जिन्हें ज्ञान नहीं होता। यह प्रस्तुत सूत्र का फलितार्थ है।

'इह' पद 'इस' अर्थ का बोधक है। यह पद सर्वनाम होने से संसार और क्षेत्र, प्रवचन आचार एवं शस्त्र परिज्ञा आदि शब्दों का इसके साथ अध्याहार किया जाता है। क्योंकि सर्वनाम सदा संज्ञा के स्थान में प्रयुक्त होता है। जब 'इह' पद के साथ संसार शब्द का अध्याहार किया जाता है, तो उक्त पद का संबंध 'एगेसिं' पद के साथ करना चाहिए। परन्तु यदि इस पद के साथ क्षेत्र प्रवचन आदि शब्दों का अध्याहार किया जाए, तो फिर इस पद का संबन्ध प्रथम सूत्र के "अक्खायं" इस क्रिया के साथ जोड़ना चाहिए। इस तरह संबंध के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता है। जब प्रस्तुत पद का संबंध 'एगेसिं' पद के साथ जोड़ेंगे तो इसका अर्थ होगा कि 'संसार में किन्हीं जीवों को संज्ञा ज्ञान नहीं होता।" और जब इसका संबंध 'अक्खायं' पद के साथ होगा तो इसका अर्थ होगा कि 'हे आयुष्मन् जम्बू ! उस भगवान अर्थात् भगवान महावीर ने इस क्षेत्र, प्रवचन, आचार एवं शस्त्र-परिज्ञा में कहा है कि कई एक जीवों को ज्ञान नहीं होता।" इस तरह 'इह' पद का 'एगेसिं' और 'अक्खायं' पद के साथ क्रमशः संबंध-भेद से अर्थ-भेद भी प्रमाणित होता है।

'क्षेत्र' शब्द उस स्थान का परिबोधक है, भारतवर्ष या भारत में भी जिस स्थान पर भगवान ने प्रस्तुत प्रवचन किया था। भगवान—तीर्थंकरों के उपदेश को प्रवचन कहते हैं। प्रवचन का सीधा-सा अर्थ होता है—श्रेष्ठ वाणी या विशिष्ट महापुरुषों द्वारा व्यवहृत वचन। 'आचार' शब्द आचारांग सूत्र का परिचायक है और शस्त्र-परिज्ञा आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन है।

उक्त चारों शब्दों का परस्पर संबन्ध भी है। क्योंकि प्रवचन किसी क्षेत्र विशेष में ही किया जाता है। अतः सर्व प्रथम क्षेत्र का उल्लेख किया गया। और उस के अनन्तर प्रवचन का नाम निर्देश किया गया। वह प्रवचन क्या था ? इसका समाधान 'आचार' अर्थात् आचारांग इस शब्द से किया गया। और आचारांग सूत्र में भी प्रस्तुत वाक्य किस अध्ययन में कहा गया है इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'शस्त्रपरिज्ञा' शब्द का कथन किया गया। इस तरह चारों पदों का एक-दूसरे पद के साथ संबन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'एगेसि' यह पद 'किन्हीं जीवों को' इस अर्थ का ससूचक है। इस पद को "णो सण्णा भवइ" पदों के साथ सवद्ध करने पर इसका अर्थ होता है कि किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता। आध्यात्मिक विकास-क्रम के नियमानुसार आत्मा मे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ज्ञान का विकास होता है। अत जिन जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होता है, उनके ज्ञान का विकास भी उतना ही अधिक होता है और ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक आवरण हटाएंगे उनका ज्ञान उतना ही अधिक निर्मल होगा। और जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्मगत क्षयोपशम कम है, उनका ज्ञान भी अविकसित ही रहेगा। उन्हें इस वात का परिवोध नहीं हो पाएगा कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि किस दिशा से आया हूँ? इस विशिष्ट परिवोध से अनभिज्ञ या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता वाले किन्हीं जीवों को सूत्रकार ने 'एगेसि' इस पद से अभिव्यक्त किया है।

'णो सण्णा भवइ' का अर्थ है—ज्ञान नहीं होता। यहा नहीं अर्थ का परिबोधक 'णो' पद है। प्रश्न हो सकता है कि 'णो' के स्थान पर 'अ' शब्द से काम चल सकता था। 'णो' और 'अ' दोनो अव्यय निषेधार्थक है। फिर यहा 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' पद देकर एक मात्रा का अधिक प्रयोग क्यो किया? इसका उत्तर यह है कि 'णो' और 'अ' दोनों अव्यय निषेधार्थ मे प्रयुक्त होते हुए भी समानार्थक नहीं है। दोनों मे अर्थगत भिन्नता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' का प्रयोग किया है। यदि 'णो' का अर्थ 'अ' से निकल जाता तो सूत्रकार 'णो' का प्रयोग करके शब्द का गुरुत्व नहीं वढाते। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'णो' और 'अ' दोनो अव्ययों के अर्थ मे कुछ अ तर है।

'णो' अव्ययपद एक देश का निषेधक है और 'अ' अव्ययपद सर्व देश का निषेध करता है। जैसे—'न घटोऽघट' इस वाक्य मे व्यवहृत 'अघट' शब्द मे 'घट' के साथ जुडा हुआ 'अ' अव्यय घट का सर्वथा निषेध करता है। परन्तु, णो अव्यय किसी भी वस्तु का सर्वथा निषेध नहीं करता। 'णो सण्णा' से यह ध्वनित नहीं होता कि किन्हीं जीवो मे सज्ञा - ज्ञान का सर्वथा अभाव है। क्योंकि आत्मा मे ज्ञान का सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। ज्ञान आत्मा का लक्षण है। उसके अभाव मे आत्मस्वरूप रह नहीं सकता। जैसे—प्रकाश एव आतप के अभाव मे सूर्य का एवं सूर्य के अभाव मे उसके प्रकाश एवं आतप का अस्तित्व नहीं रह सकता। भले ही घनघोर घटाओं के कालिमामय आवरण से सूर्य का प्रकाश एव आतप पूरी तरह दिखाई न पड़े, यह वात अलग है। परन्तु सूर्य के रहते हुए उनके अस्तित्व का लोप

नहीं होता। उसकी अनुभूति तो होती ही रहती है। इसी तरह ज्ञान का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। अतः ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता। क्योंकि आहार संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा परिग्रह-संज्ञा आदि संज्ञाएं तो प्रत्येक संसारी प्राणी में पाई जाती हैं। इन्हीं संज्ञाओं के आधार पर ही जीव का जीवत्व सिद्ध होता है। यदि इन संज्ञाओं का अभाव मान लिया जाए तो फिर आत्मा में चेतनता या सजीवता नाम की कोई चीज रह ही नहीं जाएगी। अस्तु संज्ञा का सर्वथा निषेध करना आत्मतत्त्व की ही सत्ता नहीं मानना है। और यह बात सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। इस लिए सूत्रकार ने 'असण्णा' का प्रयोग न करके 'णो सण्णा' का प्रयोग किया जो सर्वथा उचित युक्तियुक्त न्याय-संगत एवं आगमानुसार है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सण्णा' शब्द का अर्थ संज्ञा होता है। संज्ञा चेतना को कहते हैं और यह अनुभवन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। अनुभवन संज्ञा के सोलह भेद हैं या यों कहिए कि जीव को सोलह तरह की अनुभूति होती है—

१—आहारसंज्ञा—क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार-भोजन करने की इच्छा होना।

२—भयसंज्ञा—भयमोहनीय कर्म के उदय से खतरे का वातावरण देख, जान कर या खतरे की आशंका से त्रास एवं दुःख का संवेदन करना या भयभीत होना।

३—मैथुनसंज्ञा—वेदोदय से विषयेच्छा को तृप्त करने की या मैथुन सेवन की अभिलाषा का होना।

४—परिग्रहसंज्ञा—कषायमोहनीय के उदय से भौतिक पदार्थों पर आसक्ति ममत्व एवं मूर्च्छा भाव का होना।

५—क्रोधसंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से विचारों में एवं वाणी में उत्तेजना या आवेश का आना।

६—मानसंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से अहंभाव गर्व या घमंड का अनुभव करना।

७—मायासंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से छल-कपट करना।

८—लोभसंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से भौतिक पदार्थों विषय-वासना एवं भोगोपभोग के साधनों को प्राप्त करने की लालसा बनाए रखना, संग्रह की कामना को बढ़ाते रहना।

९—ओघसंज्ञा—जीव की अव्यक्त चेतना, जो ज्ञानावरणीय कर्म के अल्प-क्षयोपशम के कारण उत्पन्न होती है।

१०—लोकसंज्ञा—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' आदि लोक प्रचलित मान्यताओं पर

विश्वास करना तथा उनके अनुसार अपनी धारणा बना लेना।

११—सुखसज्ञा—इन्द्रिय एव मनोऽनुकूल विषयों का उपभोग करना एवं उसमे आनन्द की अनुभूति करना।

१२—दु खसज्ञा—इन्द्रिय एव मन के प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दु खानुभूति करना।

१३—मोहसज्ञा—मोहनीयकर्म के उदय से विषय-वासना एव कषायों मे आसक्त रहना।

१४—विचिकित्सासज्ञा—मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म एवं तत्त्वो मे शका-सदेह करना।

१५—शोकसज्ञा—मोहनीयकर्म के उदय से इष्ट वस्तु के न मिलने या उसका वियोग होने पर तथा अनिष्ट वस्तु का सयोग पाकर रोना, पीटना, विलाप आदि करना।

१६--धर्मसज्ञा—मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आगार–गृहस्थ धर्म या अनगार-साधु धर्म को स्वीकार करना, सयम मार्ग मे या त्याग पथ पर गतिशील होना।

ज्ञान सज्ञा के भी ५ भेद किए गए हैं---

१—मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य क्षेत्र मे स्थित वस्तु को जानना-पहचानना।

२—श्रुतज्ञान—वाच्य-वाचक सबध द्वारा शब्द से संबन्धित अर्थ का परिज्ञान प्राप्त करना।

३—अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी द्रव्यों को जानना-देखना।

४—मन -पर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन के सहयोग बिना मर्यादित क्षेत्र मे स्थित सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मन के भावों को जानना।

५—केवलज्ञान—मति आदि चारों ज्ञानों की अपेक्षा के बिना तीनों लोक मे स्थित द्रव्यों एव त्रिकाल वर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना।

इस तरह 'सज्ञा' शब्द से अनुभूति और ज्ञान दोनों का निरूपण किया गया है। अनुभूति रूप सज्ञा या चेतना तो ससार के सभी जीवों मे रहती है। अत यहा उक्त सज्ञा का निषेध नहीं किया गया है। ज्ञान रूपी सज्ञा मे भी ससार के समस्त छद्मस्थ जीवों मे सम्यक् या असम्यक् किसी न किसी रूप मे मति एव श्रुतज्ञान या अज्ञान रहता ही है। अत 'णो सण्णा भवइ' वाक्य से प्रस्तुत सूत्र मे जो ज्ञान का निषेध किया है, वह साधारण रूप से होने वाले ज्ञान का नहीं, परन्तु विशिष्ट रूप से पाए जाने वाले

ज्ञान का निषेध किया है-जिससे आत्मा यह जान-समझ सके कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूँ ? ऐसा विशिष्ट ज्ञान संसार में सभी जीवों को नहीं होता। इस लिए 'णो' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि संसार के कुछ एक जीवों को विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। उस विशिष्ट ज्ञान का क्या स्वरूप है ? इसका समाधान एवं स्पष्ट विवेचन सूत्रकार के शब्दों में आगे के सूत्र में पढ़ें—

मूलसूत्र—तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि ॥३॥

छाया— पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधोदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि।

पदार्थ—तंजहा—जैसे। पुरत्थिमाओ वा दिसाओ—पूर्व दिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ†। दाहिणाओ वा दिसाओ—अथवा दक्षिण दिशा से। पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ—या पश्चिम दिशा से। उत्तराओ वा दिसाओ—या उत्तर दिशा से। उड्ढाओ वा दिसाओ—या ऊर्ध्व दिशा से। अहो-दिसाओ वा—या अधो दिशा से। अण्णयरीओ वा दिसाओ—या किसी भी एक दिशा से। अणुदिसाओ वा—या अनुदिशा—विदिशा से आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ।

मूलार्थ—जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हूं या दक्षिण दिशा से आया हूं या पश्चिम एवं उत्तर दिशा से या ऊर्ध्व एवं अधोदिशा से या किसी एक दिशा—विदिशा से इस संसार में प्रविष्ट हुआ हूं—आया हूं।

†"आगओ अहमंसि" का यह अर्थ "मैं आया हूँ" यह अर्थ समझना चाहिए

हिन्दी-विवेचन--आत्मा मे अनन्त चतुष्क अर्थात् १—अनन्त ज्ञान, २—अनन्त दर्शन ३—अनन्त सुख और ४—अनन्त वीर्य है । सिद्ध आत्माओं मे ही नहीं, प्रत्युत ससार मे स्थित प्रत्येक आत्मा मे इन शक्तियों की सत्ता—अस्तित्व मौजूद है । फिर भी अनन्त काल से कर्मप्रवाह मे प्रवहमान होने के कारण यह संसार मे इधर उधर परिभ्रमण करती रहती है, चार गति-चौरासी लाख जीवयोनि मे घूमती-भटकती है - कभी उर्ध्व दिशा मे उडान भरती है, तो कभी अधोदिशा की ओर प्रयाण करती है। कभी पूर्वदिशा की ओर वढती है, तो कभी अस्ताचल–पश्चिमदिशा की ओर जा पहुचती है । कभी उत्तरदिशा की तरफ गतिशील होती है, तो कभी दक्षिण दिशा का रास्ता नापती है। इस तरह कर्मवद्ध आत्मा ससार की इन सव दिशा-विदिशाओं मे घूमती फिरती है। इस भव भ्रमण का मूल कारण कर्म-वन्धन है और कर्मवन्धन का मूल-राग-द्वेप है‡ । जव तक आत्मा मे राग-द्वेप की परिणति है, तव तक वह कर्म-वन्धन से मुक्त नहीं हो सकती । (क्योंकि राग-द्वेप कर्मरूपी वृक्ष का वीज है, मूल है। जव तक वीज या मूल सुरक्षित है, स्वस्थ है, तव तक वृक्ष धराशायी नहीं हो सकता। यदि पूर्व फलित शाखा-प्रशाखाओं को काट भी दिया गया, तव भी मूल के सद्भाव मे वृक्ष का पूर्णतया नाश-विनाश नहीं हो सकता। मूल हरा भरा है। तो वह पुन अकुरित, पल्लवित, पुष्पित एव फलित हो उठेगा । यही स्थिति कर्मवृक्ष की है। पूर्व कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते है, क्षय हो जाते हैं, परन्तु उनका मूल रागद्वेप मौजूद रहता है, इससे उनका समूलत नाश नहीं होता। पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है तो नए कर्मों का वन्ध हो जाता है। इस तरह एक के वाद दूसरा प्रवाह प्रवहमान ही रहता है। अस्तु, कर्म के मूल राग-द्वेप का क्षय किए विना कर्मवृक्ष का समूलत नाश नहीं होता, और उसका पूर्णत नाश हुए विना आत्मा भव-भ्रमण के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकती।)

आस्तिक माने जाने वाले सभी दार्शनिकों का विश्वास है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ज्ञान को स्व-प्रकाशक मानने के सवन्ध मे दार्शनिकों मे एकरूपता परिलक्षित नहीं होती । कतिपय दार्शनिक ज्ञान को स्व प्रकाशक नहीं, पर-प्रकाशक मानते हैं । उनका कहना है कि आत्मा अपने ज्ञान से स्वय को नहीं जानता, परन्तु पर को जानता है जैसे—आख दुनिया के दृश्यमान पदार्थों का अवलोकन करती है, परन्तु अपने आप को नहीं देखती। दीपक सव पदार्थों को प्रकाशित करता है, परन्तु उसके नीचे अधेरा ही वना रहता है—'दिए तले अन्धेरा' की कहावत लोक प्रसिद्ध है । इसी तरह ज्ञान

‡रागो य दोसो य कम्मवीय । उत्तराध्ययन-३२,

भी अपने से इतर सभी द्रव्यों को, पदार्थों को देखता-जानता है। परन्तु अपना परिज्ञान उसे नहीं होता। अपने आप को जानने के लिए इतर ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

परन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान स्व-प्रकाशक भी है और पर-प्रकाशक भी। जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, वह दूसरे पदार्थ का भी अवलोकन नहीं कर सकता। वही ज्ञान अन्य द्रव्यों को भली-भांति देख सकता है जो अपने आपको भी देखता है। जैसे दीपक का प्रकाश अन्य पदार्थों के साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। ऐसा नहीं होता कि दीपक के अतिरिक्त कमरे में स्थित अन्य सभी पदार्थ तो दीपक के उजेले में दृश्य हैं और उस जलते हुए दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक लाएं। जो ज्योतिर्मय दीपक सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, वह अपने आप को भी प्रकाशित करता है। उसे देखने के लिए दूसरे प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस तरह आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को भी जानता है और उससे इतर द्रव्यों का भी परिज्ञान करता है। यों कहना चाहिए कि वह अपने को देखकर ही द्रव्यों या पदार्थों को देखता है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं कि बहिनें भोजन तैयार करके दूसरों को परोसने-खिलाने के पहले स्वयं चाख लेती हैं। यदि उन्हें स्वादिष्ट लगता है, तो वे समझ लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, परिवार के सभी सदस्यों को अच्छा लगेगा। यदि ज्ञान स्वसंवेदक या स्व-प्रकाशक नहीं होता तो बहिनों को यह ज्ञान कैसे होता कि यह भोजन सबको स्वादिष्ट लगेगा। परन्तु ऐसा संवेदन प्रत्यक्ष में होता है और हम प्रतिदिन देखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। वह भोजन को चाख कर जब यह निर्णय कर लेती है कि भोजन ठीक बना है, तो वह अपने इसी निर्णय से जान लेती है कि यह खाद्य पदार्थ सब को पसन्द आजाएगा। जो वस्तु मुझे स्वादिष्ट एवं आनन्दप्रद लगती है, वह दूसरों को भी वैसी प्रतीत होगी। क्योंकि उन में भी मेरे जैसी ही आत्मा है, और वह भी मेरे जैसी अनुभूति एवं संवेदन युक्त है। इस तरह स्व के ज्ञान से पर के ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति होती है। आगमों में भी कहा है—सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता सुख सब को प्रिय है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी भी प्राण, भूत जीव सत्व की हिंसा—घात न करे न दूसरों से कराए और न हिंसा करने वाले का समर्थन करे, इस के अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र में बताया है कि जो अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जानता है और राग-द्वेष में समभाव रखने वाला है, वही पूज्य है। अपनी आत्मा से आत्मा को जानने

का तात्पर्य है कि अपनी ज्ञानमय आत्मा से अपने स्वरूप को जानना-समझना।※ इन सब से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ज्ञानमय है और—ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। उसे अपने बोध के साथ दूसरे का भी परिबोध होता है।

इस से स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जीव का लक्षण बताते हुए आगम मे कहा है कि "जीवो उवओगलक्खणो" अर्थात्—जीव का उपयोग लक्षण है। वह उपयोग १—ज्ञान, २—दर्शन, ३- सुख और ४- दुःख रूप से चार प्रकार का है।† इस प्रकार भी कहा गया है कि 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण है।‡ उक्त दोनों गाथाओं मे सुख-दुःख का सवेदन एव चारित्र तथा तप का आचरण व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण बताया गया है। सुख-दुःख का सवेदन वेदनीय कर्म-जन्य साता-असाता या शुभ-अशुभ सवेदन का प्रतीक होने से समस्त जीवो मे और सदा काल नहीं पाया जाता। क्योंकि यह सवेदना कर्मजन्य है, अत कर्म से आवद्ध ससारी जीवों मे ही इसका अनुभव होता है और वह अनुभूति भी संसार-अवस्था तक ही रहती है। इसी तरह चारित्र एव तप भी सभी जीवों मे सदा-सर्वदा विद्यमान नहीं रहता। क्योंकि चारित्र का अर्थ है—आत्मा मे प्रविष्ट कर्मसमूह को निकालने वाला अर्थात् आत्मभवन मे निवसित कर्मसमूह को खाली करने वाला*। इससे यह भली भाति स्पष्ट होगया है कि चारित्र तभी तक है, जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान है। जिस समय जीव—आत्मारूपी सरोवर कर्मरूपी पानी से सर्वथा खाली हो जाता है तब फिर चारित्र की अपेक्षा नहीं रहती है। अस्तु, चारित्र की आवश्यकता साधक अवस्था मे है, न कि सिद्ध अवस्था मे। इसलिए चारित्र भी व्यवहार की अपेक्षा जीव का लक्षण है। तप चारित्र का ही भेद है, इसलिए वह भी आत्मा मे सदा सर्वदा नहीं पाया जाता। परन्तु ज्ञान, दर्शन और वीर्य ये आत्मा मे सदा सर्वदा पाए जाते हैं। इसलिए वीर्य और उपयोग को आत्मा का निश्चय रूप से लक्षण कहा गया है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का आत्मा मे सदा सद्भाव रहता है। यह बात अलग है कि कर्मों के साधारण या प्रगाढ़ आवरण से आत्मज्योति का या अनत चतुष्क का कुछ या बहुत सा भाग आवृत हो जाए, परतु उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप एव विनाश नहीं होता।

※वियाणिया अप्पगमप्पएण।—दशवैकालिक ९,३, ११,

†नाणेण दसणेण च, सुहेण य दुहेण य। उतराध्ययन,२८, १०

‡नाण च दसण चेव, चारित्त च तवो तहा। वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण॥
—उत्तरा०, २८, ११

*एय चयरित्तकर चारित्त होइ आहिय। उत्तरा०, २८, ३३

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब फिर अनेक जीव मूढ़—मूर्ख क्यों दिखाई देते हैं? यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा ज्ञानयुक्त है। ज्ञान के अभाव में उसका अस्तित्व रह ही नहीं सकता। जैसे सूर्य की किरणें एवं प्रखर प्रकाश सदा उसके साथ रहता है। जब बादल छाजाते हैं या राहु का विमान उसे प्रच्छन्न कर लेता है तब भी रजत-रश्मियें उस सहस्ररश्मि से अलग नहीं होतीं उनका अस्तित्व उस समय भी बना रहता है। परन्तु बादलों एवं राहु के विमान का कालिमामय गहरा आवरण होने से सहस्ररश्मि-सूर्य का प्रखर प्रकाश हमें दिखाई नहीं देता। इतना होने पर भी उसके अस्तित्व का पता लगता रहता है। चाहे कितने ही घन घोर बादल क्यों न छाए हों उनमें से छन-छन कर आता हुआ मन्द २ प्रकाश दिन की प्रतीति करा ही देता है। इसी तरह ज्ञानावरणीयकर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के आवरण के कारण आत्मा का अनन्त ज्ञान भानु प्रच्छन्न रहता है। कभी-कभी यह आवरण इतना गहरा हो जाता है कि आत्मा अपने पूर्व स्थान को ही भूल जाती है, अनेक जीवों की स्मरणशक्ति या जानने-पहचानने की ताकत बहुत कम रह जाती है। परन्तु आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। उसकी थोड़ी बहुत झलक पड़ती ही रहती है। अनन्त काल के लम्बे एवं विस्तृत जीवन में एक भी समय ऐसा नहीं आता कि ज्ञानदीप सर्वथा बुझ जाए। इसी कारण उसका लक्षण उपयोग बताया गया है। क्योंकि वह सदा सर्वदा आत्मा में रहता है और आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। यह बात अलग है कि ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध एवं क्षयोपशम के कारण आत्मा में उसका अपकर्ष एवं उत्कर्ष होता रहता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है, तब उसका अपकर्ष दिखाई देता है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दिखाया है कि ज्ञान का अधिक भाग प्रच्छन्न हो जाने के कारण कई जीवों को इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व दिशा से आया हूं या पश्चिम आदि दिशा विदिशाओं से आया हूं।

'दिसाओ' इस पद का अर्थ है—दिशाएं। दिशाएं तीन प्रकार की होती हैं—१—ऊर्ध्वदिशा २—अधोदिशा और ३—तिर्यग्दिशा। ऊपर की ओर की ऊर्ध्व दिशा नीचे की ओर को अधो-दिशा और इन उभय दिशाओं के मध्य भाग को तिर्यग्दिशा कहते हैं। तिर्यग्दिशा—पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा के भेद से चार प्रकार की है। जिस ओर से सूर्य उदित होता है, उसे पूर्वदिशा कहते हैं। जिस ओर सूर्य अस्त होता है उसे पश्चिमदिशा कहते हैं। सूर्य के सम्मुख खड़ा होने पर बांए हाथ की ओर उत्तर दिशा है और दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण-

दिशा है। इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा मे उक्त चार तिर्यग् दिशाओं को मिला देने से ६ दिशाए होती है। इनके अतिरिक्त चार विदिशाए भी होती हैं, जिन्हे सूत्रकार ने 'अणुदिसाओ' पद से अभिव्यक्त किया है, जिन्हें १-ईशान कोण, २-आग्नेय कोण, ३-नैर्ऋत्य कोण और ४-वायव्य कोण कहते हैं। उत्तर और पूर्वदिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहते है। पूर्व एव दक्षिणदिशा के बीच का कोण आग्नेय कोण के नाम से जाना—पहचाना जाता है। दक्षिण और पश्चिम का मध्य कोण नैर्ऋत्य कोण के नाम से प्रसिद्ध है। और पश्चिम तथा उत्तर दिशा के बीच का कोण वायव्य कोण के नाम से व्यवहृत है। मेरु पर्वत को केन्द्र मानकर इन सभी दिशा-विदिशाओं का व्यवहार किया जाता है। इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा, चार तिर्यग् दिशाए और चार विदिशाए कुल मिला कर २+४+४=१० होती है। परतु निर्युक्तिकार ने इस मान्यता से अपना भिन्न मत भी उपस्थित किया है। उन्होंने सर्वप्रथम दिशा के द्रव्य और भाव दिशा ये दो भेद किए है और तदनन्तर दोनों के अठारह-अठारह भेद किए हैं। १८ द्रव्य दिशाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चार दिशाए हैं। इन चारों के अतराल मे चार विदिशाए हैं। चार दिशा और चार विदिशा इन आठ के मध्य मे आठ और अतर हैं। इस प्रकार ये सोलह दिशाए बनती हैं और उक्त १६ मे ऊर्ध्व और अधो दिशा, ये दो दिशाएं मिला दे तो कुल अठारह दिशाए बनती है। ये समस्त द्रव्य दिशाए हैं।*

निर्युक्तिकार ने भाव दिशाए भी १८ बताई हैं। मनुष्य, तिर्यञ्च, काय, वनस्पति देव और नारक इनकी अपेक्षा से भाव दिशा के १८ भेद किए है। यथा—मनुष्य चार प्रकार के हैं—१-सम्मूर्च्छिम मनुष्य, २-कर्मभूमि मनुष्य, ३-अकर्मभूमि मनुष्य, और ४-अंतर्दीपज मनुष्य। तिर्यञ्च के भी ४ भेद होते है—१-द्वीन्द्रिय, २-त्रीन्द्रिय, ३-चतुरिन्द्रिय

---

*जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य णिमित्त ।
जत्तोमुहो य ठाई सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥
दाहिण-पासमि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेण ।
एयासिमन्तरेण अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥
एयासि चेव अट्ठण्हमतरा अट्ठ हुति अण्णाओ ।
सोलस-सरीर उस्सय बाहल्ला सव्वतिरिय दिसा ॥
हेट्ठापायतलाण अहोदिसा सीसउवरिया उड्ढा ।
एया अट्ठारसवी, पण्णवादिसा मुणेयव्वा ॥

—आचाराग निर्युक्ति, गाथा ५१-५४

और ४-पञ्चेन्द्रिय । काय के भी चार भेद हैं—१—पृथ्वी काय २—अप् काय, ३—तजस्काय और ४-वायुकाय। वनस्पति भी चार तरह की होती है–१ अग्रबीज २-मूलबीज ३-स्कंध बीज और पर्वबीज। इसतरह चतुर्विध मनुष्य चतुर्विध तिर्यञ्च, चतुर्विध काय और चतुर्विध वनस्पति कुल मिला कर ४+४+४+४=१६ भेद हुए और उक्त सोलह में १-नारक और २-देव मिलाने से १८ भेद होते हैं। इन सब को भाव दिशा कहा है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि कर्मों से आबद्ध जीव इन्हीं योनियों में यत्र-तत्र परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए इनको भाव दिशा कहा है† ।

"अन्नयरीओ वा दिसाओ" का अर्थ है—अन्यतर दिशा से । इसका तात्पर्य इतना ही है कि पूर्व-पश्चिम आदि उक्त दिशाओं में से किसी भी एक दिशा से आया हूँ। उक्त वाक्य से शास्त्रकार ने पुनः उन सभी दिशाओं की ओर समुच्चय रूप से संकेत कर दिया है। या यों भी कह सकते हैं कि उक्त समस्त दिशाओं के बीच किसी भी दिशा से इस भाव को प्रस्तुत वाक्य से अभिव्यक्त किया है।

'आगओ अहमंसि" वाक्य का अर्थ है—मैं आया हूँ । सूत्रकार ने उक्त पदों को उपन्यस्त करके जैन दर्शन की आत्मा संबंधी मान्यता की ओर संकेत कर दिया है। जैन दर्शन आत्मा को अनन्त और लोक के एक देश में स्थित या संसारी आत्मा को शरीर परिमाण मानता है। कुछ दार्शनिक आत्मा को एक और सर्वव्यापक मानते हैं। वस्तुतः ऐसा है नहीं इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि 'मैं आया हूँ यदि ऐसा मान लिया जाए कि दुनिया में एक ही आत्मा है और वह सर्व व्यापक है तो 'मैं किस दिशा से आया हूँ तथा किस दिशा या गति में जाऊंगा ?" ऐसा प्रयोग घट नहीं सकता। फिर पुनर्जन्म एवं बंध-मोक्ष सुख-दुःख आदि अवस्थाएं भी घटित नहीं हो सकेंगी। क्योंकि जब आत्मा सर्वव्यापक है तो वह नारक, देव, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि सभी गतियों में स्थित है, फिर एक गतिका आयुष्य पूर्ण करके दूसरी गति में जाने की बात एवं जन्म-मरण की बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। जब वह सब जगह व्याप्त है तब तो वह बिना मरे या जन्मे ही यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां जाना चाहे पहुंच जाएगा। न उसे गति करने की आवश्यकता है और न जन्म लिया करने की ही जरूरत है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। व्यवहार में भी हम स्वयं चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते हैं। यही स्थिति पुनर्जन्मके सम्बन्ध में समझनी चाहिए। संसारी आत्मा कार्मण शरीर

---

† मणुया तिरिया काया तहग्गबीया चउक्कगा चउरो ।
देवा नेरइया वा अट्ठारस होंति भावदिसा ॥

—आचाराङ्ग निर्युक्ति गाथा ६

--के साधन से एक गति से दूसरी गति की यात्रा तय करती है। इस से स्पष्टत प्रमाणित होता है कि आत्मा सर्व व्यापक नहीं, देश व्यापक है। वह लोक के एक देश में स्थित है या यों भी कह सकते हैं कि संसारी आत्मा अपने शरीर परिमाण स्थान में स्थित है और मुक्त आत्माएं सिद्धशिला में—जो ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है और जिस की एक करोड़ ब्यालीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ उन्नपचास योजन से कुछ अधिक परिधि है, उसके एक गाऊ अर्थात् दो मील के ऊपर के छठे हिस्से मे लोक के अन्तिम प्रदेश को स्पर्श किए हुए स्थित हैं। इस तरह सिद्ध या ससारी कोई भी आत्मा समस्त लोक व्यापी नहीं, बल्कि लोक के एक देश मे स्थित है।

जैन दर्शन ने भी संसार मे स्थित सर्वज्ञ एव सिद्धों की आत्मा को एक अपेक्षा से सर्व व्यापक माना है। वह अपेक्षा यह है कि जब केवल ज्ञानी के आयुष्य के अन्तिम भाग मे वेदनीय कर्म सब से अधिक और आयुष्य कर्म थोडा रह जाता है, तो उस समय उक्त दोनों कर्मों और आयुष्य कर्म मे सन्तुलन लाने के लिए वे केवली समुदघात करते हैं। उस समय वे पहले समय मे अपने आत्मप्रदेशों को दण्डाकार फैलाते हैं, दूसरे समय में उन्हें कपाट के आकार में बदलते हैं, तीसरे समय मे मन्थनी के रूप मे अपने आत्मा को फैलाते हैं और चौथे समय मे वे अपने आत्म-प्रदेशों को सारे लोक मे फैला देते हैं। उनके आत्म-प्रदेश लोक के समस्त आकाश प्रदेशों को स्पर्श कर लेते हैं, पाचवें समय मे वे पुन. अपने आत्म प्रदेशों को समेटने लगते हैं और उन्हें मथनी की स्थिति में ले आते हैं, छटे समय मे फिर से कपाट और सातवें समय में दण्ड के आकार मे ले आते हैं, एवं आठवें समय में अपने शरीर में स्थित हो जाते हैं। यह समुदघात सभी सर्वज्ञ नहीं करते, वे ही केवल ज्ञानी करते हैं, जिनका वेदनीय कर्म आयुष्य कर्म से अधिक रह गया है, और उसे थोड़े से समय मे ही क्षय करना है। इस तरह वे अपने आत्म-प्रदेशों को लोक में सर्वत्र फैला देते हैं और तुरन्त समेट भी लेते है। इस अपेक्षा से वे सर्वव्यापी भी हैं परन्तु वस्तुत वे भी सदा-सर्वदा के लिए सर्वव्यापी नहीं हैं*।

---

*केवलीण चत्तारि कम्मसा अपलिक्खीणा भवति, तजहा वेयणिज्ज भाउय, णाम, गुत्त सव्ववहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ, सव्वत्थोवे से आउए कम्मे भवइ, विसम सम करेइ वधणेहिं ठिईहि य, विसमसमकरणयाए वधणेहिं ठिईहि य एव खलु केवली समोहणति एव खलु समुग्घायं गच्छन्ति। —उववाई सूत्र, सिद्ध स्वरूप ४०

पढ़मे समए दड करेइ, बिइए समए कवाड करेइ, तइए समय मथ करेइ, चउत्थे समए लोयं पूरइ, पचमे समए लोय पडिसाहरइ, छट्ठे समए मथपडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाड साहरइ, अट्ठमे समऐ दड पडिसाहरइ तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।—उववाई सूत्र वही।

सर्वज्ञ एवं सिद्धों को एक दूसरी अपेक्षा से भी सर्वव्यापक माना गया है। वह है— ज्ञान की अपेक्षा। क्योंकि वे तीनों लोक एवं तीनों काल में स्थित सभी द्रव्यों को जानते देखते हैं। लोक का एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जिसे वे नहीं जानते हों। अस्तु, ज्ञान की अपेक्षा वे सर्वव्यापक हैं अर्थात् समस्त लोक के द्रव्यों एवं भावों को जानते-देखते हैं। परन्तु आत्म प्रदेशों की अपेक्षा से तो वे भी एक देश व्यापी हैं। क्योंकि आत्म प्रदेशों की अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापी मानने से बन्ध एवं मोक्ष नहीं घट सकता। फिर तो वह संसार एवं मोक्ष में सर्वत्र स्थित रहेगा ही, तब उसे मुक्ति पाने के लिए त्याग-तप एवं धर्म-कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। अतः आत्मा सर्वव्यापक मानना युक्तिसंगत एवं अनुभवगम्य नहीं कहा जा सकता है।

आत्मा को एक मानना भी यथार्थ से परे है। क्योंकि आत्मा को एक मान लेते हैं, तो फिर संसारी जीवों में जो कर्मजन्य विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह नहीं होनी चाहिए। संसार में परिलक्षित होने वाले अनन्त अनन्त जीवों की आत्मा एक है, तो फिर कोई सुखी कोई दुःखी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई कमजोर, कोई ताकतवर कोई दुबला कोई भारी शरीर वाला दिखाई देता है, यह भेद भी नहीं रहना चाहिए। फिर तो एक के सुखी होते ही सारा संसार सुखी हो जाना चाहिए एवं एक के दुःखी होते ही सर्वत्र दुःख की काली घटाएं छा जानी चाहिए। परन्तु, ऐसा होता नहीं। व्यवहार में सबके सुख-दुःख अलग २ दिखाई देते हैं। एक के सुखी होने पर सारा संसार तो क्या सारा गाँव भी सुखी नहीं होता और एक के दुःखी होने पर सभी मुसीबत एवं वेदना के दलदल में नहीं फंसते। जगत् के सभी जीव अपने अपने शुभ अशुभ कर्म के अनुरूप सुख दुःख का संवेदन करते हैं। अतः सभी आत्माएं एक नहीं, व्यक्तिशः विभिन्न हैं अनेक हैं अनन्त हैं।

"मैं आया हूँ" प्रस्तुत वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैन दर्शन एकांत रूप से आत्मा को एक एवं सर्वव्यापक नहीं मानता है। सभी आत्माएं पृथक् २ हैं, सबका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और लोक के एक देश में स्थित हैं। इसी कारण वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जा सकती हैं। यदि आत्मा एक एवं सर्व व्यापक हो तब तो एक आत्मा के चलने पर सभी चलने लगेंगी और एक के ठहरने पर सभी स्थित हो जाएंगी। इस तरह सांसारिक आत्माओं में होने वाला गमनागमन एवं हरकतें ही बंद हो जाएंगी और फिर 'मैं आया हूँ' आदि शब्दों का प्रयोग ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगा। परंतु ऐसा होता नहीं, यह प्रयोग वास्तविक है। और इसी से यह सिद्ध होता है कि आत्माएं अनन्त हैं और लोक के एक देश में स्थित हैं।

योग दृष्टि से चिन्तन— जैन और वैदिक श्रमण परंपराओं में योग शब्द का

प्रयोग मिलता है। शब्द साम्यता होते हुए भी दोनों सम्प्रदायों मे योग शब्द के किए जाने वाले अर्थ मे एक रूपता नहीं मिलती। दोनों इसका अपने अपने ढंग से स्वतन्त्र अर्थ करते हैं। जैन दर्शन मे योग शब्द का प्रयोग मन, वचन और काया की प्रवृत्ति मे किया गया है। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया को ही योग कहा गया है और मुमुक्षु के लिए आगमों मे यह आदेश दिया गया है कि अपने मन, वचन और शरीर के योगों को अशुभ कामों से, पाप कार्यों से हटा कर शुभ कार्य में या सयम मार्ग मे प्रवृत्त करें। इसे आगमिक परिभाषा मे गुप्ति और समिति कहते हैं। जैन दृष्टि से मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। और पातञ्जल योग दर्शन मे योग शब्द का समाधि अर्थ किया है। पातञ्जल योग दर्शन वैदिक सप्रदाय का योग विषयक सर्वमान्य ग्रथ है। प्रस्तुत ग्रथ मे योग की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—"चित्त की वृत्तियों का निरोध करना अथवा उन की प्रवृत्ति को रोकना योग है†।

दोनों परम्पराओं की मान्य परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में योग शब्द का प्रयोग चित्त वृत्ति के निरोध मे नहीं, बल्कि मन, वचन एव शरीर के व्यापार मे किया गया है। इस त्रियोग मे चिंतन, मनन की प्रधानता रहती है। इस योग पद्धति से यदि प्रस्तुत सूत्र के आध्यात्मिक रहस्य पर गहराई से सोचा-विचारा एवं चिंतन-मनन किया जाए तो साधना के क्षेत्र मे इस सूत्र का बहुत महत्त्व बढ जाता है। मुमुक्षु के लिए यह सूत्र बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत सूत्र के वर्णनक्रम से कि सूत्रकार ने सर्वप्रथम पूर्वादि चार दिशाओं का और तदनतर ऊर्ध्व और अधो इन दो दिशाओं का और अंत मे विदिशाओं का क्रमश वर्णन किया है। पूर्व आदि सभी दिशाओं का व्यवहार मेरु पर्वत को केंद्र मानकर किया जाता है परतु इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी चिंतन कर सकता है। जब ध्यानस्थ व्यक्ति एक पदार्थ पर दृष्टि रखकर मानसिक चिंतन करता है, तब वह अपनी नाभि को केन्द्र मानकर सोचता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा—विदिशा से आया हूँ। इस तरह चिंतन—मनन मे योगों की प्रवृत्ति होने पर मन मे एकाग्रता आती है और इससे आत्मा मे विकास होने लगता है। और चिंतन की गहराई मे गोते लगाते २ ध्यानस्थ आत्मा को विशिष्ट बोध भी हो जाता है। यदि चिंतन—मनन का प्रवाह एक रूप से निर्बाध गति से सतत चलता रहे और विचारों मे स्वच्छता एव शुद्धता बनी रहे तो उसे यह भी परिज्ञात हो जाता है कि मैं किस दिशा से आया हूँ। फिर उस से यह रहस्य छिपा नहीं रहता। और दिशा सम्बन्धी आगमन के रहस्य का आवरण अनावृत होते ही उसकी आत्मा अपने स्वरूप में रमण करने लगती है, साधना एवं ध्यान

† योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: पातञ्जल योगदर्शन १, २,

या चिन्तन-मनन में संलग्न हो जाती है। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इससे विचारों में, चिन्तन में एवं साधना के प्रवृत्ति-क्षेत्र में एकाग्रता एवं एकरूपता आती है, ज्ञान का विकास होता है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि संसार में ऐसे भी अनेक जीव हैं, जिनको ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता के कारण इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूं। ऐसे जीवों को 'किस दिशा से आया हूं' इसके अतिरिक्त और जो जिन अनेक बातों का परिज्ञान नहीं होता है, उन का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसि? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि? ॥४॥

छाया—एवमेकेषां नो ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिकः, कोऽहमासम्? को वा इतश्च्युत इह प्रेत्य भविष्यामि?

पदार्थ—एवमेगेसिं—इसी प्रकार किन्हीं जीवों को। णो णायं भवइ—यह ज्ञान नहीं होता। मे आया—मेरी आत्मा। उववाइए अत्थि—औपपातिक—उत्पत्तिशील है। या, मे आया—मेरी आत्मा। उववाइए नत्थि—उत्पत्तिशील-जन्मान्तर में संचरण करने वाली नहीं है। के अहं आसि—मैं (पूर्व भव में) कौन था? वा—अथवा। इओ चुए—यहां से च्युत हो कर अर्थात्-यहां के आयुष्कर्म को भोग कर। इह—इस संसार में। पेच्चा—परलोक जन्मान्तर में। के भविस्सामि—क्या बनूंगा?

मूलार्थ—इसी प्रकार—जैसा कि पूर्व सूत्र में कहा गया है कि किन्हीं जीवों को इस बात का परिबोध-ज्ञान नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक अर्थात्-जन्मान्तर में एक योनि को छोड़ कर दूसरी योनि में उत्पन्न होने वाली है या नहीं? मैं इस जन्म के पूर्व कौन था? यहां से मर कर भविष्य में क्या बनूंगा अर्थात् किस गति में जन्म ग्रहण करूंगा?

हिन्दी विवेचन—आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले दर्शनों का यह विश्वास है कि संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म से आबद्ध होने के कारण अनन्त-अनन्त काल से जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान है। कर्म के आवरण के कारण ही यह अपने स्वरूप

स्थित अनन्त शक्तियों के भण्डार को देख नहीं पाती है। कई एक आत्माओं पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण कभी-कभी इतना गहरा छा जाता है कि उन्हे अपने अस्तित्व तक का भी परिबोध नहीं होता। उस समय वह यह भी नहीं जानता कि मैं उत्पत्तिशील-एक गति से दूसरी गति मे जन्म लेने वाला, विभिन्न योनियों मे विभिन्न शरीरों को धारण करने वाला हूँ या नहीं ? इस जन्म के पहले भी मेरा अस्तित्व था या नहीं ? यदि था तो मैं किस योनि या गति मे था ? मैं यहां से अपने आयुष्य कर्म को भोगकर भविष्य में कहा जाऊ गा ? किस योनि मे उत्पन्न होऊ गा ? ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ़ आवरण से आवृत्त यह आत्माए उक्त बातों को नहीं जानपाती, उक्त जीवों की इसी अबोध दशा को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे अभिव्यक्त किया है।

ससार में दिखाई देने वाले प्राणियों मे आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है या नहीं अथवा यों कहिए कि आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न दार्शनिकों में पुरातन काल से चला आ रहा है। जबकि आत्मा को चेतन तो सभी मानते हैं — यहा तक कि चार्वाक जैसे नास्तिक भी उस को चेतन मानते हैं। परन्तु, दार्शनिकों मे मतभेद इस बात का है कि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है या नहीं ? कुछ विचारक पांच भूतों के मिलन से चेतना का प्रादुर्भाव मानते है और उनके नाश के साथ चेतना या आत्मा का नाश मानते हैं। उनके विचार मे आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। परन्तु कुछ विचारक आत्मा को पाच भूतों से अलग मानते हैं और उस के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसी विचारभेद के आधार पर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद इन दो वादों या दर्शनों की परपरा सामने आई। इन उभय वादों का विचार प्रवाह कब से प्रवहमान है, इसका पता लगा सकना ऐतिहासिकों की शक्ति से बाहिर है। फिर भी आगमों एव दर्शन ग्रथों के अनुशीलन- परिशीलन से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराए हजारों-लाखों वर्षों से प्रवहमान हैं।

यह हम देख चुके हैं कि नास्तिक दर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानता है। परन्तु, आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। और इस तथ्य को भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार ऊर्ध्व, अधो या तिर्यग् दिशाओं में जन्म लेता है। स्वर्ग और नरक की निरापद–सुखद एवं भयावह-दुःखद पगडण्डियों को तय करता है। और तप, ध्यान, स्वाध्याय एवं सयम आदि आध्यात्मिक साधना के द्वारा अनत काल से बधते आरहे कर्म बधनों को समूलत उच्छेद करके निर्वाण—मुक्ति को भी प्राप्त करता है। परन्तु नास्तिकवाद इस बात को नहीं मानते। उनकी दृष्टि मे यह शरीर ही आत्मा है। इसके नाश होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। शरीर के अतिरिक्त अपने कृत कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि

आदि योनियों में भ्रमन वाली तथा कर्म बंधन को तोड़कर मुक्त होने वाली स्वतन्त्र आत्मा का कोइ अस्तित्व नहीं है। जैन दर्शन को यह मत मान्य नहीं है। आगमों के प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों एवं आत्म-अनुभव से सिद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला सब से बलवान प्रमाण स्वानुभूति ही है। व्यक्ति को किसी भी समय में अपने अस्तित्व में संदेह नहीं होता। और आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति इसे प्रतिक्षण होती रहती है। जब कोई नास्तिक व्यक्ति यह कहता है कि "मैं नहीं हूँ" तो उसके इस उच्चारण में यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि मेरा (आत्मा का) अस्तित्व है। "मैं नहीं हूँ इस वाक्य में 'मैं' का अभिव्यक्त करने वाला कोई स्वतंत्र व्यक्ति है। क्योंकि जड़ में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की ताकत है नहीं और यह केवल शरीर भी [illegible] को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यदि केवल शरीर में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की शक्ति होती तो यह शरीर तो मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहता है। परंतु चेतना के अभाव में वह अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। तो इस से स्पष्ट है कि 'मैं' को अभिव्यक्त करने वाली शरीर में स्थित शरीर से अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है और वही शक्ति चेतना है, आत्मा है। तो 'मैं नहीं हूँ' इस वाक्य से भी आत्मा के अस्तित्व की ही सिद्धि होती है। आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट बोध होने पर भी उससे इन्कार करना तो ऐसा है— जैसे कि लोगों में यह ढिंढोरा पीटना कि मेरी माता-वन्ध्या है' १, यह वाक्य सत्य से परे है, इसी तरह मैं नहीं हूं या 'मेरी आत्मा का अस्तित्व नहीं है' कहना भी सत्य एवं अनुभव से विपरीत है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे शरीर की अवस्थाएं प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। बाल्यावस्था से [illegible] नकाल सर्वथा भिन्न नजर आता है और बुढ़ापा बाल एवं यौवन दोनों कालों का ही पछाड़ देता है, उस समय शरीर की अवस्था एकदम बदल जाती है। शरीर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन होने पर भी तीनों काल में किए गए कार्यों की अनुभूति में कोई अंतर नहीं आता। यदि शरीर ही आत्मा है या आत्मा क्षणिक है तो शरीर के परिवर्तन के साथ अनुभूति में भी परिवर्तन आना चाहिए। पुराने शरीर की समाप्ति के साथ-साथ पुरातन अनुभवों का भी जनाजा निकल जाना चाहिये। परंतु ऐसा होता नहीं है। तीनों काल में शारीरिक परिवर्तन होने पर भी आत्मानुभूति में एकरूपता बनी रहती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनंत-अनंत भूतकाल में अनंत बार अभिनव-अभिनव शरीरों को धारण करने पर भी आत्मा के अस्तित्व में कोई अंतर नहीं आया और न भविष्य में हो आने वाला है। जब तक रागा-

द्वेष एवं कर्म-बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक शरीरों का परिवर्तन होता रहेगा। एक काल के बाद दूसरे काल में या एक जन्म के बाद दूसरे जन्म मे शरीर बदल जाएगा, परंतु इसके साथ आत्मा मे परिवर्तन नहीं आता। वह त्रिकाल मे एक रूप रहता है। इस से आत्मा का अस्तित्व स्पष्टत. प्रमाणित होता है। इसमे शंका — संदेह को जरा भी अवकाश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'एवं' शब्द 'इसी प्रकार' अर्थ का बोधक है। यह पद पिछले सूत्र से सम्बद्ध है। जैसे पिछले सूत्र मे बताया गया है कि 'किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता।' उसी तरह प्रस्तुत मे भी 'एगमेगेसिं' आदि वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि कई एक जीवों को यह परिज्ञान नहीं होता कि 'मैं उत्पत्तिशील हूँ या नहीं ? मैं कहा से आया हू और कहां [illegible]गा ?" इत्यादि। इसी उद्देश्य को लेकर सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे 'एवं' पद का प्रयोग किया है।

'उववाइए' का अर्थ है औपपातिक। औपपातिक शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है। देव और नारकी को भी औपपातिक कहते हैं। देव शय्या और नरक-कुम्भी-जिस मे देव और नारकी जन्म ग्रहण करते हैं— उसे उपपात कहते है। उपपात से उत्पन्न प्राणी औपपातिक कहलाते हैं। उक्त व्याख्या के अनुसार औपपातिक शब्द देव और नारकी का परिचायक है। परन्तु जब उक्त शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हैं।"

"उपपात प्रादुर्भावो जन्मान्तरसक्रांति उपपात भव औपपातिक —

—शीलाकाचार्य

तो इस का अर्थ हुआ–उत्पत्ति-शील या जन्मातर मे संक्रमण करने वाला। प्रस्तुत प्रकरण मे 'औपपातिक' दोनों अर्थों मे प्रयुक्त किया जा सकता है। फिर भी शीलाकाचार्य आदि सभी टीकाकारों ने प्रस्तुत प्रकरण मे उक्त शब्द को दूसरे अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है।

प्रस्तुत सूत्र "मे एगेसिं णो णायं भवति" ऐसा उल्लेख किया गया है। इससे यह भलीभाति स्पष्ट हो जाता है कि ससार के सभी जीवों को बोध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। बहुत से जीवों को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण इस बात का परिबोध हो जाता है कि "मैं उत्पत्ति-शील हूँ। मैं अमुक गति से आया हू और यहां से मरकर अमुक गति मे जाऊंगा। मेरी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इत्यादि। इससे यह प्रश्न उठता है कि जिन जीवों को उक्त बातों का परिज्ञान होता है, वह नैसर्गिक-स्वभावतः होता है या किसी निमित्त या साधन विशेष से होता है। इस प्रश्न का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

मूलम्–से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा। तंजहा–पुरत्थिमाओ वा दि–

साओ आगओ अहमंसि, जाव-अण्णयरीओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं ॥५॥

छाया—स यत् पुनर्जानीयात् सह सन्मत्या (स्वमत्या), परव्याकरणेन अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा तद्यथा-पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि यावत् अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वा आगतो अमहस्मि। एवमेकेषां यदि ज्ञातं भवति-अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, योऽस्या दिशोऽनुदिशो वा अनुसंचरति, सर्वस्या दिशोऽनुदिशः सोऽहम्।

पदार्थ—से—वह ज्ञाता। पुण—यह पद वाक्य सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। सहसम्मइयाए—सम्मति या स्वमति। परवागरणेणं—तीर्थंकर के उपदेश से। सह—साथ। अ-थवा। अन्नेसिं अंतिए सोच्चा—तीर्थंकरों से अतिरिक्त अन्य उपदेष्टाओं से सुनकर। जं—जो जाणेज्जा—जानता है। तंजहा—वह इस प्रकार है। पुरत्थिमाओ वा दिसाओ—पूर्व दिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूं। जाव—यावत्—यह पद यहां अपठित अवशिष्ट पदों का सूचक है। अण्णयरीओ—विदिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूं। एवमेगेसिं—इसी प्रकार किन्हीं जीवों को। जं—जो। णायं—ज्ञात। भवति—होता है, वह यह है कि मे—मेरा। आया आत्मा। उववाइए—औपपातिक—जन्मान्तर में संक्रमण करने वाला। अत्थि—है। जो इमाओ दिसाओ—जो अमुक दिशा। वा—अथवा। अणुदिसाओ—विदिशा में। एव सव्वाओ दिसाओ—सभी दिशाओं। वा—अथवा। अणुदिसाओ—विदिशाओं में। अणुसंचरइ—भ्रमण करता है। सोऽहं—मैं वही हूं।

मूलार्थ—वह ज्ञाता स्वमति या सन्मति से तीर्थंकर के उपदेश से अथवा किसी अन्य अतिशय ज्ञानी से सुनकर यह जान लेता है कि मैं पूर्व दिशा से आया हूं यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हूं। और वह यह भी परिज्ञात कर लेता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है। इस के अतिरिक्त वह इस बात को भी भली भांति समझ लेता है कि अमुक दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील जो आत्मा है, वह मैं ही हूं।

हिन्दी विवेचन—

ज्ञानावरणीय आदि कर्म से आवृत यह आत्मा अनंत काल से अज्ञान अंधकार में भटक रही है, संसार मे इधर-उधर ठोकरे खा रही है और जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान है। किन्तु जब आत्मा शुभ विचारों मे परिणति करता है, सत्कार्य मे प्रवृत्त होता है, अपने चिंतन को नया मोड़ देता है और साधना के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म के पर्दे को अनावृत्त करने का प्रयत्न करता है और फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब आत्मा मे अपने स्वरूप को जानने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधना के द्वारा एक दिन वह अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करने मे सफल भी हो जाता है और वह इन सभी बातों को जान लेता है कि मैं कौन हूं ? कहा से आया हूँ ? और कहा जाऊंगा ? इत्यादि।

आत्मा के उक्त विकास मे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अंतरंग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा अपने आप को पहचान ही नहीं सकता। परंतु इस स्थिति तक पहुंचने मे इस अतरंग कारण के साथ कुछ बाह्य साधन या बहिरग कारण भी सहायक है। उनका सहयोग भी आत्मविकास के लिए जरूरी है। अस्तु अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अ तर ग एव बाह्य दोनो निमित्तों की अपेक्षा है। दोनों साधनों की प्राप्ति होने पर अज्ञान का पर्दा आवृत्त होने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है और उस उज्जवल-समुज्ज्वल ज्योति मे आत्मा अपने पूर्व भव मे किये सन्नी पचेन्द्रिय — पशु-पक्षी एव मनुष्य के भवों को देखने लगता है। वह भली भाति जान लेता है कि मैं पूर्व भव मे कौन था ? किस योनि मे था ? वहा से कब चला ? इत्यादि बातों का उसे परिज्ञान हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति मे कारणभूत अतरग एवं बहिरग साधनों का ही प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन किया गया है। जब कि उक्त कारणों को अतरग और बहिरग दो भागों मे स्पष्ट रूप से विभक्त नहीं किया गया है। फिर भी प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान प्राप्ति के जो साधन बताए हैं, वे साधन अतरग एव बहिरग दोनों तरह के हैं। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान प्राप्ति मे तीन बातों को निमित्त माना है— १ सन्मति या स्वमति, २ पर—व्याकरण और ३ परेतर—उपदेश।

सन्मति शब्द दो पदों के सुमेल से बना है— सद्—मति। सद् शब्द प्रशसार्थक है और मति शब्द ज्ञान का बोधक है। साधारणत ज्ञान प्रत्येक प्राणी मे पाया जाता है। क्योंकि वह आत्मा का लक्षण है, गुण है। उसके अभाव मे आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अत सामान्यत ज्ञान का अस्तित्व समस्त आत्माओं मे है, परतु यह बात अलग है कि कुछ आत्माओं में सम्यग् ज्ञान है और कुछ मे मिथ्या। मति-श्रुति ज्ञान भी ज्ञान के अवान्तर भेद हैं। ये यदि सम्यग् हों तो इनसे भी आत्मा के वास्तविक तत्त्वों का परिबोध होता है, ससार एव मोक्ष के मार्ग का परिज्ञान होता है। मति-श्रुत

य सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते हैं। परंतु सामान्य मति श्रुत से, मैं पूर्व भव में कौन था, इत्यादि बातों का बोध नहीं होता। इसलिए सामान्य मति-श्रुत ज्ञान को 'सन्मति' नहीं कहते, प्रत्युत जाति स्मरण, (पूर्व जन्मों को देखने वाला ज्ञान, मति श्रुत ज्ञान का विशिष्ट प्रकार), अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानों का संग्राहक है और यह विशिष्ट ज्ञान सभी जीवों को नहीं होते हैं।

'सन्मति' ज्ञान प्राप्ति का अंतरंग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है या यों कहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है, उतना ही आत्मा में अस्तित्व रूप में स्थित ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। जब पूर्णत: आवरण हट जाता है, तो आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन विशिष्ट ज्ञानों के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को एवं पूर्व भव में वह किस योनि या गति में था? जान लेता है। उक्त ज्ञान के द्वारा वह यह भलीभांति जान लेता है कि मैं किस दिशा- विदिशा से आया हूँ और मेरा यह आत्मा औपपातिक (उत्पत्तिशील) है तथा जो दिशा विदिशाओं में परिभ्रमण करता रहा है, वह मैं ही हूँ।

'संमइयाए' पद के संस्कृत में दो रूप बनते हैं — १ सन्मत्या और २ स्वमत्या 'सन्मति' के विषय में ऊपर विचार कर चुके हैं। अब जरा 'स्वमति' के अर्थ पर सोच-विचार लें।

स्वमति शब्द भी स्व+मति के संयोग से बना है। स्व का अर्थ आत्मा होता है और मति शब्द ज्ञान का परिचायक है। अत: 'स्वमति' का अर्थ हुआ आत्मज्ञान। साधारणतया सम्यग् ज्ञान को आत्मज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा के ऊपर लगे कर्म रज को दूर करने में सहायक है या यों कहिए कि जो ज्ञान मोक्ष मार्ग का पथ प्रदर्शक है, वस्तु का सही निर्णय करने में सहायक है वह आत्मज्ञान है। इस तरह मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक के सभी ज्ञान आत्मज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु सूत्रकार को यह सामान्य अर्थ इष्ट नहीं है। वह यहां आत्म ज्ञान से सामान्य मति एवं श्रुत ज्ञान को आत्म ज्ञान के रूप में नहीं स्वीकार करते। क्योंकि साधारणत: ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें परोक्ष ज्ञान माना है। परंतु विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। जहाँ इन्द्रिय की पहुंच नहीं है या उनमें जहां कि रूप आदि को देखने-सुनने की शक्ति नहीं है, जाति स्मरण, अवधिज्ञान मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान से उन पदार्थों को भी आत्मा जान-देख लेता है। जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा श्रोत्र आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अपने सन्नी पञ्चेन्द्रिय के किए गए पूर्व भवों का बिना किसी बाधा के अवलोकन कर लेता है। इसलिए 'स्वमति'

से विशिष्ट ज्ञानों को ही स्वीकार किया जाता है। उक्त ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थों का परिज्ञान करने मे इन्द्रिय एव मन की सहायता नहीं लेनी पड़ती, इसी कारण इन विशिष्ट ज्ञानों को प्रत्यक्ष या आत्म-ज्ञान कहते हैं। प्रस्तुत ज्ञान से ही आत्मा को अपने स्वरूप का एवं मैं किस गति एव दिशा-विदिशा से आया हूँ, इत्यादि बातों का बोध होता है।

'सह समइयाए' इस वाक्य मे व्यवहृत 'सह' शब्द संबंध का बोधक है। इस शब्द से आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य संबंध अभिव्यक्त किया गया है। ऐसे प्राय सभी दार्शनिक आत्मा मे ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, परन्तु उसका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस मान्यता मे सभी दार्शनिकों मे एकमत नहीं है। वैशेषिक दर्शन-ज्ञान को आत्मा से सर्वथा पृथक मानता हैं। वह कहता है कि 'आत्मा आधार है और ज्ञान आधेय है। ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है। अत वह आत्मा मे समवाय संबध से रहता है। क्योंकि ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है। जैसे — घट के सामने आने पर आत्मा का घट से सम्बध होता है, तब आत्मा को घट का ज्ञान होता है और घट के हटते ही ज्ञान भी चला जाता है। इस तरह ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है और समवाय सबध से आत्मा के साथ सम्बन्वित होता है। इस तरह वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा से पृथक मानता है, पर पदार्थ से उत्पन्न होने वाला स्वीकार करता है।

परन्तु जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। और उसे आत्मा का स्वभाव या धर्म मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक आत्मा मे अनत ज्ञान अस्तित्व— सत्ता रूप से सदा विद्यमान रहता है। अनेक जीवों मे ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उसकी अनत ज्ञान की शक्ति प्रच्छन्न रहती है, यह बात अलग है। भले ही आत्मा की ज्ञान शक्ति पर कितना भी गहरा आवरण क्यों न आजाए, फिर भी वह सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सकता, अनत-अनत काल के प्रवाह में एक भी समय ऐसा नहीं आता कि आत्मा का ज्ञान दीप सर्वथा बुझ गया हो या बुझ जायगा। वह सदा-सवदा प्रज्वलित रहता है, हा कभी उसका प्रकाश मद, मदतर और मदतम हो सकता है, पर सर्वथा बुझ नहीं सकता। उसका अस्तित्व आत्मा मे सदा बना रहता है। वह आत्मा मे समवाय सबध से नहीं, बल्कि तादात्म्य सबंध से है। समवाय सम्बंध से स्थित ज्ञान समवाय सम्बन्ध के हटते ही नाश को प्राप्त हो जायगा। परतु ऐसा होता नहीं है और वस्तुत देखा जाए तो ज्ञान का आत्मा के साथ समवाय सम्बध घट भी नहीं सकता। क्योंकि ज्ञान पर स्वरूप नहीं, स्व स्वरूप है। पर पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानना अनुभव एव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि ज्ञान पर पदार्थ से ही पैदा होता है, तो फिर पर पदार्थ के हट जाने पर या सामने न होने पर उक्त पदार्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए। परतु, ऐसा होता तो है। घट के हटा लेने पर भी

घट का बोध होता है। घट के साथ-साथ घट ज्ञान आत्मा में से नष्ट नहीं होता, उस की अनुभूति होती है। कई बार घट सामने नहीं रहता, फिर भी घट का ज्ञान तो होता ही है। यदि वह पर पदार्थ से ही उत्पन्न होता है, तो फिर घट के अभाव में घट का ज्ञान नहीं होना चाहिए। और विशिष्ट साधकों को विशिष्ट ज्ञान से अप्रत्यक्ष में स्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह भी नहीं होना चाहिए। विशिष्ट ऋषि-महर्षियों को योगि-प्रत्यक्ष ज्ञान वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने भी माना है, जो उनके विचारानुसार गलत ठहरेगा। परंतु ऐसा होता है और वैशेषिक स्वयं मानते भी हैं, अतः आत्मा से ज्ञान को सर्वथा पृथक एवं उसमें समवाय संबंध से मानना युक्ति संगत नहीं है। ज्ञान आत्मा में तादात्म्य संबंध से सदा विद्यमान रहता है, इसी बात को 'सह' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

२—पर-व्याकरण

ज्ञान प्राप्ति का दूसरा कारण पर-व्याकरण है। प्रस्तुत में 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का बोधक है तथा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ उपदेश है। अतः तीर्थंकर भगवान के उपदेश से भी किन्हीं जीवों को ज्ञान की प्राप्ति में तीर्थंकर भगवान का उपदेश निमित्त कारण बनता है, इसलिए इसे ज्ञान की प्राप्ति में 'पर-व्याकरण' यह कारण माना गया है। वस्तुतः ज्ञान की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव ही है। फिर भी उस क्षयोपशम भाव की प्राप्ति में जो सहायक सामग्री अपेक्षित होती है या जिस साधन के सहयोग से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता है, उस साधन को भी ज्ञान प्राप्ति का कारण मान लिया जाता है। 'पर-व्याकरण' ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम में सहायक होता है तीर्थंकरों का उपदेश सुनकर अपने स्वरूप को समझने की भावना प्रबुद्ध होती है चिंतन में गहराई आती है, इससे अज्ञान का आवरण हटता है आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती है और वह उसके उज्ज्वल प्रकाश में अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करती है, अतः 'पर व्याकरण' को ज्ञान प्राप्ति का कारण स्वीकार किया गया है।

पर व्याकरण' ज्ञान प्राप्ति का बहिरंग साधन माना जाता है। तीर्थंकर भगवान के उपदेश के सहयोग से जीव अपनी पूर्व भव सम्बन्धी बातों को जान लेता है और यह भी जान लेता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा विदिशा से आया हूं इत्यादि। पर व्याकरण — तीर्थंकर भगवान के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करके साधना-पथ पर गतिशील हुए व्यक्तियों के संबंध में आगमों में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ज्ञाता धर्मकथांग में भी मेघ कुमार मुनि का वर्णन आता है। मेघ कुमार मुनि दीक्षा की प्रथम रात्रि को ही मुनियों के बार-बार ठोकरें लगने से आकुल-व्याकुल हो उठे और उस रात्रि में प्राप्त वेदना से घबरा कर उन्होंने यह निर्णय

भी कर लिया कि मैं प्रातः संयम का परित्याग करके अपने राज-भवन मे पुन. लौट जाऊंगा। सूर्योदय होते ही मुनि मेघ कुमार संयम साधना मे सहायक भण्डोपकरण वापस लौटाने के लिए भगवान महावीर के चरणों मे पहुचे। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु ने मेघ मुनि के हृदय मे मच रही उथल-पुथल को जान रहे थे, अत उन्होंने वह कुछ कहे उसके पूर्व ही उसके मन मे चल रहे सारे विचारो को अनावृत करके उसके सामने रख दिया और उसे सयम पथ पर दृढ़ करने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तांत सुनाते हुए बताया कि हे मेघ! तुमने हाथी क भव मे जंगल मे प्रज्वलित दावानल के समय अपने द्वारा तैयार किए मैदान मे अपने पैर के नीचे आए हुए खरगोश की रक्षा करने के लिए जब तक दावानल शांत नहीं हुआ, तब तक अपने पैर को उठाए रखा, तीन पैरों पर ही खड़ा रहा। जब दावानल बुझ गया, सब पशु-पक्षी जंगल मे चले गए तब तुमने अपने पैर को नीचे रखा। पर वह पैर इतना अकड गया था कि तू धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और थोड़ी देर मे शुभ भावों के साथ जीवन को समाप्त करके श्रेणिक के घर जन्मा। हे मेघ! कहा खरगोश की रक्षा—दया के लिए घंटों पैर को ऊचे रखने क, कष्ट — जिसके कारण तुम्हें अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा और कहा साधुओं के चरण स्पर्श से हुआ कष्ट, जरा सोच-समझ कि तू क्या करने जा रहा है? भगवान के द्वारा अपना पूर्व भव जानकर मेघ मुनि की भावना परिवर्तित हो गई। वह चिन्तन-मनन मे गोते लगाने लगा और विचारों मे जरा गहरा उतरने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। भगवान द्वारा बताया गया वर्णन साफ-साफ दिखाई देने लगा। इसी तरह भगवान का उपदेश सुनकर सुदर्शन सेठ को भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया था। इस तरह 'पर व्याकरण' से होने वाले ज्ञान के अनेकों उदाहरण शास्त्रों मे उल्लिखित हैं।

३—परेतर—उपदेश

ज्ञान प्राप्ति का तीसरा साधन 'परेतर उपदेश' है। वैसे 'पर' और 'इतर' समानार्थक शब्द समझे जाते हैं। परतु प्रस्तुत सूत्र मे 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का परिचायक है और 'इतर' अन्य का परिबोधक है। अत इसका अर्थ हुआ- तीर्थंकर भगवान से अतिरिक्त अतिशय ज्ञान वाले निर्ग्रन्थ मुनि, यति, श्रमण आदि महापुरुष 'परेतर' हैं। तीर्थंकर पद से रहित केवल—ज्ञानी, मन-पर्यव-ज्ञानी या अवधिज्ञानी आदि विषिष्ट ज्ञानी एव पूज्य पुरुषों के उपदेश से भी अनेक ससारी जीवों को अपने पूर्वभव का भी परिबोध होता है। इस प्रकार के बोध मे 'परेतर— उपदेश' कारण बनता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे 'परेतर-उपदेश' को ज्ञान प्राप्ति के अन्य साधनों मे समाविष्ट किया गया है।

'परेतर- उपदेश' भी ज्ञान प्राप्ति मे बहिरंग कारण है। इस साधन से कई जीवों को अपने पूर्व भव का एवं आत्म-स्वरूप का भलीभांति बोध हो जाता है।

आगमों में इस तरह ज्ञान प्राप्त करने के कई उदाहरण आते हैं। ज्ञाता धर्मकथांग में लिखा है कि मल्लि राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिए ६ राजकुमार एक साथ चढ़कर आ जाते हैं और शहर को चारों तरफ से घेर लेते हैं। अन्त में उन्हें प्रतिबोध देने के लिए मल्लि राजकुमारी ने अपने आकार की एक स्वर्णमयी पुतली बनवाई और छहों राजकुमारों को बुलाकर उन्हें संसार का स्वरूप समझा कर तथा अपनी पूर्व भव सम्बन्धी मित्रता का परिचय देकर प्रबोधित किया। राजकुमारी के उपदेश से छहों राजकुमार अपने स्वरूप का चिन्तन करने लगते हैं और फल-स्वरूप उन्हें जाति-स्मरणज्ञान हो जाता है। इस तरह तीर्थंकर भगवान के अतिरिक्त अन्य अतिशय ज्ञानी के उपदेश से भी प्राप्त होनेवाले पूर्व भव के ज्ञान के अनेकों उदाहरण आगमों में मिलते हैं। अस्तु यह साधन भी ज्ञान प्राप्ति में कारण है।

'सोऽहम्' पद का अर्थ होता है — वह मैं हूँ। पहले बताया जा चुका है कि सन्मति या स्वमति, पर-व्याकरण और परेतर उपदेश इन तीनों कारणों से कई जीवों को यह बोध प्राप्त होता है कि इन्द्र एवं भाव दिशा विदिशाओं में परिभ्रमण करने वाला यह मेरा आत्मा ही है। 'स' से पूर्वादि दिशाओं में भ्रमणशील इस अर्थ का बोध होता है और 'अहम्' पद मैं अर्थ का परिचायक है। 'स+अहम्' दोनों पदों का संयोग करने से 'सोऽहम्' बनता है और उसका अर्थ होता है — दिशा विदिशाओं में भ्रमणशील वह मैं ही हूँ। इसी भाव को सूत्रकार ने 'सोऽहम्' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

'सोऽहम्' में पठित 'सः' और 'अहम्' दोनों पदों को आगे-पीछे करने से एक अभिनव अर्थ का भी बोध होता है। वह इस प्रकार है — "अहं सः" का अर्थ है मैं वह हूँ और 'सोऽहम्' शब्द का अर्थ है वह मैं हूँ। दोनों अर्थों को संकलित करने पर फलितार्थ यह निकलता है कि 'जो मैं हूँ वही वह है और जो वह है वही मैं हूँ। इस फलितार्थ से आत्मा और परमात्मा के अभेद का बोध होता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'सः' शब्द से समस्त कर्म बन्धन से रहित स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित सिद्ध भगवान की आत्मा का ग्रहण किया गया है और 'अहम्' पद कर्मों से आबद्ध संसारी आत्मा का परिचायक है। शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा दोनों एक समान गुण वाले हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक तो (सिद्ध भगवान) सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्कट साधना से समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर जन्म-जरा और मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गए हैं, कर्म एवं कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा पा चुके हैं, और दूसरे (संसारी जीव), कर्म बन्धन से आबद्ध हैं ऊर्ध्व एवं अधो-गति में परिभ्रमणशील हैं। एक शब्द में यों कह सकते हैं कि सिद्ध कर्म मल से

रहित है और संसारी आत्मा अभी तक कर्ममल युक्त है । परंतु कर्मबन्ध से रहित और कर्म बन्ध सहित जीवों के आत्म स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि सभी आत्मा से ही परमात्मा बनते हैं। परमात्मा कोई आत्मा से अलग शक्ति नहीं है। इस संसार मे परिभ्रमण करने वाली आत्माओं ने ही विशिष्ट साधना के पथ पर गतिशील होकर आत्मा से परमात्म पद को प्राप्त किया है और प्रत्येक आत्मा में उस पद को प्राप्त करने की सत्ता है। परंतु, वही आत्मा परमात्मा बन सकती है, जो साधना के महापथ पर गतिशील होकर राग-द्वेष एवं कर्म बन्धन को तोड़ डालती है। प्रत्येक आत्मा सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना- साधना करके सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है ।

तो निष्कर्ष यह निकला कि 'स और अह' मे कोई मौलिक एवं तात्त्विक भेद नहीं है । 'अह' से ही विकास करके व्यक्ति 'स' बनता है, या यों कहिए कि आत्मा ही अपने जीवन का विकास करके परमात्म पद को प्राप्त करता है। इसलिए कहा गया कि 'मैं सिर्फ मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मैं 'वह' हूँ जो 'वह है' अर्थात् मेरा स्वरूप परमात्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं है ।(कुछ दार्शनिको—विचारकों ने यह माना है कि आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व हैं और दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। एक भक्त और दूसरा भगवान् है, एक उपासक है और दूसरा उपास्य है। एक सेवक है और दूसरा स्वामी है और यह भेद सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। आत्मा सदा आत्मा ही बना रहेगा, वह भक्त बन सकता है परन्तु भगवान् नहीं बन सकता। वह भगवान् की भक्ति करके उसकी कृपा होने पर स्वर्ग के सुख एवं ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईश्वरत्व को नहीं पा सकता)। कुछ वैदिक विचारकों ने यह तो माना कि वह ब्रह्म मे समा सकता है और ब्रह्म की इच्छा होने पर फिर से ससार मे परिभ्रमण कर सकता है। परन्तु स्वतन्त्र रूप से आत्मा मे ईश्वर बनने की सत्ता किसी भी वैदिक परम्परा के विचारक ने स्वीकार नहीं की। उन्हों ने सदा यही कहा कि 'तू तू है और वह वह है' तथा यह 'तू और वह या मैं और वह या आत्मा और परमात्मा' का भेद सदा बना रहेगा। परन्तु जैन दर्शन ने इस बात पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन-मनन किया है। जैनों ने स्पष्ट रूप से कहा कि आत्मा का स्वरूप न तो परमात्म स्वरूप से सर्वथा भिन्न ही है और न वह परमात्मा या ब्रह्म का अश ही है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। कर्म से आबद्ध होने के कारण वह परमात्मा से भिन्न प्रतीत होती है, परन्तु उसमे भी परमात्मा बनने की शक्ति है। इसलिए जैनों ने स्पष्ट भाषा मे कहा कि हे आत्मन्!— 'तू तू नहीं, तू वह है' अर्थात् 'तू' केवल ससार मे परिभ्रमण करने वाली आत्मा ही नहीं है, बल्कि पुरुषार्थ के द्वारा

कर्म बन्धन को तोड़ कर परमात्मा भी बन सकती है। इसलिए तू अपने को उस रूप में देख। यही 'अहम्' से 'स' बनने की या आत्मा से परमात्मा बनने की साधना का या 'सोऽहम्' का चिन्तन मनन एवं आराधना करने का एक मार्ग है।

जैन दर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। यथोचित साधन-सामग्री के उपलब्ध होने पर आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्म पद को पा सकता है। आगमों में बड़े विस्तार के साथ साधनों का वर्णन किया गया है। साधना के लिए अनेक साधन बताए गए हैं। उन साधनों में 'सोऽहं' का ध्यान चिन्तन-मनन, अर्थ-विचारणा एवं मन्त्र जाप भी एक साधन है। साधना के पथ पर गतिशील साधक को आत्म विकास का प्रशस्त पथ दिखाने के लिए 'सोऽहं' का चिन्तन एवं ध्यान उज्ज्वल प्रकाश स्तम्भ है। जिसके ज्योतिर्मय आलोक में साधक आत्म विकास के पथ में साधक एवं बाधक तथा हेय एवं उपादेय सभी पदार्थों को भली-भांति जान लेता है और हेय उपादेय के परिज्ञान के अनुसार हेय पदार्थों से निवृत्त होकर साधना में संयम में प्रवृत्त होता है, संयम में सहायक पदार्थों एवं क्रियाओं को स्वीकार करके सदा आगे बढ़ता है। इस प्रकार यथायोग्य विधि से 'सोऽहं' की विशिष्ट भावना का चिन्तन करता हुआ साधक निरन्तर आगे बढ़ता है, ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता चलता है और एक दिन जाति-स्मरण ज्ञान, अवधि ज्ञान या मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का समूलतः क्षय करके अपनी आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान—केवल ज्ञान को प्रकट कर लेता है। जाति स्मरण ज्ञान से पूर्व भव में निरन्तर किए गए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के संख्यात भवों को अवधि एवं मनःपर्यव ज्ञान से संख्यात और असंख्यात भवों को तथा केवल ज्ञान से अनन्त अनन्त भवों को देख जान सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के तीन कारणों का निर्देश किया गया है — १-सन्मति या स्वमति २-परव्याकरण और ३-परतर उपदेश। उक्त साधनों से मनुष्य अपने पूर्व भव की स्थिति को भली भांति जान लेता है और उसे यह भी बोध हो जाता है कि इन योनियों में एवं दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील मैं ही हूँ। इससे उसकी साधना में दृढ़ता आती है, चिन्तन मनन में विशुद्धता आती है।

उपर्युक्त त्रिविध साधना से जो जीव आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह आत्मवादी कहा गया है। जो आत्मवादी है वही लोकवादी है और जो लोकवादी होता है वही कर्म वादी कहा जाता है। और जो कर्म-वादी है वही क्रिया वादी कहलाता है। आगे के सूत्र में इन्हीं भावों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरिया-वादी ॥६॥

छाया—स आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी ।

पदार्थ— से—वह अर्थात् आत्मा के उक्त स्वरूप को जानने वाला। आयावादी—आत्मवादी, आस्तिक है, वही। लोयावादी — लोकवादी है, वही। कम्मावादी— कर्मवादी है, वही। किरियावादी — क्रियावादी है।

मूलार्थ–जिस साधक ने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, वही आत्मवादी बन सकता है अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। जो आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर सकता है, वही आत्मा लोक के स्वरूप को स्पष्टत समझ एव समझा सकता है । जो लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वही कर्म के स्वरूप को बता सकता है। जो कर्म के स्वरूप की व्याख्या करसकता है, वही वास्तव मे क्रिया–आचरण के स्वरूप का वास्तविक वर्णन कर सकता है।

हिन्दी विवेचन—पूर्व सूत्र में बताए गये साधनों से जब किन्हीं जीवों को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है तो उन्हें आत्म–स्वरूप का भलीभाति ज्ञान हो जाता है। तब वह आत्मा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से विवेचन करने वाले व्यक्ति को ही आगमिक भाषा मे आत्मवादी कहा है। आचार्य शीलाक ने लिखा है —

"आत्मवादीति आत्मान वदितु शीलमस्येति"

अर्थात्—आत्मतत्त्व के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति आत्मवादी कहलाता है।

जो व्यक्ति आत्म स्वरूप का ज्ञाता है, वही लोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है, और इस क्रम से जो लोक स्वरूप को भलीभाति जानता है, वही कर्म और क्रिया का परिज्ञाता होता है। इस तरह एक का ज्ञान दूसरे पदार्थ को जानने से सहायक है। जब आत्मा एक तत्त्व को भलीभाति जान लेता है, तो वह दूसरे तत्त्व के स्वरूप को भी सुगमता से समझ सकता है, क्योंकि लोक मे स्थित सभी तत्त्व एक दूसरे से सम्बधित हैं। आत्मा भी तो लोक में ही स्थित है, लोक के बाहर उसका अस्तित्त्व ही नहीं है इसी तरह लोक एव कर्म का सबन्ध रहा हुआ है। कर्म भी लोक-संसार में

के कहते हैं। कर्म और क्रिया का संबन्ध तो स्पष्ट ही है। इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्वरूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचारांग सूत्र में आगे बताया है कि 'जो व्यक्ति एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है —

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ'

वस्तु का विवेचन करने के लिए सब से पहले ज्ञान की आवश्यकता है। जब तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, तब तक उसके संबन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाले आत्मवादी लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी आदि वक्ताओं का विवेचन किया। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मा आदि द्रव्यों को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता-समझता एवं परिज्ञान विषय का विवेचन एवं प्रतिपादन कर सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एवं कर्म जन्य अच्छे-बुरे फलों का भोक्ता, असंख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी, अमूर्त्तक, चैतन्य रूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उत्पाद् व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पर्यायों की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तन शील है तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप में स्थित रहने से नित्य भी है। वास्तव में देखा जाए तो वह न सांख्य मत के अनुसार एकांत-कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धों द्वारा मान्य एकान्त अनित्य — क्षणिक ही है। जैन दर्शन के अनुसार दुनिया का कोई पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म युगपत् स्थित हैं। किसी भी द्रव्य में एकान्तता को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण युक्त है। अतः जैन दर्शन ने अनुभव सिद्ध परिणामी नित्यता को स्वीकार किया है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा का गुण है और उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञान-दर्शन की पर्यायें बदलती रहती हैं तथा कर्म से बद्ध आत्मा के शरीर में मानसिक चिन्तन में, विचारों की परिणति में परिणामों तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इन सब पर्यायिक परिवर्तनों में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है, उसके असंख्यात प्रदेशों तथा शुद्ध स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, इस दृष्टि से आत्मा नित्य

भी और अनित्य भी अर्थात्—परिणामी नित्य— नित्यानित्य है।

यही सापेक्ष दृष्टि आत्मा को एक और अनेक मानने तथा उसके आकार परिणाम के सवन्ध मे भी रही हुई है। जैन दर्शन वेदान्त सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिकों द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर वह दोनों के आशिक सत्य को स्वीकार करता है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से लोक मे स्थित अनन्त-अनन्त आत्माए समानगुण वा ी हैं, सत्ता की दृष्टि से सव मे समानता है, क्योंकि सभी आत्माएं असख्यात प्रदेशी हैं, उपयोग गुण से युक्त हैं, परिणामी नित्य हैं। इसी अपेक्षा से स्थानाग सूत्र मे कहा गया है— "एगे आया" अर्थात् आत्मा एक है। यह हुई समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा सभी आत्माए अलग-अलग हैं, सव का ज्ञान-दर्शन एव उसकी अनुभूति अलग–अलग है सव का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। और ससार मे परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओं का सुख-दु ख का संवेदन अलग-अलग है, सवका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है–किसी मे ज्ञान का उत्कर्ष है, तो कसी में अपकर्ष है। इस अपेक्षा को सामने रख कर आगम मे कहा गया हैकि आत्माएं अनन्त हैं†। और दोनों अपेक्षाएं सत्य हैं, अनुभव गम्य है। अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। उसे एकान्तत. एक या अनेक न कह कर 'एकानेक' कहना मानना चाहिए।

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध मे भी सभी दर्शनों में एकरूपता नहीं है। कुछ आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कुछ विचारक-अणुपरिमाण वाला मानते हैं। जैनों को दोनों मान्यताए स्वीकार नहीं हैं, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। अर्थात् अनियत परिमाण वाला। क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण- आकार रूपी पदार्थों के होते हैं और आत्मा अरूपी है। फिर भी आत्म प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान अवश्य चाहिए। इस अपेक्षा से आत्म प्रदेश जितने स्थान को घेरते हैं। वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है। आत्माए अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा के असख्यात प्रदेश हैं अर्थात् प्रदेशों की दृष्टि से सव आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली हैं। और आत्मप्रदेश स्वभाव से सकोच विस्तार वाले हैं। जैसा छोटा या वड़ा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशों को सकोच भी कर लेती हैं। और फैला भी देती हैं। जैसे — विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जव छोटे से कमरे में रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट

† अगताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजतवो।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८, ८।

प्रकाश छोटे से कमरे में समा जाता है। यों कहना चाहिए कि दीपक को छोटे से कमरे से उठाकर विशाल हाल में ले जाते हैं तो कमरे के थोड़े से आकाश प्रदेशों पर स्थित प्रकाश हाल के विस्तृत आकाश प्रदेशों पर फैल जाता है और हाल से कमरे में आते ही अपने प्रकाश को संकोच लेता है। यही स्थिति आत्म प्रदेशों की है। जैसा — छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उसी में असंख्यात आत्म-प्रदेश स्थित हो जाते हैं। सिद्ध अवस्था में शरीर नहीं है, वहां आत्मा का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए— जिस शरीर में से आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त होती है, उस शरीर के तीन भाग में से दो भाग जितने आकाश प्रदेशों को वह आत्मा घेरता है[1]। और शरीर की दृष्टि से अनन्त आत्माओं के विभिन्न आकार वाले शरीर हैं तथा विभिन्न आकार मुक्त शरीरों में से सिद्ध हुए हैं, अतः सभी आत्माओं का परिमाण-आकार एक एवं, नियत नहीं हो सकता। इसी अपेक्षा से जैन दर्शन ने आत्मा का मध्यम अर्थात् अनियत या शरीर प्रमाण आकार माना और यह अनुभवगम्य भी है।)

आत्मा को शरीर परिमाण या मध्यम परिमाण वाला मानने से आत्मा में अनित्यता का दोष आ जाएगा। ठीक है, अनित्यता से बचने के लिए वास्तविकता को ठुकराना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में आत्मा एकांत नित्य भी तो नहीं है। यह हम पहले बता चुके हैं कि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है। अतः अनित्यता कोई दोष नहीं है। क्योंकि एक अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप अनित्य भी है। अस्तु आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानना चाहिए। यदि आत्मा को अणु मानते हैं, तो शरीर में होने वाले सुख-दुःख की अनुभूति नहीं हो सकेगी। क्योंकि यदि आत्मा अणुरूप होगा, तो फिर वह शरीर के एक प्रदेश में रहेगा सारे शरीर में नहीं रह सकता। अतः शरीर के जिस भाग में वह नहीं होगा उस भाग में सुख दुःख का संवेदन नहीं होगा। परन्तु, ऐसा होता नहीं, क्योंकि सभी व्यक्तियों को पूरे शरीर में सुख-दुःख का संवेदन होता है। और यदि आत्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानते हैं तो उसमें क्रिया नहीं होगी स्वर्ग-नरक एवं बन्ध-मुक्ति नहीं घट सकेगी। इस लिए आत्मा को अणु एवं व्यापक मानना किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। अतः उसे मध्यम — शरीर परिमाण वाला मानना चाहिए।

---

[1] दीहं वा हस्सं वा जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं। तत्तो तिभागहीणा सिद्धाणोगाहणा भणिया।
— उववाई सूत्र।

जैसे अनुभूति एवं स्मृति का आधार एक ही है। उसी तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आधार भी एक है। अनुभव करने वाला और अपने कृत अनुभवों को स्मृति मे संजोए रखने वाला भिन्न नहीं है। ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव कोई करे और उन अनुभूतियो को स्मृति मे कोई और ही रखे। उसी तरह कर्म का कर्त्ता एव कृत कर्म का भोक्ता एक ही होता है। या यों कहना चाहिए कि जो कर्म करता है, वह उसका फल भी भोगता है और जो फल भोगता है वह अपने कृत कर्म का ही फल भोगता है। अत कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक व्यक्ति-आत्मा मे घटित होते है। (साख्य का यह मानना कि आत्मा स्वयकर्म नहीं करता है, कर्म प्रकृति करती है और प्रकृति द्वारा कृत-कर्म का फल पुरुष- आत्मा भोगती है तथा बौद्ध दर्शन का यह मानना कि कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो जाती है, उस विनष्ट आत्मा द्वारा कृत कर्म का फल उसके स्थान मे उत्पन्न दूसरी आत्मा या उक्त आत्मा की सन्तति भोगती है, किसी भी तरह युक्ति सगत नहीं कहे जा सकते। व्यवहार मे भी हम सदा देखते है कि जो कर्म करता है उसका फल दूसरे को या उसकी सन्तान को नही मिलता यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसका स्वाद उसे ही आता है, न कि उसके किसी दूसरे साथी या उसकी सन्तान को आम का स्वाद आता हो। अस्तु, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों आत्मा मे ही घटित होते है। प्रकृति मे कर्तृत्व नहीं कर्तृत्व आत्मा मे ही है और उसका फल भी उसकी सन्तान को न मिल कर उसी आत्मा को मिलता है। इस से आत्मा की परिणामी नित्यता भी सिद्ध एवं परिपुष्ट होती है।)

जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वह लोक के स्वरूप का भी भली-भाति विवेचन कर सकता है। क्योंकि आत्मा की गति लोक मे ही है और वह लोक मे ही स्थित है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य इसे गति देने एव ठहरने मे सहायक होते हैं अर्थात् जहा धर्मास्ति और अधर्मास्ति काय का अस्तित्व है, वहीं आत्मा गति कर सकती है एव वहीं ठहर भी सकती है। और एक गति से दूसरी गति मे परिभ्रमणशील आत्मा कर्म पुद्गलों से आवद्ध है। इससे पुद्गलों के साथ भी उसका सवन्ध जुडा हुआ है। अत यों कह सकते हैं कि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल चारों द्रव्य लोकाकाश पर स्थित हैं या उक्त चारों द्रव्यों का जहा अस्तित्व है, उसे लोक कहते हैं। इस तरह लोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान के साथ लोक के स्वरूप का परिबोध हो जाता है और जिसे लोक के स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह उसका

विवेचन भी कर सकता है। इस दृष्टि से आत्मवादी के पश्चात् लोकवादी का उल्लेख किया गया।

आत्मा का लोक में परिभ्रमण कर्म सापेक्ष है। यही आत्मा संसार-लोक में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिभ्रमण करती है, जो कर्म से सम्बद्ध है। अस्तु, लोक के ज्ञान के साथ कर्म का भी परिज्ञान हो जाता है और कर्म को जानने वाला आत्मा उसके स्वरूप का सम्यक्तया प्रतिपादन भी कर सकता है। इसी कारण लोकवादी के पश्चात् कर्मवादी का उल्लेख किया गया।

कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति विशेष को क्रिया कहते हैं। इस मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति से आत्मा के साथ कर्मों का संबन्ध होता है। इस तरह कर्म और क्रिया का विशिष्ट सम्बन्ध होने से, कर्म का ज्ञाता क्रिया को भली-भांति जान लेता है और उसका अच्छी तरह वर्णन भी कर सकता है। इस लिए कर्मवादी के पश्चात् क्रियावादी का बताया गया।

मुमुक्षु के लिए आत्मा, लोक कर्म एवं क्रिया का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। इन सबका यथार्थ स्वरूप जाने बिना साधक मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता और उसकी साधना में भी तेजस्विता नहीं आ पाती। इन सबमें आत्मतत्त्व मुख्य है। उसका सम्यक्तया बोध हो जाने पर, अवशेष तीनों का ज्ञान होने देर नहीं लगती उसमें फिर अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। क्योंकि लोक, कर्म एवं क्रिया का आत्मा के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ है। अत शास्त्रकार का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि जो एक को भली-भांति जान लेता है वह सबका ज्ञान कर लेता है। और यह लोक-कहावत भी सत्य है — एक साधे सब सधे।'

कर्म बन्धन से आबद्ध आत्मा ही संसार में परिभ्रमण करती है। और कर्म का कारण क्रिया है अर्थात् क्रिया से कर्म का प्रवाह प्रवहमान रहता है। अत अब सूत्रकार क्रिया के संबन्ध में कहते हैं —

मूलम्—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं, चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि ॥७॥

छाया—अकार्षं चाहं, कारयामि चाहं कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि।

पदार्थ— अकरिस्सं चऽहं — मैं ने किया। कारवेसुं चऽहं — मैं कराता हूं। करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि— करने वाले व्यक्तियों का मैं अनुमोदन— समर्थन करूंगा।

मूलार्थ—मैं ने किया था मैं करता हूं और करने वाले अन्य व्यक्तियों का मैं अनुमोदन—समर्थन करूंगा।

हिन्दी विवेचन—

व्यक्ति के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया कार्य के करने, कराने और समर्थन — अनुमोदन करने की अपेक्षा से तीन प्रकार की है, और संसार का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी तीनों कालों मे क्रियाशील रहता है। इसलिए क्रिया के उक्त भेदों का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और इस अपेक्षा से क्रिया के ९ भेद होते हैं। क्योंकि भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल हैं और प्रत्येक काल के तीन भेद होने से कुल नव भेद बनते हैं। भूत काल के तीन भेद इस प्रकार बनते हैं —

१—मैंने अमुक क्रिया का अनुष्ठान किया था।

२—मैंने अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करवाया था।

३—मैंने अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन किया था।

वर्तमान काल मे की जाने वाली क्रिया के तीन रूप इस प्रकार बनते हैं—

१—मैं अमुक क्रिया या कार्य कर रहा हूँ।

२—मैं अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करा रहा हूँ।

३—मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करता हूँ।

अनागत—भविष्य काल मे की जाने वाली क्रिया के भी तीन रूप बनते हैं, वे इस प्रकार हैं—

१—मैं अमुक दिन अमुक कार्य करूंगा।

२—मैं दूसरे व्यक्ति से अमुक कार्य कराऊंगा।

३—मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन—अनुमोदन करूंगा।

इस तरह क्रिया के ९ भेद बनते हैं और ये मन, वचन और शरीर से सम्बन्धित भी रहते हैं। अत तीनों योगों के साथ इनका सम्बन्ध होने से, क्रिया के ९ × ३ = २७ भेद हो जाते हैं।

"अकरिस्स चऽहं ..." आदि प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने सर्वप्रथम 'मैंने किया" भूतकालीन कृत क्रिया को, तदनन्तर "मैं कराता हू" वर्तमान कालिक कारित क्रिया का और अन्त मे 'मैं क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूंगा' इस भविष्यत् कालीन अनुमोदित क्रिया का उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र मे क्रिया के नव भेदों मे से — मैंने किया, मैं कराता हूँ और मैं अनुमोदन करूंगा। इन तीन भेदों का ही प्रतिपादन किया है। प्रश्न हो सकता है कि जब सूत्रकार ने क्रिया के तीन भेदों की ओर ही इशारा किया है, तब फिर क्रिया के नव भेद मानने के पीछे क्या आधार है? यदि क्रिया के नव-भेद होते हैं तो सूत्रकार ने उन नव का उल्लेख न

करके तीन का ही उल्लेख क्यों किया ?

इस का समाधान यह है कि प्रस्तुत सूत्र में तीन चकार और एक अपि शब्द का प्रयोग किया गया है। इन चकार एवं अपि शब्दों से तीनों कालों की प्रयुक्त क्रिया में अवशिष्ट क्रियाओं का बोध हो जाता है। सूत्र को अधिक लम्बा एवं शब्दों से अधिक बोझिल न बनाने के लिए क्रिया के मुख्य तीन—कृत, कारित और अनुमोदित भेदों का उल्लेख करके शेष भेदों को च एवं अपि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह हम पहले बता चुके हैं कि आचारांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र रूप रचा गया है, थोड़े शब्दों में अधिक भाव एवं अर्थ व्यक्त किया गया है। वस्तुतः सूत्र का तात्पर्य ही यह है कि थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक बात कही जाए। आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग न किया जाए। इसी दृष्टि को सामने रखकर सूत्रकार ने च एवं अपि शब्द से स्पष्ट होने वाले ६ क्रिया भेदों के लिए शब्द रचना न करके उसे तीन भेदों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। हां यह समझ लेना आवश्यक है कि किस चकार से किस क्रिया का ग्रहण करना चाहिए।

"अकरिस्सं चऽहं" में प्रयुक्त 'चकार' भूतकालीन 'कारित और अनुमोदित' क्रिया का परिबोधक है। "कारवेसु चऽहं" यहां व्यवहृत 'चकार' वर्तमान कालिक 'कृत और अनुमोदित' क्रिया का परिचायक है। और "करओ यावि (चावि) इस पद में प्रयोग किया गया 'चकार' भविष्यत् कालीन 'कृत और कारित' क्रिया का संसूचक है। और प्रस्तुत सूत्र में दिये गये 'अपि' शब्द से मन, वचन और काय शरीर इन तीन योगों के साथ क्रिया के नव भेदों के सम्बन्ध का परिबोध होता है। इस तरह थोड़े से शब्दों में सूत्रकार ने क्रिया के २७ भेदों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है और इसी आधार पर क्रिया के २७ भेद माने गए हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भूत वर्तमान एवं भविष्य काल सम्बन्धी क्रमशः कृत, कारित और अनुमोदित एक-एक क्रिया का कथन करके चकार एवं अपि शब्द से अन्य क्रियाओं का निर्देश कर दिया है। परन्तु आचार्य शीलांक का अभिमत है कि प्रस्तुत सूत्र में भूत और भविष्यत् दो कालों की ओर निर्देश किया है। उन्होंने प्रस्तुत सूत्र की संस्कृत छाया इस प्रकार बनाई है—

अकार्षं चाऽहं अचीकरं चाऽहं कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि"

आचार्य शीलांक के विचार से "अकरिस्सं-अकार्षम्" यह भूतकालिक कृत क्रिया है और 'कारवेसुं-अचीकरम्' यह भूतकालीन कारित क्रिया है। और 'करओ-यावि समणुन्ने भविस्सं' यह भविष्यत् कालीन अनुमोदित क्रिया है। इस तरह

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे दो कालों का निर्देश किया है, तीसरे वर्तमान काल का ग्रहण उन्होंने इस न्याय से किया है कि आदि और अन्त का ग्रहण करने पर मध्यम-वर्ती का ग्रहण हो जाता है[1]।

प्रश्न हो सकता है कि जब आदि और अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण हो जाता है, तो फिर सूत्रकार ने "कारवेसु चऽह" इस भूतकालिक कारित क्रिया का निर्देश क्यों किया ? उक्त न्याय से इस भूतकालिक कारित क्रिया भेद का ग्रहण किया जा सकता था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शीलाक ने कहा—

"अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्प 'कारवेसु चऽह' इति सूत्रेणोपात्त ।"

अर्थात्— आदि और अन्त के ग्रहण करने पर मध्यवर्ती पदों का ग्रहण हो जाता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'कारवेसु चऽह' पद का प्रयोग किया है । यदि उक्त पद का प्रयोग न किया होता तो इस न्याय की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती थी ? अत उक्त न्याय का यथार्थ रूप समझ मे आ सके, इसलिए इस पद का प्रयोग किया गया*। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि मूल सूत्र मे प्रयुक्त तीन चकार से क्रियाओं का और अपि शब्द से मन, वचन और काय- शरीर का ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे यह समझने एव ध्यान देने की बात है कि मन, वचन और शरीर के द्वारा तीनों कालों मे होने वाली कृत, कारित और अनुमोदित सभी क्रियाएं आत्मा मे होती है। उक्त सभी क्रियाओं मे आत्मा की परिणति स्पष्ट परिलक्षित हो रही है । क्योंकि धर्मी मे परिवर्तन हुए बिना धर्मों मे परिवर्तन नहीं होता। इसी अपेक्षा से पहले आत्मा मे परिणमन होता है, बाद मे क्रिया मे परिणमन होता है। अत. क्रिया के परिणमन को आत्म परिणति पर आधारित मानना उचित एवं युक्ति सगत है। निष्कर्ष यह निकला कि अह पद से अभिव्यक्त जो आत्मा है, उस का परिणमन ही विशिष्ट क्रिया के रूप मे सामने आता है । अत विभिन्न कालवर्ती क्रियाओं में कर्तृत्व रूप से अभिव्यक्त होने वाला आत्मा एक ही है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं, अनुभव करते हैं कि तीनों कालों की कृत, कारित एवं अनुमोदित क्रियाए पृथक् हैं और इन सब का पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है। तीनों कालों की क्रियाओं मे कालगत भेद होने से अर्थात् विभिन्न काल स्पर्शी होने के कारण ये समस्त क्रियाए एक दूसरे से पृथक् हैं, परन्तु इन विभिन्न समयवर्ती क्रियाओं मे विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होने वाला 'मैं' अर्थात् 'अह' पद एक ही है। और इन

[1] 'आद्यन्तग्रहणेन मध्यगानामपि ग्रहणम्'।

विभिन्न समयवर्ती विभिन्न क्रियाओं में जो एक शृंखला-बद्ध संबंध परिलक्षित हो रहा है, वह आत्मा की एक रूपता के आधार पर ही अवलम्बित है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया एक काल-स्पर्शी है, जब कि आत्मा तीनों काल को स्पर्श करती है। यदि आत्मा को त्रिकाल-स्पर्शी न माना जाए तो उस में त्रिकाल में होने वाली पृथक् पृथक् क्रियाओं की अनुभूति घटित नहीं हो सकती। और न उसमें भूत काल की स्मृति एवं भविष्य के लिए सोचने विचारने की शक्ति ही रह जाएगी। अतीत की स्मृति एवं अनागत काल के लिए एक रूपरेखा तैय्यार करने की चिन्तन-शक्ति आत्मा में देखी जाती है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामी नित्य है, त्रिकाल को स्पर्श करती है।

यह स्पष्ट देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति शक्ति और धन के मद में आसक्त होकर यौवनकाल में दुष्कृत्य एवं अपने से दुर्बल व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। परन्तु वृद्ध अवस्था में शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण वे अपने द्वारा कृत दुष्कृत्यों का स्मरण करके दुःखी होते हैं और पश्चात्ताप करते हुए एवं आंसू बहाते हुये भी नजर आते हैं। और उनकी दुर्दशा को देखकर आस-पास में निवसित लोग भी कहने से नहीं चूकते कि इस भले आदमी ने धन यौवन और अधिकार के नशे में कभी नहीं सोचा कि मुझे इन दुष्कृत्यों का फल भी चखना पड़ेगा, उसने यह भी कभी नहीं विचारा कि यह क्षणिक शक्तियां नष्ट हो जाएंगी, तब मेरी क्या दशा होगी, उसी का यह परिणाम है। इस से विभिन्न समय में होने वाली त्रिकाल-वर्ती क्रियाओं का एक-दूसरे काल के साथ स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। प्रथम समय में वर्तने वाला वर्तमान दूसरे समय में अतीत की स्मृति में बदल जाता है और भविष्य के क्षण धीरे-धीरे क्रमशः वर्तमान के रूप में वर्त कर अतीत की स्मृति में विलीन हो जाते हैं। इसी कारण वर्तमान में अतीत की मधुर एवं कटु स्मृतियें तथा अनागत काल की योजनाएं चलती हैं और इन त्रिकालवर्ती क्रियाओं की शृंखला को जोड़ने वाली आत्मा सदा एक रूप रहती है। वह पर्यायों की दृष्टि से प्रत्येक काल में परिवर्तित होती हुई भी द्रव्य की दृष्टि से एक रूप है। उसकी एक रूपता प्रत्येक काल में स्पष्ट प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि त्रिकाल वर्ती क्रियाओं में एकीकरण स्थापित करने वाली आत्मा है और वह परिणामी नित्य है। जैसे एक भव में अतीत वर्तमान एवं अनागत की क्रियाओं के साथ आत्मा का संबन्ध है, उसी तरह अनन्त भवों की क्रियाओं के साथ भी आत्मा का एवं वर्तमान भव से संबन्धित क्रियाओं का संबन्ध है। क्योंकि वर्तमान काल एक समय का है, दूसरे समय ही वह भूत काल हो जाता है इस तरह अनन्त-अनन्त काल वर्तमान काल पर्याय में से अतीत काल की संज्ञा में परिवर्तित हो चुका है और अनागत काल

का आने वाला प्रत्येक समय क्रमश वर्तमान काल की पर्याय को स्पर्श करता हुआ अतीत की स्मृति मे विलीन हो रहा है। संसार मे अनन्त-अनन्त काल से ऐसा होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। क्योंकि अतीत और अनागत काल अनन्त हैं और अनन्त का कभी अन्त नहीं आता। अत अनन्त भवों के अनन्त काल का भी ससार मे परिभ्रमणशील आत्मा से सबन्ध रहा है। जैसे शरीर की बदलती हुई बाल, यौवन एवं वृद्ध अवस्थाओं मे आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। उसी तरह अनेक योनियों मे परिवर्तित विभिन्न शरीरपर्यायों मे भी आत्मा का अस्तित्व बना रहा है।

वर्तमान की स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त काल में किए हुए अनन्त भवों में आत्मा का अस्तित्व रहा है। इससे अनन्त-२ काल के साथ एक धारा-प्रवाह के रूप मे एक रूपता स्पष्ट प्रतीत होती है। हम यह देखते हैं कि वर्तमान भव मे आत्मा का शरीर के साथ सबन्ध जुड़ा हुआ है। इस से हम यह भली-भाति जान सकते हैं कि इस भव के पूर्व भी आत्मा का किसी अन्य शरीर के साथ संबन्ध था और भविष्य मे भी जब तक यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहेगी, तब तक किसी न किसी योनि के शरीर के साथ इस का सबन्ध रहेगा ही। इससे त्रिकालवर्ती अनन्त काल एव अनन्त भवों की धारा प्रवाहिक सबन्ध तथा विभिन्न काल एव भवों मे परिवर्तित अवस्थाओं मे भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्पष्टत सिद्ध हो जाता है। इस तरह सूत्रकार ने त्रिकालवर्ती क्रियाओं और आत्मा के घनिष्ट सबन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से क्रियावाद के द्वारा आत्म-वाद की स्थापना की है।

प्रस्तुत सूत्र में क्रिया के २७ भेदों का विवेचन किया गया है, ये क्रियाएं इतनी ही हैं, न इनसे कम हैं और न अधिक हैं और ये क्रियाएं कर्म-बन्धन का कारण भी हैं। अत इस बात को सम्यक्तया जान कर इनसे बचना चाहिए या इनका परित्याग करना चाहिए। इसी बात का निर्देश सूत्रकार ने आगे के सूत्र मे इस प्रकार किया है —

मूलम्—एयवंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परि-जाणियव्वा भवन्ति ॥८॥

छाया—एतावन्त. सर्वे लोके कर्मसमारम्भा परिज्ञातव्या भवन्ति ।

पदार्थ— एयावन्ति सव्वावन्ती—इतने ही सब। लोगंसि— लोक में। कम्मसमारंभा—कर्म बन्धन की हेतु-भूत क्रियाएं। परिजाणियव्वा भवन्ति— जाननी चाहियें।

मूलार्थ-समस्त लोक में कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रियाएं इतनी ही जाननी-समझनी चाहिए इन से न्यूनाधिक नहीं।

हिन्दी विवेचन —

पूर्व सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया था कि तीनों काल में कृत, कारित एवं अनुमोदित की अपेक्षा से क्रिया के नव भेद बनते हैं और इन सब का मन वचन और काया— शरीर के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ होने से इनके २७ भेद होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि सारे लोक में २७ तरह की क्रियाएं हैं, इस से अधिक या कम नहीं हैं और ये क्रियाएं कर्म-बन्धन के लिए कारणभूत हैं। क्योंकि जब आत्मा में क्रियाओं के रूप में परिणति होती है तो उसके आस-पास में स्थित कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में संग्रह होता है। इस तरह ये क्रियाएं कर्म-बन्ध का कारण भूत मानी जाती हैं। इनके अभाव में आत्मा कर्मों से सर्वथा अलिप्त रहती है। क्योंकि कृत, कारित आदि क्रियाओं के कारण आत्मा में गति होती है और आत्म परिणामों की परिणति के अनुरूप आस-पास के क्षेत्र में स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में गति होती है और उनका आत्म-प्रदेशों के साथ संबन्ध होता है। अतः जब तक आत्मा में क्रियाओं का प्रवाह प्रवहमान है, तब तक कर्म का आगमन भी होता रहता है। हां, यह बात अवश्य समझने की है कि क्रिया से कर्मों का संग्रह होता है, कर्मों के स्वभाव के अनुसार आत्म-प्रदेशों के साथ उनका संबन्ध होता है परन्तु जब तक क्रिया के साथ राग-द्वेष एवं कषाय की परिणति नहीं होती तब तक उनका आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध नहीं होता या यों कहना चाहिए कि क्रिया से प्रकृति और प्रदेश बन्ध अर्थात् कर्मों का संग्रह मात्र होता है और राग-द्वेष एवं काषायिक परिणति से अनुभाग — रस बन्ध और स्थिति बन्ध होता है होती है, इससे आत्मा को संसार में परिभ्रमण करने की स्थिति में आ जाता है रहने वाली आत्मा है

क्रिया या योगों की एवं अनागत की संग्रह होता है और यह कर्म-बन्ध में कारण भूत है। परन्तु राग की रहित योग प्रवृत्ति कर्म संग्रह अवश्य करती है परंतु बन्ध का कारण नहीं बनता। जैसे तेरहवें गुणस्थान में क्रियाएं, एवं योगों की प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से कर्म प्रवाह का आगमन भी होता है, परन्तु राग-द्वेष की परिणति के अभाव में कर्म का बन्ध नहीं होता। वे कर्म-पुद्गल

आते हैं और तुरन्त झड जाते हैं,आत्मा के साथ वन्ध नहीं पाते। अस्तु, हम यों कह सकते हैं कि राग-द्वेष की परिणति से युक्त क्रियाए कर्म-वन्ध की कारण-भूत हैं और वे २७ ही हैं, इस वात को भली-भांति जान-समझ लेना चाहिए।

यह सत्य है कि क्रियाओ से शुभ एव अशुभ दोनों तरह के कर्म पुद्गलों का आगमन होता है। शुभ कर्म पुद्गल आत्म विकास मे सहायक होते है, फिर भी हैं तो त्याज्य ही। क्योंकि उनका सहयोग विकास अवस्था मे या यों कहिए कि साधना काल मे उपयोगी होने से साधक अवस्था मे आदरणीय भी है, परन्तु सिद्ध अवस्था मे उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अत उस अवस्था मे क्रिया मात्र ही त्याज्य है। और इस निश्चयनय की दृष्टि से शुभ क्रिया भी कर्म-वन्ध का एव संसार मे— भले ही स्वर्ग मे ही ले जाए फिर भी है तो ससार ही, वंधन ही —परिभ्रमण कराने का कारण होने से निश्चय दृष्टि से सदोष एवं त्याज्य है।

निश्चय दृष्टि से क्रिया सदोष है, फिर भी आत्म-विकास के लिए उस का ज्ञान करना आवश्यक है। दोप को दोप कहकर उस की सर्वथा उपेक्षा कर देना या उसके स्वरूप को समझना ही नहीं, यह जैन धर्म को मान्य नहीं है। वह दोषों का परिज्ञान करने की वात भी कहता है। क्योंकि जव तक दोषों का एव उन के कार्य का परिज्ञान नहीं होगा, तव तक साधक उससे वच नहीं सकता। इसलिए कर्मवन्ध की कारण भूत क्रियाओं के स्वरूप एव उनसे होने वाले ससार-परिभ्रमण के चक्र को समझना - जानना भी जरूरी है। यही वात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे वताई है कि मुमुक्षु को इनके स्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि जीवन मे ज्ञान का विशेष महत्त्व है, उसके विना जीवन का विकास होना कठिन ही नहीं असभव है। ज्ञान के महत्त्व को वताते हुए भगवान महावीर ने यह कहकर ज्ञान की उपयोगिता एव महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ज्ञान-सम्पन्न आत्मा जीवादि नव तत्त्वों को जान लेता है और वह चार गति रूप ससार मे विनाश को प्राप्त नहीं होता*। वस्तुत ज्ञान के विना हेय-उपादेय का बोध नहीं होता। इसलिए सवसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है, उसके वाद अन्य

*नाणसपन्नयाए ण जीवे सव्वभावाहिगम जणयइ,
नाणसपन्ने ण जीवे चाउरन्ते ससार-कन्तारे न विणस्सइ।

—उत्तराध्ययन; २६, ५६.

साधना या क्रियाओं की‡। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कर्म-बन्ध की हेतुभूत क्रियाओं की जानकारी कराई है।

जब तक साधक को क्रिया संबन्धी जानकारी नहीं हो जाती, तब तक वह साधना के क्षेत्र में विकास नहीं कर सकता, मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। संसार सागर को पार करने के लिए क्रिया की हेयोपादेयता का परिज्ञान करना जरूरी है, क्योंकि क्रियाएं भी सभी समान नहीं हैं। हिंसा करना, झूठ बोलना, छल-कपट करना आदि भी क्रिया है और दया करना, मरते हुए प्राणी को बचाना, सत्य बोलना आदि भी क्रिया है। किन्तु दोनों में परिणामगत अन्तर है और इसी अन्तर के कारण एक हेय है, तो दूसरी उपादेय है और उसकी उपादेयता भी संसार सागर से पार होने तक है, उसके बाद वह भी उपादेय नहीं है। ऐसे कहना चाहिए कि शुभ परिणामों से की जाने वाली शुभ क्रिया साधक अवस्था तक उपादेय है और सिद्ध अवस्था को पहुंचने पर वह भी हेय है। क्योंकि उसकी आवश्यकता साध्य की सिद्धि के लिए है, अतः साध्य के सिद्ध हो जाने पर फिर उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। अतः इस हेयोपादेयता को समझने के लिए क्रिया संबन्धी ज्ञान की आवश्यकता है। और इसी कारण ज्ञान का जीवन में विशेष महत्व माना गया है।

इससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं — १ ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है, आत्मा क्रिया के हेय-उपादेय के स्वरूप को भली-भांति समझ लेता है, २ साध्य सिद्धि में सहायक क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और ३ ज्ञान एवं क्रिया दोनों की सम्यक् साधना- आराधना करके आत्मा एक दिन सिद्धि को प्राप्त कर लेती है अर्थात् समस्त क्रियाओं से मुक्त हो जाती है, जन्म, जरा और मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा पा जाती है। अतः मुमुक्षु के लिए क्रियाओं का परिज्ञान करना आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म-बन्धन हेतुभूत क्रियाओं की इयत्ता-परिमितता का वर्णन किया गया है। और साथ में यह प्रेरणा भी दी गई कि साधक को क्रिया के स्वरूप का बोध करना चाहिए और उसे क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इनसे निवृत्त होकर ही साधक कर्म-बन्धन एवं संसार-परिभ्रमण के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। जो व्यक्ति कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं से विरत नहीं होता है, उसे जिस फल की प्राप्ति होती उसका वर्णन सूत्रकार इस प्रकार करते हैं —

‡ पढमं नाणं तओ दया। — दशवैकालिक ४

मूलम्—अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ,अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति। अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विविरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ ॥६॥

छाया—अपरिज्ञातकर्मा खल्वयं पुरुषो य इमा दिशा,अनुदिशा अनुसचरति, सर्वा दिशाः, सर्वा अनुदिशाः सेहेति। अनेकरूपा योनी सन्धयति, विरूपरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति।

पदार्थ—जो पुरिसे—जो पुरुष। अपरिण्णायकम्मा—अपरिज्ञात-कर्मा होता है। खलु—निश्चय मे। अय—यह पुरुष। इमाओ विसाओ, अणुदिसाओ—इन दिशा-विदिशाओ मे। अणुसचरइ—परिभ्रमण करता है। सव्वाओ दिसाओ—सव दिशाओ मे। सव्वाओ अणुदिसाओ—सव विदिशाओ में। अणेगरुवाओ जोणीओ—नाना प्रकार की योनियो को। सन्धेइ—प्राप्त करता है। विरूवरूवे फासे—अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु खो का। पडिसवेदेइ—संवेदन करता है, अनुभव करता है।

मूलार्थ-जो व्यक्ति कर्मवन्ध की कारणभूत क्रियाओ के यथार्थ स्वरूप को भलीभाति नही जानता है और उनका परित्याग नही करता है, वह इन दिशा—विदिशाओ मे परिभ्रमण करता है और सभी दिशा-विदशाओ मे कर्मों के साथ जाता है। विभिन्न योनियो के साथ सम्वन्धित होता है और अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु खो का सवेदन एव उपभोग करता है।

हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने ससार-परिभ्रमण एव दुःख-प्राप्ति की कारणभूत सामग्री का उल्लेख करके सुखाभिलाषी मुमुक्षु को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

"अपरिण्णायकम्मा" का अर्थ है—अपरिज्ञात-कर्मा। जो प्राणी कर्म वन्धन की कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप से तथा उसकी हेय—उपादेयता से अपरिचित है, उसे अपरिज्ञात-कर्मा कहा है। क्योंकि उसमे ज्ञान का
उसे कर्म और क्रिया के स्वरूप का सम्यग् वोध नहीं होता है और [illegible]
नहीं होने के कारण वह अज्ञानी व्यक्ति न हेय क्रिया का परित्याग कर सकता

है और न उपादेय को स्वीकार कर सकता है। क्योंकि हेय और उपादेय क्रिया का त्याग एवं स्वीकार वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है। ज्ञान में जानना और त्यागना दोनों का समावेश हो जाता है। इसी कारण ज्ञान का परिज्ञा कहा है और परिज्ञा के ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, ये दो भेद करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान का महत्त्व हेय वस्तु का या आत्मविकास में बाधक पदार्थों का त्याग करने में है।

जो व्यक्ति कर्म एवं क्रिया के यथार्थ ज्ञान से रहित है, अपरिचित है वह स्वकृत कर्म के अनुरूप द्रव्य और भाव दिशाओं में परिभ्रमण करता है। जब तक आत्मा कर्मों से संबद्ध है, तब तक वह संसार के प्रवाह में प्रवहमान रहेगा। एक गति से दूसरी गति में या एक योनि से दूसरी योनि में भटकता फिरेगा। इस भव भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए कर्म एवं क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना तथा उसके अनुरूप आचरण बनाना मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक है। इसलिए आगमों में सम्यग् ज्ञान पूर्वक सम्यग् क्रिया करने का आदेश दिया गया है।

"अयं पुरिसे जे - " प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पुरिसे' पद पद 'पुरुष' इस अर्थ का बोधक है। पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक ने लिखा है —

"पुरि शयनात्पूर्णं सुखं-दुःखानां च पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा"

वृत्तिकार ने पुरुष शब्द के दो अर्थ किए हैं— १-सामान्य जीव और २-मनुष्य। इसकी निरुक्ति भी दो प्रकार की है। जब पुरुष शब्द की "पुरि शयनादिति पुरुष" यह निरुक्ति की जाती है तो इसका अर्थ होता है— शरीर में शयन करने से यह जीव पुरुष कहा जाता है। किन्तु जब इसकी यह निरुक्ति होती है कि 'सुख-दुःखानां पूर्ण इति पुरुषः" तब इसका अर्थ होता है— "जो सुखों और दुःखों से व्याप्त रहता है, वह पुरुष है"। इस तरह पुरुष शब्द से जीव एवं मनुष्य दोनों का बोध होता है।

प्रस्तुत सूत्र में "इमाओ दिसाओ" ऐसा कह कर पुनः जो "सव्वाओ दिसाओ" का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम पाठ में पठित, दिशा शब्द सामान्य रूप से पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का परिबोधक है तथा दूसरे पाठ में व्यवहृत दिशा शब्द, द्रव्य दिशा और भाव दिशा रूप इन सभी दिशाओं

का परिचायक है।

"अनेगरूवाओ जोणीओ" इस पाठ मे प्रयुक्त "जोणीओ" पद योनि का बोधक है। टीकाकार ने योनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

"यौति मिश्रीभवत्यौदारिकादिशरीरवर्गणापुद्गलैरसुमान् यासु ता योनय प्राणिनामुत्पत्तिस्थानानि।

अर्थात्— यह जीव औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलों को लेकर जिसमे मिश्रित होता है, सबन्ध करता है, उस स्थान को योनि कहते है। दूसरे शब्दों मे योनि उत्पत्ति स्थान का नाम है। प्रज्ञापना सूत्र के योनिपद मे नव प्रकार की योनि बताई गई है— १- शीत, २- ऊष्ण, ३- शीतोष्ण, ४- सचित्त, ५- अचित्त, ६- सचित्ताचित्त (मिश्रित), ७- सवृत्त ८- विवृत्त और ९-सवृत्तविवृत्त।

इन की अर्थ-विचारणा इस प्रकार है—

१- शीत योनि— जिस उत्पत्ति स्थान मे शीत स्पर्श पाया जाए उसे शीत योनि कहते हैं।

२- ऊष्ण योनि— जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श ऊष्ण हो उसे ऊष्ण योनि कहा है।

३- शीतोष्ण योनि— जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श कुछ शीत और कुछ ऊष्ण है, उसे शीतोष्ण योनि कहा है।

४- सचित्त योनि— जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से अधिष्ठित है, सयुक्त है, उसे सचित्त योनि कहते है।

५- अचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से युक्त नहीं है, उसे अचित्त योनि कहा है।

६- सचित्ताचित्त योनि— जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग आत्म प्रदेशों से युक्त हो और कुछ भाग आत्म प्रदेशों से रहित हो, उसे सचित्ताचित्त योनि कहते है।

७- संवृत्तयोनि— जो उत्पत्ति स्थान प्रच्छन्न हो, अप्रकट हो, आखों द्वारा दिखाई नहीं देता हो, उसे संवृत्त योनि कहते हैं।

८- विवृत्त योनि— जो उत्पत्ति स्थान अनावृत्त हो, खुला हो उसे विवृत्त योनि कहते हैं।

९- सवृत्तविवृत्तयोनि— जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग प्रच्छन्न हो, आवृत

हो और कुछ भाग अनावृत हो, उसे संवृत -विवृत योनि कहते हैं।

गर्भज मनुष्य तिर्यञ्च और देवों की शीतोष्ण योनि होती है। तेजस्कायिक— अग्नि के जीवों की योनि उष्ण है, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की तथा गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छिम मनुष्य और नरक के जीवों की शीत उष्ण और शीतोष्ण तीनों तरह की योनियां होती हैं।

देव और नारक जीवों की योनि अचित्त होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि सचित्ताचित्त होती है। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्छिम मनुष्य, इन सब जीवों की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त तीनों तरह की योनियां होती हैं।

नारक, देव और एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि संवृत-विवृत होती है। तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्छिम मनुष्य आदि जीवों की योनि विवृत होती है।

इस तरह योनियों के नव भेद होते हैं। इनका उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त योनि के और भी अनेक भेद मिलते हैं। उनकी संख्या ८४ लाख बताई गई है। वह इस प्रकार है—

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इन में से प्रत्येक काय की सात-सात लाख योनियां होती हैं। प्रत्येक वनस्पति काय की १० लाख योनियां हैं, साधारण वनस्पति (अनन्त काय) की १४ लाख, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में से प्रत्येक की दो- दो लाख, नारक, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की चार-चार लाख और मनुष्य की १४ लाख योनियां होती हैं। इस प्रकार संसार के समस्त जीवों की ७+७+७+७+१०+१४+२+२+२+४+४+४+१४=८४ लाख योनियां बनती हैं†। इन सब योनियों में संसारी जीव जन्म-मरण करते हैं और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहने के कारण ही जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक संक्लेश एवं दुःखों का संवेदन एवं सामना करना पड़ता है।

"विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ" प्रस्तुत वाक्य में व्यवहृत 'विरूपरूप' 'स्पर्श'

---

† पुढवी-जल-जलण-मारुय-एक्केक्के सत्त-सत्त लक्खाओ।
वणपत्ते य अणंते दस चोद्दस जोणि लक्खाओ॥
विगलिंदिएसु दो-दो चउरो-चउरो य नारयसुरेसु।
तिरिएसु होंति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु॥

शब्द का विशेषण है। 'विरूपरूप' शब्द 'विरूप+रूप' इन दो शब्दों के संयोग से बना है। विरूप वीभत्स और अमनोज्ञ को कहते हैं और रूप शब्द से स्वरूप का बोध होता है। अत 'विरूपरूप' शब्द का अर्थ हुआ— वीभत्स और अमनोज्ञ स्वरूप वाला। 'स्पर्श' शब्द स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दु खों का परिबोधक है स्पर्श को उपलक्ष्य मान लेने पर वह शारीरिक एव मानसिक दोनों दु खो का परिचायक बन जाता है।

यहा यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सूत्रकार ने "फासे" शब्द का उल्लेख करके केवल स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दु खों की ओर सकेत किया है, किन्तु हम यह देखते हैं कि घ्राण, रसना आदि अन्य इन्द्रियों के आश्रित दु ख का संवेदन होता है, पर सूत्रकार ने उन का उल्लेख नहीं किया, इसका क्या कारण है?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि स्पर्श इन्द्रिय आश्रित दु ख का उल्लेख करके सूत्रकार ने अन्य इन्द्रियों द्वारा संवेदित दु खों को स्पर्श इन्द्रिय द्वारा सवेदित दु खों में ही समाविष्ट कर दिया है। अन्य इन्द्रियों के नाम का उल्लेख न करके स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख करने का यह कारण रहा है कि स्पर्श इन्द्रिय ससार के सभी प्राणियों के होती है। अन्य इन्द्रियें कुछ ही प्राणिओं के होती हैं। जैसे—नारक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के श्रोत्र इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और स्पर्श इन्द्रिय होती है। परन्तु, चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्र इन्द्रिय नहीं होती, त्रीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय नहीं होती, द्वीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय नहीं होती, और एकेन्द्रिय जीवों के केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है। अन्य इन्द्रियें नहीं होतीं। इससे स्पष्ट हो गया कि अन्य इन्द्रियें कई जीवों मे होती हैं और कई जीवों मे नहीं भी पाई जातीं, परन्तु स्पर्श इन्द्रिय ससार के सभी जीवों को प्राप्त है। और अन्य इन्द्रिएं स्पर्श के आश्रित हैं इसलिए स्पर्श इन्द्रिय के आश्रित दु खों एव सक्लेशों के संवेदन का उल्लेख किया गया और इससे सभी इन्द्रियों के द्वारा सवेदित दु ख को समझ लेना चाहिए।

'संधेइ' इस पाठ के स्थान पर कई प्रतियों में 'सधावइ' (साधावति) पाठ भी उपलब्ध होता है। 'संधेइ' का अर्थ है — प्राप्त करता है और 'साधावइ' का अर्थ होता है— बार-बार गमन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अपरिज्ञात कर्मा पुरुष (आत्मा) अनेक योनियों में परिभ्रमण करता है अनेक और विवध दु खों का सवेदन करता है। योनि-भ्रमण और दु खों से छुटकारा पाने के लिए [illegible]

विवेक एवं साधना की आवश्यकता होती है, इसी का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया ॥१०॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता।

पदार्थ — तत्थ — इन कर्म समारम्भों के विषय में। खलु — निश्चय ही। भगवता — भगवान ने। परिण्णा — परिज्ञा विवेक का। पवेइया—उपदेश दिया है।

मूलार्थ—कर्म-बन्धन की कारण भूत क्रियाओं के सबन्ध में भगवान महावीर ने परिज्ञा–विवेक का उपदेश दिया है।

हिन्दी विवेचन—

यह हम पहले बता चुके हैं कि जीवन में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि ज्ञान प्रकाश है, आलोक है। उसके उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं महोज्ज्वल प्रकाश में मनुष्य वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता को भली-भांति समझ सकता है। साधक को हेय और उपादेय वस्तुओं का तथा उन्हें त्यागने एवं स्वीकार करने का बोध भी सम्यग् ज्ञान से ही होता है। अतः ज्ञान का उपयोग एवं महत्त्व ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है, अन्य नहीं।

एक अबोध बालक ज्ञान के सही एवं वास्तविक मूल्य को नहीं समझता। उसे इस बात का पता ही नहीं है कि ज्ञान जीवन के कण-कण को प्रकाश से जगमगा देता है, उज्ज्वल आलोक से भर देता है। वह यह नहीं जानता कि ज्ञान मनुष्य का अन्तर्चक्षु है, जिसके अभाव में बाह्य चक्षु होते हुए भी वह अंधा समझा जाता है। और बिना शृंग-पूंछ का पशु माना जाता है। ज्ञान के इस महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही वह दिन भर खेलता-कूदता एवं आमोद-प्रमोद करता रहता है। परन्तु ज्ञान का महत्त्व समझने के बाद उसका जीवन बदल जाता है। खेल-कूद का स्थान शिक्षा ले लेती है। वह दिन-रात ज्ञान की साधना में संलग्न रहने लगता है। यही स्थिति अज्ञ एवं ज्ञानी पुरुष की है। अज्ञ व्यक्ति जहां दिन-रात विषय-वासना में निमज्जित रहता है, भौतिक सुखों के पीछे निरन्तर दौड़ता फिरता है, वहां ज्ञानी पुरुष दिन-रात सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते ज्ञान की साधना में संलग्न रहता है। प्रत्येक समय, प्रत्येक क्रिया में विवेक एवं ज्ञान के प्रकाश को सामने रखकर गति करता है। वह जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ की बातों में नहीं खोता। क्योंकि

वह ज्ञान के, विवेक के मूल्य को जानता है और वह यह भी जानता है कि ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश मे गति करके ही आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुच सकता है, अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

वस्तुत ज्ञान से जीवन ज्योतिर्मय बनता है। आत्मा ज्ञान के प्रकाश मे ही अपने ससार परिभ्रमण एवं उससे मुक्त होने के कारण को जान सकती है। ससार में परिभ्रमण करने का कारण कर्म है। कर्म से आबद्ध आत्मा ही विभिन्न क्रियाओं मे प्रवृत्त होती है और क्रिया से फिर कर्म का संग्रह होता है। इस तरह जब तक कर्म का अस्तित्व रहता है, तब तक ससार का प्रवाह प्रवहमान रहता है। इसलिए सूत्रकार ने पिछले सूत्र मे कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं का परिज्ञान कराया है। क्योंकि इन क्रियाओं एव उनके परिणामों का सम्यक्तया बोध होने पर साधक उनका परित्याग कर सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ससार परिभ्रमण के दु खों से बचने के लिए साधक को कर्म बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के सबन्ध मे परिज्ञा- विवेक रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र मे विवेक का तात्पर्य है— सर्व प्रथम कर्म बन्धन की हेतुभूतक्रियाओं के स्वरूप को समझना और तदनन्तर उनका परित्याग करना।

'तत्थ' इस पद की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलाक कहते हैं—

"तत्र कर्मणि व्यापारे अकार्षमह, करोमि करिष्यामित्यात्मपरिणतिस्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे।

अर्थात्— 'तत्र' शब्द — मैंने किया, मैं कर रहा हूँ और मैं करूंगा, इस प्रकार की आत्म परिणति के स्वभाव से होने वाला मन, वचन और काया के व्यापार का बोधक है। सामान्यतया यह व्यापार त्रिविध होता है, किन्तु यह कृत, कारित और अनुमोदित से सबद्ध होने के कारण नव प्रकार का बन जाता है और उक्त भेदों को भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों से सबन्धित कर लेने पर इनकी सख्या २७ हो जाती है। इन सब भेदों का वर्णन पिछले सूत्र मे किया जा चुका है। अस्तु 'तत्र' शब्द को क्रिया के २७ भेदों का परिचायक समझना चाहिए। और मुमुक्षु को इन सभी व्यापारों मे विवेक रखना चाहिए।

'भगवता परिण्णा पवेइया' प्रस्तुत वाक्य में प्रयुक्त 'परिण्णा' शब्द परिज्ञा का परिबोधक, परिष्कृत और प्रशस्त ज्ञान का नाम परिज्ञा है। यह ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा के भेद से दो प्रकार की है। ज्ञ परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया का बोध होता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से आत्मा क्रिया का परित्याग

करता है।

ज्ञ परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है। इस तरह परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप को जान समझ कर एवं त्यागकर साधक संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इस पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब व्यक्ति परिज्ञा द्वारा संसार परिभ्रमण के कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप को जान लेता है तब फिर वह कर्मास्रव की कारण रूप क्रियाओं के व्यापार में क्यों प्रवृत्त होता है? पाप एवं दुष्कृत्य करने को क्यों तत्पर होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणणाए पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउ ॥११॥

छाया—अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन मानन-पूजनाय जातिमरण-मोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुम्।

पदार्थ—इमस्स चेव जीवियस्स—इस जीवन के लिए। परिवंदण-माणण-पूयणाए—परिवन्दन-प्रशंसा सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म मरण और मुक्ति लेने के लिए। दुक्ख-पडिघायहेउं—दुःखों से छुटकारा पाने के लिए वह जीव पाप क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं।

मूलार्थ—अनेक संसारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने के लिए अर्थात् बहुत वर्षों तक जीवित रहने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से सत्कार और पूजा प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से जन्म मरण और मुक्ति के हेतु, दुःखों से छुटकारा पाने की आकांक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं।

हिन्दी विवेचन—

प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता। सब प्राणियों को जीवन प्रिय है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को बना रखने का यथासंभव प्रयत्न करता है। अपने आपको लम्बे समय तक जीवित रखने के लिए वह उचित एवं अनुचित काम का तथा पाप-पुण्य का जरा भी ध्यान नहीं करता। इस तरह जीवन को स्थायी बनाए रखने की झूठी लालसा या मृगतृष्णा के पीछे वह अनेक पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। और इसका मुख्य कारण है— नश्वर जीवन के प्रति

प्राणी की मोह जन्य आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा।

प्रस्तुत सूत्र में पाप-प्रवृत्ति मे प्रवृत्त होने के आठ कारण वताए हैं— १-जीवन, २-परिवन्दन, प्रशसा, ३-मान-सत्कार, ४-पूजा-प्रतिष्ठा, ५—जन्म, ६- मरण, ७-मुक्ति और ८- दुःखों का प्रतिकार।

१—जीवन

ससार मे प्रत्येक प्राणी को एक-दूसरे का सहारा-सहयोग अपेक्षित है। विना सहयोग के अकेला प्राणी निर्वाध गति से जीवन यात्रा नहीं कर सकता है। इसलिए जीव का कार्य रूप से लक्षण वताते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा— "एक-दूसरे का उपकारी होना यह जीव का लक्षण है† ।" इस दृष्टि से जीवन यात्रा को चलाने के लिए यदि एक-दूसरे का सहयोग लिया जाता है, तो वह व्यवहार दृष्टि से वुरा नहीं है। यह सत्य है कि इस क्रिया मे भी हिसा होती है, परन्तु क्रिया के कर्त्ता की भावना शुद्ध एवं सात्विक होने के कारण तथा इस से सर्वथा निवृत्त होने की असमर्थता के कारण उसे विवश होकर करना पड़ता है, इस अपेक्षा से वह अशुभ कर्म वन्ध से वच जाता है या स्वल्प मात्रा में ही वन्ध हो पाता है।

परन्तु, कुछ व्यक्ति यह मानकर चलते हैं कि "जीव ही जीव का भोजन है‡।" जीव को मारे विना जीवन चल ही नहीं सकता। अत जीवन निर्वाह के लिए दूसरे प्राणियों को त्रास देते हुए वे ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। अपने शरीर को परिपुष्ट वनाने एवं स्वास्थ्य वनाने के लिए अनेक पशु एवं पक्षियों के मांसका, खून का, चर्वी का तथा मद्य एवं आसवों (द्राक्षासवादि) का सेवन करते हैं। इस तरह वे विषय-भोगों को भोगने के लिए अनेक प्रकार के पाप कार्यों को करते हुए शर्म एवं लज्जा का अनुभव नहीं करते और यह भी नहीं सोचते विचारते कि जिस जीवन के लिए, शरीर को स्वस्थ रखने एव वलिष्ठ और शक्ति-शाली वनाने के लिए हम दुष्कर्म कर रहे हैं, वह जीवन या शरीर एक दिन नष्ट होने वाला है, यह जीवन सदा रहने वाला नहीं है। इस तरह क्षणिक आनन्द के लिए वे संसारी प्राणी विविध पाप कार्यों में संलग्न होकर अशुभ कर्मों के वोझ से भारी वनते हैं, पाप कर्मों का सग्रह करके ससार में परिभ्रमण करते हैं।

---

†परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र

‡जीवोजीवस्य भोजनम्। मनुस्मृति।

२ परिवन्दन

परिवन्दन प्रशंसा का नाम है। दुनिया में प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म का आसेवन करता है। हम देखते हैं कि कई पहलवान दुनिया में प्रशंसा पाने के हेतु मांस मछली एवं अंडे आदि अभक्ष्य पदार्थ खाकर अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाते हैं और फिर उसका प्रदर्शन करके लोगों से प्रशंसा पाते हैं। आज भी कुछ लोग प्रतिवर्ष यौरुप में इंगलिश चैनल नदी को पार करते हैं। वह एक भयंकर नदी है, नदी क्या छोटा-सा समुद्र ही है। उसे पार करने के पीछे एक ही कामना रही हुई है और वह यह कि संसार में प्रशंसा पाना समाचार पत्रों के मुख पृष्ठ पर तथा लोगों की जबान पर अपना नाम देखना या सुनना। कुछ लोग प्रशंसा पाने के लिए गर्मी की ऋतु में भी अग्नि या पंचाग्नि तपते हैं। इस तरह प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य पृथ्वी, पानी वनस्पति अग्नि पशु पक्षी आदि अनेक जीवों की हिंसा करता है और उससे पाप कर्म का संग्रह करता है।

३-मान

मान का अर्थ है — आदर-सत्कार। मनुष्य मान — सम्मान या आदर-सत्कार पाने के लिए अनेक तरह के दुष्कृत्य करता है। अपना सम्मान बनाए रखने के लिए मनुष्य छल-कपट करता है, अपने से कमजोर व्यक्तियों को आतंकित करता है, डराता है धमकाता है। इस तरह मान-सम्मान की चाह के वशीभूत हुआ मनुष्य मनुष्यों का शोषण करता, निरपराध प्राणियों पर प्रहार करता है और यदि शक्तिशाली हुआ तो युद्ध का दावानल सुलगा देता है। किसी ने जरा सा अपमान किया या आदेश नहीं माना कि उसका दिमाग गर्म हो जाता है और वह उसका बदला खून की नदी बहाकर ही लेता है। चक्रवर्ती सम्राट भरत ने केवल अपना आदेश न मानने के कारण अपने छोटे भाइ बाहुबली पर आक्रमण किया था। आज भी मनुष्य अपना मान सम्मान बढ़ाने के लिए दूसरों को कुचलते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। इसके अतिरिक्त वह और भी दुष्कर्म करता है — अधिकारियों को रिश्वत देता है, उन्हें सामिष भोजन खिलाता है, मदिरा पिलाता है, वेश्यालय की सैर कराता है। इस प्रकार मान-सम्मान के लिए मनुष्य अनेक दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होकर पाप कर्म का उपार्जन करता है और परिणाम स्वरूप चारगति में परिभ्रमण करता है।

४- पूजन

अन्न, वस्त्र, जल, पुष्प–फल आदि से या पशु-पक्षी का बलिदान करके देवी,देवताओं को प्रसन्न करना पूजन कहलाता है। अज्ञानी लोक पूजा के नाम पर अनेक मूक प्राणियों की तथा पुष्प, फल, जल आदि एकेंद्रिय जीवों की व्यर्थ हिंसा करके कर्मों का संग्रह करते हैं।

५– जाति- जन्म

जाति का अर्थ है—जन्म । पुत्र आदि के जन्म पर तथा जन्म दिन की याद मे मनुष्य अनेक तरह आरभ-समारभ के कार्य करता है । इसके अतिरिक्त परलोक मे अच्छा जन्म मिलेगा । इस लोभ से कई अज्ञ व्यक्ति जल-प्रवाह मे प्रवाहित होते हैं, गगा की तेज धारा मे जल-समाधि लगाते हैं, स्त्री को मृतपति के साथ जला देते है। पति के साथ पत्नी के जलने की परम्परा को सतीप्रथा कहते हैं । कुछ लोगों का विश्वास है कि मृतपति के साथ जलने से अगले जन्म मे उसे वही पति मिलेगा । इस तरह जन्म को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य आत्म हत्या जैसा जघन्य कार्य एव अन्य हिंसक कार्य करके कर्मों का संग्रह करता है ।

६-मरण

मरण अर्थात् मृत्यु के लिए मनुष्य अनेक दुष्कर्म करता है । वर्तमान के दु खमय जीवन से घबराकर कष्ट से बचने के लिए मनुष्य विष खाकर गले मे रस्सी का फदा डालकर, मकान की छत आदि से गिरकर या अन्य किसी साधन से आत्म-हत्या करता है । इसके अतिरिक्त मृत्यु से बचने के लिए मास मदिरा युक्त औपधों का सेवन करता है, देवी-देवताओं के सामने पशुओं का बलिदान करता है। इस तरह मृत्यु के निमित भी मनुष्य अनेक पाप जन्य कार्य करता है।

७-मोक्ष

मोक्ष-मुक्ति को कहा गया है। मुक्ति पाने के लिए भी बाल-अज्ञानी जीव हिंसा एव पापों का आसेवन करते है। कई लोग मुक्ति पाने के लिए पञ्चाग्नि तापते हैं, वृक्ष से पैर बाध कर उल्टे लटक जाते हैं और नीचे आग जला देते है, सर्दी की ऋतु मे घटों पानी मे खड़े रहते हैं, केवल कन्द-मूल या शैवाल का भोजन करते हैं। इस तरह मुक्ति पाने के हेतु अनेक पाप कार्य करके अज्ञानी जीव कर्मों का सग्रह करके ससार मे ही परिभ्रमण करते हैं।

"जाइमरण-मोयणाए" का यदि "जातिश्च मरणं च मोचनं च" जातिमरणमोचन" यह विग्रह न मानकर "जातिश्च मरणं च जातिमरणे तयो मोचनाय ऐसा विग्रह किया जाए तो उसका अर्थ होगा कि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, हम देखते हैं कि कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए अनेक तरह की सावद्य क्रियाएं करते हैं, मास तप करते हैं, पञ्चाग्नि तपते हैं। इस प्रकार मुक्ति के लिए सावद्य अनुष्ठान करके कई प्राणी कर्मों का संग्रह करते हैं।

८-दुःख प्रतिघात

दुःख-प्रतिघात का अर्थ है—दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाना। प्रत्येक व्यक्ति दुःखों से मुक्त-उन्मुक्त होना चाहता है। पर उसे सन्मार्ग का ज्ञान नहीं होने से अनेक अज्ञप्राणी दुष्प्रवृत्तियों का सेवन करते हैं। संसार में अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, शोषक शोषित आदि वर्गों एवं जातियों का चल रहा संघर्ष दुःख से छुटकारा पाने का ही प्रतीक है। दुःखों से मुक्त होने के लिए मनुष्य उचित-अनुचित साधनों से दिन रात धन बटोरने एवं परिवार बढ़ाने में लगा रहता है। धन और जन की अभिवृद्धि के लोभ में आकर वह अनेक दुष्कर्मों में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का संग्रह करता है।

इस तरह मनुष्य का जीवन सांसारिक कामनाओं से आवच्छिन्न है और वह उनकी पूर्ति के निमित्त रात-दिन विभिन्न कर्मों में संलग्न रहता है। इस संबंध में संस्कृत के एक विद्वान आचार्य ने बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा है—

> "आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो दारेषु पश्चात् पुत्रिण्य पुत्रेषु।
> कर्तुं पुनस्तेषु गुण प्रकर्षं चेष्टा तदूर्ध्वं परलंघनाय ।

अर्थात्— गृहस्थों का सर्वप्रथम प्रयास धन-केन प्रकारेण संसार में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रहता है। दूसरे स्त्री को पाने एवं तीसरे में पुत्र प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। तदनन्तर वे अपने पुत्रों को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस तरह घड़ी की सुई की तरह उनका प्रयास प्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है। उनकी अतृप्त कामनाओं का प्रवाह जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी अपनी अन्तर कामनाओं या अभिलाषाओं के वशीभूत होकर पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। अब उसे क्रिया के हेय

उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया बोध हो जाता है और वह परिज्ञा—विवेक युक्त होकर साधना मे प्रवृत्त होता है फिर वह ससार मे अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पाप कर्म से सहज ही वच जाता है। क्योंकि जव तक क्रिया मे विवेक जागृत नहीं होता तभी तक पाप कर्म का वन्ध होता है। विवेक जागृत होने के वाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का वन्ध नहीं होता†। और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनैः-शनैः क्रियाओ का परित्याग करता हुआ एक दिन ससार मे रोक रखने वाली क्रिया मात्र से मुक्त हो जाता है। साधना की चरम सीमा को लाघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले क्रिया सम्बन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमे विवेक पूर्वक गति करे। इससे साधक ससार सागर को पार करके एक दिन कर्म वन्धन की कारण-भूत क्रियाओं से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा।

इसी वात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार क्रियाओं की इयत्ता—परिमितता वताते हुए कहते हैं—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवन्ति ॥१२॥

छाया—एतावन्तः सर्वेलोके कर्म समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति।

पदार्थ—लोगसि—लोक में। एयावती—इतने ही। सव्वावती—सर्व। कम्मसमारम्भा—कर्म सम्भारम्भ-क्रिया विशेष। परिजाणियव्वा—परिज्ञातव्य-जानने योग्य। भवति—होते है।

मूलार्थ—समस्त लोक मे कर्म बन्धन की हेतुभूत इतनी ही क्रियाए होती है—जितनी पूर्व सूत्र मे बताई गई हैं (२७ क्रियाए)। न इस से अधिक होती हैं और न कम, ऐसा समझना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन—

क्रिया के स्वरूप एव भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र

---

† जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे; जयेंसए,
जय भुञ्जन्तो-भासतो, पव्व कम्म न वन्धइ।" दशवैकालिक सूत्र, ४, ६

में यह बताया गया है कि कर्मबन्धन की हेतुभूत जितनी क्रियाएं बताई गई हैं संसार में उससे न्यूनाधिक क्रियाएं नहीं हैं। प्रस्तुत सूत्र में दृढ़ता के साथ पूर्व सूत्रों में वर्णित विषय का समर्थन किया गया है और साधक को प्रेरित किया गया है कि वह क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप को समझकर उनमें विवेक पूर्वक गति करे अर्थात् पहले हेय-उपादेय का भेद करके हेय को सर्वथा त्यागकर साधना में तेजस्विता लाने वाली, साध्य के निकट पहुंचाने वाली उपादेय क्रियाओं को स्वीकार करे और यथासमय उनका भी यथाशक्य त्याग करता हुआ एक दिन क्रिया मात्र का परित्याग करने, अशुभ का ही नहीं संपूर्ण शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त बने। इसी उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि कर्म बन्ध की हेतुभूत इतनी ही क्रियाएं हैं। साधक को इनका परिज्ञान होना चाहिए। क्योंकि ज्ञान होने पर ही साधक उनसे विरत हो सकेगा अतः उनके स्वरूप आदि का वर्णन करके सूत्रकार उनसे (क्रियाओं से) विरत होने का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

मूलम्—जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे ॥१३॥ त्तिबेमि ।

छाया—यस्य एते लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवंति स खलु[1] मुनिः परिज्ञात कर्मा । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ— जस्स—जिस मुमुक्षु के। एते—ये (पूर्वोक्त)। कम्मसमारम्भा—कर्म समारम्भ—क्रिया विशेष। परिण्णाया—परिज्ञात। भवंति—होते हैं। से—वह। मुणी—मुनि। परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा होता है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिस मुमुक्षु को पूर्वोक्त कर्म समारम्भ परिज्ञात हैं वह मुनि परिज्ञातकर्मा—कर्म और क्रिया के स्वरूप को भली भांति जानने और जान समझ कर त्याग करने वाला तथा विवेक-युक्त संयम साधना में प्रवृत्त होता है।

हिन्दी-विवेचन—

ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के बन्ध की कारण क्रिया विशेष हैं, उन्हीं को कर्म समारंभ कहते हैं। उनका भली-भांति ज्ञाता अर्थात् कर्मबन्ध के कारणभूत क्रियाओं को सम्यक्तया जानने तथा तदनुसार उनका परित्याग करने वाला, जो मुनि

है वह परिज्ञात कर्मा कहलाता है। परिज्ञात कर्मा का तात्पर्य है— वह मुनि जो ज्ञ परिज्ञा से उसके वास्तविक स्वरूप को जानता, समझता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उसका परित्याग करता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञान पूर्वक आचरण मे प्रवृत्त होता है। उसका ज्ञान आचरण से समन्वित है और आचरण ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिर्मय है। उसके जीवन मे ज्ञान और क्रिया का या यों कहिए कि विचार और आचार का विरोध नहीं, समन्वय है। और इन दोनों का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है, आत्मा को क्रिया से सर्वथा निवृत्त करने वाला है। किसी भी गन्तव्य स्थान पर पहुचने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वित प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जिस स्थान पर पहुचना है पहले उस स्थान का एवं उसके रास्ते का ज्ञान होना जरूरी है और फिर तदनुरूप क्रिया की आवश्यकता है। ज्ञान और क्रिया के सुमेल से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुच सकता है— चाहे वह गन्तव्य स्थान लौकिक हो या लोकोत्तर।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए आगम मे कहा गया है कि "वन मे निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपितु ज्ञान से मुनि होता है॥।' जिस साधु के जीवन मे ज्ञान का प्रकाश है, आलोक है वह मुनि है, भले ही वह जगल मे रहे, पर्वतों की गुफाओं में रहे या गाव एव शहर मे रहे। स्थान से उसके जीवन मे कोई अन्तर नहीं पड़ता यदि उसके जीवन मे ज्ञान है। टीककार आचार्य शीलाक ने मुनि शब्द की यही परिभाषा की है। उन्होंने लिखा है कि 'जो मननशील है या लोक की, जगत की त्रिकालवर्ती अवस्था को जानने वाला है, वह मुनि है†।" इससे यह स्पष्ट हो गया कि जिस साधक को क्रिया की हेय-उपादेयता का सम्यक्तया परिबोध है और जो परिज्ञा—विवेक के साथ संयमसाधना मे प्रवृत्त है, वह मुनि है और वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है।

क्रिया सबन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि साधक कर्म बन्धन की हेतु भूत क्रिया के स्वरूप का सम्यक्तया बोध करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे। क्योंकि प्रत्येक साधक का मुख्य उद्देश्य क्रिया मात्र से सर्वथा निवृत्त होना है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है या सीधी-सी भाषा मे कहे तो निर्वाण पद को प्राप्त करना है। इसलिए साधक की साधना मे तेजस्विता एवं गति पाने के लिए प्रस्तुत प्रकरण मे

॥ उत्तराध्ययन, २५, ३१–३२।

† मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिती मुनि"

आचारांग टीका १, १, १, ११

संसार में परिभ्रमण कराने की कारणभूत क्रिया के स्वरूप को जान-समझ कर त्यागने की प्रेरणा दी गई है।

'इतिबेमि' का अर्थ है—इस प्रकार मैं तुम से कहता हूँ। इसका तात्पर्य स्पष्ट रूप से यह है कि आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि—हे जम्बू! मैंने जो कुछ तुम्हें कहा है, वह जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है वैसा ही कहा है, मैं अपनी तरफ से कुछ नहीं कह रहा हूँ। 'इतिबेमि' के अन्तर में यही रहस्य अन्तर्निहित है। और इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि आगम के अर्थ रूप से उपदेष्टा तीर्थंकर ही होते हैं गणधर केवल उनके उपदेश को सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। यही बात सूत्रकार ने 'तिबेमि' शब्द से अभिव्यक्त की है।

॥ शस्त्रपरिज्ञा प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे सामान्य रूप से आत्मा के अस्तित्व का तथा आत्मा का लोक, कर्म और क्रिया के साथ किस तरह का सबन्ध है और यह आत्मा ससार मे क्यों परिभ्रमण करती है, इस बात को समझाया गया है। कर्मबन्धन की कारणभूत क्रिया एव उससे प्राप्त होने वाले दु खों का वर्णन करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो साधक परिज्ञातकर्मा होता है अर्थात् ज्ञ परिज्ञा (ज्ञान) के द्वारा कर्म बन्ध एव ससार परिभ्रमण के कारण को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा (आचरण) के द्वारा उनका परित्याग करता है, वही मुनि है। क्योंकि मुनि पद को वही पा सकता है, जो ससार परिभ्रमण एव कर्म बन्ध की कारणभूत क्रियाओं से विरक्त हो जाता है और इस विरक्ति के लिए पहले ज्ञान का होना जरूरी है। अत ज्ञान और आचार से युक्त साधक ही मुनि होता है । जो व्यक्ति क्रियाओं, के स्वरूप का बोध भी नहीं करता है और न उन्हें त्यागने का प्रयत्न करता है वह मुनि नहीं बन सकता और न कर्म बन्ध से मुक्त ही हो सकता है। क्रिया मे आसक्त व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध करता रहता है और परिणाम स्वरूप पृथ्व्यादि छ काय रूप योनियों मे परिभ्रमण करता फिरता है । इस लिए यह आवश्यक है कि पृथ्व्यादि योनियों के स्वरूप को भी समझ लिया जाए, जिससे साधक उनकी हिसा एव पाप कर्म के बन्ध से सहज ही बच सके। इस उद्देश्य से कि जीव-अजीव एव आरभ समारभ के ज्ञान से शून्य अज्ञ जीव पृथ्व्यादि के जीवों को किस प्रकार सताते हैं, परिताप देते हैं, इस बात को बताते हुए सूत्रकार दूसरे उद्देशक को प्रारंभ करते हुए कहते हैं—

मूलम्—अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए । अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति ॥१७॥

† 'आतुरा तथा परितावेन्ति' यह पद 'लोक' का विशेषण होने से एक वचनात होना चाहिए, परन्तु सिद्धात शैली के कारण यहा एक वचन के स्थान पर बहुवचन दोषावह नहीं है।

छाया—आर्त्तः लोकः परिद्यूनः (परिजीर्णः) दुस्संबोधः अविज्ञायकः अस्मिन् लोके प्रव्यथिते तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति।

पदार्थ—अट्टे—आर्त—पीड़ित। परिजुण्णे—प्रशस्त ज्ञानादि से हीन। दुस्संबोहे—कठिनता से बोध प्राप्त करने वाला। अविजाणए—विशिष्ट बोध रहित। पव्वहिए—विशेष पीड़ित। अस्सिं लोए—इस पृथ्वीकाय लोक में। तत्थ-तत्थ—खनन आदि उन-उन। पुढो—भिन्न २ कारणों के उत्पन्न होने पर। परितावेंति—पृथ्वीकाय के जीवों को परिताप देते हैं। पास—हे शिष्य! तू देख।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! विषय कषायादि कारणों से पीड़ित ज्ञान-विवेक से रहित दुर्लभ बोधि प्राणी इन व्यथित पीड़ित एवं दुःखित पृथ्वीकायिक जीवों को खान खोदने आदि अनेक तरह के कार्यों के लिए परिताप देते हैं उन्हें विशेष रूप से संतप्त करते हैं दुःख एवं संक्लेश पहुंचाते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र का पिछले सूत्र के साथ क्या संबन्ध है, यह हम द्वितीय उद्देशक की भूमिका में स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु इस सूत्र का पिछले उद्देशक के साथ परंपरागत संबन्ध भी है। वह इस प्रकार है—आचारांग सूत्र के आरंभ में कहा गया है कि इस संसार में किन्हीं जीवों को संज्ञा—ज्ञान या सम्यग् बोध नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। "अट्टे लोए" इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है—

आर्त्त—आर्त्त शब्द का सामान्य अर्थ पीड़ित होता है या अनेक दुःखों एवं आपत्तियों से आवेष्टित व्यक्ति को भी आर्त्त कहते हैं। परन्तु यहां राग-द्वेष एवं कषायों से आवृत विषय-वासना के दलदल में फंसे हुए व्यक्ति को, प्राणी को आर्त्त कहा है। क्योंकि विषय-कषाय एवं राग-द्वेष के वशीभूत हुआ आत्मा अपने हिताहित को भूल जाता है और नानाविध पाप कार्यों में प्रवृत्त होकर कर्मों का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप जन्म जरा और मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता हुआ दुःख एवं पीड़ा का संवेदन करता है। इस लिए क्रोध मान माया, लोभ, राग-द्वेष, विषय-विकार तथा दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त समस्त संसारी जीव आर्त्त कहे जाते हैं। क्योंकि वे इन दुष्कर्मों से युक्त होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, रात-दिन जन्म-मरण के जाल में फंसे रहते हैं।

लोक —

लोक क्या है? एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के समस्त गति एवं योनियों के जीवों के समूह को लोक कहते हैं।

परिद्यून—

जो जीव औपशमिक आदि प्रशस्त परिणामों से रहित हैं और मोक्ष मार्ग में सहायक साधनों से दूर हैं, उन अज्ञानी जीवों को "परिजुण्णे-परिद्यून" शब्द से अभिव्यक्त किया है। परिद्यून के भी द्रव्य और भाव दो भेद किए गए हैं। द्रव्य परिद्यून के सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार हैं। जीर्ण-शीर्ण शरीर या परिजीर्ण वृक्ष को सचित्त परिद्यून और पुराने वस्त्र आदि को अचित्त परिद्यून कहा है। और औदयिक भाव से युक्त प्राणी मे जो प्रशस्त ज्ञान या सम्यगज्ञान के अभाव को भाव परिद्यून कहा है।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उसमे ज्ञान का कभी भी सर्वथा लोप नहीं होता। अत प्रस्तुत प्रकरण मे जो ज्ञान का अभाव कहा गया है, वह प्रशस्त सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए, न कि ज्ञान मात्र की अपेक्षा से। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों मे ज्ञान का अस्तित्व रहता ही है। यह बात अलग है कि कुछ जीवों मे उसका अपकर्ष दिखाई देता है, तो कुछ मे उत्कर्ष। क्योंकि ज्ञान का विकास क्षयोपशम पर आधारित है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा आत्मा मे उतना ही ज्ञान का उत्कर्ष दिखाई देगा। और ज्ञानावरणीय कर्म जितना अधिक उदयभाव मे होगा उतना ही अधिक ज्ञान का अपकर्ष परिलक्षित होगा। इसलिए भाव परिद्यून शब्द के अर्थ मे जो प्रशस्त ज्ञान का अभाव बताया गया हैं, वह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए।

ज्ञान का सब मे अधिक उत्कर्ष मनुष्य जीवन मे परिलक्षित होता है और अधिक अपकर्ष एकेन्द्रिय जीवों में और उसमे भी सूक्ष्म निगोद के जीवों मे दिखाई देता है। यों कहना चाहिए कि यहीं से ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। जब आत्मा सूक्ष्म से बादर एकेन्द्रिय मे आता है, तो उसके ज्ञान में कुछ उत्कर्ष होने लगता है। इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे और पञ्चेन्द्रिय मे भी सन्नी असन्नी, पशु-पक्षी आदि की अनेक योनियों मे परिभ्रमण करता हुआ आत्मा जब मनुष्य जीवन मे पहुचता है, तो उसके ज्ञान का अच्छा विकास हो जाता है। मनुष्य जीवन का केन्द्र बिन्दु है। और योनियों में विकास का क्रम रहा हुआ है, परन्तु पूर्ण विकास का

अवसर मनुष्य के अतिरिक्त किसी योनि में भी नहीं है। यहां तक कि देव भी पूर्ण विकास करने में सर्वथा असमर्थ है। मनुष्य ज्ञान के परम उत्कर्ष को भी छू सकता है और अपकर्ष की चरम सीमा पर भी आ पहुंचता है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के मध्य में खड़ा है। उसके एक ओर उदयाचल है, तो दूसरी ओर अस्ताचल। जब मानव उत्कर्ष की ओर गतिशील होता है तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर सिद्धत्व को पा लेता है और जब पतन की ओर लुढ़कने लगता है, तो ठेठ निगोद में और उसमें भी सूक्ष्म निगोद में आ पहुंचता है और अनन्त काल तक अज्ञान अंधकार में भटकता-फिरता है, विकास, उत्कर्ष के अमूल्य अवसर को हाथ से खो देता है। अस्तु प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त परिद्यून शब्द भावविक भाव की अभिव्यक्ता की अपेक्षा से व्यवहृत हुआ है।

"दुस्संबोध" पद विषय-कषाय एवं मोह से युक्त तथा प्रशस्त ज्ञान से शून्य व्यक्तियों की अवस्था का परिसूचक है। 'दुस्संबोध' शब्द का सीधा सा अर्थ है— जिस व्यक्ति को धर्म मार्ग में या सत्कार्य में लगाना दुष्कर है अथवा जिसे प्रतिबोधित न किया जा सके। प्रश्न किया जा सकता है कि आर्त को दुस्संबोध कहने का क्या अभिप्राय है? वह सरलता से क्यों नहीं समझता? इसका समाधान करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में "अवियाणए—अविज्ञायक" पद का प्रयोग किया है। "अवियाणए" का अर्थ है— विशिष्ट बोध या ज्ञान से रहित और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि व्यावहारिक बोध से रहित मूर्ख किसी भी बात को जल्दी नहीं समझता। इसलिए विशिष्ट विचारकों ने ठीक ही कहा है कि मूर्खों को समझाने के लिए समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिसमें बोध नहीं है, विवेक नहीं है वह अपने हठ को छोड़कर सरलता से सन्मार्ग पर नहीं आ सकता। टेढ़े लोहे को आग में तपाकर सीधा-सरल बनाया जा सकता है, क्योंकि उसमें लचक है, नम्रता है। परन्तु टेढ़े-मेढ़े ठूंठ-लकड़ी के स्तम्भ को सीधा बनाना दुष्कर ही नहीं अति दुष्कर है। यही स्थिति विशिष्ट बोध-ज्ञान एवं विवेक विकल जीवों की है इसलिए उन्हें दुर्बोधि जीव कहा है।

इस तरह संसार में परिभ्रमणशील जीव आरंभ-समारंभ का आश्रयीभूत होने से संत्रस्त है, व्यथित है, आर्त है। जिसमें मनुष्य विषय कषाय एवं स्वार्थ के वशीभूत होकर कृषि कूप गृहनिर्माण, एवं स्नान आदि के लिए पृथ्वीकाय के जीवों को संताप एवं पीड़ा पहुंचाते हैं तथा उनकी हिंसा करते हैं। यों कहना चाहिए कि कर्मजन्य आवरण की विभिन्नता के कारण संसार में अनेक प्रकार के जीव होते हैं— कुछ विषय-कषाय से पीड़ित होते हैं, कुछ शरीर से पीड़ित होते हैं, कुछ प्रशस्त ज्ञान

से रहित या विवेक-विकल होते हैं, दुर्बोधि या विशिष्ट बोध से रहित होते हैं, और ये सब तरह के प्राणी अपने भौतिक सुख प्राप्ति के लिए अनेक साधनों तथा अनेक तरह से पृथ्वीकायिक जीवों का सहार करते हैं। इसलिए आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू से कहते है कि— "हे शिष्य! तू इनकी स्वार्थ-परायणता को देख—समझ।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इन आर्त एवं अज्ञ जीवों की विवेक विकलता एव दूसरे प्राणियो को सताप देने की बुरी भावना एव कार्य पद्धति को देख—समझ कर उससे बचकर गतिशील हो अर्थात् उनकी तरह अपने स्वाथ को साधने के लिए पृथ्वीकाय के जीवों का सहार मत कर।

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया कि आर्त एव दुर्बुद्धि युक्त जीव अपने स्वार्थ के लिए पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। इससे मन मे यह प्रश्न सहज ही उठता है कि पृथ्वीकाय मे कितने जीव हैं अर्थात एक या अनेक? इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संति पाणा पुढ़ो सिया, लज्जमाणा पुढ़ो पास अणगारामो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढ़विकम्मसमारंभेणं पुढ़विसत्थं समारंभेमाणा अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ †॥१५॥

छाया--सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिता लज्जमानाः पृथक् पश्य अनगाराः स्मः इति एके प्रवदमानाः यत् इदम् विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवी कर्म—समारम्भेण पृथिवीशस्त्र समारम्भमाणः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति।

पदार्थ— पाणा—प्राणी। पुढो—पृथक्-पृथक् रूप से। सिया—पृथ्वी के आश्रित हैं। लज्जमाणा—सयमानुष्ठान-परायण पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा से विरत। पुढो— प्रत्यक्ष-ज्ञानी—अवधि, मन पर्यव या केवल ज्ञान से युक्त तथा परोक्ष ज्ञानी—मति और श्रुत ज्ञान से युक्त। पास—तू देख। एगे— कोई एक। अणगारामो त्ति—हम अणगार हैं इस प्रकार। पवयमाणा — बोलते हुए। जमिण— इस पृथ्वीकाय को। विरूवरूवेंहि— अनेक तरह के सत्थेंहि—शस्त्रो के द्वारा। पुढवि-कम्म-समारभेण—पृथ्वीकाय—सबन्धी आरम्भ-समारम्भ

† "विहिंसइ" क्रिया का कर्ता 'एग' 'पद बहुवचनान्त है, इसलिए क्रिया भी बहुवचनान्त होनी चाहिए। परन्तु आर्ष होने के कारण बहुवचन के स्थान में एकवचन का आश्रयण है।

करते स । पुढविसत्थं–पृथ्वी काय के शस्त्र का । समारम्भेमाणा—प्रयोग करते हुए । अण्णे-अणेग रूवे—उस पृथ्वीकाय के आश्रित अन्य अनेक तरह के जीवों के । पाणे—प्राणो की । विहिंसइ— हिंसा करता है ।

मूलार्थ–हे शिष्य ! पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीर वाले और एक दूसरे से सबंधित है । इसलिए हिंसा से निवृत्त होने वाला साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से इन जीवों के स्वरूप को जानकर तथा लोकोत्तर लज्जा से युक्त हो कर पृथ्वीकायिक जीवों की रक्षा करता हुआ विचरण करता है । इसके विपरीत कुछ विचारक अपने आपको अनगार त्यागी एवं जीवों के सरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय का आरम्भ-समारम्भ करके जीवो की हिंसा करते है आरम्भ-समारम्भ एवं पृथ्वी के शस्त्र से व पृथ्वीकाय के जीवों का ही नहीं अपितु इसके आश्रय मे रहे हुए पानी वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि जीवो की भी घात करते हैं । इस बात को तू देख समझ !

हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय प्रत्येक शरीरी है[*] । असंख्यात है और उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना बड़ा है । व सब जीव पृथ्वीकाय के आश्रित है । कुछ लोग पृथ्वी को एक देवता के रूप में मानते हैं[†] । परन्तु जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं है । क्योंकि समस्त पृथ्वी को एक नहीं अनेक जीवों की प्रतीति स्पष्ट होती है । इस लिए उसे एक देवता के रूप में मानना युक्ति संगत नहीं है । वह एक जीव के आश्रित नहीं अपितु असंख्यात जीवों का पिण्ड है । इससे पृथ्वीकाय की चेतनता और असंख्य जीव युक्त दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं ।

---

[*] तिलों की पपड़ी में जैसे अनेकों तिल होते हैं वैसे पृथ्वीकाय में भिन्न भिन्न जीव भिन्न २ शरीर में रहते हैं । साधारण वनस्पति की तरह इसके एक शरीर में अनन्त जीव नहीं रहते । इसके एक शरीर में एक जीव ही रहता है । इसलिए पृथ्वीकाय को प्रत्येक शरीरी कहते हैं ।

[†] एक देवताधिष्ठिता पृथ्वी ।

इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष† ज्ञान से युक्त सयमशील अनगार-मुनिजन पृथ्वीकायिक जीवों के आरंभ-समारभ मे निवृत्त होकर उनकी रक्षा मे सलग्न होकर सयम का परिपालन करते है। परन्तु, इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो अपने आप को अनगार-साधु, मुनि कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा करते है और उसके साथ-साथ पृथ्वी के आश्रित रहे हुए वनस्पति आदि अन्य जीवों का घात करते है। इस तरह सूत्रकार ने कुशल और अकुशल या निर्दोष और सदोष अनुष्ठान का प्रतिपादन किया है। जिन साधकों के जीवन मे सद्ज्ञान है और क्रिया मे विवेक एव यतना है, उनकी साधना कुशल है, स्वय के लिए तथा जगत के समस्त प्राणिओं के लिए हितकर है, सुखकर है। परन्तु अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया अकुशल अनुष्ठान है, भले ही उससे कर्त्ता को क्षणिक सुख एव आनन्द की अनुभूति हो जाए, पर वास्तव मे वह सावद्य अनुष्ठान स्वय के जीवन के लिए तथा प्राणी जगत् के लिए भयावह है।

प्रस्तुत सूत्र के आधार पर मानव जीवन को दो भागों मे बाटा जा सकता है—१-त्याग प्रधान-निवृत्तिमय जीवन और २- भोग प्रधान-प्रवृत्तिमय जीवन। साधारणत प्रत्येक मनुष्य के जीवन में निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों ही कुछ अश मे पाई जाती हैं। त्याग प्रधान जीवन में मनुष्य दुष्कर्मों से निवृत्त होता है तो सत्कर्म मे प्रवृत्त भी होता है। यों कहना चाहिए कि असंयम से निवृत्त होकर सयम मार्ग मे प्रवृत्ति करता है, और जीवन मे भोग-विलास को प्रधानता देने वाला व्यक्ति रात-दिन वासना मे निमज्जित रहता है, पाप कार्यों एव दुष्प्रवृत्तियों मे प्रवृत्त रहता है और सत्कार्यों से निवृत्त भी होता है। तो प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय दोनों प्रकार के जीवन मे परिलक्षित होता है और यह भी स्पष्ट है कि त्यागप्रधान-निवृत्तिमय जीवन भी प्रवृत्ति के बिना गतिशील नहीं रह सकता, जब तक आत्मा के साथ मन, वचन और काय-शरीर के योगों का सबन्ध जुड़ा हुआ है, तब तक सर्वथा प्रवृत्ति छूट, भी नहीं सकती। फिर भी त्याग-निष्ठ और भोगासक्त जीवन में बहुत अन्तर है दोनों की निवृत्ति-प्रवृत्ति मे एकरूपता नहीं है।

निवृत्तिपरक जीवन मे निवृत्ति और त्याग की ही प्रधानता है—सावद्य प्रवृत्ति को तो उसमे जरा भी अवकाश नहीं है, जो योगों की अनिवार्य प्रवृत्ति होती है उसमे विवेकचक्षु सदा खुले रहते हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया सयम को परिपुष्ट करने तथा निर्वाण के निकट पहुचने के लिए होती है, अत उनकी प्रवृत्ति मे प्रत्येक प्राणि, भूत, जीव और सत्त्व की सुरक्षा का पूरा २ ध्यान रहता है। वे महापुरुष त्रिकरण और त्रियोग से किसी

† अवधि, मन पर्यव और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष और मति एव श्रुत ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना है।

सी जीव को पीड़ा एवं कष्ट पहुंचाना नहीं चाहते। दूसरी बात यह है कि उनकी हार्दिक भावना समस्त क्रियाओं से निवृत्त होने की रहती है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं एवं साध्य को सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इस लिए वे सदा-सर्वदा इस बात का ख्याल रखते हैं कि बिना आवश्यकता के कोई क्रिया या हरकत न की जाए। अत उनका खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, बोलना आदि सब कार्य विवेक, यतना एवं मर्यादा के साथ होते हैं। इस से यह स्पष्ट हो गया कि साधक के जीवन मे प्रवृत्ति होती है, परन्तु जीवन में उसका गौण स्थान माना गया है, आवश्यक कार्य में ही प्रवृत्ति करने का आदेश है और वह भी विवेक एवं यतना के साथ करने की आज्ञा है और अन्तत उसका सर्वथा त्याग करने की बात कही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निश्चय दृष्टि से प्रवृत्ति का त्याज्य माना है। इसलिए साधक अवस्था में अनिवार्यता के कारण संयम मार्ग में निर्दोष प्रवृत्ति को स्थान हाते हुए भी उसके त्याग का लक्ष्य होने के कारण त्याग-प्रधान जीवन को निवृत्ति परक जीवन ही कहा जाता है। क्योंकि जैन दर्शन का मूल लक्ष्य समस्त कर्मों एवं क्रियाओं से निवृत्त होना है। अत निवृत्ति के चरम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सहायक मूत निर्दोष प्रवृत्ति करने वाला साधक ही वास्तव में अनगार है, मुनि है और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा से पूरी तरह बचकर रहने का प्रयत्न करता है।

भोग प्रधान जीवन में निवृत्ति को विशेष स्थान नहीं है। क्योंकि वहां जीवन का मुख्य भोग-विलास मान लिया गया है। और मुख्य निर्धारण के अनुरूप ही जीवन को ढाला गया है। या ढाला जा रहा है। यों कहना चाहिए कि जीवन में भोग-विलास एवं ऐश्वर्य को प्रधानता देने वाले व्यक्ति रात-दिन विषय वासना एवं ऐशोराम में निमग्न रहते हैं। उनका प्रत्येक क्षण भौतिक साधनों का संग्रह करने तथा अपने स्वार्थों को साधने के लिए नई-नई स्कीमें-योजनाएं बनाने में बीतता है। और येन-केन प्रकारेण वे भोग-सामग्री को, भौतिक-सुख-साधनों को बटोरने में संलग्न रहते हैं। और उसके लिए छल-कपट शोषण हिंसा आदि सभी दुष्कर्म करने में वे जरा भी संकोच नहीं करते। इस तरह रात-दिन सावद्य कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। इस कारण पृथ्वीकाय ही क्या अन्य एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय नहीं पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी उनके स्वार्थ की आग में स्वाहा हो जाते हैं। इस तरह वे दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो कर स्वयं तथा प्राणीजगत के लिए भयावह बन जाते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने आपको अनगार मुनि कहते हैं और सर्व प्राणी जगत की रक्षा करना अपना मुख्य कर्तव्य बताते हैं। परन्तु उनका जीवन उनके कथन की विपरीत दिशा में गतिमान होता है। वे भी गृहस्थों की तरह खनन आदि कार्यों में सक्रिय रूप से भाग ले कर पृथ्वीकाय तथा उसके आश्रित अन्य अनेक जीवों की हिंसा

करते हैं। अतः उन्हें भी प्रवृत्ति मे प्रवहमान वताया गया है।

निष्कर्ष यह निकला कि त्याग प्रधान-निवृत्तिमय जीवन मोक्ष का प्रतीक है, इस से किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता है और भोग प्रधान या प्रवृत्तिमय जीवन संसार परिभ्रमण का कारण है। क्योंकि सावद्य प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियों की हिंसा होती है, इस से पाप कर्म का वन्ध होता है और परिणाम स्वरूप वह आत्मा संसार प्रवाह मे प्रवहमान रहता है। निवृत्ति और प्रवृत्ति प्रधान जीवन मे रहे हुए अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'पश्य' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए मुमुक्षु को दोनों तरह के जीवन के स्वरूप को भली-भाति देख-समझकर पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा से वचना चाहिए, विरत होना चाहिए।

"लज्जमाणा-लज्जमाना" शब्द का अर्थ है— लज्जा का अनुभव करना या लज्जित होना। हम देखते है कि कई व्यक्ति लोक लज्जा के कारण कई वार दुष्कर्मों से वच जाते हैं। महात्मा गाधी ने अपनी 'आत्मकथा' पुस्तक मे एक जगह लिखा है कि मैं वेश्या के मकान पर जाकर भी अपनी स्वाभाविक लज्जा के स्वभाव के कारण दुष्कर्म से वच गया। अस्तु लज्जा भी जीवन का एक विशेष गुण है। इसके कारण मनुष्य दुर्भावना के प्रवाह मे वहकर भी पाप कार्य से वच जाता है। भारतीय-सस्कृति के एक गायक ने ठीक ही कहा है कि लज्जा मानवोचित गुणों की जननी है।

"लज्जागुणौघ जननी।"

शास्त्रों मे लौकिक और लोकोत्तर की अपेक्षा से लज्जा के दो भेद किए हैं। नववधु का श्वसुर आदि के सामने संकुचाना तथा शूरवीर योद्धा का रणक्षेत्र से भागते हुए शर्माना लौकिक लज्जा के उदाहरण हैं। इसी तरह अनगार-मुनि भी पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हुए तथा सयम मार्ग की कठिनाईयों से डरकर साधनापथ से भागने मे सकोच करता है। अर्थात् लज्जा के कारण वह सयम मार्ग में प्रवृत्त रहता है, दृढ़ता के साथ साधना मे सलग्न रहता है। अत सतरह प्रकार का जो सयम वताया गया है, उसकी गणना लोकोत्तर लज्जा मे की गई है†।

'अनगार' शब्द का अर्थ है—मुनि, साधु। आगार घर को कहते हैं, अत. जिसके पास अपना घर नहीं है अथवा जिसका अपना कोई नियत निवास स्थान

† लज्जा-दया-सजम-वभचेर .. .. इत्यादि।

दशवैकालिक, ६, १

नहीं है, उसे अनगार कहते हैं। या यों भी कह सकते हैं कि साधु का कोई नियत स्थान या घर नहीं होता, इसलिए वह अनगार कहलाता है—

इस प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकाय में असंख्यात जीव हैं और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्तमान अन्य धर्म के साधुओं में साधुत्व का अभाव है। फिर भी कुछ लोग भौतिक सुख की अभिलाषा से मन, वचन काय से सावद्य प्रवृत्ति करते, कराते और करने वाले का समर्थन करते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघाय हेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभते समणुजाणइ ॥१६॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन, मानन, पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतु स स्वयमेव पृथिवी शस्त्र समारम्भते, अन्यैश्च पृथिवी शस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवी शस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीत।

पदार्थ—खलु—यह शब्द वाक्यालंकारार्थ में है। तत्थ—पृथ्वीकाय के समारम्भ में। भगवया—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा का। पवेइया—उपदेश दिया है। चेव—निश्चय ही। इमस्स—इस। जीवियस्स—जीवन के लिए। परिवंदण—प्रशंसा के लिए। माणण—मान के लिए। पूयणाए—पूजन के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और। दुक्खपडिघायहेउं—दुःखों के नाश के लिए। से—वह सुख की इच्छा करने वाला। सयमेव—स्वयं ही। पुढविसत्थं—पृथ्वी काय की घात करने वाले शस्त्र का। समारभइ—समारम्भ करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—अन्य के द्वारा। पुढविसत्थं—पृथ्वी की हिंसा करने वाले शस्त्र से। समारभावेइ—समारंभ कराता है। वा—अथवा। अण्णे—अन्य। पुढविसत्थं—पृथ्वी का समारम्भ करने वाले शस्त्र से। समारभंते—समारम्भ या प्रयोग करने वाले को। समणुजाणइ—अच्छा जानता है, उसका समर्थन करता है।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के समारभ मे भगवान ने परिज्ञा करने का उपदेश दिया है। क्योकि कुछ लोग इस जीवन के लिए, प्रशसा पाने के हेतु मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा से, जन्म-मरण से छूटकारा पाने तथा दु खो का उन्मूलन करने की अभिलाषा रखते हुए पृथ्वीकाय के जीवो की घात करने वाले शस्त्र का स्वय प्रयोग करते है, दूसरे व्यक्ति से कराते है और शस्त्र का प्रयोग करने वाले का अनुमोदन-समर्थन करते है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य भौतिक जीवन को सुखमय- आनन्दमय बनाने के लिए कई प्रकार के अपकार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता। वह अपने जीवन को सुखद एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के लिए पृथ्वीकाय आदि छ काय के जीवों की या यों कहिए सभी जाति के जीवों की हिंसा करता है। अपने स्वार्थ के लिए वह दूसरे प्राणियों का शोषण करता है, उन्हें पीड़ित—उत्पीडित करता है, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करता है। स्वय उनकी हिंसा करता है, दूसरे व्यक्ति को आदेश देकर उक्त जीवों की हिंसा कराता है और उक्त जीवो की हिंसा करने वाले हिंसक का अनुमोदन समर्थन करता है¹।

इसलिए भगवान महावीर ने पृथ्वीकाय के समारभ मे परिज्ञा या विवेक-यतना करने का उपदेश दिया है। साधक को यह बताया गया है कि वह ज्ञ परिज्ञा से पृथ्वीकाय के स्वरूप को भली-भाति समझे। उसमे भी मेरे जैसी असख्यात प्रदेशी ज्ञानमय आत्मा है। उसे भी मेरी तरह सुख-दु ख का सवेदन होता है। आदि बातों का बोध करे और उसके चेतनामय स्वरूप को जानकर उसकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग करे। मन, वचन, काय के योगों से पृथ्वी-काय की हिंसा न करे अर्थात् विवेक के साथ सयम साधना मे प्रवृत्ति करे। इस साधना से जो लब्धि-शक्ति प्राप्त हो उसका उपयोग भौतिक सुख—साधनों को प्राप्त करने में न करे। यदि वह ऐहिक सुखों एव भोगों को प्राप्त करने में उस शक्ति

---

¹प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करने के जो कारण बताए गए हैं, उनका विवेचन पीछे कर चुके है। देखें सूत्र ११ की व्याख्या, पृष्ठ...६४।

लब्धि का प्रयोग करता है, तो वह साधना मार्ग से च्युत होकर संसार में परिभ्रमण करता है। अतः साधक को साधना से प्राप्त लब्धि का उपयोग भौतिक सुखों को प्राप्त करने में नहीं लगाना चाहिए।

पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में व्यस्त रहने वाले जीवों को किस फल की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं से अहियाए, तं से अबोहिए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि कम्म समारंभेणं, पुढविसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, सेबेमि, अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पाय मब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे २, अप्पेगे उरुमब्भे २ अप्पेगे कडिमब्भे २, अप्पेगे णाभिमब्भे २, अप्पेगे उदरमब्भे २, अप्पेगे पासमब्भे २, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे २, अप्पेगे उरमब्भे २, अप्पेगे हिययमब्भे २, अप्पेगे थणमब्भे २, अप्पेगे खंधमब्भे २, अप्पेगे बाहुमब्भे २, अप्पेगे हत्थमब्भे २ अप्पेगे अंगुलीमब्भे २ अप्पेगे णहमब्भे २, अप्पेगे गीवमब्भे २, अप्पेगे हणुमब्भे २, अप्पेगे होट्ठमब्भे २, अप्पेगे दंतमब्भे २, अप्पेगे जिब्भमब्भे २, अप्पेगे गलमब्भे २, अप्पेगे गंड मब्भे २, अप्पेगे कण्णमब्भे २, अप्पेगे णासमब्भे २, अप्पेगे अच्छि मब्भे २, अप्पेगे सीसमब्भे २, अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति ॥१७॥

छाया— तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये सः त सबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतोऽनगाराणं इह एकेषा ज्ञातं भवित—एप खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एप खलु मार, एप खलु नरकः, इत्येवमर्थम् गृद्ध· लोक यदिमं विरूपरूपै· शस्त्रैः पृथिवीकर्म समारंभेण, पृथिवीशस्त्रं समारंभमानः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिनस्ति' अथ ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्द्यात्, अप्येक अन्धमाछिन्द्यात्, अप्येक· पादमाभिन्द्यात्, अप्येक· पादमाछिन्द्यात्, अप्येक गुल्फमाभिन्द्यात् २, अप्येक· जंघामाभिन्द्यात् २, अप्येक· जानुमाभिन्द्यात् २, अप्येकः उरुमाभिन्द्यात् २। अप्येक कटिमाभिन्द्यात् २, अप्येक नाभिमाभिन्द्यात् २, अप्येक· उदरमाभिन्द्यात् २, अप्येकः पार्श्वमाभिन्द्यात् २, अप्येक पृष्ठमाभिन्द्यात् २, अप्येक उरआभिन्द्यात् २, अप्येक हृदयमाभिन्द्यात् २, अप्येक स्तनमाभिन्द्यात् २, अप्येक स्कन्धमाभिन्द्यात् २, अप्येक बाहुमाभिन्द्यात् २, अप्येक हस्तमाभिन्द्यात् २ अप्येक अगुलिमाभिन्द्यात् २, अप्येक नखमाभिन्द्यात् २, अप्येक ग्रीवामाभिन्द्यात् २, अप्येक हनुमाभिन्द्यात् २, अप्येक ओष्ठमाभिन्द्यात् २, अप्येकः दन्तमाभिन्द्यात् २, अप्येक जिह्वामाभिन्द्यात् २, अप्येक तालुमाभिन्द्यात् २, अप्येका गलमाभिंद्यात् २, अप्येक गलमोभिंद्यात् २, अप्येक गंडमाभिंद्यात् २, अप्येक कर्णमाभिंद्यात् २, अप्येक नासिकामाभिंद्यात् २, अप्येकः अक्षि आभिंद्यात् २, अप्येक भ्रुवमाभिंद्यात् २, अप्येक ललाटमाभिंद्यात् २, अप्येक· शिर आभिन्द्यात् २, अयेक· सप्रमारयेत्, अप्येक अपद्रापयेत् २ इत्थं शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरभा परिज्ञाता· भवन्ति।

पदार्थ – त—वह पृथ्वीकाय का समारभ। से—उस को—आगामी काल मे। अहिआए—अहितकर होता है। त—वह पृथ्वीकाय का समारभ। से—उसको। अबोहिए—अबोधिलाभ के लिए होता है। से—पृथ्वीकाय के समारभ को पाप रूप मानने वाला। त—उस पृथ्वीकाय के आरभ-समारभ को। सबुज्झमाणे—अहितकर समझता हुआ। आयाणीय—ग्रहण करने योग्य-सम्यग्-दर्शन और चरित्र मे। समुट्ठाय—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। सोच्चा—सुनकर। खलु—निश्चय से। भगवओ—भगवान् के समीप या। अणगाराणं —

अणगारों के समीप। इहं—इस मनुष्य जन्म में। एगेसिं—किन्हीं एक प्रबुद्ध साधुओं को। णायं भवति—ज्ञात होता है कि— खलु—निश्चय ही। एस—यही-पृथ्वीकाय का समारंभ। गंथे—अष्ट कर्म बन्ध का कारण है। एस खलु मोहे—यह मोह का कारण है। एस खलु मारे—यह मृत्यु का कारण है। एस खलु णरए—यह नरक का कारण है। इच्चत्थं—आहार, आभूषण या प्रशंसा आदि के लिए। गढिए—मूर्च्छित। लोए—लोक-प्राणी इस पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं। जं—जिससे। इमं—इस पृथ्वीकाय को। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। पुढवीकाय समारम्भेणं—पृथ्वी संबंधी क्रिया का आरम्भ करते हैं। पुढविसत्थं—पृथ्वी शस्त्र का। समारम्भमाणे—प्रयोग करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक तरह के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसइ—हिंसा करता है।

प्रश्न—एकेन्द्रिय जीव हिंसा जनित वेदना का अनुभव किस प्रकार करते हैं?

उत्तर—सेबेमि—हे शिष्य! इसे मैं बतलाता हूं। अप्पेगे—जैसे कोई पुरुष। अन्धं†—जन्मांध मूक बधिर, पङ्गु पुरुष को। अब्भे—कुन्तादि से भेदन करे। अप्पेगे—कोई व्यक्ति। अन्धमच्छे—अन्ध, बधिर, मूक और पंगु व्यक्ति का शस्त्र द्वारा छेदन करे।

जन्मांध, बधिर और मूक व्यक्ति की अव्यक्त वेदना के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकाय जीवों की वेदना समझाकर अब सूत्रकार एक व्यक्त वेदना वाले व्यक्ति के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकायिक जीव की वेदना से तुलना करते हैं। जैसे किसी व्यक्ति का अप्पेगे‡—कोई पुरुष। पायमब्भे-पाँव का भेदन करे। पायमच्छे-पाँव का छेदन करे। गुप्फमब्भे-पिंडी का छेदन करे। जंघमब्भे २-जंघाओं का छेदन भेदन करे। जाणुमब्भे २ जानुओं का छेदन-भेदन करे। ऊरुमब्भे २—उरुओं का छेदन भेदन करे। कडिमब्भे २—कटि-कमर का छेदन-भेदन करे। णाभिमब्भे २—नाभि का छेदन भेदन करे। उदरमब्भे २—उदर-पेट का छेदन-भेदन करे। पासमब्भे—पार्श्व का छेदन-भेदन करे। पिट्ठिमब्भे २—पृष्ट भाग-पीठ का छेदन भेदन करे। उरमब्भे २—छाती का छेदन-भेदन करे। हिययमब्भे २-हृदय का छेदन-भेदन करे। थणमब्भे २-स्तनों का छेदन-भेदन करे। खंधमब्भे—स्कंध का छेदन भेदन करे। बाहुमब्भे २—भुजाओं का छेदन-भेदन करे। हत्थमब्भे २—हाथों का छेदन भेदन करे। अंगुलिमब्भे २—अंगुलियों का छेदन-भेदन करे। णहमब्भे २—नखों का छेदन-भेदन करे। गीवमब्भे २—ग्रीवा-गर्दन का छेदन-भेदन करे। हणुमब्भे २—ठोडी का छेदन-भेदन करे। होट्ठमब्भे २—ओष्ठों का छेदन भेदन करे। दंतमब्भे २—दांतों का छेदन-भेदन करे। जिब्भमब्भे २—जिह्वा का छेदन-भेदन करे। तालुमब्भे २—तालु का

† 'अन्ध' पद केवल अन्धत्व का बोधक है परन्तु उपलक्षण से बधिर आदि का भी संसूचक है।

‡ 'अप्पेगे' शब्द का सब जगह कोई पुरुष अर्थ समझना चाहिए और उसके साथ यथास्थान जोड़ना चाहिए।

छेदन-भेदन करे। गलमभे २—गले का छेदन-भेदन करे । गडमभे २—गडस्थल-कपोल का छेदन-भेदन करे । कण्णमभे२—कान का छेदन-भेदन करे। णासमभे२—नासिका का छेदन-भेदन करे। अच्छिवभे २—आखो का छेदन-भेदन करे । भमुहमभे २—भ्रकुटियो का छेदन-भेदन करे। सीसमभे२—मस्तिष्क का छेदन भेदन करे।

जैसे इस व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति को इन कारणों मे स्पष्ट वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को भी वेदना होती है, परन्तु वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

पृथ्वीकाय के जीवों को जो वेदना होती है, उसे और स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार अब तीसरा उदाहरण देते हैं—अप्पेगे- कोई पुरुष किसी व्यक्ति को इतना मारे कि। सपमारए—मूर्छित करदे। अप्पेगे—कोई व्यक्ति किसी को मार-मार कर। उद्दवए—उसे—प्राणो से पृथक् कर दे।

जैसे इन प्राणियों को मूर्छित होने एवं मरने के पूर्व जो अव्यक्त वेदना होती है, वैसी ही अव्यक्त वेदना पृथ्वीकाय के जीवों को होती है। परन्तु अज्ञानी जीव इस रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे रात-दिन हिंसा मे प्रवृत्ति करते हैं। इसी बात को सूत्रकार अपनी भाषा मे कहते हैं— इत्थ—इस पृथ्वीकाय मे । सत्थं समारम्भमाणस्स—शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को। इच्चेते—इस प्रकार के। आरम्भा—आरभ खनन कृषि आदि सावद्य व्यापार मे। अपरिण्णाता—अपरिज्ञात। भवति—होते हैं।

मूलार्थ--पृथ्वीकायके आरभ-समारभ मे लगे हुए व्यक्ति को यह सावद्य प्रवृत्ति अनागत काल मे अहितकर तथा बोध की अवरोधक होती है। परतु जो भव्य जीव-पृथ्वीकाय का आरभ करना पाप है, ऐसा भगवान या अनगारो से सुन कर, सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि के द्वारा भली-भाति जान लेता है, उसको यह ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वीकाय का आरभ भविष्य मे अहित और अबोधि के लाभ का कारण है। अतः ऐसे किन्ही ज्ञानी पुरुषो को यह परिज्ञात हो जाता है कि यह पृथ्वीकाय का समारभ ग्रथि है अर्थात् अष्ट कर्मो की गांठ है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है। और उन्हे इस बात का भी परिबोध होता है कि कुछ लोग जो सासारिक विषय-भोगो मे अधिक आसक्त रहते हैं, वे आहार, भूषण और अन्य उपकरणो के लिए तथा प्रशसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अनेक प्रकार के शस्त्रो से पृथ्वीकायिक

जीवों का विनाश करते हैं और उसके आश्रय में रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते हैं न सुनते हैं न सूंघ सकते हैं न चल सकते हैं, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते हैं ? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते हैं। जैसे— कोई व्यक्ति जन्म से अंधा बहरा गूंगा और पंगु है ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है कोई अन्य शस्त्रों से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन-भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन ही कर सकता है और उस दुःख से बचने के लिए न वह कहीं भाग ही सकता है तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नहीं होती ? नहीं ऐसा नहीं होता उसे वेदना का संवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को छेदन—भेदन की वेदना होती है परन्तु उसे वे व्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नहीं है। या यों कहिए उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहां चेतन है वहां वेदना अवश्य होती है। अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियों में व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमें चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियों में से यदि कोई व्यक्ति पैर गुल्फ जानु उरु कमर, नाभि, उदर, पार्श्व पीठ छाती हृदय स्तन कंधा भुजा हाथ अंगुली नख ग्रीवा ठोडी ओष्ट दांत जिह्वा तालु, गाल गण्ड कर्ण नासिका आंख भ्रू ललाट शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसी प्राणी को मार-पीट कर मूर्छित एवं प्राणों से रहित करे। तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से

दिखाई देती है। क्योकि वह उसे दूसरा के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट माह और अज्ञान के कारण जिन्हे अव्यक्त चेतना मिलो है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते है। पृथ्वीकायिक जोवो की चेतना भो अव्यक्त है, इसलिए उनको वेदना की अनुभूति भो अव्यक्त हो होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जीवो को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अत पृथ्वोकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरभ होता है, वह आरभ २७ प्रकार से किया जाता है और वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य ते अज्ञानो जोव अपरिज्ञात रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह वताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा मे अनुरक्त रहता हैं, सलग्न रहता है, उसे अनागत काल मे हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य मे उसके लिए अहितकर होती है और वह वोध को प्राप्त नहीं कर पाता इस लिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों मे चेतनता है और वे भी सुख-दु ख का सवेदन करते हैं।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उस की सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एव खान मे रहा हुआ पत्थर वढ़ता रहता है और खानें से निकालने एव बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर वढ़ता नहीं है। खान एवं पहाडों पर चट्टानों से सवद्ध पत्थर में होने वालो अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि सजीव अवस्था मे ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर मे अभिवृद्धि होती है, उसके आकार प्रकार एव वनावट मे अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं वे सुख-दु ख का संवेदन भी करते हैं। पृथ्वी सजीव

है। इसलिए उसमें स्थित जीव सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में तीन उदाहरण देकर समझाया है। जैसे—किसी जन्म से अंध, बधिर, गूंगे और पंगु व्यक्ति का कोई व्यक्ति किसी शस्त्र से छेदन-भेदन करता है, तो उक्त व्यक्ति उस वेदना को व्यक्त नहीं कर सकता। परन्तु उसका संवेदन अवश्य करता है। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीव भी शस्त्र प्रयोग से होने वाली वेदना को अव्यक्त रूप से संवेदन करते हैं। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है, जैसे—किसी व्यक्ति के हाथ पैर आदि किसी भी अंगोपांग का छेदन भेदन करने पर तथा किसी व्यक्ति को मार-पीट कर मूर्छित एवं प्राण रहित करते समय जिस तरह उसे वेदना होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से उसमें स्थित जीवों को वेदना एवं पीड़ा की अनुभूति होती है। पृथ्वीकायिक जीवों को किस तरह की वेदना होती है? गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि हे गौतम! एक हृष्ट-पुष्ट युवक किसी जर्जरित शरीर वाले वृद्ध पुरुष के मस्तिष्क पर मुष्टि का प्रहार करे, तो उस वृद्ध पुरुष को वेदना होती है? हां भगवन्! उसे महावेदना होती है। इसी तरह पृथ्वीकाय का स्पर्श करने पर उसे भी वेदना होती है। जिस तरह पृथ्वीकाय के जीवों को वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के संबंध में भी जानना चाहिए*।

एकेन्द्रिय जीव असंज्ञी हैं, उनके मन होता नहीं। फिर वे सुख-दुःख का संवेदन कैसे करते हैं? अतः यह कहना कहां तक उचित है कि पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करने पर पृथ्वीकायिक जीवों को वेदना होती है? इसका समाधान

---

* पुढविकाइए णं भंते! अक्कंते समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? गोयमा! से जहानामए—केइ पुरिसे तरुणे बलवं जाव निउणसिप्पोवगए एगं पुरिसं जुण्णं जराजज्जरियदेहं जाव दुब्बलं किलंतं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणिज्जा से णं गोयमा! पुरिसे तेणं पुरिसेणं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहए समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? अणिट्ठं समणाउसो! तस्स णं गोयमा! पुरिसस्स वेयणाहिंतो पुढविकाइए अक्कंते समाणे एत्तो अणिट्ठतरियं चेव अकंततरियं चेव जाव अमणामतरियं चेव वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ। आउए णं भंते! संघट्टे समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? गोयमा! जहा पुढविकाइए एवं आउकाएवि एवं तेउकाएवि एवं वाउकाएवि एवं वणस्सइकाएवि जाव विहरइ।

—भगवती सूत्र शतक १८ उद्देशक ३

यह है कि मन के दो भेद माने गए हैं— १- द्रव्य मन और २- भाव मन। असंज्ञी प्राणियों में द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन उन में भी होता है। इस लिए अनेक तरह के शस्त्रों से जब पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन किया जाता है, तो उन्हें दुःखानुभूति होती है। उनकी चेतना अव्यक्त होने के कारण वे अपनी संवेदना को अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

पृथ्वीकाय की हिंसा से अष्ट कर्म का बन्ध कैसे होता है? इस का समाधान यह है कि हिंसक प्राणी में ज्ञानादि का क्षयोपशम भाव से जो थोड़ा विकास है, स्वार्थ के कारण वह भी मन्द पड़ जाता है। इसी तरह अन्य कर्मों के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि पृथ्वीकाय का आरंभ-समारंभ आठ कर्मों की ग्रंथि रूप है, मोहरूप है, मृत्यु रूप है, नरक का कारण है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है और अनेक तरह के शस्त्रों के प्रयोग से उसे वेदना होती है और उसकी हिंसा करने से आत्मा को भविष्य में अहित का लाभ होता है तथा बोध की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से विरत रहना चाहिए। इस बात को समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेजा णेव-ण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा णेवण्णे हिं पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णात कम्मे त्तिबेमि ॥१८॥

छाया—अत्र शस्त्र समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति तत् परिज्ञाय मेधावी नैवस्वयं पृथिवी शस्त्र समारम्भेत्, नैव अन्यैः पृथिवी शस्त्रं समारम्भयेत्, नैव अन्यान् पृथिवी शस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते पृथिवीकर्म समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ— एत्थ—पृथ्वीकाय में। सत्थं—शस्त्र से जो। असमारभमाणस्स—समारम्भ नहीं करते उन को। इच्चेते— ये खनन रूपी आदि। आरम्भा—आरम्भ-समारम्भ, परिण्णाता—परिज्ञात होते हैं। तं परिण्णाय—उस पृथ्वीकाय के समारम्भ को कर्म बन्ध का कारण जानकर। मेहावी—प्रबुद्ध पुरुष—बुद्धिमान। नेव—न तो। सयं—स्वयं ही। पुढविसत्थं—समारम्भेज्जा—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ समारम्भ करे। नेवण्णेहिं—न दूसरे व्यक्तियों से। पुढविसत्थं समारभावेज्जा—पृथ्वीकाय का शस्त्र द्वारा आरम्भ करावे। नेवण्णे—न अन्य का जो। पुढविसत्थं समारभंते—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ कर रहा हो। समणुजाणेज्जा—अनुमोदन-समर्थन करे। जस्सेते—जिसको ये। पुढविकम्मसमारंभा—पृथ्वीकायिक जीवों के हिंसात्मक व्यापार। परिण्णाया—परिज्ञात। भवंति—होते हैं। से हु—वही। मुणी—मुनि। परिण्णायकम्मा—परिज्ञात कर्मा होता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के जीवों पर द्रव्य और भाव रूप से शस्त्र का प्रयोग न करने वाले पुरुषों को पृथ्वीकाय के आरम्भ का परिज्ञान होता है। इसलिए वे प्रबुद्धज्ञान पुरुष पृथ्वीकायिक जीवों पर न तो स्वयं शस्त्र का प्रयोग करते हैं न दूसरे व्यक्ति से शस्त्र का प्रयोग कराते हैं और न शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन—समर्थन ही करते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति शस्त्र प्रयोग से पृथ्वीकाय के जीवों को होने वाली वेदना को जानता है वही व्यक्ति उस समारम्भ से होने वाले कर्म बन्ध को भली भांति समझ सकता है। और उस स्वरूप को सम्यक्तया जानने वाले मुनि को ही परिज्ञात कर्मा कहा है ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य और भाव दोनों तरह के शस्त्रों को लिया गया है, स्वकाय—अपना शरीर, परकाय—दूसरे का शरीर और उभयरूप—स्व-पर काय इन तीनों को द्रव्य शस्त्र में लिया गया है। और असंयम एवं मन वचन और शरीर के योगों की दुष्परिणति को भाव शस्त्र माना गया है।

सूत्रकार ने इस सूत्र में इस बात को अभिव्यक्त किया है कि मुमुक्षु पृथ्वी कायिक जीवों पर किए जाने वाले शस्त्र प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है तथा

उससे आरभ-समारभ करने वाले व्यक्ति को जो कर्मवन्ध होता है, उसे समझे और उस सावद्य क्रिया का परित्याग करे।

प्रस्तुत सूत्र पूरे उद्देशक का सार रूप है। क्योंकि जव तक साधक को पृथ्वीकाय की सजीवता एवं पृथ्वीकायिक जीवों का आरंभ-समारंभ करने से होने वाले कर्म का परिज्ञान नहीं हो जाता, तव तक वह उसका परित्याग नहीं कर सकता। इसलिए हिंसा से विरत होने का उपदेश देने से पहले विस्तार से पृथ्वी-काय की चेतता एव आरभ-समारंभ से उसे होने वाली वेदना का स्वरूप वताया गया और फिर यह वताया गया कि जो प्रवुद्ध पुरुष उसकी हिंसा का, आरभ-समारभ का त्याग करता है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है। इस वात को हम पहले ही वता चुके हैं कि ज्ञान का महत्व त्याग के साथ है। अत. पहले पृथ्वी काय के स्वरूप को एवं हिंसा से होने वाले कर्म वन्ध को भली-भाति जाने और जानने के वाद आरभ-समारभ का त्याग करे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय के आरभ-समारभ मे प्रवृत्तमान हैं, वे अपरिज्ञात कर्मा है। अर्थात् न तो उन्हें पृथ्वीकाय के स्वरूप का ही सम्यक् वोध है और न आरभ- समारभ का ही त्याग है। इस लिए वे अनेक तरह के शस्त्रों से पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करके उसे दु ख, कष्ट एवं पीड़ा पहुचाते हैं और पाप कर्मों का वन्ध करके ससार में परिभ्रमण करते हैं। क्योंकि जव वे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं, तो उसके साथ उसके आश्रित अन्य त्रस एव स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है। ऐसा जानकर प्रवुद्ध पुरुष या मुनि पृथ्वीकाय की न स्वयं हिंसा करे, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करावे, न हिसा करने वाले व्यक्ति को अच्छा ही समझे। यह प्रस्तुत सूत्र का सार है। यों भी कह सकते हैं कि त्रिकरण और त्रियोग से आरभ-समारंभ का त्याग करना ही जीवन का, साधना का, सयम का सार है। ऐसा मैं कहता हूँ†।

॥ शस्त्रपरिज्ञा द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

† 'त्तिवेमि' का विवेचन प्रथम उद्देशक के मन्त मे की गई व्याख्या के समान रूप समझें।

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

तृतीय उद्देशक

प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में बताया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अप्काय के संबन्ध में वर्णन किया गया है– जैसे दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकाय सजीव है उसमें स्थित जीवों को शस्त्र प्रयोग से वेदना की अनुभूति होती है और उसका आरंभ-समारंभ करने से कर्म बन्ध होता है और यह भविष्य में अहितकर और अबोध का कारण बनता है, उससे संसार बढ़ता है, इसलिए मुमुक्षु को उस आरंभ समारंभ से दूर रहना चाहिए, आदि बातों को विस्तार से समझाया गया है। उसी तरह प्रस्तुत उद्देशक में अप्काय में भी चेतनता है और उसे भी शस्त्र आदि के संस्पर्श एवं प्रयोग से पीड़ा एवं वेदना की अनुभूति होती है आदि बातों का वर्णन किया जाएगा। अप्काय के संबन्ध में कुछ बताने के पूर्व सूत्रकार भूमिका रूप से अप्कायिक जीवों का संरक्षण करने वाले अनगार-मुनि की योग्यता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि जहा अणगार उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥१६॥

छाया– तद् ब्रवीमि स यथा अनगारः ऋजुकृत् नियागप्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणः व्याख्यातः।

पदार्थ—से अणगारे—वह अनगार। जहा—जैसा होता है। सेबेमि—वह मैं कहता हूं। उज्जुकडे—संयम का परिपालक नियायपडिवण्णे—जिस ने मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लिया है। अमायं कुव्वमाणे—माया-छल-कपट नहीं करने वाला। वियाहिए—कहा गया है।

मूलार्थ—हे शिष्य! अनगार मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है वह मैं कहता हूं। जो प्रबुद्ध पुरुष संयम का परिपालक है मोक्ष मार्ग पर गतिशील है और माया-छल-कपट आदि कषायों का त्यागी है या निश्छल एवं निष्कपट (शुद्ध) हृदय वाला है वही अनगार-मुनि कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन

साधु, मुनि या अनगार जीवन क्या है ? यह प्रश्न आज का नहीं, शताब्दियों एव सहस्राब्दियों पहले का है। भगवान महावीर के युग मे, महावीर के ही युग मे नहीं, उससे भी पहले यह प्रश्न विचारकों के सामने चक्कर काटता रहा है, क्योंकि अनेकों व्यक्ति अपने आपको मुनि, त्यागी कहते रहे हैं। अत त्यागी किसे समझा जाए, उसकी पहिचान क्या है ? उसका जीवन कैसा होना चाहिए ? आदि प्रश्नों का उठना सहज-स्वभाविक है।

प्रस्तुत सूत्र मे इन्हीं प्रश्नों का गहन भाषा मे समाधान किया गया है। अनगार की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार ने तीन विशेषणों का प्रयोग किया है—१-सयम का परिपालक हो, २-मोक्ष मार्ग पर गतिशील हो और ३-माया रहित अर्थात निश्छल एव निष्कपट हृदय वाला हो। इन विशेषणों से युक्त साधक ही अनगार कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि यहा साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्द का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि साधना के पथ पर गतिशील होने वाले साधक के लिए सब से पहले घर का त्याग करना अनिवार्य है। घर-गृहस्थ मे रहते हुए वह सम्यक्तया साधुत्व की साधना-आराधना एव परिपालना नहीं कर सकता। क्योंकि पारिवारिक, समाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे न चाहते हुए भी आरंभ-समारभ के कार्य मे प्रवृत्त होना पड़ता है। आरभ-समारभ मे प्रवृत्ति किए बिना गृहस्थ कार्य चल ही नहीं सकता और साधु जीवन मे आरभ-समारभ की क्रिया को जरा भी अवकाश नहीं है। अत साधुत्व का परिपालन करने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग करना अनिवार्य है। इस लिए सूत्रकार ने साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दों का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि साधक साधु जीवन मे प्रविष्ट होने के पूर्व घर एवं गृहस्थ सबन्धी सावद्य कार्य पूर्णतया त्याग करे।

अनगार शब्द का शाब्दिक अर्थ है— घर रहित। परन्तु घर का परित्याग करने मात्र से ही साधुत्व नहीं आ जाता है। उसके लिए जीवन को माजने एव परिष्कृत करने की आवश्यकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने अनगार शब्द के साथ तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। पहला विशेषण

है— उज्जुकडे – (ऋजुकृत) इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है—

ऋजु अकुटिल संयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्काय निरोध सर्वसत्वसंरक्षण प्रवृत्त-स्वाद्यैकरूप,,

अर्थात् सरल, कुटिलता से रहित, संयम मार्ग में प्रवृत्त, दुष्कार्य में प्रवृत्त मन, वचन और काय का निरोधक, समस्त प्राण, भूत जीव, सत्व के संरक्षण में प्रवृत्तमान साधक को ऋजु कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि संयम मार्ग में प्रवृत्तमान साधक को अनगार कहा है। क्योंकि कुछ व्यक्ति घर का परित्याग करके अपने आप को अनगार या साधु कहने लगते हैं। परंतु घर का परित्याग करने के साथ वे कुटिलता का एवं सावद्य कार्यों का परित्याग नहीं करते, मन, वचन और काय का दुष्कार्यों से निरोध नहीं करते। इसलिए वे वास्तव में अनगार नहीं हैं। इसी बात को सूत्रकार ने "ऋजुकृत" विशेषण से स्पष्ट किया है। अनगार वही है, जो अपनी इन्द्रियों, मन एवं योगों को नियन्त्रण में रखता है, सब प्राणियों की दया एवं रक्षा करता है।

कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधने के लिए यश-ख्याति पाने के लिए या भौतिक सुख एवं स्वर्ग आदि पाने की अभिलाषा से इन्द्रिय एवं मन पर भी नियन्त्रण कर लेते हैं। फिर भी वे वास्तव में अनगार नहीं कहे जा सकते, जब तक उनकी प्रवृत्ति मोक्ष मार्ग में नहीं है। इस बात को सूत्रकार ने "नियाग पडिवन्ने" विशेषण से स्पष्ट किया। इसकी परिभाषा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि

नियाग– सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्न।

अर्थात् सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक ही नियागप्रतिपन्न कहा गया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस साधक की साधना इन्द्रिय एवं योगों पर नियन्त्रण एवं तपस्या आदि अनुष्ठान बिना किसी भौतिक आकांक्षा अभिलाषा के होता है अर्थात् यों कहिए कि जो केवल कर्मों की निर्जरा करके शुद्ध आत्म स्वरूप प्रकट करने या निर्वाण-मोक्ष पद पाने हेतु, साधना करता है वही साधक संयम सम्पन्न है, अनगार है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि साधक इस लोक में भौतिक सुख पाने के लिए तपस्या न करे, परलोक में स्वर्ग एवं

ऐश्वर्य पाने की आकाक्षा से तप न करे, यश कीर्ति पाने हेतु तपस्या न करे। किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तपश्चर्या करे†। जैसे तप के लिए कहा गया है, उसी तरह समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए कहा है। विना किसी भौतिक इच्छा आकाक्षा या निदान के साधना या सयम पर गतिशील होना यही मोक्षमार्ग है और इस मार्ग पर आरूढ़ साधक ही सच्चा एवं वास्तव मे अनगार है।

अनगार का तीसरा विशेपण है 'अमाय' अर्थात् छल-कपट नहीं करने वाला। माया को भी जीवन का वहुत वडा दोप माना गया है। आगम मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभापा करते हुए वताया गया है कि "माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी" अर्थात् — माया एव छल-कपट युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहा गया है। संसार के कार्यों मे ही नहीं, धर्म प्रवृत्ति मे भी छल-कपट करना दोप माना गया है। १६वें तीर्थंकर मल्लिनाथ ने अपने साधु के पूर्वभव मे माया पूर्वक तप किया था। संक्षेप मे कथा इस प्रकार है— उनके छ साथी सन्त थे। सव एक साथ तप शुरु करने, मल्लिनाथ का जीव सन्त यह सोचता कि मैं इन से अधिक तप करूं, पर करूं कैसे ? यदि इन्हें कह दूंगा कि मुझे आज पारणा नहीं, तपस्या करनी है, तो यह भी तप कर लेंगे। इस तरह तप मे मैं इनसे आगे नहीं रह सकूंगा। अत उन्हों ने साथी सन्तों से कपट करना शुरु किया। उन्हें पारणा के लिए कह देते और स्वयं तप कर लेते। इस तरह माया युक्त तप का परिणाम यह रहा कि उन्हों ने स्त्री वेद का वन्ध किया। इस से यह स्पष्ट हो गया कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट क्रिया में भी माया करना वुरा है। इसी लिए सूत्रकार ने माया रहित, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील, सयम संपन्न व्यक्ति को ही अनगार कहा है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही सर्व प्राणियों की रक्षा कर सकता है।

अनगार के यथार्थ स्वरूप को वताने के वाद सूत्रकार साधना या त्याग मार्ग पर प्रविष्ट होने वाले साधक के कर्तव्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहित्ता विसोत्तियं ॥२०॥

---

† चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तजहा —१- नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा. २- नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ३- नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ४-नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, चउत्थ पय भवइ। —दशवैकालिक सूत्र ६, ४,४

छाया—यया श्रद्धया निष्क्रान्तः तामेव अनुपालयेत्, विहाय विस्रोतसिकां शंकाम् ।

पदार्थ—जाए—जिस । सद्धाए—श्रद्धा से । निक्खंतो—घर से निकला है—दीक्षित हुआ है । विसोत्तियं—शंका को । विजहित्ता—छोड़ कर । तमेव—उसी श्रद्धा का जीवन पर्यन्त । अनुपालिज्जा—परिपालन करे ।

मूलार्थ—जिस श्रद्धा एवं त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया है उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शंकाओं से रहित होकर जीवन पर्यन्त संयम का परिपालन करे ।

हिन्दी विवेचन

आगम में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार वीर्याचार का वर्णन मिलता है । प्रस्तुत सूत्र में दर्शनाचार का विवेचन किया गया है । वस्तु तत्त्व को जानने की अभिरुचि या तत्त्वों पर श्रद्धा करने का नाम दर्शन है । दर्शनाचार को पांचों में पहला स्थान दिया गया है । इसका कारण यह है कि तत्त्वों को जानने की अभिरुचि होने पर ही साधक ज्ञान की साधना में संलग्न हो सकता है । इसलिए ज्ञान से पहले दर्शन-श्रद्धा का होना जरूरी है । इसी तरह चारित्र-संयम तप एवं वीर्याचार पर श्रद्धा-विश्वास होने पर ही वह उन को स्वीकार कर सकता है, अन्यथा नहीं । यही कारण है कि श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है । आगम में भी मनुष्य जन्म शास्त्र-श्रवण संयम मार्ग में प्रवृत्त होने आदि को दुर्लभ बताया गया है, परन्तु श्रद्धा के लिए कहा गया है कि वह दुर्लभ ही नहीं परम दुर्लभ है—

"सद्धा परम दुल्लहा

इस लिए सूत्रकार ने मुमुक्षु को विशेष रूप से सावधान एवं जागृत करते हुए कहा है कि हे साधक ! तू जिस श्रद्धा—विश्वास के साथ साधना पथ पर गतिशील हुआ है, उस श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता को मत आने देना । अपने हृदय में किसी भी तरह शंका-कुशंका को प्रविष्ट न होने देना । अपनी आंतरिक भावना के विश्वास को दूषित मत करना ।

यह अनुभूत सत्य है कि संसारी जीवों की भावना सदा एक सी नहीं रहती । आत्मा के परिणामों की धारा में परिवर्तन होता रहता है । विचारों में कभी मन्दता आती है, तो कभी तीव्रता । साधक के मन में भी दीक्षा के समय जो उत्साह एवं उल्लास

होता है, उस में मन्दता एव वेग दोनों के आने को अवकाश रहता है उस की श्रद्धा में दृढ़ता एव निर्बलता दोनों के आने के निमित्त एव साधन मिलते हैं । इस लिए मुमुक्षु को चाहिए कि श्रद्धा को कमजोर बनाने वाले साधनों से बचकर- दृढ विश्वास के साथ संयम मार्ग पर गति करे ।

श्रद्धा को क्षीण बनाने या विपरीत दिशा मे मोड़ देने वाला सशय है। जब मन मे, विचारों मे सन्देह होने लगता है, तो साधक का विश्वास डगमगा जाता है उसकी साधना लडखडाने लगती है। अत साधक को इस बात के लिए सदा सावधान रहना चाहिए कि उसके मन मे सदेह प्रविष्ट न हो सके। सशय को पनपने देना साधना के मार्ग से गिरना है।

सशय भी दो प्रकार का होता है— १-सर्व सशय और देश सशय। पूरे सिद्धान्त पर सदेह होना या मन मे यह सोचना कि यह सिद्धात वीतराग द्वारा प्रणीत है और वीतराग की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त हो जायगी। इसे किसने देखा है? अत इस पर कैसे विश्वास किया जाए? यह सर्व शका हैं। और सिद्धान्त के किसी एक तत्त्व या पहलू पर सन्देह करना देश शंका है। जैसे— मुक्ति है या नहीं? यह देश शका का उदाहरण है। दोनों तरह की शकाए आत्मा की श्रद्धा को शिथिल कर देने वाली हैं, अत. साधक को अपने हृदय मे शंका को उद्भूत नहीं होने देना चाहिए।

साधनापथ नया नहीं है। अनन्त काल से अनेकों साधक इस पथ पर गतिशील होकर अपने साध्य को सिद्ध कर चुके हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--- पणया वीरा महावीहिं ॥२१॥

छाया—प्रणताः वीरा महावीथिम् ।

पदार्थ—वीरा—वीर पुरुष—परिषह—उपसर्ग और कषायादि पर विजय प्राप्त करने वाले। महावीहिं—प्रधान मोक्ष मार्ग मे। पणया—पुरुषार्थ कर चुके हैं।

मूलार्थ—यह संयम मार्ग परिषह—उपसर्ग और कषायादि पर विजय पाने वाले धीर-महावीर पुरुषो द्वारा आसेवित है।

हिन्दी विवेचन

हम यह प्रथम ही बता चुके हैं कि जीवन मे श्रद्धा की ज्योति का प्रदीप्त रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। हम सदा देखते है कि श्रद्धा के बिना

लौकिक या लोकोत्तर कोई भी कार्य सफल नहीं होता। साधना को सफल बनाने के लिए दृढ़ एवं शुद्ध श्रद्धा होनी चाहिए। इसी बात को सूत्रकार ने पिछले सूत्र में बताया है कि साधक को अपने हृदय में संशय को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में श्रद्धा को दृढ़ बनाए रखने के लिए सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह साधना का मार्ग आज से नहीं, अपितु अनादि काल से चालू है, अनेक वीर पुरुषों ने इस मार्ग पर गतिशील होकर निर्वाण पद को प्राप्त किया है।

'वीर' शब्द का सीधा सा अर्थ शक्तिशाली है। परन्तु प्रस्तुत सूत्र में इसका संबन्ध शारीरिक एवं भौतिक बल एवं शक्ति नहीं अपितु आध्यात्मिक शक्ति से है। वीर या बलवान वह है, जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को परास्त करने की शक्ति रखता है, मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ पदार्थों को देख कर मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को उभरने नहीं देता है। क्योंकि दुनिया में राग-द्वेष एवं कषाय सब से शक्तिशाली माने गए हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा एवं चक्रवर्ती सम्राट् तक उसके कृत दास बन जाते हैं, कषायों एवं राग-द्वेष के प्रवाह में प्रवहमान होने लगते हैं। अतः सच्चा विजेता और वास्तविक शक्तिशाली व्यक्ति वही माना जाता है, जो इन बलवान योद्धों को पछाड़ देता है। प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि गजसुकुमार जैसे वीर पुरुषों ने राग-द्वेष, कषाय एवं परीषहों पर विजय प्राप्त करके सिद्धत्व को प्राप्त किया है। श्रेष्ठ एवं महान् पुरुषों द्वारा आचरित होने से यह प्रशस्त है, अतः मुमुक्षु को उत्साह के साथ साधना पथ पर बढ़ते रहना चाहिए।

पिछले सूत्रों एवं प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने अप्कायिक जीवों के संरक्षक अनगार की योग्यता एवं उस के स्वरूप का वर्णन किया है। अब अगले सूत्र में सूत्रकार अप्कायिक जीवों के संबन्ध में वर्णन करेंगे। किन्तु अप्कायिक का विस्तार से विवेचन करने के पूर्व सूत्रकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधक को इस बात पर विश्वास एवं श्रद्धा रखनी चाहिए कि अप्काय में जीव है, उस का आरंभ-समारंभ करने से पाप कर्म का बन्ध होता है। यदि कभी अपनी बुद्धि काम नहीं करती है, तब भी तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित एवं महापुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर श्रद्धा रखकर वीतराग की आज्ञा के अनुसार आचरण करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— लोग च आणाए अभिसमेच्चा अकुओ भयं ॥२२॥

छाया—लोकं च आज्ञया अभिसमेत्य अकुतो भयम् ।

पदार्थ—लोगं – अप्काय रूप लोक को। च – और अन्य पदार्थों को। आणाय— तीर्थंकर भगवान की आज्ञा से। अभिसमेच्चा–जानकर। अकुओ भय—सयम का परिपालन करे।

मूलार्थ—तीर्थकर भगवान के वचनो से अप्काय के स्वरूप को जानकर सयम का परिपालन करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह स्पष्ट कर दिया है कि वीतराग की वाणी पर पूर्ण विश्वास रखकर तदनुसार ही आचरण करना चाहिए। क्योंकि जब तक साधक छद्मस्थ है, तब तक उस के ज्ञान मे अपूर्णता होने के कारण वह वस्तु के स्वरूप को भली-भांति नहीं भी देख पाता। कई बातों के लिए उसके मन मे संदेह उठना स्वभाविक है। परन्तु वीतराग के वचनों मे सशय करने को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने से प्रत्येक द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप को जानते-देखते हैं। इसलिए उन के वचनों के आधार पर साधक प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को सम्यक्तया जान सकता है और उनके वचनानुसार गति करके एक दिन सिद्धत्व को पा सकता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'लोक' शब्द का विषय के अनुरूप अप्काय लोक अर्थ होता है। और 'अकओ भय' सयम का परिबोधक है और अप्काय का विशेषण भी है। सयम अर्थ मे इसकी परिभाषा इस प्रकार है— "न विद्यते कुतश्चिच्देतो – केनापि प्रकारेण जन्तूनां भय यस्मात् सोऽय अकुतो भय सयम तमनुपालयेदिति सम्बन्ध।' अर्थात्— जिस साधना या क्रिया से जीवों को किसी भी प्रकार का या किसी भी प्रकार से भय न हो, उसे 'अकुतो भय' कहते हैं, वह साधना का प्ररणभूत सयम ही है।

जब उक्त शब्द का अप्काय के विशेषण के रूप मे प्रयोग करते हैं, तो उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बनेगी— "अकुतो भय अप्कायलोक यतोऽसौ न कुतश्चिभ्दयमिच्छति मरणभीरुत्वात्।" अर्थात्— मरणभीरू होने के कारण अप्काय के जीव किसी से भी भयभीत होने के इच्छुक नहीं हैं अत इसे 'अकुतो भय' कहते हैं।

'अभिसमेच्चा – अभिसमेत्या' शब्द अभि+सम्+इत्वा के संयोग से बना है। अभि का अर्थ है— सब प्रकार से, सम् का अभिप्राय है— अच्छी तरह से, सम्यक् प्रकार से और इत्वा का तात्पर्य है— जान कर। अस्तु 'अभिसमेच्चा' का अर्थ हुआ सम्यक् प्रकार से जानकर।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने भगवान की वाणी से अप्काय के जीवों के स्वरूप को जानकर भगवान की आज्ञा के अनुसार जल की यतना करे। अब सूत्रकार अप्काय में जो चैतन्य— सजीवता है, उसका अपलाप न करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥२३॥

छाया—स (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत (अभ्याख्यायेत्) नैव आत्मानं प्रत्याचक्षीत यो लोकं अभ्याख्याति स आत्मानम् अभ्याख्याति य आत्मानम् अभ्याख्याति स लोकं अभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह (मैं) तुम्हारे प्रति। बेमि—कहता हूं कि णेव—नहीं। सयं—अपनी आत्मा से लोयं—अप्काय रूप लोक का। अब्भाइक्खिज्जा—अभ्याख्यान—अपलाप। अत्ताणं—आत्मा का अब्भाइक्खिज्जा-णेव—निषेध नहीं करना चाहिए। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अप्काय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ— निषेध करता है। से—वह। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ— निषेध करता है। जे—जो। अत्ताणं—आत्मा का निषेध करता है। से—वह। लोयं अब्भाइक्खइ—अप्काय रूप लोक का निषेध करता है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! मैं तुम्हें कहता हूं कि मुमुक्षु को स्वयं अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलाप निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अप्काय के संबन्ध में उसी भाषा का प्रयोग करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अपनी आत्मा एवं अप्कायिक जीवों की आत्मा के साथ

तुलना करके अप्काय मे चेतना है, इस बात को सिद्ध किया है। यह हम पहले देख चुके हैं कि आत्मस्वरूप की दृष्टि से ससार की समस्त आत्माएं एक समान है। अप्काय मे स्थित आत्मा मे एव मनुष्य शरीर मे परिलक्षित होने वाली आत्मा मे स्वरूप की दृष्टि से कोई अतर नहीं है। यहा तक कि सर्व कर्मों से मुक्त सिद्धों की शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही है। आत्मस्वरूप की दृष्टि से किसी आत्मा मे अन्तर नहीं है, अन्तर केवल चेतना के विकास का है। अप्कायिक जीवों की अपेक्षा मनुष्य की चेतना अधिक विकसित है और सिद्धों मे आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, वहा आत्मा की शुद्ध ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशमान है, आवरण की कालिमा को जरा भी अवकाश नहीं है। इस तरह स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माए समान हैं, भेद केवल विकास की अपेक्षा से है।

जैसे जवाहरात की दृष्टि से सभी हीरे समान गुण वाले हैं — भले ही वे खान मे मिट्टी से लिपटे हों, जौहरी की दुकान पर पडे हों या स्वर्ण आभूषण मे जड़े हों, स्वरूप की दृष्टि से उनमे कोई भेद नहीं है। जौहरी की दृष्टि से सभी हीरे मूल्यवान हैं। भेद है बाहरी विकास को देखने-परखने वाली दृष्टि का। उसकी दृष्टि मे खान से निकले हुए हीरे की अपेक्षा जौहरी की दुकान पर पडे सुघड हीरे का अधिक मूल्य है और उससे भी अधिक मूल्यवान है आभूषण मे जड़ा हुआ हीरा। तो यह सारा भेद बाहरी दृष्टि का है। अन्तर दृष्टि से हीरा हर दशा मे मूल्यवान है। कीमती है और जौहरी की अन्तर दृष्टि उसे पत्थर के रूप मे भी पहचान लेती है। यही स्थिति आत्मा के सबन्ध मे है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माए समान हैं। हम भले ही बाहरी दृष्टि से कुछ अल्प विकसित आत्माओं की चेतना को स्पष्ट रूप से न देख सकें, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों की आत्म दृष्टि उसे स्पष्टतया अवलोकन करती है, इसलिए हमे उसके अस्तित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि आत्म स्वरूप की दृष्टि से उसकी और हमारी आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है। अत अप्कायिक जीवों की आत्मा का अपलाप करने का अर्थ है, अपने अस्तित्व का अपलाप करना और अपने अस्तित्व का अपलाप या निषेध करने का तात्पर्य है कि अप्कायिक जीवों की सत्ता का निषेध करना। इस तरह सूत्रकार ने सभी आत्माओं का स्वरूप की अपेक्षा से आत्मैक्य सिद्ध कर के इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक के आत्म अस्तित्व को मानने से इन्कार करने का अर्थ है, समस्त जीवों के आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना और यह आगम तर्क एवं अनुभव से विपरीत है। इस लिए मुमुक्षु को अप्कायिक जीवों की एवं अपनी आत्मा का अपलाप नहीं करना चाहिए।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने भगवान की वाणी से अप्काय के जीवों के स्वरूप को जानकर भगवान की आज्ञा के अनुसार उन की यतना करे। अब सूत्रकार अप्काय में जो चैतन्य— सजीवता है, इसका अपलाप न करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥२३॥

छाया—स (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत् (अभ्याख्यायेत्) नैव आत्मानं प्रत्याचक्षीत यो लोकं अभ्याख्याति स आत्मानम् अभ्याख्याति य आत्मानम् अभ्याख्याति स लोकं अभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह (मैं) तुम्हारे प्रति। बेमि—कहता हूँ कि णेव—नहीं। सयं—अपनी आत्मा से लोयं—अप्काय रूप लोक का। अब्भाइक्खिज्जा—अभ्याख्यान—अपलाप। अत्ताणं—आत्मा का अब्भाइक्खिज्जा-णेव—निषेध नहीं करना चाहिए। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अप्काय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ— निषेध करता है। से—वह। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ— निषेध करता है। जे—जो। अत्ताणं—आत्मा का निषेध करता है। से—वह। लोयं अब्भाइक्खइ—अप्काय रूप लोक का निषेध करता है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! मैं तुम्हें कहता हूँ कि मुमुक्षु को स्वयं अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलाप-निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है वह अप्काय के संबंध में उसी भाषा का प्रयोग करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अपनी आत्मा एवं अप्कायिक जीवों की आत्मा के साथ

तुलना करके अप्काय मे चेतना है, इस बात को सिद्ध किया है। यह हम पहले देख चुके हैं कि आत्मस्वरूप की दृष्टि से ससार की समस्त आत्माएं एक समान हैं। अप्काय मे स्थित आत्मा मे एव मनुष्य शरीर मे परिलक्षित होने वाली आत्मा मे स्वरूप की दृष्टि से कोई अतर नहीं है। यहा तक कि सर्व कर्मों से मुक्त सिद्धों की शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही है। आत्मस्वरूप की दृष्टि से किसी आत्मा मे अन्तर नहीं है, अन्तर केवल चेतना के विकास का है। अप्कायिक जीवों की अपेक्षा मनुष्य की चेतना अधिक विकसित है और सिद्धों में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, वहां आत्मा की शुद्ध ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशमान है, आवरण की कालिमा को जरा भी अवकाश नहीं है। इस तरह स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माए समान हैं, भेद केवल विकास की अपेक्षा से है।

जैसे जवाहरात की दृष्टि से सभी हीरे समान गुण वाले हैं — भले ही वे खान मे मिट्टी से लिपटे हों, जौहरी की दुकान पर पडे हों या स्वर्ण आभूषण मे जड़े हों, स्वरूप की दृष्टि से उनमे कोई भेद नहीं है। जौहरी की दृष्टि से सभी हीरे मूल्यवान हैं। भेद है बाहरी विकास को देखने-परखने वाली दृष्टि का। उसकी दृष्टि मे खान से निकले हुए हीरे की अपेक्षा जौहरी की दुकान पर पडे सुघड हीरे का अधिक मूल्य है और उससे भी अधिक मूल्यवान है आभूषण मे जडा हुआ हीरा। तो यह सारा भेद बाहरी दृष्टि का है। अन्तर दृष्टि से हीरा हर दशा मे मूल्यवान है। कीमती है और जौहरी की अन्तर दृष्टि उसे पत्थर के रूप मे भी पहचान लेती है। यही स्थिति आत्मा के संबन्ध में है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। हम भले ही बाहरी दृष्टि से कुछ अल्प विकसित आत्माओं की चेतना को स्पष्ट रूप से न देख सकें, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों की आत्म दृष्टि उसे स्पष्टतया अवलोकन करती है, इसलिए हमें उसके अस्तित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि आत्म स्वरूप की दृष्टि से उसकी और हमारी आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है। अत अप्कायिक जीवों की आत्मा का अपलाप करने का अर्थ है, अपने अस्तित्व का अपलाप करना और अपने अस्तित्व का अपलाप या निषेध करने का तात्पर्य है कि अप्कायिक जीवों की सत्ता का निषेध करना। इस तरह सूत्रकार ने सभी आत्माओं का स्वरूप की अपेक्षा से आत्मैक्य सिद्ध कर के इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक के आत्म अस्तित्व को मानने से इन्कार करने का अर्थ है, समस्त जीवों के आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना और यह आगम तर्क एव अनुभव से विपरीत है। इस लिए मुमुक्षु को अप्कायिक जीवों की एव अपनी आत्मा का अपलाप नहीं करना चाहिए।

'अभ्याख्यान' शब्द का अर्थ है— असदभियोग अर्थात् झूठा आरोप लगाना जैसे— जो व्यक्ति चोर नहीं है, उसे चोर कहना और जो चोर है उसे अचोर कहना या साहूकार बताना अभ्याख्यान है†। इसी तरह अप्कायिक जीवों में चेतनता होते हुए भी उन्हें निश्चेतन या निर्जीव कहना, उनकी सजीवता पर मिथ्या आरोपण है, इस लिए इसे अभ्याख्यान कहा गया है।

यह सत्य है कि अप्काय में चेतना का अल्प विकास है। परन्तु इससे हम उसकी सत्ता का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी चेतना अनुभव सिद्ध है। वह उपयोगी है और घी-तेल की तरह द्रवित है। इससे हम उसे निर्जीव नहीं कह सकते। क्योंकि सभी उपयोगी एवं तरल पदार्थ निर्जीव नहीं होते। जैसे घोड़ा, गाय-भैंस आदि पशु उपयोगी होने पर भी सजीव हैं और हस्तिनी के गर्भ में उत्पन्न होने वाला जीव तथा सभी पक्षियों के अंडे रूप में जन्म लेने वाला प्राणी कई दिनों तक तरल रहता है। फिर भी उसे सजीव मानते हैं। यदि उसकी तरल अवस्था में सजीवता नहीं मानोंगे तो उससे बनने वाले अंगोपांग युक्त हाथी एवं पक्षियों में सजीवता प्रतीत नहीं होगी। इस लिए हस्तिनी के गर्भ में एवं अंडे में तरल अवस्था में स्थित अव्यक्त चेतना स्वीकार की गई है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पानी में चेतना का अस्तित्व है‡ द्रवित होनेमात्र से उसे निर्जीव कहना सर्वथा अनुचित है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व को इन्कार करना अपलाप कहा जाता है, उसी तरह अनुभव सिद्ध अप्काय की सजीवता का निषेध करना भी अभ्याख्यान या अपलाप कहलाता है। जो अप्काय के अस्तित्व का अपलाप करते हैं, वे उसके आरम्भ-समारम्भ से नहीं बच सकते और उसके आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त न होने के कारण फिर संसार में परिभ्रमण करते हैं और जो उसकी सजीवता को जानते हैं, वे उसका अपलाप भी नहीं करते और उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके संसार सागर से पार हो जाते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

† अभ्याख्यानं नाम—असदभियोगः, यथाऽचौरं चौरमित्याह।

‡ सचेतना आपः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात् — हस्तिशरीरोपादानभूत कललवत्। तथा सात्मकं तोयम् अनुपहत द्रवत्वात् अण्डकमध्यस्थितकललवत्, इत्यादि।

मूलम्--लज्जमाणा पुढ़ोपास--अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय कम्मसमारंभेणं उदय सत्थं समारंभमाणे अणेग रूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए-जाइ-मरण मोयणाए दुक्खपडिघाय हेउं से संयमेव उदयसत्थं समारंभति, अणणेहिं वा उदय सत्थं समारंभावेति, अणणे उदय सत्थं समारंभंते समणुजाणति। तं से अहियाए, तं से अबोहिए। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति— एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्डिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेण उदय सत्थं समारंभमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। से बेमि सन्ति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ॥२४॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य! अनगाराः स्मः इति एके प्रवदन्तः यदिदं विरुपरूपैः शस्त्रैः उदक कर्म समारम्भेण उदक शस्त्रं समारम्भमाणाः अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिघात हेतुं सः स्वयमेव उदक शस्त्रं समारभते अन्यैर्वा उदक शस्त्रं समारंभयति अन्यान् उदक शस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते। तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः एतत् संबुध्ययानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणाम् अन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः एष खलु मारः, एम खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धः लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदक

कर्म समारम्भेण उदकशस्त्रं समारम्भमाणोऽन्यान् अनेक रूपान् प्राणिन विहि नस्ति अथ ब्रवीमि संति प्राणा उदक निश्रिता जीवा अनेक।

पदार्थ—हे शिष्य ! पास—तू देख । पुढो लज्जमाणा—अप्काय की हिंसा से लज्जा करते हुए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को । एगे—कोई-कोई अन्य मतावलम्बी । अणगारामोत्ति—हम अणगार हैं, इस प्रकार । पवयमाणा—कहते हुए । जमिणं—जो यह । विरूवरूवेहिं—अनेक प्रकार के । सत्थेहिं—शस्त्रों से । उदयकम्मसमारम्भेण—अप्काय संबन्धी आरम्भ करने से । उदयसत्थं—अप्कायिक शस्त्र का । समारम्भमाणे—प्रयोग करते हुए । अणेगरूवे—अनेक प्रकार के । पाणे—जीवों की । विहिंसइ—हिंसा करते हैं । तत्थ—वहां । खलु—निश्चय से । भगवया—भगवान ने । परिण्णा—परिज्ञा-विवेक । पवेइया—बताया है । इमस्स चेव—इसी । जीवियस्स—जीवन के वास्ते । परिवंदण—प्रशंसा । माणण—सम्मान और । पूयणाए—पूजा के वास्ते । जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म मरण से छूटने के लिये और । दुक्खपडिघायहेउं—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का नाश करने के लिये । से—वह । सयमेव—स्वयं ही । उदय सत्थं—अप्कायिक शस्त्र का । समारम्भति—समारम्भ करता है । वा—अथवा । अण्णेहिं—अन्य व्यक्ति से । उदय सत्थं—अप्कायिक शस्त्र का । समारम्भावेति—समारम्भ कराता है । तथा—उदय सत्थं—अप्कायिक शस्त्र का । समारंभते—समारम्भ करते हुए । अण्णे—अन्य व्यक्तियों का । समणुजाणति—अनुमोदन-समर्थन करता है । तं—वह अप्कायिक समारम्भ । से—उस को । अहियाए—अहित कर होता है । तं—वह । से—उसको । अबोहिए—अबोध का कारण होता है । से—वह । तं—उस विषय में । संबुज्झमाणे—संबुद्ध हुआ प्राणी । आयाणीयं—उपादेय ज्ञान-दर्शनादि में । समुट्ठाय—सम्यकतया उठ कर या सावधान होकर । सोच्चा—सुनकर । भगवओ—भगवान से या । अणगाराणं—अनगारों के । अन्तिए—समीप से । इहं—इस संसार में । एगेसिं—किसी-किसी व्यक्ति को । णायं—ज्ञात । भवति—होता है । खलु—निश्चय ही । एस—यह अप्कायिक समारम्भ । गंथे—अष्ट विध कर्मों की गांठ है । एस खलु—यह निश्चय ही । मोहे—मोह का कारण है । एस खलु—यह निश्चय ही । मारे—मृत्यु का कारण है । एस खलु—यह निश्चय ही । णरए—नरक का कारण होने से नरक रूप है । इच्चत्थं—इस प्रकार विषयों में । गढिए लोए—मूर्छित लोक । जमिणं—इस अप्काय का । विरूवरूवेहिं अनेक तरह के । सत्थेहिं—शस्त्रों से । उदयकम्म समारंभेण—अप्कायिक कर्म के समारंभ से । उदय सत्थं—अप्काय शस्त्र का । समारम्भमाणे—समारंभ-प्रयोग करते हुए । अण्णे—अन्य । अणेगरूवे—अनेक तरह के । पाणे—प्राणियों की । विहिंसइ—विविध प्रकार से हिंसा करता है । से—मैं । बेमि—कहता हूं । पाणा—प्राणी । उदय निस्सिया—अप्काय के आश्रित । अणेगे—अनेक । जीवा—जीव । संति—विद्यमान हैं ।

मूलार्थ–आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू ! अप्काय की हिंसा से लज्जा करने वाले प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को तू देख ! और उनको भी देख, जो अपने आप को अनगार कहते या मानते हुए अप्कायिक जीवों का अनेक तरह से आरम्भ-समारम्भ करते है और अप्काय रूप शस्त्र का आरभ-समारभ करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवो की हिसा करते है। इस लिए भगवान ने अप्काय का आरभ करने के सबन्ध मे परिज्ञा का उपदेश दिया है अर्थात् ज्ञ परिज्ञा से अप्काय के स्वरूप को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से अप्कायिक आरभ-समारभ का त्याग करनेकी बात कही है।

प्रमादी एव अज्ञानी जीव इस जीवन के निमित, प्रशसा, मान-सम्मान पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए तथा जन्म-मरण के दुख से उन्मुक्त होने के लिए अप्कायिक जीवो का स्वय आरम्भ-समारम्भ करते हैं, और दूसरे व्यक्तियो से कराते है तथा आरम्भ करने वाले प्राणियो की प्रशसा करते हैं। परन्तु यह अप्कायिक जीवों का आरभ-समारभ उनके लिए अहित-कर एव अबोध का कारण बनता है।

कुछ व्यक्ति अप्काय आदि के वास्तविक स्वरूप को जानकर सम्यग् ज्ञान एव दर्शन को प्राप्त कर लेते है। और भगवान या अनगार-मुनियो के पास से अप्कायिक समारम्भ के सबन्ध मे सुनकर वे इस बात को भली-भाति जान-समझ लेते हैं कि यह अप्काय का आरम्भ-समारम्भ अष्टविध कर्मों की ग्रन्थि-गाठ है, मोह रूप है मृत्यु का कारण है और नरक का हेतु है। इस मे आसक्त बने हुए प्राणी ही अप्कायिक शस्त्र का समारम्भ करते हुए, उसका एव उसके आश्रित स्थित अन्य स्थावर एव त्रस जीवो की हिसा करते है। यह मैं तुम्हे बताता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और वीर्याचार,

इस तरह चारों आचार का वर्णन कर दिया है। अप्कायिक जीवों की सजीवता का सम्यक्बोध प्राप्त करना, ज्ञानाचार है, उस की सजीवता पर दृढ़ विश्वास एवं श्रद्धा रखना दर्शनाचार है, उसकी हिंसा का परित्याग करना चारित्राचार है और उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करना वीर्याचार है। इस तरह एक सूत्र में चारों आचार का समन्वय कर दिया है। ये चारों आचार ही संयम के आधार हैं। इन से संयुक्त जीवन ही मुनि जीवन है।

कुछ लोग अप्कायिक जीवों के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर भी अपने आप को अनगार कहते हैं। व भले ही अपने आपको कुछ भी क्यों न कहें? परन्तु वास्तव में व अनगार नहीं हैं। क्योंकि अभी तक उन्हें न तो अप्काय में जीवत्व का बोध है और न वे उसके आरम्भ-समारम्भ के त्यागी हैं। अतः वे अभी अनगारत्व से बहुत दूर हैं।

'से बेमि' में प्रयुक्त हुआ 'से' शब्द आत्मा (अपने आप) का बोधक है। इस लिए 'से बेमि' का तात्पर्य हुआ कि 'मैं कहता हूँ।'

अप्काय भी पृथ्वीकाय की तरह, प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों का पिंड रूप एवं अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाले हैं। इस लिए उनके स्वरूप को भली-भांति जानकर मुमुक्षु को सदा उसकी हिंसा से बचना चाहिए। अप्कायिक आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से सदा सर्वथा दूर रहना चाहिए। जिससे उनका संयम भी शुद्ध रहेगा और उन्हें आध्यात्मिक शान्ति भी प्राप्त होगी*।

अन्य दार्शनिक जल के आश्रित रहे हुए जीवों को तो मानते हैं, परन्तु जल को सजीव नहीं मानते। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-इहं च खलु भो! अणगाराणं उदय जीवा वियाहिया ॥२५॥

छाया—इह च खलु भो! अनगाराणां उदक जीवा व्याख्याताः।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में। इह—इस-तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित आगम में। अणगाराणं—अनगारों को। उदय जीवा—अप्काय स्वयं सजीव है यह। वियाहिया—कहा गया है। च—चकार से अप्कायिक जीवों के अतिरिक्त उसके आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रिय आदि

---

*प्रस्तुत सूत्र का वर्णन पृथ्वीकाय के प्रकरण में सूत्र १७ की व्याख्या के समान समझें।

अन्य जीवो का ग्रहण किया गया है।

मूलार्थ-हे जम्बू ! जिनेन्द्र भगवान द्वारा दिए गए प्रवचन मे ही अप्काय मे ही अप्काय की जीवों का पिण्ड माना है और अप्काय- जल को सजीव मानने के साथ यह भी कहा हे कि उसके आश्रित द्वीन्द्रिय आदि जीव भी रहते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि अप्काय-जल सजीव है, सचेतन है। और इस बात को केवल जैन दर्शन ही मानता है। अन्य दर्शनों ने जल मे दृश्यमान एव अदृश्यमान अन्य जीवों के अस्तित्व को स्वीकारा है। परन्तु जल स्वयं सजीव है, इस बात को जैनों के अतिरिक्त किसी भी विचारक या दार्शनिक ने नहीं माना। वस्तुत पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवों की सजीवता को प्रमाणित करके जैन दर्शन ने अध्यात्म विचारणा मे एक नया अध्याय जोड दिया और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम सर्वज्ञ प्रणीत हैं।

प्रश्न— यदि अप्काय-जल सजीव है, असंख्यात जीवों का पिण्ड है, तो फिर उसका उपयोग करने पर उसकी हिंसा होगी ही। और जल का उपयोग दुनिया के सभी मनुष्य करते हैं, साधु भी उसका उपयोग करते ही हैं। ऐसी स्थिति मे वे अप्कायिक जीवों की हिंसा से कैसे बच सकते हैं?

उत्तर— जैनागमों मे इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। पानी तीन प्रकार का बताया गया है—१- सचित्त-जीव युक्त, २- अचित्त-निर्जीव और ३-मिश्र, सजीव और निर्जीव का मिश्रण। इस मे सचित्त और मिश्र यह दो तरह का पानी साधु के लिए अग्राह्य है। किन्तु अचित्त जल, जिसे प्रासुक पानी भी कहते हैं, साधु के लिए ग्राह्य बताया गया है। क्योंकि उसमे सजीवता नहीं होने से वह निर्दोष है। आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करने मे साधु को हिंसा नहीं होती। क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया यत्ना एवं विवेक पूर्वक होती है। वह अनावश्यक कोई क्रिया नहीं करता। इस लिए उसे पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है।

यहाँ इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि बाह्य शस्त्र के प्रयोग से परिणामान्तर को प्राप्त जल अचित्त-निर्जीव होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्--सत्थं चेत्थं अणुवीइ पासा, पुढो सत्थं पवेइयं ॥२६॥

छाया—शस्त्रं अनुविचिन्त्य पश्य पृथक् शस्त्रं प्रवेदितम् ।

पदार्थ—च—अवधारण अर्थ में है । सत्थं—शस्त्र । एत्थं—इस अप्काय में । अनुवीइ—विचार कर । पास—हे शिष्य ! तू देख । पुढो—पृथक्-पृथक् । सत्थं—शस्त्र । पवेइयं—कहे हैं ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! तू सोच-विचार कर देख ! इस अप्काय में पृथक पृथक शस्त्र बतलाए हैं, जिन के द्वारा यह अप्पकाय-जल निर्जीव हो जाता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि शस्त्रों के प्रयोग से अप्काय अचित्त हो जाती है । व शस्त्र—जिनके द्वारा अप्काय निर्जीव होती है दो प्रकार के बताए गए हैं—१ स्वकाय रूप और २-पर काय रूप अर्थात् अप्काय का शरीर भी अप्काय के लिए शस्त्र हो जाता है और दूसरे तीक्ष्ण निमित्त या साधनों से अप्काय-जल निर्जीव हो जाता है ।

जैनागमों ने जीवों का आयुष्य दो प्रकार का माना है— १-निरुपक्रमी और २-सोपक्रमी । जिन प्राणियों का आयुष्य जितने समय का बन्धा है, उतने समय के बाद ही वे अपने प्राणों का त्याग करते हैं और उसके पहले उनकी मृत्यु नहीं होती, उसे निरुपक्रमी आयुष्य कहते हैं अर्थात् किसी उपक्रम या आघात के लगने पर उनका आयुष्य टूटता नहीं और जो सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव होते हैं, उनका आयुष्य शस्त्र आदि का निमित्त मिलने पर जल्दी भी समाप्त हो सकता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अपने बांधे हुए आयुकर्म को पूरा नहीं भोगते । आयुकर्म को तो वे पूरा ही भोगते हैं, यह बात अलग है कि बहुत देर तक भोगने वाले आयुष्य को वे किसी निमित्त कारण शीघ्र ही भोग लेते हैं । जैसे तेल से भरा हुआ दीपक रात्रि पर्यन्त जलता रहता है, परन्तु यदि उसमें एक वर्तिका के स्थान में दो, तीन या दस-बीस वर्तिका लगा दी जाएं तो वह जल्दी ही बुझ जाएगा । रात्रि पर्यन्त जलने वाला तेल अधिक वर्तिका का निमित्त मिलने से जल्दी ही समाप्त हो जाता है । इसी तरह कुछ निमित्त या शस्त्र प्रयोग से सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव भी अपने आयुकर्म को जल्दी ही भोग लेते हैं । अप्काय के जीव प्रायः सोपक्रमी आयुष्य वाले होते हैं, अतः शस्त्र का निमित्त मिलने से वे निर्जीव हो जाते हैं । और उस निर्जीव पानी का उपयोग करने में साधु को हिंसा नहीं लगती ।

कुछ प्रतियों में "पुढोनच पवेइय" के स्थान में "पुढोऽपास पवेइय" पाठ भी मिलता है। उक्त पाठान्तर में 'शस्त्र' के स्थान में 'अपाश' शब्द का प्रयोग किया है। अपाश का अभिप्राय है— अबन्धन अर्थात् जिस से कर्म का बन्धन न हो उसे अपाश कहते हैं। इस दृष्टि से पूरे वाक्य का अर्थ होता है—विभिन्न प्रकार के शस्त्र प्रयोग से निर्जीव बना हुआ जल अपाश होता है अर्थात् उसका आसेवन करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता, इस प्रकार भगवान ने कहा है। ।

जब शस्त्र प्रयोग से अप्काय पानी अचित्त हो जाता है। तो जगल आदि स्थलों में स्थित पानी धूप-ताप आदि के सम्पर्क से अचित्त हो जाता है, तो क्या साधु उस पानी को ग्रहण कर सकता है ?

नहीं, साधु उस पानी को स्वीकार नहीं करता। एक तो ज्ञान की अपूर्णता के कारण साधु इस बात को भली-भाति जान नहीं सकता कि वह अचित्त हो गया है। और दूसरे में व्यवहार भी ठीक नहीं लगता। इसी दृष्टि से वृत्तिकार ने लिखा है—

"यतो नु श्रूयते-भगवता किल श्री वर्द्धमान स्वामिना विमल सलिल समुल्लसत्तरग शैवल पटल त्रसादिरहितो महाह्लदो व्यपगताशेष जल जन्तुकोऽचित्त वारि परिपूर्ण स्वशिष्याणा तृड् बाधितानामपि पानाय नानुजज्ञे"

अर्थात् सुना है— कि भगवान महावीर वर्द्धमान स्वामी ने अपने शिष्यों को—जो तृषा से व्याकुल हो रहे थे, अचित्त होने पर भी तालाब का पानी पीने की आज्ञा नहीं दी। इसका कारण व्यवहार शुद्धि रखने का ही है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए। इसमें केवल अप्कायिक जीवों की हिंसा रूप प्राणातिपात पाप ही नहीं, अपितु अदत्तादान— चोरी का पाप भी लगता है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं—

"पुढोऽपास पवेइय'— एव पृथक् विभिन्न लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुदकग्रहणमापाश प्रवेदित—आख्यात भगवता अपाश —अबन्धन शस्त्रं परिणामितोदकग्रहणमबन्धनमाख्यातमितियावत् ।

—आचाराग सूत्र, २५, टीका

मूलम्--श्रदुवा श्रदिन्नादाणं ॥२७॥

छाया—अथवा अदत्तादानम्।

पदार्थ—अदुवा — अथवा। अदिन्नादाणं – अदत्तादान-चोरी का भी दोष लगता है।

मूलार्थ—सचित्त जल का उपयोग करने वाले साधु को प्राणातिपात दोष के साथ अदत्तादान चोरी का भी दोष लगता है।

हिन्दी विवेचन

जैनागमों में साधु के लिए हिंसा एवं आरंभ-समारंभ का सर्वथा त्याग करने की बात कही है और हिंसा की तरह झूठ, चोरी आदि दोषों से भी सर्वथा दूर रहने का आदेश दिया है। साधु सचित्त या अचित्त, छोटी या बड़ी कोई भी चीज बिना आज्ञा स्वीकार नहीं करता। वह चौर्य कर्म का सर्वथा त्यागी है।

सचित्त जल को ग्रहण करने में जीवों की हिंसा भी होती है और चोरी भी लगती है। क्योंकि अप्काय के शरीर पर उन जीवों का अधिकार है। और प्रत्येक प्राणी को अपना शरीर, अपना जीवन प्रिय होता है, वह उसे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहता। जैसे हमें अपना शरीर प्रिय है, हम उस में जरा सा अंग भी किसी को काट कर नहीं देना चाहते। वैसे ही अप्कायिक जीव भी स्वेच्छा से अपना शरीर किसी को भी उपयोग के लिए नहीं देते। अतः उनकी बिना आज्ञा से सचित्त जल का उपयोग करना चोरी भी है।

तर्क दिया जा सकता है कि जल आदि की उत्पत्ति हमारे उपयोग के लिए हुई है। अतः उसका उपयोग करने में चोरी एवं दोष जैसी क्या बात है? यह केवल तर्क मात्र है। क्योंकि संसार में विष, आदि अन्य पदार्थ भी उत्पन्न हुए हैं। फिर उनका भी उपयोग करना चाहिए क्योंकि सभी पदार्थ उपयोग के लिए उत्पन्न हुए हैं। परन्तु विष का उपयोग कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं करता। दूसरी बात यह है कि जैसे मनुष्य यह तर्क देता है, उसी तरह हिंसक जन्तु भी तर्क देने लगें कि मनुष्य के शरीर का निर्माण हमारे खाने के लिए हुआ है, तो मनुष्य को कोई आपत्ति तो नहीं होगी? परन्तु मनुष्य अपने लिए यह नहीं चाहता। फिर अप्काय के लिए यह तर्क देना केवल स्वार्थीपन है।

यदि कोई साधु कुंए के मालिक की आज्ञा लेकर पानी का उपयोग करे, तो इसमें तो उसे चोरी का दोष नहीं लगेगा? हमें ऊपर से मालूम होता है कि हम

ने आज्ञा ले ली, परन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति मे भी चोरी है। क्योंकि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि अप्काय के शरीर पर उसी का अधिकार है। कुएं के मालिक ने तो जबरदस्ती अपना अधिकार जमा रखा है। उन्हों ने अपना जीवन स्वेच्छा से उसे नहीं सौंप दिया है। अत कुएं के मालिक से पूछ कर भी अचित्त पानी का उपयोग करना चोरी है।

अप्काय के जीवों की आज्ञा नहीं है और साथ मे तीर्थंकर भगवान की भी सचित्त पानी का उपभोग करने की आज्ञा नहीं है। यहा तक कि प्राण भी चले जाए तब भी साधु सचित्त जल पीने का विचार तक न करे†। अत सचित्त जल का उपयोग करना जिन आज्ञा का उल्लंघन करना है, इस लिए इसे भगवान की आज्ञा की चोरी भी माना गया है।

यह सारा आदेश साधु के लिए है, गृहस्थ के लिए नहीं। क्योंकि साधु एव गृहस्थ की अहिंसा मे अन्तर है। साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है और गृहस्थ उसका एक देश से त्याग करता है। वह एकेन्द्रिय हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता और त्रस जीवों की हिंसा में भी वह निरपराधी प्राणियों की निरपेक्ष बुद्धि से हिसा करने का त्याग करता है। उसके विरोधि हिसा का त्याग नहीं होता। अपने परिवार एवं देश पर आक्रमण करने वाले शत्रु के आक्रमण का मुकावला—सामना करने का उसके त्याग नहीं होता। साधु का एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों की हिंसा का त्याग होता है। जैसे साधु और गृहस्थ के जीवन में अहिसा की साधना मे अतर रहा हुआ है, इसी तरह अचौर्य व्रत मे भी अन्तर है। साधु के सचित्त जल का त्याग है, इस लिए उसका उपभोग करने मे हिसा के साथ चोरी भी लगती है। परन्तु गृहस्थ ने अभी ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग नहीं किया है।

अत प्रस्तुत सूत्र मे साधु के लिए यह निर्देश किया है कि वह सचित्त जल का उपभोग न करे। इसका आरभ-समारभ करने मे हिंसा होती है और साथ मे चोरी का भी दोष लगता है। अन्य साम्प्रदायिक विचारकों का इस विषय मे क्या मन्तव्य है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

† तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुन्छी लज्जसजए।
सीओदग न सेविज्जा, वियडस्सेसण चरे॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, २, ४

मूलम्— कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवा विभूसाए ॥२८॥

छाया—कल्पते न कल्पते न पातु अथवा विभूषायै।

पदार्थ—कप्पइ—कल्पता है। णे—हम को। कप्पइ—कल्पता है। पाउ—पीने के लिए। अदुवा—अथवा। विभूसाए—विभूषा के लिए।

मूलार्थ—कुछ विचारक कहते हैं कि हमें पीने के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है और कुछ कहते हैं कि हमें विभूषा अर्थात् स्नान करने एवं वस्त्र प्रक्षालन आदि कार्यों के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है।

हिन्दी विवेचन—

जैनेतर परम्परा में सचित्त जल के संबन्ध में क्या व्यवस्था है, इस बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। यह तो स्पष्ट है कि जल या पानी की सजीवता को जैनों के अतिरिक्त किसी ने माना ही नहीं। इसलिए जैनेतर शास्त्रों में उसकी सजीवता एवं उसके निषेध का वर्णन नहीं मिलता। इस कारण जैनेतर परम्परा में प्रवृत्तमान साधु-संन्यासी सचित्त जल का उपयोग करते हुए संकुचाते नहीं, क्योंकि उन्हें इस बात का बोध ही नहीं कि यह भी जीव है, चेतन है। इसलिए वे उस की हिंसा से बचने का प्रयत्न न करके, सदा उसके आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहते हैं।

सचित्त जल का उपयोग करने वाले विचारकों में भी मतैक्य नहीं है। आजीविक एवं भस्मस्नायी परम्परा के अनुयायी कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार सचित्त जल पीने में कोई दोष नहीं है और न उसका निषेध ही किया है, परन्तु शारीरिक विभूषा के लिए उसका उपयोग करना अकल्पनीय है। पर, शाक्य और परिव्राजक संन्यासी स्नान एवं पीने दोनों कार्यों के लिए सचित्त जल को कल्पनीय मानते हैं।

यह ठीक है कि जैनेतर परम्परा के विचारकों में पानी का उपयोग करने में एकरूपता नहीं है। कुछ सचित्त जल का केवल पीने के लिए उपयोग करते हैं, तो कुछ पीने एवं स्नान करने के लिए। जो भी कुछ हो इतना अवश्य है कि उन्हें उनकी सजीवता का बोध नहीं है और न उन जीवों के प्रति उनके मन में रक्षा की भावना ही है। अतः उनका कथन युक्ति संगत नहीं है। और जिस आगम के आधार से वे सचित्त जल का उपयोग करते हैं, वह आगम भी आप्त

छाया—अत्रापि तेषां नो निकरणाय।

पदार्थ—एत्थऽवि—यहां पर भी। तेसिं—उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त—शास्त्र। नो निकरणाए—निर्णय करने में समर्थ नहीं है।

मूलार्थ—अप्काय की सजीवता के सम्बन्ध में भी उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त या शास्त्र किसी प्रकार का निर्णय करन में समर्थ नहीं है।

हिन्दी विवेचन

तत्त्व का निर्णय करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह के ज्ञान प्रमाण माने गए हैं। अनुमान आदि प्रमाणों के साथ आगम प्रमाण भी मान्य किया गया है। परंतु आगम वही मान्य है, जो आप्त पुरुष द्वारा कहा गया हो। क्योंकि उसमें विपरीतता नहीं रहती। इस कसौटी पर कसकर जब हम आजीविक आदि परम्पराओं के आगम को परखते हैं, व सर्वज्ञ कथित प्रतीत नहीं होते।

यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं। क्योंकि उसमें रागद्वेष नहीं होता, अपने पराए का भेद नहीं होता, कषायों का सर्वथा अभाव होता है और उसके ज्ञान में पूर्णता होती है। और उसका प्रवचन प्राणिजगत के हित के लिए होता है†। परन्तु जो आप्त नहीं होते हैं, उनके विचारों में एकरूपता स्पष्टता सत्यता एवं सब जीवों के प्रति क्षेमकरी भावना नहीं होती।

इस दृष्टि से जब हम जैनेतर आगमों का अवलोकन करते हैं, तो वे प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध जीवों की सजीवता के विषय में सही निर्णय नहीं कर पाते। इससे परिलक्षित होता है कि उनमें सर्वज्ञता का अभाव है। क्योंकि प्रथम तो उन्हें अप्कायिक जीवों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है। और दूसरे उनमें राग-द्वेष का सद्भाव है। इसी कारण वे अप्काय के जीवों का आरम्भ-समारम्भ करने का उपदेश देते हैं। इस तरह उनके द्वारा प्ररूपित आगम आप्त वचन नहीं होने से प्रमाणिक नहीं है और इसी कारण किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ हैं।

विभूषा—स्नान आदि के लिए सचित्त जल का उपयोग करना किसी भी तरह उचित नहीं है। स्नान भी एक तरह का शृंगार है और साधु के लिए शृंगार करने का निषेध किया गया है। क्योंकि द्रव्य स्नान से केवल चमड़ी साफ होती है,

† सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठाए भगवया पावयणं कहियं

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आत्मा की शुद्धि के लिए अहिंसा, दया, सत्य, संयम और सन्तोष रूपी भाव स्नान आवश्यक हैं। इस लिए साधु को सचित्त या अचित्त किसी भी जल के द्रव्य स्नान मे प्रवृत्त न होकर, भाव स्नान मे संलग्न रहना चाहिए। वैदिक परम्परा के ग्रंथों मे भी ब्रह्मचारी के लिए स्नान आदि शारीरिक शृंगार का निषेध किया गया है। रही प्रतिदिन आवश्यक शुद्धि की बात। उसे साधु अचित्त पानी से विवेक पूर्वक कर सकता है। स्नान नहीं करने का यह अर्थ नहीं है कि वह अशुचि से भी लिपटा रहे। उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपना सारा समय केवल शरीर को शृंगारने मे ही न लगाए। परन्तु यदि कहीं शरीर एव वस्त्र पर अशुचि लगी है तो उसे अचित्त जल से विवेक पूर्वक साफ कर ले।

इस तरह अप्काय मे विवेक रखने वाला ही अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से बच सकता है, पानी के जीवों की रक्षा कर सकता है। इस लिए वही वास्तव मे अनगार है, मुनि है, त्यागी साधु है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति तं परिण्णाय मेहावी, णेव सयं उदय सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदय सत्थं समारंभावेज्जा, उदय सत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे, त्तिबेमि ॥३१॥

छाया---अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाता भवन्ति, अत्र शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदक शस्त्रं समारभेत्, नैव अन्यैः उदक शस्त्रं समारम्भयेत्, उदक शस्त्र समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानियात्, यस्य एते उदकशस्त्र समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ-इस अप्काय मे। सत्थ-द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का। समारम्भ-माणस्स-आरभ करने वाले को। इच्चेए-ये सब। आरम्भा-आरभ-समारम्भ। अपरिण्णाया—अपरिज्ञात-कर्म रूप बन्धन के ज्ञान और परित्याग से रहित। भवंति—होते हैं। एत्थ—इस

अप्काय में। सत्थं—द्रव्य और भाव शस्त्र का। असमारम्भमाणस्स—समारम्भ न करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरम्भा—आरंभ-समारंभ। परिण्णाया—परिज्ञात। भवंति—होते हैं। तं-परिण्णाय—उस आरंभ जन्य कर्म बन्धन को जानकर। मेहावी—बुद्धिमान पुरुष। णेव—न तो। सयं—स्वयं। उदयसत्थं—उदक शस्त्र का। समारंभिज्जा—समारंभ करे। णेवन्ने—और न अन्य से। उदय सत्थं—अप्काय के शस्त्र का। समारंभंतेवि—समारम्भ करावे। अन्ने—दूसरों का। समणुजाणेज्जा—अनुमोदन-समर्थन भी न करे। जस्सेते—जो व्यक्ति इन सब। उदय सत्थं समारंभा—अप्काय के शस्त्र समारम्भ से। परिण्णाया भवंति—परिज्ञात होता है। से हु मुणी—वही मुनि वास्तव में। परिण्णाय कम्मे परिज्ञात कर्मा होता है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ-अप्कायिक जीवों का शस्त्र से आरंभ-समारंभ करने वाले व्यक्ति को यह परिज्ञात नहीं होता कि यह आरंभ-समारंभ कर्मबन्ध का कारण है। जो अप्काय का आरंभ-समारंभ नहीं करते उन को यह सब आरंभ एवं उन के परिणाम का परिज्ञान होता है। अतः बुद्धिमान पुरुष अप्काय के आरंभ—समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जानकर न तो स्वयं उन का शस्त्र से आरम्भ करे न दूसरे व्यक्ति से आरंभ करावे और न किसी आरंभ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करे। जो अप्कायिक जीवों के आरम्भ को भली भांति जानता एवं त्याग देता है, वही मुनि वास्तव में परिज्ञात कर्मा है।

हिन्दी विवेचन—

जो व्यक्ति अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहता है, वह उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है और न उसके कटु फल से ही परिचित है। यदि उसको इसका परिज्ञान होता तो वह आरम्भ-समारम्भ से बचने का प्रयत्न करता इस लिए जिस व्यक्ति को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ एवं उसके परिणाम स्वरूप मिलने वाले कटु फल का परिज्ञान है, वह उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है। इसी भाव को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है। और अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त व्यक्ति को अपरिज्ञातकर्मा कहा है और उसके त्यागी को परिज्ञातकर्मा कहा है।

वास्तव मे यह सत्य है कि जिसे अप्काय संबन्धी ज्ञान ही नहीं है, वह उस के आरम्भ से बच नहीं सकता। उसकी प्रवृत्ति हिंसा जन्य ही होती है। और जिसे ज्ञान है वह उसके आरम्भ से दूर रहता है। न तो वह स्वयं अप्काय की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति को हिंसा के लिए प्रेरित करता है और न किसी हिंसा करने वाले व्यक्ति का ही समर्थन करता है। वह त्रिकरण त्रियोग से अप्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी होता है। वे अपने मन, वचन, काय के योगों को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से निरोध कर सवर एवं निर्जरा को प्राप्त करता है अर्थात् कर्म आगमन के द्वार को रोकता है, जिस से नए कर्म नहीं आते और पुरातनकर्मों को एक देश से क्षय करता है। ऐसे साधक को परिज्ञात कर्मा कहा है।

अपरिज्ञात और परिज्ञात कर्मा व्यक्तियों की क्रिया मे बहुत अन्तर रहा हुआ है। एक की क्रिया अविवेक एवं अज्ञान पूर्वक होने से कर्म बन्ध का कारण बनती है, तो दूसरे की क्रिया विवेक युक्त होने से निर्जरा का कारण बनती है†। इस लिए मुनि को चाहिए कि वह अप्काय के स्वरूप का बोध प्राप्त कर के उसकी हिंसा का सर्वथा त्याग करे। अप्कायिक जीवों के आरम्भ का त्याग करने वाला ही वास्तव में मुनि कहलाता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ प्रथम उद्देशक की तरह समझना चाहिए।

॥ शस्त्रपरिज्ञातृतीय उद्देशक समाप्त ॥

† इस सूत्र का वर्णन द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र की तरह समझना चाहिए।

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में साधुत्व का परिपालन करने के लिए अप्काय-पानी के जीवों की रक्षा करने का आदेश दिया गया है और उसके स्वरूप का सम्यक्तया बोध कराया गया है। चतुर्थ उद्देशक में तेजस्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्याग करने का विधान किया गया है। और यह बताया गया है कि अप्काय की तरह तेजस्काय भी सजीव है। उसके आरम्भ-समारम्भ से कर्मों का बन्ध होता है, इत्यादि बातों का चतुर्थ उद्देशक में वर्णन किया है। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्— से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥३२॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकम् अभ्याख्यायेत्, नैवात्मानम् अभ्याख्यायेत्, यः लोकमभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानमभ्याख्याति सः लोकमभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह जिसने सामान्य रूप से आत्म तत्त्व पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवों का वर्णन किया है, वही मैं। बेमि—कहता हूं। सयं—अपनी आत्मा के द्वारा। लोगं—अग्निकाय रूप लोक का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—अपलाप न करे। अत्ताणं—आत्मा का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—निषेध या अपलाप न करे। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अग्निकाय रूप लोक का अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। जे—जो। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। लोयं—अग्निकाय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू! जिस ने पहले तीन उद्देशकों में सामान्य रूप से

आत्मा, पृथ्वीकाय, अप्काय का वर्णन किया है, वह मैं तुम से कहता हू- मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा से अग्निकाय रूपलोक का निषेध-अपलाप न करे- और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप न करे। जो व्यक्ति अग्नि-काय लोक का अपलाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय का निषेध करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है। अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असख्यात जीवो का पिण्ड रूप और अगुल के असख्यातवें भाग अवगाहना वाले हैं। उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि उसमे प्रकाश और गर्मी है और ये दोनों गुण चेतनता के प्रतीक हैं। जैसे जुगनू मे जीवित अवस्था में प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था मे उसके शरीर मे प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता। अत प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, उसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी ससूचक है।

हम सदा देखते हैं कि जीवित अवस्था में हमारा शरीर गर्म रहता है, मृत्यु के बाद शरीर मे ऊष्णता नहीं रहती। और ज्वर के समय जो शरीर का ताप चढता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढ़ता है। अस्तु शरीर मे परिलक्षित होने वाली ऊष्णता सजीवता की परिसूचक है। इसी तरह अग्नि मे प्रतिभासित होने वाली ऊष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है।

ऊष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक हैं इसके अतिरिक्त अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। जिस प्रकार हमे यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, उसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव में अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है। आप देखते हैं कि यदि प्रज्वलित दीपक या अगारों को किसी बर्तन से ढक दिया जाए और बाहर से हवा को अंदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त बुझ जाएगे। किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि में आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान मे उस शरीर को मोटे कपड़े या कम्बल से ढक देने की सलाह देते हैं। क्योंकि शरीर कम्बल से आवृत्त होते ही, आग को बाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त बुझ जायगी।

इससे उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि निर्जीव पदार्थों को वायु की अपेक्षा नहीं रहती। कागज के टुकड़े को कुछ क्षण के लिए ही नहीं, बल्कि कई दिन एवं वर्षों तक भी वायु न मिले तो भी उसका अस्तित्व बना रहेगा। परन्तु अग्नि वायु के अभाव में एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती है†। यदि वह निर्जीव होती तो अन्य निर्जीव पदार्थों की तरह वह भी वायु के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाती। परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः अग्नि को सजीव मानना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय सजीव है। इसलिए मुमुक्षु को अग्नि काय की सजीवता का निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोनों में समान रूप से आत्म सत्ता है। अतः जो व्यक्ति अग्निकाय का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार करता है। और जो अपनी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय की सजीवता का भी निषेध करता है। इस तरह आत्म स्वरूप की अपेक्षा से हमारी आत्मा एवं अग्निकायिक जीवों की आत्मा की समानता को बताया है।

आचार्य शीलांक ने 'त्ति बेमि' का अर्थ इस प्रकार किया है— "जिसने पृथ्वी और अप्काय की सजीवता को भली-भांति जानकर उसका प्रतिपादन किया है, वही मैं अनवरत पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रकाशमान भगवान महावीर से तेजस्काय के वास्तविक स्वरूप को सुनकर तुम्हारे को बताता हूँ‡।

प्रस्तुत सूत्र में तेजस्काय की सजीवता को प्रमाणित करके, अब सूत्रकार उसके आरम्भ से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम्—जे दीहलोग सत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे जे

---

† न विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलइ।

—भगवती सूत्र, शतक १६, उद्देशक १

‡ येन मया तावदात्मपरार्थं पृथिव्यप्कायजीव प्रतिपादनमाविर्भावितमकारि स एवाहम् अव्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भमनुपलब्धितमिमवचनतम्भवो ब्रवीमि।

—आचारांग टीका ११

असत्थस्स खेयराणे से दीह लोग सत्थस्स खेयराणे ॥३३॥

छाया— यो दीर्घ लोकशस्त्रस्य खेदज्ञः सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञः योऽशस्त्र-स्य खेदज्ञः से दीर्घलोक शस्त्रस्य खेदज्ञः।

पदार्थ—जे—जो। दीह लोग सत्थस्स—दीर्घ लोक वनस्पति के शस्त्र-अग्नि का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है। से—वह। असत्थस्स—अशस्त्र-सयम का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है। जे—जो। असत्थस्स—सयम का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है। से—वह। दीह लोग सत्थस्स—अग्नि का। खेयण्णे—ज्ञाता होता है।

मूलार्थ—जो वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्नि स्वरूप के परिज्ञाता हैं, वे सयम को भली-भाति जानने वाले है और जिन्हे सयम के स्वरूप का परि-ज्ञान है, उन्हे अग्नि के स्वरूप का भी बोध है।

हिन्दी विवेचन—

दुनिया मे अनेक तरह के शस्त्र हैं। परन्तु अग्नि का शस्त्र अन्य शस्त्रों से अधिक तीक्ष्ण एव भयावह है। जितनी व्यापक हानि यह करता है, उतनी अन्य किसी शस्त्र से नहीं होती। जरा सी असावधानी से कहीं आग की चिनगारी गिर पडे, तो सब स्वाहा कर देती है। इसकी लपेट मे आने वाला सजीव-निर्जीव कोई भी पदार्थ सुरक्षित नहीं रहता। जब यह भीषण रूप धारण कर लेती है, तो वृक्ष मकान, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, मनुष्य जो भी इसकी लपेट मे आ जाता है, वह जल कर राख हो जाता है। अग्नि किसी को भी नहीं छोडती, गीले-सूखे, सजीव-निर्जीव सब इसकी लपटों मे भस्म हो जाते हैं। अत आग को सर्वभक्षी कहने की लोक-परम्परा बिल्कुल सत्य है। और इसी कारण इसे सबसे तीक्ष्ण एवं प्रधान माना गया है। आगम में भी कहा गया है कि अग्नि के समान अन्य शस्त्र नहीं है†। यह पृथ्वी एवं अप्कायिक जीवों के शस्त्र के साथ वनस्पति के जीवों का भी शस्त्र है। और वनस्पति के लिए इसका उपयोग अधिक किया जाता है। घरों मे शाक-भाजी बनाने एव खाने-पकाने के लिए इसी का उपयोग किया जाता है और घास एव चन्दन के

---

† विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि विणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३५, १२

मोहक पत्तों में उनकी पारस्परिक रगड़ एवं टक्कर से प्रायः आग का प्रकोप होता रहता है। इस लिए इसे वनस्पतिकाय का शस्त्र रूप विशेषण से अभिव्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में अग्नि शब्द का प्रयोग न करके 'दीर्घ लोक शस्त्र' इतने लम्बे वाक्य का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे एक विशेषता रही हुई है। वह यह है कि अग्नि ६ काय का शस्त्र है। जब यह प्रज्वलित होती है, तो अपनी लपेट में आने वाले किसी भी प्राणी को सुरक्षित नहीं रहने देती। और जब यह जंगल में लगती है, तो बड़े-बड़े वृक्षों को जलाकर भस्म कर देती है। और वृक्ष आश्रय में रहने वाले सभी स्थावर एवं त्रस जीवों को भस्म कर देती है। वृक्ष पर कृमि, पिपीलिका भ्रमर आदि त्रस जीव पाए जाते हैं, उसकी कोटर एवं जड़ों में पृथ्वी कायिक और ओस के रूप में अप्कायिक तथा उसके पत्तों को हिलते हुए वायुकायिक जीव भी वहां पाए जाते हैं। इस तरह एक वृक्ष को विध्वंस करने के साथ ६ काय के जीवों का नाश हो जाता है। इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'अग्नि' शब्द का प्रयोग न कर के दीर्घ लोक शस्त्र शब्द का प्रयोग किया है।

वनस्पति को दीर्घ लोक कहने का तात्पर्य यह है— स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना ही सब से बड़ी है। पृथ्वीकाय अप्काय तेजस्काय, वायुकाय के शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना विभिन्न प्रकार की है। कुछ वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना एक हजार योजन से भी कुछ अधिक है। आगम में वनस्पति काय के संबन्ध में विस्तृत विवेचन मिलता है; कई जगह उसे दीर्घ लोक भी कहा है। एक बार गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा कि हे भगवन्! वनस्पति काय में गया हुआ वनस्पतिकाय में ही रहे तो कितने काल तक रहता है? हे गौतम! यदि वनस्पति में गया हुआ जीव वनस्पतिकाय] में ही जन्म-मरण करता रहे तो उत्कृष्ट अनन्त जन्म-मरण करता है और काल की अपेक्षा से अनन्त काल तक उसी में परिभ्रमण करता रहता है। इतना ही नहीं असंख्यात पुद्गल-परावर्तन*

* पुद्गल परावर्तन काल का एक माप है। जैनागम की दृष्टि एक काल चक्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो काल होते हैं, दोनों काल के छः-छः आरे होते हैं और एक काल १० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है, अतः पूरा काल चक्र २० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है और एक पुद्गल परावर्तन में अनन्त काल चक्र बीत जाते हैं।

उसी काय मे पूरे कर देता है†। अवगाहना के संबन्ध मे पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम ! वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन‡ से भी कुछ ऊपर है।* इस लिए वनस्पतिकाय को आगम मे दीर्घ लोक कहा है।

इस दीर्घ लोक-वनस्पतिकाय का विनाशक शस्त्र अग्नि है। इस लिए जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ-समारम्भ करता है, वह ६ काय का विनाश करता है और जो इसके आरम्भ से निवृत्त है वह १७ प्रकार के सयम का आराधक है। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र मे इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया है कि जो व्यक्ति अग्निकाय के ज्ञाता है अर्थात उस से होने वाले आरम्भ एव विनाश तथा उससे बन्धने वाले कर्म के स्वरूप को भली-भाति जानता है, वह सयम का भी परिज्ञाता है और जो सयम का का परिज्ञान रखता है, वह अग्निकाय के आरम्भ से भी निवृत्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "खेयण्णे" शब्द के सस्कृत मे दो रूप बनते हैं—१-क्षेत्रज्ञ और २- खेदज्ञ। उभय शब्दों का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—

"क्षेत्रज्ञो निपुण अग्निकाय वर्णादितो जानातीत्यर्थ । खेदज्ञो वा खेद तद् व्यापार सर्वसत्वाना दहनात्मक पाकाद्यनेक शक्ति कलापोपचित प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि व्यपदेशो यतीनामनारम्भणीय तमेवविध खेद अग्निव्यापार जानातीति खेदज्ञ

अर्थात— अग्नि को वर्णादि रूप से जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं और

† वणस्सइ काइएण भते। वणस्सइ काइएति कालओ केविच्चिरं होइ? गोयमा! अणत काल अणताओ उस्सप्पिणि-अवसप्पणिओ कालओ। खेत्ताओ अणता लोया, असखेज्ज पोग्गल परियट्टा तेण पुग्गल परियट्टा आवलियाए असखेज्जइभागे।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद १८

‡ लवण समुद्र की गहराई एक हजार योजन की मानी गई है। और उसमे कमल पैदा होता है, उसकी जड समुद्र के धरातल मे गडी होती है और कमल का ऊपरी भाग पानी से ऊपर रहता है। इस अपेक्षा से वनस्पतिकाय के शरीर की ऊचाई एक हजार योजन से ऊपर मानी गई है।

* वणस्सइ काइयाण भते। के महालिया सरीरोगाहणा पण्णता? गोयमा! साइरेग जोयण सहस्स सरीरोगाहणा।

प्रज्ञापना सूत्र, अवगहणा पद

अग्नि के दहनादि रूप व्यापार का नाम लेद है और उसका परिज्ञाता खेदज्ञ कहलाता है।

अशस्त्र शब्द का अर्थ है — संयम। क्योंकि शस्त्र से जीवों का नाश होता है, उन्हें वेदना पीड़ा होती है, परन्तु संयम से किसी भी जीव को वेदना, पीड़ा एवं प्राण हानि नहीं होती। इसलिए संयम को अशस्त्र कहा है। अतः जो अग्नि के स्वरूप का ज्ञाता होता है वही संयम का आराधक होता है। और जो संयम के स्वरूप को भली-भांति जानता है, वही अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त होता है। इस तरह संयम एवं अग्निकायिक आरम्भ निवृत्ति का घनिष्ट संबन्ध स्पष्ट किया है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि यह तत्त्व महापुरुषों के द्वारा जाना एवं कहा गया है—

मूलम्—वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥३४॥

छाया— वीरैः एतद् अभिभूय दृष्टं संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः ।

पदार्थ— संजएहिं—संयत पुरुष। सया—सदा। जत्तेहिं—यत्नशील। सया—सदा। अप्पमत्तेहिं—प्रमाद रहित, एवं कर। वीरेहिं—वीर पुरुषों ने। अभिभूय—परिषहों को जीत कर तथा पूर्णज्ञान को प्राप्त कर। एयं—इस अग्निकाय का शस्त्र को। दिट्ठं—देखा है।

मूलार्थ—महाव्रतों के परिपालक सदा यत्नशील और अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषों ने परीषह तथा कर्मों को अभिभूत करके प्राप्त केवल ज्ञान के द्वारा अग्निकाय रूप शस्त्र और संयमरूप अशस्त्र को देखा है।

हिन्दी विवेचन —

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पूर्व सूत्र में अग्निकाय रूप शस्त्र एवं अशस्त्र रूप संयम के स्वरूप को जानकर अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त हो कर संयम में प्रवृत्त होने की जो बात कही गई वह नितांत सत्य है, क्योंकि वीर पुरुषों ने अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषों ने उसे देखा है। अतः अग्निकाय के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होने रूप संयम मार्ग सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित होने से वास्तविक पथ है; इसमें संशय को जरा भी अवकाश नहीं है।

इस तरह सूत्रकार ने मुमुक्षु के मन मे ज़रा भी संशय पैदा न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र के द्वारा मुमुक्षु के मन का पूरा समाधान करने का प्रयत्न किया है। हम सदा देखते हैं कि जब किसी बात पर किसी प्रमाणिक व्यक्ति की सम्मति मिल जाती है, तो व्यक्ति को उस बात पर पूरा विश्वास हो जाता है। अत सूत्रकार ने इस बात को परिपुष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग वीतराग एवं सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित उन्होंने अग्निकाय को शस्त्र रूप में और संयम को अशस्त्र रूप मे देखा है। अस्तु प्रस्तुत सूत्र पूर्व सूत्र का परिपोषक है, साधक के मन मे जगे हुए विश्वास को दृढ़ करने वाला है और आचार मे तेजस्विता लाने वाला है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'वीर' शब्द तीर्थंकर एव सामान्य केवलज्ञानी पुरुषों का परिबोधक है। क्योंकि वे राग-द्वेप एव कषाय रूप प्रबल योद्धाओं को परास्त कर चुके हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर पड़े हुए आवरण सर्वथा अनावृत्त करके पूर्ण ज्ञान, दर्शन सुख एवं वीर्य शक्ति को प्रकट कर चुके हैं अत वस्तुत वे ही वीर कहलाने योग्य है और सर्वज्ञ होने के कारण वस्तु के वास्तविक स्वरूप बताने मे भी वे ही समर्थ हैं। इसलिए सूत्रकार ने वीर शब्द का तीर्थंकर एव सामान्य केवल ज्ञानी के लिए प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी पुरुषों द्वारा अवलोकित है। केवल अवलोकित ही नहीं, आचरित भी है। यों कहना चाहिए कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग पर गतिशील होकर ही उन्होंने सर्वज्ञता को प्राप्त किया है।

शुद्ध चारित्र परिपालन करने के लिए परीषहों पर विजय पाना जरूरी है। जो साधक अनुकूल एव प्रतिकूल परीपहों में आकुल-व्याकुल नहीं होता, सयम मार्ग से विचलित नहीं होता, उसका चारित्र शुद्ध एव निर्मल बना रहता है और उस विशुद्ध भावना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिक कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता हैं या यों कहना चाहिए कि अनन्त ज्ञान, दर्शन, आत्म-सुख एवं वीर्य की ज्योति अनावृत्त हो जाती है। साधक की दृष्टि में पूर्णता आ जाती है, उससे दुनिया की कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं रहती। और यह पूर्ण दृष्टि संयम मार्ग पर प्रगति करके ही प्राप्त की गई है और अभी भी की जा रही हैं तथा भविष्य मे प्राप्त की जा सकेगी। इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा अवलोकित एव आचरित है। इसलिए साधक को निशक भाव से उस पथ पर गतिशील होना चाहिए।

संयत सदायत और अप्रमत्त ये तीनों 'वीर' शब्द के विशेषण हैं। संयत का अर्थ है—विषय-विकार एवं सावद्य कार्यों में प्रवृत्तमान योगों का सम्यक् प्रकार से निरोध करने वाला और सदा विवेक के साथ प्रवृत्ति करने वाले को सदायत कहते हैं। अप्रमत्त का अर्थ है—मद्य विषय कषाय विकथा और निद्रा आदि प्रमाद का परित्याग करने वाला। उक्त गुणों से युक्त पुरुष वीर कहलाता है और उस वीर पुरुष ने इस संयम मार्ग को देखा एवं बताया है।

योगानुसारी प्रस्तुत सूत्र का अर्थ है- अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ से मन, वचन और काय योग का निरोध करना और उससे जो लब्धि प्राप्त हो उसका आत्मिक अभ्युदय के लिए उपयोग करना।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ अनर्थ का कारण है। फिर भी कई विषयासक्त एवं प्रमादी जीव विषय-वासना एवं प्रमाद के वश होकर अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ करते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दण्डेत्ति पवुच्चइ ॥३५॥

छाया—यः प्रमत्तः गुणार्थिकः सः खलु दण्ड इति प्रोच्यते।

पदार्थ—जे—जो व्यक्ति। पमत्ते—प्रमादी। गुणट्ठीए—गुणार्थी है। से—वह। हु—निश्चय ही। दंडेत्ति—दण्ड रूप। पवुच्चइ—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो जीव प्रमादी और गुणार्थी हैं वे जीव प्राणियों के लिए दण्ड का कारण होने से उन्हें दण्ड रूप कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति प्रमत्त† और गुणार्थी‡ है, वह दण्ड रूप है। क्योंकि प्रमाद एवं गुणार्थिता इन दो कारणों से ही व्यक्ति अग्नि के आरम्भ में प्रवृत्त होता है। और विषय-कषाय से युक्त होकर रंधन, पाचन, आतापन प्रकाश आदि के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है, इसलिए उसकी इस प्रवृत्ति को अकुशल प्रवृत्ति कहा है। और इस प्रवृत्ति से प्राणियों को दण्डित करने का कारण वह है, इसलिए उसे दण्ड रूप भी कहा है। ऐसा देखा गया है कि वस्तु के गुण-दोष

† मद्य, विषय कषायादि का सेवन करने वाला।

‡ अग्नि रन्धन पाचन आदि गुणों का आकांक्षी—चाह रखने वाला।

या प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु का नाम रख दिया जाता है। गुणानुसारी नाम करण की पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है। जैसे घृत आयुवर्द्धक है, इसलिए उसका आयु रूप से निर्देश किया जाता है — "आयुर्वैघृतम्" इसी तरह प्रमादी एवं गुणार्थी जीव अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर अग्निकायिक एव उन के आश्रय मे रहे हुए अन्य त्रस-स्थावर जीवों को दंडित करते हैं, इसलिए उन्हे दण्ड रूप कहा गया है।

प्रमादी और गुणार्थी दण्ड रूप कहा गया है। दण्ड से दु खों की उत्पत्ति होती है, इस लिए सूत्रकार उसके परित्याग की प्रेरणा देते हुए कहते है—

मूलम्— तं परिण्णाय मेहावी इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥३६॥

छाया— तत् परिज्ञाय मेधावी इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्षं प्रमादेन।

पदार्थ—त—इस अग्निकाय के आरम्भ को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान यह निश्चय करे। ज—जिस आरम्भ को। पमाएणं—प्रमाद से। अहं—मैंने। पुव्व—प्रथम। अकासी—किया था, उसको। इयाणिं—इस समय। णो—नही करु गा।

मूलार्थ--अग्निकाय के आरभ से होने वाले अनर्थ को जान कर बुद्धिमान पुरुप इस वात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरभ को करता रहा हू, इस समय उसका परित्याग करता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे प्रबुद्ध पुरुष के यथार्थ जीवन का चित्रण किया गया है। इस वात को हम पहले ही वता चुके हैं कि जव तक जीवन मे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, तव तक क्रिया मे आचरण मे तेजस्विता नहीं आ पाती। इसलिए अग्नि-काय के आरम्भ से कितना अनर्थ एव अहित होता है, इस वात का परिज्ञान होने के वाद मुमुक्षु उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के वाद ही प्रत्याख्यान की अभिरुचि होती है, आचरण की ओर कदम उठता है और ज्ञान पूर्वक किया गया त्याग ही वास्तविक आत्म विकास मे सहायक होता है।

भगवती सूत्र में वताया गया है। कि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर

सेपूछा— हे भगवन् ! कोई जीव यह कहता है कि मैंने प्राण, भूत जीव सत्त्व की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसका प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है ? भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम ! उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान भी है और दुष्प्रत्याख्यान भी, भगवान के हकार-नकार युक्त उत्तर को स्पष्ट समझने की अभिलाषा से गौतम स्वामी ने पुनः पूछा—भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ? भगवान ने कहा—हे गौतम ! जो जीव, जीव अजीव आदि तत्त्वों को भली-भांति नहीं जानता है, त्रस-स्थावर के स्वरूप को नहीं पहचानता है। वह व्यक्ति यदि कहता है कि मैंने प्राण, भूत जीव, सत्त्वों की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य नहीं अपितु झूठ बोलता है तीन करण-तीन योग से असंयति है। अव्रती है। पाप कर्म का त्यागी नहीं है। क्रिया युक्त है, असंवृत है, एकान्त दण्ड रूप है एकान्त बाल-अज्ञानी है, इस लिए उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। और जो जीवाजीव एवं त्रस-स्थावर आदि तत्त्वों का ज्ञाता है और वह कहता है कि मैंने प्राण भूत आदि की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य बोलता है, तीन करण-तीन योग से संयती है व्रती है, पाप कर्म का त्यागी है क्रिया रहित है, संवृत है, एकान्त पंडित—ज्ञानी है, इसलिए उस का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है†। अस्तु इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान पूर्वक किया गया त्याग ही कर्म बन्धन को रोकने में सहायक होता है, निर्जरा का कारण बनता है।

अस्तु प्रस्तुत सूत्र में बताया गया कि मुमुक्षु अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ को जानने के पश्चात् उसमें प्रवृत्त नहीं होता। जब तक वह उसके स्वरूप को भली भांति नहीं जानता, तब तक प्रमाद के कारण अग्नि का आरम्भ करता है। परन्तु उसका सम्यक्तया ज्ञान होने के बाद वह उसका सर्वथा परित्याग कर देता है अर्थात् पूर्व समय जो आरम्भ किया है उसका पश्चाताप करता है और भविष्य के लिए उसका त्याग कर के विवेक पूर्वक संयम में प्रवृत्त होता है।

अग्निकाय के संबन्ध में जैनेतर संप्रदाय का जो अभिमत है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारभमाणे अन्नणे अणेगरूवे पाणे विहिंसति। तत्थ खलु भगवता

---

† भगवती सूत्र, शतक ७ उद्देशक २।

परिएणा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ अएणेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ. अएणे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहियाए, से तं संवुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति--एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अएणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥३७॥

छाया— लज्जमानान् पृथक् पश्य ! अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिद विरूपरूपै. शस्त्रै अग्निकर्म समारंभेण अग्निशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-विमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारभते अन्यैर्वा अग्निशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्र समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदनीय समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अणगाराणामतिके इह एकेषां ज्ञात भवति---एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरुपैः शस्त्रैः अग्निकर्म समारम्भेण, अग्नि शस्त्रं समारभमाणे अन्यान् अनेक रुपान् प्राणान् विहिनस्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—स्वागमविहित अनुष्ठान करते हुए अथवा सावद्यानुष्ठान के कारण लज्जा का अनुभव करते हुए। पुढ़ो—विभिन्न मतवालो को। पास—हे शिष्य ! देख। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं, इस प्रकार। एगे—कई एक वादी। पवदमाणा—बोलतेतू हुए। जमिण—जो यह प्रत्यक्ष। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। अगणिकम्मसमारंभेण—अग्नि कर्म समारम्भ से। अगणि सत्थ समारम्भमाणे—अगणि शस्त्र का समारम्भ

प्रयोग करते हुए। अणेगरूवे—अनेक रूप वाले। अन्ने—अन्य। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—हिंसा करते हैं। तत्थ—अग्निकाय के आरम्भ विषयक। खलु—निश्चय ही। भगवता—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा। पवेइया—प्रतिपादन की है। इमस्स चेव—इसी। जीवियस्स—जीवन के लिए। परिवंदण-माणण-पूयणाए—प्रशंसा मान-सम्मान और पूजा के लिए। जाई-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए। दुक्खपडिघायहेउं—दुःखों का नाश करने के लिए। से—वह। सयमेव—स्वयमेव। अगणि सत्थं समारम्भइ—अग्निकाय का शस्त्र से समारम्भ करता है। वा—अथवा। अन्नेहिं—दूसरों से। अगणि सत्थं—अग्नि शस्त्र से। समारम्भावेइ—समारम्भ कराता है। वा—तथा। अगणि सत्थं—अग्नि शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारम्भ करने वाले। अन्ने—अन्य व्यक्ति का। समणुजाणइ—समर्थन करता है। तं—वह आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहितकर होता है। तं—वह आरम्भ से—उसको। अबोहियाए—अबोध के लिए होता है। से तं—जिसको यह पापाचरण बता दिया गया है वह शिष्य। संबुज्झमाणे—अग्नि के आरंभ को पाप रूप जानता हुआ। आयाणीयं—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि को प्राप्त कर। भगवओ—भगवान के समीप। वा—अथवा। अणगाराणं—अनगारों के समीप। सोच्चा—सुनकर। इहं—इस लोक में। एगेसिं—किसी किसी व्यक्ति को। णायं—ज्ञात हो जाता है। एस खलु—यह अग्निकाय का समारम्भ निश्चय ही। मोहे—मोह का कारण है। एस—यह। खलु—निश्चय ही। गंथे—अष्ट कर्म की गांठ है। एस खलु—यह निश्चय ही। मारए—मृत्यु का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। णरए—नरक का कारण है। इच्चत्थं—इस अर्थ के लिए। गढिए—मूर्छित। लोए—लोक है। जमिणं—जो यह प्रत्यक्ष। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। अगणि कम्मसमारम्भेणं—अग्नि का समारम्भ करते हुए। अन्ने—अन्य। पाणे—प्राणियों की भी। विहिंसइ—हिंसा करते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! तू इन विभिन्न धर्मानुयायियों को देख जो स्वागमानुसार साधु क्रिया करके लज्जित होते हुए भी अपने आप को अनगार कहते हैं। यह स्पष्ट है कि वे विभिन्न शस्त्रों से अग्निकर्म समारंभ से अग्निकायिक जीवों एवं अन्य अनेक तरह के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं। अतः भगवान ने परिज्ञा-विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि प्रमादी जीव इस क्षणिक जीवन के लिए, प्रशंसा मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के विनाशार्थ स्वयं अग्नि का आरंभ करते

हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते है और करने वाले को अच्छा समझते है। पर
यह समारम्भ उनके लिए अहितकर है, अबोध का कारण है। इस प्रक
भगवान से या अनागारो से सुन कर सम्यक्बोध को प्राप्त हुए कि
किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि यह अग्नि समारभ अष्ट कर्मों
गाठ है, यह मोह का कारण है, यह मृत्यु का कारण है और यह नरक
भी कारण है। फिर भी विषय-भोगो मे मूर्छित-आसक्त व्यक्ति अग्नि का
के समारम्भ से निवृत्त नही होता। वह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न शस्त्रो
द्वारा अग्निकायिक जीवो की हिंसा करता हुआ अन्य अनेक जीवो की
हिंसा करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र पृथ्वी काय और अप्काय के प्रकरण मे सूत्र १६, १७ और
के सूत्र की तरह ही है। केवल इतना ही अन्तर है कि वहां पृथ्वी एव अप्काय का वर्ण
है और यहा तेजस्काय समझना चाहिए। शेप व्याख्या उसी प्रकार होने से यहा पिष्ट-पेष
करना उचित नहीं जंचता।

अब सूत्रकार अग्निकाय समारम्भ से अन्य जीवों की जो हिंसा होती है, उस
उल्लेख करते हैं—

मूलम् —से बेमि—संति पाणा पुढविनिस्सिया, तणणि-स्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्ठनिस्सिया, गोमयणिस्सिया, कयवर-णिस्सिया, संति-संपातिमा पाणा आहच्च संपयन्ति; अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमाव-ज्जंति; ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ॥३८॥

छाया— सः (अहं) ब्रवीमि सन्तिप्राणाः पृथिवीनिश्रिताः, तृण निश्रिताः,
पत्रनिश्रिताः, काष्ठ निश्रिताः गोमयनिश्रिताः, कचवरनिश्रिताः, सन्ति
सम्पातिमाः प्राणाः आहत्य सम्पतन्ति, अग्निं (अग्निा) च खलु स्पृष्टाः एके

संघातमापद्यन्ते ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति।

पदार्थ—से बेमि—वह मैं कहता हूँ। संति—विद्यमान हैं। पाणा—प्राणी। पुढविणिस्सिया—पृथ्वीकाय के आश्रय में। तणणिस्सिया—तृणों के आश्रित। पत्तणिस्सिया—पत्तों के आश्रित। गोमयणिस्सिया—गोबर के आश्रित। कयवरणिस्सिया—कूड़े-कर्कट के आश्रित। संति—विद्यमान हैं। संपातिमा—उड़ने वाले। पाणा—प्राणी। आहच्च—कदाचित्। संपयंति—अग्नि में गिर पड़ते हैं। च—फिर। अगणिं—अग्नि को। पुट्ठा—स्पर्श होते हैं। एगे—निश्चय ही। एगे—कोई। संघायमावज्जंति—शरीर संकोच को प्राप्त होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। परियावज्जंति—मूर्छित होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। परियावज्जंति—मूर्छित होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। उद्दायंति—प्राणों को छोड़ देते हैं अर्थात् निर्जीव हो जाते हैं।

हे जम्बू! अग्निकाय के आरम्भ में विभिन्न जीवों की जो हिंसा होती है वह मैं तुम से कहता हूं। पृथ्वी के आश्रय में तथा तृण काष्ठ गोबर कूड़े-कर्कट के आश्रय में निवसित विभिन्न तरह के अनेक जीव और इसके अतिरिक्त आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु, कीट पतंगे एवं पक्षी आदि जीव भी कभी प्रज्वलित आग में आ गिरते हैं और उसके (आग के) संस्पर्श से उनका शरीर संकुचित हो जाता है और वे मूर्छित होकर अपने प्राणों को त्याग देते हैं।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि अग्नि सबसे तीक्ष्ण शस्त्र है। इसकी प्रज्वलित ज्वाला की लपेट में आने वाला सजीव या निर्जीव कोई भी पदार्थ अपने रूप में सुरक्षित नहीं रह सकता। यह पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का विनाश करने के साथ उनके आश्रय में निवसित त्रस जीवों को भी जलाकर भस्म कर देती है। उसकी लपेट में आने वाले जीवों के कुछ नाम गिनाते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि पृथ्वी, वृक्ष पत्ते, काष्ठ, गोबर एवं कूड़े-करकट में स्थित जीवों को तथा आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु कभी आग में गिर पड़े तो वह उनके प्राणों का नाश कर देती है।

यह तो स्पष्ट है कि आग पृथ्वी पर प्रज्वलित होती है और पृथ्वी के आश्रय में अनेक जीव निवसित हैं। कृमि, पिपीलिका कीड़े-मकोड़े, बिच्छू, सर्प, मेंढक तथा वृक्ष, लता बेल आदि के जीव पृथ्वी के आधार ही स्थित हैं। अतः जब आग

लगती है तो इनमे से अनेक जीवों की हिंसा होना संभव है।

आग को प्रज्वलित करने में तृण, काष्ठ और गोवर का प्रयोग किया जाता है तथा घर के या गलियों के कूड़े-कर्कट को एकत्रित करके उसमे आग लगा दी जाती है। उसे दूर जगल मे लेजाकर फैंकने के श्रम से वचने के लिए उसमे आग लगा कर समय एवं श्रम को वचा लिया जाता है। परन्तु इससे अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है। क्योंकि तृण, काष्ठ एव गोवर के आश्रय मे पतगे, भ्रमर, लट, घुण, कुथुवे, आदि अनेक जीव-जन्तु रहते हैं और कूडे-कर्कट में तो विभिन्न त्रस जीव रहते हैं—कीडे-मकोडे, पिपीलिका आदि का पाया जाना तो साधारण सी वात है। अस्तु इनको जलाने मे अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जव आग जलती है, तो आकाश मे उडने वाले मक्खी, मच्छर, भ्रमर एव अन्य पक्षी गण कभी-कभी उसमे आ गिरते हैं। और उसका ज्वाजल्य मान ऊष्ण सस्पर्श पाकर उनका शरीर सिकुड जाता है, वे तुरन्त मूर्च्छित होकर प्राण त्याग देते हैं।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचे कि अग्नि का समारम्भ सवसे भयानक है। इसमें छ: काय के जीवों की हिंसा होती है। इसलिए वुद्धिमान पुरुष को उसका परित्याग करना चाहिए। इसी वात की प्रेरणा देते हुए अगले सूत्र में कहा है—

मूलम्---एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारम्भावेज्जा अगणिसत्थं समारम्भमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्म समारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी पराणायकम्मे,—त्तिबेमि ॥३६॥

छाया— अत्र शस्त्र समारम्भामणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं अग्निशस्त्र समारभेत् नैवान्यै अग्निशस्त्रं समारम्भयेत्, अग्नि शस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात यस्यैते अग्निकर्म

समारम्भाः परिज्ञाता: भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञात कर्मा इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—एत्थ—अग्निकाय के विषय में। सत्थं—स्वकाय और परकाय रूप शस्त्र का। समारम्भमाणस्स—समारम्भ करने वाले को। इच्चेते—ये। आरम्भा—आरंभ। परिण्णाता भवन्ति—कर्म बन्ध के हेतु है। तं—उस अग्नि समारंभ को। परिण्णाय—परिज्ञात करके। मेहावी—बुद्धिमान। णेव—नहीं। सयमेव—स्वयमेव। अगणि सत्थं—अग्नि शस्त्र का। समारंभेज्जा—समारंभ करे। णेवऽण्णेहिं—न अन्य से। अगणि सत्थं—अग्नि शस्त्र का समारं भावेज्जा—समारंभ करावे। अगणि सत्थं—अग्नि शस्त्र का। समारंभमाणे—समारंभ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। न समणुजाणेज्जा—अनुमोदन भी न करे। जस्सेते—जिसके ये। अगणि कम्म समारंभा—अग्नि कर्म समारंभ। परिण्णाया—परिज्ञात। भवंति—होते हैं। से हु मुणी—निश्चय पूर्वक वही मुनि। परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जो व्यक्ति स्वकाय एवं परकाय रूप शस्त्र अग्निकायिक जीवों का आरम्भ करता है, वह इस बात से अपरिज्ञात होता है कि यह आरम्भ कर्मबन्ध का कारणभूत है। जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ नहीं करता वह उसके कर्मबन्ध के कारण से परिचित होता है। अतः अग्नि के आरम्भ को कर्मबन्धन का कारण जानकर बुद्धिमान पुरुष को न स्वयं अग्नि का आरम्भ करना चाहिए, न दूसरे व्यक्ति से आरम्भ कराना चाहिए और आरंभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। जिस मुमुक्षु पुरुष को ऐसा बोध है कि यह समारम्भ कर्म बन्ध का कारण है वास्तव में वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहा गया है।

हिन्दी विवेचन

जो व्यक्ति ज्ञ परिज्ञा द्वारा अग्निकाय के स्वरूप का परिज्ञान करके, प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा अग्नि का आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करता है, वही वास्तव में मुनि है, परिज्ञात कर्मा है। इस संबन्ध में दूसरे और तीसरे उद्देशक के अन्तिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से लिख चुके हैं, अतः उस प्रकरण में देख लेना चाहिए। 'त्तिबेमि' का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ शस्त्रपरिज्ञा चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे अग्निकायिक जीवों का वर्णन किया गया है और उसके आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई। इसी क्रम से प्रस्तुत उद्देशक मे वायुकाय का वर्णन करना चाहिए था। परन्तु, यहा पर सूत्रकार ने वायुकाय के स्थान मे वनस्पतिकाय का विवेचन किया है। इस क्रम उल्लघन का कारण यह है कि पाच स्थावरों मे वायुकाय चाक्षुष ग्राह्य न होने से शिष्य के समझ मे जल्दी नहीं आ सकती। इसलिए पहले चारों स्थावरों एवं त्रस का वर्णन करके, फिर वायु काय का वर्णन करेंगे। इससे यह लाभ होगा कि चार स्थावर एव त्रस जीवों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् वायु के स्वरूप को समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस तरह शिष्य के हित को सामने रख कर प्रस्तुत उद्देशक मे वायुकाय के स्थान मे वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन किया गया है। और उसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है –

मूलम्—तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं, विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चई ॥४०॥

छाया—तत् नो करिष्यमि समुत्थाय मत्वा मतिमन् ! अभयं विदित्वा, त यो नो कुर्यात्, एष उपरत , अत्रोपरतः एष अनगार इति प्रोच्यते।

पदार्थ – त – उस वनस्पतिकाय का आरम्भ। णो करिस्सामि – नहीं करूगा। समुट्ठाए – सम्यक् प्रव्रजित होकर। मत्ता—जीवादि पदार्थों को जानकर। मइम—हे मतिमान् शिष्य! अभयं—सयम को। विदित्ता—जानकर। त — उस वनस्पतिकाय के आरभ–हिंसा को। जे—जो। णो करए—नही करता है। एसोवरए—वही उपरत–निवृत है। एत्थोवरए—जिन मार्ग मे ही ऐसा त्यागी मिलता है, अन्यत्र नही। एस—यही त्यागी। अणगारेत्ति—अनगार। पवुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! जो व्यक्ति सर्वज्ञोपदिष्ट मुनिधर्म को स्वीकार करके तथा जीवाजीव आदि पदार्थों को भली भांति जान कर और संयम साधना का सम्यक् परिबोध करके यह निश्चय करता है कि मैं वनस्पतिकाय का आरम्भ-समारम्भ नहीं करूंगा, वही व्यक्ति वनस्पतिकायिक जीवों के आरम्भ से उपरत-निवृत्त कहा जाता है और ऐसे त्यागनिष्ठ एवं निवृत्ति-प्रधान जीवन की साधना जिन मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। ऐसे त्यागी साधक को ही अनगार कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्राणी अनन्त काल से मोह एवं वासना के घोर अन्धकार में भटकता रहा है। अनेक तरह से विषयेच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करने पर भी उसकी इच्छा की तृप्ति नहीं हो पाती। तृष्णा की भूख नहीं बुझती। यों कहना चाहिए कि उसकी तृष्णा आकांक्षा एवं वासना की क्षुधा तृप्त होने के स्थान में प्रतिपल बढ़ती है और वह भोगेच्छा के वश होकर अनेक तरह से वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है। अपने विलास एवं सुख के लिए रात-दिन विभिन्न प्रकार की हरितकाय शाक-सब्जी एवं फल-फूलों के जीवों के आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहता है। इस तरह प्रमाद एवं मोह के वश में हुआ प्राणी वनस्पति काय की हिंसा करके कर्मों का बन्ध करता है। और फल स्वरूप दुःख एवं जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है।

वनस्पतिकाय का आरम्भ दुःख की परम्परा में अभिवृद्धि करने वाला है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो बुद्धिमान पुरुष वनस्पतिकाय के आरंभ-समारंभ को तथा जीवाजीव आदि तत्त्वों का परिज्ञान कर के संयम मार्ग पर गति करता है, वही वनस्पतिकाय के आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होता है और वही व्यक्ति दुःख परम्परा का या यों कहिए कर्म बीज का सर्वथा उन्मूलन कर देता है।

प्रस्तुत सूत्र ज्ञान और चारित्राचार के समन्वय का आदर्श लिए हुए है। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि चारित्र का मूल्य ज्ञान के साथ है। सम्यग् ज्ञान के अभाव में की जाने वाली क्रिया एवं तप-जप का आध्यात्मिक विकास या मोक्ष मार्ग की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है। और यही कारण है कि

प्रशंसा एवं भौतिक सुख पाने की इच्छा-आकाक्षा से अज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप एव विना आकाक्षा के सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचरित त्याग-तप के सोलहवें अश के बराबर भी नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'त णो करिस्सामि' के साथ 'मत्ता' पद का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार में ज्ञान के साथ ही तेजस्विता आती है, चमक बढती है। अस्तु ज्ञान और क्रिया या आचार और विचार का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है, अपवर्ग की राह है*।

ज्ञान पूर्वक किए जाने वाले त्याग को ही त्याग कहने के पीछे एक मात्र यही उद्देश्य रहा हुआ है कि जब तक व्यक्ति वस्तु के हेय-उपादेय स्वरूप को भली-भाति नहीं जान लेता है, तब तक वह उसका परित्याग या स्वीकार नहीं कर पाता और कभी भावावेश या किसी प्रलोभन मे आकर त्याग कर भी देता है, तो उसका सम्यक्तया परिपालन नहीं कर पाता। क्योंकि उसके गुण-दोष एवं स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, भटक जाता है† । अस्तु त्याग के पूर्व जीवाजीव का ज्ञान होना जरूरी है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है।

इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि वनस्पति जीवों के आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त एवं पूर्ण त्यागी मुनि जिन मार्ग मे ही उपलब्ध होते हैं, यह बात "तत्थोवरए—एतस्मिन्नुपरत" पद से अभिव्यक्त की है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र" इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनेतर सम्प्रदाय के साधु—मुनि त्यागी होते ही नहीं। हम इस बात को मानते हैं कि धन, वैभव एव गृहस्थ के त्यागी सन्त जैनेतर सम्प्रदायों मे भी मिलते हैं। और प्राय सभी सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों मे त्याग प्रधान मुनि जीवन का विधान भी मिलता है। परन्तु आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से जितनी निवृत्ति एव त्याग जिन मार्ग पर गतिशील मुनियों मे पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा मे सावधानी

---

* नाण किरिया रहिय किरिया मेत्त च दोऽवि एगतो।
न समत्था दाउं जे जम्ममरण दुक्ख दाहाइ ॥

† इस बात को हम अग्निकाय के प्रकरण मे भगवती सूत्र का उदाहरण देकर स्पष्ट कर चुके हैं।

एवं विवेक जैनेतर सम्प्रदाय के साधुओं में नहीं पाया जाता। अतः उत्कृष्ट त्याग वृत्ति को जीवन में साकार रूप देने वाले तथा सावद्य कार्यों से सर्वथा निवृत्त साधकों को विशिष्ट त्यागी एवं वास्तविक अनगार कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है और न किसी सम्प्रदाय के साधु की अवहेलना करने का ही भाव है।

"एस अणगारेति पवुच्चई" का अर्थ है—जो साधक वनस्पतिकाय की हिंसा से निवृत्त है, किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है, वही अनगार कहा गया है।

अनगार के स्वरूप का वर्णन करके अब सूत्रकार संसार एवं संसार-परिभ्रमण के कारण के संबन्ध में कहते हैं—

मूलम्—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ॥४१॥

छाया—यो गुणः स आवर्त्तः यः आवर्त्तः स गुणः।

पदार्थ—जे—जो। गुणे—शब्दादि गुण। से—वह। आवट्टे—आवर्त्त—संसार है। जे—जो। आवट्टे—संसार है। से—वह। गुणे—गुण है।

मूलार्थ-जो शब्दादि गुण हैं वास्तव में वही संसार है और जो संसार है वास्तव में वही गुण है।

हिन्दी विवेचन

यह संसार क्या है ? इसके संबन्ध में दार्शनिकों एवं विचारकों के मन में यह प्रश्न उठता रहा है, तर्क-वितर्क होता रहा है। परन्तु संसार के वास्तविक स्वरूप को जानने में सफलता नहीं मिली। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने इसका वास्तविक समाधान किया है। सूत्रकार के शब्दों में हम देख चुके हैं कि शब्दादि गुण ही संसार है और संसार ही गुण है। इस तरह संसार और गुण का पारस्परिक कार्य-कारण भाव है।

जो श्रोत्र, चक्षु, घ्राण रसना और स्पर्शन इन पांचों इन्द्रियों के शब्द रूप गन्ध, रस और स्पर्श ये पांच विषय हैं, उन्हें गुण कहते हैं। और आवर्त्त संसार का परिबोधक है—'आवर्त्तते—परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्तः—संसारः' अर्थात् जिसमें प्राणियों का आवर्त्त—परिभ्रमण होता रहे उसे आवर्त्त—संसार कहते हैं।

शब्दादि विषय संसार परिभ्रमण के कारण हैं। क्योंकि इन से कर्म का बन्ध होता है और कर्म बन्ध के कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। इस तरह

ये विषय या गुण ससार का कारण। और शब्दादि गुणों से कर्म बन्धते हैं, कर्म से आत्मा मे गुणों की परिणति होती है। इस दृष्टि से गुण को ससार कहा गया है। और दोनों जगह कारण मे कार्य का आरोप होने से गुणों को ससार एवं ससार को गुण कहा गया है।

वस्तुत देखा जाए तो राग-द्वेष युक्त भावों से गुणों मे या विषयों मे प्रवृत्ति करने का नाम ही संसार है। क्योंकि ससार मे परिलक्षित होने वाली विभिन्न गतियें एव योनियें राग-द्वेष एव गुणों-विषयों की आसक्ति पर ही आधारित है। राग-द्वेष से कर्म बन्धते हैं, कर्म बन्ध से जन्म-मरण का प्रवाह चालू रहता है और जन्म मरण ही वास्तविक दु ख है। इससे स्पष्ट हो गया कि संसार का मूल राग-द्वेष है, गुण है, विषय-विकार है।

'गुण' शब्द मे एक वचन का प्रयोग किया है। इस से गुण शब्द व्यक्ति से भी सबन्धित है। जब इसका सबन्ध व्यक्ति के साथ जोडते हैं, तो प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होगा—जो व्यक्ति शब्दादि गुणों मे प्रवृत्त है, वह ससार मे परिभ्रमणशील है और जो व्यक्ति ससार में गतिमान है वह गुणो में प्रवृत्तमान है।

यहा यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जो व्यक्ति गुणों मे प्रवृत्त है, वह ससार मे वर्त्तता है, यह कथन तो ठीक है, परन्तु जो ससार मे वर्तता है, वह गुणों मे वर्तता है। यह कथन युक्ति सगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि सयमशील साधु ससार मे रहते हैं परन्तु गुणों में प्रवृत्ति नहीं करते। अत संसार-वर्ती को नियम से गुणों मे प्रवृत्तमान मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

यह ठीक है कि यहा गुणों का अर्थ राग-द्वेष युक्त गुणों में प्रवृत्ति करने से लिया गया है। क्योंकि गुणों में प्रवृत्ति होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता, कर्म का बन्ध राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से होता है। यह सत्य है कि सयम से बन्ध नहीं, कर्मों की निर्जरा होती है। परन्तु छटे गुणस्थान से सयम के साथ जो सरागता है, उससे भी कर्म का वन्ध होता है। यह नितात सत्य हैं कि सावद्य कार्य मे प्रवृत्ति न होने के कारण पाप कर्म का वन्ध नहीं होता, परन्तु धर्म, गुरु एवं सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्त पर सराग भाव होने से पुण्य का वन्ध होता है और इसी कारण छटे गुणस्थान में देवलोक का आयु कर्म वन्धता है। देव आयुष्य के वन्ध में वताए गए चार कारणों में सराग संयम को भी एक कारण वताया गया है और देवलोक भी ससार ही है। यह ठीक हैं कि छटे गुणस्थान में प्रवृत्तमान साधु ससार को अधिक लम्बा नहीं वढाता, परन्तु जव तक सरागता है तव तक शुभ कर्मका अनुवन्ध तो करता ही है इस अपेक्षा से वह संसार

में भी वर्तता हुआ गुणों में भी प्रवृत्ति करता है।

यह सत्य है कि वीतराग संयम में प्रवृत्तमान साधु या सर्वज्ञ संसार में प्रवर्तते हुए भी कर्म को नहीं बांधते और न स्वर्ग का द्वार ही खटखटाते हैं। क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष का समूलतः उन्मूलन कर दिया है। राग-द्वेष कर्म वृक्ष का बीज है मूल है और जब बीज एवं मूल ही नष्ट हो गया तब फिर कर्म की शाखा-प्रशाखा का पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होना तो असंभव ही है। इस दृष्टि से उनके कर्मों का बन्ध नहीं होता। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने के कारण उस रूप में गुणों में प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु जब तक योगों का व्यापार चालू है तब तक सामान्य रूप से तो गुणों में प्रवृत्ति होती है। बस अन्तर इतना ही है कि राग-द्वेष युक्त जीवों के कर्म का बन्ध होता है और वीतराग पुरुषों के कर्म का बन्ध नहीं होता। या यों कहिए उन की प्रवृत्ति ऐसे गुणों में नहीं होती जो कर्म बन्ध के कारण हैं। अतः इस अपेक्षा से जो संसार में प्रवर्तते हैं वे गुणों में प्रवृत्तमान हैं, ऐसा कहना अनुचित एवं आपत्ति जनक प्रतीत नहीं होता।

प्रस्तुत उद्देशक वनस्पतिकाय से सम्बन्धित है। अतः इसमें वनस्पतिकायिक जीवों सम्बन्धी वर्णन होना चाहिए। फिर इसमें शब्दादि विषयों का अप्रासंगिक वर्णन क्यों किया गया?

प्रस्तुत उद्देशक में शब्दादि गुणों का वर्णन ऊपर से अप्रासंगिक प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक में अप्रासंगिक है नहीं। क्योंकि शब्दादि गुणों की उत्पत्ति का मूलस्थान प्रायः वनस्पतिकाय है। अर्थात् समस्त विषयों की पूर्ति वनस्पति से ही होती है। व्यवहार इस सत्य को स्पष्टतया प्रमाणित कर रहा है। जैसे अपनी मधुर ध्वनि से श्रोत्र इन्द्रिय को तृप्त करने वाली वीणा आदि विभिन्न वाद्यों का निर्माण वनस्पति से होता है। भव्य भवनों के निर्माण में वनस्पतिकाय का प्रयोग होता ही है और उसके आधार स्तंभों पर चित्रित मनोहर चित्र एवं फर्नीचर से सुसज्जित कमरों को देखते हुए आंखें थकती नहीं। घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करने वाले केसर, चन्दन तथा विभिन्न रंग-बिरंगे सुवासित फूल वनस्पति के ही अनेक रूप हैं। जिह्वा के स्वाद की तृप्ति करने वाले विविध व्यञ्जन एवं पकवान वनस्पति से ही बनते हैं। और स्पर्श इन्द्रिय को सुख पहुंचाने वाले तथा शीत-ताप से बचाने एवं सुशोभित करने वाले विभिन्न रंग एवं आकार के सूत के बने वस्त्र वनस्पति की ही देन है। इस प्रकार जब हम गहराई से सोचते-विचारते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि शब्दादि विषयों का वनस्पति के साथ सीधा संबन्ध है। अतः वनस्पति के प्रकरण में उसका वर्णन

उचित एव प्रासगिक ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ससार परिभ्रमण के कारण भूत ये शब्दादि विषय किसी एक नियत दिशा मे उत्पन्न होते हैं या सभी दिशाओं मे उत्पन्न होते है? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उड्ढं, अहं* तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं-पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि ॥४२॥

छाया—उर्ध्वमधस्तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति उर्ध्वमधः प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेषु मूर्छति शब्देषु चापि।

पदार्थ—उड्ढ—ऊर्ध्व-ऊंची दिशा। अह—नीची दिशा। तिरिय—तिर्यक् दिशा चारो दिशा-विदिशाए इनमें तथा। पाईण—पूर्वादि दिशाओ मे। पासमाणे—देखता हुआ। रूवाइ—रूपो को। पासति—देखता है, और। सुणमाणे—सुनता हुआ। सद्दाइ—शब्दों को। सुणेति—सुनता है, तथा। उड्ढ—ऊंची दिशा। अह—नीची दिशा मे। पाईण—पूर्वादि दिशाओ मे। मुच्छमाणे—मूर्छित होता हुआ। रूवेसु—रूपों मे। मुच्छति—मूर्छित होता है। च—और। सद्देसु—शब्दो मे मूर्छित होता हैं। आवि—सभावना या समुच्चयार्थ में है, इससे गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयो को ग्रहण किया जाता है।

मूलार्थ—उर्ध्व, अधो, तिर्यक् एव पूर्वादि दिशाओ मे रूप को देखता हुआ देखता है तथा शब्दो को सुनता हुआ श्रवण करता है, तथा इन ऊर्व आदि दिशओ मे मूर्च्छित होकर रूप एव शब्दो मे आसक्त एव मूर्च्छित होता है और इसी तरह गन्ध, रस एव स्पर्श मे भी मूर्च्छित होता है।

हिन्दी विवेचन

शब्द आदि विषय किसी एक दिशा मे उत्पन्न नहीं होते, ऊर्ध्व, अधो और पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशा-विदिशा मे उत्पन्न होते हैं और जीव ऊपर-नीचे, दाएं, बाएं चारों ओर रूप-सौन्दर्य का अवलोकन करता है, शब्दों को सुनता है, गन्ध को

---

* 'अव' इति पाठान्तरम्।

सूंघता है, रसों का आस्वादन करता है तथा विभिन्न पदार्थों का स्पर्श करता है। और इन्हें देख-सुन कर या सूंघ-चख कर या स्पर्श कर अनेक जीव उन विषयों में आसक्त हो जाते हैं, मूर्छित होने लगते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में दो बातें बताई गई हैं। एक तो विषयों का अवलोकन करना-उन्हें ग्रहण करना और दूसरे में उन अवलोकित विषयों में आसक्त होना, राग-द्वेष करना। और दोनों क्रियाओं में बड़ा अंतर है। जहां तक अवलोकन का या ग्रहण करने का प्रश्न है, वहां तक ये विषय आत्मा के लिए दुःख रूप नहीं बनते, कर्म बन्ध का कारण नहीं बनते। यदि मात्र देखने एवं ग्रहण करने से ही कर्म बन्ध माना जाएगा तब तो फिर कोई भी जीव कर्म बन्ध से अछूता नहीं रह सकता। संसार में स्थित सर्वज्ञों की बात छोड़िए, सिद्ध भगवान भी विषयों का अवलोकन करते हैं, क्योंकि उनका निरावरण ज्ञान लोकालोक के सभी पदार्थों को देखता-जानता है और सिद्ध भी विषयों को ग्रहण करते (जानते) हैं अतः यदि विषयों को ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध होता हो, तो फिर वहां भी कर्म बन्ध मानना पड़ेगा। और वहां कर्म का बन्ध होता नहीं। सिद्ध अवस्था में तो क्या तेरहवें गुणस्थान में भी कर्म बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि विषयों को देखने एवं ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता। और न देखने मात्र से संसार परिभ्रमण का प्रवाह ही बढ़ता है।

कर्म बन्ध का कारण उन विषयों को ग्रहण करना मात्र नहीं, अपितु उनमें आसक्त होना है अर्थात् उनमें राग-द्वेष करना है। हम पहले देख चुके हैं कि कर्म बन्ध का मूल राग-द्वेष एवं आसक्ति है। इसी वैभाविक परिणति के कारण आत्मा कर्मों के साथ आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करती है और विभिन्न विषयों में आसक्त होकर शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन करके स्वर्ग-नरक आदि गतियों का चक्कर काटती है। इसी बात को सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में "मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति" वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्म बन्ध का कारण विषयों का अवलोकन एवं ग्रहण मात्र नहीं प्रत्युत उसमें रही हुई आसक्ति है।

इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए ॥४३॥

छाया—एष लोकः व्याख्यातः अत्र अगुप्तः अनाज्ञायाम्।

पदार्थ—एस—यह पांच विषय रूप। लोए—लोक। वियाहिए—कहा गया है। एत्थ—इनमें जो। अगुत्ते—अगुप्त है अथवा शब्दादि विषयों में आसक्त हो रहा है वह। अणाणाए—

आज्ञा मे नहीं है।

मूलार्थ–शब्दादि पाच विषयरूप लोक कहा गया है। जो जीव मन, वचन और काय को विषयो मे गोप कर नही रखता है, अर्थात् जो व्यक्ति शब्दादि विषयो मे अनुरक्त रहता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मे नही है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे शब्दादि पाच विषयों को लोक कहा है। जो व्यक्ति मन, वचन और शरीर से विषयों मे आसक्त है, उसे अगुप्त कहा है। मन से विषयों का चिन्तन करना, वाणी से इन्हें प्राप्त करने की प्रार्थना करना और शरीर से इन्हें पाने का प्रयत्न करना, यह त्रियोग की अगुप्तता है। जिस व्यक्ति के तीनों योग विषयों मे ही लगे रहते है, उसे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मे नहीं कहा है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीतराग भगवान की आज्ञा विषयों मे आसक्त होने की नहीं है, अथवा त्रियोगको विषयों से गुप्त—गोपन करके रखने की है। कारण यह है कि विषयो मे आसक्त व्यक्ति रात दिन ससार मे ही उलझा रहता है और इस कारण वह सयमकी सम्यक् साधना–आराधना नहीं कर सकता। और जिनेश्वर भगवानकी आज्ञा संयम–साधनाकी है, न कि ससार बढ़ानेकी। इस अपेक्षा से शब्दों मे आसक्त व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा मे नहीं है।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्—पुणो-पुणो गुणासाए वंक समायारे ॥४४॥

छाया—पुनः पुनः गुणास्वादः वक्रसमाचारः।

पदार्थ—पुणो-पुणो—बार–बार। गुणासाए—शब्दादि गुणो का आस्वादन करने से वह। वक समायारे—असयम का सेवन करने वाला हो जाता है।

मूलार्थ-बार-बार शब्दादि गुणो का अस्वादन करने से व्यक्ति असयम मे प्रवृत्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि जो शब्दादि विषयों मे आसक्त रहता है, वह

संयम से दूर ही रहता है। क्योंकि उसके त्रियोगकी प्रवृत्ति विषयों में होने से वह रात-दिन रूप-रस का आस्वादन करने में ही संलग्न रहता है। उसका मन सदा विषयों के चिन्तन-मनन में लगा रहता है और वचन की प्रवृत्ति भी विषय सुख की ओर लगी रहती है और शरीर से भी विषयों का आनन्द लेने में अनुरक्त होने के कारण उस का आचार सम्यक् नहीं रहता। इसी कारण सूत्रकार ने विषयों में आसक्त व्यक्ति को "वंक समायारे" वक्र अर्थात् कुटिल आचार युक्त कहा है। 'वंक समायारे' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है—

'वक्र—असंयम कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात् समाचरण समाचार—अनुष्ठान वक्र समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचारः असंयमानुष्ठायीत्यर्थः'

अर्थात्—नरकादि गति के हेतुभूत असंयम का ही दूसरा नाम वक्रसमाचार है।

इससे स्पष्ट हुआ कि शब्दादि विषयों में आसक्त व्यक्ति असंयम में प्रवृत्त होता है। असंयम में प्रवृत्त होने से उसका परिणाम क्या होता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्- पमत्तेऽगारमावसे ॥४५॥

छाया—प्रमत्तोऽगारमावसति।

पदार्थ—पमत्ते—प्रमादी-विषयों में आसक्त व्यक्ति। अगारमावसे—घर में आ बसता है।

मूलार्थ—विषयों में आसक्त प्रमादी व्यक्ति फिर से घर में निवास करने लगता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषयों में आसक्त रहने वाले साधु की क्या स्थिति होती है, इस बात का स्पष्ट निरूपण किया गया है। जो साधक त्रियोग का गोपन नहीं करके, विषयोंमें प्रवृत्त रहता है, वह संयम से पराङ्मुख होकर घर-गृहस्थ में फिर से आ फंसता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्य वेषका परित्याग न करने पर भी उसे भाव साधुत्व के अभाव में गृहस्थ कहा है। क्योंकि उसकी भावना संयम से, साधुता से विमुख हो चुकी है, इस लिए सूत्रकार ने उसके लिए 'अगारमावसति' शब्द का प्रयोग किया है।

जब हम आध्यात्मिक दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र पर विचार करते हैं तो गृहवास का

अर्थ होता है—क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेप रूप आध्यात्म दोषों में निवास करना और प्रमत्त व्यक्ति या शब्दादि विषयों मे आसक्त व्यक्तिकी प्रवृत्ति सदा राग-द्वेप एवं कषायों मे होती है। अत. वह द्रव्य से घर नहीं रखते हुए भी सदा घर मे ही निवास करता है। उसका कपाय युक्त घर सदा उसके साथ रहता है।

इस लिए साधकको विपयों मे आसक्त नहीं रहना चाहिए। विपयों मे आसक्त नहीं रहने का स्पष्ट अर्थ है, कि वनस्पतिकायिक जीवोंके आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। जो विपयों मे आसक्त रहता है, वह वनस्पति के आरभ मे भी सलग्न रहता है और इस कारण उसे साधु न कह कर गृहस्थ कहा है। परन्तु जैनेतर सप्रदायों मे इसके विपरीत कहा गया है, उनकी मान्यता क्या है? इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्---लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा, मोत्ति एगे पवद-माणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्म समारंभेणं वण-स्सइसत्थ समारभमाणा अणगे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिराणा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण पूयणाय जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ अणणेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अणणे वा वणस्सइसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीय समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं व अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोय, जमिणं, विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वण-स्सइ कम्म समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अणणे अणेग-रूवे पाणे विहिंसंति ॥४६॥

छाया— लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगारा स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणोऽन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनार्थं, जाति-मरण-मोचनार्थं, दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वनस्पतिशस्त्रंसमारम्भयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते तत् तस्याऽहिताय, तत् तस्याऽबोधये। स तत् संबुध्यमान आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति । एष खलु ग्रन्थ, एष खलु मोहः, एष खलु मार, एष खलु नरकः। इत्येवार्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण, वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणाः अन्याननेक रूपान् प्राणिन विहिंसन्ति ।

पदार्थ— लज्जमाणा—लज्जा करते हुए। पुढो—भिन्न भिन्न वादियों को। पास—तू देख ? एगे—कुछ एक व्यक्ति। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं इस प्रकार। पवयमाणा—बोलते हुए। जमिणं—जो ये। विरूवरूवेहिं—अनेक तरह के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। वणस्सइ कम्मसमारम्भेणं—वनस्पति कर्म समारंभ से। वणस्सइ सत्थं—वनस्पति शस्त्र का। समारंभमाणा—समारम्भ करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसंति—हिंसा करते हैं। तत्थ—वहां वनस्पति के विषय में। भगवया—भगवान ने। परिण्णा पवेइया—परिज्ञा विशिष्ट ज्ञान से प्रतिपादन किया है। चेव—समुच्चय और अवधारण अर्थ में है। इमस्स—इस जीवियस्स—जीवन के लिए। परिवन्दण माणण-पूयणाए—प्रशंसा मान एवं पूजा की अभिलाषा से। जाई-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से मुक्त होने की आकांक्षा से। दुक्खपडिघायहेउं—दुःख से छुटकारा पाने हेतु। से—वह। सयमेव—स्वयमेव। वणस्सइसत्थं—वनस्पति के शस्त्र से। समारंभइ—वनस्पतिकाय का समारंभ करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—अन्य से। वणस्सइ सत्थं—वनस्पति शस्त्र से। समारम्भावेइ—समारम्भ कराते हैं। वा—अथवा। वणस्सइ सत्थं—वनस्पति शस्त्र से। समारंभमाणे—आरम्भ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति को। समणुजाणइ—अच्छा जानते हैं। तं—यह वनस्पतिकाय का आरंभ। से—उसको। अहियाए—अहितकर है। तं—वह। से—उसको। अबोहीए—अबोध का कारण है। से—वह। तं—उस आरम्भ के स्वरूप को। संबुज्झमाणे—भली-भांति समझकर। आयाणीयं—सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र

का। **समुट्ठाय**—स्वीकार करके। **भगवश्रो**—भगवान। **वा**—अथवा। **अणगाराणं**—अनगारो के **अन्तिए**—समीप मे। **सोच्चा**—सुनकर। **इह**—इस लोक मे। **एगेसि**—किसी-किसी व्यक्ति को। **णाय भवति**—ज्ञात हो जाता है कि। **एस**—यह आरभ। **खलु**—निश्चय रूप से। **गथे**—अष्ट कर्मो की गाठ है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **मोहे**—मोह रूप है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **मारे**—मृत्यु का कारण है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **णरए**—नरक का कारण है। **इच्चत्थं**—इस प्रकार अर्थ-विषय-वासना मे। **गढ्ढिए**—आसक्त बना हुआ। **लोए**—लोक-प्राणी समूह। **जमिण**—जिससे कि यह। **विरूवरूवेहि**—विभिन्न प्रकार के। **सत्थेहि**—शस्त्रो से **वणस्सइ कम्म समारंभेण**—वनस्पति कर्म समारभ से। **वणस्सइ सत्थं**—वनस्पति शस्त्र से। **समारभमाणे**—आरम्भ करता हुआ। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिंसति**—हिंसा करता हैं।।

मूलार्थ—हे जम्बू ! तू सावद्य-अनुष्ठान से लज्जमान विभिन्न मत वाले व्यक्तियो को देख। जो अपने आपको अनगार कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रो से तथा वनस्पति कर्म समारभ से वनस्पतिकायिक, जीवो की तथा उसके साथ वनस्पति के आश्रय मे रहे हुए अन्य द्वीन्द्रियादि प्राणियो की हिंसा करते है। भगवान ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि वे नाशवान जीवन के लिए, प्रशसा- मान -सम्मान एव पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से जन्म-मरण से मुक्त होने की आकाक्षा से तथा मानसिक एव शारीरिक दु खो से छुटकारा पाने हेतु स्वय वनस्पतिकाय का आरभ करते है, दूसरो से कराते है तथा आरभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन करते हैं। उनके लिए यह आरभ अहित और अबोध का कारण होता है, इस प्रकार स्वय भगवान या अनगारो के पास से वनस्पतिकायिक आरभ के अनष्टि फल को सुन कर सम्यक् श्रद्धा के बोध को प्राप्त हुआ व्यक्ति यह जान लेता है कि यह वनस्पतिकाय का आरभ अष्ट कर्मो की गाठ रूप है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है।

फिर भी विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति विभिन्न शस्त्रो के द्वारा और वनस्पति कर्म से वनस्पतिकायिक जीवो का तथा उसके आश्रय मे स्थित

अन्य त्रस एवं स्थावर अनेक जीवों की हिंसा करता है।

हिन्दी विवेचन

इस विषय का वर्णन पृथ्वीकाय एवं अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं। उसी के अनुसार यहां भी समझना चाहिए, अन्तर इतना है कि पृथ्वी एवं अप् की जगह वनस्पति समझना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वनस्पति सजीव है। फिर भी कुछ लोगों की समझ में नहीं आता। इस लिए सूत्रकार कुछ हेतु देकर वनस्पति की सजीवता प्रमाणित करते हुए कहते हैं—

मूलम्— से बेमि इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुड्ढिधम्मयं, एयंपि वुड्ढिधम्मयं, इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं इमंपि छिण्णं मिलाइ, एयंपि छिण्णं मिलाइ, इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चयं एयंपि अणिच्चयं, इमंपि असासयं एयंपि असासयं, इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं, इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ॥४७॥

छाया—सः [अहं] ब्रवीमि इदमपि जातिधर्मकम्, एतदपि जातिधर्मकम्, इदमपि वृद्धिधर्मकम्, एतदपि वृद्धिधर्मकम्, इदमपि चित्तवत्, एतदपि चित्तवत्, इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्नं म्लायति, इदमप्याहारकम्, एतदप्याहारकम्, इदमप्यनित्यम्, एतदप्यनित्यम्, इदमप्याशाश्वतम्, एतदप्याशाश्वतम्, इदमपिचयापचयिकम्, एतदपिचयापचयिकम्, इदमपि विपरिणामधर्मकम्, एतदपि विपरिणामधर्मकम्।

पदार्थ—से—तत्त्व का परिज्ञाता। बेमि—मैं कहता हूँ। इमंपि जाइधम्मयं—यह मनुष्य शरीर जैसे जाति-जन्म धर्म वाला है, ठीक उसी तरह। एयंपि जाइधम्मयं—यह वनस्पतिकायिक शरीर भी जन्म धर्म वाला है†। इमंपि वुड्ढिधम्मयं—जैसे मनुष्य शरीर वृद्धि धर्म वाला है,

† प्रस्तुत प्रकरण में प्रथम 'अपि' शब्द यथा के अर्थ में और दूसरा 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वैसे ही। **एयपि वुड्ढिधम्मय**—वनस्पति का शरीर भी वृद्धि धर्म वाला हैं। **इमपि चित्तमतय**—जैसे मनुष्य शरीर चेतना युक्त है, वैसे ही। **एयपि चित्तमतय**—वनस्पति का शरीर भी चेतना सयुक्त है। **इमपि छिण्ण मिलाइ**—जैसे मनुष्य का छेदन किया हुआ-काटा हुआ शरीर मुर्भा जाता है, वैसे ही। **एयपि छिण्ण मिलाइ**—वनस्पति का छेदन किया हुआ शरीर मुर्भा जाता है। **इमपि आहारग**—जैसे मनुष्य आहार करता है, वैसे ही। **एयपि आहारग**—वनस्पति भी आहार करती हैं। **इमपि अणिच्चय**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अनित्य है, उसी तरह। **एयपि अणिच्चय**-वनस्पति का शरीर भी अनित्य है। **इमपि असासय**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अशाश्वत हैं, उसी तरह। **एयपि असासय**—वनस्पति का शरीर भी अशाश्वत है। **इमपि चओवचइय**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर चय और उपचय वाला हैं, उसी तरह। **एयपि चओवचइय**—वनस्पति का शरीर भी चय-उपचय युक्त हैं। **इमपि विपरिणाम धम्मं**—जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणाम धर्म वाला--अनेक तरह के परिवर्तनो से युक्त हैं, वैसे ही। **एयंपि विपरिणामधम्मय**—वनस्पति का शरीर भी परिणमनशील हैं अर्थात् विभिन्न प्रकार से वदलने वाला हैं।

मूलार्थ—हे जम्वू ! वनस्पतिकाय मे प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाली चेतनता के विपय मे अब मैं तुम से कहता हू–जिस प्रकार मनुष्य का शरीर जन्म धारण करने वाला है, वढता है, चेतना युक्त है, छेदने या काटने पर मुर्भा जाता है, आहार करता है, अनित्य और अशाश्वत है, चय-उपचय वाला है, परिवर्तनशील है ठीक उसी तरह वनस्पतिकाय का शरीर भी उक्त सभी धर्मोसे युक्त है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वनस्पति की सजीवता को सिद्ध करने के लिए उसकी मनुष्य शरीर के साथ तुलना की गई है और यह स्पष्ट कर दिया है कि जो धर्म या गुण मनुष्य के शरीर में पाए जाते हैं, वे ही धर्म वनस्पति के शरीर मे भी परिलक्षित होते हैं।

मनुष्य शरीर की चेतनता प्राय सभी विचारकों को मान्य है। अत उसमें उपलब्ध समस्त लक्षण वनस्पतिमे भी स्पष्ट दिखाई देते हैं और ये लक्षण उन्हीं मे पाए जाते हैं, जो सजीव हैं। निर्जीव पदार्थों मे ये गुण नहीं पाए जाते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणोंका चेतना के साथ अविनाभाव संबन्ध है। क्योंकि जिस शरीर में चेतना होती है, वहां उक्त लक्षणों का सद्भाव होता है और जहां चेतनता नहीं होती है वहा उनका भी अभाव होता है। यथा-जहा धूम होता है वहा अग्निअवश्य होती है।

इसी न्याय से पर्वत या दूरस्थ स्थानपर स्थित अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम को देख कर अनुमान प्रमाण से यह निश्चय कर लेते हैं कि उस स्थान पर अग्नि है। क्योंकि धूम और अग्नि का सहचर्य है, अविनाभाव संबन्ध है अर्थात् यों कहिए कि धूम का अस्तित्व अग्नि के बिना नहीं होता। इसी तरह उक्त लक्षणों एवं सजीवता का अविनाभाव संबन्ध है। जहां उक्त लक्षण होंगे, वहां सजीवता अवश्य होगी। इसी न्याय से वनस्पति की सजीवता को हम भली-भांति जान एवं समझ सकेंगे।

हम देखते हैं कि मनुष्य माता के गर्भ से जन्म धारण करता है और जन्म के पश्चात् प्रतिक्षण अभिवृद्धि करता हुआ बाल, युवा एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। उसी तरह वनस्पति भी योग्य मिट्टी पानी वायु एवं आतप का संयोग मिलने पर बीज में से अंकुरित होती है और क्रमशः बढ़ती हुई बाल्य यौवन एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होती है। पेड़-पौधों एवं लताओं से यह क्रम स्पष्ट दिखाई देता है।

मनुष्य और वनस्पति दोनों के शरीर में चेतना भी समान रूप से है। चेतनाका लक्षण या गुण ज्ञान है और ज्ञानका अस्तित्व दोनों में पाया जाता है। कुछ पौधोंकी क्रियाओंके संबन्धमें देखते-पढ़ते हैं, तो उस से उनमें भी ज्ञानके अस्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। जैसे धात्री और प्रपुन्नाट आदि वृक्ष सोते भी हैं और जागृत भी होते हैं। वे अपनी जड़ों में गाड़े हुए धनको सुरक्षित रखने के लिए अपने शाखा-प्रशाखाओं को फैलाकर उस स्थानको आवृत्त कर देते हैं। और वर्षा काल में मेघ की गर्जना सुनकर तथा शिशिर ऋतुमें शीतल वायु का संस्पर्श पाकर अंकुरित हो उठते हैं। बांसका पौधा भी मेघकी गर्जना सुनकर अंकुरित होताहै। और मद विह्वल कामिनीके पैर का संस्पर्श पाकर अशोक वृक्ष हर्षातिरेक से पल्लवित एवं पुष्पित होता है, पुरुषके हाथका संस्पर्श पाते ही लाजवन्तीका सुकोमल पौधा अपने आप को संकोच लेता है, उसके पत्ते सिकुड़ जाते हैं। और इस बात को भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस ने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा प्रत्यक्ष में दिखा दिया कि कुछ पौधे अपनी प्रशंसा से प्रभावित होकर प्रफुल्लित हो उठते हैं और निन्दा-तिरस्कार के शब्दोंसे आकर्षित होकर मुर्झा जाते हैं। ये सब क्रियाएं वनस्पति में भी ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। क्योंकि ज्ञान के अभाव में ऐसा हो नहीं सकता। इससे वनस्पति में भी ज्ञान है ऐसा मानना चाहिए।

मनुष्य के हाथ-पैर आदि किसी भी अंग-उपांग को काट देते हैं, तो वह अंग मुर्झा जाता है। उसी तरह वनस्पतिका काटा हुआ हिस्सा भी कुमला जाता है, म्लान

हो जाता है। इस तरह छेदन क्रियासे भी दोनोंके अगोंकी समान स्थिति होती है

आहारकी अपेक्षासे भी दोनोंमे समानता है। जैसे मनुष्यको समयपर पौष्टिक एव अच्छा आहार मिलता रहे तो स्वस्थ एवं बलवान रहता है। इसी प्रकार वनस्पतिको भी अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी एव खाद मिलती रहे तो वह भी पल्लवित-पुष्पित एव विकसित होती रहती है। प्रतिकूल आहार मिलने पर उसे भी रोग हो जाता है और उस रोगको औषध के द्वारा मिटाया भी जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य तो आहार करता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु वनस्पति स्पष्ट रूप से आहार करती हुई नहीं दीखती। फिर वह आहार कैसे करती है ?

इसका समाधान करते हुए आगममे बताया गया है कि वनस्पतिका मूलपृथ्वी से सनद्ध है, अत वह पृथ्वी से आहार लेकर उसे अपने शरीरके रूप मे परिणमन करती है। मूल से स्कन्ध सबद्ध है, इसलिए वह मूलसे आहार ग्रहण करके उसे अपने शरीर के रूप मे परिणत करती है। इसी तरह शाखा, प्रशाखा, पत्ते, फूल, फल एव बीज अपने अपने पूर्व से सबद्ध है, और वे उनसे आहार लेकर अपने शरीर रूप मे परिणत करते हैं इसी तरह वनस्पतिकाय क्रम पूर्वक आहार करती है। जैसे मनुष्य थाली मे से भोजन का एक ग्रास हाथमे उठाकर मुह मे रखता है, फिर दात चवर्ण करते हैं, जिह्वा आदि अवयव उसे गलेमे पहुचाते है, वहासे नीचे उतर कर पेटमे पहुचता हैं और वहा उसका रस, खून, वीर्य आदि पदार्थ बनकर शरीरमे यथा स्थान पर पहुच जाते हैं। उसी तरह वनस्पतिकाय के जीव भी मूलके द्वारा पृथ्वीसे आहार ग्रहण करते हैं, फिर मूलसे स्कध और स्कधसे शाखा-प्रशाखा, पत्र पुष्प, फल और अपने-अपने पूर्व से ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह वनस्पतिकायिक जीव भी आहार करते हैं और उसी के आधार पर अपने शरीरका निर्माण करते हैं†।

मनुष्य और वनस्पतिकाय दोनोंका शरीर अनित्य एव अशाश्वत-अस्थिर है

---

† से नूण भन्ते ! मूला मल जीव फुडा, कंदा कंद जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा ? हता गोयमा ! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा। जइण भते ! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा कम्हा ण भते ! वणस्सइ काइया आहारेन्ति कम्हा परिणामेन्ति ? गोयमा मूला मूल जीव फुडा पुढवि जीव पडिबद्धा तम्हा आहारे ति, तम्हा परिणामेति। एव जाव बीया बीय जीव फुडा फल जीव पडिबद्धा तम्हा आहारेन्ति, तम्हा परिणामेंति।

भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ३

दोनों के शरीर में चय-उपचय होता रहता है। अनुकूल एवं प्रतिकूल आहार एवं वातावरण से दोनों के शरीर में ह्रास एवं परिपुष्टता देखी जाती है। और दोनोंके शरीरमें अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पतिमें भी चेतना है। आजके वैज्ञानिक युग में तो किसी प्रकार के संदेह को अवकाश ही नहीं रहा। भारतीय प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोसने वैज्ञानिक साधनोंसे जनता एवं वैज्ञानिकोंको वनस्पतिकी सजीवता को प्रत्यक्ष दिखा दिया। इससे जैनागमकी मान्यता परिपुष्ट होती है और साथ में यह भी प्रमाणित होता है कि जैनागम सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट है। डा० बोस ने भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट बातको वैज्ञानिक साधनों से प्रत्यक्ष दिखाकर विश्व के वैज्ञानिकोंको वनस्पतिमें चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया, इसके लिए वे साधु वादके पात्र हैं।

इस तरह यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति सजीव है। अतः उसका आरम्भ करने से पाप कर्म का बन्ध होगा और संसार परिभ्रमण बढ़ेगा, इस लिए साधुको उसके आरम्भ-समारम्भका त्याग करना चाहिए। इसी बातका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभापरिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभाविज्जा, णेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सतिसत्थ समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे, त्तिबेमि ॥४८॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भा परिज्ञाता भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पति शस्त्रं समारभेत, नैवान्यैर्वनस्पति शस्त्रं समारम्भयेत् नैवान्यान् वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वनस्पति शस्त्र समारम्भा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—इस वनस्पनिकाय के विषय मे। **सत्थं**–शस्त्र का। **समारभमाणस्स**—समारभ करने वाले को। **इच्चेते**—ये सव। **आरभा**—आरंभ-समारभ। **अपरिण्णाया**—अपरिज्ञात। **भवति**—होते हैं। **एत्थ**—इस वनस्पतिकाय के विषय मे। **सत्थ**—शस्त्र का। **असमारम्भमाणस्स**—समारम्भ नही करने वाले को। **इच्चेते आरम्भा**—ये सव आरम्भ। **परिण्णाय भवन्ति**—परिज्ञात होते हैं। **त परिण्णाय**—उस आरम्भ का परिज्ञान करके। **मेहावी**—यह बुद्धिमान पुरुष। **णेवसयं**–न तो स्वय। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति शस्त्र का। **समारम्भेज्जा**—आरम्भ करे। **णेवण्णेहिं**—न अन्य से। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति शस्त्र का। **समारम्भावेज्जा**—समारम्भ करावे। **णेवण्णे**—और न अन्य व्यक्ति का, जो। **वणस्सइ सत्थ समारम्भते**—वनस्पति शस्त्रका आरम्भ कर रहा है। **समणुजाणेज्जा**—समर्थन ही करे। **जस्सेते**—जिसको ये **वणस्सइसत्थंसमारंभा**—वनस्पति शस्त्र समारम्भ। **परिण्णाया भवंति**—परिज्ञात होते है **से हु मुणी**— वही मुनि। **परिण्णाय कम्मे**—परिज्ञात कर्मा हैं। **त्तिवेमि**—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ–जो व्यक्ति द्रव्य और भाव शस्त्र से वनस्पतिकाय का आरभ करते हैं, वे इन आरभो से अपरिज्ञात होते है और जो वनस्पति का आरम्भ नही करते वे इन आरभो से परिज्ञात होते है। अत वे बुद्धिमान पुरुष न तो स्वय वनस्पतिकायिक जीवो का आरम्भ करते हैं, न अन्य व्यक्ति से आरम्भ कराते हैं और न आरभ करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन ही करते हैं। जिस मुमुक्षु ने इन आरम्भ-समारम्भ के कार्यो को भली-भाति जान कर त्याग दिया है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है ऐसा मे कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या पृथ्वीकाय, अप्काय के अध्ययन के अतिम की व्याख्या में विस्तार से कर चुके हैं। अत यहा चर्वित-चर्वण करना उपयुक्त न समझ कर विशेप विवेचन नहीं कर रहे हैं। पाठक यथास्थान पर देख लेवें।

त्तिवेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन-शस्त्रपरिज्ञा

षष्ठ उद्देशक

पांचवें उद्देशक में वनस्पतिकाय का विवेचन किया गया। अब छट्ठे उद्देशक में सूत्रकार त्रस जीवों का वर्णन करते हैं। त्रस जीवों के गति त्रस और लब्धि त्रस ये दो भेद हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव गति त्रस हैं और तेजस्काय और वायुकाय लब्धि त्रस हैं। तेजस्काय और वायुकाय स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर ही हैं। अन्य एकेन्द्रिय जीवों की तरह इनके भी एक स्पर्श इन्द्रिय होने से इन्हें भी स्थावर माना गया है। परन्तु इनमें भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की गति देखी जाती है, इस लब्धि-शक्ति की अपेक्षा से इन्हें लब्धि त्रस भी माना गया है। यों तो पानी भी गतिशील देखा जाता है, परन्तु उसकी गति स्वभाविक नहीं है, जिस ओर नीची जमीन होती है उधर ही वह बहता है, अन्यत्र नहीं। वह अग्नि और वायु की तरह दशों-दिशाओं में स्वतन्त्रतया गति नहीं कर सकता। इस अपेक्षा से तेजस्काय और वायुकाय को ही लब्धि त्रस माना गया है।

उक्त लब्धि त्रस में तेजस्काय का वर्णन-चौथे उद्देशक में कर चुके हैं और वायुकाय का वर्णन सातवें उद्देशक में किया जाएगा। अतः प्रस्तुत उद्देशक में द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के गति त्रसों का ही वर्णन किया जाएगा, प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—से बेमि संतिमे तसा पाणा, तंजहा—अंडया, पोयया, जराउया, रसाया, संसेयया, समुच्छिमा उब्भियया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चई ॥४९॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि सन्तिमे त्रसा प्राणिनः तद्यथा अंडजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदजाः, सम्मूर्छनजाः, उद्भिज्जाः औपपातिकाः एष संसार इति प्रोच्यते।

पदार्थ—से—वह-मैं । बेमि — कहता हूँ । इमे — ये । तसा—त्रस । पाणा—प्राणी । सति — है । तंजहा — जैसे कि । अण्डया — अण्डे से उत्पन्न होने वाले-कपोत आदि पक्षी । पोयया — पोतज रूपसे जन्मने वाले हाथी आदि । जराउआ—जरायुमे वेष्टित उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस, बकरी, भेड और मनुष्य आदि प्राणी । रसया—विकृत रससे अत्यधिक खट्टी छाछ, काजी आदि मे उत्पन्न होने वाले जीव । संसेयया—स्वेद पसीनेसे उत्पन्न होने वाले जूं, लीख आदि जीव । समुच्छिमा—सम्मूच्छिम उत्पन्न होने वाले—चीटी, मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि जीव । उब्भियया—उद्भिज-उद्भेद से उत्पन्न होने वाले पतगे, बीर बहूटी आदि । उववाइया—उपपात से उत्पन्न होने वाले देव और नारकके जीव । एस—ये अष्ट प्रकार के त्रस जीव ही । ससारेत्ति—ससार है अर्थात् इन त्रस जीवो को ससार । पवुच्चई—कहा जाता है ।

मूला—हे जम्बू । त्रसकायके सम्बन्ध मे मैं तुमसे कहता हू कि ये प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाले त्रस प्राणी अण्डज, पोतज, जरायु, चलितरस, स्वेद—पसीने, समूर्च्छन उद्भेद और उपपात से उत्पन्न होते है । इस प्रकार उत्पन्न होने वाले त्रस जीवोको ससार कहा गया है ।

हिन्दी विवेचन

आगमों में जीव के दो भेद किए गए हैं—१-सिद्ध और २-संसारी । संसारी जीव भी दो प्रकारके हैं—१- स्थावर और २-त्रस । स्थावर जीवों के पाच भेद किए गए हैं— १-पृथ्वीकाय, २- अप्काय, ३-तेजस्काय, ४-वायुकाय, और ५- वनस्पतिकाय । इनमे तेजस्काय और वायुकायको लब्धि त्रस भी माना है, परन्तु इनकी योनि स्थावर नाम कर्मके उदयसे प्राप्त होती है तथा इनके एक स्पर्श इन्द्रिय ही होती है, इस लिए इन्हें स्थावर माना गया है । त्रस जीवों के मुख्य चार भेद किए गए हैं— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय । इनके अनेक भेद-उपभेद हैं- जिनका आगमों में विस्तार से वर्णन किया गया है ।

त्रस का अर्थ है— "त्रस्यन्तीति त्रस'—त्रसनात् – स्पन्दनात् त्रसा' जीवनात्—प्राणाधारणात् जीवा त्रसा एव जीवा त्रस जीवा ।" अर्थात् जो प्राणी त्रास पाकर उससे बचने के लिए चेष्टा करते हों, एक स्थान से दूसरे स्थानको आ जा सकते हों, उन्हें त्रस जीव कहते हैं । या हम यों भी कह सकते हैं कि जिनकी चेतना स्पष्ट परिलक्षित होती है, जो अपनी शारीरिक हरकत एवं चेष्टाओंके द्वारा सुख-दुःखानुभूति करते हुए स्पष्ट देखे

जाते हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी होते हैं और वे असंख्यात हैं। पर उनके उत्पत्ति स्थान आठ माने गए हैं और प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार हैं—

१-अंडज — अंडे से उत्पन्न होने वाले— कबूतर, हंस, मयूर, कोयल आदि पक्षी।

२-पोतज — पोत-चमड़े की थैली से उत्पन्न होने वाले—हाथी वल्गुली, चर्म-जलूक आदि पशु।

३ जरायुज - जेर से आवेष्टित उत्पन्न होने वाले— गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि पशु एवं मानव—

४-रसज —खाद्य पदार्थों में रस के विकृत होने बिगड़नेसे उसमें उत्पन्न होन वाले द्वीन्द्रियादि जीव-अधिक दिनकी खट्टी छाछ, कांजी आदि में नन्हीं-नन्ही कृमियें उत्पन्न हो जाती हैं।

५-संस्वेदज — पसीने से उत्पन्न होने वाली—जू-लीख आदि।

६-सम्मूर्छन - स्त्री-पुरुष के संयोग बिना उत्पन्न होने वाले—चींटी, मच्छर, भ्रमर आदि जीव जन्तु।

७-उद्भिज—भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाले—टीड, पतंगे इत्यादि जन्तु।

८-औपपातिक— उपपात—देव शय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले देव एवं नारकीके जीव।

संसारमें जितने भी त्रस जीव हैं, वे सब आठ प्रकारसे उत्पन्न होते हैं इस तरह समस्त त्रस जीवोंका इन आठ भेदोंमें समावेश हो जाता है। और इनके समन्वित रूपको ही संसार कहते हैं अर्थात् जहां इन सब जीवोंका आवागमन होता रहता है, एक गतिसे दूसरी गतिमें संसरण होता है, उसे ही संसार कहते हैं। क्योंकि जीवोंकि एक गतिसे दूसरी गतिमें परिभ्रमण करने के आधारपर ही संसार का अस्तित्व रहा हुआ है। इसी कारण इन उत्पत्तिशील या भ्रमणशील जीवों को संसार कहा गया है।

त्रस जीवोंके उत्पत्ति स्थान के संबन्ध में एक और मान्यता भी है। तत्त्वार्थ

† दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ में भी उक्त आठ प्रकार के उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख मिलता है।

सूत्रके रचयिता आचार्य उमास्वाति त्रस जीवोंके उत्पत्ति स्थान तीन मानते हैं—समूर्च्छन, गर्भज और औपपातिक‡। इन दोनों विचारधाराओंमे केवल संख्याका भेद दृष्टिगोचर होता है। परंतु वास्तवमे दोनोंमे सैद्धांतिक अतर नहीं है। दोनों विचार एक-दूसरेसे विरोध नहीं रखते। क्योंकि-रसज, सस्वेदज और उद्भिज ये तीनों समूर्च्छन जीवोंके ही भेद है, अंडज, पोतज और जरायुज ये तीनों गर्भज जीवों के भेद हैं और देव एव नारकोंका उपपातसे जन्म होने के कारण वे औपपातिक कहलाते हैं। अत तीन और आठ भेदोंमे कोई अतर नहीं है। यों कह सकते हैं कि त्रस जीवों के मूल उत्पत्ति स्थान तीन प्रकारके हैं और आठ प्रकारके उत्पत्ति स्थान उन्हीं के विशेष भेद हैं, जिससे साधारण व्यक्ति भी सुगमता से उनके स्वरूपको समझ सके।

इससे स्पष्ट हो गया कि उत्पत्ति स्थानके तीन या आठ भेदों मे कोई सैद्धातिक भेद नहीं है। ये सभी उत्पत्ति स्थान जीवोंके कर्मों की विभिन्नता के प्रतीक हैं। प्रत्येक ससारी प्राणी अपने कृत कर्मके अनुसार विभिन्न योनियों मे जन्म ग्रहण करते हैं। आत्म द्रव्यकी अपेक्षासे सब आत्माओं मे समानता होने पर भी कर्म बधनकी विभिन्नताके कारण कोई आत्मा विकासके शिखरपर आ पहुचती है, तो कोई पतनके गड्ढे में जा गिरती है। आगममें भी कहा है कि अपने कृत कर्मके कारण कोई देवशय्यापर जन्म ग्रहण करता है, तो कोई कुंभी (नरक) में जा उपजता है। कोई एक असुरकाय मे उत्पन्न होते हैं, तो कोई मनुष्य शरीर मे भी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण, चडाल-वुक्कस आदि कुलोंमे जन्म लेते हैं और कोई प्राणी पशु-पक्षी, टीड-पतग, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि जंतुओंकी योनिमें जन्म लेते हैं। इस तरह विभिन्न कर्मों मे प्रवृत्तमान प्राणी संसारमे विभिन्न योनियोंमे जन्म ग्रहण करते रहते हैं†।

योनि और जन्म ये दो शब्द हैं और दोनोंका अपना स्वतत्र अर्थ है। यह आत्मा अपने पूर्व स्थानके आयुष्य कर्मको भोगकर अपने बाधे हुए कर्मके अनुसार जिस स्थानमे आकर उत्पन्न होता है, उसे योनि कहते हैं और उस योनिमे आकर अपने औदारिक या वैक्रिय शरीरके बनानेके लिए आत्मा औदारिक या वैक्रिय पुद्गलों का जो प्राथमिक ग्रहण करता है, उसे जन्म कहते हैं। इस तरह योनि और जन्म

---

‡ सम्मूर्छनगर्भोपपाता।
—तत्त्वार्थ सूत्र २, ३२

† उत्तराध्ययन, ३, ३–४।

का आधेय आधार संबंध है। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

जैनदर्शनमें शरीरके पांच भेद बताए गए हैं— १ औदारिक, २-वैक्रिय ३-आहारक, ४ तैजस और ५ कार्मण इसमें आहारक शरीर विशिष्ट लब्धि युक्त मुनिको ही प्राप्त होता है और वैक्रिय शरीर देव और नारकी तथा लब्धिधारी मनुष्य तिर्यञ्चोंको प्राप्त होता है। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यञ्च गति में सभी जीवोंको प्राप्त होता है। तैजस और कार्मण शरीर संसारके सभी जीवोंमें पाया जाता है। औदारिक या वैक्रिय शरीरका कुछ समयके लिए अभाव भी पाया जाता है, परन्तु तैजस और कार्मण शरीर का संसार अवस्था में कभी भी अभाव नहीं होता। जब आत्मा एक योनिके आयुष्य कर्मको भोग लेता है, तो उसका उस योनिमें प्राप्त औदारिक या वैक्रय शरीर यहीं छूट जाता है। उस समय केवल तैजस और कार्मण शरीर ही उसके साथ रहता है, जो उसके किए हुए स्वकर्मके अनुसार उसे (आत्माको) उस योनि तक पहुंचा देता है। वहां आत्मा जन्म धारण करता है और कार्मण शरीरके द्वारा वहां पर स्थित पुद्गलोंका आहार ग्रहण करके उसे औदारिक या वैक्रिय शरीरके रूप में परिणत करता है। इस प्रकार उसका उत्पन्न होना जन्म है और जिस स्थान में उत्पन्न होता है, वह स्थान योनि कहलाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में उत्पत्ति स्थान तीन माने गए हैं—१-सम्मूर्च्छन, २ गर्भाजन्म और ३- औपपातिक। स्त्री—पुरुष के संयोग के बिना ही योनि-उत्पत्ति स्थानमें स्थित औदारिक पुद्गलोंको सर्वप्रथम ग्रहण करके औदारिक शरीर रूपमें परिणित करना सम्मूर्च्छन जन्म है।

स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पत्ति स्थान-गर्भाशयमें स्थित रज शुक्र (वीर्य) या शोणित के पुद्गलोंको पहले-पहल शरीर बनानेके हेतु ग्रहण करने का नाम गर्भज जन्म है।

देव शय्या या नरक कुम्भीमें स्थित वैक्रिय पुद्गलोंका प्रथम समयमें वैक्रिय शरीरका निर्माण करने के लिए ग्रहण करने का नाम उपपात जन्म है। देव शय्या के ऊपर का भाग दिव्य वस्त्रसे प्रच्छन्न रहता है, उस प्रच्छन्न भाग में देवों का जन्म होता है और कुम्भीवज्रमय भीतका गवाक्ष नारकोंका उपपात क्षेत्र है। इन उभय स्थानोंमें स्थित वैक्रिय पुद्गलोंको देव और नारक ग्रहण करते हैं।

इन उत्पत्ति स्थानोंमें कौन जीव जन्म लेता है, इसी बातको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मंदस्सावियाणओ ॥५०॥

छाया—मंदस्याविजानतः ।

पदार्थ—मदस्स—मद व्यक्ति का । अवियाणओ—जो तत्त्व से अनभिज्ञ है, उसका ससार मे भ्रमण होता है ।

मूलार्थ—तत्त्व से अनभिज्ञ जीव ही ससार मे परिभ्रमण करता है ।

हिन्दी विवेचन

उक्त उत्पत्ति स्थानों में कौन व्यक्ति जन्म लेता है ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने 'मदस्स' शब्द प्रयोग किया है । अर्थात् जो मंद बुद्धिवाला है, वह ससार मे परिभ्रमण करता है । मंद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'अवियाणओ' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् मद बुद्धिवाला वह है, जो जीव-अजीव आदि तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है। इन्हें आगमिक भाषा में बाल भी कहते हैं। क्योंकि प्राय बालक का ज्ञान अधिक विकसित न होने से वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने मे तथा अपना हिताहित सोचने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी तत्त्व ज्ञान से रहित होने के कारण अपनी आत्मा का हिताहित नहीं समझ पाता और इसी कारण विषय-वासना में आसक्त हो कर ससार बढाता है। इसी अपेक्षा से अज्ञानी व्यक्ति को बाल कहा गया है । बालक के जीवन मे व्यवहारिक ज्ञान की कमी है, तो इसमें आध्यात्मिक ज्ञान का विकास नहीं हो पाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति सम्यग् ज्ञान रहित है, वही ससार में परिभ्रमण करता है ।

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि हम देखते हैं कि जो व्यक्ति तत्त्व ज्ञान से युक्त हैं, वे भी उक्त उत्पत्ति स्थानों मे किसी एक उत्पत्ति स्थान में जन्म ग्रहण करते हैं । अनेक साधु सयम का परिपालन करते हुए भी देवगति का आयुष्य बाधते हैं और मनुष्य का आयुष्य भोग कर उपपात योनि में जन्मते हैं और स्वर्ग का आयुष्य पूरा करके फिर से गर्भज योनि में जन्मते हैं। इस से यह कहना कहा तक उचित है कि मद बुद्धिवाला अतत्वज्ञ व्यक्ति ही इन उत्पत्ति स्थानों मे जन्म लेता है ?

प्रस्तुत सूत्र मे जो कहा गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से कहा गया है

और वह अपेक्षा है—संसार परिभ्रमण की। यह ठीक है कि सम्यग् दृष्टि, श्रावक एवं साधु भी उपपात, गर्भज आदि जन्मों को ग्रहण करते हैं। परन्तु जब से उन्हें तत्त्व ज्ञान हो जाता है तब से वे संसार परिभ्रमणको बढ़ाते नहीं हैं। यह सत्य है कि तत्त्वज्ञ जन्म लेते भी हैं। परन्तु तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञके जन्म लेने में अंतर इतना ही है कि एक का संसार परिमित है और दूसरे का अपरिमित। जब से आत्मा ने सम्यक्त्वका संस्पर्श कर लिया तब से उसे परिमित संसारी कहा है, संसार का छोर-किनारा उसके सामने आ गया है। यह ठीक है कि उसे पार करके अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँचने में उसे कुछ समय लग सकता है और इस के लिए वह अनेक उत्पत्ति स्थानों में जन्म भी ग्रहण कर सकता है। परन्तु उसका जन्म ग्रहण करना संसार वृद्धिका नहीं परन्तु संसारको घटानेका, कम करने का ही कारण है।

इसके विपरीत अतत्त्वज्ञ व्यक्ति का संसार अपरिमित है। उसके सामने अभी तक कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है जिस पर गति करके वह किनारेको पा सके। अभी तक उसे अपने लक्ष्य स्थान एवं किनारे का भी ज्ञान नहीं है। इस लिए उस का प्रत्येक कार्य प्रत्येक कदम एवं प्रत्येक जन्म संसारको बढ़ाने वाला है जन्म-मरण के प्रवाहको प्रवाहमान रखने वाला है। तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ में रहे हुए इसी अंतर को सामने रख कर प्रस्तुत सूत्रमें कहा गया है कि जो मंद है, अतत्त्वज्ञ है, वही संसार परिभ्रमणको बढ़ाता है, बार-बार इन उत्पत्ति स्थानों में जन्म-मरण करता है।

इस परिभ्रमण से बचनेके लिए क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खंत्ति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ॥५१॥

छाया—निर्ध्याय—प्रतिलेख्य प्रत्येकपरिनिर्वाणं सर्वेषांप्राणिनाम्,

सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्त्वानाम्, असातम्, अपरिनिर्वाणं महाभय दुःखमिति ब्रवीमि—त्रस्यन्ति प्राणिनः प्रदिशः दिशासु च ।

पदार्थ—निज्झाइत्ता—चिन्तन करके। पडिलेहित्ता—देखकर। पत्तेयं—प्रत्येक जीव परिनिव्वाणं—सुख के इच्छुक हैं। सव्वेसिं—सर्व। पाणाण—प्राणियो को। सव्वेसिं भूयाण—सर्व भूतो को। सव्वेसिं जीवाण—सर्व जीवो को। सव्वेसिं सत्ताण—सर्व सत्त्वो को। अस्साय—असाता। अपरिनिव्वाणं—अशाति। *महब्भय—महाभय है। दुक्ख—दुःख रूप है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं। दिसासु—दिशाओ में। य—और। पदिसो–विदिशाओ मे। पाणा—ये प्राणी। तसंति–त्रास को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! त्रसकायके सबन्ध मे सम्यक् चिन्तन-मनन एवं पर्यावलोकन करके मैं तुम्हे कहता हू कि प्रत्येक जीव सुखका इच्छुक है। अन समस्त प्राणी, भूतजीव और सत्त्व सुखेच्छु हैं और सब को असाता-अशान्तिरूप महाभयकर दुःख से भय है और दिशा-विदिशाओं मे स्थित ये प्राणी इन प्राप्त होने वाले दुःखो से सत्रस्त हो रहे है।

हिन्दी विवेचन

ससार में प्रत्येक प्राणी सुखाभिलाषी है, दुःख से वचना चाहता है। फिर भी अपने कृत कर्मके अनुसार सुख-दुःखका स्वय उपभोक्ता है। दुनिया मे कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो एक के सुख-दुःख को दूसरा व्यक्ति भोग सके। सभी प्राणी अपने कृत कर्मके अनुरूप ही सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। परन्तु अतर इतना ही है कि सुख सवेदन की अभिलाषा सबको रहती है। सुख सब प्राणियोंको प्रिय लगता है, आनन्द देने वाला प्रतीत होता है, परन्तु दुःख कटु प्रतीत होता है। इस लिए दुनिया का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, वह दुःख से घबराता है, भयभीत होता है। फिर भी प्राणी दुःखसे संतप्त एवं सत्रस्त होते हैं। सभी दिशा-विदिशाओं में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहा उन्हें दुःख का सवेदन न होता हो।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व सामान्यत जीव के ससूचक हैं। निरन्तर प्राण के धारक होने के कारण प्राण, तीनों काल मे रहने के

---

† गोयमा! जम्हा आणा पाण तम्हा पाणेति वतव्व सिया, जम्हाभूते भवति भविस्सति य तम्हा भूयतिवत्तव्व सिया, जम्हा जीवे जीवइ जीवत्त आउय च कम्म उवजीवइ

कारण भूत, तीनों काल में जीवन युक्त होने से जीव और पर्यायों का परिवर्तन होने पर भी त्रिकाल में आत्मद्रव्य की सत्ता में अंतर नहीं आता, इस दृष्टि से सत्व कहलाता है इस अपेक्षा से सभी शब्द जीव के ही परिचायक हैं। इस तरह सम-भिरूढ़नय की अपेक्षा से इनमें भेद परिलक्षित होता है‡।

इन सब में थोड़ा भेद भी है, वह यह है—प्राण से तीन विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी लिए हैं, भूत से वनस्पतिकायिक जीवों को लिया जाता है, जीव से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्यों का ग्रहण किया जाता है और सत्त्व से पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को लिया जाता है*।

"परिनिर्वाण" शब्द का अर्थ सुख है, इस दृष्टि से अपरिनिर्वाण का अर्थ दुःख होता है। और दिशा-विदिशा से द्रव्य और भाव उभय दिशाओं को ग्रहण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुःख नहीं चाहता। फिर भी विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसका कारण यह है कि वह विविध आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर कर्म बन्धन से आबद्ध होकर दुःखों का संवेदन करता है। परन्तु जीव आरम्भ-समारम्भ-हिंसा के कार्य में क्यों प्रवृत्त होता है? इसका कारण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति, संति पाणा पुढो सिया ॥५२॥

छाया—तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः।

तम्हा जीवेत्ति वत्तव्वं सिया, जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्तेति वत्तव्वं सिया, जम्हा तित्तकडुयकसायअंबिलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विन्नुत्ति वत्तव्वं सिया, वेदेइ य सुह दुक्खं तम्हा वेदेति वत्तव्वं सिया।

भगवती सूत्र श २, उ १

‡ यदिवा समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः तद्यथा सततप्राणधारणात् प्राणाः, कालत्रयभवनात् भूताः, त्रिकालजीवनात् जीवाः, सदास्तित्वात् सत्त्वा इति।

* प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः॥ आचारांग सूत्र टीका १

पदार्थ—तत्थ-तत्थ—उन-उन कारणों मे। पुढो—विभिन्न प्रयोजनो के लिए। पास—हे शिष्य ! तू देख। आतुरा—विषयो मे आतुर-अस्वस्थ मन वाले जीव। परितावंति—अन्य जीवो को परिताप देते हैं—दुःखों से पीडित करते हैं, किन्तु। पाणा—प्राणी। पुढो—पृथक्-पृथक्। सिया—पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित। संति—विद्यमान है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख कि ये विषय-कषायादि से पीडित अस्वस्थ मन वाले जीव विभिन्न प्रयोजन एव अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अनेक त्रस प्राणियो को परिताप, कष्ट एव वेदना पहुचाते हैं। ये त्रस जीव पृथ्वी, पानी वायु आदि के आश्रय मे रहे हुए यत्र तत्र सर्वत्र विद्यमान है।

हिन्दी विवेचन

भारतीय चिन्तन धारा के प्राय सभी चिन्तकों ने, विचारकों ने, हिंसा को पाप माना है, त्याज्य कहा है। फिर भी हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा मे प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि जब हिंसा दोष युक्त है, तो फिर अनेक जीव उसमें प्रवृत्त क्यों होते हैं? प्रस्तुत सूत्र मे इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि विषय-वासना मे आतुर बना व्यक्ति हिंसा के कार्य मे प्रवृत्त होता है।

हिंसा मे प्रवृत्ति के लिए सूत्रकार ने "आतुर" शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुत आतुरता-अधीरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है। जीवन व्यवहार मे भी हम देखते हैं कि आतुरता के कारण अनेकों काम बिगड़ जाते हैं। क्योंकि जब जीवन मे किसी कार्य के लिए आतुरता, अधीरता या विवशता होती है, तो वह व्यक्ति उस समय अपने हिताहित को भूल जाता है। परिणाम स्वरूप बाद मे काम बिगड़ जाता है और केवल पश्चाताप करना ही अवशेष रह जाता है। इसलिए महापुरुषों का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि कार्य करने के पूर्व खूब गहराई से सोच-विचार लेना चाहिए और धीरता के साथ काम करना चाहिए। जैसे व्यवहारिक कार्य के लिए धीरता आवश्यक है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना के लिए भी धीरता आवश्यक है।

इससे स्पष्ट हो गया कि आतुरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है। आतुर व्यक्ति जीवन का एवं प्राणियों का हिताहित नहीं देखता। वह तो अपना स्वार्थ या प्रयोजन पूरा करने की चिन्ता में रहता है। भले ही, उसमे अनेक जीवों का नाश हो या उन्हें परिताप हो, वह यह नहीं देखता। क्योंकि आतुरता में उसकी दृष्टि धुंधली हो

जाती है। अपने स्वार्थ एवं विषय-वासना के अतिरिक्त उसके सामने कुछ रहता ही नहीं। इसी अपेक्षा से कहा गया कि विषय वासना में आतुर व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। और पृथ्वी, पानी, वायु आदि के आश्रय में रहे हुए विभिन्न जीवों को विभिन्न प्रकार से परिताप देते हैं। अतः हिंसा में प्रवृत्त होने का कारण आतुरता एवं स्वार्थी मनोभावना ही है ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि आतुरता हिंसा का कारण है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को आतुरता का त्याग करके हिंसा से दूर रहना चाहिए। उसे प्रत्येक कार्य धीरता के साथ विवेक एवं यत्ना पूर्वक करना चाहिए।

इस संबन्ध में अन्य मत के विचारों को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणा अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणापूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारभइ अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ अण्णेवा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय समारंभेणं तसकाय सत्थं समारंभमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ ५३॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारंभेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणाः

अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय जाति-मरण विमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते तत् तस्य अहिताय तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवत· अनगाराणामन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरुपैः शस्त्रैः त्रसकाय समारम्भेण त्रशकाय शस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए। पुढो—पृथक्-पृथक् वादियों को। पास—हे शिष्य ! तू देख। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं। एगे—कोई कोई वादी। पवयमाणा—कहते हुए। जमिणं—जो यह प्रत्यक्ष। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। त्रसकायसमारंभेण—त्रसकाय के समारंभ-हिंसा के निमित्त। तसकाय सत्थ—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भमाणा—समारम्भका प्रयोग करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—हिंसा करते हैं। तत्थखलु—वहा निश्चय ही। भगवया—भगवान ने। परिण्णा पवेइया—परिज्ञा ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है। इमस्सचेव जीवियस्स—इस जीवन के निमित्त। परिवदण—प्रशसा के लिए। माणण—सम्मान के लिए। पूयणाए—पूजा के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिघायहेउ—दुःख प्रतिघात के लिए। से—वह। सयमेव—स्वयं। तसकायसत्थं त्रस काय शस्त्र का। समारभइ—समारंभ-हिंसा करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—दूसरो से। तसकायसत्थ—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भावेइ—समारम्भ कराता है। वा—अथवा। अण्णे—अन्य। तसकायसत्थ—त्रसकाय शस्त्र द्वारा। समारम्भमाने—समारम्भ करने वालो की सवणुजाणइ—अनुमोदन करता है। त—वह-त्रसकाय का आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहित के लिए है। त—वह-आरम्भ। से—उसको। अबोहियाए—अबोध के लिए है। से—वह। त—उस आरम्भ के फल के। सबुज्झमाणे—सबोध को प्राप्त होता हुआ। आयाणीय—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि विषय मे। समुट्ठाय—सावधान होकर। सोच्चा—सुनकर। भगवओ—भगवान वा। अणगाराण—अनगारो के। अतीए—समीप। इह—इस ससार मे। एगेसिं—किसी-किसी जीव को। णाय—विदित। भवति—होता है। एस खलु। निश्चय

ही यह आरंभ। गंथे—आठ कर्मों की ग्रन्थी रूप है। एस खलु—यह आरम्भ। मोहे—मोह अज्ञान रूप है। एस खलु—यह आरम्भ। मारे—मृत्यु रूप है। एस खलु—यह आरम्भ। णरए—नरक रूप है। इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थादि में। गढिए—मूर्च्छित है। लोए—लोक प्राणि समुदाय। जमिणं—जिस कारण से। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। तसकाय समारम्भेणं—त्रसकाय के समारंभ के निमित्त। तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारंभ करता हुआ। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—विविध प्रकार से हिंसा करता है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं हे शिष्य! तू सावद्यानुष्ठान से लज्जित हुए इन अन्यमत वालों को देख। जो कि हम अनगार हैं इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय के समारंभ के निमित्त त्रसकाय का विनाश करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं। इस त्रसकाय समारंभ के विषय में भगवान ने अपने प्रकृष्टज्ञान से प्रतिपादन किया है कि जो यह प्रमादी जीव इस क्षण भंगुर जीवन के निमित्त प्रशंसा सम्मान और पूजा के लिए जन्म मरण से छूटने के लिए तथा अन्य कायिक वाचिक और मानसिक दुःखों की निवृत्ति के लिए त्रसकाय का स्वयं आरंभ करता है दूसरों से कराता है और जो आरंभ कर रहे हैं उनकी प्रशंसा करता है यह आरंभ उसके अहित और अबोधि लाभ के लिए है इस प्रकार स्वयं भगवान अथवा उनके सम्भावित साधुओं से त्रसकाय के समारम्भ के अनिष्ट फल को सुन कर पूर्ण श्रद्धा और सम्यक् भाव को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि यह त्रसकाय का समारम्भ अष्ट कर्मों का ग्रन्थी रूप है मोह का कारण होने से मोह रूप है तथा मृत्यु का जनक होने से मृत्यु रूप है और नरक का हेतु होने से नरक रूप है। फिर भी विषय भोगों में अधिक मूर्च्छित तथा आसक्त हुआ यह लोक प्राणी समूह इससे निवृत्त नहीं होता। जो कि वह अपने स्वार्थ से नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय के समारम्भ से त्रसकाय के विनाश के साथ २ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या पृथ्वी और अप्काय के प्रकरण मे विस्तार से कर चुके हैं। यहा इतना ही वता देना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत सूत्र में अध्यात्म योग साधना की ओर भी एक संकेत है। साधक को अध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्म शक्ति को विकसित करना चाहिए। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है—योगों को स्थिर करना या सावद्य कार्यों से हटाकर साधना मे स्थिर होना। इसका स्पष्ट अर्थ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एव त्रस आदि समस्त प्राणी जगत के साथ समता एव मैत्री भाव स्थापित करके, सर्व जीवों की हिंसा से त्रिकरण एव त्रियोग से निवृत्त होना, इसी को आध्यात्म योग कहा है†।

प्रस्तुत सूत्र में "तसपाणे—त्रस प्राण" वाक्य का प्रयोग किया गया है। प्राण, नाम श्वासोच्छ्वास का है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्राण संत्रस्त हैं-विषम चल रहे हैं, उन्हें निरोध कर के सम करना, जिससे मन और आत्मा मे समता का प्रादुर्भाव, हो सके। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक चिन्तन एवं आत्म विकास की ओर वढ़ने का भी संकेत मिलता है।

यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रमादी जीव आतुरता के वश तथा अपना स्वार्थ साधनेके लिए या अपने जीवनको सुखमय वनाने आदि के लिए हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त हिसामें प्रवृत्त होने के और भी कई कारण हैं। उन्हें स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हियाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढ़ाए, णहाए, एहारुणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति ॥५४॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि, अप्येके अर्चायै घ्नन्ति, अप्येके अजिनाय घ्नन्ति,

† आत्मामनोमरुत्तत्त्व समतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोग ।

—नीतिवा० समु ६, सूत्र १।

अप्पेगे मंसाए हणन्ति, अप्पेगे सोणियाए हणन्ति एवं-हिययाए पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, नहाए, ण्हारुणीए, अट्ठिए, अट्ठिमिंजाए, अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा हणन्ति, अप्पेगे हिंसंति मे इति वा हणन्ति, अप्पेगे हिंसिस्संति मे इति वा हणन्ति।

पदार्थ—से—मैं वह। बेमि—कहता हूं। अप्पेगे—कोई एक। अच्चाए—अर्चना-देवी देवता की पूजा के लिए। हणंति—जीवों की हिंसा करते हैं। अप्पेगे—कोई एक। अजिणाए—चर्म के लिए। वहंति—जीवों का वध करते हैं। अप्पेगे—कोई एक। मंसाए वहंति—मांस के लिए प्राणियों को मारते हैं। अप्पेगे—कोई एक। सोणियाए वहंति—खून के लिए वध करते हैं। एवं—इसी प्रकार कोई। हिययाए—हृदय के लिए। पित्ताए—पित्त के लिए। वसाए—चर्बी के लिए। पिच्छाए—पिच्छ-पंख के लिए। पुच्छाए—पूंछ के लिए। वालाए—केशों के लिए। सिंगाए—शृंग-सींगों के लिए। विसाणाए—विषाण के लिए। दंताए—दांतों के लिए। दाढाए—दाढों के लिए। नहाए—नाखूनों के लिए। ण्हारुणीए—स्नायु के लिए। अट्ठिए—अस्थियों के लिए। अट्ठिमिंजाए—अस्थि और मज्जा के लिए। अट्ठाए—किसी प्रयोजन के लिए। अणट्ठाए—निष्प्रयोजन ही। अप्पेगे—कोई एक। हिंसिंसु मे त्ति वा—इसने मेरे स्वजन स्नेहियों की हिंसा की है, ऐसा मानकर। वहंति—सिंह, सर्प आदि जन्तुओं की हिंसा करते हैं। अप्पेगे—कोई एक। हिंसंति मे त्ति वा वहंति—ये मुझे मारते हैं, ऐसा सोच कर सिंह-सर्प आदि का वध करते हैं। अप्पेगे—कोई एक हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति—ये भविष्य में मुझे मारेंगे ऐसा विचार कर के सिंह-सर्प आदि प्राणियों के प्राणों का नाश करते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! मैं तुमसे कहता हूं कि इस संसार में अनेक जीव देवी देवता की पूजा के लिए कई चर्म के लिए या मांस, खून हृदय पित्त, चरबी पंख पूंछ, केश शृंग-सींग विषाण दन्त दाढ़, नाखुन स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा आदि पदार्थों के लिए, प्रयोजन या निष्प्रयोजन से अनेक प्राणियों का वध करते हैं कुछ एक व्यक्ति इस दृष्टि से भी सिंह सर्प आदि जन्तुओं का वध करते हैं। कि उन्होंने मेरे स्वजन स्नेहियों को मारा है, यह मुझे मारता है तथा भविष्य में मारेगा।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य जब स्वार्थ के वश में होता है; तो वह अपना स्वार्थ साधने के लिए

विभिन्न जीवोंकी अनेक तरह से हिंसा करता है । अपने स्वार्थ के सामने उसे दूसरे प्राणियों के प्राणों की कोई चिन्ता एवं परवाह नहीं होती । अपनी प्रसन्नता, वैभव-शालीता व्यक्त करने के लिए, मनोरंजन, ऐश्वर्य एवं स्वादके लिए स्वार्थी व्यक्ति हजारों-लाखों प्राणियों का वध करते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। कुछ व्यक्ति धन कमानेके लिए पशुओं का वध करते हैं, तो कुछ व्यक्ति अपने शरीरकी शोभा बढ़ानेके लिए अनेक प्राणियोंके वधमें सम्मिलित होते हैं। परन्तु, कुछ व्यक्ति स्वादके लिए अपने पेटको अनेक पशुओंका कब्रिस्तान ही बना डालते हैं । इस प्रकार स्वार्थी लोगोंके हिंसा करने के अनेक कारणों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है ।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कुछ लोग अर्चा के लिए प्राणियों का वध करते हैं। अर्चा का पूजा और शरीर ये दो अर्थ होते हैं। विद्या-मन्त्र आदि साधने हेतु या देवी-देवता को प्रसन्न करने के बहाने लक्षणों युक्त पुरुष या पशु का वध करते हैं। तथा शरीर को शृंगारनेके लिए अनेक जीवोंको मारते हैं। इस प्रकार वे पूजा एवं शरीर शृंगार दोनों के लिए अनेक प्रकार के पशुओं की हिंसा करते हैं।

इसके अतिरिक्त चमड़े के लिए अनेक प्राणियों का वध किया जाता है । और उस मृग चर्म एव सिंह के चर्म का कई सन्यासी भी उपयोग करते हैं । परन्तु आजकल क्रूम, काफलेदर आदि चमडेके बूट, हैंड बेग एव घड़ियोंके फीते रखने का फैशन-सा हो गया है और इनके लिए अनेक गायों, गाय के बछड़ों एव भैंसों की हिंसा होती है। इसी तरह मास एव खूनके लिए बकरे, मृग, शूकर आदिका, पित्त एव पख आदि के लिए मयूर, शुतर मुर्ग आदि पक्षियों का, चर्वी के लिए व्याघ्र, शूकर, मछली आदि का, पूछके लिए चमरी गाय का, शृंगके लिए मृग, बारहसींगा आदि का, विषाण के लिए या सूअर का† दातके लिए हाथी का, दाढ़ के लिए वराह आदिका, स्नायु के लिए गो-महिषी आदिका अस्थि के लिए शख, सीप आदिका, अस्थि-मज्जा के लिए सूअर आदिका वध करते हैं। अनेक लोग प्रयोजन से पशु-पक्षियों का वध करते हैं और कुछ एक व्यक्ति निष्प्रयोजन ही अर्थात् केवल कुतूहल के लिए, मनोरंज के लिए अनेक प्राणियों की जान ले लेते हैं। कुछ व्यक्ति सिंह-सर्प आदि को इसलिए मार देते हैं कि इन्होंने मेरे स्वजन-स्नेहियों को मारा था । कुछ लोग उन्हें इसलिए मार देते है कि ये विषाक्त जन्तु मुझे मारते हैं और कुछ व्यक्ति इस सदेह से ही उनका प्राण ले लेते हैं कि ये जन्तु भविष्य में मुझे मारेंगे। इस प्रकार

---

† हाथी और सूअर के दांत को विषाण कहते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे विषाण शब्द सूअर के दात के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अनेक सङ्कल्प-विकल्प एवं स्वार्थों के वश व्यक्ति त्रस जीवों को हिंसामें प्रवृत्त होते हैं। और उससे प्रगाढ़ कर्म बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसलिए विवेकशील पुरुषको इन हिंसा जन्य कार्यों से दूर रहना चाहिए। इसी भावको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं, तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकाय समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे, त्तिबेमि ॥५५॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भा परिज्ञाता भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं त्रसकाय शस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः त्रसकाय शस्त्रं समारम्भयेत् नैवान्यान् त्रसकाय शस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते त्रसकाय समारम्भा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनि परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—इस त्रस काय के विषय में। सत्थं—शस्त्र का। समारंभमाणस्स—समारंभ करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरंभा—समारंभ। अपरिण्णाया भवंति—अपरिज्ञात होते हैं। एत्थ—इस त्रसकाय के विषय में। सत्थं—शस्त्र का। असमारम्भमाणस्स—समारम्भ नहीं करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरम्भा—आरम्भ। परिण्णाया भवन्ति—परिज्ञात होते हैं। तं परिण्णाय—उस आरम्भ को परिज्ञात करके। मेहावी—बुद्धिमान। णेवसयं—न स्वयं। तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भेज्जा—समारम्भ करे। णेवण्णेहिं—न अन्य से। तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भावेज्जा—समारम्भ करावे, तथा। तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का। समारम्भंते—समारंभ करते वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। णेव—नहीं। समणुजाणेज्जा—समर्थन करे। जस्सेते—जिसको ये। तसकाय समारंभा—त्रसकाय समारम्भ। परिण्णाया भवंति—परिज्ञात होते हैं। से हु मुणी—वही मुनि। परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जो व्यक्ति त्रसकाय के आरभ का त्यागी नही है, वह इन आरभो से अपरिज्ञात है। और जो त्रसकाय के आरम्भ का त्यागी है, उसे ये आरम्भ परिज्ञात हैं। और ज्ञपरिज्ञा से इन आरंभो को जनाने तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से इन आरम्भो का त्याग करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति न स्वय त्रसकाय की हिंसा करता है, न दूसरो से कराता है और हिंसा करने वाले व्यक्ति का समर्थन हो करता है। जिस व्यक्ति को ये आरम्भ परिज्ञात हैं, वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या दूसरे-तीसरे आदि उद्देशों के अन्तिम सूत्रवत् ही समझनी चाहिए। 'त्तिबेमि' की व्याख्या भी पूर्ववत् ही समझें।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा

सप्तम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में, ६ कायमें अवशिष्ट वायुकाय का वर्णन किया गया है। जैसे पृथ्वी पानी आदि अन्य स्थावरकाय सजीव हैं, उसी प्रकार वायुकाय भी सजीव है, सचेतन है। इसलिए उस का आरम्भ-समारम्भ भी कर्म बन्ध का कारण है, संसार परिभ्रमण एवं दुःख परंपरा को बढ़ाने वाला है। अतः वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने वाला ही मुनि है। इत्यादि भावों का प्रस्तुत उद्देशक में विवेचन किया गया है। उसका आदि सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—पहू एजस्स दुगुछणाए ॥५६॥

छाया—प्रभुः एजस्य जुगुप्सायाम्।

पदार्थ—एजस्स—वक्ष्यमाण गुणों वाला व्यक्ति वायुकाय के। दुगुंछणाए—आरम्भ का त्याग करने में। पहू—समर्थ होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य वक्ष्यमण गुणों वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

हिन्दी विवेचन

वायुकायिक जीवों की हिंसा कर्म बन्ध का कारण है। अतः कर्म बन्ध से वही व्यक्ति बच सकता है, जो वायुकायकी हिंसा से निवृत्त होता है। इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वायुकायिक जीवों की हिंसा से कौन निवृत्त होता है? इस प्रश्न का समाधान आगे के सूत्र में करेंगे। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संकेत मात्र किया है कि अगले सूत्रमें जिस व्यक्ति के गुणों का निर्देश किया जाने वाला है उन गुणों से संपन्न व्यक्ति ही वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ है।

'एज' शब्द वायुकाय के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। और इसका प्रयोग वायुकाय की गति की अपेक्षा से हुआ है। क्योंकि 'एज' शब्द 'एजृ कम्पने' धातुसे बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"एजतीत्येजो वायुः कम्पनशीलत्वात्"। अर्थात् कम्पनशील होने के कारण वायु को 'एज' कहते हैं। और जुगुप्सा का अर्थ निवृत्ति है। इससे निष्कर्ष यह

निकला कि वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने मे वह व्यक्ति समर्थ है, जो सूत्रकार की भाषा मे निम्नोक्त गुणों से युक्त होता है—

मूलम्—आयंकदंसी अहियंति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एय तुलमन्नेसिं ॥५७॥

छाया—आतङ्कदर्शी अहितमिति ज्ञात्वा, योऽध्यात्मं जानाति स बहिर्जानाति यो बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं जानाति एतां तुलामन्वेषयेत् ।

पदार्थ—अहियति—वायुकायिक जीवो की रक्षा वही कर सकता है, जो आर भ को अहितकर। णच्चा—जानकर । आयंकदसी—आतकदर्शी-दु खो का ज्ञाता है, द्रष्टा है । जे—जो । अज्झत्थ—आत्म स्थित-अपने सुख-दु ख को । जाणइ—जानता है । से—वह । बहिआ—अन्य प्राणियो के सुख-दु ख आदि को जानता हैं । जे—जो । बहिया—अन्य प्राणियो के सुख-दु ख को । जाणइ—जानता है । से—वह । अज्झत्थं जाणइ—अपने सुख-दु ख को जानता है । एव—इन दोनो को । तुल—तुल्य । अन्नेसि—गवेषण करे अर्थात् जगत के अन्य जीवो को अपने समान जानकर उनकी रक्षा करे ।

मूलार्थ—वायु कायिक जीवो की हिसा को दु खोत्पादक होने से जो व्यक्ति उसे अहितकर जानता है, वह उनकी रक्षा करने मे समर्थ होता हैं और जो अपने सुख-दु ख आदि को जानता है, वह अन्य प्राणियो के सुख-दु ख को भी जनाता है और जो प्राणी जगत के सुख-दु ख को जानता है, वह अपने सुख-दु ख को भी जानता है । इस तरह मुनि अपने एव प्राणी जगत अर्थात समस्त प्राणियो के सुख-दु ख को समान समझ कर सब की रक्षा करे

हिन्दी विवेचन

ससार में दो प्रकार का आतक होता है— १-द्रव्य-आतक और २-भाव-आतक । विष आदि जहरीले पदार्थों से मिश्रित भोजन द्रव्य आतक है और नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में भोगे जाने वाले दुःख भाव आतंक कहलाते हैं। इन उभय आतकों के स्वरूप को भली-भाति जानने वाला आतकदर्शी कहलाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आरम्भ-समारम्भ एव पाप कार्य से डरने वाला व्यक्ति ही आतंकदर्शी होता है। क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से पापकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म के

बन्धन से जीव नरक आदि गतियों में उत्पन्न होता है और वहां विविध दुःखों का संवेदन करता है। अस्तु उन दुःखों से डरने वाला अर्थात् नरक आदि गति में महावेदना का संवेदन न करना पड़े ऐसी भावना रखने वाला आतंकदर्शी व्यक्ति सदा आरम्भ समारम्भ से बचकर रहता है, वह हिंसा से निवृत्त रहता है, प्रतिक्षण विवेक पूर्वक कार्य करता है, फलस्वरूप वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता और न नरक-तिर्यञ्च के दुःखों का संवेदन ही करता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो आतंकदर्शी है, वही व्यक्ति हिंसा को अहितकर एवं दुःखजन्य समझकर उससे निवृत्त होने में समर्थ है। वस्तुस्थिति भी यही है कि हिंसा को अहितकर समझने वाला ही उसका परित्याग कर सकता है। जो व्यक्ति हिंसा के भयावह परिणाम से अनभिज्ञ है तथा हिंसा को अहितकर एवं बुरा नहीं समझता है, उससे हिंसा से निवृत्त होने की आशा भी कैसे रखी जा सकती है। अतः आतंकदर्शी ही हिंसा से निवृत्त हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त '[illegible] आदि पद भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन पदों के द्वारा सूत्रकार ने आत्म विकास की ओर गतिशील आत्मा का वर्णन किया है। वास्तव में वही व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास कर सकता है जो अपने सुख-दुःख के समान ही अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को देखता है तथा दूसरों के सुख-दुःख के समान ही अपने सुख-दुःख को समझता है या यों कहिए जो अपनी आत्मा के तुल्य ही समस्त प्राणियों की आत्मा को देखता है, वही विकास गामी है या मोक्ष मार्ग का पथिक है।

जब दृष्टि में समानता आ जाती है, तो फिर व्यक्ति किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करता, वह अपने सुख या स्वार्थ के लिए दूसरे के सुख, स्वार्थ एवं हित पर आघात नहीं करता। दूसरे को दुःख कष्ट पहुंचाकर भी अपने सुख एवं स्वार्थ को साधने की भावना तभी तक बनी रहती है जब तक दृष्टि में विषमता है, अपने और पराए सुख का भेद है। अतः समानता की भावना जागृत होने के बाद आत्मा की विचारधारा में और विचार के ही अनुरूप आचार में परिवर्तन हो जाता है। फिर तो मनुष्य आत्म अपनी तुला से प्राणी मात्र के सुख-दुःख को नापता हुआ सदा प्राणी मात्र के संरक्षण में संलग्न रहता है। यही उसके आत्मा का विकास मार्ग है, मोक्ष मार्ग है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि आतंकदर्शी अपनी आत्मतुला से प्राणी जगत के सुख-दुःख को जानकर हिंसा से निवृत्त होता है। अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा में संलग्न रहता है। यह प्रश्न हो सकता है कि वह आतंकदर्शी साधक स्वपर

जीवों की या वायुकायिक जीवों की रक्षा मे किस प्रकार प्रवृत्त होता है ? इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं ॥५८॥

छाया—इह शान्तिगताः द्रविकाः नावकाङ्क्षन्ति जीवितुम् ।

पदार्थ—इह—इस जिन शासन मे। संतिगया—शाति को प्राप्त हुए। दविया—राग-द्वेष से रहित संयमी मुनि वायुकाय की हिंसा से। जीविउं—अपने जीवन को रखना। णावकंखंति—नहीं चाहते।

मूलार्थ—इस जिनशासन मे शान्ति को प्राप्त हुए मोक्ष मार्ग पर गतिशील मुनि वायुकायिक जीवो को हिंसा करके अपने जीवन को जीवित रखने की इच्छा नही करते।

हिन्दी विवेचन

यह हम सदा देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को-प्रत्येक प्राणी को, जीवन प्रिय है। और प्रत्येक व्यक्ति जीवन को अधिक से अधिक समय तक बनाए रखने की इच्छा रखता है और इसके लिए वह हर प्रकार का कार्य कर गुजरता है। आज दुनिया में चलने वाले छल-कपट, झूठ, फरेब, हिंसा, चोरी आदि पाप कार्य इस क्षणिक जीवन के लिए ही तो किए जाते हैं। इसके लिए प्रमादी व्यक्ति बड़े से बड़ा पाप एवं जघन्य कार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता है।

एक ओर जीवन का यह पहलू है, तो दूसरी ओर जिनके जीवन मे ज्ञान का प्रकाश जगमगा रहा है, दया का, अहिंसा का शीतल झरना बह रहा है, वहा जीवन का दूसरा चित्र भी है। या यों कहना चाहिए कि एक ओर जहा अपने जीवन के लिए, अपने स्वार्थ के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा की जाती है, वहा दूसरी ओर साधक वायुकायिक आदि जीवों की रक्षा के लिए तत्पर रहता है और यहा तक कि उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देता है, परन्तु अपने जीवन के लिए वायुकाय आदि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता।

दया, रक्षा एवं अहिंसा की यह पराकाष्ठा जैन शासन में ही है, अन्यत्र नहीं। 'इह' शब्द दया एवं अहिंसा प्रधान जैनधर्म का परिबोधक है। 'संतिगय' शब्द १-प्रशम, २-संवेग, ३-निर्वेद, ४-अनुकम्पा और ५-आस्तिक्य को अभिव्यक्त करने वाले

सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है और सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष रूप पूर्ण आनन्द या शान्ति का मूल कारण है, इसलिए इस आध्यात्मिक त्रिवेणी संगम को शान्ति कहा है। ऐसे शांत या मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक को 'संतिगया-शांतिगता' कहा है।

'दविया-द्रविका' का अर्थ है— 'द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ता' अर्थात् राग-द्वेष से उन्मुक्त भव्य आत्मा को द्रविक कहते हैं। १७प्रकार के संयम का नाम द्रव है। क्योंकि, संयम साधना से कर्म की कठोरता को द्रवीभूत कर दिया जाता है, इसलिए संयम को द्रव कहा गया है और उक्त संयम को स्वीकार करने वाले मुमुक्षु पुरुष को द्रविक कहते हैं।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ हुआ— सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र की साधना से परम शांति को प्राप्त महापुरुष वायुकायिक जीवों की हिंसा करके अपने जीवन को टिकाए रखने की आकांक्षा नहीं रखते। तात्पर्य यह निकला कि उन्हें अपने जीवन की अपेक्षा दूसरे के जीवन का अधिक ध्यान रहता है। इसलिए वे अपने सुख के लिए, अपने स्वार्थ के हेतु या अपने जीवन को बनाए रखने की अभिलाषा से दूसरे प्राणियों के सुख, हित, स्वार्थ एवं जीवन पर हाथ साफ नहीं करते। क्योंकि अपनी आत्मा के समान ही जगत के अन्य जीवों की आत्मा है। अतः अपने स्वार्थ के लिए वे दूसरों की हिंसा की आकांक्षा नहीं रखते हुए, प्राणी जगत की दया, रक्षा एवं अनु-कम्पा करते हैं। अतः अहिंसा का इतना सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ स्वरूप जैन शासन के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म में नहीं मिलता[†]।

अस्तु हम यह कह सकते हैं कि जैन साधु ही त्रस एवं स्थावर जीवों के संरक्षक हो सकते हैं। वे हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं। अतः सूत्रकार अन्य मत वादों के संबन्ध में कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवय माणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारम्भमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु

---

†इहैव जैन प्रवचने वा तपश्चरणसंयमवशितया प्रवोऽभूमितास्तितृणरागोऽभवन्नाः परमुलोपमर्दनिष्पन्नसुखजीविकानिरभिलाषा संवत नान्यत्र एवंविधबिधानविधायामावादिति।

—आचारांग सूत्र १८, टीका

भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माण-णपूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपड़िघायहेउं से सयमेव वाउ-सत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ ५६॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपै. शस्त्रै वायुकर्मसमारंभेण वायुशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण विमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतु स स्वयमेव वायुशस्त्रं समारंभते, अन्यैश्च वायुशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीय समुत्थाय श्रुत्वा भगवत. अनगाराणामन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु निरयः इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्म समारम्भेण वायुशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए। पुढो—पृथक्-पृथक् वादियों को। पास—हे शिष्य ! तू देख। अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं। एगे—कई एक। पवयमाणा—कहते हुए। जमिण—जिससे वे। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रो से। वाउकम्म-

समारंभेणं—वायु कर्म समारंभ से। वाउसत्थं—वायुकाय शस्त्र के द्वारा। समारम्भमाणे—समारम्भ करते हुए। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसंति—हिंसा करते हैं। तत्थ—उस आरम्भ के विषय में। खलु—निश्चय ही। भगवया—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा। पवेइया—प्रतिपादन किया है। इमस्सचेव—इस प्रकार जीवन के लिए। परिवंदणमाणणपूयणाए—प्रशंसा, मान और पूजा के लिए। जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिए। दुक्खपडिघायहेउं—अन्य दुःखों के विनाशार्थ। से—वह। सयमेव—स्वयमेव। वाउसत्थं—वायुकाय शस्त्र का। समारभति—समारम्भ करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—दूसरों से। वाउसत्थं—वायु शस्त्र का। समारम्भावेइ—समारम्भ कराता है। अण्णे—अन्य। वाउसत्थं—वायु शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारंभ करने वालों की। समणुजाणइ—अनुमोदन करता है। तं—वह-वायुकाय का आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहित के लिए है। तं—वह-आरम्भ। से—उसको। अबोहीए—अबोध के लिए है। से—वह। तं—उस आरम्भ के फल को। संबुज्झमाणे—जानता हुआ। आयाणीयं—आचरणीय सम्यग् दर्शनादिको। समुट्ठाए—ग्रहणकर। सोच्चा—सुनकर। भगवओ—भगवान का। अणगाराणं—अनगारों के। अंतिए—समीप। इह—इस जिन शासन में। एगेसिं—किसी-किसी प्राणी को। णायं भवति—यह ज्ञात होता है कि। एस खलु—निश्चय ही यह आरंभ। गंथे—आठ कर्मों की ग्रन्थी रूप है। एस खलु—यह आरम्भ। मोहे—मोहरूप है। एस खलु—निश्चय ही यह आरंभ। मारे—मृत्यु रूप है। एस खलु—निश्चय ही यह आरम्भ। णिरए—नरक का कारण होने से नरक रूप है। इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थ में। गढिए—मूर्च्छित। लोए—लोक-प्राणि-समुदाय। जमिणं—जिससे। विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। वाउकम्मसमारम्भेणं—वायु कर्म समारंभ से। वाउसत्थं—वायु शस्त्र का। समारम्भमाणे—समारंभ करता हुआ। अण्णे—अन्य भी। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—हिंसा करते हैं।

मूलार्थ-हिंसा से लज्जित हुए दूसरे वादियों को हे शिष्य ! तू देख। ये लोग हम अनगार हैं इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु कर्म समारंभ के द्वारा वायुकाय शस्त्र का समारम्भ-प्रयोग करते हुए साथ में अन्य प्रकार के भी अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं। इस विषय में भगवान ने परिज्ञा-ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का प्रतिपादन किया है। ये प्रमादी जीव इस निसार जीवन के निमित्त प्रशंसा सम्मान और पूजा के लिए जन्म-मरण से छूटने के लिए और अन्य शारीरिक-मानसिक दुःखों

के विनाशार्थ नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा स्वय वायुकाय की विराधना करते है, दूसरो से कराते है तथा अन्य करने वालो की प्रशसा करते है, परन्तु यह उनके अहित के लिए और अबोध के लिए है। इस प्रकार वायु-काय समारभ के इस अनिष्ट फल को भगवान अथवा उनके सभावित साधुओ से सुनकर सम्यक् श्रद्धा युक्त वोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि इस ससार मे किसो २ व्यक्ति को ही यह ज्ञात होता है कि यह आरम्भ अष्ट कर्मो को ग्रन्थी रूप है, मोह, मृत्यु और नरक रूप है, ऐसा जान लेने पर भी अर्थाभिकाक्षी लोक-प्राणिसमूह इससे पराङ्मुख नही होता, अपितु अनेक प्रकार के शस्त्रो द्वारा वायुकाय समारम्भ से वायुकाय के जीवो की विराधना के साथ २ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियो का विनाश करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे उसी बात को दोहराया गया है, जिसका वर्णन पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के प्रकरण में कर चुके हैं। अन्तर इतना ही है कि वहा पृथ्वी आदि का उल्लेख किया गया है, तो यहा वायुकाय का प्रकरण होने से वायुकाय का नामोल्लेख किया गया है।

योग पद्धति से प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते हैं, तो यह सूत्र साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वायु से आरोग्य लाभ के साथ-साथ आत्मा मे अनेक शक्तियों एव लब्धियों या सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि, मन एव प्राण वायु का एक ही स्थान है। एक का निरोध करने पर दूसरे का सहज ही निरोध हो जाता है। इस अपेक्षा से वायु को व्यवस्थित करने से मन में एकाग्रता आती है। जिससे चिन्तन मे गहराई एव सूक्ष्मता आती है और फल स्वरूप ज्ञान का विकास होता है। और आत्मा धीरे-धीरे विकास की सीढ़ियों को पार करते-करते एक दिन शरीर, वचन और मन योग के निरोध के साथ-साथ प्राण वायु का भी सर्वथा निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान में पहुच कर आत्मा त्रियोग के साथ 'आण-पाण निरोहइत्ता' अर्थात् श्वासोच्छ्वास का भी सर्वथा निरोध कर लेता है। श्वासोच्छ्वास का संबन्ध योग के साथ है, क्योंकि शरीर मे ही सास का आवागमन होता है। और

वाणी एवं मन का भी शरीर के साथ ही संबन्ध है। त्रियोग में शरीर सब से स्थूल है, वाणी उससे सूक्ष्म है और मन सबसे सूक्ष्म है। इसी कारण चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करते ही आत्मा सर्व प्रथम मन का निरोध करता है, उसके बाद वाणी का और फिर शरीर का निरोध करके समस्त कर्म बन्धनों एवं कर्म जन्य साधनों से मुक्त होकर शुद्ध आत्म स्वरूप को प्रकट करता है। अस्तु चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करके सिद्धत्व को पाना ही साधना का एक मात्र उद्देश्य है और इसके लिए वायु का व्यवस्थित रूप से निरोध करना लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होता है। इसकी साधना से साधक को अनेक लब्धियें प्राप्त होती हैं। स्वरोदय शास्त्र का आविष्कार इसी वायु तत्त्व के आधार पर हुआ है। परन्तु, इन सब शक्तियों का उपयोग आध्यात्मिक साधना को विकसित करने के लिए करना चाहिए, न कि पौद्गलिक सुखों के लिए। क्योंकि, भौतिक सुख क्षणिक हैं और उनके पीछे दुःखों का अनन्त सागर ठाठें मार रहा है। अतः साधक को भौतिक सुखों की मृगतृष्णा को त्याग कर अपनी शक्ति को आत्मा को कर्मों से सर्वथा निरावरण करने में ही लगाना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र का यही तात्पर्य है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि जो व्यक्ति त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा में आसक्त रहता है, उसे उसका कटु फल भोगना पड़ता है। अतः मुनि को हिंसा से सर्वथा दूर रहना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि संति सपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वाउसत्थं समारम्भंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थं समारंभा परिण्णाया भवंति

से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥६०॥

छाया—सः (अह) ब्रवीमि, सन्ति सम्पातिमाः प्राणिनः आहत्य संपतन्ति च स्पर्शं च खलु स्पृष्टा एके संघातमापद्यन्ते ये तत्र संघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति, अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरंभा परिज्ञाता भवन्ति तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वायुशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैश्च वायु शस्त्र समारम्भयेत्, नैवान्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् यस्यैते वायु शस्त्र समारंभाः परिज्ञाता भवन्ति, सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा इतिब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह। बेमि—मैं कहता हू । सपाइमा—सपातिम-उडने वाले । पाणा—प्राणी जो । संति—हैं वे । आहच्च—कदाचित् । सपयंति—वायुकाय के चक्र मे आ पडते हैं। य—फिर वे । फरिसं—वायुकाय के स्पर्श को। पुट्ठा—स्पर्शित होते हैं । च, खलु—दोनो समुच्चयार्थक हैं । एगे—कोई एक जीव । सघायमावज्जंति—शरीर सकोच को प्राप्त होते हैं । जे—जो । तत्थ—वहा पर । संघायमावज्जति—शरीर सकोच को प्राप्त होते हैं । ते—वे जीव । तत्थ—वहा पर । परियावज्जति—मूर्च्छा को प्राप्त हो जाते हैं । जे—जो जीव । तत्थ—वहा पर । परियावज्जति—मूर्च्छा को प्राप्त करते हैं । ते—वे जीव । तत्थ—वहा पर । उद्दायति—मृत्यु को प्राप्त करते हैं—मर जाते है। एत्थ—इस वायुकाय मे। सत्थ—शस्त्र का । समारभमाणस्स—समारभ करने वाले को । इच्चेते—ये सब । आरभा—आरभ । अपरिण्णाया भवति—अपरिज्ञात,—ज्ञात और प्रत्याख्यात नही होते हैं । एत्थ—इस वायुकाय में । सत्थ—शस्त्र का । असमारभमाणस्स—समारम्भ न करने वाले के । इच्चेते—ये सब । आरभा—आरभ । परिण्णाया भवति—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते हैं । त—उस आरभ के परिण्णाय—द्विविध परिज्ञा । से जानकर । मेहावी—बुद्धिमान । णेवसय—न तो स्वय । वायु सत्थं—वायु शस्त्र द्वारा । समारभेज्जा—समारभ करे और । णेवण्णेहिं—न दूसरों से । वाउसत्थ—वायु शस्त्र द्वारा । समारभावेज्जा—समारभ करावे और । णेवण्णे—न दूसरो को जो । वाउसत्थं समारभते—वायु शस्त्र द्वारा समारभ कर रहे हैं, उनकी । समणुजाणेज्जा—अनुमोदना-प्रशसा करे । जस्सेते—जिसके ये । वाउसत्थ समारंभा—वायु शस्त्र समारभ । परिण्णाया भवति—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते है । से हु मुणी—वही निश्चय से मुनि परिण्णायकम्मे—परिज्ञात कर्मा कहलाता है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—मैं कहता हूँ कि हे जम्बू! उड़ने वाले जीव वायु के चक्कर में आ पड़ते हैं फिर वायु का स्पर्श लगने से शरीर को सकोच लेते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं। और मूर्च्छित दशा में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। वायु के आरम्भ से जो निवृत्त नहीं हुए वे अपरिज्ञात होते हैं, तथा जो वायु शस्त्र समारम्भ से निवृत्त हो गए हैं वे परिज्ञात होते हैं। जिस आत्मा ने वायु शस्त्र द्वारा समारम्भ छोड़ दिया है वही बुद्धिमान है तथा जो स्वयं वायु शस्त्र के द्वारा समारंभ न करता हो दूसरों से समारम्भ कराता नहीं तथा जो समारम्भ करता है उसकी प्रशंसा भी नहीं करता, एवं जिस व्यक्ति के आरम्भ परिज्ञात और प्रत्याख्यात होता है वही मुनि वास्तव में परिज्ञात कर्मा कहलाता है।

हिन्दी विवेचन

वायु के प्रवाह में बहुत से छोटे-मोटे जीव मूर्च्छित होकर अपने प्राण खो देते हैं। और यह भी स्पष्ट है कि वायु के साथ अन्य अनेक त्रस जीव रहे हुए हैं। अतः वायु का आरम्भ करने से उनकी भी हिंसा हो जाती है। जैसे पंखा चलाने से वायु के साथ अन्य त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इसी प्रकार ढोल, मृदंग एवं अन्य वाद्यन्त्र का उपयोग करने से वायु के साथ अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को वायु के समारम्भ से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

जो व्यक्ति वायुकाय का समारम्भ करता है, वह उसके स्वरूप को भली-भांति नहीं जानता है। इसी कारण वह उसकी हिंसा में प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस व्यक्ति को वायु के आरम्भ का स्वरूप परिज्ञात है, वह उसके आरम्भ में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहा गया है। यह प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देशों में सामान्य रूप से आत्मा और कर्म के संबन्ध का तथा ६ उद्देशों में पृथक्-पृथक् रूप से ६ काय का वर्णन करके अब उपसंहार के रूप में सूत्रकार छः काय के स्वरूप का एवं उसकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम् — एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरम्भमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववरणा, आ-रम्भ सत्ता पकरन्ति संगं ॥६१॥

छाया—एतस्मिन्नपि जानीहि उपादीयमानान् ये आचारे न रमन्ते, आरंभमाणा विनयं वदन्ति, छन्दसा उपनीताः अध्युपपन्ना. आरंभसक्ताः प्रकुर्वन्ति संगम्।

पदार्थ—एत्यपि—वायुकाय एव अन्य पृथ्वी आदि ६ काय का जो आरभ करते हैं, वे। उवादीमाणा—कर्मो से आवद्ध होते हैं। जाणे—हे शिष्य तू! इस वात को देख कि आरभ कौन करते हैं? जे आयारे ण रमति—जो आचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एव वीर्याचार मे रमण नही करते, और। आरंभमाणा—आरभ करते हुए। विणयं—हम सयम में स्थित हैं, इस प्रकार। वयति—वोलते हैं। छदोवणीया—वे अपने विचारानुसार स्वेच्छा से विचरण करने वाले। अज्झोववण्णा—विषयो मे आसक्त हो रहे हैं, तथा। आरमासत्ता-आरभ मे आसक्त हैं, ऐसे प्राणी। पकरति सग—आत्मा के साथ अष्ट कर्मों का सग करते हैं अर्थात् अष्ट कर्मो से आवद्ध होकर ससार मे परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस वात को भली-भान्ति जान ले कि जो जीव ६ काय का आरभ करते हैं वे कर्मों से आबद्ध हो कर ससार में परिभ्रमण करते हैं। और वे ही जीव हिंसा मे प्रवृत्त होते हैं, जो पचाचार मे रमण नही करते हैं। वे स्वेच्छाचारी अपने आपको सयमी कहते हुए भी विषय वासना एव आरंभ मे आसक्त होकर आत्मा के साथ अष्टकर्मों का सग करते हैं।

हिन्दी विवेचन

पीछे के उद्देशकों में इस वात को स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा कर्म वन्ध का कारण है। इस सूत्र मे यह स्पष्ट वताया गया है कि एक काय की हिंसा करने वाला छ काय के जीवों की हिंसा करता है। जैसे जो व्यक्ति पृथ्वी की हिंसा करता है, उसमे पृथ्वीकायिक जीवों के आश्रय मे रहे हुए अन्य अप्कायिक

तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार अन्य जीवों की हिंसा के संबन्ध में भी जानना चाहिए। इस प्रकार छः काय का आरम्भ-समारम्भ करने में कर्मों का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार-परिभ्रमण एवं दुःख परम्परा का प्रवाह बढ़ता है।

कुछ व्यक्ति अपने आप को साधु कहते हुए भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण यह है कि व शब्दों से अपने आप को साधु कहते हैं, परन्तु आचार की दृष्टि से वे अभी साधुत्व से बहुत दूर हैं। क्योंकि वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में रमण नहीं करते हैं और जब तक आचार को सम्यक् चारित्र को क्रियात्मक रूप से स्वीकार नहीं करते, तब तक उनकी प्रवृत्ति साधुत्व में नहीं होती। इसी कारण वे आचार रहित व्यक्ति विषय वासना में आसक्त होकर विभिन्न प्रकार से अनेक जीवों की हिंसा करते हैं। इसलिए उनका सावद्य अनुष्ठान कर्म बन्ध का कारण है और परिणाम स्वरूप वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इसलिए मुमुक्षु को षट्कायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होना चाहिए। कौन व्यक्ति जीवों की हिंसा से निवृत्त हो सकता है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं, समारम्भेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थ समारम्भावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकाय सत्थं समारम्भंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थं समारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे, त्तिबेमि ॥६२॥

छाया—स वसुमान् सर्व समन्वागतप्रज्ञानेनात्मना, अकरणीयं पापं कर्म नान्वेषयेत् तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रंसमा-रंभेत नैवान्यैः षड्जीवनिकाय शस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् षड्जीवनिकाय शस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात् यस्यैते षड्जीवनिकाय शस्त्र समारम्भा

परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञात कर्मा, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह ६ काय के आरंभ से निवृत्त हुआ मुनि । वसुमं—चारित्र रूप धन-ऐश्वर्य सम्पन्न । सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं—सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान युक्त । अप्पाणेण —अपनी आत्मा से । अकरणिज्जं—अकरणीय-अनाचरणीय है, जो । पाव कम्म—१८ पाप कर्म, उनके । णो अण्णेसि—उपार्जन का प्रयत्न न करे । त—उस पाप कर्म को । परिण्णाय—जानकर । मेहावी—बुद्धिमान साधु । णेव सय—न स्वय । छज्जीवनिकायसत्थं—६ काय के शस्त्र का । समारभेज्जा—समारभ करे । णेवण्णेहिं—न अन्य से । छज्जीवनिकाय सत्थ – ६ काय के शस्त्र का । समारभावेज्जा—समारभ करावे, तथा । छज्जीवनिकायसत्थ—६ काय के शस्त्र का । समार भते—समार भ करने वाले । अण्णे—अन्य व्यक्ति को । णेव समणुजाणेज्जा—न अच्छा समझे या उसका समर्थन भी न करे । जस्सेते—जिसके ये छज्जीवनिकाय सत्थ समारंभा—६ काय के शस्त्र का समारंभ । परिण्णाया भवति—परिज्ञात हैं । से हु मुणी—वही मुनि । परिण्णाय कम्मे—परिज्ञात कर्मा है । त्ति वेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—वह संयम रूप ऐश्वर्य सपन्न साधु सर्व प्रकार से बोध एव ज्ञान युक्त होने से वह आत्मा से अकरणीय १८ पाप कर्मों को जानकर और छ काय की हिंसा से पापकर्म का वन्ध होता है, ऐसा समझ कर, न तो स्वय छ काय की हिंसा करता है, न अन्य से कराता है और न हिंसा करने वाले का समर्थन ही करता है। यह आरंभ-समारंभ जिसे परिज्ञात है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहलाता है । इस प्रकार मैं कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

जीवन में धन—ऐश्वर्य का भी महत्त्व है । ऐश्वर्य एकान्तत त्याज्य नहीं है। क्योंकि धन—ऐश्वर्य भी दो प्रकार का है—१-द्रव्य धन और २-भाव धन । स्वर्ण, चांदी, रत्न, सिक्का, धन्य आदि भौतिक पदार्थ द्रव्य धन हैं। इससे जीवन में आसक्ति बढ़ती है, इस कारण इसे त्याज्य माना है। क्योंकि यह राग-द्वेष जन्य है तथा राग-द्वेष को बढ़ाने वाला है ।

सम्यग् दर्शन, ज्ञान एव चारित्र भाव धन—ऐश्वर्य है। और यह आत्मा की स्वाभाविक निधि है। इस ऐश्वर्य का जितना विकास होता है, उतना ही राग-द्वेष का ह्रास होता। है अस्तु उक्त ऐश्वर्य से सम्पन्न मुनि को धनवान कहा गया है। इसका

स्पष्ट अर्थ हुआ कि ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से युक्त मुनि अनाचरणीय पाप कर्म का सेवन नहीं करता। वह १८ प्रकार के सभी पापों से दूर रहता है†। इन पापों के आसेवन से आत्मा का अधःपतन होता है, इस लिए इन्हें पाप कर्म कहा गया है।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि छः काय की हिंसा से पाप कर्म का बन्ध होता है और उससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। अतः इस बात को भली-भांति जानने एवं हिंसा का त्याग करने वाला साधु न स्वयं ६ काय की हिंसा करे, न दूसरे को हिंसा करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसक के हिंसा कार्य का समर्थन ही करे।

'अप्पाणेणं' पद से आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को सिद्ध किया गया है अर्थात् यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं कर्म का कर्ता है और वही स्वकृत कर्म के फल का भोक्ता भी है। और 'परिण्णाय कम्मं' शब्द से संयम संपन्न मुनि के लिए बताया गया है कि ज्ञ परिज्ञा से हिंसा के स्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका परित्याग करे। अर्थात् उक्त शब्द ज्ञान और क्रिया युक्त मार्ग का स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत विषय पर हम पिछले उद्देशकों में विस्तार से विचार कर चुके हैं। इस लिए यहां फिर से पिष्ट-पेषण करना नहीं चाहते। 'त्तिबेमि' का अर्थ भी पूर्ववत् है।

सप्तम उद्देशक समाप्त

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

† १-प्राणातिपात, २-मृषावाद ३-अदत्तादान, ४-मैथुन ५-परिग्रह ६-क्रोध, ७-मान, ८-माया, ९-लोभ १०-राग ११-द्वेष १२ कलह १३-अभ्याख्यान-कलंक, १४-पैशुन्य, १५-परपरिवाद, १६—रति-अरति १७—माया-मृषा और १८—मिथ्यादर्शनशल्य। ये १८ प्रकार के पाप कहे गये हैं।

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

प्रथम उद्देशक

आचाराग सूत्र के प्रथम अध्ययन में सामान्यत. जीव के अस्तित्व का, आत्मा और कर्म के सम्वन्ध का वर्णन किया गया है और पृथ्वी, जल आदि अव्यक्त चेतना वाले जीवों की सजीवता को स्पष्ट प्रमाणित करके यह वताया गया है कि षट् काय का आरम्भ-समारम्भ करने से कर्म का वन्ध होता है और फलस्वरूप ससार परिभ्रमण एवं दु ख परम्परा का प्रवाह वढता है। इस लिए इस वात पर वल दिया गया है कि मुमुक्षु को आरम्भ–समारम्भ से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होने पर ही साधक मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यदि एक शब्द में कहे तो प्रथम अध्ययन मे साधना के मूलभूत अंग अहिंसा का सूक्ष्म, विस्तृत एवं यथार्थ विवेचन किया गया है।

आध्यात्मिक साधना में अहिंसा का महत्त्व पूर्ण स्थान है। अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, साधना का मूल केन्द्र है। सभी धार्मिक अनुष्ठान इसी से जीवन पाते हैं, इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एव फलित होते हैं। अहिंसा के अभाव में कोई भी साधना जीवित नहीं रह सकती है और न सयम मे ही तेजस्विता रहती है। इसलिए जैन सस्कृति के उन्नायकों ने इसे साधना में सर्वप्रथम स्थान दिया है। पञ्च महाव्रतों मे पीछे के चारों महाव्रत अहिंसा से संवद्ध हैं। जिस साधक के जीवन मे अहिंसा का, दया का, अनुकम्पा का, साम्यभाव का झरना नहीं वह रहा है, वहां सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का विकास होना भी असभव है। अहिंसा के शीतल, सरस एव मधुर जल से अभिसिंचित होकर ही साधना का वृक्ष हरा-भरा रह सकता है, पल्लवित–पुष्पित हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा साधना का प्राण है। सूत्रकार के शब्दों मे स्पष्ट ध्वनित होता है कि "जो षट्काय के आरम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है, अन्य नहीं।

अहिंसा की साधना के लिए जीवों का परिज्ञान होना जरूरी है। इस अपेक्षा से प्रथम अध्ययन में विभिन्न योनियों में परिभ्रमणशील जीवोंके अस्तित्व का विवेचन किया गया है। इससे मनमें यह जानने की सहज ही जिज्ञासा होती है कि

यह संसार क्या है ? और इस पर विजय कैसे पाई जा सकती है ? इस प्रश्न का समाधान द्वितीय अध्ययन में किया गया है। और इसके नाम से भी इस बात का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—"लोक विजय" लोक की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। प्रस्तुत अध्ययन में लोक का अर्थ है—कषाय या राग-द्वेष, या भाव लोक कहा जाता है। उसके विपरीत द्रव्य, क्षेत्र आदि लोक भी माने गए हैं। परन्तु प्रमुखता भाव लोक की है। क्योंकि द्रव्य लोक का अस्तित्व भाव लोक पर आधारित है। कारण स्पष्ट है कि राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों से कर्म का बन्धन होता है और परिणाम स्वरूप आत्मा एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करती रहती है। इसी परिभ्रमण का नाम संसार है और इस संसार का मूल बीज राग-द्वेष है† । और राग-द्वेष भाव लोक हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि द्रव्य लोक का मूल भाव लोक है। अतः भाव लोक पर विजय प्राप्त कर लेने पर द्रव्य लोक पर विजय सहज ही हो जाती है। मूल का उन्मूलन कर देने पर शाखा-प्रशाखा पत्र-पुष्प आदि का विनाश तो स्वयं ही हो जाता है। क्योंकि उनको सारा पोषण मूल से मिलता है। मूल के अभाव में उन्हें पोषण नहीं मिलेगा और खुराक के अभाव में वे जीवित नहीं रह सकते। मूल का नाश होते ही उनका भी विनाश हो जाता है। इसलिए साधक को यह प्रेरणा दी गई कि वह द्रव्य लोक पर विजय पाने की अपेक्षा भाव लोक पर विजय पाने का प्रयत्न करे। भाव लोक-राग-द्वेष का सर्वथा उन्मूलन करने का प्रयत्न करे। राग-द्वेष का उच्छेद कर दिया; तो फिर द्रव्य लोक का उच्छेद तो स्वतः ही हो जाएगा। यह कहावत सोलह आना सत्य है कि 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' अतः साधक को अपनी शक्ति, अपनी साधना की शक्ति राग-द्वेष एवं कषाय रूप भाव लोक पर विजय पाने में लगानी चाहिए। साधक का एक मात्र यही ध्येय एवं लक्ष्य होना चाहिए। इसी बात की प्रबल प्रेरणा देते हुए सूत्रकार प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

मूलम्—जे गुणे से मूलठाणे, जे मूल ठाणे से गुणे। इति से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो-पुणो वसे पमत्ते

---

† रागो य दोसो व कम्म बीयं।

—उत्तराध्ययन ३२

तंजहा-माया मे, पिया मे, भज्जा मे पुत्ता मे, धूत्रा मे, राहुसा मे, सहिसयणसंगंथसंथुग्रा मे विवित्तुवगरणपरिवट्टणभोयणच्छा-यणं मे। इच्चत्थं गड्ढिए लोय वसे पमत्ते अहो य रात्रो य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाकारे णिणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं तंजहा ॥६३॥

छाया—यः गुणः स मूलस्थान यत् मूलस्थानं स गुणः। इति स गुणार्थी महता परितापेन पुन-पुनः वसेत् प्रमत्तः तद्यथा—माता मे, पिता मे,भर्ताः मे, भार्या मे, भगिनी मे, पुत्रा मे, दुहिता मे, स्नुषा मे, सखि-स्वजन संग्रन्थ संस्तुता मे क्षिववत्तोपकरण परिवर्तनभोजनाच्छादनं मे। इत्येवमर्थं गृद्धो लोकः वसेत् प्रमत्तः। अहश्च रात्रिश्च परितप्यमानः काला-कालसमुत्थायी, संयोगार्थी, अर्थलोभी, आलुम्प., सहमाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रं पुनः पुनः अल्पं च खलु आयुष्कमिहैकेषां मानवानां तद्यथा—

पदार्थ—जे—जो। गुणे—शब्दादि गुण हैं। से—वह। मूलठाणे—मूल स्थान—ससार का मूल कारण है। जे—जो। मूल ठाणे—मूल स्थान हैं। से—वह। गुणे—गुण हैं। इति—इस लिए। से—वह। गुणट्ठी—गुणार्थी विपयो का अभिलापी। महयापरियावेण—महान् परिताप एव दु'खो के अनुभव या सवेदन से। पुणो-पुणो—बार-बार। वसे पमत्ते—प्रमाद मे वसता है। प्रमाद राग-द्वेप रूप होता है, इसलिए सूत्रकार राग की उत्पादक सामग्री का निर्देश कर रहे हैं। तंजहा—जैसे कि। माया मे—मेरी माता है। पिया मे—मेरा पिता है। माया मे—मेरा भ्राता है। भइणी मे—मेरी बहिन है। भज्जा मे—मेरी पत्नी है। पुत्ता मे—मेरे पुत्र हैं। धूया मे—मेरी पुत्री है। ण्हुसा मे—मेरी पुत्र वधू है। सहिसयणसगंथसथुग्रा मे—मेरा सखा, स्वजन-स्नेही, मित्र का मित्र एव बार-बार मिलने वाला है। विवत्तुवगरणपरिवहण भोयणच्छायणं मे—मेरे उपकरण, भोजन-खाद्य-सामग्री एव वस्त्र आदि सुन्दर हैं। इच्चत्थ—इस प्रकार के अर्थों मे। गड्ढिए लोए—आसक्त व्यक्ति वसे पमत्ते—प्रमादी बनकर रहते हैं। अहो—दिन। य—और। राओ य—रात्रि मे। परितप्पमाणे—सर्व प्रकार से सतप्त होता हुआ। कालाकाल समुट्ठाई—समय और असमय

में अत्यन्तया रहने वाला। संजोगट्ठी—संयोग का अभिलाषी। अद्धालोभी—धन का लोभी। आलुंपे—धन अर्जन चोरी-डाका आदि कुकर्म करता है। सहसाकारे—बिना सोचे विचारे कार्य करने वाला। विविधिट्ठचित्ते—विभिन्न विषयों में जिसका मन संलग्न है। एत्थ—इन माता-पिता आदि परिजनों या शब्दादि विषयों में आसक्त बना व्यक्ति। सत्थे पुणो-पुणो—बार-बार शस्त्र से ६ काय की हिंसा करता है। च—और। खलु—निश्चय से। इह—इस संसार में। एगेसिं—कितने एक। माणवाणं—मनुष्यों का। अप्पं आउयं—अल्प आयुष्य है। तंजहा—जैसे कि।

मूलार्थ—जो शब्दादि गुण हैं वह मूल स्थान-कषाय रूप संसार का मूल कारण हैं और जो मूल स्थान हैं वही शब्दादि गुण हैं। इस तरह गुणार्थी विषयों का अभिलाषी व्यक्ति महान् परिताप एवं दुःखों का सम्वेदन करता हुआ बार-बार प्रमत्त होकर मोहरूप रागद्वेष रूप संसार में निवास करता है। और राग-द्वेष में आसक्त वह कहता है-कि यह मेरी माता है मेरा पिता हैं, मेरा भाई है, मेरी बहिन है मेरी पत्नी है, मेरा पुत्री है मेरी पुत्र वधू है मेरा मित्र स्वजन-स्नेहि एवं विशिष्ट परिचित है मेरे सुन्दर हाथी मोड ऐश्वर्य विपुल खाद्य सामग्री एवं वस्त्राभूषण हैं उक्त पदार्थों में आसक्त बना प्राणी रात दिन संतप्त रहता है, और काल या अकाल में अर्थात् प्रतिसमय अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए सावधान रहता है। वह धन का लोभी दूसरे का गला काटने या चोरी-डाका डालने जैसा दुष्कर्म करने एवं बिना सोचे समझे अविवेक और दुर्विचार पूर्वक कार्य करने में संकोच नहीं करने वाला तथा येन-केन प्रकारेण धन उपार्जन करना ही जिसका ध्येय बना हुआ है वह व्यक्ति बार-बार ६ काय की हिंसा के लिए विभिन्न शस्त्रों का प्रयाग करता है। और इस संसार में कई जीवों का आयुष्य बहुत थोड़ा होता है जैसे कि—

हिन्दी विवेचन

प्रथम अध्ययन में एक सूत्र आया है "जे गुणे से आवट्टे. . . अर्थात् जो गुण है वही आवर्त है। इस सूत्र की प्रस्तुत सूत्र के इस वाक्य से—जो गुण है वह मूल स्थान है और जो मूल स्थान है, वह गुण है—तुलना करते हैं, तो गुण

को आवर्त्त—ससार कहने का कारण स्पष्टत समझ मे आ जाता है। संसार का मूल कषाय है और कषाय आश्रय ये गुण हैं, अत एव गुण को संसार कहना उपयुक्त ही है। क्योंकि गुणों मे रम्यमान व्यक्ति के मन मे राग-द्वेष, कषाय एवं आसक्ति युक्त भावों से कर्म का वन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार के प्रवाह को प्रवहमान करने के लिए गति-प्रगति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण भी ससार के कारण हैं, इसलिए उन्हें आवर्त्त कहा गया है और वास्तव मे कषाय का आधार होने के कारण उन्हें आवर्त्त —ससार कहना उचित ही है।

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि गुणों के कारण आत्मा में तृष्णा, आसक्ति, कषाय एव राग-द्वेष आदि का उद्भव होता है और आत्मा ऐन्द्रिय राग–रग एवं भौतिक सुखों में सलग्न होता है, काय-भोग में प्रवृत्त होता है। यों साधारणत: काम-भोग शब्द का प्रयोग विषय-वासना की प्रवृत्ति के लिए किया जाता है और काम-भोग का एक दूसरे से भिन्न अर्थ न समझ कर उसे एकार्थक ही समझा जाता है वैषयिक दृष्टि से काम-भोग का इन्द्रियों एवं उनके विषय से सीधा संवन्ध होने से काम-भोग शब्दादि विषय रूप होने से एकरूपता के बोधक भी हैं। परन्तु इन्द्रियों एव उनके विभिन्नता के कारण काम-भोग भी अपना-अपना भिन्न एवं स्वतत्र अर्थ रखते हैं। कुछ ऐसे विषय हैं जिनके आकर्षण से इन्द्रियों में स्पन्दन-होता है, और आत्मा उनके द्वारा हर्ष एवं शोक का संवेदन भी करती है, इस प्रकार उक्त विषय से काम-वासना उद्बुद्ध होती है परन्तु वे इन्द्रियें उन विषयों के साथ सीधा उपभोग नहीं करती। और कुछ इन्द्रियें अपने विषयों के साथ सीधा भोगोपभोग करके ही वासना में प्रवृत्त होती हैं। इसी विभिन्नता की अपेक्षा से आगम मे श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय को कामी और शेष इन्द्रियों को भोगी कहा है। चक्षु एव श्रोत्र इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में इतनी पटु हैं कि उसका स्पर्श किए विना ही आत्मा को उसकी अनुभूति करा देती हैं, परन्तु शेष तीनों इन्द्रियें अपने–अपने विषयों का अपने साथ सीधा सवन्ध होने पर ही अथवा यों कहिए उनका भोग-उपभोग करके ही उन्हें ग्रहण करती हैं। इस अपेक्षा से काम–भोग भिन्न अर्थ बोधक दो विषय हैं।

कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि काम-भोग में होने वाली प्रवृत्ति राग द्वेष जन्य होती है। इस कारण विषय-वासना में आसक्ति वढ़ती है और उससे ससार सवन्ध प्रगाढ होता है और आत्मा की गति साधनाभिमुख हो जाती है और वह सासारिक सुख-साधनों, भोगोपभोगों को वढाने तथा ससार संवन्धों में इतनी

आसक्त मन आती है कि अपने एवं प्राणीजगत के हिताहित को भूल कर दुष्कर्म में प्रवृत्त होते जरा भी संकोच नहीं करती। इतिहास साक्षी है और हम स्वयं देखते हैं कि व्यक्ति जब अपने स्वार्थ में केन्द्रित होता है तब कितना अनर्थ कर बैठता है। आज राष्ट्र में व्याप्त रिश्वत चोर-बाजारी एवं लूट-खसूट आदि की घटनाएं तथा छल-कपट धोखा और विश्वास घात करने के षड्यन्त्र स्वार्थी मनोवृत्ति के ही परिणाम हैं। इसी बात को सूत्रकार ने "अद्दालोभी आलुपे सहसाकारे विनि-विट्ठ चित्ते " वाक्य से स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य धन के पीछे इतना पागल एवं उन्मत्त बन जाता है कि वह भयंकर से भयंकर पाप को करने के लिए उद्यत हो जाता है। उस समय वह उसके दुःखद परिणाम की ओर से आंख मूंद कर पाप के प्रज्वलित दावानल में कूद पड़ता है।

वह पाप कार्य में निमज्जित व्यक्ति सदा अपने परिवार में आसक्त रहता है और अपने व्यक्तिगत एवं परिवारगत स्वार्थों को साधने के लिए विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। वह कहता है कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है तथा इसके साथ मेरा भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री पुत्रवधू या स्वजन-स्नेही का संबन्ध है। ये मेरे प्रिय हैं, दुःख-सुख के साथी हैं, ऐसा समझ कर प्रमादी व्यक्ति विभिन्न शस्त्रों एवं विभिन्न उपायों एवं षड्यन्त्रों से अनेक प्राणियों को परिताप देता है, कष्ट देता है तथा उनके धन-वैभव एवं प्राणों को लूटता है। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वार्थ धन प्राप्ति तथा परिजनों में आसक्त होकर पापों में प्रवृत्त होता है, और उसके परिणाम स्वरूप भविष्य में मनुष्य बनकर भी अल्प आयु में ही मर जाता है। यदि दीर्घ आयु भी प्राप्त कर ली, तो भी उस का जीवन सुख-शांति से व्यतीत नहीं होता। उसका जीवन अन्य के लिए तो क्या, उसके स्वयं के लिए बोझिल हो जाता है। वह रात-दिन संकटों के झूले में झूलता रहता है। उसे किस प्रकार के दुःखों का संवेदन करना पड़ता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिक्कंतं च खलु वयं स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति ॥६४॥

छाया—श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षु परिज्ञानैः परिहीयमानैः घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसनापरिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शपरिज्ञानैः परिहीयमानैः अभिक्रान्तं च खलु वयः सम्प्रेक्ष्य ततः (सः) तस्य एकदामूढ़ा भावं जनयति ।

पदार्थ—सोयपरिण्णाणेहिं—श्रोत्र परिज्ञान के। परिहायमाणेहिं—सर्वत हीन होने पर । चक्खु परिण्णाणेहिं—चक्षु परिज्ञान के। परिहायमाणेहिं—हीन होने पर। घाणपरिण्णाणेहिं-घ्राण परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर। रसपरिण्णाणेहिं–रस परिज्ञान के। परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । फासपरिण्णाणेहिं—स्पर्श परिज्ञान के। परिहायमाणेहिं—हीन होने पर। च—और। खलु—निश्चय ही । वय—यौवन वय। अभिकत—अभिक्रान्त हो गया–बीत गया है, तब फिर। सपेहाए—विचार कर देखा जाए तो। से—वह प्राणी। तओ—तत्पश्चात्—इन्द्रिय परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवन वय के निकल जाने से । एगदा—वृद्धावस्था में प्रविष्ट होने पर। मूढ़ भाव—मूढ भाव को। जणयति—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—सदा पाप कार्यों मे प्रवृत्तमान जीव श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय जन्य परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर एव वृद्धावस्था मे प्रविष्ट होते हो मूढभाव को प्राप्त हो जाता है ।

हिन्दी विवेचन

जीवन जन्म और मृत्यु का समन्वित रूप है। अपने कर्म के अनुसार जब से आत्मा जिस योनि में जन्म ग्रहण करती है, तब से काल उसके पीछे लग जाता है और प्रतिसमय वह मृत्यु के निकट पहुचता है, या यों कहना चाहिए कि उसका भौतिक शरीर प्रतिक्षण पुराना होता रहता है। यह ठीक है कि उसमे होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को हम अपनी आखों से स्पष्टत देख नहीं पाते, कुछ स्थूल परिवर्तनों को ही देख पाते हैं और इसी अपेक्षा से हम जीवन को चार भागों मे बाट कर चलते हैं— १-बाल्य काल, २-यौवन काल, ३-प्रौढ़ अवस्था और ४-वृद्धावस्था ।

बाल्य काल जीवन का उदयकाल है। यौवन काल मे जीवन में शक्ति का विकास होता है मनुष्य भला या बुरा जो चाहे सो कर गुजरने की शक्ति रखता है। प्रौढ अवस्था मे आकर शक्ति का विकासस्रोत रुक जाता है। धीरे-धीरे

शक्ति इन्द्रियबल से निर्बल होने लगता है। यहीं से वृद्धावस्था का प्रारंभ हो जाता है। यह जीवन का जीर्ण-शीर्ण रूप है, इस काल में शक्ति का, स्वास्थ्य का, इन्द्रियों का, शरीर का अर्थात् यों कहिए जीवन के सभी बाह्य अवयवों का ह्रास होने लगता है। कान आंख नाक, जिह्वा और त्वचा की शक्ति कमजोर हो जाती है। इन इन्द्रियों को अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में भी कठिनाई होने लगती है। बूढ़े का जीवन निर्वाह भी कठिन एवं बोझिल हो जाता है। वह अपने जीवन से तंग होकर दुःख एवं संक्लेश का अनुभव करने लगता है। वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए भर्तृहरि ने बहुत ही सुंदर कहा है—

"गात्रं संकुचितं, गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशंगताः
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नि न शुश्रूषते ।
धिक्कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोप्यवज्ञायते ॥"

अर्थात्—वृद्धत्व के आते ही शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, पैर लड़खड़ाने लगते हैं, दांत गिर जाते हैं, दृष्टि कमजोर पड़ जाती है या नष्ट हो जाती है, रूप-सौन्दर्य का स्थान कुरूपता ले लेती है, मुख से लार टपकने लगती है, स्वजन-स्नेही उसके आदेश का पालन नहीं करते, पत्नी सेवा-शुश्रूषा से जी चुराती है पुत्र भी उसकी अवज्ञा करता है। कवि कहता है कि ओह! इस वृद्धत्व के कष्ट का क्या पार है? धिक्कार है, इस जरा ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने वृद्धावस्था के इसी चित्र को उपस्थित किया है। इस अवस्था में शारीरिक शक्ति एवं इन्द्रिय बल इतना क्षीण हो जाता है कि व्यक्ति अपने एवं परिजनों के लिए बोझ रूप बन जाता है। और प्रायः इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मूढ़भाव को प्राप्त हो जाते हैं अथवा इसके प्रहारों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उस में कर्तव्य-अकर्तव्य का भी विवेक नहीं रह जाता है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है फिर इसमें वृद्धावस्था के आने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों का ज्ञान मन्द क्यों हो जाता है? क्या ज्ञान अवस्था के अधीन रहता है? यदि ऐसा नहीं है, तो ज्ञान की बोधकता शिथिल क्यों हो जाती है?

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसका—संसारी आत्मा के ज्ञान का अवस्था के साथ नहीं, कर्म के साथ संवन्ध है। हम देखते हैं कि कुछ वालकों मे ज्ञान का इतना विकास होता है कि युवक एवं प्रौढ़ व्यक्ति भी उनकी समानता नहीं कर सकते हैं। कुछ वृद्धों मे जीवन के अतिम क्षण तक ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है और कुछ युवक एवं प्रौढ़ व्यक्तियों मे भी ज्ञान का विकास वहुत ही स्वल्प दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान का विकास अवस्था के अधीन नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित है। चाहे वाल्यकाल हो, युवाकाल हो या वृद्धावस्था का अन्तिम चरण हो, जितना ज्ञानवरणीय कर्म का अधिक या कम क्षयोपशम होगा, उसी के अनुरूप आत्मा में ज्ञान की ज्योति का परिदर्शन होगा। अस्तु ज्ञान की स्वल्पता या विशेषता मे जो विचित्रता देखी जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता एवं अधिकता के आधार पर ही स्थित है।

दूसरा प्रश्न इन्द्रियों से सवद्ध है। इसमे इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रियों का नहीं। वह सदा आत्मा के साथ रहता है। इन्द्रियों के अभाव मे भी ज्ञान का अस्तित्व वना रहता है। अत॰ ज्ञान का इन्द्रियों के साथ सीधा संवन्ध नहीं है। फिर भी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है? इसका कारण यह है कि ये छद्मस्थ अवस्था मे ज्ञान के साधन हैं, निमित्त हैं। क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का इतना आवरण छाया रहता है कि वह विना किसी साधन के किसी पदार्थ का वोध नहीं कर सकती। वह मति और श्रुतज्ञान के द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान करती है और उक्त दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें आगम में परोक्ष ज्ञान कहा गया है। क्योंकि ये इन्द्रियों के आधार पर आधारित हैं। अत. छद्मस्थ अवस्था मे जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उतना ही आत्म ज्ञान का विकास होता है। जैसे साधारणत मति और श्रुत ज्ञान मे इन्द्रिय सहयोग की अपेक्षा रहती है, परन्तु उसकी विशेष अवस्था जाति–स्मृति ज्ञान में अपने निरन्तर सन्नी पञ्चेन्द्रिय के किए हुए भवों को देखने-जानने में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती। और अवधि ज्ञान एव मन पर्यव ज्ञान युक्त व्यक्ति इन्द्रियों की सहायता के विना ही मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों एवं सन्नी पञ्चेन्द्रिय के मनोगत भावों को जान-देख लेता है। जव व्यक्ति अपनी आत्मा पर आच्छादित ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है, तो फिर वह संसार के समस्त

पदार्थों को और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को अपने आत्म ज्ञान से स्पष्ट देखने जानने लगता है। इन्द्रियों का अस्तित्व रहते हुए भी उसे उनके सहयोग की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इससे स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियों का सहयोग मति और श्रुतज्ञान तक ही अपेक्षित है और ये इन्द्रियें जानने के साधन मात्र हैं।

इन्द्रियें पांच मानी गई हैं— १ श्रोत्र २ चक्षु, ३ घ्राण, ४ रसना और ५ स्पर्श इन्द्रिय। द्रव्य और भाव इन्द्रिय की अपेक्षा से प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो भेद किए गए हैं। द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप से है तथा भाव इन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप से है†। इन्द्रियों के बाह्य आकार को द्रव्य इन्द्रिय कहते हैं और उसके अन्दर जो देखने सुनने, सूंघने आदि की जो शक्ति है उसे भाव इन्द्रिय कहते हैं, वह लब्धि एवं उपयोग रूप में रहती है। उसके होने पर ही आत्मा इन द्रव्येन्द्रियों से पदार्थों का ज्ञान करती है। भाव इन्द्रिय के अभाव में द्रव्येन्द्रिय कोई कार्य नहीं कर सकती। आंख और कान का आकार तो बना हुआ है, परन्तु उसके साथ भाव इन्द्रिय नहीं है या लब्धि एवं उपयोग आवृत्त हो गया है, तो उस आंख एवं कान के आकार से न देखा जा सकता है और न सुना जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों की पटुता एवं मूढ़ता क्षयोपशम के आधार पर स्थित है।

यह स्पष्ट है कि इन्द्रियें जड़ हैं। और जड़ होने के कारण शरीर के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन आता है। वृद्धावस्था में शरीर के साथ ये भी जीर्ण हो जाती हैं और चेतना के निकलने के बाद निष्प्राण शरीर की तरह इनका भी कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अतः समय के साथ इनमें भी परिवर्तन आता है, इनकी शक्ति भी क्षीण होती है। परन्तु, इतना अवश्य है कि यदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अधिक है, तो उसको इन्द्रियें जीर्ण होने पर भी पदार्थों का बोध करने में पटु ही रहेगी और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कम है तो युवा काल में भी उनकी ग्रहण शक्ति कमजोर दिखाई देगी। हम देखते हैं कि बहुत से वृद्ध व्यक्ति बिना ऐनक लगाए ही अच्छी तरह देख लेते हैं, उनकी सुनने, सूंघने आदि की शक्ति में भी कमी दिखाई नहीं देती है और कई युवक भी ऐसे देखे जाते हैं कि वे बिना ऐनक के देख ही नहीं सकते। अतः द्रव्य इन्द्रियों के शिथिल होने पर भी उनमें अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षयोपशम पर आधारित है।

यह हम पीछे के उद्देशकों में देख चुके हैं कि हिंसा एवं आरम्भ समारम्भ में आसक्त रहने से पाप कर्म का बन्ध होता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों

†प्रज्ञापना १, पद १५, उ० १ २ और तत्त्वार्थ सूत्र, २, १६-१८।

से आत्मा आवृत्त होती है और फल स्वरूप इन्द्रियों मे ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और वह मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाती है। हम यह स्वयं देखते हैं कि जब मनुष्य की इन्द्रियें ठीक तरह काम नहीं करती है, मस्तिष्क मे चिन्तन शक्ति कम रह जाती है, तब उसे कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नहीं रहता है और यह सारी स्थिति कर्मोदय पर आधारित है। अत जो व्यक्ति विषयों मे आसक्त होकर परिजनों के व्यामोह मे फसता है, उनमे आसक्त होकर अपने एव परिजनों के स्वार्थ के लिए विभिन्न पाप कार्यों मे प्रवृत्त होता है, वह व्यक्ति पाप कर्म का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप वृद्धवस्था मे उसकी इन्द्रिए शिथिल हो जाने से वह मूढ़ता को प्राप्त होता है।

ऐसी अवस्था मे जिन परिजनों के लिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्त हुआ था, वे भी उससे दूर होकर किस तरह उसकी निन्दा करने लगते हैं, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जेहिं वा सद्धिं संवसति तेऽवि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते णियए पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा, से ण हासाय, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए ॥६५॥

छाया—यैः वा सार्द्धं संवसति तेऽपि एकदा निजकाः (आत्मीयाः) पूर्वं परिवदन्ति सोऽपि तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत्—नाल ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि तेषां नाल त्राणाय वा, शरणाय वा, सः न हास्याय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै।

पदार्थ—**वा**—यह शब्द पक्षान्तर या भिन्न क्रम का द्योतक है। **जेंहि**—जिनके। **सद्धिं**—साथ। **सवसति**—रहता है। **तेऽवि**—वे पत्नि-पुत्र आदि। **ण**—वाक्यालकार मे। **एगदा**—वृद्धावस्था आने पर। **णियगा**—स्वजन-स्नेही। **पुव्वि**—जिनका पहले पालन-पोषण किया था वे। **परिवयंति**—उस वृद्ध का तिरस्कार करते हैं, उसके मरने की प्रतीक्षा करते हैं। **सोऽवि**—वह वृद्ध भी। **ते णियए**—उन सबन्धियो की। **पच्छा**—पीछे से। **परिवएज्जा**—निन्दा करता है, भले ही किसी कारण से स्वजन-सबन्धी तिरस्कार न करे, तब भी। **ते**—

से सम्बन्धी। तव — तेरे। ताणाए — त्राण के लिए। वा सरणाए — अथवा शरण के लिए। वा — परस्पर या योजक है। नालं — समर्थ नहीं होते हैं, और। तुमंपि — तू भी। तेसिं — उनके। ताणाए — त्राण के लिए। वा सरणाए — अथवा शरण के लिए। नालं — समर्थ नहीं है। वा — पक्षान्तर में। से — वह वृद्ध। न हासाय — न तो हास्य विनोद करने योग्य रहता है। न किड्डाए — न क्रीडा करने योग्य रहता है। न रतीए — न भोग-विलास करने योग्य होता है। न विभूसाए — न विभूषा करने योग्य होता है, वह परिजनों के साथ किसी भी तरह के सांसारिक आनन्द लेने योग्य नहीं रहता है, परिजनों के लिए वह एक तरह से निरर्थक हो जाता है।

मूलार्थ—यह जीव जिन परिजनों के साथ रहता है और जिसने विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त हो कर परिवार का परिपोषण किया था, वही व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है, तो परिजन उसकी निंदा करने लगते हैं, तिरस्कार जन्य शब्दों का प्रयोग करते हैं और उनके कटु वचन एवं व्यंग सुनकर वह वृद्ध भी उनसे घृणा करने लगता है उनके चले जाने के बाद पीछे से उनकी निंदा करता है। भले ही कोई परिजन निंदा या तिरस्कार न भी करे, तब भी उस वृद्धत्व के दुःख एवं संकट से कोई भी परिजन उसका त्राण करने उसे शरण देने में समर्थ नहीं है और वृद्धावस्था में व्यक्ति हास्य-विनोद करने क्रीडा विभिन्न खेल खेलने, भोग विलास करने एवं शृंगार-विभूषा करने के योग्य भी नहीं रह जाता है। वह किसी भी तरह के सांसारिक सुखोपभोग के योग्य नहीं रह जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वृद्धावस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। इस में बताया गया है कि जीवन सदा एक-सा नहीं रहता है। आयु में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और उसमें विभिन्न तरह के अनुभव एवं परिस्थितियें सामने आती हैं। व्यक्ति जिन पर पूरा विश्वास करता था और जिनके लिए अपना धर्म-कर्म भूलाकर सब कुछ करने को तत्पर रहता था, समय आने पर वे किस तरह बदल जाते हैं तथा उनके जीवन व्यवहार को देखकर तथा अपनी असहाय अवस्था का अवलोकन कर वृद्ध के मन में अपने परिजनों के प्रति जो भाव उद्बुद्ध होते हैं, प्रस्तुत सूत्र में उनका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

हम प्रत्यक्ष मे देखते हैं कि मनुष्य वृद्ध होने के बाद प्राय. बोझ रूप बन जाता है। जब तक उसके शरीर मे शक्ति रहती है, तब तक परिजन भी उसका आदर-सम्मान करते है, सदा उसकी सेवा-शुश्रूषा मे लगे रहते हैं। यह आदर-सम्मान एव सेवा-भक्ति उस व्यक्ति की नहीं, अपितु उससे पूरा होने वाले स्वार्थ की होती है। जब तक उसके द्वारा धन-सपत्ति के ढेर लगते रहते हैं, सुख साधनों मे अभिवृद्धि होती रहती है, तब तक उसके गुणों के गीत गाए जाते रहते हैं। परन्तु प्राय शारीरिक शक्ति के क्षीण होते ही सारी स्थिति बदल जाती है, सुनहरा अतीत कालुष्य के वर्तमान में परिवर्तित हो जाता है। अब उसे यह विचार सत्य प्रतीत होने लगता है कि "दुनिया मे काम प्रिय है, चाम नहीं" अर्थात् जब तक काम करो तब तक ही दुनिया का प्यार-स्नेह मिलता है, फिर नहीं।

इस तरह दुनिया के अधिकाश सबध स्वार्थ की भीति पर आधारित हैं। व्यक्ति अनेक पाप कार्य करके अपने परिवार का इस भावना से पालन-पोषण करता है कि वृद्धावस्था मे इनसे मुझे सुख मिलेगा। परन्तु उस अवस्था के आते ही वे परिजन उसके लिए सक्लेश का कारण बन जाते हैं और वह उनके लिए बोझ रूप बन जाता है। क्योंकि, वृद्धावस्था मे शरीर की पर्याय बदल जाती है, शरीर की शक्ति एवं तेज घट जाता है। मानसिक सहिष्णुता भी कम हो जाती है, बात-बात पर बिगड़ने लगता है। खासी से सारे घर के वातावरण को अशात कर देता है, जगह-जगह कफ एव खखार थूक-थूक के कमरे को एव आने जाने के मार्ग को गन्दा बना देता है। ये सारी स्थितिए लडकों एव पुत्र-वधुओं के लिए भयावनी बन जाती हैं। उनका सारा समय बूढे के द्वारा यत्र-तत्र बिखेरे गए कफ आदि को साफ करने में ही बीत जाता है। इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता। उसकी नित नई मागों एव आकाक्षाओं से तो वे परिजन चितित से हो जाते हैं। उसकी इन्द्रिएं शिथिल पड जाती हैं, शरीर जर्जरित हो जाता है, पर एक वस्तु अब भी क्षीण नहीं होती, बल्कि उसकी शक्ति अधिक प्रबल हो उठती है, वह है—तृष्णा, आकाक्षा, लालसा। इस अवस्था में भी उसकी अभिलाषा बढती ही रहती है। आचार्य शकर ने भी कहा है—"केश पककर के श्वेत हो गए, शरीर के सारे अग जीर्ण-

‡अंगं गलित पलित मुण्डम्, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धोयाति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चति आशा पिण्डम्॥
भज गोविन्द, भज गोविन्दम्! भज गोविन्द, मूढमते!!

भज गोविन्द स्तोत्र, श्लोक १४ (आचार्य शकर)

शीर्ण एवं शिथिल हो गए, मुंह में एक भी दांत नहीं रहा और लकड़ी के सहारे के बिना न खड़ा रह सकता है और न गति ही कर सकता है, फिर भी उसकी तृष्णा-आशा एवं अभिलाषा अभी भी शांत नहीं हुई, अपितु अपरिमित है। वह अभी भी तृष्णा की ज्वाला में जल रहा है*।

उसकी शारीरिक विकृतियों एवं आशा–आकांक्षाओं तथा खाने-पीने की नित्य नई मांगों से परिजन घबरा जाते हैं और वे दुःखित मन से उसकी मरण समय की प्रतीक्षा करते हैं। प्रतीक्षा ही नहीं, अपितु भगवान से प्रार्थना भी करते हैं कि इस बूढ़े को जल्दी उठा ले। इस प्रकार स्वार्थ समाप्त होते ही वह वृद्ध बोझ रूप प्रतीत होने लगता है। घर में उसका कोई विशेष आदर-सम्मान नहीं करता और न उसकी बात पर विशेष ध्यान ही दिया जाता है। अपने ही घर में अपनी यह स्थिति देखकर उसे दुःख एवं वेदना होती है। परन्तु परिजनों के सामने कुछ कहने का साहस नहीं होता और कहे भी तो उससे कुछ बनता नहीं। इसलिए वह उनके चले जाने के बाद उनकी निन्दा करके अपना दिल हल्का कर लेता है।

इस तरह पाप में प्रवृत्तमान व्यक्ति वृद्धावस्था के आने पर दुःखी हो जाता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान में संलग्न होकर संसार को और अधिक बढ़ा लेता है। परन्तु उस समय उसका कोई संरक्षक नहीं होता। न धन उसका संरक्षण कर सकता है और न परिवार ही। कुछ परिजन ऐसे भी मिल सकते हैं कि वे उसे बोझ रूप समझकर उसकी सेवा–शुश्रूषा करते हैं, उसे आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वे भी उसे वृद्धावस्था के दुःखों से बचा नहीं सकते और न उसे अपनी शरण में लेकर उस दुःखों से निर्भय ही कर सकते हैं†। यदि उसे कोई शरण देने वाला है, तो केवल एक धर्म है। धर्म की शरण में जाने के बाद फिर जरा और मरण का प्रवाह सूखने लगता है अर्थात् वह इन दुःखों से मुक्त हो जाता है†। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह धन, यौवन, भोग-विलास एवं परिवार में आसक्त नहीं बने और अपने एवं पारिवारिक स्वार्थ को पूरा करने के लिए रात-दिन पाप कार्यों में प्रवृत्त न रहे।

---

*दुःख एवं आपत्ति से बचाने की त्राण कहते हैं और अपनी शरण में लेकर उस दुःख से निर्भय कर देने की स्थिति को शरण कहते हैं।

†जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥

उत्तराध्ययन २३ ६८

प्रस्तुत सूत्र मे अशरण भावना का वर्णन किया गया है। वृद्धावस्था का चित्र चित्रित करके यह बताया गया है कि ससार मे दुःख एव विपत्ति के समय कोई किसी को शरण नहीं देता। इसलिए व्यक्ति को उस समय आर्त-रौद्र ध्यान मे न पड़कर अपने आत्म चिन्तन मे लगना चाहिए और समय पर किसी की शरण मे न जाना पडे इसके लिए पहले से ही सावधान होकर गति करनी चाहिए इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पाप कार्य से सदा दूर रहना चाहिए, विवेक एवं सयम के साथ कार्य करना चाहिए। क्योंकि सयम एव धर्म ही सच्चा साथी है, सहायक है एव शरण देने वाला है।

परन्तु उन धर्मयुक्त व्यक्तियों का जीवन कैसा होना चाहिए? इस लिए उन के प्रशस्त आचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं सपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं व॥६६॥

छाया—इत्येवं समुत्थितः अहो विहराय, अन्तरं च खलु इदं सप्रेक्ष्य धीरः मुहूर्तमपि नो प्रमादयेत् वयोऽत्येति यौवन च (अत्येति)।

पदार्थ—इच्चेवं—इस प्रकार। अहोविहाराए—सयम अनुष्ठान के लिए। समुट्ठिए—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। इमं च खलु—और इस अवसर को। सपेहाए—भली-भाति सोच-विचार कर। धीरे—धैर्यवान् व्यक्ति को। मुहुत्तमवि—मुहूर्त्त मात्र भी। णो पमायए—प्रमाद नही करना चाहिए। व—अथवा, प्रमाद इसलिए नही करना चाहिए, क्योकि। वयो—बाल्य काल। अच्चेई—बीत रहा है, और। जोव्वण—यौवन भी बीत रहा है।

मूलार्थ—इस प्रकार त्राण एव शरण का सम्यक्तया विचार करके मुमुक्षु पुरुष को सयमानुष्ठान के लिए उद्यत होना चाहिए क्योकि बाल्य एव यौवन काल निरतर बीत रहा है, इस लिए सयम मे मुहूर्त्त मात्र भी अर्थात् थोडाभी प्रमाद नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

जीवन परिवर्तनशील है, प्रवाहमय है। वह सदा एक-सा नहीं रहता है। प्राय चिन्ताओं, उलझनों से युक्त, सहज, स्वाभाविक और सुखद बाल्यकाल एव यौवन का सुनहरा प्रवाह वह निकलता है और बुढ़ापे की कालिमा उसे आ घेरती

है। अतः उस समय कोई भी स्नेही-साथी उसके दुःख को दूर करने या बंटाने में समर्थ नहीं होता। इस बात को सम्यक्तया जानकर, समझकर विवेकशील व्यक्ति को धर्म एवं साधना पथ पर गति करने में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवन में धर्म ही एक मात्र सहायक है। क्योंकि धर्म से पाप कर्मों का नाश होता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ज्योति प्रज्वलित होती है, चिन्तन-मनन में स्थिरता आती है, आचार में तेजस्विता आती है। इससे संकल्प-विकल्प का वेग कम होता है, आर्त-रौद्र ध्यान की धारा धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान में बदल जाती है। इससे आत्मा में अपूर्व तेज एवं शक्ति की अनुभूति होती है और आत्मा सारे दुःखों एवं वेदनाओं से ऊपर उठकर आत्म सुख के अनन्त आनन्दमय झूले में झूलने लगती है। दुःख की तप्ती दुपहरियों में भी वह आत्म सुख की शीतल, सरस, सघन एवं सुन्दर कुञ्ज में विहार करती है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य को जीवन की अस्थिरता को भली-भांति जान कर वृद्धावस्था आने से पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और जरा एवं मृत्यु के शत्रुओं को परास्त करने के लिए अहिंसा सत्य आदि आध्यात्मिक शस्त्रों को प्रखर एवं तीक्ष्ण बनाने के लिए अनवरत जागृत रहना चाहिए अथवा संयम साधना में क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिए*।

यह हम देख चुके हैं कि वृद्धावस्था में शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। उस समय जीवन संबन्धी अनेक चिन्ताएं एवं अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियें उसे घेरे रहती हैं, ऐसे समय में उसका मन चिन्तन-मनन एवं धर्म साधना में लगना कठिन है। उस समय वह जीवन की चिन्ताओं के बोझ से इतना दब जाता है कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। इसलिए सर्वज्ञों ने मानव को सावधान करते हुए कहा है कि उसे धर्म एवं साधना करने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए†। क्योंकि किसे पता है कि कौन सा समय, कौन सा क्षण उसके लिए काल के रूप में आ उपस्थित हो। अतः मनुष्य को आने वाले प्रत्येक समय को काल का, मृत्यु का दूत समझ कर उसे सफल बनाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

---

*समयं गोयम ! मा पमायए। —उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १

† जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥

—दशवैकालिक सूत्र ८,३६

प्रस्तुत सूत्र में इसी मूल स्थान की ओर निर्देश किया गया है कि उसे पूर्व जन्म के पुण्य एवं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से जो आर्य क्षेत्र, शुद्ध आचारयुक्त कुल एवं सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप धर्म साधन उपलब्ध हुए हैं, आत्म विकास मे उनका उपयोग करने में उसे प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यौवन एक तरह से कल्प वृक्ष है, वह सब कामनाओं को पूरी करने मे समर्थ है। इससे अर्थ और काम रूप विष भी प्राप्त किया जा सकता है और धर्म एव मोक्ष रूप अमृत भी और दोनों के परिणाम दुनिया के सामने हैं। बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो विष की ज्वाला से अपने आपको बचाते हुए धर्म पथ पर गति करता है। यदि कभी वह अर्थ और काम के पथ पर बढ़ता है, तब भी धर्म और मोक्ष की भावना को साथ लेकर गति करता है, यों कहना चाहिए कि उसका भोग त्याग प्रधान होता है। काम की अधेरी गुफा मे भी धर्म एव त्याग का प्रकाश लेकर प्रविष्ट होता है, तो वहा भी मार्ग पा लेता है। अस्तु इस यौवन के सुनहरे क्षणों को व्यर्थ न खोकर, मनुष्य को अप्रमत्तभाव से धर्म में सलग्न रहना चाहिए।

आत्म ज्ञान का प्रकाश मनुष्य को इधर-उधर की ठोकरों से बचाता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञान से शून्य होकर काम-वासना में सलग्न रहते हैं, वे विषय-वासना के विहड़ एव भयावने जंगल में भटक जाते हैं। वे पथ भ्रष्ट व्यक्ति अनेक दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होकर जीवन के सुनहरे समय को यों ही वर्बाद कर देते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जीविए इह जे पमत्ता से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पित्ता, विलुम्पित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मरणमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा ॥६७॥

छाया—जीविते इह ये प्रमत्ताः, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयिता, विलुम्पयिता, अपद्रावयिता, उत्त्रासकः, अकृतं करिष्यामीति मन्यमानः यैः वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजका तं पूर्वमेव पोषयन्ति स वा तान्निजकान्

परचात् पोषयत् । नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वमपि तेषां त्राणाय वा शरणाय वा ।

पदार्थ—इह—इस संसार में। जीविए—असंयम जीवन में। जे—जो। पमत्ता—प्रमत्त है। से—वह-अर्मयत व्यक्ति। हंता—जीवों को मारता है। छेत्ता-भेत्ता—जीवों के अङ्गोपांग का छेदन-भेदन करता है। लुंपित्ता—गंठि आदि काटता है। विलुंपित्ता—पूरे परिवार या गांव आदि की घात-हत्या करता है। उद्दवित्ता—विष या किसी शस्त्र से जीवों की हत्या करता है। उत्तासइत्ता—पत्थर आदि मारकर प्राणियों को संत्रस्त करता है। अकडं करिस्सामित्ति—धन-ऐश्वर्य एवं सुख साधनों को प्राप्त करने के लिए वह काम मैं करूंगा जो कार्य अन्य किसी ने न किया हो। मन्नमाणे वा— ऐसा मानता हुआ वह सब हिंसाजन्य कर्म में प्रवृत्त होता है। जेहिं—जिनके। सद्धिं—साथ। संवसति—रहता है। ते वा—वे व्यक्ति ही। णं—वाक्यालंकार अर्थ में। एगया—धन-संपत्ति के नाश होने पर। नियगा—स्वजन-स्नेही। पुव्विं—पहले ही। तं—उसको। पोसेंति—पोषण करते हैं। वा—अथवा। सो—वह। ते—उन। नियगे—परिजनों को। पच्छा—पश्चात् पोषण करता है, किन्तु। ते—वे। तव—तेरे। ताणाए—आपत्ति से बचाने के लिए। वा—अथवा। सरणाए—भय रहित करने के लिए। नालं—समर्थ नहीं हैं। वा—यह परस्पर अपेक्षा का द्योतक है। तुमपि—तू भी। तेसिं—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण के लिए। नालं—समर्थ नहीं है। वा—यह शब्द पारस्परिक अपेक्षा का द्योतक है।

मूलार्थ—इस संसार में जो जीव असंयमय जीवन व्यतीत करने वाला है वह प्रमत्त कहा जाता है। प्रमत्त जीव ही अन्य जीवों को मारता है छेदन करता है भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्राणियों का नाश करता है, त्रास देता है, आज पर्यन्त जो काम किसी ने नहीं किया, वह मैं करूंगा। इस प्रकार मानता हुआ अर्थोपार्जन करने के लिए जीवों के हनन आदि में प्रवृत्त होता है।

जिन के साथ वह निवास करता है, वे सम्बन्धी रोगादि से ग्रस्त हुए उसका पोषण करते हैं। तत्पश्चात् रोगादि से निवृत्त हुआ वह धनादि के द्वारा उन अपने सम्बन्धियों का भी पोषण करता है। तथा भगवान कहते हैं कि-हे मनुष्य! पोष्य और पोषक व तेरे सम्बन्धी भी जरामरणादि से

तेरी रक्षा करने मे समर्थ नही हो सकेंगे और न ही तू उनके त्राण और शरण के लिए समर्थ हो सकेगा।।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे असंयमी, विषयाभिलाषी एव प्रमत्त व्यक्तियों के जीवन का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति अपने भोगोपभोगों के साधनों को जुटाने के लिए अनेक प्राणियों का छेदन-भेदन करते हैं एव अनेक प्राणियों के धन-वैभव पर हाथ साफ करते हैं। इस प्रकार वे लूट-खसूट एवं छल-कपट आदि विभिन्न उपायों से प्राणियों को त्रास देकर भोग-विलास मे सलग्न रहते हैं। उनके इस कार्य मे परिजन भी सहयोगी बन जाते हैं। जब वह व्यक्ति बीमार या कार्य करने मे असमर्थ हो जाता है, तो वे परिजन उसका पोषण करते हैं। क्योंकि उसके सहारे पर ही इनका भोग-विलास चलता है। इस लिए वे उसे स्वस्थ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करते हैं। और वह प्रमादी व्यक्ति भी रात-दिन उनका पोषण करने में लगा रहता है। इस प्रकार परस्पर सहयोग के द्वारा एक-दूसरे के पाप कार्यों को प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु जब मृत्यु सिर पर आकर खड़ी होती है, उस समय ससार का कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकता और न उसे अपनी शरण मे लेकर मृत्यु के भय से मुक्त या निर्भय ही कर सकता है। उस समय मे उस प्रमादी व्यक्ति के परिजन उसकी तनिक भी सहायता नहीं कर पाते हैं और न ऐसे समय में वह ही अपने परिजनों का सहयोगी बन सकता है। अत इसका निष्कर्ष यह निकला कि संसार में कोई भी व्यक्ति किसी को शरण नहीं दे सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी व्यक्तियों के लिए एक वचन का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि प्रमत्त जाति सामान्य की अपेक्षा से सभी प्रमादी व्यक्तियों का एक ही जाति के रूप मे वर्णन किया गया है। व्यवहार मे भी हम जाति विशेष के लिए एक वचन का ही प्रयोग करते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि काल की कराल चपेट से कोई भी व्यक्ति बचाने में समर्थ नहीं है। उस समय परिवार भी उससे किनारा कर लेता है। ऐसी स्थिति में धन-वैभव उसके क्या काम आ सकता है? जब चेतन व्यक्ति भी उसे काल से बचाने में समर्थ नहीं है, तो जड़ द्रव्य उसे क्या सहारा दे सकता है? अथवा कुछ भी सहारा नहीं दे सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवाइयसेसेण वा संनिहिसंनिचयो किज्जइ, इह मेगेसिं असंजयाणं भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिहरिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ॥६८॥

छाया—उपादित शेषेण वा सन्निधिसन्निचयः क्रियते इहैकेषामसंयतानां भोजनाय क्रियते ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते, यैः वा सार्द्धं संवसति त एकदा निजकाः तं पूर्वं परिहरन्ति स वा तान् निजकान् पश्चात् परिहरेत्, नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा।

पदार्थ—उवाइयसेसेण—उपभोग-व्यय करने के पश्चात् जो अवशेष बचा हुआ वा—अथवा उपभोग में नहीं आया हुआ जो धन है उसका। इह—इस संसार में एगेसिं—कई एक। असंजयाणं—असंयत व्यक्तियों के। भोयणाए—उपभोग के लिए। संनिहि—संग्रह और। संनिचओ—संचय। किज्जइ—किया जाता है परन्तु। तओ—संग्रह करने के पश्चात् से—उसको। एगया—किसी समय। रोगसमुप्पाया—ज्वर, कुष्ट, तपेदिक आदि साध्य-असाध्य रोग। समुप्पज्जंति—उत्पन्न हो जाते हैं, तब। जेहिं—जिनके। सद्धिं—साथ वह संवसइ—सम्यक्तया निवास करता है। वा—परस्पर समुच्चय के लिए। ते वा—वे ही। एगया—एक दिन रोगोत्पत्ति काल में। नियगा—उसके संबंधी। पुव्विं परिहरंति—पहले ही छोड़ देते हैं। वा—अथवा। सो—वह। ते नियगे—उन परिजनों को। पच्छा परिहरेज्जा—पीछे छोड़ देता है। ते—वे परिजन। तव—तेरे। ताणाए—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण देने के लिए। नालं—समर्थ नहीं होते। वा—परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है। तुमंपि—तू भी। तेसिं—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण के लिए। नालं—समर्थ नहीं है। वा—पूर्ववत्।

मूलार्थ—लोग अपने असंयत पुत्र पौत्र आदि के लिए उपभोगावशिष्ट तथा अनुपभुक्त धन संभाल कर रखते हैं किन्तु पुण्य आदि अन्तराय कर्म के उदय

के कारण उस धन का उपभोग नही कर पाते।

असातावेदनीय कर्म के उदय से जब जीवो को रोग अक्रान्त कर लेते हैं तब उनके साथ वाले साथी साथ नही देते, उन्हें छोड कर अलग हो जाते हैं। साथियो की इस स्वार्थमयी वृत्ति से खिन्न हुए दूसरे जीव भी अपने स्वार्थी सम्बन्धियों को, साथियों को छोड देते है उन से विरक्त हो जाते हैं।

भगवान कहते हैं कि हे शिष्य! मृत्यु की घडी मे तेरे सबन्धी साथी तेरी रक्षा करने मे तुझे शरण-सहारा देने मे असमर्थ हैं। तू भी मृत्यु वेला मे उन का त्राण नही कर सकता, न उन्हे शरण दे सकता है।

हिन्दी विवेचन

मोह कर्म के उदय से प्रमादी प्राणी पर पदार्थों में आसक्त रहते हैं। उन्हें अपने सुख का साधन एवं विपत्ति मे सहायक के रूप मे समझते हैं। इसलिए वे जीवन मे धन-वैभव आदि को महत्व देते हैं और उसके संग्रह मे रात-दिन लगे रहते हैं तथा अनेक प्रकार के पाप कार्य करते हुए भी संकोच नहीं करते। वे समझते हैं कि यह धन मेरे एव मेरे पुत्र-पौत्र आदि के भोगोपभाग के काम आएगा, उनके लिए सुख का कारण बनेगा। परन्तु, वे यह नहीं सोचते कि जब एक खून के संबध मे आवद्ध परिजन भी एक-दूसरे को शरण नहीं दे सकता, तब यह जड़ द्रव्य उनका सहायक कैसे होगा?

यही बात प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट रूप से समझाई गई है। सूत्रकार ने बताया है कि धन का प्रभूत सचय किया हुआ है, परन्तु वेदनीय कर्म के उदय से असाध्य रोग ने आ घेरा तो उस समय वह धन एव वे भोगोपभोग साधन उसका जरा भी दु ख हरने मे समर्थ नहीं हो सकेंगे। धन-वैभव को सनाथता एव श्रेष्ठता का साधन मानने वाले पूंजीपतियों एव सम्राटों की सनाथता को चुनौति देते हुए श्री अनाथी मुनि ने मगधाधिपति श्रेणिक को भी अनाथ बताया था, यह पूंजीवाद पर एक सबल व्यंग था। परन्तु इसमें सच्चाई थी, वास्तविकता थी। अनाथी मुनि ने वैभव की निस्सारता का चित्र उपस्थित करते हुए सम्राट श्रेणिक से कहा था कि हे राजन्! मेरे पिता प्रभूत, धन-ऐश्वर्य के स्वामी थे, भरापूरा परिवार था। सुशील, विनीत एव लावण्यमयी नवयौवना पत्नी थी। परन्तु उस समय मेरे शरीर मे दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। दिन-रात ज्वर की आग मे जलता रहा, मैं ही नहीं मेरा सारा परिवार आकुल

व्याकुल हो गया पत्नी रात दिन आंसू बहाती रही पिता ने मेरी वेदना को शांत करने के लिए धन को पानी की तरह बहाना आरम्भ कर दिया, फिर भी हे राजन् ! वह धन, वह परिवार मेरी वेदना को शांत नहीं कर सका, मुझे शरण नहीं दे सका, इस लिए मैं उस समय अनाथ था। मैं ही नहीं, भोगों में आसक्त सारा संसार ही अनाथ है क्योंकि भोग दुःख एवं संकट के समय किसी के रक्षक नहीं बनते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "उवाईयसेसेण" शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है— "अद् भक्षणे इत्येतस्मादुपपूर्वान्निष्ठा प्रत्ययः, तत्र बहुलं छन्दसी-तीडागमः, उपादि तम्—उपभुक्तं, तस्य शेषमुपभुक्तशेषं तेन वा, वाऽव्ययादुपभुक्तशेषेणवा" अर्थात्—उप पूर्वक अद् भक्षण धातु से 'क्त' प्रत्यय किए जाने पर 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से इट् का आगम कर देने से 'उपादित-उवाईय' रूप सिद्ध हो जाता है। और उसका अर्थ होता है—उपभुक्त—उपभोग में आए हुए धन में से अवशिष्ट—शेष बचा हुआ जो अब तक भोगने में नहीं आया है।

'सन्निहिसन्निचओ' पद का अर्थ है— 'सम्यग् निधीयते प्रवस्थाप्यते उपभोगाय योऽर्थ: स संनिधिस्तस्य सन्निचयः प्राचुर्यम् उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थ:" अर्थात् भोगोपभोग के लिए विभिन्न पदार्थों एवं धन-वैभव का अत्यधिक संग्रह करना।

परन्तु यह स्पष्ट है कि रोग के आने पर न तो वह द्रव्य ही उसे असाता वेदनीय कर्म या दुःख की संवेदना से बचा सकता है और न उसका संरक्षक ही उसे बचा सकता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को धन-वैभव के संग्रह में आसक्त न होकर समभाव पूर्वक वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त कष्ट को सहन करके, उक्त कर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे यह दुःख एवं वेदना प्राप्त हुई है। रोग आदि दुःख एवं वेदना के समय किस तरह समभाव रखना चाहिए, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ॥६६॥

छाया—ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातम्।

पदार्थ—पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी के। सायं—सुख और। दुक्खं—दुःख को। जाणित्तु—जानकर प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए।

मूलार्थ—प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख को जानकर मनुष्य को अपने ऊपर

आए हुए रोगादि कष्टो को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

सुख और दु ख दोनों एक ही वृक्ष के फल हैं। वह वृक्ष है—वेदनीय कर्म। यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही पेड के दो विपरीत गुण वाले फल कैसे हो सकते हैं? इसमे आश्चर्य जैसी वात नहीं है। वेदनीय कर्म रूपी वृक्ष की दो शाखाए हैं— एक शुभ और दूसरी अशुभ और उन दोनों शाखाओं से उभय रूप फल प्राप्त होते हैं, जबकि दोनों का मूल वेदनीय कर्म एक ही है। हम देखते हैं कि कई ऐसे वृक्ष हैं, जिन पर अनेक प्रकार के फल लगते हैं, विभिन्न रगों के पुष्प खिलते हैं। आज वैज्ञानिकों ने इस वात को स्पष्ट दिखा दिया है। जापान मे एक ही वृक्ष पर २७ प्रकार के फलों की कलमे लगाई गई और यह प्रयोग सफल भी रहा है अर्थात् उस वृक्ष से २७ प्रकार के फल प्राप्त हो रहे हैं। रूस मे भी ऐसे प्रयोग किए जा चुके हैं। वैज्ञानिक और भी प्रयोग करने मे सलग्न हैं। जब ये ससार के पेड़-पौधे अनेक प्रकार के फलों एव विभिन्न रंगों के पुष्पों से पुष्पित एवं फलित हो सकते हैं, तो फिर वेदनीय कर्म के वृक्ष से सुख-दु ख रूप दो प्रकार के फलों का प्राप्त होना कोई आश्चर्य की वात नहीं है।

इस तरह साधक सुख और दु ख रूप उभय फलों को वेदनीय कर्मजन्य जानकर समभाव पूर्वक सवेदन करे। न सुख मे आसक्त बने और न दु ख मे हाहाकार करे। परन्तु अपने किए हुए कर्म के फल समझकर शान्ति के साथ उनका सवेदन करे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'जाणित्तु' और 'पत्तेय' शब्द वडे महत्त्व पूर्ण हैं। 'जाणित्तु' पद से यह अभिव्यक्त किया है कि प्रत्येक वस्तु को पहले जानना चाहिए। क्योंकि ज्ञान के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। अत दुख मे समभाव की साधना भी ज्ञान युक्त व्यक्ति ही कर सकता है। और 'पत्तय' से यह बताया है कि दुनिया मे सर्वत्र व्यापक एक आत्मा नहीं, अपितु अनेक आत्माएं हैं और उन सब आत्माओं का अपना स्वतत्र अस्तित्व रहा हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'दुक्ख' और 'साय' शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक ससारी आत्मा को प्राप्त सुख-दु ख उसके कृत कर्म के फल है, न कि किसी शक्ति द्वारा दिए गए वरदान या अभिशाप रूप प्राप्त हैं? व्यक्ति पापाचरण से अशुभ कर्मों का बन्ध करके दु खों को प्राप्त करता है और सत्कार्य मे प्रवृत्त होकर शुभ कर्म बन्ध से सुख साधनों को उपलब्ध करता है।

अतः साधक को प्राप्त दुःख एवं वेदना में घबराना नहीं चाहिए, अपितु समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए। और वेदना में संलग्न मन की विचार की चिन्तन की धारा को आत्म चिन्तन की ओर मोड़ देना चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए ॥७०॥

छाया—अनभिक्रान्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य।

पदार्थ—च और खलु शब्द क्रमशः अधिक और पुनरर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अणभिक्कंतं वयं—अभी धर्म करने योग्य अवस्था अवशेष है, ऐसा। संपेहाए—विचार कर, आत्म चिन्तन में संलग्न होना चाहिए।

मूलार्थ—आत्म साधना का समय अभी शेष है ऐसा सोच-विचार कर साधक को आत्म अन्वेषण में संलग्न होना चाहिए।

हिन्दी विवेचना

प्रस्तुत सूत्र में साधक को सावधान करते हुए कहा गया है कि हे साधक! तू संसार की अवस्था का ज्ञान समझकर तथा सम्यक्तया अवलोकन करके आत्म चिन्तन में संलग्न हो। क्योंकि अभी तुम्हारे शरीर पर वार्धिक्य एवं रोगों ने आक्रमण नहीं किया है, तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियें भी सशक्त हैं, ऐसी स्थिति में समय को व्यर्थ में नष्ट मत कर। क्योंकि इस अवस्था के बीत जाने पर इन्द्रियों की शक्ति कमजोर हो जाएगी, अनेक रोग तेरे शरीर पर आक्रमण करके उसे शक्ति हीन बना देंगे। फिर तू चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकेगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के लिए स्वस्थ शरीर एवं सशक्त इन्द्रियों का होना आवश्यक है। यह मत व्यपेक्ष साधन है। निश्चय दृष्टि से निर्वाण प्राप्ति के कारण रूप क्षायिक भाव की प्राप्ति के लिए क्षयोपशम भाव सहायक है, न कि औदयिक भाव। और शरीर आदि की नीरोगता साता वेदनीय कर्म के उदय से है, फिर यहां जो यौवन वय को साधना में लगाने को कहा है, उसका कारण यह है कि अभी शरीर क्षायिक भाव प्राप्ति का साधन है और साधना की सिद्धी के लिए साधनों का स्वस्थ एवं सशक्त होना जरूरी है। इसी अपेक्षा से एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा रह सकती है' क्योंकि रोग के कारण, मन सदा चिन्ताग्रस्त रहेगा और मनकी अस्वस्थता के कारण आत्म चिन्तन ठीक तरह

हो नहीं सकता , इसलिए साधना काल मे स्वस्थ शरीर भी अपेक्षित है । इसलिए प्राप्त समय को सफल बनाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—खणं जाणाहि पंडिए ॥७१॥

छाया—क्षणं जानीहि पंडित ।

पदार्थ—पंडिए—हे पंडित ! आत्म ज्ञानी । खणं—समय को । जाणाहि—जान—पहिचान ।

मूलार्थ—हे पंडित ! तू साधना के समय को जान-पहिचान ।

हिन्दी विवेचन

समय की गति बडी तेज है। समय प्रकाश, शब्द और विद्युत से भी अधिक तीव्र गति मे भागता है । शब्द और विद्युत को आज हम पकड कर भी रख सकते हैं, परन्तु समय हमारी पकड से बाहर है। बीता हुआ समय कभी भी लौटाकर नहीं लाया जा सकता । इसीलिए आगम में कहा गया है कि द्रुतगति से भागने वाले समय को जानकर साधक को उसे सफल बनाने मे सदा सावधान रहना चाहिए। क्योंकि ऐसा सुअवसर बार-बार मिलना कठिन है।

'क्षण' शब्द का अर्थ है—अवसर या समय। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, सशक्त इन्द्रियें आदि की प्राप्ति द्रव्य क्षण है। आर्य क्षेत्र, आर्य कुल और आर्य धर्म की प्राप्ति क्षेत्र क्षण है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के वे आरे जिनमें धर्म की साधना की जा सके—जैसे अवसर्पिणी काल का तृतीय, चतुर्थ और पंचम आरा तथा महाविदेह क्षेत्र का सभी काल, काल क्षण है। क्षयोपशम आदि भाव की प्राप्ति भाव क्षण है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म साधना में सहायक साधन क्षण है और ऐसे समय को प्राप्त करके साधक को साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि समय को जानने वाला व्यक्ति ही पंडित है। अत साधक को चाहिए कि प्राप्त क्षणों को प्रमाद में नष्ट न करे। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं

विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणु वासिज्जासि त्तिबेमि ॥७२॥

छाया—यावत् श्रोत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, नेत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, घ्राणपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, जिह्वा परिज्ञानानि अपरिहीनानि, स्पर्शपरिज्ञानानि अपरिहीनानि इत्येतै विरूपरूपै प्रज्ञानै अपरिहीनै आत्मार्थं सम्यक् समनुवासयेत्। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जाव—जब तक। सोयपरिण्णाणा—श्रोत्र विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ। नेत्त परिण्णाणा—नेत्र विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ। घाणपरिण्णाणा—नासिका विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ। जीहपरिण्णाणा—रसना का परिज्ञान। अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ। फासपरिण्णाणा—स्पर्श विज्ञान। अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ। इच्चेएहिं—ये सब। विरूवरूवेहिं—विविध रूप वाले। पण्णाणेहिं—प्रकृष्ट ज्ञान। अपरिही णेहिं—हीन नहीं हुआ अर्थात् इनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई। आयट्ठं—आत्मा के लिए आत्म हित के लिए। सम्म—सम्यकतया। समणुवासिज्जासि—प्रयत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जब तक श्रोत्र विज्ञान हीन नहीं हुआ चक्षु विज्ञान हीन नहीं हुआ घ्राण विज्ञान हीन नहीं हुआ जिव्हा विज्ञान हीन नहीं हुआ, स्पर्शेन्द्रि विज्ञान हीन नहीं हुआ इस प्रकार ये सब विविध रूप वाले विशिष्ट विज्ञानों का जब तक ह्रास नहीं हुआ है, तब तक साधक को सम्यक्तया आत्मा के हित में निवास करना चाहिए अर्थात् आत्मा हित के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

हम यह देख चुके हैं कि व्यक्ति शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता तथा सशक्त अवस्था में ही साधना कर सकता है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति निर्बल हो जाने के बाद वह भली-भांति साधना मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। न वह अपना आत्महित ही साध सकता है और न ठीक तरह से प्राणियों की रक्षा ही कर सकता है। इसलिए शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता के रहते ही साधक को आत्म साधना में संलग्न हो जाना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

'आयट्ठ' पद का अर्थ आत्मार्थ है प्रस्तुत प्रकरण में आत्मार्थ से आत्मा की वास्तविक निधि ज्ञान, दर्शन, चारित्र लिए गए हैं। क्योंकि उक्त त्रय रत्न की सम्यग् आराधना से ही मोक्ष रूप साध्य की सिद्धी हो सकती है और यही साधक का मूल लक्ष्य है। या यों कह सकते हैं कि जिस साधना से आत्मा का हित हो उसी का नाम आत्मार्थ है। इस अपेक्षा से भी रत्न त्रय ही आत्मा के लिए हितकर हैं। क्योंकि इनकी साधना से ही आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'आयट्ठ' का संस्कृत रूप 'आयतार्थ' भी बनता है। आयत का अर्थ होता है—ऐसा स्वरूप जिसकी कभी समाप्ति न हो। आयत मोक्ष को कहते हैं, अत मोक्ष प्राप्ति के लिए जो साधना की जाए उसे 'आयार्थ' कहते हैं। इस अपेक्षा से भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय की साधना को ही स्वीकार किया गया है।

अस्तु निष्कर्ष यह निकला कि शरीर की स्वस्थता एवं इन्द्रियों में शक्ति रहते हुए साधक को संयम साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे विषय-वासना, धन एवं परिजनों की आसक्ति का त्याग कर आत्म साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी से आत्मा लोक पर विजय प्राप्त कर पूर्ण सुख-शान्ति रूप निर्वाण को पा सकेगा।

'तिबेमि' का अर्थ प्रथम अध्ययन की तरह समझना चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में पारिवारिक एवं भौतिक सुख साधनों तथा धन-ऐश्वर्य आदि के मोह का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। क्योंकि पारिवारिक एवं संपत्ति का मोह तथा बन्धन साधना के पथ में अवरोधक चट्टान है। पारिवारिक व्यामोह एवं माता-पिता के संबन्धों की आसक्ति से ऊपर उठे बिना साधक साधना पथ पर गतिशील नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता संग्राम के समय हम देख चुके हैं कि देश की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रहियों को पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना ही होता था उन्हें घर एवं संपत्ति की आसक्ति से भी कुछ सीमा तक निश्चिन्त होना पड़ता था। इससे हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि आत्म स्वातंत्र्य के लिए वासना एवं विकारों से अनवरत लड़ने वाले आध्यात्मिक सेनानियों—साधकों के लिए पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना अनिवार्य है। क्योंकि व्यामोह का त्याग किए बिना संयम में स्थिरता नहीं आ सकती।

चिन्तन-मनन से प्राप्त सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचार में प्रवृत्त होने का नाम संयम है। इसके लिए सबसे पहले चिन्तन में सात्त्विकता का आना जरूरी है और वह योगों की एकाग्रता पर आधारित है। और जब तक साधक पारिवारिक व्यामोह से आबद्ध है, तब तक उसके योगों में एकाग्रता आ नहीं पाती। क्योंकि उसके सामने अनेक समस्यायें मुंह फाड़े खड़ी रहती हैं, कभी मन किसी समस्या से उलझा हुआ है तो वचन का प्रयोग किसी और ही पहलू को हल करने में लग रहा है और शरीर किसी तीसरे कार्य में ही व्यस्त है। इस प्रकार तीनों योगों की विभिन्न दिशाओं में दौड़ धूप होती रहने से उनमें एकाग्रता नहीं आ पाती। अतः योगों की एकाग्रता के अभाव में चिन्तन में सात्त्विकता एवं ज्ञान तथा आचार में तेजस्विता नहीं आ पाती है। अस्तु संयम की साधना के लिए, साधना के मूल चिन्तन में सात्त्विकता एवं ज्ञान में निर्मलता लाने के लिए पारिवारिक व्यामोह का त्याग करना अनिवार्य है।

इसी कारण प्रथम उद्देशक में मोह एवं आसक्ति परित्याग की बात कही गई है। इससे साधक के मन में साहस एवं उत्साह का संचार होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियें सामने आती हैं कि साधक का मन लड़खड़ाने लगता

है। उसकी अस्थिरता को दूर करके साधना में दृढ़ता लाने के लिए प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रकार संयम मार्ग में आने वाली अरुचियों का वर्णन करके यह स्पष्ट कर रहे हैं कि साधक को उन पर पूर्ण विजय पानी चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रारंभ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के ॥७२॥

छाया—अरति आवर्तेत (अपवर्तेत) स मेधावी क्षणे मुक्तः।

पदार्थ—से—वह। मेहावी—बुद्धिमान है, जो। अरइं—अरति-चिन्ता को। आउट्टे—दूर करता है, वह फिर। खणंसि—क्षण मात्र—स्वल्प काल में। मुक्के—अष्ट कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—वह साधक बुद्धिमान है, जो अरति-चिन्ता को दूर हटाता है। वह चिन्ता मुक्त व्यक्ति स्वल्प समय में कर्म बन्धन से भी मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि "साधना का मार्ग फूलों का मार्ग नहीं, कंटीली पगडंडी है।" अतः उस पर गतिशील साधक को पूरी सावधानी रखने का आदेश दिया गया है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक गति करने को कहा गया है। इतने पर भी परीषहों का कोई न कोई कांटा चुभ ही जाता है। उस समय निर्बल साधक के मन में वेदना की अनुभूति का होना भी स्वभाविक है। इसलिए सूत्रकार ने साधक को सावधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया है कि ऐसे विकट समय में भी अपने मार्ग पर गतिशील रहने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है और वही कर्म बन्धन की शृंखला को तोड़कर मुक्त हो सकता है। अतः साधक थोड़े से परीषह से घबराकर अपने प्रशस्त मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए और अपनी श्रद्धा एवं ज्ञान की ज्योति को धूमिल नहीं पड़ने देना चाहिए।

साधना के पथ से विचलित होने का अर्थ है—पतन के गर्त में गिरना। अतः जरा से परीषह से परास्त होने वाला व्यक्ति कंडरीक की तरह अपने जीवन को बर्बाद कर लेता है, अनुपम सुखों को खो देता है और इसके विपरीत उसके लघु भ्राता पुंडरीक का अनुकरण करने वाला व्यक्ति निर्बाध गति से मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है। साधना पथ पर गतिशील साधक के लिए ये दोनों उदाहरण सर्चलाईट

की तरह उपयोगी हैं।

कंडरीक और पुंडरीक दोनों सगे भाई थे। कण्डरीक बड़ा भाई होने के कारण राज्य का मालिक था। परन्तु मुनि के सदुपदेश से राज्य का त्याग करके वह साधु बन गया और निरन्तर एक हजार वर्ष तक साधना करता रहा। परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में वह परीषहों एवं वासना से परास्त हो गया। अपने लघु भ्राता पुण्डरीक को राज्य का सुख भोगते देखकर उसका मन भी उस ओर झुक गया। वह अपने को संभाल नहीं सका। अतः उसने अपनी अभिलाषा पुण्डरीक के सामने व्यक्त कर दी। पुण्डरीक को भाई के विचार सुनकर अति वेदना हुई और उसने धर्म एवं शासन की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए अपने ज्येष्ठ भ्राता को उस का राज्य सौंप कर, उसके स्थान में उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली और तप साधना में संलग्न हो गये।

कंडरीक प्रकाम भोजन एवं भोगों में आसक्त हो गया और पुंडरीक तप करने लगा तथा रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिल गया उसी पर संतोष करके संयम साधना में संलग्न हो गया। परिणाम यह निकला कि कण्डरीक की तपस्या से शिथिल बनी हुई आतें प्रकाम भोजन को पचा नहीं सकी और दुर्बल शरीर अधिक भोगों की मार को सह नहीं सका, इससे उसे असाध्य रोग हो गया और वह भोगों की आसक्ति में तड़पता हुआ मर गया। उधर पुंडरीक को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन नहीं मिलने से वह भी अस्वस्थ हो गया। परन्तु ऐसी स्थिति में भी अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ। समभाव पूर्वक वेदना को सहते हुए अनशन करके पंडित मरण को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार संयम त्यागते एवं संयम स्वीकार करने के थोड़े ही समय बाद दोनों भाइयों ने देह का त्याग कर दिया, और दोनों ने उपपात योनि में जन्म लिया और ३३ सागरोपम की स्थिति को प्राप्त किया। योनि और स्थिति समान होते हुए भी दोनों की गति में बहुत बड़ा अंतर था। पुंडरीक ने अल्पकालीन साधना से सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त किया, तो कंडरीक ने भोगों में आसक्त होकर सातवीं नरक के अंधकार में जन्म लिया।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि थोड़े से परीषहों से घबरा कर जो व्यक्ति पथ-भ्रष्ट होता है, वह एकदम पतन के गर्त में गिरता ही जाता है। अतः साधक को परीषहों के उपस्थित होने पर घबराना नहीं चाहिए। अनुकूल परीषहों में भी

अपने पथ पर दृढ़ता के साथ गतिशील होना चाहिए। जो साधक रति-अनुकूल परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह कर्म बन्धनों को शिथिल करता हुआ एवं तोड़ता हुआ, एक दिन कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अतः वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर गतिशील व्यक्ति संसार सागर से पार हो जाता है और इस पथ पर गति नहीं करने वाला साधक संसार सागर में परिभ्रमण करता है, विभिन्न गतियों में महान दुःखों का संवेदन करता है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाणाय पुट्ठावि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउड़ा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो-पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए ॥७४॥

छाया—अनाज्ञया स्पृष्टा अपि एके निवर्त्तन्ते मन्दा मोहेन प्रावृताः अपरिग्रहाः भविष्यामः समुत्थाय, लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते अनाज्ञया, मुनयः प्रत्युपेक्षन्ते, अत्र मोहे पुनः पुनः सन्ना नो अर्वाचे नोपाराय।

पदार्थ—मन्दा—विवेक शून्य। मोहेण पाउडा—मोह से प्रावृत-घिरे हुए। एगे—कई एक प्राणी। पुट्ठा वि—परीषहों के आने पर। अणाणाय—आज्ञा से विपरीत हो कर नियट्टन्ति—संयम से पतित होते हैं। अपरिग्गहा—परिग्रह रहित। भविस्सामो—बनेंगे। ऐसे वचन बोलकर। समुट्ठाय—दीक्षा लेकर। लद्धे कामे—प्राप्त हुए विषय भोगों को। अभिग्गाहइ—सेवन करते हैं। अणाणाय—वीतराग की आज्ञा से विरुद्ध। मुणिणो—मुनि वेष को लज्जाने वाले। पडिलेहन्ति-कामभोगों के उपायों की शोध करते हैं। इत्थ मोहे—इस प्रकार मोह में। पुणो-पुणो—बार-बार। सन्ना—आसक्त होकर। नो हव्वाए—न इस पार के। नो पाराए—न उस पार के होते हैं।

मूलार्थ—अज्ञान से आवृत्त, विवेक शून्य कितने एक कायर प्राणी परीषहों के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा से विरुद्ध आचरण करके सयम मार्ग से च्युत हो जाते है। और कई स्वेच्छाचारी व्यक्ति हम अपरिग्रही बनेगे इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी

प्राप्त काम भोगों का सेवन करते हैं एवं मुनि वेश धारी स्वच्छन्द बुद्धि से विषय भोगों को प्राप्त करने के उपायों में संलग्न रहते हैं। वे विषय भोग में आसक्त होने से मोह के कीचड़ में ऐसे फंस जाते हैं कि न इधर के रहते हैं और न उधर के अर्थात् न तो गृहस्थ रहते हैं और न साधु ही। व उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधना का पथ कांटों का पथ है। इसमें त्याग के पुष्पों के साथ-साथ परीषहों के कांटे भी बिखरे पड़े हैं। अतः साधना पथ पर गतिशील साधक को परीषहों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। परन्तु उस समय वह साधक साधना में संजग रह सकता है, जिसकी श्रद्धा दृढ़ है एवं जिसके पास ज्ञान का प्रखर प्रकाश है। पर, जो साधक निर्बल है, जिसकी ज्ञान ज्योति क्षीण है, वह परीषहों की भंवर में सहज ही फंस जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए बताया है कि विवेक हीन व्यक्ति परीषहों से पराजित होकर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। वे विभिन्न भोगों में आसक्त होकर वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए भी नहीं हिचकिचाते। ऐसे वेशधारी साधकों को "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" कहा गया है। अर्थात् उन की स्थिति धोबी के कुत्ते की तरह होती है, वह न घर का रहता है और न घाट का। इसी प्रकार वे वेशधारी मुनि साधना को हृदयगम नहीं कर सकने के कारण न तो मुनि का धर्म ही सम्यक्तया परिपालन करके उसका लाभ उठा सकते हैं और वेश-भूषा से गृहस्थ न होने के कारण स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन का उपभोग कर सकते हैं। वे न तो इधर के रहते हैं और न उधर के रहते हैं, बेचारे त्रिशंकु की तरह अधर में ही लटकते रहते हैं और भोग में आसक्त होने के कारण संसार बढ़ाते हैं। परन्तु इस भवसागर से पार नहीं हो सकते।

अस्तु जो वीतराग देव की आज्ञानुसार आचरण करते हैं, वे ही संसार सागर से पार होते हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ ॥७५॥

छाया—विमुक्ताः खलु ते जनाः ये जना पारगामिनो, लोभमलोभेन

जुगुप्समानो लब्धान् कामान् नाभिगाहते।

पदार्थ—विमुत्ता—विभिन्न बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त। हु—निश्चय ही। ते—वे जणा—जन। पारगामिणो—पार जाने की इच्छा करते हैं, वे व्यक्ति। लोभ—लोभ को। अलोभेण—निर्लोभता से। दुगु छमाणे—तिरस्कृत करते हुए। लद्धे कामे—प्राप्त काम भोगों का भी नाभिगाहइ—आसेवन नहीं करते।

मूलार्थ—सासारिक वन्धनों से उन्मुक्त साधक लोभ को अलोभ से पराभूत करके प्राप्त काम भोगों का भी आसेवन नहीं करता है।

हिन्दी विवेचन

जैन संस्कृति में त्याग को महत्व दिया गया है, न कि वेष-भूषा को। यह ठीक है कि द्रव्य-वेष का भी महत्व है, परन्तु त्याग-वैराग्य युक्त भावना के साथ ही उस का मूल्य है। भाव शून्य वेषधारी साधक को पथ भ्रष्ट कहा गया है। जो साधक त्याग-वैराग्य की भावना को त्याग कर रात-दिन खाने-पीने, सोने एव विलास मे व्यस्त रहता है, उसे पापी श्रमण कहा गया है*।

प्रस्तुत सूत्र में त्यागी की परिभाषा बहुत ही सुन्दर की गई है। वह व्यक्ति त्यागी नहीं माना गया है, जिसके पास वस्तु का अभाव है, परन्तु उसका मन अभी भी उसमे रम रहा है। जिसे वस्त्र, सुगधित पदार्थ, अलंकार, स्त्री, शय्या-घर आदि स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं हैं, पर उनकी वासना उसके मन में रही हुई है, तो वह भगवान महावीर की भाषा में त्यागी नहीं है†। त्यागी वही है, जिसे सुन्दर भोग-विलास एवं भौतिक सुख-साधन प्राप्त हैं और जो उनका भोग करने में भी स्वतन्त्र एवं समर्थ है, फिर भी उन्हें ससार में परिभ्रमण करने का साधन समझकर त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है‡।

ऐसा त्यागी व्यक्ति लुभावने प्रसग उपस्थित होने पर भी नहीं फिसलता, वह अलोभ के द्वारा तृष्णा के जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है। क्योंकि वह समझता

---

* देखें उत्तराध्ययन, अध्ययन १७।

† वत्थ-गधमलंकार इत्थिओ सयणाणि य ॥
अच्छदा जे न भुञ्जति, न से चाई त्ति वुच्चई ॥ —दशवैकालिक २, २

‡ जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥ —दशवैकालिक, २, ३ ४

है कि सुहावने से प्रतीत होने वाले सुख-साधनों के पीछे दुःख का अनंत सागर लहरा रहा है। इस आटे की वज्जवत गोली के साथ ही प्राणों का हरण करने वाले तीक्ष्ण कांटे की वेदना भी रही हुई है। इसलिए वह प्रबुद्ध साधक उसके क्षणिक लोभ में प्रवहमान होकर अपने आप को अथाह सागर में डूबने नहीं देता, अपितु उस तृष्णा पर विजय प्राप्त करके संसार सागर से पार हो जाता है।

लोभ की तरह कषाय के अन्य तीन भेदों— १-क्रोध, २-मान, ३-माया को भी समझ लेना चाहिए। जैसे अलोभ वृत्ति से लोभ को पराजय करने को कहा गया है। इसी प्रकार क्रोध, मान और माया का प्रसंग उपस्थित होने पर, उपशमन से क्रोध को, विनय नम्रता से मान को एवं ऋजुता-सरलता से माया को पराजय करे।

इस प्रकार कषायों पर विजय पाने वाला विजेता ही साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। और उसका मार्ग ही प्रशस्त मार्ग कहा गया है, कषायों के प्रवाह में प्रवहमान का मार्ग भयावह एवं दुःखों से भरा हुआ है। इसी प्रशस्त एवं अप्रशस्त मार्ग को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विणावि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारित्ति पवुच्चई, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणिविट्ठचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो पुणो, से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दण्डसमायाणं सपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्तिमन्नमाणे अदुवा आसंसाए ॥७६॥

छाया—विनापि लोभं निष्क्रम्य एष अकर्मा जानाति पश्यति प्रत्युपेक्षया नावकांक्षति एष अनगारः इति प्रोच्यते अहोरात्रं परितप्यमानः कालाकाल समुत्थायी संयोगार्थी अर्थाऽऽलोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तः अत्र शस्त्रे पुनः पुनस्तद् आत्मबलं, तद् ज्ञातिबलं, तद् मित्रबलं तद् प्रेत्यबलं, तद्

देव वलं, तद् राजवलं, तच्चौरवलं, तदतिथिवलं, तत् कृपणवलं, तत् श्रमण-वलं, इत्येतैः विरूपरूपैः कार्यैः दन्डसमादानं संप्रेक्ष्य भयात् क्रियते पापमोक्षः इति मन्यमानः अथवा आशंसयै।

पदार्थ—**विणाविलोभं**—लोभ के विना। **निक्खम्म**—दीक्षा लेकर। **एस**—यह आत्मा **अकम्मे**—कर्म रहित होकर। **जाणइ**—सब कुछ जानता है। **पासइ**—सब कुछ देखता है। **पडिलेहाए**—यह विचार कर। **नावकखइ**—जो लोभ को नही चाहता है। **एस**—वह। **अणगारित्ति**—अनगार। **पवुच्चइ**— कहा जाता है, अज्ञानी जीव। **अहो य राओ**—अहो रात्र-दिन। **परितप्पमाणे**—अनेक प्रकार से सतप्त होता हुआ। **कालाकाल समुट्ठाई**—काल और अकाल मे उठने वाला अर्थात्— अपने कार्य की सिद्धि के लिए काल और अकाल की उपेक्षा करने वाला। **सजोगट्ठी**—सयोग को चाहने वाला। **अट्ठालोभी**—धन का लोभी। **आलुपे**—गला काटने वाला। **सहसाक्कारे**—विना विचारे काम करने वाला। **विणिविट्ठचित्ते**—आरम्भ परिग्रह तथा विषय-कपायो मे दत्तचित्त होता हुआ। **इत्थ**—पृथ्वीकायादि के उपघा करने मे। **सत्थे**—शस्त्र का। **पुणो पुणो**—वारम्वार प्रयोग करता है। **से**—वह। **आयवले**—आत्म वल अपना शारीरिक वल। **से**—वह। **नाइवले**—जातिवल। **से**—वह। **मित्तबले**—मित्र वल। **से**—वह। **पिच्चवले**—परलोक वल। **से**—वह। **देवबले**—देव वल। **से**—वह। **रायवले**—राज वल। **से**—वह। **चोरवले**—चोर वल। **से**—वह। **अतिहिवले**—अतिथि वल। **से**—वह। **किविणवले**—कृपण वल। **से**—वह। **समणवले**—श्रमण वल। **इच्चेएहिं**—इत्यादि। **विरूवरूवेहिं**—विविध प्रकार के। **कज्जेहिं**—कार्यों के लिए। **दडसमायाण**—हिंसा की जाती है। **संपेहाए**—यह विचार कर तथा। **भयाकज्जइ**—भय से पाप कर्म किया जाता है, तथा। **पावमुक्खुत्ति**—मैं पाप से मुक्त हो जाऊगा-पाप से छूट जाऊगा इस आशय से पापकर्म किया जाता है। **अदुवा**—अथवा। **आसंसाए**—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो जाए इस इच्छा से पाप कर्म मे प्रवृत्ति होती है।

मूलार्थ—लोभ विना दीक्षा लेकर अर्थात् लोभ के सर्वथा दूर हो जाने से दीक्षित हुआ व्यक्ति चारो ही घाति कर्मों का क्षयकरके केवल ज्ञान से युक्त होकर सर्व पदार्थों के सामान्य और विशेष धर्मों का बोध प्राप्त करता है सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है कषायो के गुण दोषो का विचार करके लोभादि की इच्छा नही करता, इस प्रकार वह अनगार कहलाता है। और इसके विपरीत जो अज्ञ है वह दिन-रात सतप्त हृदय होता हुआ काल और अकाल

में उठने वाला, सयोग का मर्मी मन का लोभी गला काटने वाला, विना विचारे काम करने वाला, धन और स्त्री में आसक्ति रखने वाला, षट काय में बारम्बार शस्त्र का प्रयोग करने वाला, निम्नलिखित कारणों को मुख्य रख कर हिंसादि कर्म में प्रवृत्त होता है यथा मेरी आत्म शक्ति बढ़ेगी मेरी ज्ञाति का बल बढ़ेगा मेरा मित्रबल बढ़ेगा मेरा परलोक बल बढ़ेगा मेरा देवबल बढ़ेगा, मेरा राजबल बढ़ेगा मेरा चोरबल बढ़ेगा, मेरा अतिथिबल बढ़ेगा मेरा कृपणबल बढ़ेगा और मेरा श्रमणबल बढ़ेगा, इन पूर्वोक्त विविध प्रकार के कार्यों से प्रेरित हुआ वह प्राणियों के वध में प्रवृत्त होता है। एवं जब तक मैं ऐसा नहीं करूंगा तब तक मेरा आत्म बल नहीं बढ़ेगा, इस प्रकार विचार कर तथा भय के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है या यह सोच कर वह उक्त पाप कर्मों का आचरण करता है कि इस प्रकार के आचरण से मैं दुःखों से मुक्त हो जाऊंगा या यों कहिए कि विभिन्न आशाओं के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में जीवन के प्रशस्त और अप्रशस्त उभय स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। जो संसार से विरक्त होकर प्रव्रजित होता है और कषायों पर विजय पाता हुआ संयम में सदा संलग्न रहता है, वह ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। संसार के सभी पदार्थों को एवं तीनों काल के भावों को भली भांति जानता-देखता है। उससे कोई भी बात प्रच्छन्न नहीं रहती है। इस स्थिति को प्राप्त करके सर्व कर्म बंधन मुक्त होना ही प्रत्येक साधक का लक्ष्य है। राग-द्वेष का क्षय करने पर ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है इसलिए राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उक्त साधना में संलग्न रहने वाले व्यक्ति को अनगार कहते हैं। वह अनगार एक दिन कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कषायों के प्रवाह में बहते हैं वे उनके वश में होकर रात दिन विषय-वासना में आसक्त रहते हैं और विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए मांस-मत्स्य आदि अभक्ष्य पदार्थों

का भक्षण करते हैं। अपनी जाति के व्यक्तियों को अनुकूल बनाने के लिए तथा अधिकारी-वर्ग से कुछ काम कराने अथवा उससे अपना स्वार्थ साधने के लिए, उनकी इच्छा का पोषण करने के लिए विभिन्न प्राणियों की हिंसा करके उनके लिए भोजन—शराब आदि की व्यवस्था करते हैं। कई लोग मित्रता निभाने के लिए उसे सामिष भोजन कराते हैं। कुछ यह सोचकर कि सकट के समय इससे काम लिया जा सकता है इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के भोग-विलास एवं मास-मदिरा युक्त खान-पान में सहयोग देते हैं तथा साथ मे स्वय भी उसका आस्वादन कर लेते हैं।

कुछ परलोक को सुधारने की अभिलाषा से या इस कामना से कि यज्ञ मे बलिदान करने से मुझे स्वर्ग मिलेगा, यज्ञ वेदी पर अनेक मूक पशुओं का बलिदान करते हैं। कुछ देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्दिर-मस्जिद जैसे पवित्र देव-स्थानों को वधस्थल का रूप दे देते हैं।

इस प्रकार अज्ञान के वश मनुष्य अनेक पापों मे प्रवृत्त होता है। वह धर्म समझकर यज्ञ आदि हिंसा जन्य कार्यों मे प्रवृत्त होता है। परन्तु उसकी यह समझ उतनी ही भूल भरी है जितनी कि कीचड या खून से भरे हुए वस्त्र को कीचड या खून से साफ करने की सोचने वाले व्यक्ति की है। इन प्रवृत्तियों से पाप घटता नहीं, अपितु बढ़ता है और परिणाम स्वरूप ससार परिभ्रमण एव दुःख परपरा में अभिवृद्धि ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र मे उपयुक्त "पावमुक्खु" मे पाव+मुखु अर्थात् पाप और मोक्ष दो शब्दों का सयोग है। जो क्रिया प्राणी को पतन के गर्त मे गिराती है या जिससे आत्मा कर्म के प्रगाढ बन्धन मे आबद्ध होता है, उसे पाप कहते हैं। और जिस साधना से आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त होती है, उसका नाम मोक्ष है।

'दण्ड समायाण'—'दड समादान' का अर्थ है—प्राणियों की हिंसा मे प्रवृत्त होना। यह क्रिया आत्मा को कर्म बन्धन मे फंसाने वाली है। इसमे आत्मा का संसार बढता है, वह मोक्ष से दूर होती है। अत साधक को चाहिए कि वह हिंसा-जन्य कार्यों से एव विषय-भोग से दूर रहे। और चित्त मे अशाति उत्पन्न करने वाली कषायों का त्याग करके सयम मार्ग मे गतिशील बने। यही मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है, जिस पर गति करके आत्मा उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनकर, एक दिन पूर्ण स्वतत्र बन जाती है।

प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई सावद्य क्रियाए आत्मा के लिए अहितकर होती

हैं, उसे दुःखों के अथाह सागर में ला गिराती है। इस लिए मुमुक्षु को सावद्य अनुष्ठानों का परित्याग कर देना चाहिए। इसी बात का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिपिज्जासि, त्तिबेमि ॥७७॥

छाया—तत् परिज्ञाय मेधावी नैवस्वयं एतैः कार्यैः दण्डं समारभेत, नैवान्यमेतैः कार्यैः दण्डं समारम्भयेत्, एतैः कार्यैः दण्डं समारभमाणमप्यन्यं न समनुज्ञापयेत् एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, यथा-अत्र कुशल नोपलिम्पयेः—इति ब्रवीमि।

पदार्थ—तं—इस पूर्वोक्त संपूर्ण विषय को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान पुरुष। नेवसयं—न तो स्वयं। एएहिं—इन। कज्जेहिं—कार्यों के उपस्थित होने पर। दंडं समारंभिज्जा—दंड समारंभ करे और। नेव एएहिं कज्जेहिं—न इन कार्यों के उपस्थित होने पर। अन्नं—अन्य से। दंडं—हिंसा का। समारंभाविज्जा—समारंभ कराये और। एएहिं कज्जेहिं—इन कार्यों के उपस्थित होने पर। दंडं—दंड का। समारंभंतंपि—समारंभ करने वाले। अन्नं—अन्य व्यक्ति को। न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी न करे। एस मग्गे—यह मार्ग। आरिएहिं—आर्यों द्वारा। पवेइए—प्ररूपित है। कुसले—हे कुशल! जहेत्थ—जैसे पूर्वोक्त दंड समारंभ में। नोवलिपिज्जासि—तेरी आत्मा उपलिप्त न हो ऐसा आचरण कर। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह परिज्ञावान प्रबुद्ध पुरुष विषय भोग एवं क्षणिक सुखों के लिए न स्वयं दण्ड का समारंभ करे न अन्य व्यक्ति से करावे और न उस कार्य में प्रवृत्तमान व्यक्ति के उस कार्य का समर्थन ही करे। यह मार्ग आर्य पुरुषों ने प्ररूपित किया अतः कुशल व्यक्ति ऐसे हिंसा एवं पाप जन्य कार्य के द्वारा अपनी आत्मा को कर्मों से लिप्त न करे अर्थात् पाप कर्म का उपार्जन न करे। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

जीवन का मूल लक्ष्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। इसके लिए बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष को त्रिकरण और त्रियोग के दण्ड-समारम्भ का परित्याग कर देना चाहिए। न स्वय किसी प्राणी का दण्ड-समारम्भ करे, न दूसरे व्यक्ति से करावे, और न ऐसा कार्य करने वाले का ही समर्थन करे। इस प्रकार हिंसा जन्य प्रवृत्ति से सर्वथा दूर रहने वाला मनुष्य पाप कर्म से लिप्त नहीं होता।

यह साधना पथ अर्थात् त्याग मार्ग आर्य पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

"आराद्याता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्या-ससारार्णवतटवर्त्तिन क्षीणघातिकर्म्मांशा ससारोदरविवरवर्त्तिभावविद तीर्थकृतस्तै 'प्रकर्षेण' सदेवमनुजाया पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेत्र्या प्रकर्षेण वेदित . कथित प्रतिपादित इतियावत्"।

अर्थात्— जो आत्मा पाप कर्म से सर्वथा आलिप्त है, जिसने घातिक कर्म को क्षय कर दिया है, पूर्ण ज्ञान एव दर्शन से युक्त है, ऐसे तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों को आर्य कहा गया है और उनके द्वारा प्ररूपित पथ को आर्यमार्ग या आर्यधर्म कहते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि जो मार्ग प्राणी मात्र के लिए हितकर, हिंसा आदि दोष से दूषित नहीं है, सब के लिए सुख-शान्तिप्रद है, वह आर्य मार्ग है। और उस पर गतिशील साधक पूर्ण आत्म ज्योति को प्रकट कर लेता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्व के उद्देशों की तरह समझना चाहिए।

❀ द्वितीय उद्देशक समाप्त ❀

अवस्था में नहीं रुक सकता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों में गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इस से स्पष्ट होता है कि उच्च और नीच जातिगत या जन्मगत नहीं, अपितु कर्मजन्य है या यों कहिए कि गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च नीच गोत्र वाला कहा जाता है। और ये गोत्र या श्रेणियें केवल मनुष्यों में हों, ऐसी बात नहीं है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव चारों गतियों में दोनों गोत्र पाए जाते हैं। संसार की समस्त योनियों में दोनों श्रेणियों के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अस्तु ये उभय श्रेणियें कर्मोदय का फल हैं, ऐसा कहना चाहिए।

गोत्र कर्म में उच्चता एवं नीचता का बन्ध अभिमान और निरभिमान पर आश्रित है। अभिमान या अहंभाव भी एक प्रकार का मद है। इस में मनुष्य इतना बेभान हो जाता है कि वह अपने समक्ष संसार को कुछ भी नहीं समझता। एक विचारक ने लिखा है कि "मैं रुपए में एक बोतल शराब का नशा रहता है" इसी अपेक्षा से अभिमान को मद भी कहा गया है। आगम में आठ प्रकार के मद बताए गए हैं— १ जातिमद २-कुलमद ३-बलमद ४-रूपमद ५-विद्यामद ६-तपमद ७-लाभमद और ८-ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के मदों में प्रायः सभी तरह के मदों का समावेश हो जाता है। इन पर या इन में से किसी भी वस्तु (जाति आदि) पर अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है और निरभिमान भाव में प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के बन्ध का कारण है। अंतर इतना ही है कि अभिमान करने से ये वस्तुएं अशुभ हीन एवं विकृत रूप में प्राप्त होती हैं और अन्यथा शुभ रूप में। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मद कर्म जन्य ही है, इसके कारण आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। न तो केवल उच्च गोत्र की प्राप्ति से आत्मा में महानता आ पाती है और न नीच गोत्र की प्राप्ति से हीनता ही। क्योंकि उभय गोत्र की कर्म प्रकृतियों के समूह समान-तुल्य ही हैं और प्रत्येक आत्मा इन दोनों गोत्रों का अनन्त बार अनुभव कर चुकी है। आज उच्च गोत्र में दिखाई देने वाली आत्मा भी और तो क्या भगवान महावीर जैसे तीर्थंकरों की आत्मा भी अनेक बार नीच गोत्र के कर्दम से संस्पर्शित हो आई है। फिर भी उसकी चेतना में उसकी अनन्त चतुष्टय की शक्ति में कोई न्यूनता आई हो ऐसा परिलक्षित नहीं होता। आगम में हरिकेशी मुनि का उदाहरण आता है। उसके अनुशीलन-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त नीच गोत्र आत्म विकास में बाधक नहीं है। साधना के पथ पर गतिशील साधक के मार्ग को अवरुद्ध करने में समर्थ

नहीं है। अत साधक को प्राप्त उच्च या नीच गोत्र मे हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

(उच्च या नीच गोत्र शीशे पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब मात्र है। जब शीशे के सामने काले रग का पर्दा डाल दिया जाता है, तो वह कालिमा युक्त प्रतीत होने लगता है और लाल, हरे, पीले आदि रंग का पर्दा पड़ने पर वह भी तद्रूप प्रतीत होने लगता है। और उक्त आवरण के अनावृत्त होते ही, वह अपने शुद्ध रूप मे परिलक्षित होने लगता है। उसके ऊपर इन विभिन्न रंगों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता। उनके सान्निध्य से वह अपने स्वरूप को नहीं खो देता है। इसी प्रकार आत्मा पर भी उच्च और नीच गोत्र का प्रभाव क्षणिक ही रहता है। इससे आत्म द्रव्य में कोई अतर नहीं आता। इसके प्रभाव से आत्मा उच्च और नीच नहीं बनती

आत्मा के विकास और पतन या उच्चता और नीचता का आधार गोत्र नहीं अपितु उसका आचरण है। अपने आचरण की श्रेष्ठता के बल पर नीच माने जाने वाले चाडाल आदि कुल मे उत्पन्न व्यक्ति भी अपना आत्म विकास कर सकता है, संसारी आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा बन सकता है। अस्तु गोत्र को लेकर उच्चता एव नीचता पर विवाद करना एव भेद की दीवारें खड़ी करना किसी भी दशा में उचित एवं न्याय संगत नहीं कही जा सकती।

कर्मोदय से गोत्र की उच्चता एवं नीचता के झूले में आत्मा अनेक बार झूल आया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'एगे' शब्द से सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है कि किसी-किसी प्राणी को एक ही जन्म मे उच्च और नीच गोत्र का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए साधक को गोत्र के विषय में न तो अभिमान ही करना चाहिए और न हर्ष एवं शोक ही करना चाहिए।

गोत्र शब्द का अर्थ

संसार में श्रेष्ठता एवं हीनता का विभाजन प्राय व्यक्ति या जाति के प्रभाव एवं अभ्युदय पर आधारित है। जिस व्यक्ति या जाति का प्रभाव अधिक होता है, लोगों से सत्कार-सम्मान प्राप्त होता है, उसे उच्च गोत्र या कुल कह देते हैं और जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, उसे नीच गोत्र या कुल में मान लिया जाता है। आचार्य शीलांक ने भी उच्च और नीच गोत्र की इसी प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—

"उच्चैर्गोत्रं मानसत्कारार्हे, नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते।"

प्रज्ञापना सूत्र के २३ वें पद की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि सूरि गोत्र

द्वितीय अध्ययन-लोक-विजय

तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में परिवार एवं धन-वैभव आदि में रही हुई आसक्ति का परित्याग करने एवं संयम में दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। संयम साधना में तेजस्विता लाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ की आन्धी में भी अपने पैरों को दृढ़ जमाए रखना ही साधना का उद्देश है। कई बार साधक क्रोध को पी जाता है। क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर वह अपने मनमें आवेश को नहीं आने देता है और न उसे जीवन व्यवहार में ही प्रकट होने देता है। परन्तु अनेक बार मानवीय दुर्बलता के कारण साधक भी मान के प्रवाह में बहने लगता है। उसे अपने ज्ञान, तप साधना या अन्य गुणों पर गर्व होने लगता है और इनके कारण वह अपने आपको अन्य साधकों से श्रेष्ठ या उत्कृष्ट समझने लगता है। यह अभिमान भी पतन का कारण है, क्योंकि इससे आत्मा में ऊंच-नीच की भावना प्रबुद्ध होती है। वह अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझने लगता है और परिणाम स्वरूप दूसरे के प्रति उसके मन में घृणा एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है। यह भावना पाप बन्ध का कारण है। इसके फलस्वरूप आगामी भव में उसकी शक्ति का सम्यक्तया विकास नहीं हो पाता है। इसलिए साधक को अभिमान का परित्याग करना चाहिए। उसे निरभिमान साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। यही बात बताते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देश में कहा है—

मूलम्— से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई, को माणावाई कंसि वा एगे गिज्झइ, तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहिं जाण पडिलेह साय ॥७८॥

छाया—सोऽसकृदुच्चैर्गोत्रे, असकृन्नीचैर्गोत्रे नो हीन नोप्यतिरिक्तः न स्पृहयेत् (नोपीहेत) इति संख्याय को गोत्रवादी (भवेत्) ? को मानवादी (भवेद्)

कस्मिन् वा एक· गृध्येत् तस्मात् पण्डितो न हृष्येत् न कुप्येद् भूतेषु जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातम् ।

पदार्थ—से—यह जीव । असइ—अनेक वार । उच्चागोए—उच्च गोत्र मे उत्पन्न हुआ और । असइ—अनेक वार । नीयागोए—नीच गोत्र मे उत्पन्न हुआ, परन्तु । नो हीणे—नीच गोत्र में हीनता नहीं, और । नो अइरित्ते—न उच्च गोत्र मे विशेषता-श्रेष्ठता है । नोऽपीहए—स्पृहा-अभिलाषा न करे । इय—इस प्रकार । सखाय—जानकर । को गोयावाई—कौन गोत्र का वाद करेगा । को माणावाई—कौन गोत्र का मान करेगा । वा—अथवा । कसि एगे—किसी भी मान के स्थान मे । गिज्झे—कौन आसक्त होगा ? तम्हा—इसलिए । पडिय—बुद्धिमान पुरुष । नो हरिसे—उच्च गोत्र के प्राप्त होने पर न हर्षित होवे और । नो कुप्पे—नीच गोत्र की प्राप्ति से कुपित भी न होवे । भूएहि—भूतो के विषय । पडिलेह—अनुप्रेक्षा करके । जाण—यह जानो कि । सात—सब जीवो को सुख प्रिय है ।

मूलार्थ—यह जीव अनेक वार उच्च गोत्र मे जन्म ले चुका है और अनेक वार नीच गोत्र मे । इसमे किसी प्रकार की विशेषता या हीनता नही है । क्योकि दोनो अवस्थाओ मे भवभ्रमण और कर्मवर्गणा समान है । ऐसा जानकर उच्च गोत्र से अस्मिता और नीच गोत्र से दीनता भाव नही लाना चाहिए । और किसी प्रकार के मद के स्थान की अभिलाशा भी नही करनी चाहिए । अनेको वार उच्च गोत्र मे जन्म किया जा चुका है ऐसा जानकर अपने गोत्र का कौन मान करेगा ? कौन अभिमानी बनेगा ? और किस वात मे आसक्त होगा ?

पडित पुरुष उक्त सत्य समझता है । इसलिए वह उच्च गोत्र की प्राप्ति से हर्षित नही होता और नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर कुपित नही होने पाता । अर्थात् सदा समभावी रहता है । पडित पुरुष यह भी समझता है, कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है ।

हिन्दी विवेचन

ससार एक झूला है । जीव अपने कृत कर्म के अनुसार उस झूले मे झूलते रहते हैं । कभी ऊपर और कभी नीचे, इस प्रकार वे विभिन्न योनियों मे इधर उधर घूमते रहते हैं । उनका ससार प्रवाह चलता रहता है । जब तक कर्म के अस्तित्व को निर्मूल नहीं कर दिया जाता, तब तक ससार का प्रवाह किसी भी

अवस्था में नहीं रुक सकता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों में गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इस से स्पष्ट होता है कि उच्च और नीच जातिगत] या जन्मगत नहीं, अपितु कर्मजन्य है या यों कहिए कि गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च नीच गोत्र वाला कहा जाता है। और ये गोत्र या श्रेणियें केवल मनुष्यों में हों, ऐसी बात नहीं है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव चारों गतियों में दोनों गोत्र पाए जाते हैं। संसार की समस्त योनियों में दोनों श्रेणियों के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अस्तु ये उभय श्रेणियें कर्मोदय का फल है, ऐसा कहना चाहिए।

गोत्र कर्म में उच्चता एवं नीचता का बन्ध अभिमान और निरभिमान पर आश्रित है। अभिमान या अहंभाव भी एक प्रकार का मद है। इस में मनुष्य इतना बेभान हो जाता है कि वह अपने समक्ष संसार को कुछ भी नहीं समझता। एक विचारक ने लिखा है कि "सौ रुपए में एक बोतल शराब का नशा रहता है" इसी अपेक्षा से अभिमान को मद भी कहा गया है। आगम में आठ प्रकार के मद बताए गए हैं— १ जातिमद २-कुलमद ३-बलमद ४-रूपमद ५-विद्यामद ६-तपमद ७-लाभमद और ८-ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के भेदों में प्रायः सभी तरह के मदों का समावेश हो जाता है। इन पर या इन में से किसी भी वस्तु (जाति आदि) पर अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है और निरभिमान भाव में प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के बन्ध का कारण है। अंतर इतना ही है कि अभिमान करने से ये वस्तुएं अशुभ हीन एवं विकृत रूप में प्राप्त होती हैं और अन्यथा शुभ रूप में। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद कर्म जन्य ही है, इसके कारण आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। न तो केवल उच्च गोत्र की प्राप्ति से आत्मा में महानता आ जाती है और न नीच गोत्र की प्राप्ति से हीनता ही। क्योंकि उभय गोत्र की कर्म प्रकृतियों के समूह समान-तुल्य ही हैं और प्रत्येक आत्मा इन दोनों गोत्रों का अनन्त बार अनुभव कर चुकी है। आज उच्च गोत्र में दिखाई देने वाली आत्मा भी और तो क्या भगवान महावीर जैसे तीर्थंकरों की आत्मा भी अनेक बार नीच गोत्र के कर्दम से संस्पर्शित हो आई है। फिर भी उसकी चेतना में उसकी अनन्त चतुष्टय की शक्ति में कोई न्यूनता आई हो ऐसा परिलक्षित नहीं होता। आगम में हरिकेशी मुनि का उदाहरण आता है। उसके अनुशीलन-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त नीच गोत्र आत्म विकास में बाधक नहीं है। साधना के पथ पर गतिशील साधक के मार्ग को अवरुद्ध करने में समर्थ

नहीं है। अत साधक को प्राप्त उच्च या नीच गोत्र में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

(उच्च या नीच गोत्र शीशे पर पड़ने वाला प्रतिविम्ब मात्र है। जब शीशे के सामने काले रंग का पर्दा डाल दिया जाता है, तो वह कालिमा युक्त प्रतीत होने लगता है और लाल, हरे, पीले आदि रंग का पर्दा पडने पर वह भी तद्रूप प्रतीत होने लगता है। और उक्त आवरण के अनावृत्त होते ही, वह अपने शुद्ध रूप मे परिलक्षित होने लगता है। उसके ऊपर इन विभिन्न रंगों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता। उनके सान्निध्य से वह अपने स्वरूप को नहीं खो देता है। इसी प्रकार आत्मा पर भी उच्च और नीच गोत्र का प्रभाव क्षणिक ही रहता है। इससे आत्म द्रव्य में कोई अतर नहीं आता। इसके प्रभाव से आत्मा उच्च और नीच नहीं बनती आत्मा के विकास और पतन या उच्चता और नीचता का आधार गोत्र नहीं अपितु उसका आचरण है। अपने आचरण की श्रेष्ठता के वल पर नीच माने जाने वाले चाडाल आदि कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी अपना आत्म विकास कर सकता है, संसारी आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा वन सकता है। अस्तु गोत्र को लेकर उच्चता एव नीचता पर विवाद करना एव भेद की दीवारें खड़ी करना किसी भी दशा में उचित एवं न्याय संगत नहीं कही जा सकती।

कर्मोदय से गोत्र की उच्चता एवं नीचता के झूले में आत्मा अनेक वार झूल आया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'एगे' शब्द से सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है कि किसी-किसी प्राणी को एक ही जन्म में उच्च और नीच गोत्र का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए साधक को गोत्र के विषय में न तो अभिमान ही करना चाहिए और न हर्ष एवं शोक ही करना चाहिए।

गोत्र शब्द का अर्थ

संसार में श्रेष्ठता एवं हीनता का विभाजन प्राय व्यक्ति या जाति के प्रभाव एवं अभ्युदय पर आधारित है। जिस व्यक्ति या जाति का प्रभाव अधिक होता है, लोगों से सत्कार-सम्मान प्राप्त होता है, उसे उच्च गोत्र या कुल कह देते हैं और जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, उसे नीच गोत्र या कुल मे मान लिया जाता है। आचार्य शीलाङ्क ने भी उच्च और नीच गोत्र की इसी प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—

"उच्चैर्गोत्रं मानसत्कारार्हे, नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते।"

प्रज्ञापना सूत्र के २३ वें पद की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि सूरि गोत्र

कर्म क विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

'गूयते-शब्दत उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद्गोत्रम्-उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षण पर्याय विशेष तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्र, कार्यकारणोपचारात् यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् (तद्) गोत्रम् ।"

'गोत्र पद में 'गो+त्र दो शब्द हैं। 'गो' का अर्थ वाणी भी होता है और 'त्र' का अर्थ है त्राण करना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वाणी का रक्षण करना गोत्र कहलाता है। वाणी या भाषा उच्च और नीच के भेद से दो प्रकार की है। जिस जो उच्च—श्रेष्ठ वाणी, भाषा या विचार का रक्षण करता है अथवा उसे धारण करता है, वह उच्च गोत्र वाला है और नीच वाणी को प्रश्रय देने वाला नीच गोत्र के नाम से पुकारा जाता है।

हम ऊपर बता आए हैं कि आठ प्रकार के मदों में जाति एवं कुल का मद या अभिमान करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है और अभिमान को अभिव्यक्त करने के लिए अन्य शारीरिक चेष्टाओं के साथ वाणी के साधन का भी प्रयोग होता है। भगवान महावीर क विषय में कहा जाता है कि भगवान ऋषभ देव के समवसरण के बाहर त्रिदण्डिक संन्यासी के वेश में साधना करते हुए अपने पिता भरत चक्रवर्ती के मुख से यह सुनकर कि तुम इस अवसर्पिणी काल में मांडलिक राजा वासुदेव एवं अंतिम —२४वें तीर्थंकर बनोगे उस त्रिदण्डिक के मन में अपने कुल का अभिमान जागृत हो गया और वह अभिमान शारीरिक उछल-कूद के साथ वाणी के द्वारा इस प्रकार प्रकट हुआ — मेरा दादा तीर्थंकर है; मेरा पिता चक्रवर्ती है और मैं मांडलिक राजा वासुदेव एवं तीर्थंकर बनूंगा। इस प्रकार मेरा कुल सर्व श्रेष्ठ है।' इसी का ही परिणाम है कि वे अपने अंतिम जन्म में ब्राह्मण कुल में ८२ दिन तक गर्भ में रहे।

इससे स्पष्ट होता है कि गोत्र का वाणी के साथ संबन्ध है। अभिमान की भाषा आध्यात्मिक दृष्टि से हेय मानी गई है। अतः कुल एवं जाति का अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण माना गया है। अतः नीच भाषा नीच कुल की प्रतीक है, तो उच्च भाषा श्रेष्ठ कुल की संसूचक है।

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि भाषा जीवन को अभिव्यक्त करने का अच्छा साधन है। इसके आधार से हम मनुष्य जीवन की गहराई माप सकते हैं। भाषा वैज्ञानिकों एवं मनोविज्ञान वेत्ताओं का यह अभिमत है कि भाषा का आचरण के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। जीवन में जितना उच्च आचरण होगा भाषा भी उसी

के आधार पर उच्चता एवं श्रेष्ठता लिए हुए होगी। और हम स्वय देखते हैं कि प्राय आचरणनिष्ठ श्रेष्ठ विचारकों की भाषा मे जितनी गभीरता रहती है, उतनी गभीरता साधारण जीवन वाले व्यक्तियों की भाषा मे नहीं पाई जाती और आचरण हीन व्यक्तियों की भाषा में नितान्त छिछलापन, अश्लीलता एवं निम्नस्तर देखा जाता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि गोत्र की उच्चता एव नीचता का आधार भाषा ही है और इसके कारण शुभ एव अशुभ कर्म का बन्ध भी होता है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि गोत्र की उच्चता एव नीचता जन्मगत नहीं अपितु कर्मजन्य है। मानव अपने श्रेष्ठ आचरण से नीच गोत्र को उच्च गोत्र के रूप में परिवर्तित भी कर सकता है। नीच कुल मे उत्पन्न होकर श्रेष्ठता की ओर बढ सकता है। जन्म और जातिगत उच्चता या नीचता से आत्म विकास पथ मे कोई रुकावट उत्पन्न नहीं होती। प्रस्तुत सूत्र मे इसी बात को स्पष्ट किया गया है।

कर्मवाद के सबन्ध मे जैन धर्म का अपना मौलिक चिन्तन है। और आज के विद्वान एवं ऐतिहासिक विचारक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि वैदिक परम्परा मे मान्य कर्म विचारणा का मूल स्रोत (ओरिजिनल सोरस) जैन परम्परा मे ही परिलक्षित होता है। वस्तुत यह सत्य भी है कि कर्मवाद पर जितना गहरा चिन्तन एव विशद विवेचन जैनागम ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है। उतना अन्य दर्शन मे कहीं नहीं मिलता। अस्तु अष्ट कर्मों के साथ गोत्र कर्म पर जितनी विराट् एव उदार दृष्टि से जैनों ने सोचा-विचारा है, उतना अन्य ने नहीं सोचा। इसलिए हमे जैन एव वैदिक उभय सस्कृतियों के गोत्र सबन्धी मान्यता में रात-दिन का अतर दिखाई देता है।

वैदिक परपरा मे गोत्र जन्मगत माना गया है। ब्राह्मणों ने अपने आपको सर्वश्रेष्ठ घोषित करके वर्णभेद की एक दीवार खडी करदी। साधना के सारे अधिकार उन्होंने अपने पास रखे। यहा तक कि शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति को वेद पढने एवं सुनने का भी अधिकार नहीं दिया गया। व्यवहारिक एव आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों मे निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का शोषण किया गया, उनके अधिकारों का अपहरण करके उन्हें मानवीय हितों से भी वचित कर दिया। उस समय भगवान् महावीर ने जन्मगत श्रेष्ठता एवं हीनता की असत्य एव अमानवीय मान्यता का विरोध किया। और इसके लिए उन्हें उस युग के एक बहुत बड़ी जातीय शक्ति का सामना भी करना पड़ा। परन्तु यह सत्य है कि उस युग में महावीर के चिन्तन ने वैदिक परपरा की नींव को एक-प्रकार से हिला दिया और उन्हें भी अपनी रूढ मान्यता मे

कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इतना तो मानना ही होगा कि भगवान महावीर के चिन्तन ने आज के विचारकों को काफी प्रभावित किया है और वे इस बात से सहमत हैं कि आत्म विकास के लिए उच्च या नीच कुल बाधक नहीं है। निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी साधना के पथ पर गतिशील हो सकता है।

पाठभेद

कुछ प्रतियों में 'पंडिय-पंडित' शब्द का उल्लेख मिलता है। और नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"एगमेगे खलु जीवे अईयद्धाए असइं उच्चागोए, असइं नीयागोए कंडगट्ठयाए नो हीणे नो अइरित्ते।" इस प्रकार उक्त पाठभेद से विभिन्न भावनाओं की सिद्धि होती है, क्योंकि विद्वानों के मन्तव्य की अपेक्षा रखती है।

प्रस्तुत सूत्र में जाति एवं कुल मद के त्याग का उपदेश दिया गया। परन्तु इसके साथ अन्य ६ मद भी त्यागने योग्य हैं, इस बात को भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार साधक को अभिमान का पूर्णतः त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होना चाहिए। उसे न नीच गोत्र की प्राप्ति पर चिन्ता करनी चाहिए और न उच्च गोत्र की उपलब्धि पर हर्ष ही करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी को अच्छे-बुरे साधन शुभाशुभ कर्म के अनुसार मिलते हैं। अतः साधक को किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देना चाहिए और शुभाशुभ कर्म फल का विचार करके हर्ष एवं शोक का त्याग करके, हर परिस्थिति में समभाव की साधना करनी चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समिए एयाणुपस्सी, तंजहा अन्धत्तं, वहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुण्टत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सवलत्तं, सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ ॥७६॥

छाया—समितः एतदनुदर्शी तद्यथा—अन्धत्वं, बधिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं कुण्टत्वं, कुब्जत्वं, वडभत्वं, श्यामत्वं, शबलत्वं सह प्रमादेन अनेकरूपा योनिः संदधाति विरूपरूपान् स्पर्शान् परिसंवेदयते।

पदार्थ—समिए—समिति से युक्त होकर। एयाणुपस्सी—यह देखने वाला हो। तंजहा—जैसे कि। अन्धत्त—अन्धापन। बहिरत्त—बहरापन। मूयत्त—गूंगापन। काणत्त—कानापन।

कुण्टत्त—हाथो की वक्रता। खुज्जत—कुब्जत्व-वामनपन। वडभत्त—कुवडापन। सामत्त—श्यामता-कानापन। सवलत्त—चितकवरापन। सह पमाएण—प्रमाद के कारण से होता है, और प्रमादी जीव। अणेगरूवाओ—नाना प्रकार की। जोणीओ—योनियो में। सधायइ—जन्म लेता है, और। विरूवरूवे—विभिन्न। फासे—स्पर्शो-दु खो का। परिसवेयइ—सवेदन करता है।

मूलार्थ—समिति युक्त जीव अर्थात् सयमी पुरुष कर्म विपाक को इस प्रकार देखता है कि ससार मे जीवो को अन्धापन, बहरापन, गूगापन, कानापन, हाथो की वक्रता, वामन रूप, कुबडापन, कालापन एव चितकवरापन आदि की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमादी जीव ही विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होता है और वहा अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु खो का सवेदन करता है।

हिन्दी विवेचन

संसार विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार युक्त शरीरधारी जीवों से भरा हुआ है। इस विभिन्नता एवं विचित्रता का कारण कर्म है। अपने कृत कर्म के अनुसार ही प्रत्येक प्राणी अच्छे या वुरे साधनों को प्राप्त करता है। इतना स्पष्ट होते हुए भी इस वात को वही जानता है, जो व्यक्ति समिति—संयम से युक्त है, अन्य व्यक्ति इस वात को सम्यकतया नहीं जानता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समिए' शब्द महत्वपूर्ण आदर्श की ओर निर्देश करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि किसी विपय को जानने का काम ज्ञान का है अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक वात को भली-भाति जान-देख लेता है। फिर यहा ज्ञान युक्त व्यक्ति का निर्देश नहीं करके समिति युक्त व्यक्ति का जो निर्देश किया गया है, उसके पीछे गभीर भाव अन्तर्निहत है।

समिति आचरण-चारित्र की प्रतीक है। और जैन दर्शन की यह मान्यता है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं। दोनों एक साथ रहते हैं, परन्तु चारित्र के संबंध मे यह नियम नहीं है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र की भजना मानी है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र हो भी सकता और नहीं भी हो सकता है। परन्तु चारित्र के साथ ज्ञान की नियमा मानी है अर्थात् जहा सम्यक् चारित्र होगा, वहा सम्यक

दर्शन और ज्ञान अवश्य ही होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समिति शब्द से ज्ञान और दर्शन का भी स्पष्ट बोध हो जाता है। समिति युक्त व्यक्ति ज्ञान युक्त होता ही है।

ज्ञान विषय का अवलोकन मात्र करता है, आचरण नहीं। और यहां सूत्रकार को केवल विषय का बोध करना ही इष्ट नहीं है प्रत्युत उस बोध को ज्ञान को जीवन में क्रियात्मक रूप देने की प्रेरणा देना है। इसलिए सूत्रकार ने ज्ञान युक्त शब्द के स्थान में समिति युक्त शब्द का प्रयोग किया है। सम्यक् प्रकार से आचरण में प्रवृत्तमान व्यक्ति ही कर्मजन्य दोनों का सम्यग् ज्ञान करके उन दोनों से अपने आपको बचा सकता है। वह अपने ज्ञान से इस बात को भली-भांति जान लेता है कि संसार में अन्धे, बहिरे मूक, काने वामन कुबड़े, विकृत हाथ-पैर वाले, चितकबरे, कुष्ट आदि रोगों से पीड़ित व्यक्ति अपने पूर्वभव में किए गए प्रमाद युक्त आचरण का फल पा रहे हैं। अर्थात् प्रमाद के आसेवन से आत्मा विभिन्न योनियों में जन्म लेता है और उक्त विभिन्न प्रकार की शारीरिक विकृतियों एवं स्पर्श जन्य दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए संयमी पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए, उसे अपनी साधना में सदा जागरूक रहना चाहिए।

समिति का अर्थ है—विवेक के साथ संयम मार्ग में प्रवृत्त होना। और वह पांच प्रकार की है— १-ईर्यासमिति २-भाषासमिति, ३-एषणासमिति, ४-आदान-निक्षेप समिति, और ५-उत्सर्ग समिति।

१ ईर्यासमिति—	विवेक पूर्वक गमनागमन करना।
२. भाषासमिति —	विवेक पूर्वक संभाषण करना।
३ एषणासमिति—	विवेक पूर्वक आहार आदि की गवेषणा करना।
४ आदाननिक्षेपसमिति—	वस्त्र-पात्र आदि विवेक से रखना एवं उठाना।
५ उत्सर्गसमिति —	मल-मूत्र आदि का विवेक पूर्वक उत्सर्ग करना।

उक्त समिति से युक्त साधक प्रमाद एवं तज्जन्य अशुभ कर्मों के फल को भली भांति देखकर, सदा उनसे बचने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखता है और सदा अप्रमत्त भाव से साधना पथ पर गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

अन्धत्व आदि के दो भेद किए हैं—१ द्रव्य और २-भाव। आंखों में देखने की शक्ति का अभाव द्रव्य अन्धत्व है और ज्ञान चक्षु का अभाव [illegible]

भाव अन्धत्व है। और उभय दोषों से आत्मा विभिन्न दु खों एव कष्टों का संवेदन करती है। द्रव्य अन्धत्व से वह पराधीनता के दु ख का अनुभव करती है और भाव अन्धत्व के कारण नरक-तिर्यंच आदि विभिन्न योनियों मे अनेक प्रकार के कष्टों का सवेदन करती है। अन्धत्व की तरह अन्य दोषों को भी समझ लेना चाहिए।

अन्धत्वादि दोषों की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद के कारण जीव ससार में परिभ्रमण करते हैं। अत जो जीव प्रमाद के वश हिताहित मे विवेक नहीं करते अर्थात् अपने अज्ञान के कारण हित को अहित एव अहित को हित समझते हैं, उनकी जो स्थिति होती है, उसका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्ट-माणे,/जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममाय-माणाणं,आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परि-गिज्झति तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परिया-समुवेइ ॥८०॥

छाया— स अबुध्यमानः हतोपहतो जातिमरणमनुपरिवर्तमानः जीवितं पृथक् प्रियमिहैकेषां मानवानां क्षेत्र वास्तु ममायमानानाम् आरक्तं, विरक्तं, मणिकुण्डल सह हिरण्येन स्त्रीः परिगृह्य तत्रैव रक्ताः नात्र तपो वा, दमो वा, नियमो वा दृश्यते सम्पूर्णं बालो जीवितुकामःलालप्यमानः मूढ विपर्यासमुपैति

पदार्थ—से—वह अह भाव युक्त। अबुज्झमाणे—कर्म स्वरूप को नही जानने वाला प्राणी। हओवहए—विभिन्न व्याधियो से पीडित होकर एव अपयश को प्राप्त करके। जाइमरण—जन्म-मरण के चक्र मे। अणुपरियट्टमाणे—परिभ्रमण करता रहता है। इह—इस ससार मे। खित्त वत्थुममायमाणाण—खेत मकान आदि मे ममत्व रखने वाला। एगेसिं माणवाणं—किन्ही मनुष्यो को। पुढो—पृथक्-पृथक् प्रत्येक को। जीविय—असयम जीवन। पिय—प्रिय है। आरत्तं—रगे हुए वस्त्रादि। विरत्तं—विभिन्न रग वाले वस्त्र आदि। मणि—नीलमादि मणि। कुण्डल—कानो के कुण्डल। सह हिरण्णेण—स्वर्ण आदि के साथ। इत्थियाओ। इस्त्रियो को परिगिज्झति। प्राप्त करते हैं। तत्थेव—तथा उक्त पदार्थों मे। रत्ता। मूर्छित होते हुए,।

विषयों मे अत्यधिक ममता-मूर्छा के कारण उसके विचारों में विपरीतता आ जाती है। इसीलिए कहा गया है कि वह 'विप्परियासमुवेइ' अर्थात् विपरीतता को प्राप्त होता है। तत्त्व मे अतत्त्व और अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि रखने का नाम विपर्यास है। यही विपरीत-विचारणा आत्मा को संसार मे परिभ्रमण कराती है।

सांसारिक भोगों की पूर्ति धन एवं स्त्री दोनों की प्राप्ति होने पर होती है। धन की प्राप्ति हो परन्तु स्त्री का अभाव हो तो वैषयिक सुख की पूर्ति नहीं हो सकती और वैषयिक सुख का साधन स्त्री तो हो, परन्तु धन का अभाव हो तब भी भोगोपभोग का पूरा आनन्द नहीं आ सकता। क्योंकि भोगेच्छा की पूर्ति के साधनों को जुटाने के लिए धन की अपेक्षा रहती है। अतः विषय-वासना की पूर्ति के लिए दोनों साधन अपेक्षित है। सूत्रकार ने यही बात 'सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति' शब्द से अभिव्यक्त की है। और साथ मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि विषयासक्त प्राणी भोगों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलाप करते रहते है। अर्थात् भोग भोगते हुए भी उन्हें तृप्ति नहीं होती और न वास्तविक सुख की ही अनुभूति होती है।

अतः साधक को वासना का परित्याग करके आत्म विकास की ओर बढना चाहिए। अब सूत्रकार आत्म साधना के पथ पर बढने वाले साधकों के विषय मे कहते हैं—

मूलम्—इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो। जाईमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे। नत्थि कालस्स णागमो, सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोयणाए। तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभयं महोवगरणं भवइ तंपि से एगया दायाया वा विभयंति अदत्तहारो वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुम्पंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ। इय से परस्सऽट्ठाए

कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण समूढे विप्परि
यासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, नो य
ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा
एए, नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे
न चिट्ठइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिट्ठइ ॥८१॥

छाया— इदमेव नावकांक्षन्ति ये जनाः ध्रुवचारिणः जाति मरणं परिज्ञाय, चरेत् संक्रमणे दृढः । नास्ति कालस्य नागमः सर्वे प्राणिनः प्रियायुषः, सुखास्वादाः दुःख प्रतिकूलाः अप्रिय वधाः प्रिय जीविनः, जीवितुकामाः सर्वेषां जीवितं प्रियं तत् परिगृह्य द्विपदं चतुष्पदं अभियुज्य संसिच्य त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा स तत्र गृद्धः तिष्ठति भोजनाय ततः तस्यैकदा विविधं परिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति तमपि तस्य एकदा दायादा विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य अगार दाहेन (गृहदाहेन) वा तस्य दह्यते इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन संमूढः विपर्यासमुपैति मुनिना खलु एतत् प्रवेदितं अनोघन्तराः एते न च ओघं तरितुं अतीरंगमाः एते न च तीरं गन्तुम् अपारंगमाः एते न च पारं गन्तुम् आदानीयं चादाय तस्मिन् स्थाने न तिष्ठति वितथं प्राप्याखेदज्ञः तस्मिन् स्थाने तिष्ठति ।

पदार्थ—जे—जो । जण—जन । धुवचारिणो—ध्रुवचारी मोक्ष साधक ज्ञान दर्शनादि सम्यग् आचरण करने वाले हैं वे । इणमेव—पूर्वोक्त असंयम जीवन को । नावकंखंति—नहीं चाहते हैं । किन्तु । जाइमरणं—जन्म-मरण के स्वरूप को । परिन्नाय—जानकर । संकमणे—चारित्र में । दढे—दृढ होकर । चरे—धर्म-विचरे । कारण कि । कालस्स—काल का । णागमो—अनागमन । नत्थि—नहीं है, अर्थात् मृत्यु का समय अनिश्चित है और । सव्वे—सब । पाणा—प्राणियों को । पियाउया—अपनी आयु प्रिय है तथा सब जीव । सुह साया—सुख चाहने वाले हैं और । दुक्ख पडिकूला—दुःख वध को प्रतिकूल है । अप्पियवहा—वध उनको अप्रिय

है। पियजीविणो—जीवन सब को प्रिय है और वे जीव। जीविउकामा—जीवन की इच्छा करने वाले हैं और। सव्वेसिं—सर्व जीवो को। जीविय—असयममय जीवन। पिय—प्रिय है। त—उस असयमय जीवन को। परिगिज्झ—ग्रहण करके। दुप्पय—द्विपाद-मनुष्यादि नौकर चाकर। चउप्पय—चतुष्पाद-गो महिषी और अश्व आदि पशुओ को। अभिजुञ्जिया—कार्य में नियुक्त करके तथा। ससिचया—धन का सञ्चय करके। तिविहेण—तीन करण व तीन योग से। जाऽवि—जो कुछ भी। से—उसे। तत्थ—उस में। मत्ता—माया (धन) आदि पदार्थों की इयत्ता भवई—प्राप्त होती है। अप्पा वा—अल्प अथवा। बहुया वा—बहुत धन मात्रा के। से—वह व्यक्ति। तत्थ—धन मात्रा के। भोयणाए—उपभोग के लिए। गड्ढिए चिट्ठइ—आसक्त बना रहता है। तओ—तत्पश्चात्। से—उसके पास। एगया—किसी समय। विविह—नाना प्रकार का परिसिट्ठ—भोगने से बचा हुआ। सभूय—सभूत पर्याप्त। महोवगरण—महा उपकरण-द्रव्य समूह एकत्रित। भवइ—हो जाता है। से—उसकी। तपि—उस एकत्रित धन राशि का भी। एगया—एक समय-भाग्य के क्षय होने पर। दायाया—सम्बन्धी जन। विभयति—बाट लेते हैं। वा—अथवा। अदत्तहारो—दस्यु-चोर। से—उस के धन को। अवहरति—चुरा ले जाते हैं। वा—अथवा। रायाणो—राजा लोग। से—उसके धन को। विलुम्पति—लूट लेते हैं। वा—अथवा। से—उसका वह धन। नस्सइ—व्यापारादि में नष्ट हो जाता है। वा—अथवा। से—उसका वह धन। विणस्सइ—अन्य प्रकार से नष्ट हो जाता है। वा—अथवा। से—वह उस का धन। अगारदाहेण—घर के दग्ध होने से। डज्झई—जल जाता है। इय—इस प्रकार। से—वह धन के सम्पादन करने वाला। परस्सट्ठाए—दूसरो के लिए। कूराइ—क्रूर। कम्माइ—कर्म। पकुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस। दुक्खेण—कर्म विपाक जन्य दुःख से। समूढे—विवेक शून्य होता हुआ। विपरियासमुवेइ—विपर्यास भाव को प्राप्त होता है विकल बुद्धि वाला हो जाता है। हु—निश्चय ही। एय—यह विषय। मुणिणा—मुनि, तीर्थंकर देव ने। पवेइय—सम्यक् प्रकार से प्ररूपित किया है कि। एए—ये। अन्यतीर्थी लोग सब ज्ञान और चारित्र से हीन। अणोहतरा—अनोघन्तर हैं—अर्थात् इन्हो ने ससार सागर को अथवा आठ प्रकार के कर्मों के ओघ को नही तरा है। नो य—और नाहि वे। ओह—ससार समुद्र को। तरित्तए—तैरने मे समर्थ ही हैं। एए—ये सब। अतीरगमा—तीर को प्राप्त नही कर पाए हैं। नो य—और नाहि। तीरगमित्तए—तीर को प्राप्त करने मे समर्थ ही हैं। एए—ये सब। अपारगमा—पार को प्राप्त नही कर पाए हैं। नो य—और नाहि। पारगमित्तए—पार को प्राप्त करने मे समर्थ ही हैं। आयाणिज्ज—आदानीय श्रुत-ज्ञान को। आयाय—ग्रहण करके। तमि ठाणे—उस सयम स्थान में। अवेयन्ने—अज्ञानी जीव। न चिट्ठइ—नही ठहरता है अपितु। वितह—मिथ्या उपदेश को। पप्प—प्राप्त करके। तमि—उस। ठाणमि—असयम स्थान में। चिट्ठइ—स्थित रहता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! जो मोक्ष के साधक हैं वे इस असंयम जीवन की इच्छा नहीं रखते हैं। अतः तुम जन्म मरण के स्वरूप को जानकर संयम मार्ग में दृढ़ होकर रमो।

काल मृत्यु के आने का कोई समय नियत नहीं है। न जाने कब आ जाए। सब प्राणियों को जीवन प्रिय है सभी सुख की अभिलाषा रखते हैं, और दुःख सब को प्रतिकूल है, सभी को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है सभी जीवन की कामना करने वाले हैं, सब जीवों को जीवन प्रिय है असंयम जीवन के आश्रित होकर द्विपद मनुष्य, दास दासी आदि और चतुष्पद पशु गाय भैंस आदि और अश्व आदि को उन उन कार्यों में नियुक्त करके और इस प्रकार धन का संचय करके उस एकत्रित धन की अल्प अथवा अधिक मात्रा के उपभोग करने में प्राणी मन, वचन और काय से आसक्त रहता है किसी समय लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत सा धन भोगने के पश्चात भी उसके पास शेष रह जाता है। किसी समय अन्तराय कर्म के उदय से अथवा भाग्य के क्षय हो जाने पर उस संचित धन को उसके सगे सम्बन्धी आपस में बांट लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं राजा लूट लेता है व्यापार अथवा अन्य प्रकार से उसका विनाश हो जाता है एवं घर में आग लगने से वह दग्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरों के लिए अत्यन्त क्रूर कर्मों को करता हुआ उस दुःख से मूढ़ होकर विकलता को प्राप्त हो जाता है तीर्थंकर देव ने ही यह प्रतिपादन किया है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित ये सब अन्यतीर्थी लोग असार समुद्र को न तो तर ही पाए हैं और न तरने में समर्थ हो हैं। तथा ये सब न तो तीर-किनारे को प्राप्त हुए हैं और न प्राप्त करने में समर्थ हो हैं। अतएव ये सब पार नहीं पहुंचे हैं और पार होने में समर्थ भी नहीं हैं। श्रुतज्ञान को धारण करने पर भी अज्ञानी असंयत जीव संयम स्थान में स्थित नहीं रहता है अपितु मिथ्या उपदेशों को

प्राप्त करके असयम स्थान मे स्थित रहता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधना के प्रशस्त मार्ग का तथा उसके प्रतिबन्ध कारणों का विवेचन किया गया है। इसके लिए सूत्रकार ने 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है। ध्रुव का अर्थ स्थायी होता है और मोक्ष में आत्मा सदैव स्थित रहती है। कर्म वन्धन से मुक्त होने के वाद आत्मा फिर से ससार में नहीं लौटती है। इसलिए मोक्ष को ध्रुव कहा है। और इसके विपरीत ससार अध्रुव कहलाता है। और इसी कारण सासारिक वैषयिक सुख भी अस्थिर, क्षणिक एव अध्रुव कहलाते हैं। अत मोक्षाभिलाषी साधक क्षणिक, विनश्वर और परिणाम में दु ख रूप विषय-भोगों की आकाक्षा नहीं रखते, इतना ही नहीं, अपितु वे तो प्राप्त भोगों का त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि ये ऊपर से आकर्षक एव सुहावने प्रतीत होने वाले विषय सुख आत्मा को पतन के गर्त मे गिराने वाले हैं। इस लिए वे उनके प्रलोभन मे नहीं फसते।

प्रथम तो भौतिक सुख-साधन ही अस्थिर हैं। जो धन-वैभव आज दिखाई दे रहा है, वह कल ही नष्ट हो सकता है। और परिक्षीण होने पर उसकी समाप्ति के अनेक कारण उपस्थित हो जाते हैं। कभी परिवार से विभक्त हो जाने के कारण ऐश्वर्य की शक्ति कम हो जाती है या चोर लूट ले जाते हैं नदी आदि के प्रवाह मे वह जाता है, आग मे जल जाता है या व्यापार में हानि हो जाती है। इस प्रकार सपत्ति के स्थिर रहने का कोई निश्चय नहीं है। और दूसरे यह जीवन भी अस्थिर है। कोई नहीं जानता कि काल किस समय आकर सारे वने-वनाए खेल को ही बिगाड़ दे। समस्त वैभव एवं परिवार यहीं पड़ा रहता है और व्यक्ति अगले लक्ष्य पर चल पडता है। उसकी समस्त अभिलाषाए, भोगेच्छाए मन मे ही रह जाती हैं, सब भोग के साधन यहीं रह जाते हैं। वह तो केवल कर्म वन्धन का बोझ लेकर चल पड़ता है। अस्तु सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अभाव मे व्यक्ति भोगेच्छा की पूर्ति के लिए अनेक पाप कर्म करता है, विषय-वासना मे आसक्त रहता है और कभी-कभी पापकर्म को वाध कर भी प्राप्त किए गए भोगों को भोग नहीं सकता। इस लिए साधक को इन भोगों से अलग रहना चाहिए। क्योंकि विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति ससार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'ध्रुव चारिणो' का अर्थ है— "ध्रुवो मोक्षस्तत्कारण च ज्ञानादि ध्रुव तदाचरितुशील येषां ते" अर्थात्— ध्रुव नाम मोक्ष का है, अत उस

के साधन मूल ज्ञानादि साधन भी धुव कहलाते हैं। इनका सम्यक्तया आचरण करने वाला ध्रुवचारी कहलाता है इसके अतिरिक्त धूत चारिणो पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है— 'धुनातीति धूतं— चारित्रं तच्चारिण' अर्थात्— कर्म रज को धुनने— झाड़ने वाले साधन को धूत कहते हैं। सम्यक् चारित्र से कर्म रज की निर्जरा होती है। अतः सम्यक्चारित्र को धूत कहा है और उसकी आराधना करने वाले मुनि को धूतचारी कहा गया है।

'संकमणे दढे' पद का अर्थ है— संक्रम्यतेऽनेनेति संक्रमणं चारित्रं तत्र दृढ़— विस्रोतसिकारहित परीषहोपसर्गे निष्प्रकम्प.।" अर्थात्— संक्रमण चारित्र का नाम है। अतः परीषह एवं उपसर्ग उपस्थित होने पर भी दृढ़ता पूर्वक चारित्र का परिपालन करने वाले साधक को संकमणे दढे— चारित्र में दृढ़ कहा जाता है। साधक की कसौटी परीषह के समय ही होती है। संकट के समय ही विचलित नहीं होने वाला मुनि ही आत्म साधना के पथ पर आगे बढ़ता है।

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया' आदि पाठ से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान महावीर के युग में हिंसा का प्राबल्य था। यों तो हर युग में हिंसक व्यक्ति मिल ही जाते हैं। परन्तु उस युग में हिंसा का प्रचार इतना बढ़ गया था कि धर्म स्थान भी वध स्थान से बन रहे थे। यज्ञ की वेदियें खून से रंगी रहती थीं। धर्म के नाम पर हजारों-लाखों पशुओं की गर्दनों पर छुरियें चलती थीं। यही कारण है कि भगवान महावीर ने हिंसक यज्ञों का विरोध किया। और लोगों को यह बताया कि संसार का प्रत्येक जीव सुख चाहता है दुःख सबको अप्रिय लगता है सभी प्राणी दुःख की एवं मृत्यु की दारुण वेदना से बचना चाहते हैं, जीवन सबको प्रिय है। इस लिए मनुष्य पुरुष को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में यही कहा है†।

कुछ प्रतियों में "सव्वे पाणा पियाप्पाया" यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है— सब प्राणियों को अपनी आत्मा प्रिय है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि कोई भी आत्मा अपने पर होने वाले आघात को नहीं चाहता है। अतः साधक को चाहिए वह किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाए।

जो व्यक्ति हिंसा झूठ आदि पापों में आसक्त हैं उन व्यक्तियों को प्रस्तुत सूत्र में अनोघतर कहा है। ओघ दो प्रकार का होता है— १-द्रव्यओघ और २-भावओघ। नदी के प्रवाह को द्रव्य ओघ कहते हैं। और अष्टकर्म या संसार को भावओघ कहते

---

† सव्वे जीवा वि इच्छन्ति।

हैं और इस ससार रूपी सागर को पार करने वाले व्यक्ति को ओघतर कहते हैं। परन्तु वही व्यक्ति इसे तैर कर पार कर सकता है, जो हिंसा आदि दोषों से मुक्त है। उक्त दोषों में आसक्त एवं प्रवृत्त व्यक्ति इसे पार करने में असमर्थ है। इसलिए सूत्रकार ने उसे अनोघतर, अतीरगम और अपारंगम कहा है। यहा उक्त शब्द भाव ओघ अर्थात् ससार सागर के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। तीर और पार शब्द के अर्थ में इतना ही अन्तर है— 'तीर' शब्द मोह कर्म का क्षय को व्यक्त करता है और 'पार' शब्द शेष अन्य तीन घातिक कर्मों के क्षय का संसूचक है। अथवा 'तीर' शब्द से चारों घातिक कर्मों का क्षय और 'पार' शब्द से चारों अघातिक कर्मों का क्षय करने का अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि पापों मे प्रवृत्ति करने वाले व्यक्ति अष्ट कर्मों का क्षय करके ससार सागर को पार नहीं कर सकते हैं।

इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह उपदेश किसके लिए है ? प्रबुद्ध पुरुष के लिए या मूढ़ व्यक्ति के लिए ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देसो पासगस्स नत्थि बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ, त्तिबेमि ॥८२॥

छाया—उद्देश (उपदेश) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनस्निह कामसमनोज्ञः अशमितदु ख दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तमनुपरिवर्तते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देसो—उपदेश। पासगस्स—तत्वज्ञ-प्रबुद्ध पुरुषो के लिए। नत्थि—नही है। बाले पुण—फिर अज्ञानी व्यक्ति। निहे—राग युक्त। कामसमणुण्णे—काम भोगो का आसेवन करने वाला। असमिय दुक्खे—जिसके अभी तक दु ख उपशान्त नही हुए हैं, ऐसा। दुक्खी—दु खी प्राणी। दुखाणमेव—दु खो के। आवट्ट—चक्र मे। अणुपरियट्टइ—परिभ्रमण करता रहता है।

मूलार्थ—तत्वज्ञ पुरुष के लिए उपदेश की आवश्यक्ता नही होती। अज्ञानी जीव राग-युक्त और विषय-भोगो मे आसक्त होता है अत उसके दुःख उपशांत नही होते है ऐसा दुःखी प्राणी दु खो के चक्र मे ही परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ या प्रबुद्ध और बाल दो प्रकृतियों का

विश्लेषण किया गया है। इसमें बताया गया है कि जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ है, प्रबुद्ध है उसके लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह विषय-वासना से प्राप्त होने वाले कटु फल को भली-भांति जानता है, अतः वह उससे निवृत्त हो चुका है और उससे निर्लिप्त रहने के लिए अपनी साधना में सदा सजग रहता है। परिणाम स्वरूप, वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता और न दुःख के प्रवाह में प्रवहमान ही होता है।

इसके विपरीत, जो वासना के कटु फल को नहीं जानता है, ऐसा अज्ञानी व्यक्ति दुःखों का उपशमन करने के लिए विषय-भोगों का आसेवन करता है। जैसे गर्मी की ऋतु में पसीने से भीगा बालक खेलते-कूदते घर में आता है और सारे वस्त्र उतार कर पसीना सुखाने के लिए नंगे शरीर धूप में आ खड़ा होता है। वह समझता है कि भीगे हुए वस्त्रों की तरह धूप मेरे पसीने को सुखा देगी। परन्तु परिणाम इसके विपरीत देखने में आता है, अर्थात् पसीना सूखने के स्थान में अधिक आने लगता है। यही स्थिति भोगों से दुःख दूर करने वाले अज्ञानी जीवों की होती है। उससे दुःख कम नहीं होते अपितु बढ़ते हैं। क्योंकि दुःख का मूल कारण राग-द्वेष आसक्ति एवं मोह है और विषय-भोग एवं भौतिक ऐश्वर्य का संप्राप्त करने से उसका प्रवाह रहता है। अतः उससे दुःखों की एवं जन्म मरण की परम्परा में अभिवृद्धि होती है। ऐसा समझकर साधक को भोगों से सदा दूर रहना चाहिए। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में विषय-भोगों में आसक्त नहीं रहने का उपदेश दिया है। और चौथे उद्देशक के प्रारम्भ में भोगासक्त जीवों की जो दुर्दशा होती है, उसका सजीव चित्र चित्रित करके बताया है कि इन जीवों की भोगेच्छा, विषयाभिलाषा एवं ऐश्वर्य की तृष्णा तो पूरी होगी, या न होगी अर्थात् उसकी पूर्ति होने में असंदिग्धता नहीं है। कभी आंशिक रूप से हो भी सकती है और कभी नहीं भी हो सकती है। अतः उसकी पूर्ति हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि भोगों की आशा, तृष्णा, आकांक्षा एवं अभिलाषा के शल्य की चुभन तो उसे अनवरत पीड़ित करती ही रहेगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ से एगया रोग समुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगामेव अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं ॥८३॥

छाया—ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते यैः वा सार्द्धं संवसति त एव एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति स वा तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं भोगानेव अनुशोचन्ति इहैकेषां मानवानाम्।

पदार्थ—तओ—इस काम भोग के सेवन से। से—उस कामी व्यक्ति को। एगया—किसी समय असाता वेदनीय कर्म के उदय से। रोग समुप्पाया—रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जेहिं वा सद्धिं—जिनके साथ। संवसइ—रहता है। ते एव णं—वे ही। नियया—स्वजन-स्नेही

पुव्विं — पहले । परिवयंति — उसकी निन्दा करने लगते हैं । वा — अथवा । सो — वह रोगी । ते णियगे — उन सम्बन्धियों की । पच्छा — पीछे । परिवएज्जा — निन्दा करता है । कभी निन्दा न भी करे तब भी । ते — वे सम्बन्धी । तव — तेरी । ताणाए — रक्षा करने में । वा — अथवा तुम्हें । सरणाए — शरण देने में । णालं — समर्थ नहीं हैं तथा । तुमंपि — तू भी । तेसिं — उनकी । ताणाए — रक्षा करने में । वा — अथवा । सरणाए — शरण देने में । णालं — समर्थ नहीं है यह । जाणित्तु — जानकर कि । दुक्खं — दुःख और । सायं — सुख को । पत्तेयं — प्रत्येक प्राणी अपने कृत कर्मानुसार स्वयं भोगता है अतः रोगोत्पत्ति के समय मन में संकल्प-विकल्प एवं दुर्भावना नहीं लानी चाहिए ।

परन्तु कुछ प्राणी । भोगामेव — भोगों का ही । अणुसोयंति — चिन्तन करते रहते हैं । इहमेगेसिं माणवाणं — इस संसार में कुछ एक मनुष्यों को भोग विषयक अध्यवसाय होता है ।

मूलार्थ—आसक्ति पूर्वक काम भोगों के आसेवन से अथवा असाता वेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसा रोगी जिनके साथ रहता है वे सम्बन्धी उसका तिरस्कार एवं उसकी निन्दा करने लगते हैं और वह भी पीछे से उनकी निंदा करता है यदि कभी ऐसी स्थिति न भी आए तब भी वे सम्बन्धी उस की रक्षा करने एवं उसे शरण देने में समर्थ नहीं हैं और न ही उनका रक्षण करने एवं उन्हें शरण देने में वह समर्थ है ।

यह जान कर कि प्रत्येक प्राणी अपने शुभाशुभ कृत कर्म के अनुसार सुख दुःख का संवेदन करता है । अतः रोग आदि कष्ट के समय व्यक्ति को अधीर एवं व्याकुल नहीं होना चाहिए, कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो उस वेदना से बचने के लिए अनवरत भोगों का चिंतन करते रहते हैं रात दिन विषय वासना में ही संलग्न रहते हैं ।

हिन्दी विवेचन

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं कि जो दिन-रात विषय भोगों में निमज्जित रहते हैं । वैषयिक जीवन को ही सुखमय मानते हैं । अतः अत्यधिक भोगों के कारण या असाता-वेदनीय कर्मोदय से कई रोग उत्पन्न हो जाता है । और उस भयंकर व्याधि के समय यथोचित सेवा शुश्रूषा की व्यवस्था न होने से रोगी एवं परिवार के व्यक्तियों में परस्पर कटुता भी उत्पन्न हो जाती है । और फल स्वरूप एक-दूसरे

को भला-बुरा भी कहने लगते हैं। इससे दोनों के जीवन में मनोमालिन्य बढ़ता है और उसकी वेदना में अभिवृद्धि होती है।

अत साधक को वेदना के समय किसी को दोष न देकर यह सोचना चाहिए कि यह वेदना मेरे अशुभ कर्म के उदय का ही फल है और इसे मुझे ही भोगना है। क्योंकि कृत कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, मुक्ति नहीं मिलती*। और इस वेदना से मुझे मेरी आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं बचा सकता है। परिवार के व्यक्ति न तो इससे मेरी रक्षा ही कर सकते हैं और न मुझे शरण ही दे सकते हैं और मैं भी उनकी रक्षा करने या उन्हें शरण देने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसे समय में धैर्य, सहिष्णुता एवं समभाव ही सच्चे सहायक हैं। उन्हीं के सहयोग से वेदना की अनुभूति कम हो सकती है। ऐसा सोचकर साधक को वेदना के समय भी शांति एव धैर्यता रखनी चाहिए।

परन्तु जिन व्यक्तियों में ज्ञान की कमी है, वे उस समय अधीर हो उठते हैं। वैषयिक सुख को भोगने मे समर्थ न होने पर भी रात-दिन उसके चिन्तन मे ही सलग्न रहते हैं†। और उसे सप्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं।

भोगोपभोग के साधनों की प्राप्ति के लिए धन-वैभव की आवश्यक्ता होती है। उसके बिना साधनों की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति धन को बटोरने में कृत-अकृत सभी कार्य कर गुजरता है, फिर भी वह धन उसका सहायक नहीं बनता। उसका सरक्षण नहीं कर पाता। इसी सत्य को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तिविहेण जावि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुगा वा से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोयणाय, तओ से एगया विपरि-

---

*कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तराध्ययन सूत्र

†भोगा —शब्दरूप रसगन्धस्पर्शविषयाऽभिलापास्तानेवानुशोचयन्ति-कथमस्यामप्यवस्थाया वय भोगान् भुङ्क्ष्महे ?, एवंभूता वाऽस्माकंदशाऽभूद् येन मनोज्ञा अपि विषया उपनता नोपभोगायेति। ईदृक्षश्चाध्यवसाय केषाचिदेव भवतीत्याह-'इहमेगेसि' 'इह' ससारे एकेषामनवगत्-विषयविपाकानां ब्रह्मदत्तादीनां मानवानामेवभूतोऽध्यवसायो भवति, न सर्वेषां, सनत्कुमारादिना व्यभिचारात्।

सिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया विभयन्ति, अदत्ताहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुम्पन्ति नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इय से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥८४॥

छाया—त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा तस्य तत्र गृद्धस्तिष्ठति भोजनाय ततस्तस्य एकदा विपरिशिष्टं संभृतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्यैकदा दायादा विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते अतः स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति ।

पदार्थ—तिविहेणं—तीन करण और तीन योग से एकत्रित की हुई । जावि—जो कुछ भी । से—उसकी । तत्थ—वहां पर । मत्ता—अर्थ मात्रा । भवइ—होती है । अप्पा वा बहुगा वा—अल्प या बहुत । तत्थ—उस अर्थ-द्रव्य में । भोयणाए—उसका उपभोग करने के लिए । से—वह व्यक्ति । गढिए चिट्ठइ—आसक्त बना रहता है । तओ—तत्पश्चात् । से—उसके पास । एगया—किसी समय । विपरिसिट्ठं—भोग के पश्चात् शेष बचा हुआ । संभूयं—प्रचुर मात्रा में । महोवगरणं—महान् धन । भवइ—एकत्रित हो जाता है । से—उसके—तंपि—उस एकत्रित धन को भी । एगया—किसी समय । दायाया—सगे सम्बन्धी । विभयंति—परस्पर बांट लेते हैं । अदत्तहारो वा—अथवा चोर । से हरति—उस धन को चुरा लेते हैं । रायाणो वा—राजा लोग । से विलुम्पंति—उस धन को विभिन्न कर के रूप में लूट लेते हैं । वा—अथवा । से—उसका धन । नस्सइ—नष्ट हो जाता है । वा से—या उसका धन । विणस्सइ—विनष्ट हो जाता है । वा—अथवा । अगारदाहेण—घर में आग लग जाने से । से—उसका धन । डज्झइ—जल जाता है । इय—इस प्रकार से । से—वह अज्ञानी जीव । परस्सट्ठाए—दूसरों के लिए । कूराणि कम्माइं—क्रूर कर्म । पकुव्वमाणे—करता हुआ । तेण—उस । दुक्खेण—दुःख से । मूढे—मूढ बना हुआ । विप्परियासमुवेइ—विपरीतभाव को प्राप्त हो जाता है ।

मूलार्थ—त्रिकरण और त्रियोग से एकत्रित की हुई सपत्ति की अल्प या बहुत मात्रा के उपभोग मे वह व्यक्ति आसक्त रहता है। और उपभोग करने के बाद अवशिष्ट विशाल धन राशि को जिसे उसने अपने कष्ट के समय या पुत्र आदि के लिए सग्रह करके रखा था, उसके परिजन आपस मे बाट लेते हैं या विभिन्न कर लगाकर तथा अन्य किसी बहाने से राजा ले लेता है, चोर चुरा लेता है या व्यापार मे हानि होने से वह नष्ट, विनष्ट हो जाती है या घर मे आग लगने से जल जाती है। इस तरह उस धन का नाश हो जाता हैं और उसका सग्रह कर्त्ता अज्ञानी जीव दूसरो के लिये क्रूर कर्म कर के उपार्जित धन का नाश होने पर विमूढ या विक्षिप्त होकर विपरीत भाव को प्राप्त होता है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य धन के लिए दूसरों का हिताहित नहीं देखता। वह येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने में लगा रहता है और दिन-रात उसका संचय करता रहता है। परन्तु वह धन कभी स्थायी नहीं रहता। कभी परिजन उसे बाट कर खा जाते हैं, तो कभी राजा विभिन्न प्रकार के—कर लगाकर या निर्माण योजना आदि के बहाने उससे धन ले लेता है। कभी चोर-डाकू उसे लूट ले जाते हैं, तो कभी व्यापार आदि में घाटा पड़ जाने से उसका नाश हो जाता है या कभी घर मे आग लग गई तो उसमें जलकर भस्म हो जाता है। इस तरह अनेक प्रकार से उसका ह्रास हो जाता है। परन्तु उससे आत्मा का जरा भी हित नहीं होता। इतना अवश्य है कि उसके लिए किए गए क्रूर कार्य से कर्मबन्ध हो जाता है, जिससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है और इतनी कठिनता एवं पाप कार्य से प्राप्त धन के यों ही चले जाने से मन में अत्यधिक वेदना एव संकल्प-विकल्प होता है और कभी-कभी मनुष्य विक्षिप्त भी हो जाता है और उस मूढ़ अवस्था में विपरीत आचरण करने लगता है।

इस तरह विषय-भोगों के कटु परिणाम को जान कर मुमुक्षु पुरुषों को उसमें आसक्त नहीं बनना चाहिए। तो उसे क्या करना चाहिए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसं च छंदं च किगिंच धीरे! तुमं चेव तं सल्ल-

माइट्टु, जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झति जे जणा मोहपाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाई आयय णाई, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिरिक्खाए, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ उयाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए भेउरधम्मं, संपेहाए, नालं पास अलं ते एएहिं ॥८५॥

छाया—आशां च छन्दं च वेविच्य धीर ! त्वमेव तच्छल्यमाहृत्य येन स्यात् तेन नो स्यात् इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः मोहप्रावृताः, स्त्रीभि लोक प्रव्यथित हे भो ! वदन्ति एतानि आयतनानि एतत् दुःखाय, मोहाय, माराय, नरकाय नरकतिरश्चे (नरक तिर्यग् योन्यर्थम) सततं मूढो धर्म नाभि जानाति उदाह—वीरः अप्रमादः महामोहे अलं कुशलस्यप्रमादेन शांति मरणं संप्रेक्ष्य भिदुर धर्मं संप्रेक्ष्य नालं पश्य अलं त (तव) एभिः।

पदार्थ—धीरे—हे धीर पुरुष ! तु। आसं च—भोग आकांक्षा। छन्दं च—और भोगों के संकल्प को। विगिंच—त्याग दे। तुमं चेव—तू ही। तं सल्लमाहट्टु—उस भोगेच्छा रूप कांटे को स्वीकार करके दुःख पा रहा है। जेण सिया—जिस धन-संपत्ति आदि साधन से भोगोपभोग प्राप्त हो सकते हैं। तेण नो सिया—उस धन से वे नहीं भी प्राप्त होते हैं। जे जणा—जो मनुष्य। मोह पाउडा—मोह से आवृत हैं। इणमेव—इस तत्त्व को। णावबुज्झन्ति—नहीं जानते हैं। थीभि—स्त्रियों द्वारा। लोए—लोक। पव्वहिए—दुःखित है। ते—वे कामी पुरुष। वयंति—कहते हैं। भो—हे मनुष्यो ! एयाइं—ये स्त्री आदि। आययणाइं—भोगोपभोग के स्थान हैं। से—उनका यह कहना। दुक्खाए—दुःख के लिए। मोहाए—मोह की अभिवृद्धि करने के लिए। माराए—मृत्यु के लिए। नरगाए—नरक के लिए। नरग तिरिक्खाए—नरक के पश्चात् तिर्यंच गति के लिए होता है। सययं—निरन्तर। मूढे—मूढ बना हुआ जीव। धम्मं—धर्म को। नाभिजाणइ—नहीं जानता है। वीरे—वीर प्रभु ने। उयाहु—स्पष्टता पूर्वक कहा है कि। अप्पमाओ—प्रमाद नहीं करना चाहिए। महामोहे—महा मोह की कारणभूत स्त्रियों के साथ (कामभोग रूप) प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। अलं कुसलस्स पमाएणं—बुद्धिमान व्यक्ति को प्रमाद से दूर रहना चाहिए। संति मरणं—शान्ति—मुक्ति

और मरण ससार का। सपेहाए—विचार करके, तथा। भेउरधम्मं—इस शरीर की विनश्वरता का। सपेहाए—विचार करके, प्रमाद का आसेवन नही करना चाहिए। पास—हे शिष्य ! तू देख। नाल—इन भोगो से तृप्ति नही हो सकती। अल ते एएहिं—इन भोगो का सेवन नही करना चाहिए, अर्थात् इनने सदा दूर रहना चाहिए।

मूलार्थ—हे धीर पुरुप ! तू भोगो को आशा एव सकल्प विकल्प का परित्याग कर दे। जिस धन से भोगोपभोग साधन प्राप्त किऐ जा सकते है, अन्तराय कर्म का उदय होने पर उसी धन से वे साधन प्राप्त नहीं भी हो सकते हैं। जो व्यक्ति मोह एव अज्ञान से आवृत्त हैं, वे इस बात को नही समझते है। यह लोक स्त्रियो के मोह से आवृत्त है, पीडित है। अतः कामी व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि ये स्त्रियें भोग का साधन हैं। परन्तु उन का यह कथन मोह के लिए है, मृत्यु के हेतु है, नरक गति मे तथा वहा से निकल कर तिर्यंच गति मे जाने के लिए है।

भगवान महावीर ने दृढता पूर्वक कहा है कि स्त्रियो को महामोह का कारण जानकर उनमें प्रमाद का सेवन न करे। और शरीर की विनश्वरता को समझकर प्रमाद से सदा दूर रहना चाहिए। हे शिष्य ! तू इस वात को भली-भाति जान ले कि भोगो से आत्मा की तृप्ति नही हो सकती। अत साधक इनसे सदा दूर रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषय भोगों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। भोग-विलास को दुःख का कारण बताया गया है। क्योंकि विषय-भोग में प्रवृत्तमान व्यक्ति की इच्छा, आकाक्षा एव तृष्णा सदा बनी रहती है। वह आकाश की तरह अनन्त है और जीवन सीमित है, इसलिए उसकी पूर्ति होना दुष्कर है। यदि कभी किसी इच्छा-आकांक्षा की कुछ सीमा तक सम्पूर्ति हो भी जाए, तब भी विषयेच्छा, भोगाभिलाषा एव पदार्थों की तृष्णा के शल्य का काटा उसके हृदय में सदा चुभता रहता ही है। विशाल भोगोपभोग के साधनों में भी उसे सन्तोष एव सुख की अनुभूति नहीं होती, अपितु कुछ न कुछ कमी खटकती रहती है। जिसे पूरा करने के लिए वह रात-दिन चिन्तित

एवं उदास सा रहता है। फिर भी, वे साधन वे विषय-भोग उसकी चिन्ता को, वेदना को मिटा नहीं सकते। वे तो वासना की आग को और अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। विषय-भोग एक तरह से प्रज्वलित आग में मिट्टी के तेल का काम करते हैं। इससे तृष्णा की ज्वाला सदा बढ़ती रहती है। अतः साधक को भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। बुद्धिमान वही है, जो तृष्णा एवं आकांक्षा के शल्य को जीवन से निकाल देता है। और वही अपने जीवन में वास्तविक सुख एवं आनन्द की अनुभूति करता है।

परन्तु, जो व्यक्ति अज्ञान एवं मोह से आवृत्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि विषय भोग एवं भोगों के साधन स्त्री आदि सुख के स्थान हैं। पर, ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में ये साधन दुःख के कारण बनते हैं। कामेच्छा—भोगाकांक्षा मोह कर्म के उदय से है। अतः उसमें आसक्त होने से मोह कर्म का नाश न होकर और उसकी उदीरणा होती है, इससे तृष्णा एवं आकांक्षा में अभिवृद्धि होती है और उससे कर्म बन्धन होता है और परिणाम स्वरूप आत्मा अनेक तरह के दुःखों का संवेदन करता है। अतः भोग के सभी साधन मोह को बढ़ाने वाले हैं, परन्तु काम-विकार या मैथुन मोह को अधिक उत्तेजित करने वाला है, इससे भोगेच्छा एवं तृष्णा को वेग मिलता है और इसकी पूर्ति के लिए स्त्री का सहयोग अपेक्षित है। इसी कारण सूत्रकार ने महामोह शब्द से इसी भाव को अभिव्यक्त किया है। और यह स्पष्ट कर दिया है कि इससे तृष्णा एवं वासना का उपशमन नहीं होता, अपितु उसका अभ्युदय होता है। अतः विषय-वासना की तृष्णा या भोगेच्छा को मोह, मृत्यु, नरक एवं तिर्यञ्च गति का कारण कहा है, संसार एवं दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाली बताया है। अतः उसके भयावह परिणामों को देख—जान कर मुमुक्षु पुरुष को सदा-सर्वदा उससे बचकर रहना चाहिए। और साधना में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यही भगवान महावीर का आदेश है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'भीभि' को व्याकरण के अनुसार 'हि' का आदेश होना चाहिए था परन्तु आर्ष वचन होने के कारण यहां 'हि' का आदेश नहीं हुआ*। मैथुन मोह का प्रधान कारण होने के कारण महामोह शब्द से लो आर्ष स्वीकार किया गया है। वृत्तिकार ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

---

*प्राकृत व्याकरण के नियम से 'भिस्' प्रत्यय को 'भिसोहिहिंहि' (प्राकृत व्याकरण ८।३।१७) इस सूत्र से हि हिं हि ये तीन आदेश होते हैं। यथा—अच्छीभि के स्थान में अच्छीहि, अच्छीहिं, अच्छीहि तीन रूप बनते हैं। परन्तु यहां 'भीभि' के स्थान में हि आदि का प्रयोग नहीं हुआ, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्ष वाक्य में भिस् का बिना आदेश के भी प्रयोग हो सकता है।

'सतिमरण' अर्थात् शान्ति और मरण शब्द से मोक्ष एव ससार का अर्थ ग्रहण किया गया है। सपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को परम शान्ति मिलती है और यह स्थिति मोक्ष मे ही सभव है, इसलिए शान्ति शब्द का तात्पर्य मोक्ष है। जिस स्थान मे प्राणी वार-वार मरण को प्राप्त होते हैं, उसे संसार कहते है। अत मोक्ष एव ससार दोनों के स्वरूप का सम्यक्तया ज्ञान करके साधक को प्रमाद का परित्याग करना चाहिए।

यदि 'सतिमरण' इसमे द्वन्द्व समास के स्थान पर तत्पुरुष समास करते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उपशम भाव मे प्रवृत्तमान व्यक्ति को जिस महान् फल की प्राप्ति होती है, उसका विचार करते हुए बुद्धिमान पुरुष को प्रमाद से सर्वथा दूर रहना चाहिए*।

भोगेच्छा जीवन को दु खमय वना देती है, इस वात को प्रस्तुत सूत्र में वताया गया है। इसी वात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—एवं पस्स मुणी ! महब्भयं, नाइवाइज्ज कंचण, एस वीरे पसंसिए, जे न निव्विज्जइ आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज्जा थोवं लद्धुं न खिंसए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जामि, त्तिबेमि ।८६।

छाया—एव पश्य मुने ! महद्भयं नातिपातयेत् कञ्चन एष वीरः प्रशंसितः, यो न निर्विद्यते आदानाय, न मे ददाति न कुप्येत्, स्तोकं लब्ध्वा न निन्देत्, प्रतिषिद्धः परिणमेत्, एतन्मौनं समनुवासयेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ — मुणि — हे मुनि ! एय पस्स — ऐसा समझ कि । महब्भय — काम-भोग महाभय का कारण हैं अत । कंचण — किसी प्राणी को । नाइवाइज्जा — पीडा नही पहुचानी

---

* शमन शान्ति —अशेष कर्मापगमोऽतोमोक्ष एव शान्तिरिति, म्रियन्ते प्राणिन पौन पुन्येन यत्र चतुर्गतिके ससारे स मरण — ससार शान्तिश्च मरणंच शान्तिमरण, समाहारद्वन्दस्तत् 'सप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य प्रमादवत, ससारानुपरमस्तत्परित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदय, स वा कुशल प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमादं न विदध्यात्। अथवा शान्त्या उपशमेन मरण-मरणावधि यावत् तिष्ठतो यत्फलं भवति तत्पर्यालोच्य प्रमाद न कुर्यादिति। —आचारांग वृत्ति

चाहिए। एस—यह। वीरे—वीर व्यक्ति। पसंसिए—इन्द्रादि द्वारा प्रशंसा को प्राप्त करता है। जे—जो। आयाणाए—संयम का पालन करने में। न निव्विज्जइ—खेद का अनुभव नहीं करता है।

न मे देइ—यह गृहस्थ मुझे नहीं देता है, यह विचार कर। न कुप्पिज्जा—उस पर क्रोध न करे। थोवं—अल्प। लद्धं—प्राप्त होने पर। न खिंसए—उस गृहस्थ की निन्दा न करे। पडिसेहिए—प्रतिषेध-नमस्कार कर देने पर। परिणमिज्जा—उस स्थान से वापिस लौट जाए। एवं मोणं—इस प्रकार मुनित्व-संयम की। समणुवासिज्जासि—सम्यक्तया आराधना करनी चाहिए। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे मुनि। तू देख कि काम भोग महाभय के उत्पादक हैं। अत संयमी को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति संयम के परिपालन करने में किसी भी तरह खेदानुभव नहीं करता, उसकी इन्द्रादि भी प्रशंसा करते हैं।

मुनि को कभी कोई गृहस्थ भिक्षा न दे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए। और न अल्प परिमाण में देने पर देनेवाले की निन्दा करनी चाहिए और गृहस्थ के निषेध कर देने पर मुनि को उसके घर में खड़े नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत वहां से वापिस आ जाना चाहिए। इस प्रकार मुनित्व-संयम का सम्यक्तया आराधन करना चाहिए[1]। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

१ भोग का अर्थ केवल काम-वासना एवं मैथुन सेवन ही नहीं है, प्रत्युत भौतिक पदार्थों की आकांक्षा लालसा मात्र का भोगेच्छा में समावेश किया गया है। अत इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थों में आसक्त होना ममत्व भाव रखना भोग है और यह लोक कहावत प्रसिद्ध है कि "भोग रोग का घर है।" यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि काम-भोग महाभय के उत्पादक हैं। इनसे वर्तमान जीवन में अनेक रोगों एवं दुःखों का संवेदन करना पड़ता है तथा भविष्य में विभिन्न योनियों में अनेक कष्टों को भोगना पड़ता है। अस्तु आगमों का यह कथन नितान्त सत्य है—"खणमित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा" अर्थात् काम-भोग क्षणिक सुख रूप प्रतीत होते हैं, अतः साधक को भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए। यहां तक कि शरीर निर्वाह के लिए स्वीकार करने

वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि साधनों मे भी आसक्त नहीं रहना चाहिए और न इनके लिए किसी भी प्राणी को मानसिक, शाब्दिक और शारीरिक कष्ट ही पहुचाना चाहिए।

यदि मुनि किसी गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए गया, वहा उसे अपनी विधि के अनुसार आहार आदि उपलब्ध नहीं हुआ या गृहस्थ ने उसे आहार आदि दिया नहीं या किसी गृहस्थ ने उसे थोडा सा आहार दिया या किसी ने अपने घर से खाली हाथ ही लौट जाने के लिए कह दिया। इस प्रकार के अनेक विकल्पों के उपस्थित होने पर भी साधु अपनी धैर्यता एवं उपशान्त भावना का परित्याग करके उनके सकल्प-विकल्प के जाल मे उलझ न जाए। चाहे जैसी स्थिति-परिस्थिति क्यों न उत्पन्न हो, पर साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे सदा-सर्वदा समभाव रखना चाहिए गृहस्थ के न देने पर, उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और थोडा देने पर उसकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिए और उसके इन्कार कर देने पर उसके घर मे नहीं ठहरना चाहिए और न दीनता के भाव प्रकट करने चाहिए। क्योंकि साधु आहार आदि पदार्थों का उपभोग केवल सयम साधना के लिए करता है, न कि पदार्थों का स्वाद चखने के लिए। अत उसे समय पर जैसा भी पदार्थ मिल जाए उसमे सन्तोष करना चाहिए और यदि कभी परिस्थिति वश पदार्थों का सयोग न मिले, तो उसे सहज ही तप का सुअवसर समझकर सन्तोष करना चाहिए। परन्तु उन पदार्थों मे आसक्त हो कर साधना के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार भोगों की आसक्ति से दूर रहने वाला मुनि इन्द्रादि के द्वारा प्रशसा को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'महब्भय' शब्द आत्म विकास की साधना में प्रवर्तमान व्यक्ति के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। इस शब्द से यह अभिव्यक्त किया है कि विषय-भोग में आसक्त व्यक्ति सदा-सर्वदा भयभीत रहते हैं। भौतिक शक्ति एव धन-वैभव से सपन्न होने पर भी वे निर्भयता के साथ नहीं घूम-फिर सकते। जितने भौतिक साधन अधिक होंगे उन्हें उतना ही अधिक भय होगा। रूस और अमेरिका का उदाहरण हमारे सामने है, दोनों आज के युग की महान् भौतिक शक्ति अणु आयुधों से संपन्न होने पर एक-दूसरे से अत्यधिक भयभीत हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विषय-भोग भय में अभिवृद्धि करने वाले हैं। अत उनका परित्याग करने वाला वीर पुरुष ही निर्भय हो सकता है। उसे ससार के किसी भी कोने में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह निर्भयता का देवता स्वयं निर्भय बनकर ससार को निर्भय बनाता हुआ यत्र—तत्र—सर्वत्र शात भाव से विचरण करता है। अत साधक को विषयों की आसक्ति का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त मुनिवृत्ति को 'मौन'—मौन शब्द से व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी मुनि न तो मन में किसी प्रकार के संकल्प विकल्प लाता है और न वाणी द्वारा उसे व्यक्त करता है। अतः मुनित्व की साधना को मौन कहा गया है—'मुनेरिदं मौनं—मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितम्' इत्यादि।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्व उद्देशक की तरह ही समझना चाहिए।

— चतुर्थ उद्देशक समाप्त —

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में भोगेच्छा के परित्याग एवं किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देने का उपदेश दिया गया है। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है-कि फिर साधक अपने जीवन का निर्वाह कैसे करे ? इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक मे किया गया है।

सयम साधना के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण साधन है। आध्यात्मिक साधना की चरम सीमा तक पहुचने के लिए उसके माध्यम की आवश्यकता है। और उसको स्वस्थ एवं समाधियुक्त वनाए रखने के लिए आहार,वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या-सथारा आदि साधन भी आवश्यक हैं। इनमें आहार सबसे पहली आवश्यक्ता है। कभी मकान न मिले तो साधक जगल में वृक्ष के नीचे भी अपनी साधना में संलग्न रह सकता है अन्य आवश्यकता का भी कभी संयोग न मिलने पर भी वह अपनी साधना को गतिमान रख सकता है परन्तु, आहार की आवश्यकता तो जिनकल्पी या स्थिवर कल्पी विशेष अभिग्रहधारी या अनभिग्रहधारी सभी को रहती है। और इन सब साधनों की पूर्ति गृहस्थ लोगों से होती है, अत उसे लोक का आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु आश्रय लेने का यह अर्थ नहीं है कि वह आहार, वस्त्र—पात्र आदि के लिए अपनी संयम वृत्ति का त्याग करके गृहस्थ की पराधीनता स्वीकार करले। आश्रय लेने का यहा यह अभिप्राय है कि साधक विना स्वार्थ एव आकाक्षा के केवल संयम-साधना को गति देने के लिए गृहस्थों के यहा से निर्दोष आहार आदि की गवेषणा करे। इन साधनों को प्राप्त करते समय संयम को सदा सामने रखे।

प्रस्तुत उद्देशक में यही बताया गया है कि साधक को किस विधि से आहार ग्रहण करना चाहिए। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति, तंजहा-अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं नाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए पुढोपहेणाए सामासाए पायरासाए,

सनिहि संनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए ॥८७॥

छाया— यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः लोकस्य (लोकाय) कर्म समारम्भाः क्रियन्ते तद्यथा आत्मनः तस्य पुत्रेभ्यः दुहितृभ्यः स्नुषाभ्यः ज्ञातिभ्यः धातृभ्यः राजभ्यः दासेभ्यः दासीभ्यः कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदेशाय पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय, प्रातराशाय संनिधिः सनिचयः क्रियते इहैकेषां मानवानां भोजनाय।

पदार्थ—विरूवरूवेहिं—विभिन्न प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। कम्मसमारम्भा—ये पचन-पाचनादि कर्म समारंभ। लोगस्स कज्जंति—लोगों के लिए किए जाते हैं। तंजहा—जैसे कि। अप्पणो से—अपने लिए। पुत्ताणं—पुत्रों के लिए। धूयाणं—पुत्रियों के लिए। सुण्हाणं—पुत्रवधुओं के लिए। णाईणं—ज्ञाति भाइयों के लिए। धाईणं—धाय माताओं के लिए। राईणं—राजाओं के लिए दासाणं दासों के लिए। दासीणं—दासियों के लिए। कम्मकराणं—कर्मचारियों के लिए। कम्मकरीणं—कर्मचारिणियों के लिए। आएसाए—अतिथियों—पाहुनों के लिए। पुढोपहेणाए—पुत्रादि में पृथक्-पृथक् बांटने के लिए। सामासाए—सायंकालीन भोजन के लिए। पायरासाए—प्रातः कालीन भोजन के लिए। संनिहि—विनाशशील एवं संनिचय—चिरस्थायी द्रव्यों का संग्रह। कज्जइ—किया जाता है। इहं—इस संसार में। एगेसिमाणवाणं—किन्हीं मनुष्यों को। भोयणाए—भोजन कराने के लिए। संनिहि संनिचओ कज्जइ—द्रव्य का संग्रह किया जाता है।

मूलार्थ—विभिन्न शस्त्रों से पचन-पाचनादि कर्म समारंभ किए जाते हैं। जैसे कि अपने लिए एवं पुत्र-पुत्रियों, पुत्रवधुओं ज्ञाति भाइयों, धाय माताओं, राजाओं दास-दासियों कर्मचारी कर्मचारीणियों तथा अतिथियों को सायंकालीन एवं प्रातः कालीन भोजन कराने के लिए या किन्हीं मनुष्यों को भोजन कराने के लिए द्रव्य एवं घृत चीनी अन्न आदि पदार्थों का संग्रह किया जाता है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य कर्म समारंभ में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसके अनेक कारणों को सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज एवं परिवार के साथ संबद्ध है। वह अकेला नहीं रह सकता।

उसे अपने जीवन को गति-प्रगति देने के लिए दूसरों का सहारा—सहयोग भी लेना पड़ता है और देना भी। यह जीवन का एक साधारण नियम है कि बिना समन्वय के यह चल नहीं सकता। उसे गतिशील रखने के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित है। इसी सत्य को ध्यान में रखकर आचार्य उमास्वाति ने जीव का उपकारी लक्षण बताते हुए कहा है—'परस्पर एक दूसरे का उपकार-सहयोग करना यह जीव का लक्षण है*।'

इसलिए अपने पारिवारिक सदस्यों एवं जाति के अन्य स्नेहि-संबन्धियों के लिए मनुष्य आरम्भ के कार्य में प्रवृत्त होता है। वह क्षुधा, पिपासा आदि वेदनीय कर्म—जन्य दुःखों से निवृत्त होकर सुख एवं शांति को प्राप्त करने के लिए विभिन्न शस्त्रों से समारम्भ करता है। मनुष्य किन प्राणियों के लिए आरम्भ में प्रवृत्त होता है, उनका प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया गया है। उसमें पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू, राजा, दास, दासी कर्मचारी-कर्मचारिणी, स्वजन - स्नेही आदि परिवार, जाति एवं समाज के सभी संबन्धित व्यक्तियों का समावेश कर लिया गया है।

'लोगस्स' पद यहां चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग है। 'सामासाए' और 'पायरासाए' का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—'रात्रि के पूर्व सायंकाल में तथा मध्यान्ह के पूर्व प्रातः किए जाने वाले भोजन को 'सामासाए' और 'पायरासाए' कहते हैं†। 'संनिधि' और 'सन्निचय' शब्द से क्रमशः दूध-दही आदि थोड़े समय तक और चीनी, गुड, अन्न आदि अधिक समय तक स्थिर रहने वाले पदार्थों को ग्रहण किया गया है।

किसी भी सावद्य कार्य में प्रवृत्ति करने के तीन स्तर हैं— १-सारंभ २-समारंभ और ३- आरम्भ। किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं अनिष्ट पदार्थ संयोग को नष्ट करने के लिए प्राणातिपात—हिंसा आदि दोषों की मन में कल्पना करना उनका चिंतन करना सारम्भ कहलाता है। अपने द्वारा चिंतित विचारों को साकार रूप देने के लिए तद्रूप साधनों या शस्त्रों का संग्रह करना समारम्भ है। और उक्त विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उन शस्त्रों का प्रयोग करने का नाम आरम्भ है।

इस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिए आरम्भ-समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्त्त-मान जीव आठ कर्मों का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप संसार में परिभ्रमण करता है।

अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थिति में संयमनिष्ठ साधु को क्या करना

---

* परस्परोपग्रहो जीवानाम्। तत्त्वार्थ सूत्र ५, २१

† सामासायत्ति श्यामा—रजनी तस्यामशनं श्यामाश तदर्थं तथा पायरासाए, त्ति प्रातरशन प्रातराशस्तस्मै, कर्म्म समारम्भा क्रियन्त इति। आचारांग वृत्ति।

वह त्रि-करण और त्रि-योग से सदोष आहार का त्याग करके शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समुट्ठिए' शब्द का अर्थ है — सम्यक्तया उत्थित अर्थात् सम्यक् प्रकार से संयम मार्ग में प्रवृत्ति करने वाला साधक। संयम मार्ग में प्रवर्धमान होकर जिस मुनि ने घर, परिवार एवं धन-वैभव आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते हैं। आर्य वह है— जिसने त्यागने योग्य धर्मों–अधर्म का त्याग कर दिया है। और श्रुत के अध्ययन से जिसकी बुद्धि शुद्ध एवं निर्मल हो गई है, उसे आर्यप्रज्ञ कहते हैं। सत्य एवं न्याय मार्ग के द्रष्टा को आर्यदर्शी कहते हैं। 'अयंसंधिदंसि' का तात्पर्य है—साधु जीवन की समस्त क्रियाओं को यथा विधि एवं यथा समय अर्थात् जिनके लिए आगम में जिस उपाय एवं समय का विधान किया है तद्रूप उसका आचरण करने वाला।

'आमगन्ध' शब्द का अशुद्ध एवं आधाकर्म आदि दोष अर्थ किया गया है। 'आम' शब्द प्रायः सभी भारतीय परम्पराओं में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक ग्रंथों में यह शब्द अपक्व अन्न आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। और पालि ग्रंथों में इसका पाप के अर्थ में प्रयोग किया गया है शारीरिक रोग की भांति पाप भी आध्यात्मिक रोग है। इस अपेक्षा से 'निराम' का अर्थ होगा — निष्पाप क्लेश रहित और 'आमगन्ध' का अर्थ होगा पाप की गन्ध। किन्तु टीकाकार ने प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आमगन्ध' का अर्थ— आधाकर्म आदि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार किया है। अतः समस्त दोषों से रहित शुद्ध आहार को ग्रहण करके संयम साधना में संलग्न रहना ही साधु का प्रमुख उद्देश्य है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदिस्समाणे कयविक्कयेसु, से ण किणे न किणावए किणंतं न समणुजाणइ, से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालाणुट्ठाई अपडिन्ने ॥८६॥

छाया—अदृश्यमानः क्रयविक्रयोः स न क्रीणीयात् न क्रापयेत् क्रीणन्त-

---

* सर्वत्रमीति— सम्यक्—तत्त्वार्थे वा ऽनात्मिति ... ... — यथाकालमनुष्ठानविधायी, यो यस्य वर्तमानः कालः ... ... तमेव तन्वान इति।

—आचारांग वृत्ति।

मपि न समनुजानीयात् स भिक्षुः कालज्ञ बलज्ञः मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञः क्षणज्ञ. विनयज्ञः स्वसमयपरसमयज्ञ भावज्ञ. परिग्रहमममीकुर्वन् (अस्वी कुर्वन्) कालानुष्ठायी अप्रतिज्ञः ।

पदार्थ—**कय विक्कयेसु**—खरीदने और वेचने में । **अदिस्समाणे**—अदृश्यमान् –अर्थात् न क्रय-विक्रय करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ । **से**—वह भिक्षु । **ण किणे**—धर्मोपकरणादि न खरीदे । **ण किणावए**—न अन्य से मोल मगवावे । **किणत**—खरीद रहे व्यक्ति का । **न समणुजाणइ**—अनुमोदन भी न करे । **से भिक्खू**—वह भिक्षु । **कालन्ने**—समय का ज्ञाता । **बालन्ने**—आत्म बल का ज्ञाता । **मायन्ने**—अहारादि के प्रमाण का जानकार । **खेयन्ने**—अभ्यास के जानने वाला या ससार के पर्यटन के श्रम को जानने वाला । **खणयन्ने**—अवसर का जानकार । **विणयन्ने**—विनय के स्वरूप को जानने वाला । **ससमय परसमयन्ने**—स्वमत और परमत के स्वरूप का परिज्ञाता । **भावन्ने**—दाता और श्रोताओ के भाव को जानने वाला । **परिग्गह**—परिग्रहको । **अममायमाणे**—न स्वीकार करता हुआ । **कालाणुट्ठाई**—यथा समय क्रियानुष्ठान करनेवाला । **अपडिन्ने**—दुष्ट प्रतिज्ञा से रहित, तथा निदानादि कर्म न करने वाला ।

स्वय क्रय-विक्रय कार्य को नही करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ वह भिक्षु, न तो स्वय वस्तु खरीदे और न दूसरो से मोल मगावे तथा मूल्य से खरीदने वाले का अनुमोदन भो न करे । वह भिक्षु काल-समय का, आत्मबल का, आहारादि के प्रमाण का ससार के परिभ्रमण के कष्ट का, अवसर का, विनयका ज्ञाता, स्वमत और परमत के स्वरूप का, दाता और श्रोताओ के भाव का परिज्ञाता हो और यथा समय क्रियानुष्ठान करने वाला, परिग्रहका त्यागी एव दुराग्रह से रहित अर्थात् दुष्ट प्रतिज्ञान करने वाला हो ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु वृत्ति का विवेचन किया गया है । साधु परिग्रह—धन वैभव, मकान, परिवार आदि का सर्वथा त्यागी होता है, अत वह क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं होता । क्रय शक्ति की प्रवृत्ति द्रव्य के माध्यम से होती है और मुनि द्रव्य का त्यागी होता है । इसीलिए वह अपने उपयोग में आने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि किसी भी पदार्थ को न स्वयं खरीदता है और न किसी व्यक्ति को खरीदने के लिए प्रेरित करता है और उसके लिए खरीद कर लाई वस्तु को वह स्वीकार भी

चाहिए ? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपन्ने आरियदंसी अयंसंधित्ति अदक्खु, से नाईए नाइयावए न समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ॥८८॥

छाया—समुत्थित अनगार आर्यः, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी अयंसन्धिः इति अद्राक्षीत् स नाददीत् नादापयेत् (नाधात) न समनुजानाति सर्वाम गन्धं परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत्।

पदार्थ—समुट्ठिए—संयम साधना मे उद्यत-उद्यम। अणगारे—मुनि। आरिए आर्य-चारित्र निष्ठ। आरियपन्ने—आर्य प्रज्ञा सपन्न-सम्यग्ज्ञान से युक्त। आरियदंसी—न्याय मार्ग का द्रष्टा। अयंसंधित्ति—साधु समाचारी-क्रियाओ का यथाकाल परिपालक। अदक्खु—समय का द्रष्टा या परिज्ञाता। से—वह मुनि। नाईए—अकल्पनीय आहार न स्वयं ग्रहण करे। न इयावए—न दूसरे मुनियों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करे। न समणुजाणइ—और न अकल्पनीय आहार ग्रहण करने वाले मुनि का समर्थन ही करे। सव्वामगंधं—समस्त आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार को। परिन्नाय—ज्ञ परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। निरामगंधो—समस्त दोषो से रहित आहार को ग्रहण करे और। परिव्वए—संयम साधना का सम्यक्तया पालन करे।

मूलार्थ—सयम साधना मे प्रवर्तमान अनगार जो कि आर्य है, आर्य प्रज्ञावान है आर्यदर्शी-न्याय मार्ग का द्रष्टा है यथासमय अनुष्ठान सयम का आचरण करने वाला है वह न स्वयं दोष युक्त आहार ग्रहण करे न दूसरे मुनि को दोष युक्त आहार स्वीकार करने के लिए कहे और न दोष युक्त आहार लेने वाले का समर्थन ही करे। परन्तु सदा-सर्वदा निर्दोष आहार को स्वीकार करके भाव पूर्वक सयम-साधना में संलग्न रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में संयम मार्ग में प्रवर्तमान अनगार को निर्दोष आहार की गवेषणा करने एवं संयम मार्ग की क्रियाओं के परिपालन करने का सामान्य रूप से उपदेश दिया गया है। और साधक को इस बात के लिए सावधान किया गया है कि

करता है। 'से न किणे... ...' इत्यादि पाठ इस बात का ससूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अपनी सयम साधना मे आवश्यक उपकरण आदि को न स्वय खरीदे, न अन्य व्यक्ति को खरीदने के लिए उपदेश दे और न खरीदते हुए व्यक्ति का समर्थन या अनुमोदन ही करे।

पूर्व सूत्र मे 'निरामगन्धो परिव्वए' पाठ मे प्रयुक्त 'निराम और गन्ध' शब्द हनन एव पचन आदि क्रिया से होने वाली हिंसा का त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का उपदेश दिया है और प्रस्तुत सूत्र मे क्रय-विक्रय के द्वारा होने वाले दोप का सर्वथा त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का निर्देश किया है। जैसे आधाकर्म आदि कार्य मे हिंसा होती है। उसी प्रकार क्रय-विक्रय की क्रिया भी हिंसा आदि दोष का कारण है। क्योंकि क्रय-विक्रय में पैसे की, धन की आवश्यक्ता रहती है और पैसे की प्राप्ति हिंसा आदि दोषों के विना संभव नहीं है।

अत हिंसा आदि दोषों के सर्वथा त्यागी मुनि के लिए अधाकर्म एवं क्रय आदि दोषों से युक्त आहार वस्त्र, पात्र, मकान आदिग्रहण करने योग्य नहीं हैं। साधु को पूर्णतया शुद्ध, एषणीय एव निर्दोष आहार की गवेषणा करनी चाहिए और तद्रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

निर्दोप सयम का परिपालन करने वाला साधु कैसा होता है, इसका वर्णन 'से भिक्खु कालन्ने....... ...' आदि पदों में किया है। वह काल—समय का, आत्म-शक्ति का*, आहार आदि के परिमाण का परिज्ञाता होता है। और 'खेयन्ने' अर्थात् खेदज्ञ होता है। खेद अभ्यास को भी कहते हैं†। अत अभ्यास के द्वारा पदार्थों का ज्ञाता, ससार पर्यटन एवं क्षेत्र को भी खेद कहते हैं। इस दृष्टि से खेदज्ञ का अर्थ होगा— ससार परिभ्रमण के लिए किए जाने वाले श्रम को एव क्षेत्र के स्वरूप को जानने वाला। 'खणयन्ने' अर्थात् भिक्षा एव अन्य संयम क्रियाओं के समय को जानने वाला। प्रत्येक व्यक्ति के आतरिक भावों का परिज्ञाता। और स्व-परमत का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिए। जो साधु स्व-परमत का ज्ञाता नहीं होगा, वह अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों द्वारा या किसी भी व्यक्ति द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर भली-भाति नहीं दे सकेगा।

'अपडिन्ने' का अर्थ है—कपाय के वश किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा न करने

---

* कालन्ने, पद मे छन्द के कारण दीर्घता की गई है।

† खेद अभ्याससंतं जानाति खेदज्ञ ।

वाला। क्योंकि कषायों के वेग एवं आवेश के समय विवेक दब जाता है, अतः ऐसी अविवेक की स्थिति में की गई प्रतिज्ञा स्व और पर के लिए अहितकर भी हो सकती है। जैसे टीका में उल्लेख आता है कि स्कन्धाचार्य ने अपने शिष्यों को यन्त्र में पीलते हुए देखकर क्रोध के आवेश में नगर, राजा एवं पुरोहित आदि का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। अभिमान के वेग में बाहुबली ने अपने से पहिले दीक्षित हुए लघु भ्राताओं को वन्दन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार माया एवं लोभ के वश स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए तप आदि साधना की प्रतिज्ञा करना अर्थात् निदान पूर्वक तप करना। इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं से आत्मा स्वयं पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अतः संयमनिष्ठ मुनि को कषाय के वश कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। उससे विवेक पूर्वक संयम-साधना में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रतिज्ञा का जो निषेध किया गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से किया गया है न कि प्रतिज्ञा मात्र का ही। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा ॥६०॥

छाया—द्विधा छित्त्वा नियाति वस्त्रं, पतद्ग्रहं कम्बलं पादपुञ्छनकम् अवग्रहं च कटासनमेतेषु चैव जानीयात्।

पदार्थ—दुहओ—राग और द्वेष से जो प्रतिज्ञा की हो उसका। छेत्ता—छेदन करके। नियाइ—जो मोक्ष पथ पर गतिशील है उन्हें क्या करना चाहिए? वत्थं—वस्त्र करके। पडिग्गहं—पात्र। कंबलं—कम्बल। पायपुंछणं—रजोहरण। च—और। उग्गहणं—उपाश्रय आदि स्थान। कडासणं—कटासन-संस्तारक और आसन बिस्तर आदि। च—समुच्चय अर्थ में। एएसु—अवधारणा अर्थ में। एएसु—जो गृहस्थ साधु के लिए आरम्भ करके इन उपकरणों को देते हैं, उन्हें। जाणिज्जा—भली-भांति जाने अर्थात् सदोष उपकरणों का त्याग करके निर्दोष उपकरणों को ही स्वीकार करे।

मूलार्थ—राग-द्वेष युक्त की गई प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला मोक्ष मार्ग पर गतिशील [illegible] क्रियाओं के परिपालन [illegible] रजोहरण उपाश्रयादि स्थान को इस बात के लिए [illegible] आरम्भ करते हैं उसे भली और [illegible]

भाति जाने और उसमे सदोष का त्याग करके, निर्दोष पदार्थो को स्वीकार करे।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे जो अप्रतिज्ञा अर्थात प्रतिज्ञा नहीं करने की बात कही गई है, उसका अभिप्राय प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार ने पूर्व सूत्र मे प्रतिज्ञा मात्र का निषेध नहीं किया है। उनका अभिप्राय राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का परित्याग करने से है। यह बात प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट हो जाती है कि मुनि राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का छेदन करके वस्त्र—पात्र आदि निर्दोष पदार्थों को ग्रहण करे।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आहार, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले विविध अभिग्रहों का त्याग करने का नहीं कहा है। परन्तु यह कहा गया है कि राग-द्वेष या निदान पूर्वक कोई अभिग्रह प्रतिज्ञा न करे। क्योंकि राग-द्वेष से परिणामों मे विशुद्धता नहीं रहती और परिणामों एव विचारों का दूषित प्रवाह उस प्रतिज्ञा को स्पर्श किए विना नहीं रहता है। अत' दोष युक्त भावों से की गई प्रतिज्ञा मे भी अनेक दोषों का प्रविष्ट होना स्वाभाविक है। जैसे मकान के चारों ओर लगी हुई आग की ज्वाला मे अपने मकान का आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहना असम्भव है। उसी प्रकार जिस साधक के मन मे राग-द्वेष की ज्वाला प्रज्वलित है, उस समय की गई विशुद्ध प्रतिज्ञा भी उस आग से निर्लिप्त नहीं रह सकती, उस पर उसका प्रभाव पडे विना नहीं रहता। अत साधक को चाहिए कि वह राग-द्वेष की धारा का छेदन करे। यदि कभी राग-द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठी हो तो पहले उसे उपशान्त करे, उसके बाद शान्त मन से प्रतिज्ञा धारण करे।

इससे स्पष्ट हुआ कि साधु राग-द्वेष का परित्याग करके सयम मे प्रवृत्ति करे। इससे उसके मन मे चञ्चलता नहीं रहेगी और दृष्टि मे धून्धलापन एव विकार नहीं रहेगा। इससे लाभ यह होगा कि वह अपनी की गई प्रतिज्ञा तथा जीवन मे और की जाने वाली प्रतिज्ञाओं का भली-भाति परिपालन कर सकेगा। उसकी—साधु की प्रतिज्ञा है कि वह किसी भी प्रकार के दोष—हिंसा आदि का सेवन न करे और न उस के निमित किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ किया जाए। इस प्रतिज्ञा का पालन राग-द्वेष का छेदन कर के ही किया जा सकता है। क्योंकि साधना मे सहायक भूत वस्त्र—पात्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है और उनके लिए गृहस्थ अनेक प्रकार के दोष भी लगाकर साधु को दे सकता है। यदि साधु के मन मे राग-द्वेष है, या यों

करिए कि पात्र आदि देने वाले गृहस्थ के प्रति अनुराग है, तो वह अपने साधना पथ से फिसल जाएगा और अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर सदोष—निर्दोष की बिना जांच किए ही उन उपकरणों को ले लेगा। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में साधक को यह आदेश देते हुए कहा है कि वह राग-द्वेष का छेदन करके वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरण आसन आदि के दोषों का परिज्ञान करे, वह देखे कि ये साधन गृहस्थ के यहां किस प्रयोजन से आए हैं। वह अपने उपभोग के लिए इन्हें लाया है या मेरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए, इसका सम्यक्तया परीक्षण करे। परीक्षण के बाद यदि वे साधन सदोष प्रतीत हों तो उनका परित्याग करके निर्दोष साधनों—उपकरणों की गवेषणा करे। इससे आहार-एषणा, वस्त्र-एषणा आदि का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है।

'उग्गहं—अवग्रहं' शब्द का अर्थ प्रत्येक पदार्थ को आज्ञा से ग्रहण करने का है। उसके ५ भेद किए गए हैं—

१-देवेन्द्र अवग्रह, २-राजअवग्रह, ३ गृहपतिअवग्रह ४-शय्यातर अवग्रह और ५ साधर्मिक अवग्रह। इनमें प्रथम अवग्रह को छोड़कर शेष चारों अवग्रह स्पष्ट हैं। देवेन्द्र अवग्रह जरा अस्पष्ट है। कुछ लोग सोचते होंगे कि देवेन्द्र की आज्ञा कैसे ली जाती है और वह आज्ञा कैसे देता होगा? भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक २ में वर्णन आता है कि एक बार शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर से कहा था कि मैं आपके साधुओं को पृथ्वी पर पड़े हुए तृण-काष्ठ आदि ग्रहण करने की आज्ञा देता हूं। देवेन्द्र अवग्रह का यही अभिप्राय है। और इस पर से ही यह परम्परा है कि जंगल आदि में जहां कोई व्यक्ति नहीं होता है, वहां तृण-कंकर आदि लेने की आवश्यकता होती है, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा लेते हैं।

'कडासणं-कटासन' पद में प्रयुक्त 'कट' शब्द से संस्तारक और 'आसन' शब्द से शय्या मकान आदि ग्रहण किया है। अतः वस्त्र पात्र, कम्बल, रजोहरण, शय्या—संस्तारक आदि की सदोषता-निर्दोषता का भली-भांति परिज्ञान करे और उसमें सदोष का त्याग करके निर्दोष पदार्थों को स्वीकार करे।

यह सत्य है कि जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार आदि ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि निर्दोष पदार्थ होने से वह चाहे जितना ग्रहण करले। उसमें भी मर्यादा है, परिमाण है। अतः अपने परिमाण से अधिक आहार को ग्रहण नहीं करे। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा, बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ॥६१॥

छाया—लब्धे आहारे अनगारः मात्रां जानीयात् तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितं, लाभः इति न माद्येत् (मदं न विदध्यात्) अलाभः इति न शोचयेत् बहु अपि लब्ध्वा न निहेत् (न सन्निधिं कुर्यात्)।

पदार्थ—लद्धे आहारे—आहार के प्राप्त होने पर। अणगारो—अनगार मुनि। मायं जाणिज्जा—मात्रा-परिमाण को जाने। से भगवया—उस भगवान ने। जहेयं—जैसा कि वह। पवेइयं—प्रतिपादन किया है कि। लाभुत्ति—मुझे आहार आदि का लाभ हुआ, है ऐसा जानकर। न मज्जिज्जा—अभिमान न करे और। अलाभुत्ति—मुझे आहार आदि की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा समझकर। न सोइज्जा—शोक या खेद न करे और। बहुंपि लद्धु—बहुत मिलने पर। न निहे—संग्रह न करे अर्थात्—मर्यादित काल से अधिक समय तक प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक और रात्रि मे सञ्चय करके नहीं रखे, इस तरह। परिग्गह—परिग्रह से। अप्पाणं अपनी आत्मा को। अवसक्किज्जा—पीछे हटावे।

मूलार्थ—आहार के प्राप्त होने पर मुनि उसके परिमाण को जानते हैं। और भगवान ने जिस प्रकार प्रतिपादन किया है उसी प्रकार आचरण करे। अर्थात् आहार की प्राप्ति होने पर गर्व एव अभिमान नही करे और न मिलने पर खेद या शोक न करे। अधिक आहार मिलने पर उसे मर्यादा से अधिक समय तक—प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चतुर्थ प्रहर तक नही रखे और दिन मे लाया हुआ आहार रात्रि मे सग्रह करके नही रखे। अपने आप को परिग्रह से दूर रखे।

हिन्दी विवेचन

आहार आदि पदार्थ लेते समय केवल सदोषता-निर्दोषता का ज्ञान करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु परिमाण का भी ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि बिना परिमाण को जाने पात्र भर लेने से संयम के स्थान में असंयम का पोषण हो जाता है। यदि परिमाण से अधिक आहार ले लिया है, तो उस गृहस्थ को अपने एवं अपने परिवार

के लिए फिर से आरम्भ करना पड़ेगा। दूसरा अर्थ यह है कि अपने आहार की मात्रा का ज्ञाता हो। शरीर निर्वाह के लिए जितने आहार की आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करे। जिसे अपना आहार का परिमाण ज्ञात नहीं है, तो अधिक आहार आ जाने से, वह खा नहीं सकेगा इससे असभ्यता होगी और यदि कभी खा लिया तो मर्यादा से अधिक आहार करने के कारण उसे आलस्य—प्रमाद आएगा या वह बीमार हो जायगा, जिसके कारण वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक्तया साधना नहीं कर सकेगा। इसलिए मुनि को गृहस्थ के घर की स्थिति-परिस्थिति एवं अपने आहार की आवश्यकता, का परिज्ञान होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भगवान की यह आज्ञा है कि आहार उपलब्ध हो या न हो दोनों अवस्थाओं में मुनि को समभाव रखना चाहिए। आहार के मिलने पर मुनि को गर्व नहीं करना चाहिए और न मिलने पर खेद नहीं करना चाहिए। और अधिक आहार प्राप्त हो जाने पर उसे मर्यादित काल से अर्थात् प्रथम प्रहर में लाया हुआ चतुर्थ प्रहर तक नहीं रखना चाहिए और आगामी दिन में खाने की अभिलाषा से रात को भी संग्रह करके नहीं रखना चाहिए। इससे आसक्ति एवं तृष्णा की अभिवृद्धि होती है। और तृष्णा आसक्ति या लालसा को ही परिग्रह कहा गया है। अतः साधक को परिग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। आहार आदि का संग्रह करके नहीं रखना चाहिए।

इन वस्त्र आदि पदार्थों पर आसक्ति रखने से परिग्रह का दोष लगता है। इस लिए मुनि को वस्त्र आदि किसी पदार्थ पर मूर्छा या आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इसी बात का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अन्नहा णं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि त्तिबेमि ॥६२॥

छाया—अन्यथा पश्यकः परिहरेत् एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्र कुशलः नोपलिम्पयेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकारार्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्नहा—अन्य प्रकार से। पासए—देखता हुआ। परिहरिज्जा—परिग्रह को दूर करे। एस—यह। मग्गो—मार्ग। आयरिएहिं—आर्य तीर्थंकरों द्वारा। पवेइए—प्रतिपादित है। जहित्थ—जो यहां धर्म सामग्री प्राप्त है उसमें। कुसले—कुशल-तत्त्वों का परिज्ञाता। नोवलिंपिज्जासि—अपनी आत्मा पाप कर्म से लिप्त न करे। त्तिबेमि इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—साधु धर्मोपकरणो को अन्यथा बुद्धि मे देख अर्थात् उनको सयम पालन का साधन समझे, किन्तु उन मे ममत्व बुद्धि न रखे, विवेकी पुरुष शास्त्रोक्त, रीति से सयम पालन करे, जिस से उसे पाप कर्म बन्ध न हो, प्रत्युत कर्मो की निर्जरा होकर मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति हो ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह का स्पष्ट अर्थ व्यक्त किया गया है। यह बताया गया है कि केवल वस्त्र-पात्र आदि पदार्थपरिग्रह नहीं हैं । उनमें आसक्ति रखना परिग्रह है। अत कुशल साधक को परिग्रह का त्याग करके अपनी आत्मा को पाप कर्मों से सर्वथा लिप्त नहीं होने देना चाहिए।

'अन्नहा पासए परिहरिज्जा' का अर्थ है कि अन्य प्रकार से देखता हुआ परिग्रह का त्याग करे । इसका स्पष्ट अर्थ है कि गृहस्थ, वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या आदि साधनों को सुख रूप समझकर उनमें आसक्त रहते हैं और रात-दिन उनका सग्रह करने मे संलग्न रहते हैं। परन्तु मुनि की दृष्टि इससे भिन्न होती है। वह साधनों को, उपकरणों को गृहस्थ की तरह सुखमय समझकर नहीं स्वीकार करता, अपितु सयम साधना को गतिशील बनाने के लिए उन्हें सहायक के रूप में स्वीकार करता है। इसलिए वह उनमे आसक्त नहीं होता और न इस भाव से वस्त्र आदि को ग्रहण करता है कि ये साधन सुख रूप हैं। समग्र पर जैसे भी साधारण वस्त्र-पात्र मिल जाते हैं, उसी में सतोष मानता हुआ समभाव से साधना मे संलग्न रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र-पात्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं हैं। दशवैकालिक सूत्र मे भी कहा है कि वस्त्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं है, अपितु उन पर मूर्छा रखना परिग्रह है, ऐसा भगवान ने कहा है*। आचार्य उमास्वाति ने भी मूर्छा—ममत्व रखने की भावना को परिग्रह कहा है†।

साधक साधना काल में उपकरणों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। उसे सयम में प्रवृत्त होने के लिए वस्त्र, पात्र, तृण-घास, फलक, मकान आदि की आवश्यक्ता होती है। इन सब साधनों का सर्वथा त्याग तो १४वें गुणस्थान में ही संभव हो सकता है, जहा पहुचकर साधक समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य, मन, वचन एव शरीर का

* न सो परिग्गहो वुत्तो, नाय पुत्तेण ताइणा,
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ।। —दशवैकालिक, ६ २१

† मूर्छा परिग्रह. । —तत्त्वार्थ सूत्र ७, १७

भी त्याग कर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक शरीर का अस्तित्व है, तब तक साधक को भी वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपकरणों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्त्र-पात्र आदि रखना परिग्रह नहीं है; परिग्रह है—उसमें राग-द्वेष एवं ममत्व भाव रखना। अतः भगवान की यह आज्ञा है कि साधक उपकरणों में आसक्ति न रखे। इस बात को सूत्रकार ने 'एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया है कि उपरोक्त मार्ग आर्यपुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य का अर्थ तीर्थंकर किया गया है।

अतः विचारशील व्यक्ति को आर्य द्वारा प्ररूपित मार्ग पर निर्द्वन्द्व भाव से गतिशील होना चाहिए। और अपने आपको समस्त पाप कर्मों से सदा अलिप्त रखना चाहिए। यहां उद्देशक के अन्त में 'त्तिबेमि' का प्रयोग अधिकार की समाप्ति के लिए हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। परिग्रह का त्याग तभी संभव है, जबकि लालसा-वासना एवं आकांक्षा का त्याग किया जाएगा। अतः सूत्रकार आगमी सूत्र में काम-वासना के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—कामा दुरतिक्कमा, जीविय दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अय पुरिसे, से सोयइ जूरइ तिप्पइ परितप्पइ ॥६३॥

छाया—कामाः दुरतिक्रमाः जीवितं दुष्प्रतिबृंहणीयं कामकामी खलु अयं पुरुषः स शोचते, खिद्यते तेपते परितप्यते।

पदार्थ—कामा—काम-भोग। दुरतिक्कमा—दुरतिक्रम—छोड़ने कठिन हैं। जीवियं—जीवन। दुप्पडिवूहगं—वृद्धि नहीं पा सकता, इसलिए। खलु—निश्चय से। कामकामी—काम भोगों का इच्छुक। अयं पुरिसे—यह पुरुष अनेक पुरुषों का संबोधन करता है जैसे। से—वह कामी व्यक्ति। सोयइ—शोक करता है। जूरइ—मन में वैर मानता है। तिप्पइ—रुदन करता है। परितप्पइ—परिताप को प्राप्त करता है अर्थात् सब तरह से पश्चात्ताप करता है।

मूलार्थ—काम भोगों का परित्याग करना अति दुष्कर है। जीवन सदा क्षीण होता है उसे बढ़ाया नहीं जा सकता है अतः कामेच्छा से युक्त व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति न होने से शोक करता है खेद करता है, रोता है, और सबप्रकार से पश्चात्ताप करता है।

हिन्दी विवेचन

जीवन मे अन्य विकारों की अपेक्षा काम को सबसे बलशाली शत्रु माना है। उस पर विजय पाना बहुत ही कठिन है। इसी कारण सूत्रकार ने इसे 'दुरितकम्मा' कहा है अर्थात् इसे परास्त करना दुष्कर है। साधारण मनुष्य तो क्या, कभी कभी महान् साधक भी इसके प्रहार से विचलित हो उठते हैं, उसके सामने नतमस्तक हो जाते है।

काम के दो भेद हैं— १-इच्छा-वासना रूप काम और २- मैथुन सेवन रूप काम। दोनों प्रकार के काम का उद्भव मोहनीय कर्म के उदय से होता है। हास्य, रति आदि से इच्छा आकाक्षा एव वासना उद्बुद्ध होती है और वेदोदय से मैथुन सेवन की प्रवृत्ति होती है। अत काम-भोग मोहनीय कर्मजन्य हैं और जब तक मोह कर्म का सद्भाव रहता है, तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन कर सकना कठिन है। इसलिए सूत्रकार ने इसे जीतना दुष्कर कहा है। क्योंकि मोह कर्म को सब कर्मों का राजा माना गया है। इसलिए घातक कर्मों का क्षय करने वाले सर्वज्ञ सबसे पहिले मोह कर्म का ही नाश करते हैं। क्योंकि राजा को परास्त करने पर शेष शत्रु तो स्वय ही पराजित हो जाते हैं, फिर उनका नाश करने मे देरी नहीं लगती। परन्तु राजा को या मोह कर्म को जीतना आसान काम नहीं है। यह इतना भयकर है कि बडे २ योद्धाओं के दान्त खट्टे कर देता है। इसलिए साधक को इस पर विजय पाने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। अपने मन, वचन एव शरीर को वासना की ओर प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए।

वासना एक ऐसी भूख है, जो कभी शात नहीं होती। काम-भोग को आग कहा गया है और आग ईंधन डालने पर शॉत नहीं, अपितु अधिक प्रज्वलित होती है। यही बात विषय-वासना की है, वह पदार्थों के भोगोपभोग से शात नहीं होती है, अपितु अधिक उग्र बनती जाती है। हम सदा देखते हैं कि एक इच्छा पूरी भी नहीं हो पाती है कि दूसरी इच्छा जाग उठती है। उसके समाप्त होते, न होते तीसरी, चौथी आदि जागती रहती हैं, उनका कभी भी अन्त नहीं आता। इसलिए मानव को कभी भी सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। यदि कभी भाग्य से इच्छाएं पूरी भी हो जाएं, तब भी मनुष्य सुख को नहीं पा सकता। क्योंकि आखिर यह जीवन भी तो सीमित है। और वासना असीम है, अनन्त है, और उसकी अभिवृद्धि के साथ साथ जीवन को बढाया नहीं जा सकता। इसलिए वासना, इच्छा एव आकांक्षा मन में ही रह जाती है और मानव आगे की यात्रा के लिए चल पडता है। इससे स्पष्ट है कि वासना की आग मनुष्य को सदा जलाती रहती है और उसमे प्रज्वलित

मनुष्य विषय-वासना की पूर्ति न हो सकने के कारण उसके लिए चिन्ता-शोक करता है, मन में खेद करता है और रोने लगता है। इस प्रकार वासना के ताप से सदा सन्तप्त रहता है।

इसलिए साधक को प्रमाद का त्याग करके सदा विषय-भोगों से दूर रहना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर विषय भोगों में नहीं फंसता, वह सदा सुखी रहता है और पूर्ण सुख-शांति को प्राप्त करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गढिए लोए अणुपरियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए ॥९४॥

छाया—आयतचक्षुः लोकविदर्शी (लोकं विपश्यति) लोकस्याधो भागं जानाति ऊर्ध्वं भागं जानाति तिर्यग्भागं जानाति गृद्धो लोकः अनुपरिवर्तमानः सन्धिं विदित्वा इहमर्त्येषु एष वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचयति यथा अन्तस्तथा बहिस्तथा बहिः तथा अन्तः अन्तोऽन्तः पूतिदेहान्तराणि पश्यति पृथगपि स्रवन्ति पण्डितः प्रत्युपेक्षेत ।

पदार्थ—आययचक्खू—दीर्घदर्शी। लोगविपस्सी—लोक के स्वरूप को जानने वाला। लोगस्स—लोक के। अहोभागं—अधो भाग को। जाणइ—जानता है। उड्ढं-भागं—ऊर्ध्व भाग को। जाणइ—जानता है। तिरियं भागं—तिर्यग् भाग को। जाणइ—जानता है। गढिए लोए—प्रमादी लोग काम भोगों में मूर्छित है। अणुपरियट्टमाणे—संसार चक्र में परिभ्रमण करने वाला। इह मच्चिएहिं—इस मनुष्य लोक में। संधिं विइत्ता—ज्ञानादि के प्राप्त करने का अवसर जानकर जो काम-भोगों का परित्याग करता है। एस वीरे—वही वीर है। पसंसिए—वही प्रशंसा के योग्य है। जो बद्धे—जो बन्धे हुओं को पडिमोयए—बन्धनों से मुक्त करता है। जहा—जैसे। अंतो—अन्दर से यह शरीर मल-मूत्र

से अपवित्र है, उसी प्रकार । बाहिं-बाहिर से भी मल युक्त है फिर । जहा—जैसे । बाहिं—बाहिर से मलयुक्त है, उसी प्रकार । अन्तो—भीतर से भी है । अन्तो अन्तो—शरीर के मध्य २ मे । पूइदेहन्तराणि—पूति-शरीर के अन्तर्भग मे पूति व देह की अवस्था को । पासइ—देखता है । पुढोवि—पृथक् २ ही । सवताइ—स्रवते हैं — अर्थात् नवद्वारो से मल का स्राव होता रहता है, अत । पडिए—पडित पुरुष । पडिलेहाए—इनका प्रत्यवेक्षण करे, इनके स्वरूप को देखे ।

मूलार्थ— दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानने वाला, लोक के अधोभाग, ऊर्ध्व भाग और तिर्यग्भाग को जानता है । और वह यह भी जानता है कि काम मे मूर्छित जन ससार चक्रमे परिभ्रमण कर रहा है, इस मनुष्य लोक मे और मनुष्य जन्म मे ज्ञानदि प्राप्त करने के अवसर को जान कर जो काम से निवृत्त हो गया है, वही वीर और विद्वानो द्वारा प्रशसित है । स्वय बन्धन-मुक्त होने से वही दूसरो को भी बन्धन से मुक्त करा सकता है । जैसे यह शरीर मल-मूत्रादि के कारण भीतर से दुर्गन्ध युक्त है, उसी प्रकार बाहिर से भी है । तथा जिस प्रकार बाहिर से है उसी प्रकार भीतर से है । शरीर के भीतर-देहके विभागो मे दुर्गन्ध भरी हुई होती है और शरीर के नवो द्वारो मे से वह मलके रूप मे बाहिर निकलती रहती है । अत पुरुष इसके यथार्थ स्वरूप का अवश्य ही अवलोकन करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि भोगों से वही व्यक्ति विरक्त हो सकता है, जो दीर्घदर्शी है। अर्थात् जो केवल वर्तमान के भोगजन्य सुखों को ही नहीं देखता अपितु ऊर्ध्व, अधो एव तिर्यक् क्षेत्र में भोगों से प्राप्त होने वाली स्थिति को भी देखता है । इसलिए उसे आयतचक्षु—दीर्घदर्शी के साथ लोक दर्शी भी कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्यग् ज्ञान के द्वारा लोक के स्वरूप को जान लेता है। उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक का आधार विषय-वासना ही है। यह हम पहिले ही देख चुके हैं कि विषय-वासना मोहनीय कर्म जन्य है और मोह कर्म ही लोक में परिभ्रमण कराने वाला है । इसके वशीभूत जीव विभिन्न गतियों में शुभाशुभ अनेक वेदनाओं का संवेदन करता है । इस प्रकार प्रबुद्ध साधक मोहकर्म के विपाक को जानकर वासना का परित्याग करता है, वह भोगों से सदा दूर

रहता है ।

वह विषय-वासना से निवृत्त होकर अपने कर्म के बन्धन को तोड़ता है और दूसरों के कर्म बन्धन काटने में भी सहायक बनता है। यह सत्य है कि आत्मा स्वयं ही अपने बन्धनों को तोड़ती है। कोई भी शक्ति न उस बन्धनों से बांध सकती है। और न मुक्त ही कर सकती है। फिर भी यहां जो बन्धन तोड़ने में सहायक शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि विषय-वासना से मुक्त बना जीव किसी भी बद्ध जीव के बन्धन तोड़ता नहीं है, प्रत्युत उसे बन्धन तोड़ने का मार्ग दिखा देता है, उपाय बता देता है, इसी कारण उसे निमित्त रूप से सहायक माना है। बन्धन तोड़ने का प्रयत्न तो आत्मा को ठीक करना होगा। वह तो केवल पथप्रदर्शक बन सकता है।

उसने जीवन के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है कि यह मल-मूत्र से भरा हुआ है। जैसे शरीर के अन्दर मल-मूत्र है, उसी प्रकार बाहिर भी मल लगा हुआ है और जैसे बाहिर से मल-युक्त है उसी प्रकार भीतर से भी है। और उसके नव द्वारों से सदा मल का प्रवाह होता रहता है। इस प्रकार अपवित्रता के भंडार को देखकर वह अशुचि भावना भाता है और दूसरों को भी इस भावना को भाने के के लिए प्रेरित करता है। उनका ध्यान भी इस अशुचि के पुतले से निवृत्त होने की ओर लगाता है।

प्रस्तुत सूत्र में अशुचि भावना का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। साधक अपने अन्दर एवं बाहिर भरी हुई अपवित्रता को तथा समय-समय पर होने वाले कुष्ट आदि रोगों से होने वाली शारीरिक विकृति एवं घाव आदि से झरने वाले रक्त पीप आदि को देखकर यह सोचता है कि यह शरीर कितना विकृत है। और इसके भोग भी क्या हैं — मात्र अशौच्य को बढ़ाने वाले। उससे मानसिक वाचिक एवं शारीरिक अशुद्धि की ही अभिवृद्धि होती है। अतः प्रबुद्ध साधक इस भावना के द्वारा भोगों की निस्सारता को जानकर उनसे निवृत्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ" वाक्य में 'ॐ' की ध्वनि भी स्पष्ट प्रतिभासित होती है। क्योंकि जो महापुरुष तीनों लोक के स्वरूप को भली-भांति जानता है और सांसारिक विषय-भोगों से सर्वथा निवृत्त होकर अनन्त सुख पा चुका है वही दीर्घदर्शी है और ऐसे महापुरुष ही संसार में डूबे हुए व्यक्तियों को

मुक्त वनने की राह वता सकता है। अस्तु तीन लोक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से जानने वाला सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होता है। उसके स्वरूप को 'ॐ' शब्द से भी अभिव्यक्त किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अहोभाग' उड्ढभाग और 'तिरिय' यध्म भाग' तीनों शब्दों के आदि के एक एक अक्षर को लेकर 'अ+उ+म्' तीनों का सयोग किया जाए, अर्थात् 'आद गुण' सूत्र से 'अ+उ' मे गुण किया जाए तो 'ओम् या ॐ' शब्द की सिद्धि हो जाएगी। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द तीन लोक के स्वरूप को भली-भांति जानने वाले सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी का परिवोधक है' योगदर्शन में इसी भाव का समर्थन किया गया है*।

जबकि प्रस्तुत सूत्र उक्त शब्दों को लेकर टीकाकार या वृत्तिकार आदि ने 'ॐ' शब्द की कल्पना नहीं की है। परन्तु मेरी समझ से प्रस्तुत सूत्र की रचना करते समय सूत्रकार के मन मे यह कल्पना रही होगी। इसका आधार यह है कि उन्होंने 'अघो' 'तिर्यक्' और 'ऊर्ध्व' के क्रम से तीनों लोक निर्देश न करके आकार आदि क्रम से निर्देश किया। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि सूत्रकार को इन पदों से 'ॐ' को सिद्ध करना ही अभीष्ट रहा है।

इसके अतिरिक्त जैनों का पञ्च परमेष्ठी मन्त्र भी 'ॐ' का प्रतीक माना गया है। 'अरिहन्त' 'अशरीरी' 'सिद्ध' और 'आयरिय' उक्त तीन पदों के 'अ+अ+आ' आदि अक्षरों का 'अक सवर्णे दीर्घ' सूत्र से दीर्घ करने पर 'आ' वनता है। और 'आ' मे उपाध्याय के 'उ' का सयोग करने पर 'आ+उ' 'आदगुण' सूत्र से 'ओ' वन जाता है और उसमे 'मुनि' पद के 'म्' का सयोग करने पर 'ओम्—ॐ' शब्द सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने नमस्कार मन्त्र से 'ॐ' शब्द सिद्ध किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द के पञ्च पदों से जिन गुणों का वोध होता है, वे समस्त गुण जिसमें पुञ्जीभूत हों अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वल-वीर्य से सम्पन्न हो वह सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी आत्मा का संसूचक है।

यह ठीक है कि 'ॐ' शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा मे होता रहा है। जैन आगमों मे इसका साधना के रूप में प्रयोग नहीं हुआ। परन्तु जैन परम्परा में आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। और उक्त शब्द को अपनी सस्कृति एव सिद्धात के अनुरूप ढाल लिया। तब से जैन सस्कृति मे भी इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

---

* तस्य वाचक प्रणव — पातञ्जल योगदर्शन, १, २७

निष्कर्ष यह निकला कि जो अपने ज्ञान से या सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित श्रुत ज्ञान से तीन लोक के स्वरूप एवं कर्मों के फल तथा काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर भोगों का सर्वथा परित्याग कर देता है। वास्तव में वह वीर है, प्रशंसा के योग्य है और वह सर्व कर्म बन्धन से मुक्त बनता है और दूसरों को भी मुक्ति का पथ बताता है।

इस प्रकार अशुचि भावना के द्वारा साधक भोगों से निवृत्त होता है। उसके बाद अर्थात् काम—वासना से निवृत्त होने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए? अपनी साधना को किस प्रकार गति-प्रगति देनी चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासंकासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो, जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणयाए, अमराय महासड्ढी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ ॥६५॥

छाया—स मतिमान् परिज्ञाय मा च खलु लालां प्रत्याशी मा तेषु तिरश्चीन-मात्मानमापादयेत्ः कासंकासः खलु अयं पुरुषः बहुमायी कृतेन मूढः पुनस्तत् करोति लोभं वैरं वर्द्धते आत्मनः यदिदंपरिकथ्यते अस्य चैव परिबृंहणार्थं अमरायते (अमरायमाणः) महाश्रद्धी आर्तमेतं (अमरायमाणं) तु प्रेक्ष्यापरिज्ञाय क्रन्दति।

पदार्थ—से—वह। मइमं—मतिमान्। परिन्नाय—परिज्ञात-जानकर। य—समुच्चय अर्थ में। हु—वाक्यालंकार अर्थ में है। लालं—मुख की लाल को। मा—मत। पच्चासी—आस्वाद न करे अर्थात् छोड़े हुए काम-भोगों को बालक की लारवत् फिर से सेवन न करे। मा—मत। तेसु—उन भावों में। तिरिच्छं—प्रतिकूल भाव रूप से। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। आवायए—स्थापन न करे अर्थात् ज्ञान आदि के मार्ग से आत्मा को प्रतिकूल न करे और अज्ञान, अविरति, मिथ्यादर्शनादि के अनुकूल न करे किन्तु। कासंकासे—यह कार्य मैंने कर लिया है और यह मैं करूंगा। खलु—निश्चय। अयं—यह। पुरिसे—पुरुष प्राणि का।

का अनुभव नही कर सकता, अपितु वह पुरुष । बहुमाई—बहुत माया । कड्डेण—करने से मूढे—मूढ हो जाता है। पुणो—फिर । तं—वह लोभानुष्ठान । करेइ—करता है तथा। लोहं—लोभ । करेइ—करता है और जिससे । अप्पणो वेर—आत्मा के साथ वैर भाव। वड्ढेइ—बढता है। जमिण—जिससे यह । परिकहिज्जइ—कहा जाता हैं, कि । च-और एव-शब्द पूर्ववत् जानने । इमस्स—इस शरीर की । पडिवूहणाए—वृद्धि के लिए, वह पूर्वोक्त क्रियायें करता है। य-और । अमराए—देव के समान आचरण करता है। महासड्ढी—काम भोगो मे अत्यन्त श्रद्धा-अभिलाषा रखने वाला । एय—यह । तु—वितर्क अर्थ मे है। अट्ठ—काम-भोग आर्त ध्यान का मुख्य कारण हैं, अत । पेहाए—यह देखकर, काम-भोगो से निवृत होना चाहिए। किन्तु जो लोग काम भोगो से निवृत नही होते, अब उनके विषय मे कहते हैं। अप्परिण्णाय—काम भोगो के विपाक को न जानने से अर्थात् ज्ञ और प्रत्याख्यान परिज्ञा मे तद्विषयक सम्यक् बोध को प्राप्त न करने से। कंदइ—वह कामी पुरुष अनेक प्रकार से आक्रोश करता है। शोक सन्ताप को प्राप्त होता है।

मूलार्थ--वह बुद्धिमान् साधु मुख की लाल को चाटने वाले बालक की भाति वमन किये-त्यागे हुए काम भोगो को फिर से भोगने की इच्छा न करे। तथा अपने आत्मा को प्रतिकूल मार्ग मे न ले जाये अर्थात् ज्ञान से विपरीत दिशा मे न ले जाए। मैं ने यह काम कर लिया है और यह काम मै करूं गा इस प्रकार की चिन्ता करने वाला पुरुष कभी भी शान्ति का अनुभव नही कर सकता । वह अत्यन्त मायावी होने से अधिक छल-कपट करने के कारण मूर्ख हो जाता है । फिर लोभ करता है और अपनी आत्मा के साथ वैर को बढाता है। जिससे ऐसा कहा जाता है कि इस शरीर की वृद्धि के लिए आरम्भ करता हुआ अपने आत्मा को देवो के समान मानता है, तथा विषय भोगो मे आसक्त होने के कारण, वह आर्तध्यान के वश होकर अनेक प्रकार की चिन्ताओ से आवृत्त हो जाता है। हे शिष्य! तू इस स्वरूप को भली-भाति जानकर काम भोगो की आशा का परित्याग कर? तथा जिन जीवो ने काम भोगो की वास्तविकता को नही जाना अर्थात् उनको तुच्छ निस्सार और अनर्थकारी जानकर त्याग नही किया है, वे उनकी अप्राप्ति से तथा प्राप्त होकर नष्ट हो जाने से

निरन्तर शोक और सन्ताप का ही अनुभव करते हैं!

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में अशुचि भावना के द्वारा त्याग पथ पर गति करने का आदेश दिया गया है और प्रस्तुत सूत्र में उस पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि साधक को त्यागे हुए भोगों को फिर से प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इसके लिए बालचेष्टा का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। जैसे अबोध बालक अपनी गिरती हुई लार को फिर से मुंह में लेकर चूसने लगता है। इस प्रकार मुमुक्षु साधक त्यागे हुए भोगों की लार को फिर से आस्वादन करने की कामना भी न करे। और ज्ञान दर्शन एवं चारित्र के पथ पर गतिशील आत्मा को विपरीत दिशा में न धकेलने दे अर्थात् अपने मन को विषय-वासना एवं प्रमाद आदि की ओर न दौड़ने दे। क्योंकि इच्छित भोग कभी पूरे नहीं होते और जो प्राप्त हुए हैं उनका भी वियोग होता रहता है इस प्रकार आशा की अपूर्ति एवं प्राप्त के वियोग से कामी व्यक्ति का मन सदा शोक एवं चिन्तना से सन्तप्त रहता है। और विषयों की तृष्णा एवं आसक्ति से इस जीवन में विभिन्न दुःख उठाने पड़ते हैं और परलोक में भी आत्मा दुःख के महागर्त में गिरती है, अतः साधक को भोगों में आसक्त होने वाले प्राणियों की स्थिति को देखकर सदा उससे दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'तिरिच्छमप्पाणमायत्तए — तिरश्चीनमात्मानमापादयेत्' पाठ का तात्पर्य यह है—कि विचार शील पुरुष अविरति, मिथ्यादर्शन आदि दोषों म अपनी आत्मा को नहीं लगावे। परन्तु उसे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ओर मोड़े और निरन्तर इसी साधना में संलग्न रहे जिससे शीघ्र ही कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को पा सके।

अमराए' पद का अर्थ है—'अमरायतेऽमर- सन् इवपीनमप्रमुत्वमात्मनःऽमर इवाचरति अमरायते" अर्थात् जो व्यक्ति अपने धन, यौवन, अधिकार और रूप के गर्व में देव न होते हुए भी आप आपको देव तुल्य मान कर भोगों में आसक्त रहता है, परिणाम स्वरूप विभिन्न वेदनाओं एवं चिन्ताओं का संवेदन करता है। इस बात का 'अट्टमेव तु पेहाए' पद से व्यक्त किया गया है। अतः उनकी शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं को देखकर मुमुक्षु पुरुष को भोगों में अपना मन को नहीं लगाना चाहिए।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

मूलम्—से तं जाणह जमहं वेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुम्पइत्ता विलुम्पइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ, त्तिवेमि ॥९६॥

छाया—तत्तद् जानीत यदहं ब्रवीमि चिकित्सां (काम चिकित्सां) पण्डितः प्रवदन् स हन्ता, छेत्ता भेत्ता, लुम्पयिता विलुम्पयिता, अपद्रावयिता अकृतं करिष्ये इति मन्यमानः यस्यापि च यत् करोति अलं बालस्य संगेन यो वा एतत् कारयति बालः न एमवनगारस्य जायते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। त—अत। ज—जो। अहं—मैं। वेमि—कहता हूं, उसको। जाणह—जानो। पडिए—पाण्डित्याभिमानी जन। तेइच्छ—कामचिकित्सा को। पवयमाणे—कहता हुआ। से—वह फिर। हंता—जीवो का हनन करता है। छित्ता—छेदन करता है। भित्ता—भेदन करता है। लुपइत्ता—लुम्पन करता है। विलुम्पइत्ता—विलुम्पन करता है। उद्दवइत्ता—प्राणो का नाश करता है। अकड—अकृत कार्य। करिस्सामित्ति—मैं करूंगा इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ। जस्सवि—जिसकी भी। करेइ—काम चिकित्सा करता है। अपि—अपनी तथा अन्य और दोनो की करता है, ऐसा जानना। च और ण का अर्थ पूर्व की भाति समझना। अल बालस्स संगेण—बालक के संग से अल पर्याप्त है अर्थात् उसका सग नही करना चाहिए। वा—अथवा। से—वह। बाले—बाल अज्ञानी जन जो। करेइ—काम चिकित्सा करवाता है, उससे भी। अल-बस। एवं—इस प्रकार की क्रियाओ का अनुशासन करना। अणगारस्स—अनगार साधु को। न—नहीं। जायइ—कल्पता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ-जो मै कहता हूं उसको जानो तथा धारण करो, कामचिकित्सा की उपदेशक पाडित्याभिमानी व्यक्ति, जीवो का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, गला काटता है और प्राणो का विनाश करता है, और मैं अकृत जिसे अभी तक किसी ने नही किया है, ऐसा काम करूगा, इस प्रकार मानता हुआ अपनी वा पर की अथवा दोनो की चिकित्सा करता है। इस प्रकार कामचिकित्सा वा व्याधिचिकित्सा

करने वाले बाल अज्ञानी जीवों का संग नहीं करना चाहिए । अतः इन क्रियाओं के अनुष्ठान में अनगार को कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए इसका तात्पर्य यह है कि अनगार मुनि को उक्त सदोष क्रियाएं करनी नहीं कल्पती हैं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को काम एवं रोग चिकित्सा करने का निषेध किया गया है । क्योंकि उक्त चिकित्साओं में अनेक जीवों की हिंसा होती है, अतः साधक को किसी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । काम चिकित्सा का वात्स्यायन सूत्र में विस्तृत विवेचन किया गया है । उसमें कामसेवन के विविध आसनों, प्रकाम भोजन एवं पौष्टिक औषधियों का उल्लेख किया गया है । इससे काम-वासना उद्दीप्त होती है और मनुष्य भोग की ओर प्रवृत्त होता है । वस्तुतः यह काम की चिकित्सा नहीं अपितु उसको बढ़ाने वाली है । चिकित्सा का अर्थ है — औषध आदि प्रयोगों से रोग का उपशमन या नाश करना । काम भी एक रोग है और इसका मूल है मोह कर्म । अतः मोह कर्म का उपशमन करना या क्षय करना वास्तव में काम चिकित्सा है । परन्तु ऊपरी पांडित्य के अभिमानी भोग प्राप्ति की योग्यता को चिकित्सा का रूप देते हैं । जो वस्तुतः काम के रोग को बढ़ाने वाले हैं । इस से मोह कर्म की उदीरणा होती है और मनुष्य की भोगेच्छा में अभिवृद्धि होती है । मोह कर्म संसार में परिभ्रमण कराने वाला है । अतः साधु को ऐसी चिकित्सा करना नहीं कल्पता ।

इस प्रकार रोग चिकित्सा में जड़ी-बूटी आदि से तथा स्वर्ण भस्म आदि रासायनिक औषधों को बनाने या बनाने की विधि बताने में पृथ्वी, पानी, अग्नि वायु, वनस्पति एवं त्रस प्राणियों की हिंसा होती है । और इसी प्रवृत्ति में लगे रहने से आध्यात्मिक चिन्तन में भी विघ्न उपस्थित होता है । क्योंकि रोगी रात दिन उस घेरे रहेंगे अतः वह अपनी साधना नहीं कर सकेगा और इसके कारण गृहस्थों से घनिष्ट परिचय बढ़ने से अन्य कार्यों में प्रवृत्ति होना भी सम्भव है । इसलिए साधक को काम एवं व्याधि चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करने वाले काम-अज्ञानी व्यक्तियों का संसर्ग ही करना चाहिए ।

यह प्रश्न हो सकता है कि अपने शरीर में काम की पीड़ा पीड़ित करने लगे या रोग उत्पन्न हो जाए तब साधक क्या करे ? काम की चिकित्सा के लिए वह काम शास्त्र में प्रयुक्त किसी भी प्रयोग का सेवन न करे । क्योंकि इससे काम

व्याधि को उत्तेजना मिलती है, रोग उपशात न होकर अधिक बढता है। उसके लिए आगमों में बताई गई तप, आतापना स्वाध्याय, ध्यान एवं सेवा-शुश्रूषा की विधि को स्वीकार करके काम-वासना पर विजय प्राप्त करे अर्थात काम के मूल मोह को उन्मूलन करने का प्रयत्न करे।

रोग को उपशात करने के लिए साधु अपनी मर्यादा के अनुसार चिकित्सा कर भी सकता है या दूसरे से करवा भी सकता है। उसके लिए सावद्यऔषध के त्याग का विधान है, निर्दोष औषध ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक मे यह बताया गया है कि साधु को सदोष आहार एवं वस्त्र-पात्र, स्थानादि को स्वीकार नहीं करना चाहिए और उक्त निर्दोष वस्तुओं मे परिमाण-मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् उक्त वस्तुओं को मर्यादा से अधिक न लिया जाए और उनमें आसक्ति एवं ममत्व भाव नहीं रखे। इसके बाद काम—वासना का सर्वथा परित्याग करे। जिनके संसर्ग से काम की वासना एव हिंसा की प्रवृत्ति के भावों को उत्तेजना मिलने की संभावना हो, उनका संसर्ग भी नहीं करना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक को आहार, उपधि सम्बन्धी सदोषता आसक्ति एव भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करके निर्विकार एव निर्दोष भाव से सयम साधना में सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

॥ पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन लोक-विजय

पष्ठम उद्देशक

पांचवें उद्देशक में यह बताया गया है कि संयम का सम्यक्तया परिपालन करने के लिए वह आहार आदि का ग्रहण करे, परन्तु उसमें आसक्त नहीं बने। प्रस्तुत उद्देशक में भी मुख्यतया इसी बात का वर्णन किया गया है कि मुनि को आहार आदि में मूर्छा भाव नहीं रखना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार निम्नोक्त है—

मूलम्—से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावं कम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ॥६७॥

छाया—स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय तस्मात् पापं कर्म नैव कुर्यात्, न कारयेत्।

पदार्थ—से—वह। तं—उस चिकित्सा के फल को। संबुज्झमाणे—जानता हुआ आयाणीयं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र को स्वीकार करे। समुट्ठाय—संयम साधना में सावधान होकर। तम्हा—इस लिए। पावं कम्मं—पाप कर्म को। नेव कुज्जा—न स्वयं करे और न। कारवेज्जा—न अन्य से करावे।

मूलार्थ—वह मुनि चिकित्सा के फल को जानता हुआ ज्ञान दर्शन और चारित्र को स्वीकार करके सावधानी पूर्वक संयम का परिपालन करे। किन्तु न तो स्वयं पाप कर्म में प्रवृत्ति करे और न अन्य को पाप कर्म में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करे।

हिन्दी विवेचन

पंचम उद्देशक के अन्तिम सूत्र में यह बता आए हैं कि काम एवं व्याधि चिकित्सा अनेक दोषों से युक्त है। उसमें अनेक प्राणियों की हिंसा होती है और उस से साधु जीवन में अनेक दोषों के प्रविष्ट होने की संभावना रहती है। अतः साधु को उसके दुष्परिणाम को जानकर ज्ञान दर्शन और चारित्र में प्रवृत्ति

करते हुए समस्त पाप कार्यों से बचकर रहना चाहिए। न स्वयं कोई पाप कर्म करना चाहिए और न अन्य व्यक्ति से पाप कर्म करवाना चाहिए। क्योंकि इसमे उसके अन्य महाव्रतों मे भी दोष लगता है।

पांचों महाव्रतों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है। एक मे दोष लगने पर दूसरा दूषित हुए बिना नहीं रहता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ छसु अन्नयरंमि कप्पइ, सुहट्ठी लालप्पमाणे, सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंती ॥९८॥

छाया—स्याच्चतत्र एकतरं विपरामृशति षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्प्यते सुखार्थी लालप्यमानः स्वकीयेन मूढः विपर्यासमुपैति स्वकीयेन प्रमादेन पृथग् वय (व्रतं) प्रकरोति यस्मिन् इमे प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रत्युपेक्ष्य नो निकरणाय एषा परिज्ञा प्रोच्यते कर्मोपशान्ति।

पदार्थ—सिया—कदाचित्। तत्थ—उस से। एगयर—किसी एक पृथ्वी आदि काय का। विप्परामुसइ—समारम्भ-किसी एक आस्रव से आरम्भ करता है, तो। छसु—६ काय मे। अन्नयरंसि—किसी एक काय का आरम्भ करने पर। कप्पइ—प्राय ६ काय का आरम्भ हो जाता है। सुहट्ठी—सुखाभिलाषी। लालप्पमाणे—अधिक प्रलाप करता हुआ या अपने मन, वचन और काय को उस क्रिया मे लगाता हुआ। सएण—स्वकीय, दुक्खेण—दु ख से। मूढे—वह मूढ। विप्परियासमुवेइ—विपरीत भाव को प्राप्त होता है, और फिर। सएण—स्वकीय। विप्पमाएण—प्रमाद से। पुढो—पृथक्-पृथक्। वय—व्रत का। पकुव्वइ—भेदन करता हैं। जंसिमे—इस ससार मे ये। पाणा—प्राणी। पव्वहिया—विभिन्न दु खों से सतप्त एव पीडित होते हैं। पडिलेहाए—ऐसे कर्म फल को जानकर या विचार कर। नो निकरणयाए—जिस से दु ख की अभिवृद्धि होती है, वैसा कर्म न करे। एस—यह। परिन्ना—परिज्ञा पवुच्चइ—कही जाती है, जिससे। कम्मोवसंति—कर्म उपशात हो जाते हैं

मूलार्थ—कई बार ऐसा भी होता है कि एक काय की हिंसा करते हुए ६ काय की हिंसा हो जाती है और एक प्राणातिपात विरमण व्रत का भंग करने से अन्य व्रतों का भी भंग हो जाता है। भौतिक सुखाभिलाषी व्यक्ति भोगों के लिए प्रलाप करता है अपने कर्मोदय से मूढ़ता एवं विपरीत भाव को प्राप्त होता है। और विभिन्न प्रकार से प्रमाद का सेवन करने से वह व्रतों का भंग करता है और परिणाम स्वरूप अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ दुःख का संवेदन करता है। पाप कर्म में संलग्न प्राणी विभिन्न दुःखों को भोगते हैं। अतः साधक को पाप कर्म का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए। यही तेजस्वी एवं शक्तिशाली प्रतिज्ञा है इस से कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि एक काय की हिंसा से ६ काय की हिंसा भी हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम अध्ययन में कर चुके हैं। यहाँ यह विशेष रूप से बताया गया है कि जैसे एक काय की हिंसा से ६ काय की हिंसा होती है, उसी प्रकार एक महाव्रत के भंग होने पर शेष महाव्रत भी भंग हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पांचों महाव्रत एक-दूसरे से संबद्ध हैं। और एक दूसरे पर आधारित हैं। जैसे साधु किसी प्राणी की हिंसा करता है तो वह केवल अहिंसा व्रत से ही च्युत नहीं होता है, अपितु अन्य व्रतों से भी गिरता है। उसकी हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा असत्य हो गई इस लिए उसका दूसरा व्रत दूषित हो जाता है। और जीव की बिना आज्ञा उसके प्राणों का अपहरण करने रूप चोरी करता है। जो व्यक्ति हिंसा के कार्य में प्रवृत्त होता है, वह किसी कामनावश होता है और कामना-वासना अब्रह्मचर्य है और उस सजीव प्राणी को ग्रहण करने रूप परिग्रह तो है ही। इस प्रकार जो साधु झूठ बोलता है वह व्यक्ति के मन को आघात पहुंचाने रूप हिंसा करता है; वीतराग आज्ञा का उल्लंघन रूपी चोरी करता है। वह झूठ भी किसी कामना-वासना एवं आसक्तिवश बोलता है। इसलिए चौथा एवं पांचवां महाव्रत भी भंग हो जाता है। इसी प्रकार अन्य व्रतों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक व्रत में दोष लगने से शेष व्रत भी दूषित हो जाते हैं।

प्रश्न—फिर मनुष्य पाप कर्म मे क्यो प्रवृत्त होते है ?

बात तो ठीक है। परन्तु इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने सुख के लिए या यों कहिए कि अपने स्वार्थ को साधने के लिए पाप कम मे प्रवृत्त होता है। जब मनुष्य के जीवन मे स्वार्थ की भावना जागृत होती है उस समय वह ससार के प्राणियों के हित को तो क्या अपने हित को भी भूल जाता है। पदार्थों एवं भौतिक सुखों का मोह एवं तृष्णा मनुष्य की हिताहित की दृष्टि को आवृत्त कर लेती है। वह सब कुछ जानते हुए भी मूढ बन जाता है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

एक राजा को भयकर रोग हो गया। कई राजवैद्यों से चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो पाया। एक अनुभवी वैद्य को बुलाया, उसने राजा के रोग को ज्ञात कर लिया और साथ मे यह भी कह दिया कि इस रोग का मूल कारण आम्र-फल है। अत यदि आप स्वस्थ एव कुछ दिन जीवित रहना चाहते है, तो कभी भी आम न खाए। राजा ने स्वीकार कर लिया। समय बीतता चला गया, एक दिन राजा उद्यान मे घूम रहा था। आम की मौसम थी। आमके वृक्षों की शाखाएं मधुर पक्के फलों से लदी हुई विनम्र शिष्य की भाति झुक रही थीं। आम्र फलों की मधुर सुवास चारों ओर फैल रही थी। फलों की सुवास एवं उनके सौंदर्य को देखकर राजा का मन ललचा गया। मंत्री ने उसे रोकना भी चाहा, परन्तु तृष्णा ने राजा के मन पर अधिकार जमा लिया था। अत सब के उपदेश को ठुकराकर वह आम खा ही गया और उसका परिणाम महावेदना के रूप मे प्रकट हुआ और उसने राजा के प्राण भी ले लिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वार्थ, तृष्णा एवं मोह के वश मनुष्य अपना हित भी भूल जाता है। तो ऐसी स्थिति मे दूसरों के हित को देखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि दोषों मे आसक्त व्यक्ति को भी अधा कहा गया है। उनके बाहिरी आख तो रहती है, परन्तु आत्म-ज्ञान पर मोह, अज्ञान एवं कषायों का गहरा अवगुण्ठन पडा रहने से वह हिताहित को नहीं देख पाता। इस लिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्त होता है।

'लालप्पमाणे' का अर्थ है— बार-बार प्रवृत्ति करना 'विप्परियासमुवेइ' का अर्थ है— 'हितमप्यहितबुद्ध्याऽविष्ठत्यहित च हितबुद्ध्येति' अर्थात् हित के कार्य को अहितकर एव अहित के कार्य को हितप्रद समझना। इसे बुद्धि की विपरीतता भी कहते हैं। 'पुढो वय पकुव्वइ, पृथग्-विभिन्न व्रतं करोति यदि वा-का तात्पर्य यह है—पृथु-विस्तीर्णं 'वयमिति वयन्ति पर्यटन्ति प्राणिन स्वकीयेनकर्मणा यस्मिन् स वय —ससारस्त करोति, तथा वेय' अवस्था विशेष" अर्थात् यह जीव व्रत का भंग करता है और परिणामस्वरूप ससार में परिभ्रमण

करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाद के वश मनुष्य अपने पथ से भटक जाता है और विभिन्न दुष्कार्यों में संलग्न होता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को प्रमाद का त्याग करके संयम में प्रवृत्त होना चाहिए। जिसके कारण वह सारे कर्मों को क्षय करके पूर्ण सुख को प्राप्त कर सके।

व्यक्ति सुख-दुःख जो कुछ भी पा रहा है वह स्वकृत कर्म का फल है। स्वयं प्रमाद एवं आसक्ति का सेवन करके ही वह मूढ़ भाव को प्राप्त होता है। अतः सबसे पहिले आसक्ति, ममत्व एवं मूर्च्छा भाव का त्याग करना चाहिए। इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं, तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्तिबेमि ॥

नारइं सहइ वीरे, वीरे न सहइ रतिं।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ ॥६६॥

छाया—यो ममायित मतिं जहाति, स त्यजति ममायितं, स खलु दृष्ट-पथः मुनिः यस्य, नास्ति ममायितं तं परिज्ञाय मेधावी विदित्वा लोकं वांत्वा लोकसंज्ञां स मतिमान् पराक्रमेत इति ब्रवीमि।

नारतिं सहते वीरः वीरो न सहते रतिं।
यस्मात् अविमनो वीर, तस्मात् वीरो न रज्यति ॥१॥

पदार्थ—जे—जो। ममाइयमइं—ममत्व बुद्धि को। जहाइ—छोड़ता है। से—वह। ममाइयं—स्वीकृत परिग्रह को। चयइ—छोड़ता है। से—वह। हु—निश्चय ही। मुणी—मुनि। दिट्ठपहे—मोक्ष पथ को देखने वाला है, तथा। जस्स—जिसके। ममाइयं—स्वीकृत परिग्रह नत्थि—नहीं है, तथा। तं—उस परिग्रह के स्वरूप को। परिन्नाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान्, फिर। विइत्ता—जानकर। लोगं—लोक को। लोगसन्नं—लोक संज्ञा को। वंता—वमन कर जो विचरता है। से—वह है। मइमं—मतिमान्। परिक्कमिज्जासि—संयमानुष्ठान में

पराक्रम करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

वीरे—वीर पुरुष। अरइ —सयम मे अरति को। न सहइ—सहन नही करता। और फिर। वीरे—वीर पुरुष। रति—असयम मे रति को। नसहइ—सहन नही करता। जम्हा—जिससे। वीरे—वीर पुरुष का। अविमणे—मन दूषित न हो। तम्हा—इसलिए। वीरे—वीर पुरुष। न रज्जइ—शब्दादि विषय एव परिग्रह मे मूर्छित नही होता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति ममत्व भाव का परित्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का त्याग कर सकता है। जिसके मन मे ममत्व भाव नही है वह मोक्ष मार्ग का द्रष्टा है। अतः जिसने परिग्रह के दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग कर दिया है, वह बुद्धिमान है। क्योकि जो लोक के स्वरूप को जानकर लोक सज्ञा का त्याग करता है, वही प्रबुद्ध पुरुष संयम साधना मे पुरुषार्थ करता है।

वीर पुरूष सयम मे अरति और असयम मे रति का सहन नही करते। वे रति-अरति दोनो का त्याग करते हैं। इसलिए वीर पुरुष शब्दादि विषयो मे आसक्त नही होते।

हिन्दी विवेचन

मुनि के लिए यह आवश्यक है कि वह परिग्रह का सर्वथा त्याग करे। पूर्ण अपरिग्रही व्यक्ति ही मुनित्व को स्वीकार कर सकते हैं। और इसके लिए—पूर्ण अपरिग्रही बनने के लिए केवल बाह्य पदार्थों का त्याग करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उनकी ममता, आसक्ति एवं मूर्छा का परित्याग करना आवश्यक है। हम यों भी कह सकते हैं कि ममत्व का त्याग करने पर ही व्यक्ति अपरिग्रह की ओर बढ़ सकता है। जब तक पदार्थों की लालसा, भोगेच्छा एव आसक्ति मन मे चक्र काट रही है, तब तक बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी उसे अपरिग्रही या त्यागी नहीं कहा है। आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है—"कि जो साधक वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, पुष्पमाला, आभूषण, स्त्री आदि का उपभोग करने मे स्वतन्त्र नहीं है या उसे ये साधन उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उसके मन में भोगेच्छा अवशेष है तो वह त्यागी नहीं कहा जा सकता है। त्यागी वही कहला सकता है, जो कतकारी, प्रियकारी प्राप्त भोगों को भोगने में स्वतन्त्र एवं समर्थ होते हुए भी उनका एव उनकी वासना का

त्याग कर देता है*।

इससे स्पष्ट होता है कि आसक्ति का त्याग करने वाला व्यक्ति ही परिग्रह का त्याग कर सकता है। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है, कि वह पहिले आसक्ति के कारणों का परिज्ञान करे। इसमें यह बताया गया है कि लोक से आहार, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा मन में जाग सकती है। अतः मुनि को लोक संज्ञा का परित्याग करके संयम में संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित गाथा के चारों पदों में 'वीर' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संयम साधना में अरति का, असंयम में रति का, मन में अमध्यस्थ भाव का, और शब्दादि विषयों में आसक्ति उत्पन्न होने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी जो अपने मन को विचार को एवं आत्मा को उस प्रवाह में नहीं बहने देता वही वास्तव में वीर है। योद्धा का वीरत्व तभी माना जाता है जब वह बलवान शत्रु के बाणों के प्रवाह में भीषण शस्त्र वर्षा में भी अपना मार्ग को छोड़कर नहीं भागता अपितु शत्रु को परास्त करके छोड़ता है। इसी प्रकार विषय-वासना एवं कषायों के प्रबल झोंकों में भी जो लड़खड़ाता नहीं उसे ही वीर कहा गया है। और ऐसे संयमनिष्ठ साधक का बार-बार वीर शब्द का प्रयोग करके आदर सत्कार किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'दिट्ठपहे' पद भी इस अर्थ को परिपुष्ट करता है। इसका अर्थ है—"येन ज्ञानादिको मोक्षपथो दृष्ट: स दृष्टपथ:" जिस व्यक्ति ने ज्ञानादि रूप मोक्ष-मार्ग को सम्यक्तया देख लिया है उस मुनि को दृष्टपथ कहा गया है। यदि इसे 'दृष्ट भय' माना जाए तो इसका अर्थ होगा—सात भय का परिज्ञान करके उनकी उत्पत्ति के मूल कारण परिग्रह का जिसने त्याग कर दिया है।

'मइमं' का अर्थ है—बुद्धिमान्। अर्थात् जिसमें सत्-असत् को समझने की बुद्धि है। इससे यह सिद्ध होता है कि विचारशील एवं विवेकवान व्यक्ति संयम से प्रतिकूल परिस्थितियों एवं वातावरण के उपस्थित होने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता, वह समस्त विकारों पर विजय पा लेता है इसलिए उसे वीर शब्द से संबोधित किया गया है।

---

* वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ। साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥
—दशवैकालिक २ २ ३।

'वीर' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ यह है— "विशेषेणेरयति—प्रेरयति अष्ट प्रकार कर्म्मारिषड्वर्गं वेति वीर" अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों को आत्मा से सर्वथा पृथक् करता है अथवा काम-क्रोध आदि ६ आंतरिक शत्रुओं को परास्त करता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीर पुरुष ही निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सद्दे फासे अहियासमाणे, निव्विंद नंदिं इह जीवियस्स।
मुणि मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं ॥२॥
पंतं लूहं सेवंति वीरा संमत्तदंसिणो।
एस ओहंतरे मुणी, तिन्ने मुत्ते विरए वयाहिए ॥३॥
त्तिबेमि ॥१००॥

छाया—शब्दान् स्पर्शान् अध्यासमान. सम्यक् सहमानः, निर्विंदस्व नन्दिमिह जीवितस्य मुनिर्मौनं समादाय धुनीयात् कर्म शारीरिकं प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीरा। सम्यक्त्व दर्शिनः एष ओघंतरो मुनिस्तीर्णमुक्त. विरत व्याख्यातः इति ब्रवीमि

पदार्थ—सद्दे—शब्द। फासे—स्पर्श को। अहियासमाणे—सम्यक् प्रकार से सहता हुआ, हे शिष्य। निव्विंद—तू निवृत्त हो। नंदिं—राग-और द्वेष से, तथा। इह—इस मनुष्य लोक में। जीवियस्स—असयम मय जीवन के सम्बन्ध से। नंदिं—राग से निवृत हो। मुणीमोण समायाय—यही मुनि का मौन भाव है, इसी को ग्रहण करके। धुणे कम्म सरीरग—कर्म शरीर और औदारिक शरीर को धुन देवे। पंतं—तथा जो स्वाभाविक रस रहित वा स्वल्प। लूह—राग रहित रूक्षाहार। सेवन्ति—सेवन करते हैं। वीरा—वीर पुरुष। सम्मत्तदसिणो—सम्यक्त्वदर्शी वा परमार्थके देखने वाले। एस—यह। मुणी—मुनि। ओहतरे—भवौघ ससार-सागर को तैरता है, तथा। तिन्ने—संसार समुद्र को पार कर जाता है, तथा। मुत्ते—परिग्रह से मुक्त हुआ। विरए—विषयादि से विरत्त हुआ। वियाहिए—कहा गया। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू शब्द और स्पर्श आदि को सम्यक्तया सहन करता हुआ राग और द्वेष से रहित हो, तथा असंयम जीवन के संवन्ध

में रूप मत कर, हे मुने! तू मौन भाव को ग्रहण करके कार्मण शरीर को धुन दे। समदर्शी आत्माएं प्रान्त और रूक्ष आहार का सेवन करता हैं व ही वीर हैं यह मुनि संसार सागर का पार कर गया, अत उसे तीर्ण, मुक्त विरत कहा गया है, इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को शब्दादि विषयों को भली-भांति जानकर उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि उनमें आसक्त होने से अनुकूल विषयों पर राग-भाव और प्रतिकूल विषयों पर द्वेष भाव आना स्वाभाविक है और राग-द्वेष ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। यह बात ठीक है कि मनुष्य के सामने जहां तक साधक के सामने भी ये विषय आते हैं, अनुकूल एवं प्रतिकूल शब्द, गंध रूप, रस और स्पर्श का संयोग भी मिलता रहता है। अत इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु कान आंख आदि बन्द करके बैठा रहे। विषयों से बचने का तात्पर्य इतना ही है कि उनमें आसक्त न हो अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार के विषयों की ओर ध्यान न दे। अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार का प्रसंग उपस्थित होने पर समभाव का त्याग न करे अर्थात् विषमता के प्रवाह में न बहे।

इसलिए यह आदेश दिया गया है कि मुनि विषयों में राग-द्वेष न करे। यही उसका मौन है। वस्तुत देखा जाए तो मौन का अर्थ केवल नहीं बोलना ही नहीं है। नहीं बोलना यह व्यावहारिक या द्रव्य मौन है। इसमें केवल शब्द के विषय-भाषा का रोका जाता है, इसमें भी बोलने पर ही प्रतिबन्ध है न कि सुनने पर भी। श्रोत्र इन्द्रिय की प्रवृत्ति द्रव्य मौन में खुली रहती है, अत मौन का यथार्थ अर्थ है—शब्दादि विषयों में राग-द्वेष नहीं करना। क्योंकि कर्म बन्ध राग-द्वेष से होता है। केवल इन्द्रियों के साथ शब्दादि विषयों का सम्बन्ध होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता है, जब तक कि उसके साथ राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए साधक को राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

इससे यह होगा कि राग-द्वेष से निवृत्त हो जाने पर नए कर्मों का बन्ध नहीं होगा और पुराने कर्म की निर्जरा करके वह कार्मण शरीर को ही नष्ट कर देगा जिस के आधार पर जीव औदारिक आदि शरीर धारण करता है और विभिन्न योनियों में भटकता फिरता है (संसार का सारा खेल कर्म पर ही आधारित है, उसका नाश होने पर खेल की समाप्ति स्वत ही हो जाएगी। नींव उखाड़ फैंकने पर गगन चुम्बी

भवनों का स्थित रहना नितान्त असंभव है। इसी प्रकार कर्म का उन्मूलन ही संसार का उन्मूलन है। और उसके लिए कर्म के मूल कारण राग-द्वेष को समाप्त करना आवश्यक है। अत मुनि को चाहिए कि वह विषयों मे सदा मौन रहे अर्थात् राग-द्वेष मे निवृत्त होने का प्रयत्न करे। यही कर्मों को नष्ट-विनष्ट करने का प्रशस्त मार्ग है।

'समत्तदंसिणो—पाठ भी इसी बात को पुष्ट करने के लिए दिया है। जो समदर्शी है—अनुकूल एव प्रतिकूल विषयों के उपस्थित होने पर भी जिसकी दृष्टि मे विषमता नहीं आती, वही वीर/पुरुष कर्म की विषाक्त लता को निर्मूल कर सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि संसार-सागर को पार करने के लिए समता की नौका को स्वीकार करना अनिवार्य है। समभाव की साधना जितनी विकसित होती जाएगी, उतना ही राग-द्वेष कम होता जाएगा और राग-द्वेष के घटने का अर्थ है—संसार का घटना। जब हमारी आत्मा मे समभाव की पूर्ण ज्योति प्रज्वलित हो उठेगी, तो राग-द्वेष का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा और उसके साथ संसार का भी अन्त ही समझिए।

अत मुनि को चाहिए कि वह परिग्रह एव विषयों की आसक्ति का परित्याग करे। क्योंकि आसक्ति से परिणामों एव विचारों मे विषमता आती है, राग-द्वेष के भाव उद्बुद्ध होते हैं। इसलिए उसके मूलकारण आसक्ति का त्याग करने वाला साधक ही बाह्य परिग्रह से भी निवृत्त होता है और एक दिन समस्त कर्मों एव कर्म जन्य साधनों से मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

जो व्यक्ति परिग्रह एव विषयों की आसक्ति से मुक्त एव विरत नहीं हुआ है, उसकी क्या स्थिति होती है? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोगं, एस नाए पवुच्चइ ॥१०१॥

छाया—दुर्वसुमुनि अनाज्ञया तुच्छः ग्लायति वक्तुम् एष वीर प्रशंसितः अत्येतिलोकसंयोग एष न्यायः प्रोच्यते।

पदार्थ—दुव्वसु—दुर्वसु। मुणी—मुनि। अणाणाए—आज्ञा के विना—दुःखो का संवेदन करता है। तुच्छए ज्ञानादि शून्य, वह। गिलाइ वित्तए—शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने मे ग्लानि पाता है। किन्तु जो साधक शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करता है। एस वीरे—वह वीर। पसंसिए—प्रशंसित है, और। लोए—लोक। संजोग—संयोग को। अच्चेइ—छोड देता है।

एत—यह । णाए—न्याय-संगत । पवुच्चइ—कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो साधक मोक्षमार्ग पर गति करने के योग्य नहीं है वह आज्ञा से बाहिर है और ज्ञानादि से भी रहित है। अतः वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने में ग्लानि का अनुभव करता है। परन्तु प्रबुद्ध साधक वास्तविक मार्ग को बताने में नहीं सकुचाता। इसलिए वह वीर प्रशंसनीय है और वह लोक के संयोग से भी मुक्त हो जाता है। ऐसा कहना न्याय संगत कहा जाता है।

हिन्दी विवेचन

आगम में कहा गया है कि 'आणाए धम्मं' अर्थात् भगवान की आज्ञा में धर्म है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि आज्ञा में कौन है ?

इसी प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जो मोक्ष के योग्य है, वही भगवान की आज्ञा में है। मोक्ष की योग्यता सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर आधारित है। इससे स्पष्ट हो गया कि जिस व्यक्ति को सम्यग् ज्ञान का आलोक नहीं वह अज्ञान के अन्धकार में इधर-उधर टकराता फिरेगा, किन्तु मोक्ष मार्ग पर गति नहीं कर सकेगा। क्योंकि उसे उस मार्ग का ज्ञान ही नहीं और जब ज्ञान ही नहीं तब उस पर चलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यह कहा गया कि सम्यग् ज्ञान से रहित व्यक्ति *भगवान की आज्ञा में नहीं है और ज्ञानाभाव के कारण ही वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा* करने में हिचकिचाता है। इसके विपरीत ज्ञानसंपन्न व्यक्ति भगवान की आज्ञा में है, क्योंकि वह भगवान द्वारा प्ररूपित शुद्ध मार्ग पर चलने एवं उसकी प्ररूपणा करने में सकुचाता नहीं है। अतः भगवान की आज्ञा में प्रवर्तने वाला साधक ही मोक्ष मार्ग के योग्य है। इस मार्ग को न्याय मार्ग भी कहा गया है। क्योंकि संसार संबन्ध का त्याग करने वाला मुनि ही इसे स्वीकार करता है।

'दुव्वसुमुणी-दुर्वसुमुनि' का अर्थ है—भव्यजीव मुक्ति के योग्य है। क्योंकि 'वसु' का अर्थ द्रव्य माना है और भव्य संज्ञक जीव द्रव्य ही मुक्ति योग्य है। अतः अभव्य जीव को 'दुर्वसुमुनि' कहा है। कारण कि उस में मोक्ष जाने की योग्यता नहीं अर्थात् साधुवेश ग्रहण कर लेने पर भी मोक्ष के आधारभूत सम्यग् ज्ञान आदि

का अभाव होने से वह मोक्ष के अयोग्य है। ❀और इसी कारण वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा नहीं कर सकता।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान युक्त व्यक्ति ही इस पथ पर चल सकता है और इसका उपदेश देकर दूसरों को भी सन्मार्ग बता सकता है। इस लिए उपदेश का भी महत्व माना गया है। उपदेश के महत्व को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिन्नमुदाहरंति, इइ कम्मं परिन्नाय सव्वसो जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥१०२॥

छाया—यद् दुःखं प्रवेदितमिह मानवानां तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति, इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः योऽनन्यदर्शी सोऽनन्यारामो योऽनन्यारामः स अनन्यदर्शी यथा पुण्यवतः कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते यथा तुच्छस्य कथ्यते तथा पुण्यवतः कथ्यते।

पदार्थ—जं—जो। दुक्खं—दुःख का कारण। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। इह—इस संसार में। माणवाणं—जीवों को। तस्स—उस। दुक्खस्स—दुःख रूप कर्म को। कुसला—निपुण पुरुष। परिन्नमुदाहरंति—ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर इस प्रकार कहते हैं। इइ कम्मं—इस प्रकार कर्म को। परिन्नाय—जान कर सव्वसो—सर्व प्रकार से। जे—जो। अणन्नदंसी—यथावस्थित पदार्थों को देखने वाला है। से—वह। अणन्नारामे—मोक्ष मार्ग के विना अन्यत्र रमण नहीं करता। जे—जो। अणन्नारामे—मोक्ष मार्ग के विना अन्यत्र नहीं रमता है। से—वह। अणन्नदंसी—अनन्यदर्शी—यथार्थ दर्शी है। जहा—जैसे। पुण्णस्स—पुण्यवान् के आगे। कत्थइ—धर्म कथादि कहता है। तहा—उसी प्रकार

❀ वसु—द्रव्यम्, एतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादित 'द्रव्य च भव्य' इत्यनेन, भव्यश्च-मुक्ति-गमनयोग्य, ततश्च मुक्तिगमनयोग्य यद्द्रव्य तद्वसु, दुष्ट वसु दुर्वसु दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनि—मोक्षगमनायोग्य। —आचारांग वृत्ति।

तुच्छस्स—निर्धन के आगे। कत्थइ—कहता है फिर। जहा—जैसे। तुच्छस्स—निर्धन के आगे। कत्थइ—कहता है। तहा—वैसे ही। पुण्णस्स—पुण्यवान के आगे। कत्थइ—कहता है। (केवल समभाव और निर्जरा के लिए ही उक्त दोनों के आगे धर्म कथादि कहता है)।

मूलार्थ—इस संसार में जीवों के लिए, जो दुःख के कारण बताए गए हैं कुशल पुरुष उनका परिज्ञान करके त्याग कर देता है। इस प्रकार वह कर्म के स्वरूप को जानकर उससे छूट जाता है। जो यथार्थ द्रष्टा है वह मोक्ष पथ के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता। और जो मोक्ष मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रमता है वही अनन्यदर्शी यथार्थ द्रष्टा है। अत वह जैसे ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को धर्मोपदेश देता है मोक्ष मार्ग का पथ बताता है उसी प्रकार निर्धन व्यक्ति को भी उपदेश देता है। जिस भाव से निर्धन को उपदेश देता है, उसी भाव से ऐश्वर्यवान् को भी उपदेश देता है। तात्पर्य यह है कि उसकी उपदेश धारा में प्राणी मात्र के प्रति समभाव एवं हित बुद्धि रही हुई है उसमें बड़े-छोटे का भेद नहीं रहता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो साधक कुशल-बुद्धिमान है, वह संसार में उपलब्ध होने वाले दुःखों के कारण को जानकर उस मार्ग का परित्याग कर देता है। इस प्रकार वह दुःखों एवं कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति का मन संसार में नहीं लगता। वह संसार से ऊपर उठ जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि "जो अनन्यदर्शी है वह अनन्याराम है और जो अनन्याराम है वह अनन्यदर्शी है।" इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो यथार्थ द्रष्टा है—संसार एवं आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता-पहचानता है, वह मोक्ष मार्ग से अन्यत्र गति नहीं करता। क्योंकि उसका लक्ष्य उसका ध्येय आत्मा को समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त करना है। इसलिए उसके पग उसी पथ पर ही उठेंगे। जिसके पग उस मोक्ष—पथ पर बढ़ रहे हैं तो समझना चाहिए कि वह यथार्थ द्रष्टा है। इससे यह बात सिद्ध की है कि सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। रत्न त्रिपथ की समन्वित साधना ही से आत्मा समस्त

दुःखों से सर्वथा छुटकारा पा सकता है। यह ठीक है कि इस सूत्र में दर्शन और चारित्राचार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु ज्ञान और दर्शन दोनों सहभावी हैं। बिना ज्ञान के दर्शन, दर्शन के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता है। इसलिए 'अनन्यदर्शी और अनन्याराम' के द्वारा ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की समन्वित साधना से ही निर्वाण पद बताया गया है।

इसलिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहिले कर्मों के स्वरूप को जाने। क्योंकि दुःख के मूल कारण कर्म ही हैं। अतः उनके स्वरूप का बोध हुए बिना उनका त्याग कर सकना कठिन है। यह प्रश्न हो सकता है कि कर्मों का स्वरूप किस प्रकार जाना जाए? इसके लिए आगम में बताया गया है—कर्म की मूल प्रकृतियें आठ हैं। और उनका चार प्रकार से बन्ध होता है—१— प्रकृतिबन्ध, २—स्थितिबन्ध, ३—अनुभागबन्ध और ४— प्रदेशबन्ध। इनके स्वरूप को समझने से कर्म का स्वरूप भलीभांति समझ में आ जाता है*।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अणन्नदसी और अणन्नारामे' पाठ की व्याख्या इस प्रकार की गई है- "अन्यद्द्रष्टृशीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नासावनन्यदर्शी——यथावस्थितपदार्थद्रष्टा, कश्चैवं भूतो ? यः सम्यग्दृष्टिर्मौनीन्द्रप्रवचनाविर्भूततत्त्वार्थो, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यारामो—मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते।" अर्थात् जो व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा होता है, वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धांत के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो अपने चिन्तन-मनन, विचारणा एवं आचरण को अन्यत्र नहीं लगाता वही तत्त्वदर्शी है, परमार्थदर्शी है। और ऐसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष तीर्थंकरों द्वारा प्ररुपित मोक्ष मार्ग का पथ बता सकते हैं, यथार्थ उपदेश दे सकते हैं। क्योंकि उनके उपदेश में समभाव की प्रमुखता रहती है। वे महापुरुष समदर्शी होते हैं। उनके मन में धनी, निर्धन का, छूत-अछूत का, पापी-धर्मी का कोई भेद नहीं होता। उनका ज्ञान-प्रकाश उनकी उपदेश धारा किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, सम्प्रदाय विशेष, वर्ग विशेष के बन्धनों से आबद्ध नहीं होती। वे जिस विशुद्ध भाव से एक ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश देते हैं, उसी भाव से घर-घर की खाक छानने वाले भिखारी को भी देते हैं। और जिस भाव से एक निर्धन को देते हैं, उसी भाव से एक धनी को देते हैं। ऐसा नहीं कि गरीब को जो कुछ मन में आया, वह कह दिया और सेठ जी के आते ही जरा चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने लगे। आगम में अनाथी मुनि का उदाहरण आता

---

* इस विषय में विशेष जानकारी करने के लिए पाठक मेरे द्वारा लिखित 'जीव कर्म सम्वाद' निबन्ध पढ़ें।

है। वे उस युग के एक महान् ऐश्वर्य सम्पन्न एवं शक्तिशाली सम्राट श्रेणिक को भी अनाथ कहते हुए नहीं हिचकिचाए और निर्भयता के साथ श्रेणिक की अनाथता को सिद्ध कर देते हैं। जिसे श्रेणिक स्वयं स्वीकार कर लेता है। उस महामुनि ने केवल श्रेणिक की अनाथता नहीं बताई थी अपितु समस्त पृथ्वीपतियों के धन-सम्पत्ति और राजाओं के ऐश्वर्य एवं सैनिक शक्ति के मिथ्याभिमान एवं अहंकार को चकनाचूर करके रख दिया था। इस कहने का तात्पर्य यह है कि भव्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए वे यथार्थ द्रष्टा कभी भी छोटे-बड़े का भेद नहीं करते। वे सबको समान भाव से उपदेश देते हैं।

उपदेष्टा को सबके प्रति समभाव रखना चाहिए उसके मन में भेद भाव नहीं होना चाहिए। परन्तु इसके साथ उसे परिषद् अर्थात् श्रोताओं की योग्यता परिस्थिति एवं वहां के देश काल का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि उसे इन बातों का पूरा-पूरा बोध नहीं है, तो उससे अहित होने की भी संभावना हो सकती है। अतः उपदेष्टा कैसा होना चाहिए, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — अवि य हणे अणाढायमाणे इत्थंपि जाण सेयंति नत्थि, केय पुरिसे कं च नए ?, एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने, जे य बन्ध पमुक्खमन्नेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के ॥१०३॥

छाया—अपि च हन्यात् अनाद्रियमाणः अत्रापि जानीहि श्रेय इति नास्ति कोऽयं पुरुषः कं च नतः ?, एष वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचकः ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् दिशासु स. सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी न लिप्यते क्षणपदेन वीरः, स मेधावी अनोद्घातन खेदज्ञः यश्च बंधप्रमोक्षान्वेषी कुशलः पुन नो बद्धः नो मुक्तः।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य ! तू यह जान कि। इत्थंपि—यहां पर भी। अवि—अपि शब्द समावय अर्थ है जैसे कोई व्यक्ति। अणाढायमाणे—साधु के वाक्य का अनादर करता है। य हणे—और वध आदि से मारता है तो। सेयंतिनत्थि—इस प्रकार कथा करनी श्रेयस्कर नहीं है (कारण कि—राजादि के प्रतिकूल कही गई कथा लाभ के बदले हानि का ही कारण बन जाती

है। तव किस प्रकार से धर्म कथा करनी चाहिए ?, **केयं**—कौन-यह । **पुरिसे**—पुरुष है। **च** और फिर। **क**—किस देव को। **नए**—नमस्कार करने वाला है अर्थात् किस देव को मानता है (इस प्रकार जानकर धर्मकथा करनी चाहिए)। **एस**—यह व्याख्यान की विधि को जानने वाला। **वीरे**—कर्मों के विदारण मे समर्थ पुरुष । **पससिए**—प्रशसा के योग्य है, क्योकि वह । **जे**—जो व्यक्ति। **बद्धे**—आठ प्रकार के कर्मों से वद्ध है उसको । **परिमोयए**—कर्म वन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है । तथा वह । **उड्ढ**—ऊर्ध्व । **अह**—नीची **तिरिय**—मध्य । **दिसासु**—दिशाओ मे-जो जीव रहते हैं उनको कर्म वन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है । **से**—वह वीर पुरुष । **सव्वओ**—सर्व प्रकार से । **सव्व परिन्नाचारी**—सर्व परिज्ञाओं के आचरण करने वाला अर्थात् विशिष्ट ज्ञान से युक्त । **छण पएण**—हिंसा के पदसे । **न लिप्पइ**—लिप्त नही होता। **वीरे**। अत. वह वीर है। **से**—वह। **मेहावी**—वुद्धिमान् है । तथा वह । **अणुग्घायणखेयन्ने**—कर्मों के नाश करने मे निपुण है। **य**—और वह । **वधपमुक्खमन्नेसी**—वन्ध और मोक्ष का अन्वेपक-अन्वेषण करने वाला हैं। **कुसले**—चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करने वाला-तीर्थंकर वा सामान्य केवली। **पुणो**—फिर वह। **नोवद्धे**—न तो घातिकर्मों से वद्ध होता है। **नोमुक्के**-और न मुक्त अर्थात् भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से वह मुक्त भी नही।

मूलार्थ—ऐसा होना भी सभव है कि श्रोताओ के अभिप्राय और योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त किये विना उनको दिया गया धर्मोपदेश निष्फल या विपरीत फल देने वाला हो। अर्थात् उपदेश को सुनकर श्रोताओ मे से कोई मुख्य श्रोता उठकर उपदेशक साधु के वचन का अनादर करता हुआ उसे मारने या ताडना तर्जना करने पर भी उतारु हो जाय तो यह असम्भव नही, इसलिए परिपद् के अभिप्राय को जाने विना धर्मोपदेश करना भी श्रेयस्कर नही है अत उपदेशक के लिए उपदेश देनेसे पहिले यह जानना वहुत आवश्यक है कि जिसको वह उपदेश देने लगा है वह कौन, किस विचार का और किस देवता को मानता है ? इन सव वातो का ज्ञान रखने वाला वीर पुरुष प्रशशा के योग्य है तथा वह ऊ ची नीची और मध्य दिशा मे उत्पन्न होने वाले जीवो को आठ प्रकार के कर्मों के वन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है, और सव प्रकार से सर्व परिज्ञा के अनुसार चलने वाला परम वुद्धिमान, कर्मों के नाश करने मे समर्थ और वन्ध मोक्ष का यथावत् अन्वेषण करने वाला है। एव वह कुशल अर्थात

ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्त करने वाला मिथ्यात्व और कषाय के उपशम से न तो बद्ध है और न मुक्त है अथवा कुशल अर्थात् चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करने वाला (तीर्थंकर या सामान्य केवली) न तो बद्ध है और (भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से) न ही मुक्त है तात्पर्य कि घाति कर्मों के क्षय उसको कर्म का बंध नहीं होता इस लिए वह बद्ध नहीं और नाम गोत्र आदि अघातिकर्मों का वहां सद्भाव है अत वह कर्मों से सर्वथा मुक्त भी नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि उपदेशक को स्व और पर सिद्धान्त के साथ श्रोताओं की स्थिति, योग्यता एवं मान्यता का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि वह परिषद् में उपस्थित व्यक्तियों की मान्यता से परिचित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में दिया गया उपदेश और रूप में परिणत हो सकता है, इसका परिणाम उपदेशक की आशा के विपरीत आ सकता है।

श्रोताओं के विचारों को जाने बिना दिया गया उपदेश कभी कभी उनकी उत्तेजना को बढ़ा देता है। अपने विश्वासों एवं मान्यताओं से विपरीत विचार सुनकर उनके विचारों में आवेश का आना स्वाभाविक है और फिर उन्हें संभालना वक्ता के लिए कठिन हो जाता है। आजकल सभाओं में कई बार ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि धर्मोपदेशक मुनि को श्रोताओं के अभिप्राय का, उन की मान्यताओं का बोध होना चाहिए। अन्यथा उसके उपदेश से लोगों में उनके प्रति अनादर का भाव उत्पन्न होगा और परिणाम स्वरूप वे उपदेशक को तिरस्कार एवं अपमान जन्य शब्दों से विभूषित कर सकते हैं। यदि कहीं अधिक उग्रवादी व्यक्ति हुए तो डंडे आदि का भी प्रयोग कर सकते हैं। अत जो वक्ता देश काल एवं श्रोताओं की मान्यताओं से परिचित होता है, वह परिषद् में कभी भी अपमान को प्राप्त नहीं होता

उपदेश का उद्देश्य लोगों को यथार्थ मार्ग दिखाना है। इसलिए उपदेशक को बड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ता है। उसका काम इतना ही है कि वह उपदेश के द्वारा उनके मन में सत्य अहिंसा आदि आत्म गुणों की ज्योति जगाकर उन्हें आत्म चिन्तन एवं सदाचार की ओर गतिशील करदे। और यह काम तभी हो सकेगा जब कि वह उनके विचारों से परिचित होगा और उन्हीं की भाषा में उन्हें समझाने में प्रवीण होगा। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष विजयघोष के प्रकरण में उपदेशक

की शैली का बडा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। दोनों व्यक्ति ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे, परन्तु एक श्रमण-निर्ग्रन्थ बन गया और दूसरा वैदिक यज्ञ-याग मे उलझ रहा है। एक समय मुनि जयघोष वाराणसी मे पधारते हैं और भिक्षा के लिए विजयघोष के यहा जा पहुचते हैं। विजयघोष मुनि को यह कह कर भिक्षा देने से इन्कार कर देता है कि मैं वेद मे पारगत एव वैदिक धर्म का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को ही भिक्षा दूगा। मुनि इससे रुष्ट नहीं होते हैं, वे समभाव पूर्वक खडे रहते हैं और उसे वैदिक विश्वासों के अनुसार धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझाते हैं। वे उसे याज्ञिक भाषा मे तत्त्व का उपदेश देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि विजयघोष के मन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह चिन्तन की गहराई मे उतरता है और वास्तविकता को समझकर साधना के यथार्थ पथ पर गतिशील हो उठता है, मुनि धर्म को स्वीकार कर लेता है। और उत्कृष्ट साधना के द्वारा समस्त कर्मों को तोडकर दोनों महामुनि मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता को बोलने से पहिले श्रोता के विचारों का ज्ञान होना जरूरी है। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि यह किस मत का है और यदि कोई उससे प्रश्न पूछ रहा हो तो उस समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न कर्ता का उद्देश्य क्या है? वह समझने की दृष्टि से पूछ रहा है या वक्ता की परीक्षा करने के लिए या उसे निरुत्तर करने या हराने की दृष्टि से पूछ रहा है। उक्त सारी परिस्थितियों एव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला वक्ता ही उपदेश देने योग्य है। वह श्रोताओं के तथा प्रश्नकर्ता के मन का यथार्थ समाधान कर सकता है। उन्हें यथार्थ मार्ग बता सकता है। वह उन्हें कर्म बन्धन से मुक्त होने का मार्ग बताने में भी योग्य है। क्योंकि वह ज्ञान सम्पन्न और सदा-सर्वदा हिंसा आदि दोषों से दूर रहता है। इसलिए वह प्रबुद्ध पुरुष कर्मों को क्षय करने में निपुण है और वह प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार प्रकार के कर्मबन्धों से बचने एवं पूर्व बन्धे हुए बन्धनों से मुक्त होने के प्रयत्न में सदा सलग्न रहता है। ऐसे महापुरुष को वीर, मेधावी, कुशल, खेदज्ञ आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "अणुग्घायण खेयन्ने" और "बन्धपमुक्खमन्नेसी" दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—"जिस के प्रभाव से यह जीव ससार में परिभ्रमण करता है, उसको अण-कर्म कहते हैं। उस कर्म का जो सर्वथा क्षय करने में समर्थ है, उसे खेदज्ञ कहते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति कर्मों को क्षय करने की विधि जानता है, वही मुमुक्षु—कर्म करने के लिए उद्यत पुरुषों में कुशल एव वीर माना जाता है। जो चारों प्रकार के बन्ध एव बन्धन से छूटने के उपाय में

संलग्न है उसे बन्ध-मोक्षान्वेषक कहते हैं। परन्तु यहां इतना ध्यान रखना चाहिए कि 'अणुग्घायणखेयन्ने' शब्द से मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के भेद से विभिन्न योग निमि[त्त] से आने वाले कषायमूलकबध्यमान कर्म की जो बद्ध, स्पृष्ट निधत्त और निकाचित रू[प] अवस्था है, उसको तथा उसे दूर करने के उपाय को जो जानता है; लिया गया है औ[र] बन्धपमुक्खमन्नेसी शब्द से कर्म बन्धन से छूटने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान अपेक्षित है, इसलिए यहां पुनरुक्ति दोष का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है*।

प्रश्न— इस विवेचन से मन में यह जानने की इच्छा होती है कि कर्मों को सर्वथा क्षय करने में निपुण एवं बन्धमोक्ष का अन्वेषक पुरुष छद्मस्थ है या वीतराग — सर्वज्ञ है ?

उत्तर— इसका समाधान यह है कि ऐसा व्यक्ति छद्मस्थ ही हो सकता है, न कि केवली। क्योंकि उक्त विशेषण केवली पर घटित नहीं होते हैं। इसलिए उसे असर्वज्ञ ही समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'कुसले' शब्द केवली और छद्मस्थ दोनों का परिचायक है। यदि उसका अर्थ यह करें कि जिसने घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, उसे कुशल कहते हैं। तो कुशल शब्द तीर्थंकर या सामान्य केवली का बोधक है और जब इसका यह अर्थ करते हैं— जो मोक्षाभिलाषी है और कर्मों को क्षय करने का उपाय सोचने एवं उसका प्रयोग करने में संलग्न है, उसे कुशल कहते हैं। तो कुशल शब्द से छद्मस्थ साधक का बोध होता है।

इसके अतिरिक्त केवली ने चारों घातिकर्मों का क्षय कर दिया है, इसलिए वह कर्मों से आबद्ध नहीं होता, परन्तु अभी तक उस में भवोपग्राही—वेदनीय नाम गोत्र और आयु कर्म का सद्भाव है अतः वह मुक्त भी नहीं कहलाता। इसलिए 'कुसले' शब्द के आगे 'नो बद्धे नो मुक्के' शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु छद्मस्थ साधक के अर्थ में कुशल शब्द का अर्थ — ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके उस पथ

---

*अणोद्घातनस्य खेदज्ञ इत्यनेन बन्धुवनावतुर्गतिकं संसारनिरूपणं कर्म तस्योद्घा- तद्वेष पातन अपपर्न तस्य तत्र वा खेदज्ञो-निपुण इह हि कर्मबन्धमोक्षतानां मुमुक्षूणां च कर्मबन्ध विधिज्ञ च मेधावी कथतो भीर इत्युक्तं भवति। २—प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशबन्धस्य चतुर्विधस्यापि बन्धस्य यः प्रमोक्ष उपायो वा तमन्वेष्टुं-मृगयितुं शीलमस्येत्यन्वेषी यादृश भूत स वीरो मेधावी खेदज्ञ इति पूर्वेण सम्बन्धः, अनोद्घातनस्य खेदज्ञ इत्यनेन मूलोत्तर प्रकृतिभेद भिन्नस्य योगनिमित्तस्य कषायस्थितिकस्य कर्मणो बध्यमानावस्थां बद्धस्पृष्ट निधत्त निकाचित रूपां तदपनयनोपायं च खेदज्ञोऽनेनाभिहितं, अनेन चावस्थानमुपायमिति न पुनरुक्त दोषानुषंग प्रसजति।

गतिशील साधक है❀। मिथ्यात्व एव कषाय के उपशम से उसकी आत्मा मे ज्ञान का उदय है, इसलिए वह संसार मे परिभ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व आदि से बद्ध नहीं है, परन्तु अभी तक उसने उनको क्षय नहीं किया है, उनका अस्तित्व है, इसलिए वह मुक्त भी नहीं है।

इसलिए मुमुक्षु पुरुष को किस प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जं च आरभे जं च नारभे, अणारद्धं च न आरभे, छणं-छणं परिण्णाय लोगसन्नं च सव्वसो ॥१०४॥

छाया—स यच्चारभते, यच्च नारभते अनारब्ध च नारभते, क्षणं-क्षण परिज्ञाय लोकसज्ञां च सर्वशः।

पदार्थ—से—वह कुशल साधक। ज—जिस-कर्मों को क्षय करने के लिए सयमानुष्ठान को। आरभे—आरभ करता है। च—समुच्चयार्थक है। ज च—और जिन मिथ्यात्वादि ससार परिभ्रमण के कारणो को। नारभे—आरभ नही करता है। च-और। अणारद्ध—जो आचरणीय नही है। नारभे-उन्हे स्वीकार न करे, किन्तु। छण-छण—जिन-जिन कारणो से हिंसा होती है, उन्हे। परिण्णाय-जानकर। च—तथा। सव्वसो लोगसन्न—सर्व प्रकार से आहार आदि लोक सज्ञाओ का भी परित्याग करदे। अर्थात् त्रिकरण त्रियोग से सज्ञा का परित्याग कर दे।

मूलार्थ--वह कुशल मुनि कर्मों का क्षय करने के लिए सयम साधना को स्वीकार करता है। अतः वह मिथ्यात्व, अविरति आदि ससार परिभ्रमण के कारणो एव सर्वज्ञो द्वारा अनाचरणीय आचार को स्वीकार नही करता है। और वह हिंसा के स्थान को तथा लोकसज्ञा आदि के स्वरूप को भली-भाति जानकर उनका सर्वथा परित्याग कर देता है।

❀ कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्मांशो विवक्षित स च तीर्थकृत सामान्य केवली वा छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषक, केवली तु पुनर्घातिकर्म क्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिकर्मसद्भावान्नो मुक्त कुशल — अवाप्त ज्ञान दर्शन चारित्रोमिथ्यात्वद्वादश कषायोपशमसद्भावात् तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्मतासद्भावान्नो मुक्त इति।

आचाराग वृत्ति।

हिन्दी विवेचन

संसार का कारण कर्म है और उनसे सदा मुक्त होना यह साधक का उद्देश्य है लक्ष्य है। इसलिए यह मुनि कुशल कहा गया है, जो संयम साधना के द्वारा कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करता है। वह प्रबुद्ध साधक मिथ्यात्व अविरति आदि दोषों को ग्रहण नहीं करता और वह न ऐसे आचार को स्वीकार करता है जो केवली भगवान द्वारा अनाचरित है*।

'वर्ण—वर्ण' शब्द का अर्थ है— हिंसा†। अत मुनि हिंसा का त्याग कर के संयम साधना में प्रवृत्त होता है। उसके लिए वह लोक संज्ञा आदि का भी त्याग कर देता है। लौकिक सुख एवं परिग्रह का त्याग कर देने पर ही वह आत्म सुख का अनुभव कर सकता है‡।

इससे स्पष्ट हुआ कि कर्मों को क्षय करने के लिए हिंसा आदि दोषों एवं अनाचरणीय क्रियाओं का त्याग करके जो शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करता है, वह साधक अपना आत्म विकास करते हुए दूसरे को भी यथार्थ मार्ग बताता है।

वस्तुतः उपदेश की किसको आवश्यकता होती। है और संसार में कौन परि भ्रमण करता है? इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देसो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामस मणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट अणुपरियट्टइ, त्तिबेमि ॥१०५॥

छाया—उद्देशः (उपदेशः) पश्यकस्य नास्ति बालः पुनर्निहः कामसमनुज्ञः अशमित दुःख दुःखी दुःखानामेवावर्तमनुपरिवर्तते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देसो—उपदेश। पासगस्स—यथाद्रष्टा को। नत्थि—नहीं है किन्तु जो। बाले—अज्ञानी है। पुण—फिर। निहे—स्नेह करने वाला। कामसमणुन्ने—काम-भोगों के अभिलाषी को। असमियदुक्खे—असीम दुःख होता है। दुक्खी—वह बार बार दुःख का संवेदन

* अनाचरणं—अनाचीर्णं केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तदनुष्ठानारम्भते—न कुर्या दित्युपदेशो यच्च मौनीन्द्रमाचीर्णं तत् कुर्यादित्युक्तं भवति। —आचाराग वृत्ति।

† 'वर्णु हिंसायां' अस्य धातो—हिंसनं कारणे कार्योपचारात येन केन प्रकारेण हिंसोत्पद्यते तत्तत् ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। —आचाराग वृत्ति

‡ लोकस्य—गृहस्थ लोकस्य संज्ञानं संज्ञा—विषयाभिष्वंगजनितसुखेप्सा परिग्रह संज्ञा वा तां च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यान परिज्ञया च परिहरेत्। —आचारांग वृत्ति

करता है। दुक्खाणमेव—दुःखों के ही। आवट्ट—आवर्त्त मे। अणुपरियट्टइ—परिभ्रमण करता रहता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—यथार्थ द्रष्टा के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है। जो बाल अज्ञानी पुरुष है, वही बार-बार काम-भोगो मे स्नेह करता है और बार-बार दुःखो के आवर्त्त मे अनुवर्तन करता रहता है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट कर दिया है कि जो यथार्थ द्रष्टा है, तत्त्वज्ञ है उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह अपने कर्त्तव्य को जानता है और अपने सयम पथ पर सम्यक्तया गति कर रहा है। इसलिए वह संसार सागर से पार होने मे समर्थ है। ससार सागर को पार करने के लिए ज्ञान और क्रिया आवश्यक हैं। इनकी समन्वित साधना से ही साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए निर्वाण पद को पाने के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों को स्वीकार करना जरूरी है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यही है कि कषाय, राग-द्वेष एव विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति ससार में परिभ्रमण करता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि कषाय, राग-द्वेष एव विषय-वासना ही ससार है। क्योंकि ससार का मूलाधार ये ही हैं। इनमे आसक्त रहने वाला व्यक्ति ही ससार मे घूमता है। अत. इनका त्याग करना, विषय-वासना मे जाते हुए योगों को उस ओर से रोक कर सयम मे लगाना, यही ससार से मुक्त होने का उपाय है और यही लोक पर विजय प्राप्त करना है। जो व्यक्ति काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक शत्रुओं को जीत लेता है, उसके लिए और कुछ जीतना शेष नहीं रह जाता। फिर लोक मे उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता है। सारा लोक-ससार उसका अनुचर—सेवक बन जाता है।

इसका तात्पर्य यह रहा है कि विषय-वासना की आसक्ति का त्याग करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त करता है। उसमें आसक्त रहने वाला व्यक्ति असीम दुःखों को प्राप्त करता है। उसके दुःखों का कभी अन्त नहीं आता। अत मुमुक्षु पुरुष को विषयों मे आसक्त न होकर, साधना में सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ षष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय अध्ययन लोक-विजय समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय

प्रथम उद्देशक

प्रथम अध्ययन में आत्मा एवं कर्म के सम्बन्ध तथा पृथ्वी आदि ६ कायों में जीव की सजीवता एवं उनकी हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया गया है। दूसरे अध्ययन में कषायों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। परन्तु कषायों का उद्भव पदार्थों के निमित्त से होता है। अच्छे और बुरे पदार्थों को देखकर तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोग मिलने पर या परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भावना में विचारों में उत्तेजना एवं अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति एवं संयोग में—भले ही वह अनुकूल हो या प्रतिकूल समभाव रखना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में साम्यभाव को बनाए रखने वाला व्यक्ति ही कषायों पर विजय पा सकता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रकार के परीषहों के उपस्थित होने पर उनका संवेदन न करे।

प्रस्तुत अध्ययन का 'शीतोष्णीय' नाम है। 'शीतोष्णीय' शब्द का अर्थ है—ठण्डा और गर्म। परन्तु इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हुए बताया है—परीषह (कष्ट सहन), प्रमाद उपशम विरति और सुख शीत हैं और परीषह, तप, उद्यम कषाय शोक वेद, कामाभिलाषा, अरति और दुःख उष्ण हैं। परीषहों की गणना शीत और उष्ण दोनों में करने का कारण यह है—स्त्री और सत्कार परीषह मन को लुभाने वाले होने से शीत हैं और शेष बीस परीषह प्रतिकूल होने से उष्ण हैं। एक विचारणा यह भी है कि तीव्र परिणामी उष्ण और मन्द परिणामी शीत हैं।

व्यवहार में भी जो व्यक्ति धर्म एवं व्यवसाय के कार्य में प्रमादी—आलसी या सुस्त होता है, उसे ठण्डा और जो मिहनती—परिश्रमी होता है, उसे उष्ण—तेज या गर्म कहते हैं। जब कोई व्यक्ति आवेश में होता है, तो झट कह दिया जाता है कि वह क्रोध में जल रहा है। अतः जिस व्यक्ति के क्रोध आदि उपशांत हो गए हैं उसे शीतल या उपशांत कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो परीषह मन के अनुकूल हैं, उन्हें शीत कहा है और जो प्रतिकूल हैं उन्हें उष्ण कहा गया है।

निर्युक्तिकार ने मोक्ष सुख को शीत एवं कषाय को उष्ण कहा है। क्योंकि मोक्ष में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है, एकान्त सुख है और कषाय मे तपन है, दु ख है, द्वन्द्व है, इसलिए निर्वाण सुख शीत और कषाय उष्ण है। तात्पर्य यह है कि सुख शीत है और दु ख मात्र उष्ण है*।

प्रस्तुत अध्ययन मे इसी आभ्यन्तर और बाह्य शीतोष्ण का विवेचन किया गया है। क्योंकि श्रमण शीत-उष्ण या अनुकूल प्रतिकूल स्पर्श, सुख-दु ख, कषाय परीषह, वेद, कामवासना और शोक आदि के उपस्थित होने पर उन्हें सहन करता है और समभाव पूर्वक तप-सयम की साधना में सलग्न रहता है। वह अपनी साधना मे सदा सजग रहता है। यही प्रस्तुत अध्ययन मे बताया गया है कि श्रमण वह है—जो अपने जीवन मे सदा—सर्वदा विवेकपूर्वक गति करता है, वह सदा जागृत रहता है। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति ॥१०६॥

छाया—सुप्ता अमुनयः सदा मुनयः जाग्रति।

पदार्थ—अमुणी—मिथ्यादृष्टि। सुत्ता—भाव निद्रा मे सोए पड़े हैं, किन्तु मुणिणो—प्रबुद्ध पुरुष। सया—सदा। जागरति—जागते है।

मूलार्थ—अज्ञानी लोग सदा सोए रहते है और मुनि-ज्ञानी जन सदा जागते है।

हिन्दी विवेचन

जागरण और सुषुप्ति जीवन की दो अवस्थाएं हैं। मनुष्य दिन भर की शारीरिक, मस्तिष्क एवं मानसिक थकान को दूर करने के लिए कुछ देर के लिए सोता है और फिर जागृत होकर अपने काम में लग जाता है। इस प्रकार सासारिक प्राणी जागते और सोते रहते हैं। परन्तु, यहां जागरण और सुषुप्ति का साधारण अर्थ मे नहीं, अपितु आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है और इसके द्वारा मुनित्व एव अमुनित्व का लक्षण बताया गया है। जो सुषुप्त हैं, वे अमुनि है, बोध से रहित हैं और जो सदा जागते रहते हैं, वे मुनि है, प्रबुद्ध पुरुष हैं।

---

* निव्वाणसुहं साय सीईभूय पय अणावाहं। इहमवि जं किंचि सुह त सियं दुक्खमवि उण्हं ॥
डज्झइ तिव्वकसाओ सोगऽभिभूओ उइन्नवेओ य। उण्हयरो होइ तवो कसायमाईवि ज डहइ ॥
आचाराग—निर्युक्ति २०७, २०८।

सुषुप्ति और जागरण के दो भेद हैं—१-द्रव्य और २-भाव। निद्रा लेना एवं समय पर जागृत होना द्रव्य सुषुप्ति या जागरण है और विषय, कषाय, प्रमाद, आलस्य आदि में आसक्त एवं संलग्न रहना भाव सुषुप्ति—निद्रा है और त्याग, तप एवं संयम में विवेक पूर्वक लगे रहना भाव जागरण है। असंयम, अव्रत एवं मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया भाव निद्रा है और संयम व्रत एवं सम्यग्ज्ञान में अभिवृद्धि करने वाली प्रवृत्ति भाव जागरण है।

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन विकास के लिए भाव निद्रा प्रतिबन्धक है। क्योंकि भाव निद्रा में उसका विवेक सोया रहता है, इसलिए वह अपनी आत्मा का हिताहित नहीं देख पाता और अनेक पापों का संग्रह कर लेता है। आगम में अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया को पाप कर्म के बन्ध का कारण माना है। यह सत्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में क्रिया लगती है। परन्तु जहां विवेक चक्षु खुले हैं, यतना के साथ प्रवृत्ति हो रही है, वो वहां पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा और जहां विवेक चक्षु बन्द हैं वहां पाप कर्म का बन्ध होता है। इससे यह साफ हो गया कि पतन का कारण भाव निद्रा ही है। द्रव्य निद्रा इतनी हानि नहीं पहुंचाती जितनी भाव निद्रा आत्मा का अहित करती है। यही कारण है कि भाव निद्रा में निमग्न व्यक्तियों को द्रव्य से जागृत होने पर भी सुषुप्त कहा है और भाव जागरण वाले जीवों को द्रव्य निद्रा लेते समय भी जागृत कहा है। साधु को द्रव्य निद्रा के समय भी जागता हुआ माना है। इसका कारण यह है कि उसकी प्रत्येक क्रिया संयम के लिए होती है और उसके साथ विवेक की चक्षु खुली होती है। संयम में तेजस्विता लाने के लिए वह सोता है। उसका शयन सोने के लिए नहीं, जागने के लिए है सुषुप्ति से मुक्त होने के लिए। आगम में जहां साधु समाचारी—दिन रात की चर्या का उल्लेख किया गया है वहां बताया है कि साधु तीसरे पहर निद्रा से मुक्त होवे।*

साधु का जीवन संयम मय है। उसका प्रत्येक समय संयम में बीतता है। वह दिन में या रात में अकेले में या व्यक्तियों के समूह में सुषुप्त अवस्था में या जागृत अवस्था में किसी भी तरह का पाप कर्म नहीं करता किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता एवं न झूठ स्तेय आदि दोषों का सेवन ही करता है।** इसलिए

* तइयाए निद्दमोक्खं तु।

—उत्तराध्ययन सूत्र २६, ४६

** दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४।

साधु को सदा-सर्वदा जाग्रत ही कहा है। जयन्ती श्राविका के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अधार्मिक व्यक्तियों को सदा सुषुप्त और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को सदा जागरणशील कहा है। और जो मनुष्य सदा पाप एवं अधर्म में संलग्न रहते हैं, उन्हें आलसी कहा है और जो सदा धर्म में, सत्कार्य में एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते हैं, उन्हें दक्ष, प्रवीण, चतुर कहा है†।

भगवद्गीता में भी इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है कि जिसे सब लोग रात्रि समझते हैं उसमें संयमी जागता है और जब समस्त प्राणी जागते हैं तो ज्ञानवान उसे रात्रि समझता है‡। तात्पर्य यह है कि विषय-भोगों की आसक्ति भाव निद्रा है और उनसे विरक्ति जागरण है। अतः भोगी व्यक्ति भोगों में आसक्त होने से सदा सोए रहते हैं और त्यागी व्यक्ति उनसे निवृत्त होते हैं इस लिए वे सदा जागते रहते हैं। हम यों भी कह सकते हैं कि अज्ञान निद्रा है और ज्ञान जागरण है।

अज्ञान एवं मोह के कारण ही मनुष्य भोगों में फंसता है और परिणाम स्वरूप वह अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। और ये दुःख अहितकर हैं, इस बात को जान कर उससे दूर रहने वाला व्यक्ति ही मुनि है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति ॥१०७॥

छाया—लोके जानीहि अहिताय दुःख समयं लोकस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतः, यस्य इमे शब्दाश्च, रूपाश्च, रसाश्च, गन्धाश्च, स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति ।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य ! तू यह समझ कि। लोयंसि—लोक में। दुक्ख—दुःख।

---

† भगवती सूत्र, शतक १२ उद्देशक २।

‡ या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
गीता, २, ६९।

सुषुप्ति और जागरण के दो भेद हैं—१-द्रव्य और २-भाव। निद्रा लेना एवं समय पर जागृत होना द्रव्य सुषुप्ति या जागरण है और विषय कषाय, प्रमाद, अव्रत आदि में आसक्त एवं संलग्न रहना भाव सुषुप्ति—निद्रा है और त्याग, तप एवं संयम में विवेक पूर्वक लगे रहना भाव जागरण है। असंयम, अव्रत एवं मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया भाव निद्रा है और संयम व्रत एवं सम्यग्ज्ञान में अभिवृद्धि करने वाली प्रवृत्ति भाव जागरण है।

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन विकास के लिए भाव निद्रा प्रतिबन्धक है। क्योंकि भाव निद्रा में उसका विवेक सोया रहता है, इसलिए वह अपनी आत्मा का हिताहित नहीं देख पाता और अनेक पापों का संग्रह कर लेता है। आगम में अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया को पाप कर्म के बन्ध का कारण माना है। यह सत्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में क्रिया लगती है। परन्तु जहां विवेक चक्षु खुले हैं, यतना के साथ प्रवृत्ति हो रही है, वो वहां पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा और जहां विवेक चक्षु बन्द हैं वहां पाप कर्म का बन्ध होता है। इससे यह साफ हो गया कि पतन का कारण भाव निद्रा ही है। द्रव्य निद्रा इतनी हानि नहीं पहुंचाती, जितनी भाव निद्रा आत्मा का अहित करती है। यही कारण है कि भाव निद्रा में निमग्न व्यक्तियों को द्रव्य से जागृत होने पर भी सुषुप्त कहा है और भाव जागरण वाले जीवों को द्रव्य निद्रा लेते समय भी जागृत कहा है। साधु को द्रव्य निद्रा के समय भी जागता हुआ माना है। इसका कारण यह है कि उसकी प्रत्येक क्रिया संयम के लिए होती है और उसके साथ विवेक की चक्षु खुली होती है। संयम में तेजस्विता लाने के लिए वह सोता है। उसका शयन सोने के लिए नहीं, जागने के लिए है सुषुप्ति से मुक्त होने के लिए। आगम में जहां साधु समाचारी—दिन रात की चर्या का उल्लेख किया गया है वहां बताया है कि साधु तीसरे पहर निद्रा से मुक्त होवे।*

साधु का जीवन संयम मय है। उसका प्रत्येक समय संयम में बीतता है। वह दिन में या रात में, एकान्त में या व्यक्तियों के समूह में, सुषुप्त अवस्था में या जाग्रत अवस्था में किसी भी तरह का पाप कर्म नहीं करता, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता एवं न झूठ स्तेय आदि दोषों का सेवन ही करता है।** इसलिए

* तइयाए निद्दमोक्खं तु।

—उत्तराध्ययन सूत्र २६, ४१

** दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४।

साधु को सदा-सर्वदा जाग्रत ही कहा है। जयन्ती श्राविका के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अधार्मिक व्यक्तियों को सदा सुपुप्त और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को सदा जागरणशील कहा है। और जो मनुष्य सदा पाप एव अधर्म मे सलग्न रहते हैं, उन्हें आलसी कहा है और जो सदा धर्म में, सत्कार्य में एवं आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते हैं, उन्हें दक्ष, प्रवीण, चतुर कहा है†।

भगवद्गीता मे भी इसी बात को इन शब्दों मे कहा गया है कि जिसे सब लोग रात्रि समझते हैं उसमे सयमी जागता है और जब समस्त प्राणी जागते हैं तो ज्ञानवान उसे रात्रि समझता है‡। तात्पर्य यह है कि विषय-भोगो की आसक्ति भाव निद्रा है और उनसे विरक्ति जागरण है। अत भोगी व्यक्ति भोगों मे आसक्त होने से सदा सोए रहते हैं और त्यागी व्यक्ति उनसे निवृत्त होते हैं इस लिए वे सदा जागते रहते हैं। हम यों भी कह सकते हैं कि अज्ञान निद्रा है और ज्ञान जागरण है।

अज्ञान एव मोह के कारण ही मनुष्य भोगों मे फसता है और परिणाम स्वरूप वह अनेक दु खों को प्राप्त करता है। और ये दु ख अहितकर हैं, इस बात को जान कर उससे दूर रहने वाला व्यक्ति ही मुनि है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति ॥१०७॥

छाया—लोके जानीहि अहिताय दुःख समयं लोकस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतः, यस्य इमे शब्दाश्च, रूपाश्च, रसाश्च, गन्धाश्च, स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति ।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य ! तू यह समझ कि। लोयसि—लोक मे। दुक्खं—दुःख।

---

† भगवती सूत्र, शतक १२ उद्देशक २।

‡ या निशा सर्वभूताना, तस्या जागर्ति सयमी
यस्या जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥

गीता, २, ६९।

अहियाय — अहितकर है। लोगस्स समयं — लोक के संयमानुष्ठान को। जाणित्ता — जानकर। जस्सिमे — जिस मुनि को, ये। सद्दा — शब्द। य — और। रूवा — रूप। य — और। रसा — रस। य — और। गंधा — गंध। य — और। फासा — स्पर्श। य — समुच्चय अर्थ में। अभिसमन्नागया — अभिसमन्वागत। भवंति — होते हैं वह। इत्थ — इस लोक में। सत्थोवरए — शस्त्र से उपरत होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू यह जान कि लोक में दुःख अहितकर है इसलिए लोक में संयमानुष्ठान एवं समभाव को जान कर शस्त्र का त्याग कर दे। जिस मुनि के शब्द, रूप रस गंध और स्पर्श अभिसमन्वागत होते हैं, वास्तव में वही शस्त्र से उपरत होता है या वही मुनि है।

हिन्दी विवेचन

अज्ञान एवं मोह आदि से पाप कर्म का बन्ध होता है। और अशुभ कर्म का फल दुःख रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्रकार ने अज्ञान को दुःख का कारण बताया है और ज्ञान को दुःख से मुक्त होने के कारण कहा है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक को संयम एवं आचार के स्वरूप को जानकर उसका परिपालन करना चाहिए। और शब्दादि विषयों राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति से निवृत्त हो कर ६ काय की हिंसा रूप शस्त्र का त्याग कर देना चाहिए वास्तव में विषय में राग-द्वेष एवं हिंसा अन्य शस्त्रों का परित्याग ही मुनित्व है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समयं' शब्द के दो अर्थ होते हैं—१समय—आचारोऽनुष्ठानं तथा २ समता—समशत्रु-मित्रता समात्मपरता वा अर्थात् 'समय' शब्द आचार का भी परिबोधक है और इसका अर्थ यह भी होता है कि प्रत्येक प्राणी पर समभाव रखना।

'लोगंसि अहियाय दुक्खं' वाक्य का तात्पर्य यह है कि अज्ञान और मोह दुःख का कारण है। मोह और अज्ञान के कारण ही जीव नरकादि योनियों में विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए नरकादि में प्राप्त होने वाले दुःखों को अहितकर कहा है। अतः इन दुःखों से छूटने का उपाय है—अज्ञान एवं मोह का त्याग करना।

'अभिसमन्नागया' का अर्थ है—जिस आत्मा ने शब्दादि विषयों के स्वरूप को जान लिया है और उनमें उस की राग-द्वेष मय प्रवृत्ति नहीं है, वही मुनि है और उसी ने लोक के स्वरूप को जाना है*।

---

* अभिसमन्नागया इति अभि — आभिमुख्येन सम्यग्—इष्टानिष्टावधारणतयाऽऽ

जो प्रबुद्ध पुरुष शब्दादि विषयों के परिणाम को जानकर उनका परित्याग कर देते हैं, उन्हें किस गुण की प्राप्ति होती है। इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ ॥१०८॥

छाया—स आत्मवान् (आत्मवित्) ज्ञानवान् (ज्ञानवित्), वेदवान् (वेदवित्), धर्मवान् (धर्मवित्), ब्रह्मवान् (ब्रह्मवित), प्रज्ञानैः परिजानाति लोक मुनिः इति वाच्यः धर्मवित् रिजु आवर्त्त स्रोतसि सगमभिजानाति ।

पदार्थ—से—वह मुमुक्षु पुरुष। आयवं—आत्मवान्। नाणवं—ज्ञानवान्। वेयवं—वेदवित्—आगमो का परिज्ञाता। धम्मवं—धर्म स्वरूप का ज्ञाता। बंभवं—ब्रह्म को जानने वाला। पन्नाणेहिं—मति-श्रुत ज्ञान आदि से। लोयं—लोक के स्वरूप को। परियाणइ—जानता है। मुणीतिवुच्चे—उसे मुनि कहते हैं, क्योंकि। धम्मविऊ—धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता। उज्जू—सरल आत्मा। आवट्ट सोए—ससार चक्र और विषयाभिलाषा के। संग—सम्बन्ध को। अभिजाणइ—जानता है।

मूलार्थ—वह प्रबुद्ध पुरुष आत्म स्वरूप का जानता है, ज्ञानयुक्त है, वेद-आगमो का ज्ञाता है, धर्म को जानने वाला है, ब्रह्म को जानने वाला है, मति-श्रुत आदि ज्ञानो से लोक के स्वरूप को जानता है, अतः उसे मुनि कहते हैं। क्योंकि वह धर्म के स्वरूप का ज्ञाता सरल आत्मा ससार चक्र एव विषयाभिलाषा के सम्बन्ध को भली-भांति जानता है।

हिन्दी विवेचन

साधना के क्षेत्र में सब से पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब तक साधक को अपनी आत्मा का, लोक परलोक का बोध नहीं है, जीव अजीव की पहिचान नहीं है, तब तक वह सयम में प्रवृत्त नहीं हो सकता। सयम का अर्थ है—दोषों से

अन्विति—शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागता—ज्ञाता परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोक जानातीति सम्बन्ध।

—आचारांग वृत्ति।

निवृत्त होना। अतः दोषों से निवृत्त होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दोष क्या है? कौन-सी प्रवृत्ति दोषमय और कौन सी निर्दोष प्रवृत्ति है? इसलिए आगम में स्पष्ट भाषा में कहा गया है कि साधक पहिले ज्ञान प्राप्त करे फिर क्रिया में प्रवृत्ति करे।*

प्रस्तुत सूत्र में भी मुनि जीवन का वास्तविक स्वरूप बताया गया है। इस में यह स्पष्ट कर दिया है कि वह ज्ञानवान हो आत्म स्वरूप का वेदों का, धर्म का, ब्रह्म स्वरूप का एवं मति-श्रुत आदि ज्ञान से लोक के स्वरूप का ज्ञाता हो। जो साधक इनके स्वरूप को नहीं जानता है, वह संयम का भली-भांति पालन नहीं कर सकता। अतः साधक के लिए सब से पहिले आत्म स्वरूप को जानना जरूरी है। जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को जान सकता है। फिर उसके लिए वेद-आगम, ब्रह्म एवं लोक के स्वरूप का परिज्ञान करना कठिन नहीं रह जाता है। और आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर उसकी साधना में उसके आचरण में सहज ही गति एवं तेजस्विता आ जाती है। वह अपने आपको दोषों से बचाता चलता है। क्योंकि वह इस बात को भली-भांति जान चुका है कि इन दोषों में आसक्त होने के कारण ही आत्मा लोक में इधर-उधर भटकती फिरती है और विभिन्न योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करती है। इससे स्पष्ट हो गया कि दोषों से बचने के लिए पहिले ज्ञान की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में आत्मज्ञान के बाद वेदवित् होने को कहा गया है। वेद — वेदवित् का अर्थ है जिस साधन के द्वारा जीवाजीव आदि के स्वरूप को जाना जाता है उस वेद कहते हैं। वह आचारांग आदि आगम है। अतः उनके परिज्ञाता को वेदवित् कहते हैं‡।

इसके बाद धर्म के स्वरूप को जानने का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि आचारांग आदि आगम साहित्य के द्वारा ही धर्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। इस लिए पहिले श्रुत—साहित्य के अध्ययन का उल्लेख करके धर्म को जानने का विवेचन किया गया है।

आत्म स्वरूप, वेद एवं धर्म के स्वरूप को जानने के बाद ब्रह्म के स्वरूप

---

* पढमं नाणं तओ दया। —दशवैकालिक सूत्र ४, ६।

‡ वेद्यते जीवादि स्वरूपम् अनेनेति वेदः—आचारांगादिकः तं वेत्तीति वेदवित्। —आचारांग वृत्ति।

† ब्रह्म-अष्टादशभेदभिन्नं ब्रह्मचर्यं वेत्तीति ब्रह्मवित्। —आचारांग वृत्ति।

का सुगमता से वोध हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म--परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है। जब आत्मा अपने समस्त कर्म आवरणों को सर्वथा हटा देती है, तो वह परमात्मा के पद को प्राप्त कर लेती है। इसी अर्थ मे ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है†। और ब्रह्म शब्द से १८ प्रकार के ब्रह्मचर्य को भी ग्रहण किया गया है‡। पहिले अर्थ मे परमात्म स्वरूप को स्वीकार किया है और दूसरे अर्थ मे ब्रह्मचर्य का वोध कराया है।

'प्रज्ञान' शब्द से मति-श्रुत आदि ज्ञान समझने चाहिए। क्योंकि मति-श्रुत आदि ज्ञान से ही लोक के स्वरूप का वोध होता है। और इसी ज्ञान के द्वारा साधक ससार परिभ्रमण एव विषयाभिलाषा के सवन्ध को जान लेता है। 'आवट्टसोए संगमभिजाणइ' मे 'सग' शब्द संवन्ध का परिचायक है। शास्त्रों में ससार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा का स्थायी सवन्ध माना गया है। जब तक विषयाभिलाषा है तब तक ससार परिभ्रमण है। क्योंकि जहा राग-द्वेष की प्रवृत्ति है वहीं जन्म-मरण की परम्परा का पोषण होता है, ससार का संवर्द्धन होता है। अत संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए राग-द्वेष का सग छोड देना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके सयम मार्ग पर गतिशील साधक सुपुप्ति--भाव निद्रा का त्याग करके अपनी साधना मे सदा सजग रहता है। क्योंकि जागरण शील साधक ही राग-द्वेष से वच सकता है। इसलिए सुपुप्त एव जागरण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। अब ऐसे ज्ञाता को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसे वताते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागर वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खापमुक्खसि, जराम-च्चुवसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ ॥१०६॥

छाया—शीतोष्णत्यागी स निर्ग्रन्थः अरतिरतिसहः परुषतां नो वेत्ति जागर वैरोपरतः, वीरः एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि जरामृत्युवशोपनीतः नर सततं मूढ धर्मं नाभिजानाति।

पदार्थ—सीउसिणच्चाई-शीतोष्ण का त्यागी। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ। अरइरइसहे—

‡ यदिवधा अष्टादशा ब्रमेति। —आचाराग वृत्ति.

अरति और रति को सहता हुआ। फरुसयं णो वेएइ—परुषता—कठोरता का अनुभव नहीं करता। जागर—असंयम रूप भाव निद्रा से जागता है। वेरोवरए—वैर से उपरत हो गया है, उसे गुरु कहते हैं। एवं—इस प्रकार। वीरे—हे वीर! दुक्खाओ मुच्चसि—तू दुःखों से मुक्त हो जाएगा और दूसरों को भी मुक्त करेगा। परन्तु जो उक्त गुणों से रहित है, वह। नरे—मनुष्य। जरामच्चुवसोवणीए—जरा और मृत्यु के वशीभूत हुआ। धम्मं नाभिजाणइ—धर्म के स्वरूप को नहीं जानता। क्योंकि मोह कर्म के उदय से वह। मूढे—मूढ-भाव निद्रा में सुप्त है।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ मुनि असंयम भावनिद्रा का त्यागी होने के कारण जागरणशील है और वैर-विरोध से निवृत्त हो चुका है। इस लिए वह शीतोष्ण का त्यागी, अरति और रति को सहता हुआ कठिन परीषहों के उपस्थित होने पर भी कठोरता का अनुभव नहीं करता। गुरु कहते हैं कि हे वीर! इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण के द्वारा तू दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाएगा तथा दूसरों को भी मुक्त करने में समर्थ होगा।

परन्तु जो जागरणशील नहीं वह जरा और मरण के वशीभूत होकर मोह से मूढ बना हुआ दुःखों के प्रवाह में बहता रहता है। वह धर्म के स्वरूप को भी नहीं जान पाता, इसलिए वह दुःखों से मुक्त भी नहीं हो सकता।

हिन्दी विवेचन

साधक का लक्ष्य है—मोक्ष अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना। इसी लक्ष्य को साध्य को सिद्ध करने के लिए वह साधना करता है। जब साधक अपने साध्य में तन्मय होता है, तो उसे उस समय बाह्य संवेदन की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों का अनुभव मन के द्वारा होता है। जब इन्द्रियों के साथ मन का संबन्ध जुड़ा होता है, तो हमें उसके द्वारा अच्छे-बुरे विषयों का अनुभव एवं उससे सुख-दुःख का संवेदन होता है। परन्तु जब मन का सम्बन्ध साध्य के साथ जुड़ा होता है, वह अपने लक्ष्य में तन्मय होता है, तो उस समय उसे इन्द्रियों के साथ विषयों का संबन्ध होते हुए भी उसकी अनुभूति नहीं होती सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता।

कुछ वर्ष हुए प्रो० भसाली* के जीवन की एक घटना समाचार पत्रों मे छपी थी । गर्मी का महीना था। वे नंगे सिर नगे पैर सेवाग्राम से वर्धा को जा रहे थे। इधर से महादेव देसाई अपने दो तीन साथियों के साथ वर्धा से सेवाग्राम आ रहे थे । पैरों मे जूते पहने हुए, सिर पर छाता ताने हुए चले आ रहे थे। फिर भी गर्मी के कारण परेशान हो रहे थे। मार्ग मे भसाली जी को नंगे सिर नगे पाव मस्ती मे झूमते हुए आते देखा, तो सब हैरान रह गए। निकट आते ही महादेव भाई ने पूछा—क्यों भसाली जो गर्मी नहीं लगती? महादेव भाई का स्वर सुनते ही वे एकदम चौंक उठे। और ऊपर को देखते हुए बोले—क्या गर्मी पड रही है ? और आगे बढ़ गए।

आगमों मे भी वर्णन आता है कि साधु दिन के तीसरे पहर अथवा बारह बजे के बाद भिक्षा के लिए जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको गर्मी नहीं लगती थी। उष्णता का स्पर्श तो होता था, परन्तु मन आत्म-साधना मे सलग्न होने के कारण उस कष्ट की अनुभूति नहीं होती थी। कभी-कभी चिन्तन में इतनी तन्मयता हो जाती कि उन्हें पता ही नहीं लगता कि गर्मी पड़ रही है या नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जब साधक अपने लक्ष्य या साध्य को सिद्ध करने में तन्मय हो जाता है, तो उस समय वह अनुकूल एव प्रतिकूल परीषह को आसानी से सहन कर लेता है ।

प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया गया है कि मोक्ष की तीव्र अभिलाषा रखने वाला साधक शीतोष्ण परीषह को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है। और यह वैर-विरोध से निवृत्त होकर सयम साधना मे सलग्न हो जाता है। और इस प्रक्रिया के द्वारा वह समस्त कर्म बन्धन तोडकर मुक्त हो जाता है और अन्य प्राणियों को मोक्ष का मार्ग बताने मे समर्थ होता है।

इसके विपरीत जिसका मन साधना मे नहीं लगा है, जिसके समक्ष कोई लक्ष्य नहीं है, और जिसके मन में साध्य मे तन्मयता एव एकरूपता नहीं है, वह मोह के वश ससार में परिभ्रमण करता है। विषयों की आसक्ति एव मोह के कारण वह धर्म के स्वरूप को नहीं समझ पाता, इसलिए वह बार-बार जन्म मरण के प्रवाह मे बहता हुआ विभिन्न दु खों का सवेदन करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "सिउसिणच्चाई' पद का पाचों आचार के अनुसार भी

---

* प्रो० भसाली गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के एक सैनिक थे और अभी कुछ मास पहले अणु परीक्षण बन्द करने के विरोध मे आपने ६१ दिन का अनशन किया था ।

य मइमं पास, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणापमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्जवज्जायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवज्जाय सत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ कम्मं च पडिलेहाए ॥११०॥

छाया—दृष्ट्वा आतुरप्राणान् (प्राणिन.) अप्रमत्तः परिव्रजेत् मत्वा च मतिमन्! पश्य ? आरभज दुःखम्, इदमिति ज्ञात्वा मायी प्रमादी पुनरेति गर्भम्, उपेक्षमाणः शब्दरूपेषु ऋजुः, माराभिशंकी मरणात् प्रमुच्यते, अप्रमत्तः कामैरुपरतः पाप कर्मभ्य वीरः आत्म गुप्त खेदज्ञो य पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः स अशस्त्रस्य खेदज्ञ यः अशस्त्रस्य खेदज्ञ स पर्यवजात शस्त्रस्य खेदज्ञः अकर्मणः व्यवहारो न विद्यते कर्मणोपाधिर्जायते कर्म च प्रत्युपेक्ष्य।

पदार्थ—**आउर पाणे**—दुःखी प्राणियों को। **पासिय**—देखकर। **अप्पमत्तो**—अप्रमत्त भाव से। **परिव्वए**—सयम मार्ग का अनुसरण करे। **य**—और। **मइम**—हे मतिमन्। **पास**—भाव सुप्त को देख ? **मत्ता**—गुण और दोष को मानकर तू मत शयन कर ? **आरभजं**—आरम्भ से उत्पन्न हुआ। **इण**—यह। **दुक्ख**—दु.ख। **ति**—इस प्रकार। **णच्चा**—जानकर। **माई**—छल करने वाला। **पमाई**—प्रमाद करने वाला। **गब्भ**—गर्भ मे। **एइ**—आता है, किन्तु जो। **सद्दरूवेसु**—शब्द और रूपादि विषयों में। **उवेहमाणो**—रागद्वेष करता हुआ। **उज्जू**—ऋजुमति होता है। **माराभिसकी**—मरण से उद्विग्नचित्त वाला। **मरणापमुच्चइ**—मरण से विमुक्त हो जाता है। **कामेहिं**—काम-भोगो से। **अप्पमत्तो**—अप्रमत है और। **पावकम्मेहिं**—पाप कर्मों से। **उवरओ**—उपरत है। **वीरे**—वह वीर। **आयगुत्ते**—आत्मगुप्त है। **खेयन्ने**—खेदज्ञ है। **जे**—जो। **पज्जवज्जाय सत्थस्स**—शब्दादिविषयो की प्राप्ति के लिए जो हिंसादि क्रियाए की जाती हैं, जो उनका। **खेयन्ने** खेदज्ञ है। **से**—वह। **असत्थस्स**—सयम का **खेयन्ने**—खेदज्ञ है। **जे**—जो **असत्थस्स**—सयम का। **खेयन्ने**—खेदज्ञ-जानने वाला है। **से**—वह। **पज्जवज्जायसत्थस्स**—पर्यवजात शस्त्रका। **खेयन्ने**—खेदज्ञ है और फिर। **अकम्मस्स**—

कर्म रहित का संसार चक्र में। ववहारो—व्यवहार। न विज्जइ—नहीं है। उवाही—संसार भ्रमण रूप उपाधि। कम्मुणा—कर्म से। जायइ—उत्पन्न होती है अतः। च—फिर। कम्मं—कर्म को। पडिलेहाए—विचार कर-भाव निद्रा को छोड़ जागृत अवस्था में ही सदा रहना चाहिए।

मूलार्थ—दुःखित प्राणियों को देखकर सदा अप्रमत्त भाव से ही संयम मार्ग में विचरे हे बुद्धिमान! आरम्भ–हिंसा से यह दुःख उत्पन्न हुआ है इस प्रकार मानकर फिर छल-कपट करने वाला प्रमादी जीव गर्भ में पुनः पुनः आता है। अपितु जो शब्दादि विषयों में राग और द्वेष न करता हुआ ऋजुमति और मरण जन्य दुःख से उद्विग्न चित्तवाला है वह मरण के दुःख से छूट जाता है तथा जो काम भोगों में अप्रमत्त-प्रमाद रहित एवं पापकर्मों से उपरत रहित है वह धीर आत्मगुप्त और खेदज्ञ है निपुण है तथा जो हिंसादि क्रियाओं का खेदज्ञ-जानकार है वह संयम का खेदज्ञ जानने वाला है और जो संयम का जानकार है अर्थात् संयम के स्वरूप को जानता है वह हिंसादि क्रियाओं के स्वरूप को जानता है। किन्तु कर्म रहित आत्मा का संसारचक्र में व्यवहार-परिभ्रमण नहीं होता संसार चक्र की उपाधि कर्म जन्य है, कर्म से उत्पन्न होती है अतः कर्म के यथार्थ स्वरूप का पर्यालोचन करके मुमुक्षु पुरुष को संयम मार्ग में ही यतना पूर्वक विचरना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

संसार परिभ्रमण का मूल कारण राग-द्वेष जन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्ति कषायों के वश होकर आरम्भ—हिंसा करता है और परिणाम स्वरूप अशुभ कर्मों का बन्ध करके नरक, तिर्यंच आदि गतियों में अनेक प्रकार के दुःखों का संवेदन करता है। इस प्रकार व्यक्ति शब्दादि विषयों में आसक्त होकर हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्त होकर जन्म जरा और मृत्यु के प्रवाह में प्रवाहित होता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा जन्य प्रवृत्ति में प्रवर्तमान व्यक्ति दुःखों के महागर्त में आ गिरता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त दुःखों का मूल स्रोत हिंसाजन्य प्रवृत्ति

हम यों भी कह सकते हैं कि जो व्यक्ति संयम से विमुख है, शब्दादि विषयों में आसक्त है वह आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का बन्ध करता

है और परिणाम स्वरूप विभिन्न योनियों मे जन्म-जरा और मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अप्रमत्त है, जागरणशील है, विवेकशील है, सयम-असयम का परिज्ञाता है, वह आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रत्येक क्रिया सयम से युक्त होती है और वह प्रतिक्षण जागरूक रहता है, विवेक के साथ साधना मे प्रवृत्त होता है, अत वह पाप कर्म का वन्ध नहीं करता। परन्तु संयम एवं तप के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन आवद्ध कर्मों की निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन कर्म वन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, अपने लक्ष्य पर जा पहुचता है। अत. मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि असयम से निवृत्त होकर सयम मे प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'जे पज्जवज्जायसत्यस्स खेयन्ने' का अर्थ है— जो व्यक्ति शब्दादि विषयों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं एव उसके परिणाम का ज्ञाता है वही विशुद्ध सयम का परिज्ञाता हो सकता है❀। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतुहेतुमद्भाव से वर्णन किया है। अर्थात् जो व्यक्ति ससार परिभ्रमण के कारणों का परिज्ञाता है, वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ' का अर्थ है—मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म वन्धनों को तोड देता है। और वह आठ कर्मों से मुक्त व्यक्ति फिर से ससार मे नहीं आता❀। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म वन्धन से मुक्त आत्मा फिर से ससार मे अवतरित नहीं होती? कर्म युक्त आत्मा ही जन्म-मरण के प्रवाह में वहती रहती है। कर्म रहित आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करती है। क्यों-कि जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था में कर्म का सर्वथा अभाव है। इसलिए परमात्मा या ईश्वर के अवतरित होने की कल्पना नितात असत्य एवं कपोल कल्पित प्रतीत होती है। वस्तुत कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने

❀ न विद्यते कर्माष्टप्रकारमस्येत्यकर्मा तस्य व्यवहारो न विद्यते।

आचारांग वृत्तिः।

❀ शब्दादीनां विषयाणा पर्यवा —विशेषास्तेषु—तन्निमित्त जात शस्त्र पर्यवजात शस्त्र — शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यानुष्ठान तत्पर्यवजातशस्त्र तस्यपर्यवजा-तशस्त्रस्य य खेदज्ञो—निपुण सोऽशस्त्रस्य निरवद्यानुष्ठानरूपस्य सयमस्य खेदज्ञ यश्चाशस्त्रस्य सयमस्य खेदज्ञ स पर्यवजात—शस्त्रस्यापि खेदज्ञ, इत्यादि।—

आचारांग वृत्ति।

विशुद्ध स्वरूप में रमण करती है फिर वह संसार में नहीं भटकती है।

अतः मुमुक्षु को कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कम्म मूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अन्तेहिं अदिस्समाणे त परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोग वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्कमिज्जासि, त्तिबेमि ॥१११॥

छाया—कर्ममूलं च यत् क्षणं प्रत्युपेक्ष्य सर्वं समादाय द्वाभ्यामन्ताभ्याम दृश्यमान तं परिज्ञाय मेधाविन्! विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसंज्ञां स मेधावी परिक्रमेत्—पराक्रमेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कम्ममूलं—कर्म मूल को। पडिलेहिय—प्रत्युपेक्षण कर। च—समुच्चय अर्थ में है तथा। जं छणं—जो हिंसा है वही कर्म मूल है उसको छोड़ देवे। सव्वं—सर्व। समायाय—उपदेश पूर्वक संयमग्रहण करके। दोहिंअन्तेहिं—दोनों से—राग और द्वेष से आत्मा को पृथक करके तथा राग और द्वेष को। अदिस्समाणे—अदृश्यमान करता हुआ। तं—उस कर्म के कारणों को परिन्नाय—ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। मेहावी—बुद्धिमान लोगं—विषय कषाय रूप को। विइत्ता—जानकर तथा। वंता—छोड़ कर। लोगसन्नं—लोक संज्ञा को। से—वह मेहावी—मर्यादावर्ती बुद्धिमान पुरुष। परिक्कमिज्जासि—संयमानुष्ठान में पराक्रम करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रबुद्ध पुरुष का कर्तव्य है कि वह हिंसा आदि दोषों को कर्म का मूल जानकर और भगवान के उपदेश को जीवन में ग्रहण करके राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करे और मर्यादा का परिपालन करता हुआ संयम में पुरुषार्थ करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन

कर्म बन्ध के मूल कारण ५ हैं—१-मिथ्यात्व, २-अव्रत ३-कषाय, ४-प्रमाद और ५-योग। इनके कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इस बात को जिनेश्वर भगवान ने अपने उपदेश में स्पष्ट कर दिया है और उससे मुक्त होने का मार्ग भी बताया है। अतः भगवान के उपदेश को हृदयंगम करके मुमुक्षु पुरुष को

उसके अनुरूप आचरण करना चाहिए। ससार के वास्तविक स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

राग-द्वेष कर्म बन्ध के बीज हैं†। इसलिए मुख्य रूप से इन के त्याग का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देता है, उनका सर्वथा उन्मूलन कर देता है, फिर वह कर्म बन्धन से नहीं बन्धता है और परिणाम स्वरूप जन्म-मरण आदि समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'अत' शब्द राग-द्वेष के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है❀। अत बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आराधन करके आत्मा को कर्ममल से मुक्त बनाने का प्रयत्न करे।

यहा 'मेधावी' शब्द का दो बार अर्थ हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मर्यादा मे स्थित रहता है, वही आत्म विकास कर सकता है, सयम मे प्रवृत्त हो सकता है। अत ऐसा व्यक्ति ही वास्तव मे पडित एव बुद्धिमान होता है।

'तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

प्रथम उद्देशक समाप्त

५१५
ठाक नहीं है।
ने यह विषय

† रागो य दोसो वि यम्मीयं। उत्तराध्ययन सूत्र-३२

❀ अन्तहेतुत्वादन्तो— राग-द्वेषौ ताभ्या सहादृश्यमान, ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्म्मेति।

—आचारांग वृत्ति।

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में भाव सुप्त एवं जागरणशील पुरुष के स्वरूप को बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म नहीं करता। पाप कर्म करने से जीव किस प्रकार दुःखी होता है, इस उद्देशक में इसका सजीव वर्णन किया गया है और कहा है कि आतंकदर्शी—नरक आदि दुर्गति में मिलने वाले दुःखों से बचने वाला कभी भी पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। भाव निद्रा में सुप्त पुरुष ही पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिए प्रायः वह दुःखों एवं असातावेदनीय कर्म का संवेदन करता है। इन भावों को स्पष्ट अभिव्यक्त करने वाले प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्न है—

मूलम्—जाई च वुड्ढिं च इहऽज्ज ! पासे,
भूएहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमंति णच्चा, संमत्तदंसी न करेइ पावं ॥४॥

छाया—जातिं च वृद्धिं च इहार्य पश्य। भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं।
तस्मादतिविद्य परमिति ज्ञात्वा सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापं।

[1] पदार्थ—अज्ज—हे आर्य ! तू। जाइ—जन्म। च—और। वुड्ढि—वृद्धत्व को और मयो' मनुष्य लोक में। पासे—देख। भूएहिं—जीवों के। सायं—साता-सुख को। पडिलेह्या प्रतिलेखन कर के। जाणे—अपने समान जान अर्थात् सभी जीव मेरे समान सुख चाहते हैं। तम्हा—इसलिए। अतिविज्जे—तत्त्व निर्णायक विद्या एवं। परमं—मोक्ष को। णच्चा—जानकर। ति—पूर्वार्थ में है। संमत्तदंसी—सम्यग्दृष्टि। पावं न करेइ—पापकर्म नहीं करता है।

मूलार्थ—हे आर्य ! तू इस लोक में जन्म जरा (बुढ़ापे) के दुःख को देख। और जीवों के सुख का प्रतिलेखन कर यह जान ले कि सभी जीव

सुख चाहते है। इसलिए तत्त्व एव मोक्ष का परिज्ञाता सम्यग् दृष्टि जीव पाप कर्म नही करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक सबसे पहिले जन्म-जरा एव मृत्यु के स्वरूप तथा जीवों के स्वभाव को जाने। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जन्म-जरा एवं मरण कर्म जन्य हैं और आरम्भ हिंसा आदि दोषों का सेवन करने से कर्म का बन्ध होता है। क्योंकि हिंसा से दूसरे प्राणियों को कष्ट होता है, दुःख होता है। और कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। कारण कि जीव स्वभाव से सुखाभिलाषी हैं। सभी प्राणी सुख चाहते हैं। अतः उन्हें कष्ट देना, परिताप देना, पीड़ा पहुचाना पाप है। इस से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप जीव जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता है तथा विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है।

अतः जन्म-जरा के स्वरूप एव जीवों के स्वभाव का ज्ञाता प्रबुद्ध पुरुष आरभ-समारभ से बचने का प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टि पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म मे आसक्ति तब तक रहती है, जब तक आत्मा में सद्-ज्ञान की ज्योति नहीं जगती। अतः पाप का कारण अज्ञान है। यह ठीक है कि ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद आरम्भ होता है, परन्तु अज्ञान दशा मे की जाने वाली प्रवृत्ति एव ज्ञान पूर्वक होने वाली प्रवृत्ति में रात-दिन का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि आरभ-समारभ में संलग्न रहता है, आसक्त रहता है और हार्दिक इच्छा पूर्वक उसमें प्रवृत्ति करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उसमें आसक्त नहीं बनता, वह परिस्थितिवश उसमे प्रवृत्त होता है, फिर भी वह भावना से उस कार्य को त्याज्य ही समझता है।

कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि सम्यग्दृष्टि को पाप कम नहीं लगता परन्तु यह अर्थ सामान्य सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा घटित नहीं होता। छठे गुणस्थान की अपेक्षा से यह कथन उचित है कि उक्त गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को पाप कर्म नहीं लगता। परन्तु उसके नीचे के गुणस्थानों के लिए यह कथन ठीक नहीं है। इसके लिए हम यहा थोडा-सा गुणस्थान के विकासक्रम पर भी सोच ले तो यह विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा।

चौथे गुणस्थान से जीवन विकास आरम्भ होता है। इस गुणस्थान को स्पर्श करते ही मिथ्यादर्शन की क्रिया रुक जाती है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान की क्रिया नहीं लगती, छठे गुणस्थान में परिग्रह की क्रिया नहीं लगती, और वीतराग

गुणस्थान में केवल ईरियावहिया क्रिया लगती है और अयोगिगुणस्थान में कोई क्रिया नहीं लगती। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म का बन्ध छठे गुणस्थान में रुकता है। उक्त गुणस्थान में आरम्भ-समारम्भ एवं परिग्रह—आसक्ति का अभाव रहता है। परन्तु पांचवें गुणस्थान में पदार्थों के प्रति आसक्ति का पूर्ण त्याग नहीं होता और चौथे गुणस्थान में जीव आसक्ति को त्याज्य समझता है, परन्तु वह उसका आंशिक त्याग भी नहीं कर सकता। इसलिए चौथे एवं पांचवें गुणस्थान में रहा हुआ जीव आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं होता। परन्तु उसकी भावना निवृत्त होने की रहती है और विवशतावश वह उसमें प्रवृत्त होता है। इसलिए यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव पाप कर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि दुःखों से बचने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष ही पापों से बच सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि "दुक्खं बाले पलिच्छेह लावं" इसका तात्पर्य यह है कि जो यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की साधना में संलग्न रहता है, वह पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि वह पाप कर्म के दुष्फल—दुःखद परिणाम से परिचित होता है*।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर साधक अपने आपको सदा पाप कर्म से निवृत्त करने का प्रयत्न करता है। वह पाप कर्म के दुःखद परिणामों को जानकर उनसे बचने के लिए धर्म का आचरण करता है, संयम साधना में संलग्न होता है। यों कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुखी होता है। वह अपनी आत्मा को भूलाकर कोई कार्य नहीं करता।

पाप कर्म की उत्पत्ति का कारण राग-स्नेह है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य विभिन्न दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः मुमुक्षु को राग भाव का त्याग करना चाहिए। इसी भाव का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उम्मुञ्च पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी

---

*तुलादि—चतुर्दशभङ्गाद्यसंलोकाभावात्—दुःखं प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य जानीहि, तथाहि—यथा त्वं दुःखद्विड् एवमन्येऽपीति यथा च त्वं सुखाद्विडेवमन्येऽपि जन्तवः, एवं मत्वाऽन्येषामसातोत्पादनं न विधेयम्।

—आचारांग वृत्ति।

कामेसु गिद्धा निचयं करंति, ससिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं ।५।

छाया—उन्मुञ्च पाशमिह मर्त्यैः, आरम्भजीवी उभयानुदर्शी ।
कामेषु गृद्धाः निचयं कुर्वन्ति, ससिच्यमानाः पुनर्यान्ति गर्भम् ॥

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक मे । मच्चिएहिं—मनुष्यो से । पास—राग-स्नेह वन्धन को । उम्मुञ्च—तोड दे । और यह जानकि जो व्यक्ति । आरमजीवी—आरभ से आजीविका करने वाले हैं । उभयाणुपस्सी—शारीरिक एव मानसिक उभय सुखो के द्रष्टा—अभिलाषी । कामेसु गिद्धा—काम-भोग मे मूर्छित हैं, वे । निचय करंति—कर्मों का उपचय करते हैं । पुण—और फिर । ससिच्चमाणा—काम—भोग रूप जल से भव भ्रमण रूप कर्म वृक्ष का सिञ्चन करते हुए । गब्भ—गर्भ को । एति—प्राप्त होते हैं ।

मूलार्थ--हे आर्य ! इस मनुष्य लोक मे मनुष्यो के साथ तेरा जो राग भाव है, स्नेह वन्धन है, उसे तू छोड दे । और यह जान ले कि जो व्यक्ति आरम्भ से आजीविका करने वाले, शारीरिक एव मानसिक सुखाभिलषी और काम भोगो मे आसक्त हैं वे पाप कर्मो का उपचय करते है और भव भ्रमण रूप कर्म वृक्ष का सिचन करते हुए बार बार गर्भ मे आते है अर्थात् जन्म मरण के प्रवाह में बहते रहते हैं ।

हिन्दी विवेचन

आगम मे राग-द्वेष को कर्म का मूल वीज वताया है । प्रस्तुत सूत्र में राग-स्नेह वन्धन के त्याग का उपदेश दिया गया है । क्योंकि जिस व्यक्ति के प्रति अनुराग होता है, मोह होता है तो उसके लिए मनुष्य अच्छे बुरे किसी भी कार्य को करने मे सकोच नहीं करता । इसके लिए वह आरम्भ समारम्भ एव विषय वासना मे सदा आसक्त रहता है और इससे पाप कर्म का सचय एवं प्रगाढ़ वन्ध करता है तथा परिणाम स्वरूप बार-बार गर्भ में जन्म ग्रहण करता है ।

अत हे आर्य ! तू कर्म एव जन्म-मरण के मूलकारण राग भाव या स्नेह वन्धन को तोडने का प्रयत्न कर । और सावधान होकर सयम मार्ग पर गति कर ।

जो व्यक्ति विना सोचे-विचारे, अविवेक पूर्वक काम करते हैं, उनके संसर्ग से क्या होता है ? इस वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि से हासमासज्ज, हंता नंदीति मन्नइ।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढेइ अप्पणो ॥६॥

छाया—अपि स हासमासाद्य हत्वा नन्दीति मन्यते।
अलं बालस्य संगेन वैरं वर्द्धयति आत्मनः ॥

पदार्थ—अवि—संभावना अर्थ में है। हास आसज्ज—हास्य को स्वीकार करके। से—वह, विषयासक्त पुरुष। हंता—जीवों को मारकर। नंदीति—आनन्द। मन्नइ-मनाता है। अलं—पर्याप्त है, बस। बालस्स—बाल-अज्ञानी के। संगेण—संसर्ग से। अप्पणो—अपनी आत्मा के साथ। वेरं—वैर भाव को। वड्ढेइ—बढ़ा रहा है।

मूलार्थ—वह विषयासक्त व्यक्ति हास्य को ग्रहण करके हंसी-विनोद के लिए जीवों को मार कर प्रसन्न होता है। ऐसे अज्ञानी पुरुष के संसर्ग से आत्मा वैर भाव को बढ़ाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि हास्य एवं अज्ञान से आत्मा में वैर भाव बढ़ता है। क्योंकि हास्य एवं अज्ञान के वश मनुष्य हिंसा आदि पाप कार्य में प्रवृत्त होता है और उसमें आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता है। परन्तु मरने वाला प्राणी उस दुःख से बचने के लिए पूरा प्रयत्न करता है, अपनी सारी शक्ति लगा देता है। कारण यह है कि सभी प्राणी जीने के इच्छुक हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए हम देखते हैं कि वध गृह, बलिदान के स्थान पर या किसी अन्य स्थान में मारने के लिए लाए हुए बकरे आदि पशुओं को जब मारा जाता है, तो वे उसके कठोर बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। और उनकी इस चेष्टा को रोकने के लिए घातक के मन में क्रूरता और अधिक उग्र रूप धारण करती है और प्रतिक्षण द्वेष-भाव बढ़ता है। उधर मरने वाले प्राणी के मन में भी बदले की भावना उद्बुद्ध होती है—भले ही वह दुर्बल होने के कारण अपनी चेष्टा में सफल न हो, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन से नहीं निकलती। इस प्रकार दोनों व्यक्ति वैर भाव का अनुबन्ध कर लेते हैं। इससे यह कहा गया कि ऐसा अज्ञानी व्यक्ति एवं उसका संसर्ग करने वाला व्यक्ति भी वैर भाव को बढ़ाता है।

कुछ लोग केवल विनोद एवं शौर्य प्रदर्शन के लिए शिकार करके प्रसन्न होते

हैं। कुछ लोग वेद विहित यज्ञों मे एवं देवी-देवताओं को तुष्ट करने के लिए पशुओं का वलिदान करके आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार स्वर्ग एव पुत्र-धन आदि की प्राप्ति तथा शत्रुओं के नाश के लिए या धर्म के नाम पर मूक एव असहाय प्राणी की हिंसा करना, धर्म को पवित्र मानी जाने वाली वेदी को निरपराधी प्राणियों के खून से रंग कर आनन्द मनाना भी पतन की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट वाल-भाव—अज्ञान है। इससे आत्मा पतन के महागर्त मे गिरता है।

इन सव पाप कार्यों का मूल कारण विषय-कषाय है। अत मुमुक्षु पुरुष को विषय-कषाय का परित्याग करके पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा आयकदंसी न करेइ पावं-अग्गंच मूलच विगिंच धीरे पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी ॥४॥

छाया—तस्मदतिविद्वान् परममितिज्ञात्वा, आतंकदर्शी न करोति पापम्।
अग्रञ्च मूल च त्यज धीर! परिच्छिद्य निष्कर्मदर्शी ॥

पदार्थ—तम्हातिविज्जो—इसलिए प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी पुरुष। परमति—मोक्ष को सर्व श्रेष्ठ। णच्चा—जानकर वह। आयकदसी—आतकदर्शी-नरकादि दु.खो के कारण एव परिणाम का द्रष्टा। पाव न करेइ—पाप कर्म को नही करता।

धीरे—हे धैर्यवान! तू। अग्ग—भवोपग्राही वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन कम चतुष्टय और। मूल—आत्मा के मूल गुण के घातक-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म चतुष्टयको। च—समुच्चयायक। विगिंच—दूर कर। ण—वाक्यालकार मे। पलिच्छिदिया—तप सयम के द्वारा कर्म वृक्ष के मूल एव शाखा-प्रशाखा का छेदन करके। निक्कमदसी—निष्कर्मदर्शी—कर्म रहित हो कर जगत का द्रष्टा वन जाता है अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाता है।

मूलार्थ—इसलिए आतकदर्शी नरकादि दु खो के कारण एव उसके परिणाम का यथार्थ द्रष्टा प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता। हे आर्य! तू आत्मा के मूल को प्रच्छन्न करने वाले घातिकर्म चतुष्टय और संसार मे रोक के रखने वाले अघातिकर्म चतुष्टय को दुर कर, धैर्यवान पुरुष तप साधना के द्वारा कर्म वृक्ष की शाखा-प्रशाका एव मूल का

उन्मूलन करके आत्मा एवं लोक के स्वरूप का द्रष्टा निष्कर्म अर्थात् कर्म आवरण से रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। प्रबुद्ध पुरुष वह है, जो लोक के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जो इस बात को भली-भांति जानता है कि यह जीव आरम्भ-समारम्भ आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त होकर कर्म का संग्रह करता है और उसके परिणाम स्वरूप नरकादि लोक में विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसके साथ वह यह भी जान लेता है कि जीव आरम्भ आदि दोष जन्य प्रवृत्ति से निवृत्त हो कर निष्कर्म बन जाता है और वही मार्ग—जिस पर चलकर जीव निष्कर्म बनता है मोक्ष मार्ग कहलाता है । अतः लोक एवं मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला साधक ही प्रबुद्ध पुरुष कहलाता है। और वह यथार्थ द्रष्टा पाप कार्य के दुःखद परिणामों को जानता है, इसलिए वह पाप कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता है।

जब मनुष्य पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाता है तो वह दुःख एवं भव परिभ्रमण के मूल एवं उत्तर कारणों का समूल नाश कर देता है। तथागत बुद्ध ने भी दुःख नाश करने का उपदेश दिया है। परन्तु बुद्ध एवं महावीर के उपदेश में पर्याप्त अन्तर है। बुद्ध की दृष्टि केवल भौतिक दुःखों तक ही सीमित रही है। वे एक डाक्टर की भांति नशे का इन्जेक्शन देकर बाहरी वेदना को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वे दुःख की मूल जड़ को नहीं पकड़ते और न उसके नाश का ही प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु भगवान महावीर केवल भौतिक दुःख के नाश में ही नहीं उलझे रहे। उन्होंने दुःख के मूलकारण को खोजा और एक निपुण चिकित्सक की तरह रोग को जड़ से उखाड़ फैंकने का प्रयत्न किया।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अग्गं च मूलं च' पाठ इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि भगवान महावीर या जैन दर्शन का मूल स्वर संसार वृक्ष के पत्तों को ही नहीं, अपितु उसकी जड़ को उखाड़ने का रहा है। उन्होंने कर्म भाग को भी समाप्त करने की बात कही। उसका भी मार्ग बताया है परन्तु साधक का लक्ष्य केवल शाखा प्रशाखाओं का नाश तक ही नहीं, अपितु उस विषाक्त वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने का है। जैन दर्शन ऊपर ऊपर से ही कांट-छांट करने का पक्षपाती नहीं है वह जड़ मूल से नाश करने का उपदेश देता है।

मूल कर्म चार हैं—ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय कर्म

क्योंकि ये आत्मा के मूल गुणों को प्रच्छन्न करने वाले हैं। उसके अनन्त ज्ञान दर्शन, अव्यवाध सुख और वीर्य—शक्ति को ढकने वाले हैं। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के मूल गुणों को प्रभावित नहीं करते हैं। उनका प्रभाव इतना ही रहता है कि वे आत्मा को ससार में रोके रखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा के मूल गुणों के घातक पहिले चार कर्म हैं, इसलिए उन्हें घातिकर्म कहते हैं। उनके नाश का अर्थ है— ससार का नाश। यह सत्य है कि वृक्ष को जड से उखाड़ते ही शाखा-प्रशाखा एव पत्ते आदि नष्ट नहीं हो जाते। परन्तु साथ मे यह भी तो है कि मूल का नाश होने के बाद शाखा आदि का अस्तित्व थोडे समय का ही रह जाता है। क्योंकि उन्हें पोषण मूल से ही मिलता है और उसके नाश होते ही उन्हें पोषण मिलना बन्द हो जाता है और परिणाम स्वरूप वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही स्थिति संसार की है। मूल कर्मों के क्षय होते ही शेष कर्म आयुष्य कर्म की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यह जीव पूर्णत. निष्कर्म—कर्म आवरण से रहित बन जाता है।

निष्कर्म जीव किस गुण को प्राप्त करता है इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस मरणापमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी; लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए कालकंखी परिव्वए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ॥११२॥

छाया—एष मरणात् प्रमुच्यते स खलु दृष्टभयो मुनिर्लोके परमदर्शी विविक्तजीवी उपशान्तः समितः सहितः सदायतः कालाकांक्षी परिव्रजेत् बहु च खलु पापकर्म प्रकृतम्।

पदार्थ—एस—वह निष्कर्मदर्शी। मरणा—मृत्यु से। पमुच्चइ—मुक्त हो जाता है, और। से हु—निश्चय ही वह। मुणी—मुनि। बहु—बहुत। च—समुच्चयार्थ मे। खलु। निश्चयार्थक है। पावकम्म—पाप कर्म। पगड—जो पूर्व मे बधा हुआ है या प्रकट है, उसे दूर करने के लिए वह। दिट्ठभए—भयो का द्रष्टा। लोगंसि—लोक मे। परमदंसी—मोक्ष या सयम मार्ग का द्रष्टा। विवित जीवी—स्त्री, पशु और नपुसक रहित निर्दोष उपाश्रय मे रहने वाला या राग द्वेष रहित। उवसते—उपशान्त रूप। समिए—पाच समिति से युक्त।

सहिए — ज्ञानवान् । सया — सदा । जए — यत्नशील । कालकंखी — पंडित मरण का आकांक्षी । परिव्वए — संयम मार्ग पर चले ।

मूलार्थ—निष्कर्मदर्शी जन्म-मरण से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है अतः निष्कर्म दर्शी बनने का अभिलाषी मुनि पूर्व में बान्धे हुए पाप कर्म को क्षय करने के लिए वह सात भयों का द्रष्टा लोक में मोक्ष या संयम मार्ग का परिज्ञाता, शुद्ध एवं निर्दोष स्थान-उपाश्रय में ठहरने वाला उपशांत भाव में रमण करने वाला, पांच समिति से युक्त एवं सदा यत्नशील होकर पण्डितमरण की आकांक्षा रखते हुए संयम साधना में संलग्न रहे ।

हिन्दी विवेचन

जन्म-मरण कर्मजन्य है । आयु कर्म के उदय से जन्म होता है और क्षय होने पर मृत्यु आ घेरती है । फिर आयु कर्म उदय होने पर अभिनव योनि में जन्म होता है और उसका क्षय होते ही वह उस योनि के भौतिक शरीर को वहीं छोड़ कर चल देता है । इस प्रकार वह बार-बार जन्म मरण के प्रवाह में बहता है और बार-बार गर्भाशय एवं विभिन्न योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करता है । अतः जब तक कर्म बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक आत्मा जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता । अतः मृत्यु पर विजय पाने के लिए जन्म के कारण कर्म का क्षय करना जरूरी है । जब जीव निष्कर्म हो जाता है; तब फिर वह मृत्यु के दुःख से मुक्त हो जाता है । कारण कि निष्कर्म आत्मा का जन्म नहीं होता और जब जन्म नहीं होता—तो फिर मृत्यु का तो प्रश्न ही नहीं उठता । मृत्यु जन्म के साथ लगी हुई है । हम यों भी कह सकते हैं कि जन्म का दूसरा रूप मृत्यु है । मनुष्य जिस क्षण जन्म लेता है, उसके दूसरे क्षण ही वह मृत्युकी ओर पांव बढ़ाने लगता है । इसलिए निष्कर्म बनने का अर्थ है—जन्म और मरण की परम्परा को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देना ।

इसलिए साधक को सब से पहिले निष्कर्मदर्शी बनना चाहिए । उसकी दृष्टि भावना एवं विचार-चिन्तन निष्कर्म बनने की ओर ही होनी चाहिए । जब मन में निष्कर्म बनने की भावना प्रबुद्ध होगी, तब ही वह उस ओर पांव बढ़ा सकेगा और उस मार्ग में आने वाले प्रतिकूल एवं अनुकूल साधनों को भली-भांति जान सकेगा । इसी दृष्टि को सामने रख कर कहा गया है—वह सत्य पथ एवं संयम मार्ग का द्रष्टा है । उसके स्वरूप एवं परिणाम को भली-भांति जानता है । इसलिए उसे 'परमचक्खू' —परमदर्शी

अर्थात् सर्व श्रेष्ठ मोक्ष मार्ग का द्रष्टा कहा है।

वह ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न साधक आचार से भी सम्पन्न होता है। वह एकांत शांत एवं निर्दोष स्थान मे ठहरता है और अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी राग-द्वेष नहीं रखता हुआ समभाव से संयम साधना में संलग्न रहता है। सदा उपशान्त भाव मे निमज्जित रहता है। और पाच समिति से युक्त होकर तप संयम के द्वारा पूर्व में बन्धे हुए पाप कर्मों का क्षय करने में सदा यत्नशील रहता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'परमदसी' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि साधक सम्यग्दर्शन और ज्ञान से सम्पन्न होता है। 'समिए' शब्द चारित्र का परिचायक है और 'विवित्त जीवी' और 'परिव्वए' शब्द तप एवं वीर्य आचार के ससूचक हैं। इस प्रकार इस सूत्र मे साधक का जीवन ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य पाचों आचार से युक्त बनाया गया है।

सांख्य दर्शन आत्मा को कर्म से आबद्ध नहीं मानता है। उसके विचार में आत्मा शुद्ध है, इसलिए बन्ध एव मोक्ष आत्मा का नहीं, प्रकृति का होता है। परन्तु वस्तुत ससारी आत्मा बन्धन रहित नहीं है। क्योंकि वह निष्कर्म नहीं, अपितु कर्मयुक्त है। 'बहु पाव कम्म पगड' इस पाठ से इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि वह बहुत पापकर्म से आबद्ध है।

अत: निष्कर्म व्यक्ति को पापकर्मों का सर्वथा क्षय कैसे करना चाहिए? इस का मार्ग बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सच्चंमि*धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ ॥११३॥

छाया—सत्ये धृतिं कुरुध्वं अत्रोपरतो मेधावी सर्वं पापं-कर्म झोषयति।

पदार्थ—सच्चंमि—संयम मे। धिइं—धृति। कुव्वहा—कर। एत्थोवरए—इस संयम में जो उपरत है वह। मेहावी—तत्त्वदर्शी। सव्वं—सर्व। पावं कम्मं—पाप कर्म को। झोसइ—क्षय-नष्ट कर देता है।

मूलार्थ—जो तत्त्वदर्शी पुरुष सयम मे संलग्न है, वह समस्त पाप-

* सच्चंसि—इति पाठान्तरम

कर्म को क्षय कर देता है। अतः हे आर्य! सत्य-संयम में धैर्य करो अर्थात् धैर्य के साथ सत्य संयम का परिपालन करो।

हिन्दी विवेचन

इस बात को हम देख चुके हैं कि हिंसा, असत्य असंयम आदि दोषों से पाप कर्म का बन्ध होता है। और संयम से पाप कर्म का प्रवाह रुकता है एवं उसके साथ सत्य एवं तप आदि सद्गुण होने से पूर्व बन्धे हुए पाप कर्म का क्षय भी होता है। इस प्रकार संयम की साधना—आराधना से जीव कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देता है। इससे स्पष्ट हुआ कि संयम साधना का फल निष्कर्म—कर्म रहित होना है।

'एत्थोवरए' पद का अर्थ है— भगवान के वचनों पर विश्वास करके संयम में जो रत है—संलग्न है। और 'सव्वं पावं कम्मं झोसइ' का तात्पर्य है—समस्त अवशिष्ट पाप कर्मों का क्षय करना है। अतः निष्कर्म बनने के लिए साधक को धैर्य के साथ सत्य संयम का परिपालन करना चाहिए।

जो संयम का परिपालन नहीं करते हैं। उन प्रमादी जीवों की स्थिति का चित्रण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्- अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए, से अण्णवहाए, अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवयपरिग्गहाए ॥११४॥

छाया—अनेक चित्त खलु अयं पुरुषः स केतनमर्हति पूरयितुं सोऽन्य वधाय अन्यपरितापाय, अन्यपरिग्रहाय, जनपदवधाय, जनपदपरितापाय जनपदपरिग्रहाय —जनपदपरिवादाय।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में है। अयं अणेग चित्ते—यह अनेक चित्त वाला। पुरिसे—पुरुष। से केयणं—वह चालनी को भर करें। पूरित्तए—भरने की। अरिहए—इच्छा करता है। से—वह लोभ पूर्ति के लिए। अण्णवहाए—अन्य जीवों का वध करता है।

* 'केयणं' चालिनी संज्ञा भवति यद्वा केतनं—चालनीव गतो—चालनिर्मर्तो। अथवा केतनं अर्थ, संसारार्थमपारमपृमहेतुं लोभपतिपरिपूरिति अर्थ भवतीति यावत्।

—आचाराङ्ग वृत्ति।

अण्णपरियावाए—अन्य प्राणियो को परिताप देता है । अण्णपरिग्गहाए—अन्य द्विपद-चतुष्प आदि प्राणियो को अपने अधीन करता है । जणवयवहाए—जनपद का सहार करने के लि प्रवृत्त होता है । जणवयपरिग्गहाए—जनपद को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है ।

मूलार्थ — अनेक चित्त वाला पुरुष अपनी अतृप्त तृष्णा को पूरी कर की आकाक्षा रखता है और इसके लिए वह अन्य जीवो एव जनपद क वध करने, उन्हें परिताप देने एव उन्हें अपने अधीन बनाने के लि प्रवृत्त होता है ।

हिन्दी विवेचन

कषाय आत्म गुणों के नाशक हैं । क्रोध प्रेम का, मान विनय का अ माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का विनाश करता है । क्रोधा एक-एक आत्म गुण के नाशक हैं, परन्तु लोभ इतना भयंकर शत्रु है कि वह गु मात्र को नष्ट कर देता है। लोभ के नशे मे मनुष्य इतना बेईमान हो जाता है कि व अच्छे-बुरे कार्य का भेद ही नहीं कर पाता। वह न करने योग्य कार्य भी क. बैठ है। लोभी मनुष्य अपनी अनन्त तृष्णा के गढे को भरने के लिए रात-दिन दुष्प्रवृत्ति मे लगा रहता है।

स्वाद एव धन के लोभ से मनुष्य अनेक पशु-पक्षी एवं मनुष्यों तक हिंसा करते हुए संकोच नहीं करता। आज देश में बढ़ती हुई हिंसा मनुष्यों लोभ का ही परिणाम है । जिह्वा के स्वाद के लिए भी हिंसा होती है, परन्तु इस अतिरिक्त करोड़ों रुपए का पशुओं का चमड़ा, आतें, जिगर, सींग एव चर्बी विदेश में भेजने के लिए भी प्रतिदिन हजारों पशुओं को मारा जाता है। इसके अतिरिक्त डाकू-लुटेरे राह चलते मनुष्यों को या गावों में मनुष्यों को मार कर धन-माल लूट ले हैं। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाकर उनके धन-वैभव से अप राष्ट्र को सम्पन्न बनाने के लिए उन पर आक्रमण करके लाखों मनुष्यों को मा डालते हैं । आज के अणु युग में ऐटमबम की शक्ति से पूरे जनपद (राष्ट्र) को देखत ही देखते राख का ढेर बनाया जा सकता है। नागासाकी और हिरोशिमा का उदाहरण हमारे सामने है। इन सब दुष्कर्मों का मूल कारण तृष्णा है। लोभ-लालच के वश ही मनुष्य पशु-पक्षी एवं व्यक्तियों का सहार करने के लिए प्रवृत्त होता है।

'जणवय परिग्गहाय'—जनपद परिवादाय का अर्थ है—लोगों को चोर-जा

आदि बताकर उनकी निन्दा करता है। जब कि सूत्र में क्रियापद का उल्लेख नहीं किया है फिर भी यहां क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए।

लोभ आत्मा के आध्यात्मिक विकास में प्रतिबन्धक चट्टान है। इसलिए मुमुक्षु को लोभ के स्वरूप एवं उसके परिणाम को जानकर उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसेवित्ता एतं (एवं) अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ॥११५॥

छाया—आसेव्य एतम् (एवं) अर्थमित्येवैके समुत्थिताः तस्मात् तं द्वितीयं नो सेवेत निस्सारं दृष्ट्वा ज्ञानी उपपातं च्यवनं ज्ञात्वा अनन्यं चर, माहन! (मुने) स न क्षणुयात् नाप्यपरं घातयेत् घातयन्तं न समनुजानीयात् निर्विन्दस्व नन्दिं अरक्तः प्रजासु (स्त्रीषु) अनवमदर्शी निषण्णः पापकर्मभ्यः—पापैः कर्मभिः—पापकर्मसु।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। इच्चेवेगे—सोमदत्त भरत चक्रवर्ती आदि राजाओं ने अट्ठं—धन-ऐश्वर्य आदि भोगों को। आसेवित्ता—आसेवन-भोगकर भी। समुट्ठिया—संयम साधना में संलग्न हो गए। तम्हा—इसलिए। तं—उन त्यागे हुए भोगों को। बिइयं—दूसरी बार। नोसेवे—सेवन नहीं करे अर्थात् हिंसा झूठ आदि पापकर्म में प्रवृत्ति न करे। निस्सारं—विषयों की निस्सारता को। पासिय—देखकर। नाणी—ज्ञानी पुरुष है। उववायं—चवणं—देव लव को जन्म-आयु के प्रवाह में प्रवहमान। णच्चा—जानकर, विषय भोगों का सेवन न करे। अणण्णं—ज्ञानादि। चर—ग्रहण करे। माहणे—हे माहन-मुनि है, पद्य। न छणे—न स्वयं हिंसा करे। न छणावए—न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करवाए। छणंतं—हिंसा करते हुए

* उववायं—लोकानां परिस्थानं-स्वरूपं विज्ञानी वैस्येवं सर्वोद्यमात्मना।
—आचारांग वृत्ति

व्यक्ति को। णाणुसमणुजाणइ—अच्छा नही समभता है। अब चौथे व्रत के विषय मे कहते हैं—निव्विंदनन्दि—विषय भोगो से उत्पन्न हुए आनन्द को घृणित समझकर। पयासु—स्त्रियो मे। अरए—अनासक्त–राग रहित रहे। अणोमदसी— सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त, वह मुनि। पावेहि कम्मेहि—पाप कर्मो से। निस्सण्णे—निवृत्त हो जाता है।

मूलार्थ – लोभ के वश प्राप्त किए गए धन-वैभव एवं विषय-भोगो का आसेवन करके भी कई एक महापुरुष फिर से सावधान हो जाते है। दूसरी वार वे उन त्याज्य भोगो को भोगने की इच्छा नही करते। भोगो को निस्सार एव देव भव को भी जन्म और मृत्यु रूप जानकर वे विषय-वासना मे आसक्त नही होते। अत हे मुनि! तू भोगो का त्याग, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वीकार कर अथवा सयम पथ पर चल।

सयमशील मुनि स्वयं हिसा नही करता, न अन्य से हिसा करवाता है और न हिसा करने वाले को भी अच्छा समझता है। इसी प्रकार रत्न त्रय से युक्त मुनि विषय-भोगो से उत्पन्न आनन्द को घृणित समझकर स्त्रियो मे आसक्त नही बनता। वह संयम को आराधना करके पाप कर्म से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

मनुष्य चलते-चलते गिरता भी है और उठता भी है। ऐसा नहीं है कि जो गिर गया वह गिरने के बाद कभी उठता ही नहीं है। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवन की है। हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्त आत्मा पतन के गर्त मे गिरती जाती है। परन्तु अपने आप को सभालने के बाद वह पतन के गर्त से वाहिर निकल कर विकास के पथ की ओर बढ़ सकती है, अपना उत्थान कर सकती है। वह भी सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है। बस, आवश्यकता इस बात की है कि वह दोषों को दोष समझकर उनका परित्याग कर दे, अपने मन, वचन एव शरीर को पाप चिन्तन; पाप कथन एव पाप आचरण से हटा ले। इस प्रकार विचार एवं आचार में परिवर्तन होते ही जीवन वदल जाता है, मनुष्य पापी से धर्मात्मा बन जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि मनुष्य को पापी से नहीं पापों से घृणा करनी चाहिए और पापों का ही तिरस्कार करना चाहिए। क्योंकि आज जो पापी है, आने वाले कल को धर्मात्मा भी बन सकता है। इसलिए बुरे एवं अच्छे का आधार व्यक्ति नहीं, आचरण है।

प्रस्तुत सूत्र में भी यह बताया गया है कि कई लोभ वश पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं, दोषों का आसेवन करते हैं; परन्तु उसी जीवन में जागृत होकर उनका परित्याग करते हैं और फिर उन परित्यक्त भोगों एवं दोषों की ओर घूमकर देखते भी नहीं। क्योंकि वे उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुके हैं। उन्होंने यह जान लिया है कि ये भोग-विलास दुःख के कारण हैं और अस्थायी हैं। यहां तक कि देवों के भोग विलास भी स्थायी नहीं हैं। वे भी मृत्यु की चपेट में आकर अपनी स्थिति से गिर जाते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैषयिक सुख स्थिर नहीं है। ऐश्वर्य एवं भोगों की दृष्टि से देव मनुष्य से अधिक संपन्न हैं। सामान्य देवों की भौतिक सम्पत्ति के समक्ष कोई नरपति का वैभव भी तुच्छ सा प्रतीत होता है। ऐसे महाऋद्धि वाले एवं ऐश्वर्य सम्पन्न देवों के सुख भी सदा नहीं रहते; कर्म उन्हें भी आ घेरते हैं, तो मनुष्य के लिए अभिमान करने जैसी बात ही क्या है? इस प्रकार भोगों की असारता अस्थिरता एवं पूर्ति न होना तथा उनके दुःखद परिणाम को जानकर मुमुक्षु पुरुष विषय-भोगों में आसक्त नहीं होते और वासना के साधन स्त्री-पुरुष संयोग से सदा दूर रहते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-कोहाइमाणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं।
तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ।७।
गंथं परिण्णाय इहऽज्ज ! धीरे,सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते।
उम्मज्ज लद्धुमिह माणवेहिं, नो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि
त्तिबेमि ॥८॥

छाया—क्रोधादि मानं हत्वा च वीरः, लोभस्य पश्य। नरकं महान्तम्।
तस्माच्च वीरः विरतो वधात् छिन्द्यात् शोकं लघुभूतगामी॥
ग्रन्थं परिज्ञाय इहाद्यैव धीरः स्रोतः परिज्ञाय चरेत् दान्तः।
उन्मज्जं लब्ध्वा इह मानवैः नो प्राणिनां प्राणान् समारभेथा ॥ इति ब्रवीमि

पदार्थ—कोहाइ—क्रोधादि। य—तथा। माण—मान को। वीरे—वीर पुरुष। हणिया—हनन करे-क्रोध, मान, माया को नष्ट करे और। लोभस्स—हे शिष्य! तू लोभ को लोभ के विपाक को। पासे—देख जो। महंत—महान्। नरयं—नरक का कारण है। तम्हा—इसलिए। य—समुच्चय अर्थ मे। वीरे—वीर पुरुष। वहाओ—वध हिंसा से। विरयो—निवृत्त हो जाए और। लहुभूयगामी—मोक्ष गमन की इच्छा करने वाला साधक। छिदिज्ज सोय—भाव स्रोत को छेदन करे अथ उपदश विषय मे कहते हैं। गथं—परिग्रह को। परिण्णाय—ज्ञ परिज्ञा से। जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर दिया है जिसने। धीरे—वह धीमान। इहज्ज—इस मनुष्य लोक मे। अज्ज—अति शीघ्रता से। सोय-ससारस्रोत विषय मूल को परिण्णाय—जानकर और। दते—दमनेन्द्रिय होकर इन्द्रियों का दमन कर। चरिज्ज—संयम का पालन कर। उम्मज्ज—तैरने का मार्ग। लद्धं—प्राप्त होने पर वह। इह—इस। माणवेहि—मनुष्य लोक मे। पाणिण—प्राणियों के। पाणे—प्राणो का। नो समारंभिज्जासि—समारम्भ न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वीर पुरुष क्रोध और मानादि का विनाश करे तथा महान नरक आदि के हेतु भूत लोभ को देखे, लोभ यह महान नरकादि दुखो का कारण है ऐसा अनुभव करे, इसलिए वीर पुरुष को वध से निवृत्त होना चाहिए, तथा मोक्ष गमन की इच्छा रखने वाला साधक प्रथम भाव स्रोत का छेदन करे तथा इस लोक मे दुख का मूल कारण धनादि पदार्थ ही है ऐसा जानकर उनका-धनादि का तत्काल परित्याग कर दे, एव भाव स्रोत को जानकर इन्द्रियों का दमन करता हुआ सयम को धारण करे, और इस लोक मे तरने का मार्ग प्राप्त करके प्राणियो की हिंसा न करे, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन

क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा को ससार मे परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। कषाय शब्द कष+आय से बना है। 'कष' का अर्थ है—ससार और आय का अर्थ है—लाभ। जिस क्रिया से ससार की अभिवृद्धि हो उसे कषाय कहते है और यह उपरोक्त चार प्रकार की है, इसलिए जन-साधारण की भाषा मे इसे चाडाल-चौकडी भी कहते हैं, यह कषाय मोह कर्म के उदय का परिणाम है और सब कर्मों मे मोह कर्म को प्रधान माना गया है। अत साधक

को सबसे पहिले कषायों का नाश करना चाहिए। क्योंकि यह नरक एवं महादुःखों का कारण है। इसलिए साधक को कर्म आगमन के भाव स्रोत का नष्ट कर देना चाहिए

प्रस्तुत सूत्र में लोभ को स्पष्ट रूप से नरक का कारण बताया है। क्योंकि लोभ समस्त गुणों का विनाशक है और छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम चरण तक उसका अस्तित्व रहता है। उसका क्षय करने पर ही आत्मा समुन्नत होता है और सर्व घातिकर्मों को क्षय कर शेष कर्मों का आत्यान्तिक क्षय करने की ओर बढ़ता है और आयुकर्म के क्षय के साथ समस्त कर्मों का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

इस लिए हे आर्य ! द्रव्य एवं भाव ग्रंथि—गांठ को जानकर और शोक एवं दुःख के कारण का परिज्ञान करके संयम मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए, परिग्रह एवं वासना में गम्यमान इन्द्रियों एवं मन का दमन करना चाहिए उसे उस मार्ग से हटाकर साधना में संलग्न करना चाहिए। इस प्रकार संसार के स्वरूप का भली—भांति अवलोकन कर के उससे पार होने का प्रयत्न करना चाहिए।

संसार से पार होने का साधन मनुष्य जन्म में ही मिल सकता है। इस मानव शरीर के द्वारा ही आत्मा सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अतः ऐसे श्रेष्ठ साधन को—मानव जीवन को प्राप्त करके साधक को फिर से संसार बढ़ाने के साधन—हिंसा आदि में प्रवृत्त न होकर, आरम्भ—समारम्भ एवं दोष जन्य प्रवृत्ति का त्याग करके संयम साधना में प्रवृत्त होना चाहिए ।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे कष्ट सहिष्णुता का उपदेश दिया गया है। साधु को कठिन परीषह उत्पन्न होने पर भी घवराना नहीं चाहिए और कष्ट से विचलित होकर न प्राणियों की हिंसा एव अन्य पाप कार्य भी नहीं करने चाहिएं। अहिंसा की इस विराट् भावना को जीवन में साकार रूप देने के लिए आत्मदृष्टि को विशाल वनाने की आवश्यकता है। अपने अन्दर समस्त प्राणियों के हित एवं सुख का साक्षात्कार करना जरूरी है। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है और यह समझता है कि प्रत्येक प्राणी जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं, व्याघात एव दु खों से वचना चाहते हैं, वही व्यक्ति हिंसा आदि दोषों से मुक्त-विमुक्त हो सकता है।

अत हिसा आदि दोषों से वचने के लिए आत्मद्रष्टा बनना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही हमारे दु ख-सुख का, मुक्ति-वन्धन का आधार है। वस्तुत देखा जाए तो आत्मा ही हमारा मित्र है और शत्रु भी वही हो जाता है। अत जीवन विकास के लिए सहयोगी मित्रों को वाहिर ढूंडने की आवश्यकता नहीं है। वह मैत्री का अनन्त सागर अपने अन्दर ही लहर-लहर कर लहरा रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए आवश्यकता इस वात की है कि हम अन्तर्द्रष्टा वनें। यही वात प्रस्तुत उद्देशक में वताई गई है। इसका प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं. किं तत्थ मुणी कारणं सिया ? ॥११६॥

छाया—सधिं लोकस्य ज्ञात्वा आत्मनः बहिः पश्य। तस्मान्न हन्ता न व्यापादकः (न विघातयेत्) यदिदं अन्योन्यस्य विचिकित्सया प्रत्यपेक्ष्य न करोति पापं कर्म, किं तत्र मुनिः कारणं स्यात् ?

पदार्थ—संधि — अवसर-धर्म साधना का अवसर। जाणित्ता — जानकर। लोगस्स — लोक के जीवों को कष्ट नहीं देना चाहिए उन्हें अपनी आत्मा के समान समझना चाहिए। एवं — ऐसा देख जैसे। आयओ — अपनी आत्मा को सुख प्रिय है, वैसे ही। बहिया — अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय है। तम्हा — इसलिए। न हंता — किसी जीव का हनन नहीं करना चाहिए। न विघायए — न उनकी विशेष रूप से घात-विघात करनी चाहिए। जमिणं — जो यह। अन्नमन्न वितिगिच्छाए — परस्पर भय या लज्जा के कारण। पडिलेहाए — प्रतिलेखन करके। पाव कम्मं — पाप कर्म। न करेइ — नहीं करता है, तो। किं — क्या। तत्थ — उस पाप कर्म के नहीं करने में। मुणी—मुनि। कारणं सिया—कारण है-मुनित्व है।

मूलार्थ—हे आर्य! लोक में धर्म करने के अवसर को जानकर तू प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देख। और यह समझ कि मेरी ही तरह प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। इसलिए किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न उनकी विशेष रूप से घात ही करनी चाहिए। जो व्यक्ति परस्पर भय एवं लज्जा को प्रतिलेखन विशेष रूप से देख कर पाप कर्म नहीं करता है तो क्या यह भी मुनित्व का कारण है?

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मुनि संधि का परिज्ञाता हो। संधि शब्द का सामान्य रूप से जोड़ना अर्थ होता है। संधि भी दो प्रकार की मानी गई है—१-द्रव्य सन्धि और २-भाव सन्धि।

दीवार आदि में छिद्र का होना द्रव्य सन्धि कहलाता है। और कर्म विवर को भाव सन्धि कहते हैं। भाव सन्धि भी तीन प्रकार की है— १ सम्यग्दर्शन, २-सम्यग् ज्ञान और ३-सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।

१—उदय में आए हुए दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम और शेष का उपशमन करके सम्यक्त्व को प्राप्त करना भी भाव सन्धि है। इससे मिथ्यात्व का छिद्र रुक जाता है।

२—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे आत्मदृष्टि का धुंधलापन दूर होता है। आत्मा बाह्यद्रष्टा ही न रहकर आत्म द्रष्टा बन जाता है। अज्ञान के छिद्र नहीं रह पाते हैं।

३— चारित्रमोहनीय कर्म का देशत या सर्वत क्षयोपशम करने से आत्मा को देश एव सर्व चारित्र—श्रावकत्व एव साधुत्व की प्राप्ति होती है इससे अनन्त के द्वार बन्द हो जाते हैं।

'सन्धि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'सन्धनम् सन्धि —स च भाव सन्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्मादयात् त्रुटयत पुन सन्ध म्—मीलनम्' अर्थात् खण्डित होने हुए ज्ञान, दर्शन चारित्र का पुन सयोजन करना भाव सन्धि है।

सन्धि का अर्थ अवसर भी किया जाता है। सध्या एव उषा काल को—दिन की समाप्ति एव रात के प्रारम्भ तथा रात की समाप्ति एवं दिन के उदय का सयोग काल होने से सन्धि काल कहलाते हैं। इसी प्रकार धर्म या सद्ज्ञान, अधर्म या अज्ञान रूप निशा का अवसान और आत्म विकास का उदय काल होने से उसे भाव सन्धि कहा है। इस दृष्टि से धर्म अनुष्ठान के अवसर को जानना भी सन्धि का परिज्ञान करना कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे सन्धि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। क्योंकि ज्ञानावरण दर्शनावरण एव दर्शन और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होने पर ही आत्मा म धर्म की भावना उद्बुद्ध होती है और मनष्य अपने अन्दर झाकने लगता है—आत्म द्रष्टा बनता है। यहीं से जीवन का अभ्युदय आरम्भ होता है। वह अपनी आत्मा के समान ही दूसरे प्राणियों की आत्मा को देखने लगता है और उसे यह अनुभूति होती है कि मेरे समान प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है एव दुख अप्रिय है।

जब व्यक्ति आत्मद्रष्टा होता है तो वह स्वत हिंसा आदि दोषो से निवृत्त हो जाता है। उसे हिंसा आदि दोषों से बचने के लिए व्यवहार, भय और लज्जा की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु जिस व्यक्ति की अन्तर दृष्टि कुछ धूमिल है, वह एक दूसरे के भय एव लज्जा से हिंसा आदि पाप कर्म का सेवन नहीं करता है। तो वहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उसमे मुनित्व है? इसका समाधान सूत्रकार की भाषा मे दिया गया है।

मुनित्व का सम्बन्ध भावना से है। आगम मे बताया गया है कि जो व्यक्ति वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनो का उपभोग करने मे स्वतन्त्र न होने के कारण भोग नहीं करता है, परन्तु उसके मन मे भोगेच्छा अवशेष है, तो वह त्यागी नहीं है, उसे मुनि नहीं कह सकते ❀।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनित्व भाव पूर्वक किए गए त्याग में है। केवल लोक

❀दशवैकालिक सूत्र, सूत्र-२-२।

लज्जा या लोकभय की दृष्टि से किसी पाप में प्रवृत्त नहीं होना ही मुनित्व नहीं है।

निश्चय-नय की अपेक्षा से मुनित्व आत्मा में राग-द्वेष के त्याग एवं सब प्राणियों के प्रति समानता के भाव में है। परन्तु यह अन्तर दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता। इसका साक्षात्कार सर्वज्ञ या स्वयं आत्मा ही कर सकता है। साधारणतः मनुष्य व्यवहार को ही देख सकता है। इस दृष्टि से निश्चय के साथ व्यवहार का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। और इसी कारण किसी भी वेष-भूषा एवं अवस्था में सर्वज्ञ होने के बाद भी वे महापुरुष स्वलिंग को धारण करते हैं। भरत चक्रवर्ती को गृहस्थ के वेश में आरिसा भवन—कांच के महल में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसके बाद उन्होंने गृहस्थ लिंग का परित्याग करके मुनि वेश को स्वीकार किया। यह कार्य केवल व्यवहार का पालन मात्र है। इससे व्यवहार शुद्धि बनी रहती है। क्योंकि व्यवहार भी भाव या निश्चय शुद्धि का साधन है।

इस अपेक्षा से पारस्परिक व्यवहार शुद्धि के लिए दोषों से बचना एकांत रूप से अमुनित्व का परिचायक नहीं है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार के साथ निश्चय और निश्चय के साथ व्यवहार का सम्बन्ध जुड़ा रहे। लोक मर्यादा के साथ आत्म साधना धूमिल न पड़ने पाए। वस्तु आत्म के उज्ज्वल समुज्ज्वल प्रकाश में व्यवहारिकता का परिपालन करना मुनित्व है। जहां आत्म ज्योति दीप्त नहीं है वहां केवल दिखाने मात्र के लिए व्यवहारिकता को निभाने में मुनित्व का अभाव है वहां शून्य ही रह जाता है।

मुनित्व भाव की साधना को सफल बनाने के लिए साधक को किस भाव की साधना करनी चाहिए इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समय तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए—
अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि।
आयगुत्ते सयावीरे, जायामायाइ जावए ॥१०॥

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा, महया खुड्डएहिं य, आगइं गइं परिण्णाय दोहिं वि अन्तेहिं अदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कचणं सव्वलोए ॥११७॥

छाया—समतां तत्रोत्प्रेक्ष्य आत्मान विप्रसादयेद्यत्। अनन्य परमज्ञानी नो प्रमादयेत् कदाचिदपि आत्म गुप्त सदा वीर यात्रामात्रया यापयेत्, विराग रूपेषु गच्छेत्, महता चल्लकेषु च आगति गतिं परिज्ञाय द्वाम्यामप्यन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यां स न छिद्यते न भिद्यते न दह्यते न हन्यते केनचित् सर्व लोके।

पदार्थ- समयं – समता को। तत्थुवेहाए – उस सयम मे पर्यालोचन करके-जो कुछ करता है वह सब मुनित्वका ही कारण है, अथवा। समय – आगम के। तत्थुवेहाए – अनुसार जो अनुष्ठान किया जाता है वह सब मुनित्व-मुनि भाव का ही कारण है, अत। अप्पाणं – आत्मा का ममता भाव से। विप्पसायए – प्रसन्न करे, तथा। नाणी – ज्ञानी पुरुष। अणन्नपरम – सयम मे। कयाइवि – कभी भी। नो पमाए – प्रमाद न करे। आयगुत्ते – वह आत्मगुप्त। सया – सदा। वीरे – कर्म विदारण में समर्थ। जायामायाइ – सयम यात्रा मात्रा से। जावए – काल यापन करे। (अव आत्म गुप्तता के कारणो का निर्देष करते हैं)। आगइ गइ – ससार में आवृति-आगमन और गति-गमन अर्थात् ससार परिभ्रमण को। परिण्णाय – जानकर। अतेंहि – राग-द्वेष। दोहि वि – दोनो को। अदिस्समाणेहि आत्मा से अदृश्य करता हुआ, अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ। रूवेंहि – प्रिय रूपो में विराग-वैराग्य भाव को। गच्छेज्जा – प्राप्त करे, और। महया – दिव्य भाव से अर्थात् प्राधान्यरूप से पुन। खुड्डएहि – मनुष्य के रूपो में-सब में वैराग्य भाव उत्पन्न करके, फिर। से – उसका। सव्वलोए – समस्त लोक में कचणं – किसी के द्वारा। न छिज्जइ – छेदन नही किया जाता। न भिज्जइ – भेदन नही किया जाता। न डज्झइ – दग्ध नही किया जाता। न हम्मइ – न हनन किया जाता है।

मूलार्थ—समता-समभाव मुनित्व का प्रधान कारण है। अतः सयम निष्ठ मुनि समता से आत्मा को प्रसन्न करे और सयम परिपालन मे कभी भी प्रमाद न करे। इस तरह आत्मा को वश मे रखने वाला वीर पुरुष सदा सयम से जीवन व्यतीत करे। और जीवो के आगमन एव गमन के स्वरूप को जान कर, रागद्वेष से आत्मा को पृथक् करता हुआ, मानवी और दैवो रूपो मे वैराग्य धारण करे, फिर वह इस लोक मे किसी तरह भी छेदन-भेदन को प्राप्त नही होता, किसी द्वारा जलाया नही जाता और न उसका किसी द्वारा अवहनन ही होता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जिस साधक के जीवन में समता

समभाव है, जो आगम के अनुरूप संयम साधना में संलग्न है और जो इन्द्रिय एवं नो-इन्द्रिय-मन का गोपन करके अपनी आत्मा में केन्द्रित होता है—आत्म द्रष्टा बनता है वही मुनि है। इससे स्पष्ट है कि मुनित्व की साधना केवल वेश में नहीं, अपितु भावों के साथ अन्तर्वृत्ति को बदलने में है। जब तक अन्तःकरण में विषय-वासना एवं राग-द्वेष की आग प्रज्ज्वलित है, तब तक बाहिर के त्याग एवं मात्र वेष धारण का विशेष मूल्य नहीं रह जाता है। क्योंकि मुनित्व वासना ममता एवं आसक्ति के त्याग में है प्रत्येक परिस्थिति में समभाव एवं सहिष्णुता को बनाए रखने में है।

संयम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इस की साधना में स्व और पर का हित रहा हुआ है। इसमें किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने कष्ट देने या मन को आघात पहुंचाने के भाव नहीं रहते। संयमी पुरुष के मन में सब प्राणियों के प्रति समता का भाव रहता है उसकी दृष्टि में विकार एवं वासना नहीं रहती वह मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। इसलिए वह मनुष्य-स्त्री एवं देवी के रूप सौंदर्य को देखकर वासना के प्रवाह में नहीं बहता है।

शब्दादि पांचों विषय मानव को भटकाने वाले हैं। परन्तु इनमें रूप की प्रधानता है। मानव सौंदर्य को देखकर कभी-कभी पागल हो उठता है, उस रूप को देखते हुए थकता ही नहीं। अतः शब्दादि विषयों में रूप अधिक आकर्षक है। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अनर्थ का मूल राग द्वेष है आसक्ति है। परिभाषा में राग-द्वेष या आसक्ति नहीं है। जीवन के साथ विषयों का सम्बन्ध होने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता है। जो समभाव पूर्वक सहन करता है उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। क्योंकि वह शब्दादि विषयों में मूर्छित एवं आसक्त नहीं होता। अतः समभाव की साधना ही मुनित्व की साधना है। इस साधना में संलग्न साधक किसी भी प्राणी का हनन मर्दन एवं आघातन नहीं करता है। और न अन्य व्यक्ति उसका हनन मर्दन आदि करते हैं।

हिंसा में प्रवृत्त होने का कारण राग-द्वेष है। राग द्वेष से निवृत्त व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता इस लिए वह संसार में परिभ्रमण भी नहीं करता है। चार गति के आवागमन को समाप्त कर देता है। अतः साधक को गति आगति के स्वरूप का जानना चाहिए। यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता मुनि ही गमनागमन के दुःखों से बच सकता है। आगम में चार गतियें मानी गई हैं—नरक, तिर्यंच मनुष्य और देव संसारी प्राणी अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार इन गतियों में गमनागमन करते हैं। इसके अतिरिक्त मोक्ष पांचवीं गति मानी गई है। ज्ञानादि की साधना के द्वारा मोक्ष में जा सकता है, परन्तु वहां से वापिस नहीं आना नहीं होता। क्योंकि वहां आत्मा की शुद्ध अवस्था रहती है उस गति में जाने वाले

जीव के कर्म एव कर्म जन्य उपाधि नहीं रहती । इस लिए वह फिर से जन्म नहीं लेता । मानव ही उत्कृष्ट साधना के द्वारा सर्व कर्मों को नष्ट करके उक्त गति मे जा सकता है। अत मोक्ष गति मनुष्य भव की अपेक्षा से मानी गई है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'कचण' शब्द का 'केनचित्' रूप बनता है। इसका अर्थ है—राग-द्वेष से रहित आत्मा को किसी के द्वारा छेदन-भेदन आदि का भय नहीं रहता, वह अभय का देवता स्वय निर्भय होकर प्राणी जगत को अभयदान देता है।

जो व्यक्ति लोक एवं गतागति के स्वरूप को नहीं जानते हैं अथवा जिन्हे यह ज्ञात नहीं है कि हम कहा से आए हैं? हमे कहा जाना है? तथा हमें किस वस्तु की प्राप्ति होगी? वही व्यक्ति ससार मे दु खों का अनुभव करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—अवरेणपुव्विं नसरंति एगे, किमस्स तीयं किं वागमिस्सं ?
भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं ॥११॥
नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छन्ति तहागया उ ।
विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥१२॥

छाया—अपरेण पूर्वं न स्मरन्त्येके, किमस्य अतीतं किं वागमिष्यति ?
भाषन्ते एके इह मानवाः, यदस्य अतीत तदेवागमिष्यति ॥
नातीतार्थमनागत रूपतया, नियच्छन्ति अर्थं तथागतास्तु ।
विधूतकल्प एतदनुदर्शी, निर्झोषयिता क्षपकः महर्षिः ॥

पदार्थ—**अवरेण**—आगामी काल और । **पुव्वि**—अतीत काल को । **एगे**—कोई एक । **न सरति**—स्मरण नही करते तथा । **किमस्सतीय**—अतीत काल मे इस जीव का क्या हुआ ? **वा**—अथवा । **किं आगमिस्सं**—आगामी काल मे क्या होगा तथा । **एगे**—कोई एक **इह**—इस मनुष्य लोक मे । **माणवाओ**—मनुष्य । **भासति**—कहते है, कि । **जमस्स**—जीव का जो यह पुरुषादि वेद । **तीय**—अतीत काल मे था । **तमागमिस्सं**—वही आगामी काल मे होगा । **नाईयमट्ठ**। अतीत काल के अर्थ को । **य**—पुन । **आगमिस्स**—आगामी काल के । **अट्ठ**—अय-

को। न नियच्छन्ति – नहीं चाहते–ना ही अवधारणा करते हैं, तथा । नाईयमट्ठं – न अतीत काल के भोगादि को । न य आगमिस्सं – और न आगामी काल के दिव्यांगनादि संग को। नियच्छन्ति – चाहते हैं और न उनका स्मरण करते हैं। उ – तु पुन कौन ? तहागया – तथागत सर्वज्ञ। विहुयकप्पे – विधूत कल्प—शुद्धाचार के द्वारा कर्मों का नाश करने वाला। एयाणुपस्सी इस प्रकार देखने वाला। महेसी – जो महर्षि–महायोगीश्वर है वह। निज्झोसइत्ता – पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने वाला था। खवये – कर्म क्षय करता है तथा आगामी काल में कर्म क्षय करेगा।

मूलार्थ-कई एक व्यक्ति पूर्व और अपर काल के स्वरूप का स्मरण नहीं करते-मैं पूर्व काल में क्या था और आगामी काल मे क्या बनूंगा ? तथा इस लोक में कई एक व्यक्ति इस प्रकार भी कहते है कि जो अतीत काल मे था वही आगामी काल मे होगा, अतीत काल के अर्थ को और आगामी काल के अर्थ को तथागत नही चाहते, तथा पर्याय की विचित्रता से जो अतीत काल का अर्थ है वह आगामी काल का अर्थ नहीं हो सकता और विधूत कल्प शुद्ध संयम के परिपालक महर्षि अतीत अनागत और वर्तमान तीनों कालों में कर्मों का क्षय करते है।

हिन्दी विवेचन

मोह एवं अज्ञान से आवृत आत्मा अपने स्वरूप को नही जान सकती। वह न अपने पूर्व भव को देख सकती है और न भविष्य के स्वरूप को जान सकती है। इसलिए अज्ञानी लोग आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएं करते रहते हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जिस व्यक्ति का जो रूप इस समय है वही रूप इसके पूर्व भवों में था और भविष्य में भी वही स्वरूप रहेगा। सती प्रथा इसी परम्परा की देन थी। पति की मृत्यु होने पर उसके शव के साथ पत्नी के जीवित शरीर को इसलिए जला दिया जाता था कि आगामी भव में फिर से दोनों पति-पत्नी के रूप में आबद्ध हो सकेंगे इन लोगों की यह मान्यता रही है कि पुरुष सदा पुरुष ही बनता है और स्त्री स्त्री ही बनती है। प्राणी के लैंगिक जीवन में कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु यह मान्यता असत्य है।

आत्मा की तरह लिंग नित्य नहीं है। क्योंकि लिंग कर्म जन्य है और कर्म में परिवर्तन होता रहता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार कभी पुरुष वेद को प्राप्त करता है, कभी स्त्री वेद को तो कभी नपुंसक वेद को वेदता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म परिवर्तन के कारण आत्मा एक भव में भी तीनों वेदों को वेद सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वेदोदय का सम्बन्ध मोह कर्म जन्य वासना

की प्रवलता पर है। यदि वासना जल्दी जागृत होती है। और भोग के बाद शीघ्र ही शात हो जाती है, तो वहा पुरुष वेद का उदय रहता है। और जहां वासना जागृत होने के वाद वहुत देर तक शात नहीं होती है, तो वहा स्त्री वेद का उदय होता है। और जहा हर समय वासना की आग प्रज्वलित रहती है, वहा नपुसक वेद का उदय समझना चाहिए। जिस समय पुरुष मे वासना की प्रवलता रहती है और वह जल्दी शात नहीं होती है, तो उस समय वह लैंगिक रूप से पुरुष होते हुए भी स्त्री वेद को वेदता है और एक नारी के जीवन मे वासना की स्वल्पता है, उसे जल्दी ही सन्तोष हो जाता है, तो वह स्त्री लिंग मे पुरुष वेद का वेदन करती है। इस प्रकार मोह कर्म के शमन के साथ वेद के संवेदन में भी परिवर्तन आ जाता है।

इससे स्पष्ट है कि हर समय लिग मे एक रूपता नहीं रहती। अत उक्त कथन तथागत—सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित नहीं है। क्योंकि पर्यायें सदा परिवर्तनशील हैं। उनमे सदा एक रूपता नहीं रहती। सर्वज्ञ इस वात को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए कहा गया है कि तथागत—सर्वज्ञ अतीत और अनागत काल की पर्यायों को एक रूप से स्वीकार नहीं करते। और न वे भूत एवं भविष्य काल के भोगों में आसक्त होते हैं और न विषय-भोगों की आकांक्षा ही रखते हैं। क्योंकि उन्होंने आकाक्षा के उत्पादक राग-द्वेष का ही क्षय कर दिया है।

'तथागत' शब्द का अर्थ है—सर्वज्ञ। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं— "जो पुनरावृत्ति से रहित है और जो पदार्थ को यथार्थ स्वरूप-पूर्ण रूप से जानते हैं," उन्हें तथागत कहते हैं—अरिहत, सिद्ध और सर्वज्ञ को तथागत कहा जाता है❀।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'विहुय कप्पे—विधूत कल्प' का अर्थ है— अष्टकर्मों को आत्मा से पृथक् करने वाला व्यक्ति†।

कर्म क्षय करने के लिए उद्यत मुनि जव धर्मध्यान एव शुक्लध्यान में निमग्न होता है, तव उसे शारीरिक, मानसिक एव भौतिक सुख-दु ख की अनुभूति नहीं होती।

❀तथैव—अपुनरावृत्त्या गतं—गमन येषा ते—तथागता —सिद्धा, यदि यथैव ज्ञेय तथैव गत ज्ञानं येषा ते तथागता —सर्वज्ञा, ते तु नातीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छति-अवधारयन्ति, नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात् परिणते, पनरर्थग्रहण पर्यायरूपार्थार्थं, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति, यदिवा नातीतमर्थं विषयमोगादिक नाप्यनागत दिव्यांगनासगादिक स्मरन्त्यभिलषन्ति वा, के? तथागता —रागद्वेषाभावात्, पुनरावृत्तिरहिता, तु शब्दो विशेषमाहा-यथ मोहोदयादेके पूर्वमागामि वाऽभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति। —आचारांग वृत्ति।

† विविधम्—अनेकधाधूतम्—अपनीतमष्टप्रकार कर्म्म येन स विधूत, कोऽसौ? कल्प —आचारो, विधूत कल्पो यस्य साधो स विधूतकल्प। —आचारांग वृत्ति।

उस समय उसकी जो स्थिति होती है उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—का अरई के आणंदे ? इत्थंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीणगुत्तो परिव्वए, पुरिसा !—तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?॥११८॥

छाया—का अरतिः ? क आनन्दः ? अत्रापि अग्रहः चरेत्, सर्वं हास्यं परित्यज्य आलीनगुप्तः परिव्रजेत्, हे पुरुष ! त्वमेव तव मित्रम् किं बहिः मित्रमिच्छसि ?

पदार्थ—का अरई—क्या अरति है ? के आणंदे—क्या आनन्द है ? इत्थंपि—इस विषय में। अग्गहे—अनासक्त होकर। चरे—विचरण करे, और। सव्वं—सब प्रकार से। हासं—हास्य को। परिच्चज्ज—परित्याग करे। आलीणगुत्तो—गुप्तेन्द्रिय होकर। परिव्वए—संयम का परिपालन करे। पुरिसा—हे पुरुष—आत्मन्। तुममेव—तू ही—सदनुष्ठान करने से। तुमं मित्तं—अपना मित्र है, फिर तू। बहिया—अपने आत्म स्वरूप से बाहिर अन्य को। किं मित्तमिच्छसि—मित्र बनाने की क्या इच्छा रखता है अथवा अपने से बाहिर मित्र ढूंढता क्यों फिरता है ?

मूलार्थ—हे आर्य ! धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न मुनि को यह अनुभूति नहीं होती कि भौतिक अरति-दुःख एवं आनन्द क्या है ? वह दुःख-सुख के संवेदन से अनासक्त होकर आत्म-चिन्तन में तल्लीन होकर रहता है। इसलिए मुनि को कछुए की भांति मन एवं इन्द्रियों का गोपन करके संयम-साधना में प्रवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि, वस्तुतः तेरी आत्मा ही तेरा मित्र है अर्थात् सदनुष्ठान में प्रवृत्त आत्मा से ही तू कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर सकता है। अतः हे पुरुष आत्मन् ! तू ही तेरा मित्र है, फिर तू अपने से बाहिर अन्य मित्रों की क्यों इच्छा रखता है अर्थात् अपने मन को अन्यत्र से हटाकर अपनी आत्म ज्योति को जगा।

हिन्दी विवेचन

जीवन में मार्ग का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। वह कर्म बन्धन का भी कारण है।

और निर्जरा के भी कारण है। जब योगो की विषय-वासना में प्रवृत्ति होती है, तो उनसे पाप कर्म का बन्ध होता है और जब इन्हें बाह्य पदार्थों से हटाकर संयम मे, ध्यान एवं चिन्तन-मनन मे लगाते है, तो ये निर्जरा के कारण बन जाते हैं। क्योकि उस समय साधक की प्रवृत्ति आत्माभिमुख होती है। उसे इस बात का कोई ध्यान ही नहीं रहता कि बाहिर क्या कुछ हो रहा है? जिस समय यह आत्म चिन्तन मे सलग्न रहता है, उस समय उसे शारीरिक अनुभूति भी नहीं होती है। इसलिए उसे यह भान नहीं रहता कि दुःख एवं आनन्द क्या है? जिस समय गजसुकुमाल मुनि के सिर पर सोमल ब्राह्मण ने प्रज्वलित अगारे रखे तो उसको तीव्र वेदना हुई होगी, इसकी हम कल्पना कर सकते है। ऐसी बात नहीं है कि उनके शरीर को ताप नहीं हुआ हो? परन्तु उनका चिन्तन आत्म स्वरूप मे था, इसलिए उन्हें उसकी अनुभूति नहीं हुई।

मनुष्य जब देहाभिमुख होकर सोचता है तो उसे अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों तथा स्पर्शो आदि मे आनन्द एव अरति (दुःख) की अनुभूति होती है। उस से उसके मन मे राग-द्वेष की भावना जागृत होती है, विषयो की आसक्ति बढ़ती है और परिणाम स्वरूप ससार परिभ्रमण बढ़ता है। परन्तु साधक आत्माभिमुख होता है। अत. जब वह धर्मध्यान एव शुक्ल ध्यान मे सलग्न होता है तो उस समय उसे आनन्द एव अरति का प्रसग उपस्थित होने पर भी उसका सवेदन नही होता। क्यों-कि उस समय योगों की प्रवृत्ति चिन्तन मे लगी होती है, अत साधक को आत्म अनुभूति के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि रति एव अरति मोह जन्य है और वहा मोह कर्म का अभाव होने के कारण उभय विकारो की अनुभूति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इससे स्पष्ट हो गया कि जब साधक आत्म चिन्तन मे तल्लीन होता है, तब उसे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है और ऐसी स्थिति मे ही ध्यान एव चिन्तन-मनन मे तेजस्विता आ पाती है। आगम मे भी कहा गया है कि जब साधक का मन लेश्या, अध्यवसाय, तीव्र अध्यवसाय, -आत्म चिन्तन मे लगा होता है तथा उसे जिन वचनों में या आत्म-चिन्तन मे अनुराग होता है, अपने योगों को आत्म-चिन्तन मे अर्पित कर देता है, उसी की भावना रखता है और अन्यत्र कहीं भी उस का मन नहीं जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं*।

---

* तच्चित्ते. तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते तदप्पि-यकरणे, तब्भावणाभाविए, अणत्थ कत्थइ मण अकरेमाणे ।

—अनुयोगद्वार सूत्र २७ (मुत्त सुत्ताणि) पृ० ३४९।

ध्यान योगों को एकाग्र करने का साधन है और इसी साधना के बल से साधक एक दिन शुक्ल ध्यान के द्वारा योगों का निरोध कर अयोगि अवस्था को प्राप्त करता है और फिर समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है, अपने साध्य को पा लेता है। अस्तु, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन, मनन साध्य सिद्धि का साधन है। इसलिए साधक को हास्य आदि का परित्याग करके तथा विषय-वासना से मन एवं इन्द्रियों का गोपन करके, उसे ध्यान एवं चिन्तन-मनन में संलग्न होना चाहिए।

इसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा पर निर्भर रहना चाहिए। उसमें अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना विकास करने में वही समर्थ है। संसार की कोई भी शक्ति न उसे गिरा सकती है और न उसे उठा सकती है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि हे पुरुष—आत्मन्! तू ही अपना मित्र है फिर अपने को छोड़कर बाहिर मित्रों को कहां ढूंढता फिरता है? तुझे अपनी शक्ति को पाने के लिए बाहिर नहीं अपने अन्दर ही झांकने की आवश्यकता है। तू अपनी दृष्टि को बाहिर से हटाकर अपने अंदर मोड़ ले, फिर अनन्त ज्ञान-दर्शन की ज्योति से तू ज्योतिर्मान हो उठेगा, तेरे अंदर ही अनन्त सुख का सागर लहर-लहर कर लहराता दिखाई देगा और तेरे जीवन के कण कण में अनन्त शक्ति का संचार होने लगेगा। यह अनन्त चतुष्टय तेरे भीतर ही निहित है। इसे प्रकट करने के लिए अन्तर्दृष्टि अर्थात् आत्म चिन्तन ध्यान में संलग्न होने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरुष' को सम्बोधित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान एवं आत्म चिन्तन का अधिकारी पुरुष ही है।†

आत्म चिन्तन की पूर्व भूमिका का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ,

---

† पुरुषग्रहणं तु पुरुषस्यैवोपदेशार्हत्वात् पुरुषप्रधानत्वाच्चेति। —आचारांग वृत्ति।

सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ ॥११६॥

छाया—यं जानीयादुच्चालयितारं तं जानीयात् दूरालयिकं, यं जानीयाद् दूरालयिक तं जानीयादुच्चालयितारम्, पुरुष! आत्मानमेवाभिनिगृह्य एव दुःखात् प्रमोच्यसि, पुरुष! सत्यमेव समाभिजानीहि सत्यस्य आज्ञयोपस्थितो मेधावी मार तरति, सहितोधर्ममादाय श्रेयः समनुपश्यति।

पदार्थ—ज—जो। उच्चालइय—कर्म क्षय करना। जाणिज्जा—जानता है। तं—वह—मोक्ष मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। ज—जो। दूरालइय—मोक्ष मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। त—वह। उच्चालइय—कर्म क्षय करने के मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। पुरिसा—हे पुरुष! अत्ताणमेव—अपने आत्मा को ही। अभिणिगिज्झ—धर्म ध्यान से बाहिर जाते हुए को रोक—निरोध कर। एव—इस प्रकार तू। दुक्खा—दुख से। पमुच्चसि—छूट जाएगा। पुरिसा—हे पुरुष! सच्चमेव—सत्य और सयम को ही। समाभिजाणाहि—भली प्रकार जानकर आचरण कर। सच्चस्स—सत्य की। आणाए—आज्ञा मे। उवट्ठिए—उपस्थित हुआ। से—वह। मेहावी—बुद्धिमान व्यक्ति। मार—ससार को। तरइ—पार कर देता है। सहिओ—ज्ञानादि से वा हित से युक्त। धम्ममयाय—श्रुत और चारित्र रूप। धर्म को ग्रहण करके। सेयं—पुण्य वा आत्म हित को। समणुपस्सइ—सम्यक् प्रकार से देखता है।

मूलार्थ-जो कर्म क्षय करने के मार्ग को जानता है, वह मोक्ष को भी जानता है और जो मोक्ष को जानता हे, वह कर्म क्षय करने के मार्ग को भी जानता है। हे पुरुष! तू अपने आत्मा का ही निग्रह कर, धर्म—ध्यान से विमुख जाते हुए आत्मा को रोक, इस प्रकार करने से तू दुखों से छूट जाएगा। हे पुरुष! तू सत्य सयम का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर, पालन कर, सूत्र की-आगम की आज्ञा मे उपस्थित हुआ मेधावी-बुद्धिमान ससार को तैर जाता है और ज्ञानादि से युक्त हुआ श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके आतमहित को भली-भाति देखता है।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधक ध्यान के द्वारा योगों को एकाग्र करता है। मन, वचन एव काया की बाह्य प्रवृत्ति को अपने अंदर मोड़ता है, आत्म चिन्तन में लगाता

है। इस से संयम साधना में तेजस्विता आती है और वह इस साधना के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन कर्मों का क्षय करता चलता है। इस प्रकार वह एक दिन समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को, निर्वाण को पा लेता है। क्योंकि कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करना ही मोक्ष है अथवा संपूर्ण कर्म क्षय का ही दूसरा नाम मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि जो कर्म क्षय करना जानता है, वह मुक्ति को जानता है और जो मोक्ष को जानता है वह कर्म क्षय करने की प्रक्रिया को जानता है*।

साधक अन्तर्मुखी साधना से ही कर्म क्षय करता है। इसलिए उसे आदेश देते हुए कहा गया है—तू अपनी आत्मा को बहिर्वृत्तियों से हटाकर धर्मध्यान या आत्म-चिन्तन की ओर मोड़। दूसरे शब्दों में यों कहते हैं कि तू बाहिर से सिमट कर अपने अन्दर स्थित हो जा। इससे विषय-वासना की आसक्ति से आने वाले कर्म रुक जाएँगे और परिणाम स्वरूप तू दुःखों से मुक्त हो जाएगा।

इसके लिए सत्य-संयम का आचरण आवश्यक है। सत्य पथ पर गतिशील एवं सत्य—आगम की आज्ञा के अनुसार वृत्ति करने वाला व्यक्ति संसार सागर से पार हो जाता है। क्योंकि विषयों में आसक्त रहने का नाम संसार है और जब वह विषयों से अपने को सर्वथा हटा लेता है, तो उसके लिए संसार दूर होता जाता है और मोक्ष निकट होता जाता है इसलिए साधक को सत्य-संयम के परिपालन करने एवं आगम के अनुसार प्रवृत्ति करने का आदेश दिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में सत्य शब्द सत्य, संयम एवं आगम तीनों अर्थ में प्रयुक्त हुआ है†।

---

* उपादानस्य प्रथम कर्मों को दूर करने का तथा 'दूरालयं' शब्द मोक्ष मार्ग का सूचक है। संस्कृत में इसका 'दूरालयं' रूप बनता है और इसमें मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग कर देने से 'दूरालयिक' रूप बन जाता है जो मोक्षमार्गानुगामी आत्मा का परिबोधक है;

दूरे सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यालयो दूरालय—मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन् दूरालयिकमिति।

—आचारांग वृत्ति।

† सत्यमाज्ञा [illegible] सत्यं—संयमस्तमेवाचर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है और 'सम्यक्' का अर्थ [illegible] [illegible] [illegible] है—[illegible] [illegible]।

—आचारांग वृत्ति।

'मार' शब्द का अर्थ ससार किया है, यह भी उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त 'मार' शब्द कामदेव के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है और वह अर्थ भी यहा अनुपयुक्त नहीं है। क्योंकि श्रुत और चारित्र धर्म का आराधक काम-वासना पर विजय पा लेता है और विषय-भोग का विजेता कर्म का क्षय करके जन्म-मरण रूप ससार सागर से पार हो जाता है।

"पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एव दुक्खा पमुच्चसि" इस पाठ से अयोगी गुणस्थान की ओर सकेत किया गया है। इसमे कहा गया है कि हे पुरुष ! तू योगों का निरोध कर, जिससे तू सारे दु खों से छूट जायगा । योगों का पूर्ण निरोध चौदहवें अयोगी गुणस्थान मे ही होता है और इस गुणस्थान को स्पर्श करने के बाद जीव निर्वाण-पद को पा लेता है, समस्त कर्म बन्धन एव कर्म जन्य उपाधि से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है ।

इतना स्पष्ट होने पर भी कुछ लोग प्रमाद का सेवन करते है, विषय कषाय मे आसक्त होते है। उनका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुहओ जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमायंति ॥१२०॥

छाया—द्विहतः [दुर्हतः] जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थ (पुजनाय) यस्मिन्नेके प्रमाद्यन्ति ।

पदार्थ—दुहओ—राग-द्वेष से पीडित जीव । जीवियस्स—जीवन के लिए । परिवदण परिवन्दनार्थ । माणण—मान के लिए। पूयणाए—पूजा के लिए। ज—उक्त निमित्तो से । एगे—कोई एक जीव । पमायति—प्रमाद का सेवन करते हैं अर्थात् हिंसादि पाप मे प्रवृत्त होते हैं ।

मूलार्थ—राग-द्वेष से सतप्त कइ एक जीव अपने जीवन के मान-सम्मान के लिए, एव पूजा-प्रतिष्ठा के लिए प्रमाद-हिसा आदि परिवन्दन, पापो का आसेवन करते है।

हिन्दी विवेचन

जब मनुष्य की दृष्टि देहाभिमुख या भौतिकता की ओर होती है, तब वह दु खों के नाश का उपाय भी बाह्य पदार्थों मे खोजता है। इसलिए वह अनुकूल पदार्थ एव

साधनों पर अनुराग करता है और वह प्रतिकूल साधनों पर द्वेष करता है। उनसे बचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राग-द्वेष में संलग्न व्यक्ति अपने जीवन के लिए, वन्दन, सत्कार पाने के लिए, मान—सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक प्रकार से प्रमाद का सेवन करता है। वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए हिंसा आदि अनेक दोषों का सेवन करता है और विषय—वासना में अधिक आसक्त होने के कारण रात—दिन अव्रत का पोषण करने में लगा रहता है। इससे वह पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता है।

निष्कर्ष यह है कि राग—द्वेष के वश जीव हिंसादि दोषों में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का संग्रह करता है और परिणाम स्वरूप दुःखों के प्रवाह में प्रवहमान रहता है।

अतः साधक को राग—द्वेष का त्याग कर देना चाहिए। जो व्यक्ति राग—द्वेष का परित्याग कर देते हैं। उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ त्तिबेमि ॥१२१॥

छाया—सहितोदुःखमात्रया स्पृष्टः नो झञ्झयेत् (नो व्याकुलितमतिर्भवेत्) पश्य ! इमं द्रव्य लोकालोक प्रपंचात् मुच्यते। इति ब्रवीमि।

पदार्थ- सहिओ—हित-ज्ञान आदि से युक्त। दुक्खमत्ताए—दुःख मात्र से। पुट्ठो—स्पर्शित हुआ। नो झंझाए—व्याकुल न होवे। पासिमं—हे शिष्य ! तू इस बात को देख। दविए—द्रव्यभूत—मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधु। लोकालोकपवंचाओ—लोक के प्रपंच से। मुच्चइ—मुक्त हो जाता है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—ज्ञानवान साधु दुःखों से स्पर्शित होने पर भी आकुल व्याकुल नहीं होते। अतः हे साधक ! तू मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधुओं को देख। जो लोक के प्रपंच से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

विचारशील चिन्तनशील साधक कष्ट उपस्थित होने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होता। घबराता नहीं और न वह उन कष्टों को दूर करने के लिए कोई साधन अनुष्ठान ही करता है। वह मनुष्य दुःखों का मूल कारण कर्म को ही मानता है। अतः

वह अपनी शक्ति दुखों के मूल का उन्मूलन करने मे लगा देते है। उसका प्रयत्न केवल भौतिक दु ख नाश का नहीं, वल्कि समस्त दुखों का एव संसार भ्रमण के कारण कर्म का क्षय करने का रहता है। अत वह अपनी वृत्ति को वाहिर से मोड कर अन्दर की ओर हटा लेता है। या यो कहिए कि सदा आत्म साधना मे सुलग्न रहता है।

इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे साधक को आदेश देते हुए कहा गया है कि तू साधु जीवन की साधना को देख। और अपने आचरण को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर। क्योंकि सयम निष्ठ मुनि तप-सयम की साधना से मोक्ष पथ पर वढ़ता हुआ लोक-ससार के समस्त प्रपचों से मुक्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह रहा है कि साधु को ज्ञान के साथ धैर्यशील एवं सहिष्णु होना चाहिए। कष्ट एव वेदना के समय भी उसे साहस, शाति एवं आत्म-चिन्तन का त्याग नहीं करना चाहिए। और जीवन से निराश होकर सकल्प—विकल्प मे नहीं उलझना चाहिए। रोग उपशाति के लिए औषधि की आवश्यकता पड़ने पर निर्दोष एव सात्विक औषध का सेवन करते हुए भी धैर्य एव आत्म चिन्तन मे सलग्न रहना चाहिए। क्योंकि जब योगों की प्रवृत्ति चिन्तन मे लगी रहेगी तो वाह्य वेदना की अनुभूति स्वत कम हो जाएगी। इससे आत्मा मे शाति की अनुभूति होगी और पहिले के वन्धे हुए कर्मों की निर्जरा भी होगी। इसलिए साधक को कर्म वन्धन से मुक्त होने के लिए हर स्थिति-परिस्थिति मे आत्माभिमुख होकर चलना चाहिए।

'त्तिवेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

तृतीय उद्देशक समाप्त

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में संयम, आत्म चिन्तन एवं परीषहों के उपस्थित होने पर भी धैर्यता एवं सहिष्णुता बनाए रखने का उपदेश दिया है। वस्तुतः देखा जाए तो अधैर्य एवं चंचलता का कारण कषाय राग-द्वेष एवं भय ही है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में इनके त्याग का उपदेश दिया गया है। इसका प्रारम्भ करते हुए कहा है—

मूलम्-से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स, पलियंतकरस्स आयाणं सगडब्भि ॥१२२॥

छाया—स वमिता क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च एतत् पश्यकस्य दर्शनं, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं स्वकृतभित् ।

पदार्थ—से—वह जो—ज्ञानी है। कोहं—क्रोध को। च—और। माणं—मान को। च—और। मायं—माया को। च—और। लोभं—लोभ को। वंता—छोड़ता है। च—और आयाणं—कर्माश्रव को छोड़ता है वह। सगडब्भि—स्वकृत् कर्मों का भेदन करता है। एयं—यह। दंसणं—अभिप्राय। उवरयसत्थस्स—द्रव्य और भाव शस्त्र से निवृत्त। पलियंतकरस्स—कर्मों का या संसार का अन्त करने वाले। पासगस्स—भगवान महावीर का है।

मूलार्थ—जो ज्ञान से युक्त संयमनिष्ठ मुनि है वह कषाय क्रोध मान माया और लोभ का वमन-त्याग कर देता है। जो कर्माश्रव का परित्याग करता है वह स्वकृत कर्मों का भेदन करता है। संसार और कर्मों का अन्त करने वाले तथा द्रव्य और भाव शस्त्र से रहित भगवान महावीर ने ऐसा उपदेश दिया है।

हिन्दी विवेचन

साधना का उद्देश्य है—कर्मों से सर्वथा मुक्त होना। इस लिए प्रत्येक तीर्थंकर भगवान अपने शासनकाल मे मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर कषाय के त्याग का उपदेश देते हैं। कषाय से कर्म का बन्ध होता है और कर्म बंध से जीव संसार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह संसार परिभ्रमण में सहायक क्रोध आदि का परित्याग कर दे। जो व्यक्ति कषाय का परित्याग कर देता है, वह स्वकृत कर्म का भी भेदन कर देता है। क्योंकि कषाय कर्म बंधन का कारण है और जब कारण नष्ट कर देंगे तो कार्य का नाश सहज ही हो जाएगा। अत एव कर्म का क्षय करने के लिए पहिले कषाय त्याग का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "पासगस्स दसण" का अर्थ है—लोक के समस्त पदार्थों के यथार्थ द्रष्टा को पश्यक कहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर जी हैं, और उनका उपदेश एव दर्शन 'पासगस्स दंसण' कहलाता है*। 'आयाण' शब्द से हिंसा आदि ५ आस्रव एव १८ पाप स्वीकार किए गए हैं। इनके द्वारा ही जीव अष्ट कर्मों को बांधता है। इसलिए इन्हें 'आयाण-आदान' कहते हैं†।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सर्वज्ञता या सर्वज्ञ के ज्ञान से ही जाना जा सकता है। इसलिए उक्त विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्--जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥१२३॥

छाया—यो एकं जानाति स सर्व जानाति, यः सर्वं जानाति स एकं जानाति।

पदार्थ—जे—जो। एग—एक-परमाणु या आत्मा की स्वपर्याय और परपर्याय को। जाणइ—जानता है। से—वह। सव्व—सर्व द्रव्यो की स्व-पर पर्यायो को। जाणइ—जानना है। जे—जो। सव्व—सर्व वस्तु को। जाणइ—जानना है। से—वह। एगं—आत्म आदि एक द्रव्य को। जाणइ—जानता है।

---

* सर्व निरावर्णत्वात्पश्यति—उपलभत इति पश्य स एव पश्यक—तीर्थंकृत् श्री वर्द्धमान स्वामी तस्य दर्शनम्—अभिप्रायो यदिवा दृश्यते यथावस्थित वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्-उपदेश।

—आचाराग वृत्ति।

† आदीयते—गृह्यते आत्मप्रदेशैः सहश्लिष्यतेऽष्ट प्रकार कर्म्म येन तदादान—हिंसा—द्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूप वा।

—आचाराग वृत्ति।

मूलार्थ—जो एक द्रव्य को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है।

हिन्दी विवेचन

जैन दर्शन में मूल रूप से दो तत्त्व माने हैं—जीव और अजीव। संसार के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ इन दो तत्त्वों में आ जाते हैं। और संसार में इन दोनों का इतना घनिष्ट संबंध है कि एक का ज्ञान होने पर दूसरे का भी समस्त पदार्थों का परिज्ञान हो जाता है। जब व्यक्ति आत्मा का चिन्तन करता है, उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है तो वह सहज ही अन्य तत्त्वों से परिचित हो जाता है। क्योंकि आत्मा असंख्यात प्रदेशी, अरूपी एवं अनन्त चतुष्टय युक्त शुद्ध है। फिर भी अनंत आत्माएं संसार में परिभ्रमण कर रही हैं। इसका कारण यह है कि वे कर्म पुद्गलों से आवृत हैं। कर्म अजीव हैं, जड़ हैं। अतः जब कर्म आवरण पर सोचते हैं, तो अजीव तत्त्व का बोध हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि अजीव या कर्म आत्म को क्यों आवृत करते हैं? इस समस्या के समाधान में गोता लगाने पर ज्ञात होता है कि आत्मा राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों तथा योगों की प्रवृत्ति से शुभ और अशुभ कर्मों—जिन्हें पाप और पुण्य भी कहते हैं का संग्रह करती है। शुभाशुभ कर्म आगमन के द्वार को शास्त्रीय भाषा में आस्रव कहते हैं। और इन आए हुए कर्मों का परिणामों की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार उनका तीव्र एवं मन्द बन्ध होता है। संयम के द्वारा आते हुए नए कर्मों को रोक दिया जाता है और तप के द्वारा पुराने कर्मों का क्षय कर दिया जाता है, इस प्रक्रिया से आत्मा एक दिन कर्म एवं कर्म बन्ध साधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है इन्हें क्रमशः संवर निर्जरा और मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान करने वाला व्यक्ति अन्य तत्त्वों को भी जान लेता है। एक तत्त्व के परिज्ञान में सब तत्त्वों का तथा सब तत्त्वों के परिज्ञान में एक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के साथ अनेक या समस्त का संबंध जुड़ा हुआ है और अनेक में एक समाहित है। इसलिए सम्यक्तया एक का ज्ञान होने पर अनेक का बोध सहज ही हो जाता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन की गहराई में उतरने पर वह अज्ञान के आवरण को अनावृत करके पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेती है और सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर संसार के प्राणियों को मोक्ष मार्ग दिखाती है।

प्रमाद करने के बाद तीर्थंकर क्या उपदेश देते हैं इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्--सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स न
भयं, जे एगं नामे से वहुं नामे;जे वहुं नामे से एगं नामे, दु
लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाज
परेण परं जंति, नावकंखति जीवियं ॥१२४॥

छाया—सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम्। य
नामयति स वहून् नामयति यः वहून् नामयति स एकं नामयति दुःख लो
ज्ञात्वा वान्त्वा लोकस्य संयोग यान्ति धीराः महायानं परेण परं यान्ति न
क्षन्ति जीवितम्।

पदार्थ—पमत्तस्स—प्रमादि व्यक्ति को। सव्वओ—सब तरह से। भय—भय
अप्पमत्तस्स—अप्रमत्त को। सव्वओ—सर्व तरह से। भयं—भय। नत्थि—नहीं है।
जो। एग—एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को। नामे—क्षय करता है। से—वह। बहु—व
मानादि को भी। नामे—क्षय करता है। जे—जो। वहु—वहुतो को। नामे—क्षय करता
से—वह। एगं—एकअनन्तानुवन्धिक्रोध को। नामे—क्षय करता है। लोगस्स—लोक
दुक्खं—दुःख को। जाणित्ता—जानकर फिर। लोगस्स—लोक के। सजोग—संयोग को।
छोड कर। धीरा—धीर पुरुष। महाजाण जन्ति—महायान को अर्थात् एक जन्म मे ही द
का ग्रहण करके मुक्त हो जाते हैं अथवा। परेणपरजंति—परम्परा से आगे बढता हुआ मोक्ष
प्राप्त करता है। परन्तु। नावकखन्ति जीवियं—असयम जीवन की इच्छा नही करते।

मूलार्थ—प्रमत्त-प्रमादी जीव को सब तरह से भय है और अप्र
को सर्व तरह से कोई भय नही। जो एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को
करता है वह अन्य बहुत सी कर्म प्रकृतियो को क्षय करता है, और
बहुत सी कर्म प्रकृतियों को क्षय करता है। वह एक को क्षय करता है
के दुःख को जान कर और उस के सयोग को त्याग कर धीर पुरुष मोक्ष
पर चलते हैं और वे अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त करते है। वे महा
कभी भी असयममय जीवन की इच्छा नही करते।

हिन्दी विवेचन

भय मोह जन्य है। क्योंकि वह चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। इसलिए असंयम निष्ठ जीवन में उसका उदय रहता है। इसमें प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि प्रमादी व्यक्ति को सब प्रकार से भय है अर्थात् जहां प्रमाद है वहीं सब भय है। और जब आत्मा अप्रमत्त भाव में विचरण करती है, तब मनुष्य को कोई भय नहीं रह जाता है। इसका कारण यह है कि प्रमादी व्यक्ति की दृष्टि में भौतिक पदार्थों की मुख्यता है अतः उनके नाश या वियोग की स्थिति उत्पन्न होते ही मन में भय एवं कम्पन उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अप्रमत्त मुनि का चिन्तन आत्माभिमुखी होता है, शरीर एवं अन्य भौतिक साधन उसके दृष्टि में केवल आत्म विकास के साधन मात्र हैं— इससे अधिक नहीं इसलिए और साधनों की तो क्या बात, शरीर का विनाश का प्रसंग आने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह उसे इसी प्रसन्न भाव से त्याग देता है जिस प्रसन्न भाव से पुरातन वस्त्र का परित्याग करता है। अतः संयमनिष्ठ अप्रमत्त व्यक्ति को किसी भी प्रकार का भय नहीं होता, वह सदा निर्भय होकर विचरता है। वह अभय का देवता न स्वयं भयभीत होता है और न अन्य किसी भी प्राणी को भयभीत करता है।

जहां भय रहता है वहां मोह कर्म की अन्य प्रकृतियां भी रहती हैं। और वस्तुतः मोह कर्म ही सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश करना सरल हो जाता है। इस लिए कहा गया कि जो व्यक्ति मोह कर्म की एक प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय कर देता है, वह शेष प्रकृतियों को भी क्षय कर देता है और जो मोह कर्म की बहुत सी प्रकृतियों को क्षय करता है वह अनन्तानुबन्धी क्रोध का भी नाश करता है या जो मोह कर्म को क्षय करता है; वह बहुत से कर्मों का अर्थात् तीन घातिकर्मों—ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय कर्म का उसी समय नाश करता है और शेष कर्मों का आयुकर्म के क्षय के साथ क्षय कर देता है। और जो बहुत से कर्मों का क्षय करता है वह मोह कर्म का भी क्षय करता है।

इस प्रकार आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि दुःखों का मूल कारण कर्म है और विषय-वासना की आसक्ति एवं राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक राग-द्वेष एवं विषयों की आसक्ति का परित्याग करके मोक्ष मार्ग पर चले। इससे वह इसी भव में या परम्परा से—कुछ भवों में समस्त कर्मों का नाश करके निर्वाण पद पा लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'महायानं'—महायान शब्द का प्रयोग मोक्षमार्ग अर्थ में

किया गया है। ❀इसके अतिरिक्त 'यान' शब्द का चारित्र अर्थ भी होता है। अत 'महायान' का अर्थ हुआ — उत्कृष्ट चारित्र†। और धैर्यवान पुरुष चारित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अत इस अपेक्षा से चारित्र को भी महायान कहा है।

क्या चारित्र की आराधना से आत्मा उसी भव मे मोक्ष प्राप्त कर लेती है या वह देव, मनुष्य आदि गतियों मे कुछ भव करके मोक्ष प्राप्त करती है? कुछ आत्माएं उसी भव मे समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती हैं और कुछ आत्माएं सयम के साथ सरागता होने के कारण सौधर्म आदि स्वर्गों मे उत्पन्न होती हैं। और वहा मनुष्य एव विशिष्ट स्वर्गों में उत्पन्न होता हुआ, एक दिन मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इस बात को 'परेण पर जाति' पाठ से अभिव्यक्त किया है। 'परेण (तृतीयांत) और परं (द्वितीयान्त) इन दोनों शब्दों का कई अर्थों में प्रयोग होता है। जैसे—१-धीर पुरुष सयम की आराधना से स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। २—आत्मा चतुर्थ गुणस्थान में चढते हुए, पचम गुणस्थान आदि में होता हुआ अयोगि केवली १४वें गुणस्थान मे पहुच जाता है। ३—अनन्तानुबन्धी क्षय से दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म या घाति एव अघाति कर्मों का क्षय कर देता है‡। इसके अतिरिक्त इन उभय शब्दों का 'परेण' —तेजोलेश्या से भी 'पर'— विशिष्टतर लेश्या को प्राप्त करना भी अर्थ होता है।

'नामे' यह क्रियापद है, जैसे—नामयति—क्षपयति लोकस्य सयोग' पद में आत्मा के अतिरिक्त पुत्र, पत्नी आदि परिवार में आसक्त रहना। अत इसका अभिप्राय यह है कि मुनि को धन वैभव एवं पारिवारिक सबन्ध का त्याग करके सयम का परिपालन करना चाहिए।

❀महद्यान—सम्यग् दर्शनादित्रय यस्य स महायानो मोक्ष। —आचाराग वृत्ति।

† यान्त्यनेन मोक्षमिति यान—चारित्र तच्चानेकभवकोटिदुर्लभ लब्धमपि प्रमाद्यत-स्तथाविध कर्मोदयात् स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद्यानं च महायानमिति। —आचारांग वृत्ति।

‡यथा—"परेण-संयमेनोविष्ट विधिना पर-स्वर्ग पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति, यदि-वा परेण— सम्यग् दृष्टिगुणस्थानेन "पर"—देशवृत्यायोगिकेवलि पर्यंत गुणस्थानकमधि-तिष्टन्ति, परेण वा अनन्तानुबन्धि क्षयेणोल्लसत्कण्डकस्थाना: 'पर' "दर्शनमोहनीयचारित्र-मोहनीयक्षयघातिभवोपग्राहीकर्मणांवा क्षयमवाप्नुवन्ति" एव विधाश्च कर्म क्षपणोद्यत जीविन कियद् गत कि वा शेषमित्येवं नावकांक्षन्ति।"

जो आत्मा अनन्तानुबन्धी आदि कर्म प्रकृतियों का क्षय करने को तैयार होता है, उस समय उन्हीं का क्षय करता है या साथ में अन्य प्रकृतियों का भी क्षय करता है? इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढोवि एगं, सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं ॥१२५॥

छाया—एकं क्षपयन् पृथक् (अन्यदपि) क्षपयति, पृथगपि (अन्यदपि) श्रद्धी (श्रद्धावान्) आज्ञया मेधावी लोकं च आज्ञया अभिसमेत्याकुतोभयं, अस्ति शस्त्रं परेण परं, नास्ति अशस्त्रं परेण परम्।

पदार्थ—एगं—एक मोहनीय कर्म का। विगिंचमाणे—क्षय करता हुआ साधक। पुढो—ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय इन अनेक कर्मों का। विगिंचइ—क्षय करता है। पुढोवि—ज्ञानावरणीय आदि अनेक कर्मों का क्षय करता हुआ साधक। एगं—एक कर्म का क्षय करता है।

आणाए—भगवत् प्रणीत आगम के अनुसार आचरण करने वाला। सड्ढी—श्रद्धावान और मेहावी—बुद्धिमान साधक द्वारा। लोगं—छः काय के जीव लोक को। आणाए—आगम के उपदेश से। अभिसमिच्चा—जानकर। अकुओभयं—किसी भी प्राणी को भय न हो, ऐसा व्यवहार करना चाहिए। सत्थं—शस्त्र का प्रयोग। परेणपरं—तारतम्य वाला है। अत्थि—है, परन्तु। असत्थं—संयम। परेण परं नत्थि—तारतम्य-उतार चढ़ाव वाला नहीं है।

मूलार्थ—मुनि एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता हुआ दर्शन सप्तक का भी क्षय करता है और दर्शन सप्तक का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय कर देता है ऐसा श्रद्धावान भगवत् प्रणीत आज्ञा के अनुसार अनुष्ठान करता हुआ बुद्धिमान भगवान के उपदेश से लोक को जानकर किसी भी जीव को भय न दे। क्योंकि असंयम तारतम्य रूप वाला होता है परन्तु संयम उतार चढ़ाव वाला नहीं होता।

हिन्दी विवेचन

जैन दर्शन विकासवादी है । वह आत्मा के स्वतन्त्र विकास पर विश्वास करता है । प्रत्येक व्यकित अपने पुरुषार्थ से विकास करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी श्रेणिविकास का क्रम बताया गया है।

जब साधक क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय, दर्शन—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों को क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । उक्त गुणस्थान से ही उसका विकास आरम्भ होता है, दृष्टि मे एक नया परिवर्तन आता है । उसका चिन्तन, मनन अब बाह्याभिमुखी नहीं अपितु आत्माभिमुख होता है ।

इसके बाद वह अप्रत्याख्यानी कषाय, प्रत्याख्यानी कषाय एवं संज्वलन के क्रोध; मान, माया और लोभ का क्षय करता हुआ पाचवें, छटे, सातवें आदि गुणस्थानों को लाघकर तेरहवें गुणस्थान में पहुचता है और वहा से चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करके वहां समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके और मन, वचन एव काय का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार साधक सदा कर्म बन्धन को शिथिल—ढीला करने की साधना मे लगा रहता है । कुछ साधक एक भव मे समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ नहीं होते। उनकी साधना में इतनी तेजस्विता नहीं होती कि वे शीघ्र गति से सभी सीढ़ियों को पार कर सकें । फिर भी उनका लक्ष्य सपूर्ण कर्म क्षय करने का होता है और वे उसी श्रेणी क्रम से उस लक्ष्य तक पहुचने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिए कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी साधक श्रद्धानिष्ठ होकर संयम मार्ग पर चलता है और भगवान की आज्ञा के अनुसार साधना में प्रवृत्त होता है। अथवा ६ काय या कषाय रूप लोक एव उसके आरम्भ-समारम्भ तथा कषाय सेवन से बढने वाले संसार परिभ्रमण को जानकर किसी भी जीव को त्रास एवं भय नहीं देता । वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान जानता है। अत दूसरे प्राणी को कष्ट देना अपनी आत्मा को कष्ट देना है, ऐसा जानकर वह सब को अभयदान देता है ।

वस्तुत. भय समय का शस्त्र है। असंयम सबसे भयंकर शस्त्र है। क्योंकि असंयत जीवन में एकरूपता नहीं रहती। अपने स्वार्थ की प्रमुखता के कारण दूसरे जीवों पर समदृष्टि नहीं रहती। इस लिए असंयत जीव अपने स्वार्थ को साधने के लिए

द्रव्य एवं भाव शस्त्रों को तीक्ष्ण बनाता रहता है। अस्थि शस्त्र युग से लेकर अणु-बम एवं हाईड्रोजन बम तक का इतिहास असंयम की विपाक भावना का परिणाम है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया; लोभ एवं राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रों में तीव्रता आती रहती है। परन्तु संयम अशस्त्र है, उसमें द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार के शस्त्रों का अभाव है। साधक समभाव की दृष्टि लेकर आगे बढ़ता है। इसलिए उसमें तरतमता नहीं पाई जाती है। वह शस्त्र से दूर रहता हुआ, सदा आगे बढ़ता रहता है। उसकी साधना की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। फिर उसे संयम का भी आवश्यकता नहीं रहती है। क्योंकि साधना की उपयोगिता साध्य के प्राप्त होने तक ही है, उसके प्राप्त हो जाने के बाद उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार संयम निष्ठ साधक श्रेणी विकास करता हुआ अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

साधक कषाय के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जिस प्रकार वह क्रोध के स्वरूप एवं परिणाम से परिचित है उसी प्रकार मान के एवं अन्य कषायों के स्वरूप से भी परिचित है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से माया दंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मार दंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी। से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयंपासगस्स दंसणं

उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणंनिसिद्धा सगडब्भि/किमत्थि ओवाही पासगस्सन विज्जइ ?, नत्थि त्तिबेमि ॥१२६॥

छाया— यः क्रोधदर्शी स मानदर्शी, यो मानदर्शी स मायादर्शी, यो मायादर्शी स लोभदर्शी, यो लोभदर्शी स प्रेमदर्शी यः प्रेमदर्शी स द्वेषदर्शी, यो द्वेषदर्शी स मोहदर्शी, यो मोहदर्शी स गर्भदर्शी, यो गर्भदर्शी स जन्मदर्शी, यो जन्मदर्शी स मारदर्शी यो मारदर्शी स नरकदर्शी, यो नरकदर्शी स तिर्यग्दर्शी, यः तिर्यग्दर्शी स दुःखदर्शी, स मेधावी अभिनिवर्तयेत् क्रोधं च मान च मायां च लोभ च प्रेम च द्वेष च मोहं च गर्भं च जन्म च मारञ्च नरकं च तिर्यञ्चं च दुःख च एतत् पश्यकस्य दर्शन, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं निषेध्य स्वकृतकर्मभित् किमस्ति उपाधिः ? पश्यकस्य न विद्यते, नास्ति ! इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—जे – जो । कोहदंसी – क्रोध के स्वरूप को देखने वाला है । से – वह । माणदसी – मान के स्वरूप को देखने वाला है । जे – जो । माणदसी – मान के देखने वाला है । से – वह । मायादसी – माया के देखने वाला है । जे – जो । मायादसी – माया को देखने वाला है । से – वह । लोभदसी – लोभ के देखने वाला है । जे – जो । लोभदसी – लोभ के देखने वाला है । से – वह । पिज्जदंसी – राग के देखने वाला है । जे – जो । पिज्जदंसी – राग के देखने वाला है । से – वह । दोसदंसी – द्वेष के देखने वाला है । जे – जो । दोसदंसी – द्वेष के देखने वाला है । से – वह । मोहदसी – मोह के देखने वाला है । जे – जो । मोहदसी – मोह देखने वाला है । से – वह । गब्भदंसी – गर्भ के देखने वाला है । जे – जो । गब्भदसी – गर्भ के देखने वाला है । से – वह । जम्मदंसी – जन्म के देखने वाला है । जे – जो । जम्मदंसी— जन्म के देखने वाला है । से—वह । मारदसी – मरण-मृत्यु के देखने वाला है । जे । जो मारदसी—मृत्यु के देखने वाला है । से – वह । नरयदसी—नरक के देखने वाला है । जे – जो । नरयदंसी—नरक के देखने वाला है । से—वह । तिरियदंसी—तिर्यक् के देखने वाला है । जे—जो । तिरियदसी—तिर्यक् दर्शी है । से—वह । दुक्खदंसी—दुःख के देखने वाला है । से – वह । मेहावी—वुद्धिमान है जो इन से । अभिणिवट्टिज्जा–निवृत्ति करे तथा वुद्धिमान वही है जो निम्नलिखित कारणो से निवृत्ति करता है, यथा । कोहं च—क्रोध । माणं च—मान । मायं च–

माया । लोभं च—लोभ । पिज्जं च—प्रेम-राग । दोसं च—द्वेष । मोहं च—मोह । गब्भं च—जन्म । मारं च—मरण । नरयं च—नरक । तिरियं च—तिर्यक और । दुक्खं च—दुःख से । (चकार शब्द प्रेरणार्थ या समुच्चय अर्थ का पादपूर्त्यर्थ मे जानना चाहिये । तथा उक्त पदो का अर्थ द्वितीया विभक्ति का करना और भावार्थ में पांचवी विभक्ति का भी हो सकता है) एवं—यह । पासगस्स—तीर्थंकर देव का । दंसणं—दर्शन है, जो कि । उवरय सत्थस्स—शस्त्र से उपरत है । पलियंतकरस्स—कर्मों का अन्त करने वाले है । किं—क्या । पासगस्स—पश्यक केवली भगवान को । ओवाहि—उपाधि है । अत्थि—है ? न विज्जइ—न विद्यते-नहीं है नत्थि—नहीं है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जो क्रोध के देखने वाला है, वह मान के देखन वाला है, जो मान के देखने वाला है, वह माया के देखने वाला है, जो माया के देखने वाला है, वह लोभ के देखने वाला है जो लोभ के देखने वाला है, वह राग के देखने वाला है, जो राग के देखने वाला है, वह द्वेष के दखने वाला है, जो द्वेष क देखने वाला है वह मोह के देखने वाला है जो मोह के देखने वाला है वह गर्भ के देखने वा । है, जो गर्भ के देखने वाला है वह जन्म के देखने वाला है, जो जन्म के देखने वाला है, वह मरण के देखने वाला है जो मरण-मृत्यु के देखन वाला है, वह नरक के देखने वाला है जो नरक के देखने वाला है वह तिर्यक के देखने वाला है, जो तिर्यक के देखने वाला है, वह दुःख के देखने वाला है मेधावी व्यक्ति क्रोध मान माया और लोभ को तथा राग-द्वेष और मोह का एवं गर्भ, जन्म, मरण नरक तिर्यक और दुःख को छोड़ देता है, इनसे निवृत्त हो जाता है । यह तीर्थंकर देव का दर्शन अर्थात सिद्धांत है जो कि शस्त्र से उपरत और संसार का अन्त करने वाले और स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाले हैं । क्या तीर्थंकर अथवा केवली भगवान के भी कोई उपाधि है ? उत्तर-ती १ २ २। १ १ १ी ३ ३ ३ ।म के कोई भी उपाधि नहीं है । इस प्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में कषायों के कटु परिणाम को बताया गया है । ये ही

ससार परिभ्रमण एवं दु.ख प्रवाह को बढ़ाने वाले हैं। अत· बुद्धिमान वह है; जो इनसे निवृत्त हो जाता है। तीर्थंकर भगवान का यही उपदेश है। वे असंयम रूप शस्त्र से रहित होते हैं। अत वे संसार का अन्त करने वाले एवं उपाधि रहित माने गए हैं।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाए, उसे उपाधि कहते हैं। वह दो प्रकार की है— १- द्रव्य उपाधि और २- भाव उपाधि। स्वर्णादि भौतिक साधन सामग्री को द्रव्य उपाधि कहते हैं और अष्ट कर्म को भाव उपाधि कहते हैं*। सर्वज्ञ भगवान में द्रव्यउपाधि तो होती ही नहीं और भाव उपाधि में उन्होंने चार घाति-कर्मों का क्षय कर दिया है। इसलिए अवशिष्ट चार कर्म भी कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। केवल आयु कर्म के रहने तक उनका अस्तित्व मात्र रहता है। इसलिए उन्हें भी उपाधि रूप नहीं माना गया है। क्योंकि आयु कर्म के साथ उनका भी क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार द्रव्य एव भाव उपाधि संसार परिभ्रमण का कारण है और उसका परित्याग संसार नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य एवं भाव उपाधि से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। यही प्रस्तुत अध्ययन का सार है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

॥ तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय समाप्त ॥

*उपाधि—विशेषण, उपाधीयत इति चोपाधि., द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्ट प्रकार कर्म्म। —आचारांग वृ[illegible]।

चतुर्थ-अध्ययन-सम्यक्त्व

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—सम्यक्त्व। तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व—यथार्थ श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है— जैसे सारे प्रयत्न करने पर भी अन्धा व्यक्ति शत्रु पर विजय नहीं पा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व संपन्न व्यक्ति धन-वैभव एवं परिजनों का त्याग करके, व्यवहार से निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करके तथा तप एवं काय क्लेश आदि अनेक कष्ट उठाकर भी वह राग-द्वेष रूपी शत्रु को परास्त करके मुक्ति नहीं पा सकता। अतः कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रद्धा सम्पन्न होना आवश्यक है। श्रद्धा युक्त व्यक्ति के ही ज्ञान तप और चारित्र सफल होते हैं, मोक्ष के कारणभूत होते हैं। और सम्यक्त्व को स्पर्श करने के अनन्तर ही क्रमशः उन्नति करके तीर्थंकर आदि पद की प्राप्ति सम्भव है। इसलिए जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्व पूर्ण स्थान है। हम यों भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व मोक्ष साधना का मूल कारण है। इसी कारण आगमों में मनुष्यत्व, शास्त्र श्रवण, संयम परिपालन आदि को दुर्लभ कहा है, परन्तु श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है*। अस्तु श्रद्धा साधना का प्राण है, जीवन है।

प्रश्न हो सकता है कि किस बात पर श्रद्धा की जाए? कौन से तत्त्वों पर विश्वास रखा जाए? प्रस्तुत अध्ययन में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र में साधना के मूल मंत्र, श्रद्धा रखने के तत्त्व एवं जैन दर्शन के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्—से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं

---

* सद्धा परम दुल्लहा।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३, ९

परूणविंति एव परूविंति-सव्वे पाणा. सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा. न परियावेयव्वा. न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए सासए समिच्च लोयं खेयरणोहिं पवेइए, तंजहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा तच्च चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ ॥१२७॥

छाया—अथ ब्रवीमि ये अतीताः ये प्रत्युत्पन्नाः ये आगामिनः (अनागताः) अर्हन्तः भगवन्तः ते सर्वे एवमाचक्षते एव भाषन्ते एवं ज्ञापयन्ति एवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणा सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्वाः न हन्तव्याः न ज्ञापयितव्याः न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः नापद्रावयितव्या एष धर्मः शुद्धः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः तद्यथा_उत्थितेषु वा अनुत्थितेषु वा उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा उपरतदंडेषु वा अनुपरतदण्डेषु वा, सोपधिकेषु वा अनोपधिकेषु वा संयोगरतेषु वा असंयोगरतेषु वा तथ्य चैतत् तथा चैतत् अस्मिन् चैतत् प्रोच्यते।

पदार्थ—से—मैं। बेमि—कहता हूं। जे—जो। अईया—अतीत काल मे हो गए। य—और। पडुप्पन्ना—जो वर्तमान काल मे हैं तथा जो। आगमिस्सा—भविष्यत काल में होंगे। अरहंता—अर्हन्त। भगवंतो—भगवन्त। ते—वे। सव्वे—सब। एवमाइक्खंति—इस प्रकार कहते हैं। एवं—इस प्रकार। भासंति—भाषण करते है। एवं—इस प्रकार। पण्णविंति—प्रज्ञापन करते हैं। एवं—इस प्रकार। परूविंति—प्ररूपण करते है। सव्वे—सर्व। पाणा—प्राणी। सव्वे—सब। भूया—भूत। सव्वे—सब। जीवा—जीव। सव्वे—सब। सत्ता—सत्त्व। न हंतव्वा—न मारने चाहिए। न अज्जावेयव्वा—न दूसरो से मरवाने चाहिए। न परिघितव्वा—

न किसी अन्य के द्वारा पकड़वाने चाहिए । न परियावेयव्वा—न इनको परितापना देनी चाहिए। न उद्दवेयव्वा —न इनके ऊपर उपद्रव करना चाहिए अर्थात् प्राणों से वियुक्त न करना चाहिए। एस धम्मे— यह अहिंसा रूप धर्म । सुद्धे—शुद्ध है। णिइए—नित्य है। सासए—शाश्वत है। लोयं—जंतु लोक के दुःख सागर के अवगाह को । समिच्च—विचार कर। खेयन्नेहिं—जीवों के दुःखों को जानने वालों ने । पवेइए—प्रतिपादन किया है। तंजहा—जैसे कि । उट्ठिएसु—जो धर्म सुनने के लिए तैयार है। वा—अथवा। अणुट्ठिएसु—जो अनुद्यत है। वा—अथवा। उवट्ठिएसु—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित है। वा—अथवा। अणुवट्ठिएसु—अनुपस्थित है। वा—अथवा। उवरयदंडेसु—जो मन, वचन और काया के दंड से उपरत है। वा—अथवा जो अणुवरयदंडेसु—दंड से उपरत नहीं है। वा—अथवा। सोवहिएसु—जो उपधि से युक्त है। वा—अथवा। अणोवहिएसु—जो उपधि से रहित है। वा—अथवा। संजोगरएसु—माता-पिता के संयोग में रक्त है। वा—अथवा। असंजोगरएसु—जो संयोग रत नहीं है—एकान्त भावना के ऊपर आश्रित है, इनके प्रति भगवान ने धर्मदेशना दी है। एयं—यह। तच्चं—सत्य है। च—नियमार्थ है। तहा—तथा। चेयं—एतद् वस्तु अहिंसा धर्म। अस्सिं—इस जैनेन्द्र प्रवचन। में सम्यक् मोक्ष मार्ग के विधान करने वाली। चेयं—यह किसा। अणुच्चइ-अकर्म से कही गई है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे आर्य ! जिस प्रकार मैंने भगवान के मुख से श्रवण किया है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे को कहता हूं— जो अरिहंत भगवन्त अतीत काल में हो चुके हैं, वर्तमान काल में है, तथा आगामी काल में होंगे, वे सब इस प्रकार भाषण करते हैं इस प्रकार कहते हैं इस प्रकार प्रज्ञापित करते हैं, इस प्रकार प्ररूपण करते हैं—सब प्राणी सब भूत सब जीव और सब सत्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार-उपद्रव करना चाहिए, यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है नित्य है, शाश्वत है लोक के दुःखों का विचार कर खेदज्ञ पुरुषों ने इसका वर्णन किया है जैसे कि—जो अहिंसा धर्म के सुनने के लिए उद्यत हैं अथवा अनुद्यत हैं, उपस्थित हैं, वा अनुपस्थित हैं मन वचन और काय रूप दण्ड से उपरत हैं वा अनुपरत हैं, सोपधिक हैं अथवा उपधि रहित हैं

संयोग मे रत हैं वा सयोग से उपरत हैं, इन सबको अहिंसा रूप धर्म सुनाना चाहिए। कारण कि यह धर्म सत्य है, मोक्ष प्रदाता है, जैनागम मे इस अहिंसा निष्ठ धर्म का प्रकर्ष रूप से वर्णन किया गया है। अत प्रत्येक साधक को इस शुद्ध एव शाश्वत धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

जैन धर्म के मूल उद्देश्य को समझने के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा की निष्ठा का इससे अधिक वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसमें बताया गया है कि अतीत, अनागत एव वर्तमान तीनों काल मे रहने वाले समस्त तीर्थंकरों का यही उपदेश रहा है कि किसी भी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व की हत्या नहीं करनी चाहिए, उन्हें पीडा और सन्ताप नहीं देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। इसके आचरण से जीव दुर्गति के द्वार को बन्द करके सुगति या मोक्ष की ओर बढता है, आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर होता है। इसलिए वृत्तिकार ने अहिंसा की इस महासाधना को दुर्गति के लिए अर्गला एव सुगति के लिए सोपान रूप बताया है*।

यह अहिंसा धर्म सर्व प्राणी जगत के लिए हितकर है, कल्याण रूप है। इससे समस्त जीवों को शाति मिलती है, सबको आत्म विकास का सुअवसर मिलता है, इसलिए इसका समस्त प्राणियों को उपदेश देना चाहिए, भले ही, वे सुनने के इच्छुक हों या न हों, सुनने के लिए उपस्थित हों या न हों, मन, वचन, काय से सवृत्त हों या न हों, सांसारिक उपाधि से मुक्त हों या न हो, धन-वैभव एव परिवार में अनासक्त हों या न हों अथवा हम एक शब्द में यों कह सकते हैं कि पापी एव धर्मी सभी व्यक्तियों को यह उपदेश देना चाहिए। अहिंसा का मार्ग सबके लिए समान रूप से खुला है। साधना के क्षेत्र में ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, धर्मी-अधर्मी का कोई भेद नहीं है। जीवन की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता बीते हुए जीवन से नहीं नापी जाती। प्रत्युत वर्तमान एव भविष्य के जीवन से नापी जाती है, अत जब साधक जागृत होता है, संयम एवं अहिंसा के पथ पर बढ़ता है, तभी से उसका जीवन विकास आरम्भ हो जाता है और वह विश्व के लिए वन्दनीय एव पूजनीय बन जाता है अस्तु अहिंसा

* दुर्गत्यर्गलासुगतिसोपानदेश्य। —आचाराग वृत्ति।

धर्म का सभी प्राणियों को समान भाव से उपदेश देना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि तीनों काल में होने वाले तीर्थंकर इसी अहिंसा धर्म का उपदेश देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म अनादि-अनन्त है। यह बात अलग है कि कुछ क्षेत्रों में कुछ काल के लिए तीर्थंकर एवं तीर्थंकरों का शासन नहीं होता। परन्तु महाविदेह क्षेत्र में हर समय तीर्थंकरों का शासन रहता है। अतः कर्मभूमि में धर्म की सरिता सदा बहती रहती है और धर्म का आधार अहिंसा है। क्योंकि अन्य व्रत नियम एवं साधना इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है और इससे प्रत्येक प्राणी को शांति मिलती है। साधक के मन में भी शांति का सागर ठाठें मारता है। मन में संकल्प-विकल्प एवं कलुषता को पनपने का अवसर ही नहीं मिलता। इस कारण अहिंसा को धर्म का प्राण कहा गया है और धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थंकर सर्व क्षेमकरी अहिंसा का उपदेश देते हैं।

अतः साधक को अहिंसा धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा के बाद वह क्या करे, इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं, जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे ॥१२८॥

छाया—तदादाय न गोपयेत्, न निक्षिपेत् ज्ञात्वा धर्मं यथा-तथा दृष्टैः निर्वेदं गच्छेत् नो लोकस्यैषणां चरेत्।

पदार्थ—तं—सम्यग् दर्शन को। आइत्तु—स्वीकार करके। न निहे—उसका गोपन न करे। न निक्खिवे—न उसका परित्याग करे। धम्मं—धर्म को। जहा-तहा—यथार्थ रूप से। जाणित्तु—जानकर। दिट्ठेहिं—इष्ट या अनिष्ट रूप आदि में। निव्वेयं—वैराग्य भाव गच्छिज्जा—धारण करे। नो लोगस्सेसणं चरे—परन्तु, लोकैषणा को ग्रहण न करे।

मूलार्थ—सम्यक्त्व को स्पर्श करने के बाद उसकी आराधना में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए और मिथ्यात्व के प्रवाह में बहकर उसका परित्याग भी नहीं करना चाहिए। इष्ट-अनिष्ट रूप, रस आदि में वैराग्य भाव रखे अर्थात् उनमें आसक्त न बने, न प्रिय वस्तु पर राग करे और न अप्रिय पदार्थ पर द्वेष रखे और लोकैषणा—श्रद्धा विहीन लोगों

का अनुसरण करके इष्ट वस्तु को उपादेय एवं अनिष्ट वस्तु को हेय बुद्धि से ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा में निष्ठा—श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को दृढ शब्दों में कहा गया है कि वह अपनी शक्ति श्रद्धा को दृढ बनाने एवं उसके अनुरूप आचरण करने में लगावे। सम्यक्त्व का विस्तार करने में कभी भी शक्ति का गोपन न करे और उसका परित्याग करने की भी न सोचे। सम्यक्त्व का प्रकाश धुंधला न पड जाए इसके लिए उसे उसके अतिचारों—दोषों से बच कर रहना चाहिए। लोकैषणा भी जीवन को गिराने वाली है। लोकैषणा से यहां पुत्र, धन, काम-भोग, विषय-वासना, विलासता आदि की इच्छा-कामना समझनी चाहिए। और यह विषयेच्छा कर्म-बन्ध एवं दुःखों की परम्परा को बढाने वाली है। अतः मुमुक्षु को लोकैषणा से निवृत्त होना चाहिए।

जिस व्यक्ति के जीवन में लोकैषणा नहीं होती, उस के मन में कुमति भी नहीं होती है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो २ जाइं पकप्पंति ॥१२६॥

छाया—यस्य नास्ति इयं ज्ञातिः तस्यान्या कुतः स्याद्? दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं यदेतत् परिकथ्यते शाम्यन्तः प्रलीयमानाः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति।

पदार्थ—जस्स—जिस मुमुक्षु पुरुष के मन में। इमा—यह। जाई—ज्ञाति—लोकैषणा बुद्धि। नत्थि—नहीं है। तस्स—उसके। अण्णा—सावद्य प्रवृत्ति। कओ—कहां से। सिया—हो। दिट्ठ—देखा हुआ। सुय—सुना हुआ। मयं—माना हुआ। विण्णाय—विशेषता से जाना हुआ। जं—जो। एयं—यह। परिकहिज्जइ—मेरे द्वारा कहा जाता है अर्थात् जो कुछ मैं कहता हूं वह सब सर्वज्ञोक्त है। तथा जो सर्वज्ञोक्त कथनानुसार क्रिया नहीं करते उनकी जो दशा होती है अब उसके विषय में कहते हैं— समेमाणा—भोगों में आसक्त एवं। पलेमाणा—मनोज्ञ इन्द्रियों के अर्थ में मूर्छित होते हुए। पुणोपुणो—बार बार। जाइ—एकेन्द्रियादि जातियों में। पकप्पन्ति—परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—जिसको यह लोकेषणा नहीं है उसको अन्य-सावद्य-रूप प्रवृत्ति कहां से हो सकती है ? जो यह कहा जाता है कि वह सर्वज्ञों द्वारा देखा हुआ, सुना हुआ माना हुआ और विशेषता से जाना हुआ है कि जो जीव लोकेषणा के त्यागी नहीं वे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले मूर्छित और इन्द्रियों के अर्थों में लीन होते हुए बार-बार एकेन्द्रियादि जाति में परिभ्रमण करते है।

हिन्दी विवेचन

विषयेच्छा से मन में पाप भावना उद्बुद्ध होती है। और उस तृष्णा एवं आकांक्षा को पूरी करने के लिए मनुष्य आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होता है। अतः जिस व्यक्ति के मन में भोगेच्छा नहीं होती है, विषयों की तृष्णा एवं आकांक्षा नहीं रहती है; उसके मन में पाप भावना भी नहीं जागती और परिणाम स्वरूप वह सावद्य कार्य मे प्रवृत्त भी नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि लोकेषणा, विषयेच्छा ही पाप एवं सावद्य कार्य का कारण है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा-जाना है। सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस मार्ग में सन्देह का अवकाश नहीं है। अतः साधक को लोकेषणा का त्याग करना चाहिए।

जो व्यक्ति विषयेच्छा का त्याग नहीं करते, रात-दिन भोगों में आसक्त रहते है, वे पाप कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप एकेन्द्रिय आदि योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार वे दुःख के प्रवाह में बहते रहते हैं।

संसार की यथार्थ स्थिति को जानकर मनुष्य को इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार का प्रयत्न करे? इस का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि, त्तिबेमि ॥१३०॥

छाया—अहश्च रात्रिं च यतमानः धीरः सदागतप्रज्ञानः प्रमत्तान् बहिः पश्य ! अप्रमत्तःसन् सदा पराक्रमेथा।

पदार्थ – अहो – दिन । य – और । राओ – रात्रि । य – समुच्चयार्थ मे । जयमाणे – यत्न करता हुआ । धीरे – धैर्यवान पुरुष । सया – सदा । आगयपण्णाणे – जिसको विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है । बहिया पमत्ते – धर्म से बाहिर प्रमादी लोगों को । पास – तू देख, और । अप्पमत्तो – अप्रमादी होकर । सया – सदा – उपयोग पूर्वक । परिक्कमिज्जासि – सयम पालन में पुरुषार्थ कर । तिबेमि – इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ-जिस साधक को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह धैर्यवान यत्न पूर्वक सदा मोक्ष मार्ग की साधना मे सलग्न रहता है। हे आर्य ! तू प्रमादी जीवो की स्थिति को देख! जो रात-दिन धर्म से बाहिर विषयो मे आसक्त हैं। उन्हें देख कर, तू स्वय प्रमाद का त्याग कर के विवेक पूर्वक सयम-साधना मे पुरुषार्थ कर। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमत्त और अप्रमत्त व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया गया है। अप्रमत्त व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह बाह्य कष्टों से घबराकर सयम मार्ग का त्याग नहीं करता, अपितु धैर्यता पूर्वक कष्टों को सहन कर लेता है। भयंकर परीषह भी उसके मन को विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। आत्म साधना में तल्लीन वह साधक बाहिरी जीवन को भूल जाता है। उसे सुख-दु ख का सवेदन नहीं होता।

प्रमादी जीव की स्थिति इससे विपरीत है। उसकी दृष्टि शरीर एवं भौतिक पदार्थों पर लगी रहती है। वह रात-दिन शरीर को शृङ्गारने, परिपुष्ट बनाने एवं भौतिक सुखों की अभिवृद्धि करने का उपाय ढूण्ढने रहता है। उसका चिन्तन एवं प्रयत्न बाह्य सुखों को बढ़ाने तक ही सीमित रहता है। इसलिए वह अपने स्वार्थ को, पूरा करने के लिए दूसरों के स्वार्थ को, सुख को लूटने लगता है। इसलिए उसके जीवन को धर्म से बाहिर कहा गया है और साधक को सावधान किया गया है कि वह प्रमादी के आरम्भमय जीवन एवं उसके दु खद परिणाम को जानकर उससे बचने का प्रयत्न करे। अथात् अपनी शक्ति सयम साधना मे लगाए।

'तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ-अध्ययन-सम्यक्त्व

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में सम्यक्त्व—श्रद्धा का विवेचन किया गया है। उसका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है। अतः मिथ्यात्व के हटने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। और मिथ्यात्व का नाश सम्यग् ज्ञान से होता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है।

संसार परिभ्रमण का कारण बन्ध है और संसार समाप्ति का कारण संवर एवं निर्जरा है। इस लिए साधक को इस बात का अवश्य बोध होना चाहिए कि किस भावना से बन्ध होता है और किस से बन्ध रुकता है अर्थात् संवर की साधना सधती है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा। जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा। एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं ॥१३१॥

छाया—ये आस्रवाः ते परिस्रवाः, ये परिस्रवाः ते आस्रवाः। ये अनास्रवाः ते अपरिस्रवाः ये अपरिस्रवाः ते अनास्रवाः। एतानि पदानि संबुध्यमानः लोकं च आज्ञयाऽभिसमेत्य पृथक् प्रवेदितम्।

पदार्थ—जे—जो। आसवा—आस्रव-कर्मबन्ध के स्थान हैं। ते—वे ही। परिस्सवा—निर्जरा के भी स्थान हैं। जे—जो। परिस्सवा—निर्जरा के स्थान हैं। ते—वे ही। आसवा—आस्रव के भी स्थान हैं। जे—जो। अणासवा—संवर के स्थान हैं। ते—वे। अपरिस्सवा—कर्म बन्धन के स्थान भी हैं। जे—जो। अपरिस्सवा—कर्म बन्धन के स्थान हैं। ते—वे अणासवा—संवर के भी स्थान हैं। एए पए—इन पदों के अर्थ को। संबुज्झमाणे—समझते हुए। च—और लोयं—लोक के स्वरूप को। अभिसमिच्चा—विचार कर। आणाए—भगवान

की आज्ञा से — भगवान के उपदेशानुसार। पुढो — अलग-अलग-जीव, अजीव, कर्म बन्ध- सवरादि स्थानो का। पवेइय—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ-जो आस्रव के स्थान हैं वे निर्जरा के भी स्थान है, जो निर्जरा के स्थान हैं वे कर्म बन्ध के भी स्थान हैं। जो व्रतो के स्थान है वे कर्म आगमन के स्थान भी है और जो कर्म आगमन के स्थान है, वे व्रतो के भी स्थान हैं। इन पदो को समझकर तथा भगवान की आज्ञा के अनुसार लोक के स्वरूप का विचार करके कर्म बन्ध एव निर्जरा आदि के स्थानो का अलग-अलग वर्णन किया है।

हिन्दी विवेचन

आस्रव एवं संवर के लिए स्थान एव क्रिया की अपेक्षा भावना का अधिक मूल्य है। जो स्थान कर्म वन्ध का कारण है, वही स्थान विशुद्ध भावना वाले साधक के लिए निर्जरा, संवर एवं सयम साधना का कारण बन जाता है। और जो स्थान निर्जरा, संवर एवं साधना का सुरम्य स्थल है, वह परिणामों की अशुद्धता के कारण कर्म वन्ध का कारण वन जाता है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मनुष्य लोक में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है कि जहां आस्रव, बंध, संवर एवं निर्जरा की साधना नहीं की जा सकती है। भावना के परिवर्तित होते ही आस्रव का स्थान सवर-साधना का स्थान वन जाता है और संवर को साधना भूमि आस्रव का स्थान ग्रहण कर लेती है। तो आस्रव एव संवर भावना—परिणामों की अशुद्ध एवं विशुद्ध भावना पर आधारित है। इस चतुर्भंगी को उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है।

१-सम्यग्दृष्टि साधक जब वैराग्य भाव से आत्म-चिन्तन मे गोते लगाने लगता है, तो उस समय आस्रव—कर्म बन्ध का स्थान भी उसके लिए संवर या निर्जरा का साधनास्थल बन जाता है। भरत चक्रवर्ती शीश महल मे श्रृङ्गार करने गया था। श्रृङ्गार करने के अनन्तर अकस्मात् उनकी अंगुली की मुद्रिका गिर पड़ी। सारा श्रृङ्गार फीका सा लगने लगा। बस भावना परिवर्तित हो गई। बाह्य सजावट में लगा हुआ ध्यान आत्म-चिन्तन की ओर मोड़ खा गया और धीरे-धीरे शरीर पर से श्रृङ्गार का आवरण हटने लगा और उसके साथ ही आत्मा पर से कर्म का आवरण भी हटता गया और परिणाम स्वरूप वहीं शीश महल में भरत को निरावरण—केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

२-अज्ञानी व्यक्ति दुर्भावना के वश निर्जरा के स्थान में पाप कर्म का बन्ध

कर देता है। एक दिन नाग श्री ब्राह्मणी ने भूल से ककड़ी के स्थान में कड़वे तुम्बे की सब्जी बना ली। जब चखने पर उसे तुम्बे की कटुकता का ज्ञान हुआ तो उस ने उसे एक ओर रख दिया और तुरन्त दूसरी सब्जी बना ली। कुछ देर पश्चात् एक-एक महीने की तपस्या करने वाले धर्मरुचि मुनि उसके यहां भिक्षार्थ आए। और उसने उस तुम्बे को फैंकने के लिए बाहिर जाने के कष्ट से बचने तथा पर वालों से अपने अज्ञान को छुपाने के लिए सारी सब्जी मुनि के पात्र में डाल दी। मुनि को दिया जाने वाला दान निर्जरा का कारण था। परन्तु दुष्ट परिणामों के कारण वह कर्म बन्ध का कारण बन गया।

३-जो अनास्रव—व्रत विशेष या संयम साधना संवर एवं निर्जरा का स्थान है। साधना के मुख्य भाव स्थल में स्थिर होकर साधक सारे कर्मों को नष्ट कर देता है। परन्तु भावना की अस्थिरता एवं अनिग्रहता के कारण व्यक्ति निर्जरा के स्थान में कर्म बन्ध कर लेता है। कुण्डरीक राजर्षि का उदाहरण इसी गिरावट का प्रतीक है। जीवन के अन्तिम दिनों में वे वासना के प्रवाह में बह गए और रात-दिन उसी के चिन्तन में लगे रहे। एक दिन वेष त्याग कर फिर से राज्य सुख भोगने लगे और अति भोग के कारण भयंकर व्याधि से पीड़ित होकर तीन दिन में काल करके सातवीं नरक में जा पहुंचे। जो संयम कर्म निर्जरा का स्थान था परन्तु भावना में विकृति आते ही वह कर्म बन्ध का भी स्थान बन गया।

४-जो पापकर्म के स्थान हैं, शुभ अध्यवसायों के कारण वे निर्जरा के स्थान बन जाते हैं, इलायची पुत्र बांस पर नाटक कर रहा है। निकट भविष्य में उसकी पत्नी होने वाली कन्या ढोलक बजा रही थी। दर्शक उसके नृत्य कौशल को देखकर वाह वाह पुकार रहे थे परन्तु राजा का ध्यान नट के नृत्य पर नहीं अपितु उस कन्या पर लगा हुआ था। राजा उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया था। वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। इस लिए वह चाहता था कि किसी प्रकार यह नट नीचे गिर कर समाप्त हो जाए तो इस कन्या को मैं अपने अधिकार में कर लूं, और वह नट राजा को प्रसन्न करके धन पाने के लिए बार-बार बांस पर ऊपर चढ़ रहा था। फिर भी पारितोषिक नहीं मिल रहा था। इतने में पास के घर में एक मुनि को भिक्षा लेते देख कर उसको भावना में परिवर्तन आया, और परिणाम स्वरूप धन एवं भोग-विलास की आकांक्षा त्याग में बदल गई। वह कर्म बन्ध का स्थान निर्जरा का कारण बन गया। यह सब भावों का चमत्कार है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म बन्ध एवं निर्जरा में भावों की प्रमुखता

है। परन्तु यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। व्यवहार नय की अपेक्षा से भावों के साथ स्थान एव क्रिया का भी मूल्य है। परिणामों की विशुद्ध एव अशुद्ध धारा को प्रत्येक व्यक्ति देख नहीं सकता। परन्तु व्यवहार को अल्प बुद्धि व्यक्ति भी भली-भाति जान लेता है। भावों के साथ स्थान एव व्यवहार शुद्धि को भी भुला नहीं देना चाहिए। क्योंकि धर्म स्थान एव धर्म निष्ठ व्यक्तियों की सगति का भी जीवन पर प्रभाव होता ही है। संयति राजा शिकार खेलने गया था और अपने बाण से एक मृग को घायल भी कर दिया था, परतु वहीं मुनि से बोध पाकर ससार से विरक्त हो गया, मुनि बन गया। इस प्रकार जीवन को माजने एव विचारों को नया मोड देने मे सतों का, शास्त्रों का एव धर्म स्थानों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। या हम यों कह सकते हैं कि व्यवहार शुद्धि के पथ से हम निश्चय दृष्टि से भी भावों की शुद्धि के सुरम्य स्थल तक पहुच जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'जे आसवा ते परिस्सवा ..' इत्यादि पाठ में 'आसवा' से आस्रव स्थान, 'परिस्सवा' से निर्जरा के स्थान, 'अणासवा' से व्रत विशेष और 'अपरिस्सवा' से कर्म बन्ध के स्थान विशेष समझना चाहिए।

जीव भावों के द्वारा बन्ध के स्थान को निर्जरा का एव निर्जरा के स्थान को बन्ध का कारण बना लेता है। आस्रव और निर्जरा के स्थान पृथक् पृथक् हैं। आस्रव में भी आठों कर्म के आठों स्थान भिन्न हैं और इसी प्रकार आठों कर्मों को रोकने वाले संवर एव क्षय करने वाले निर्जरा स्थान भी भिन्न भिन्न हैं। अत मुमुक्षु पुरुष को आस्रव, संवर एवं निर्जरा के स्वरूप को भली-भाति जानकर भगवान की आज्ञा के अनुसार भावों को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए*।

प्रबुद्ध पुरुष भी अपने उपदेश द्वारा आर्त एवं प्रमत्त जीवों को जगाते रहते हैं। वे किस प्रकार का उपदेश देते हैं इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवन्नाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टावि संता अदुवा पमत्ता अहासच्चमिणं त्तिबेमि, नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छा-

---

*आचारांग वृत्ति।

पणीया वंकानिकेया कालग्गहीया णिचयणिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति ॥१३२॥

छाया—आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां सम्बुध्यमानानां विज्ञानप्राप्तानामार्तानामपि सन्तु अथवा प्रमत्ता यथा सत्यमिदमिति ब्रवीमि, नानागमो मृत्युमुखस्यास्ति इच्छा प्रणीता वंकानिकेताः कालगृहीताः निचयनिविष्टाः पृथक् पृथग् जातिं प्रकल्पयन्ति ।

पदार्थ—नाणी—ज्ञानी। इह—इस प्रवचन में या संसार में। माणवाणं—मनुष्यों को। संसार पडिवन्नाणं—संसार प्रतिपन्नों को। संबुज्झमाणाणं—जो सम्यक् प्रकार से बोध को प्राप्त हुए हैं उनको—विन्नाण पत्ताणं—विज्ञान प्राप्तों को। अट्टावि संता—किसी प्रकार से आर्त हुओं को। अदुवा—अथवा। पमत्ता—विषयों में निमग्न चित्त वालों को। आघाइ—धर्म को कहता है। सच्चमिणं—यह विषय सत्य है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं। जहा—जैसे दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त कर, चारित्र के विषय में प्रमाद न करना चाहिए, क्योंकि। नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि—ऐसे नहीं है कि मृत्यु के मुख में कोई जीव नहीं आएगा, अपितु अवश्य ही आएगा। इच्छापणीया—इच्छा के वश होकर संसाराभिमुख हुए। वंकानिकेया—असंयम के आश्रय भूत। कालग्गहीया—काल से गृहीत—पकड़े हुए। णिचय णिविट्ठा—कर्म के निचय में निविष्ट चित्त—सावद्य कर्म के करने में अत्यन्त आसक्त। पुढो-पुढो—पृथक्-पृथक्। जाइं—एकेन्द्रियादि जाति को। पकप्पयंति—प्रकल्पन करते हैं अर्थात् एकेन्द्रियादि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष इस संसार में संसार प्रतिपन्न बोध एवं विज्ञान का ज्ञाता, आर्त और प्रमत्त मनुष्यों को कहता है कि तुम्हें धर्म परिपालन या संयम-साधना में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह कथन सत्य नहीं है कि संसारी जीव मृत्यु के मुख में नहीं जाता अथवा वह अवश्य मरता है, और इच्छा आकांक्षा एवं असंयम में संलग्न संसाराभिमुख व्यक्ति आरम्भ-समारंभ में आसक्त होकर बार-बार जन्म-मरण करता है, एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष आर्त्त एवं प्रमादी जीवों को सयम-साधना में संलग्न रहने के लिए सदा प्रेरित करता रहता है। परन्तु साथ में यह भी बता दिया है कि उपदेश का प्रभाव उन्हीं जीवों पर पड़ता है, जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त हैं। वस्तुत आत्म-स्वरूप को जानने या जानने की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति ही उपदेश को सुनकर आचरण में ला सकते हैं। कभी कभी परिस्थितिवश ज्ञानी व्यक्ति भी भटक जाते हैं, परन्तु फिर से निमित्त मिलने पर वे साधना के पथ पर चल पड़ते हैं। चिलायति पुत्र जैसे हिंसक मानव एवं शालिभद्र जैसे काम-भोगों मे आसक्त व्यक्ति भी प्रबुद्ध पुरुष का सकेत पाकर अपने जीवन को बदलने मे देर नहीं करते ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त दु खी एव अत्यधिक सुखी तथा मध्यम अवस्था के सभी पुरुष धर्मोपदेश के अधिकारी है। इसलिए प्रबुद्ध मानव प्रत्येक जीव को धर्मोपदेश देते रहते हैं। कि संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मृत्यु को प्राप्त नहीं करता हो, अर्थात् सभी प्राणी मरते है । जो जीव नहीं मरते हैं, वे ससारी नहीं अपितु सिद्ध हैं। संसारी जीव जब तक घातिकर्मों का क्षय नहीं कर लेता है, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है, इसलिए मानव को कर्म क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति इस ओर प्रयत्न न करके विषय-वासना मे आसक्त रहता है, ऐहिक एवं भौतिक सुखों को बटोरने में व्यस्त रहता है, वह पाप कर्म का बन्ध करता हैं और परिणाम स्वरूप एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों मे परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को विषयेच्छा का त्याग करके सयम का परिपालन करना चाहिए ।

क्योंकि विषयासक्त जीव दु खों का संवेदन करते रहते हैं वे प्राणी किस प्रकार की वेदना एवं दुःखों का संवेदन करते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ, अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिट्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिट्ठं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं नो चिट्ठं परिचिट्ठइ,एगे वयंति अदुवावि

नाणी, नाणी वयंति अदुवा वि एगे ॥१३३॥

छाया—इहैकेषां तत्र तत्र संस्तवः भवति अथ औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति चिट्ठं-भृशं क्रूरैः कर्मभिः क्रूरैः चिट्ठं-भृशम् परितिष्ठति अचिट्ठं क्रूरैः कर्मभिः नो चिट्ठं परितिष्ठति एके वदन्ति अथवापि ज्ञानी वदन्ति ज्ञानिनो अथवाप्येके ।

पदार्थ—इह—इस संसार में । एगेसिं—कई एक—मिथ्यात्व, अविरति—प्रमाद और विषय कषायादि से युक्त । तत्थ २—उन नरकादि गतियो में —यातनाओं के स्थानों में । संथवो—संस्तव—बार-बार वास है । भवइ—होता है । अहोववाइए—जीव—नरकादि गतियों में उत्पन्न होने वाले । फासे—दुःख रूप स्पर्श को । पडिसंवेययंति—प्रतिसंवेदन करते हैं, अनुभव करते हैं कारण कि । चिट्ठं—अत्यन्त । कूरेहिं—क्रूर । कम्मेहिं—कर्मों के करने से । चिट्ठं—अत्यन्त । परिचिट्ठइ—दुःख स्थानों में स्थित होता है—ठहरता है किन्तु जो । अचिट्ठं—नहीं है । कूरेहिं कम्मेहिं—क्रूर कर्मों से युक्त तो फिर । नो चिट्ठं परिचिट्ठइ—अत्यन्त दुःख रूप स्थानों में स्थित नहीं होता नहीं ठहरता इस प्रकार से । एगे वयंति—वे एक—चौदह पूर्व के धारी कहते हैं । अदुवावि—अथवा । नाणी—केवल ज्ञानी । अवि से—श्रुत केवली । वयंति—कहते हैं । नाणी-वयंति—ज्ञानी कहते हैं । अदुवावि—अथवा । एगे—कई एक—श्रुत केवली भी इसी प्रकार भाषण करते हैं । तात्पर्य कि जिस भांति केवली भगवान कहते हैं उसी भांति श्रुत केवली भी कहते हैं ।

मूलार्थ—इस संसार में कई एक अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले जीव नरक तिर्यंक आदि योनियों में नाना प्रकार के दुःख रूप स्पर्शों का अनुभव करते हैं अर्थात् अत्यन्त क्रूर कर्मों के फलस्वरूप चिरकाल तक नरक यातनाएं भोगते हैं और जो इस प्रकार के क्रूर कर्मों का बन्ध नहीं करते हैं वे अत्यन्त दुःख रूप स्थानों में नहीं जाते अर्थात् उनको नरक यातनाएं भोगनी नहीं पड़ती ! इस प्रकार कई एक अर्थात् केवली भगवान कहते हैं और श्रुत केवली भी ठीक इसी प्रकार कहते हैं तथा चतुर्दश पूर्व धारी जिस प्रकार उक्त विषय का समर्थन करते हैं, ठीक उसी प्रकार केवलज्ञानी भी कहते हैं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि प्रमादी जीव विषय-कषाय में आसक्त रहता है। अपनी अतृप्त वासना को पूरी करने की भावना से अनेक जीवों को दुःख एव कष्ट देता है। अपने स्वार्थ को साधने के लिए अनेक प्राणियों का निर्दयता पूर्वक वध करता है। इस प्रकार क्रूर कर्म में प्रवृत्त होकर पाप कर्म का सग्रह करता है और परिणाम स्वरूप नरक-तिर्यंच आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे आरम्भ-समारम्भ आदि दोषों से भी बचे रहते हैं और परिणाम स्वरूप नरक आदि गतियों की वेदना को भी नहीं भोगते।

इससे यह स्पष्ट होता है कि संसार परिभ्रमण का कारण कर्म है। प्रमाद के आसेवन से पाप कर्म का बन्ध होता है। और फलस्वरूप नरक आदि योनियों में महावेदना का संवेदन करना होता है। यह कथन सर्वज्ञ पुरुषों ने अपने निरावरण ज्ञान में देखकर किया है। और उसी के अनुरूप श्रुत केवलियों ने किया है। श्रुत-केवलियों की निरूपण शक्ति सर्वज्ञों जैसी ही है। अतः इस बात को मानने में किसी प्रकार का सशय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि जब सर्वज्ञ एवं श्रुत केवली की तत्त्व निरूपण शैली एक समान है, तब फिर सर्वज्ञता एव छद्मस्थता में क्या अन्तर रहा? इसका समाधान यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान निरावरण होता है। अत वे बिना किसी भी सहायक के स्वयं अपनी आत्मा से लोक के समस्त पदार्थों को देखते-जानते हैं। परन्तु श्रुत केवली का ज्ञान निरावरण नहीं होता। वे सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों को हृदयंगम करके उसी का उपदेश देते हैं। इसलिए उनका उपदेश सर्वज्ञ वचनों के सदृश होता है।

श्रुत केवली वाद-विवाद को मिटाने में समर्थ हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे-सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जा-

वेयव्वा परियावेयव्वा परिघित्तव्वा उद्दवेयव्वा, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेय, तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी—से दुद्दिट्ठ च मे दुस्सुय च मे दुम्मय च म दुव्वि गणाय च मे उड्ढ अहं तिरियंदिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च मे, जं णं तुब्भे एवं आइक्खह एवं भासह एव परूवेह एवं पण्णवेह—सव्वे पाणा ४ हंतव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, वय पुण एवमाइक्खामो एव भासा मो एव परूवेमो एवं पण्णवेमो-सव्वे पाणा ४ न हंतव्वा १ न अज्जावेयव्वा २ न परिघित्तव्वा ३ न परियावेयव्वा ४ न उद्दवे यव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं पुव्व निकाय समयं पत्तेयं पत्तेय पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया ! किं मे सायं दुक्खं असाय ?,समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया -सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्ख, त्तिबेमि ॥१३४॥

छाया—यावन्तः केचन लोके श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च पृथक् पृथग् विवादं वदन्ति तद् दृष्टं च न (अस्माभिरस्माकं वा) श्रुतं च नः मतं च नः विज्ञातं च नः ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सुप्रत्युपेक्षितं च नः सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वा हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परितापयितव्याः परिगृहीतव्या अपद्रावयितव्या अत्रापि जानीत नास्त्यत्र दोषः अनार्य वचन-

मेतत् तत्र ये आर्याः ते एवमावादिषुः तद् दुर्दृष्टं च युष्माभिः दुःश्रुतं च युष्माभिः दुर्मतं च युष्माभिः दुर्विज्ञातं च युष्माभिः ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः दुष्प्रत्युपेक्षितं युष्माभिः यदेतत् यूयमेवमाचक्षध्वे एवं भाषध्वे एवं प्ररूपयथ एवं प्रज्ञापयथ सर्वप्राणा ४ हन्तव्या ५ अत्रापिजानीथ नास्त्यत्र दोषोऽनार्यवचनमेतत् वयं पुनरेवम् आचक्ष्महे एवं भाषामहे एवं प्ररूपयामः एवं प्रज्ञापयामः सर्वे प्राणाः४ न हन्तव्याः१ न आज्ञापयितव्याः न परिगृहतव्या ३ न परितापयितव्याः४ न अपद्रापयितव्याः५ अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः आर्यवचनमेतत् पूर्वं निकाच्य समयं प्रत्येकं--प्रत्येकं प्रश्नयिष्यामि भो प्रवादुका ! किं युष्माकं सातं दुःखं उतासातम् ? सम्यक् प्रतिपन्नान् चापि एवं ब्रूयात् सर्वेषां प्राणिनां सर्वेषां भूतानां सर्वेषाँ जीवानां सर्वेषां सत्त्वानाम् असातम् अपरिनिर्वाणं महद्भयं दुःखमिति इति ब्रवीमि।

पदार्थ— **आवन्ति** जितने। **केयावन्ति**—कितने एक। **लोयंसि**—लोक मे। **समणा**—श्रमण। **य**—और **माहणा**—ब्राह्मण **य**—समुच्चयार्थक है। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **विवादं**—विवाद को। **वयन्ति**—कहते हैं। **से**—जो मैंने। **दिट्ठ**—देखा है। **च**—शब्द उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है। **णे**—हमने। **सुय**—सुना है। **णे**—हमने। **मय**—माना है। **णे**—हमने। **विण्णायं**—जाना है। **णे**—हमने। **उड्ढ**—ऊंची। **अहं**—नीची। **तिरियं**—तिर्यक्। **दिसासु**—दिशाओं में। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सुपडिलेहियं**—सुष्टु प्रकार से पर्यालोचन किया है। **णे**—हमने वा हमारे तीर्थंकरों ने। **च**—प्राग्वत् जानना चाहिए। **सव्वे**—सब। **पाणा**—प्राणी। **सव्वेजीवा**—सब जीव। **सव्वे भूया**—सब भूत। **सव्वेसत्ता**—सब सत्त्व। **हतव्वा**—हनन करने चाहिए। **अज्जावेयव्वा**—उनसे आज्ञा से काम कराना चाहिए। **परियावेयव्वा**—उन्हें परिताप देना चाहिए। **परिघेत्तव्वा**—उन्हें पकड़ना चाहिए। **उववेयव्वा**—उन्हें मरणान्त कष्ट देना चाहिए। **इत्यात्रि**—धर्म चिन्ता मे वा यज्ञादि मे। **जाणह**—समझो। **नत्थित्थदोसो**। यहां पर अर्थात् यज्ञादि के लिए पशुओं के मारने में कोई दोष नहीं है। **अणारियवयणमेय**—पापानुबन्धी होने से यह कथन अनार्यो का है। **तत्थ**—वाक्योपन्यास अथवा निर्धारण में जानना, वहा पर। **जे**—जो। **आयरिया** आर्य हैं। **ते**—वे। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहते हैं। **से मे दुद्दिट्ठं**—यह तुम्हारा देखना दुष्ट है। **च**—उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है। **मे दुस्सुयं**—तुम्हारा यह सुनना मिथ्या है। **च**—पुन। **मे दुम्मय**—तुम्हारा यह मानना मिथ्या है। **मे दुव्विण्णाय**—तुम्हारा यह विज्ञान विशेष रूप में ज्ञात भी—मिथ्या है दुर्विज्ञात है। **च**—प्राग्वत्। **मे**—आपके द्वारा। **उड्ढं**—ऊंची। **अह**—नीची। **तिरियं**—तिर्यक्। **दिसासु**—

दिशाओं में। सव्वओ—सब प्रकार से। दुप्पडिलेहियं—दुष्प्रतिलेखित या दुष्प्रत्युपेक्षित है। च—और। मे—आपने। णं—वाक्यालंकार में। णं—जो वक्ष्यमाण। तुब्भे—तुम लोग। एव—इस प्रकार। आइक्खह—कहते हो। एवं—इस भांति। भासह—भाषण करते हो। एव—इस भांति। परूवेह—प्ररूपण करते हो। एवं—इस भांति। पण्णवेह—प्रज्ञापन करते हो। सव्वेपाणा ४—सब प्राणी—भूत जीव और सत्त्व। हंतव्वा ५—मारने चाहिए, आज्ञा द्वारा उनसे काम लेना चाहिए, परिताप देना चाहिए, पकड़ना चाहिए और मरणान्त कष्ट देना चाहिए। इत्थवि—इस यज्ञादि में। जाणह—जान लो। नत्थित्थ दोसो—इन क्रियाओं में कोई दोष नहीं है। अणारियवयणमेयं—हिंसा युक्त होने से—यह सब अनार्य वचन है। वयं—हम। पुण—फिर। एवं—इस प्रकार। आइक्खामो—कहते हैं। एवं—इस प्रकार। भासामो—भाषण करते हैं। एवं—इस प्रकार। परूवेमो—प्ररूपण करते हैं। एवं—इस प्रकार पण्णवेमो—प्रज्ञापन करते हैं। सव्वेपाणा ४—सब प्राणी, सब भूत सब जीव और सब सत्त्व। न हंतव्वा—नहीं मारने चाहिए। न अज्जावेयव्वा—उनसे बलात् काम नहीं लेना चाहिए। न परिघित्तव्वा—नहीं पकड़ना चाहिए। न परियावेयव्वा—उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए। न उद्दवेयव्वा—न ही मरणान्त कष्ट देना चाहिए। इत्थवि—इस स्थान पर भी तुम। जाणह—जान लो। नत्थित्थ दोसो—इस अहिंसा रूप क्रिया में कोई दोष नहीं। आयरियवयणमेयं—यह आर्यवचन है। पुव्वं—पहले। समयं—आगम को। निकाय—व्यवस्था करके फिर। पत्तेयं पत्तेयं-प्रत्येक को। पुच्छिस्सामि—पूछूंगा। हंभो पवाइया—हे प्रवादियो, वादियो! किं—क्या। भे—आपको। सायं दुक्खं असायं—साता में दुःख है कि वा असाता में? अथवा दुःख यह साता रूप मन को प्रसन्न करने वाला है या मन के प्रतिकूल असाता रूप है? दुःख को साता रूप मानना लोक आगम और अनुभव के विरुद्ध है और यदि असाता रूप कहें तब तो इस प्रकार से। समियापडिवन्नेयावि—यथार्थता को प्राप्त होने वाले यथार्थ कहने वाले उन वादियों के प्रति। एवं—इस प्रकार। बूया—कहना चाहिए। सव्वेसिं पाणाणं—सब प्राणियों को। सव्वेसिं भूयाणं—सर्व भूतों को। सव्वेसिं जीवाणं—सर्व जीवों को। सव्वेसिं सत्ताणं—सर्व सत्त्वों को। असायं—असाता। अपरिनिव्वाणं—अनिर्वृत्ति रूप। महब्भयं—महान भय है। दुक्खं—दुःख रूप है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस लोक में जितने मनुष्य हैं उनमें कितने एक श्रमण और ब्राह्मण पृथक् २ विवाद करते हुए इस प्रकार कहते हैं—हम ने देख लिया है, सुन लिया है मान लिया और जान लिया है, इतना ही नहीं किन्तु ऊर्ध्व अधः और तिर्यगादि सभी दिशाओं में भली भांति पर्यालोचन कर लिया

है कि सभी प्राणो, सभी भूत, सभी जीव और सत्व (यज्ञादि के वास्ते; हनन करने चाहिए) उनसे वलात् काम लेना चाहिए, उनको परिताप देना चाहिए, उनको पकडना और मरणान्त कष्ट पहुचाना चाहिए, धार्मिक क्रियानुष्ठान के सम्पादनार्थ इस काम मे कोइ दोष नही है, परन्तु यह, अनार्य वचन है अर्थात जो आर्य नही, यह उनका कथन है, और जो आर्य है वे इस प्रकार कहते है कि तुमने भली प्रकार से नही देखा, भली प्रकार से नही सुना, भली प्रकार से नही माना भली, प्रकार से नही जाना, और तुमने ऊ़ची, नीची और तिरछी आदि सभी दिशाओ मे भली प्रकार से पर्यालोचन भी नही किया ? जो कि तुम इस प्रकार कहते हो, इस प्रकार भाषण करते हो, इस प्रकार प्ररूपण करते हो और इस प्रकार प्रज्ञापन करते हो कि— सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व (यज्ञादि के वास्ते मारने चाहिए), जान लो कि इसमे कोइ दोष नही ? परन्तु यह कथन अनार्यों का है, आर्यो का नही ? और जो हम आर्य है, वे इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार भाषण करते, इस प्रकार प्ररूपणा और प्रज्ञापना—करते है कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्व न तो मारने चाहिए न उनसे वलात् काम कराना चहिए न उन्हें सन्ताप देना चाहिए एव न उन्हे पकडना और न उन पर उपद्रव करना चाहिए, यहा पर भी जान लो, समझ लो कि इस काम मे कोई भी दोष नही है ! यह आर्य वचन है अर्थात् आर्य पुरुषो का कथन है जो कि निर्दोष है । हे प्रवादियो ! तुम पहिले अपना समय-आगम विहित सिद्धात स्थापित करो, फिर मैं तुम मे प्रत्येक को पूछू गा कि दुःख साता मे है या असाता मे ? यदि कोई इसका यथार्थ उत्तर दे कि दुःख असाता मे है साता मे नही तो उनके प्रति इस प्रकार कहना चाहिए कि सब प्राणियो को, सब भूतो को, सब जीवो और सब सत्त्वो की असाता, अनिर्वृत्ति रूप है, महा भय रूप है और महादुःख रूप है। इस प्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आर्य—अनार्य या सम्यक्त्व—मिथ्यात्व का स्पष्ट एवं मार्मिक विवेचन किया गया है। दुनिया में अनेक विचारक हैं। परन्तु तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न होने से उन सब की विचारधारा परस्पर टकराती है। इस लिए श्रमण—बौद्ध सांख्य आदि मत के भिक्षु और ब्राह्मणों—वैदिक धर्म को मानने वालों का परस्पर संघर्ष होता रहता है। भागवत के मानने वालों का कहना है कि २५ तत्त्वों का परिज्ञान कर लेने से जीव का मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा सर्व व्यापी, निष्क्रिय निर्गुण और चेतना है, संसार में निर्विशेष सामान्य ही एक तत्त्व है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ज्ञान कर लेने से मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा समवाय, ज्ञान इच्छा प्रयत्न द्वेष आदि गुणों से युक्त है और सामान्य एवं विशेष दोनों परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

बौद्ध विचारकों ने आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना। उनके विचार में सभी पदार्थ क्षणिक हैं। आत्मा भी प्रतिक्षण नई-नई उत्पन्न होती है। और पुरानी आत्मा का नाश होता रहता है। इस प्रकार वह अनित्य है, अशाश्वत है।

मीमांसक सर्वज्ञ एवं मुक्ति को नहीं मानते। कुछ विचारक पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को सजीव नहीं मानते। कुछ वनस्पति को निर्जीव मानते हैं। कुछ नास्तिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को ही नहीं मानते। कुछ लोगों का कहना है कि हमारे महर्षि सब जीवों को जानते हैं। उनका उपदेश है कि वेद विहित यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान में किसी भी प्राणी का वध करना या उसके अंगों का छेदन-भेदन करना दोष युक्त नहीं है। उक्त क्रिया से उन जीवों का कल्याण होता है, उन्हें स्वर्ग आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है*। वेद विहित यज्ञ में की गई हिंसा हिंसा नहीं है। वह मांस अभक्ष्य नहीं, भक्ष्य है। जो व्यक्ति वह मांस नहीं खाता है, वह प्रेत्य होता है*। श्राद्ध और मधुपर्क में आमन्त्रित व्यक्ति यदि मांस नहीं खाता है, तो वह मर कर २१ जन्म तक पशु होता है†। इस प्रकार वेद विहित हिंसा में पाप

---

* यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा, यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः।
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः।
—मनु स्मृति, ५, ३९, ४०

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः,
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्। —मनु, ५, ३५

† [illegible]
[illegible] पशुर्भवति।

नहीं लगता । उसमें धर्म ही होता है।

उक्त कथन आर्यत्व का नहीं, अनार्यत्व का संसूचक है। क्योंकि आर्य पुरुष किसी भी स्थिति में हिंसा में धर्म नहीं मानते हैं। हिंसा हिंसा ही है, वेद आदि धर्म ग्रंथों में उल्लेख होने मात्र से वह अहिंसा नहीं हो सकती। अपने स्वाद का पोषण करने एवं स्वार्थ को साधने हेतु किसी प्राणी को मारना या परिताप देना पाप ही है। ऐसी स्थिति मे धर्म के नाम पर हिंसा करना तो पाप ही नहीं, महापाप है, पतन की पराकाष्ठा है। धर्म सब प्राणियों का कल्याण करने वाला है, सब को शान्ति देने वाला है। उसके नाम पर जीवों को त्रास देना धर्म की हत्या करना है।

यह तो सूर्य के उजाले की भाति साफ है कि हिंसा में धर्म नहीं है। धर्म वही है, जिसमें प्राणीमात्र के हित की भावना रही हुई है। और ऐसी क्रिया में हिंसा आदि पाप कार्यों का सर्वथा निषेध किया गया है। इसलिए हिसा आदि पाप कार्यों से निवृत्त व्यक्ति ही आर्य है और वे ही मोक्ष मार्ग पर चलने के अधिकारी हैं।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन-सम्यक्त्व

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में कर्मबन्ध एवं निर्जरा तथा संवर के स्वरूप को बताया गया है। उसके ज्ञान के बाद यह जरूरी है कि कर्म के आगमन के द्वार को रोककर पूर्व बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा करके कर्मों का आत्यन्तिक क्षय किया जाए। इस लिए प्रस्तुत उद्देशक में निर्जरा के साधन तप का उल्लेख किया गया है। सम्यग् ज्ञान पूर्वक किए गए तप से कर्म नष्ट होते हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो ॥१३५॥

छाया—उपेक्षस्व (णं) बहिः लोकं स सर्वलोके ये केचिद् विज्ञाः अनुविचिन्त्य पश्य निक्षिप्त दण्डाः ये केचित् सत्त्वाः पलितं—कर्म त्यजन्ति नराः मृतार्चाः धर्मविदः इति ऋजवः आरम्भजं दुःखमिदमिति ज्ञात्वा एवमाहुः सम्यक्त्व दर्शिनः—समस्त दर्शिनः ते सर्वे प्रावादिका दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में प्रयुक्त हुआ है। लोगं—अन्य धर्मावलम्बी व्यक्तियों को। बहिया—धर्म से बाहिर आचरण करते देख कर। उवेहि—उपेक्षा करनी चाहिए। से—वह। सव्वलोगंमि—समस्त लोक में। जे—जो। केइ—कोई—लोक में विद्वान हैं, उनसे भी श्रेष्ठ। विण्णू—विद्वान ही जाता है। अणुवीइ—ऐसा विचार [illegible]। [illegible]—

जिन्हों ने दंड को त्याग दिया है। जे केइ—जो कोई धर्म के ज्ञाता। सत्ता—प्राणी हैं, वे —पलियं—कर्म को। चयति—छोड़ देते हैं। नरा—मनुष्य ही कर्म क्षय करने मे समर्थ है। मुयच्चा—जो शरीर को शृंगारित नही करने वाला है, तथा कषाय विजेता है। धम्मविउत्ति—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का ज्ञाता है। अज—सरल प्रकृति का है। आरंभज दुक्खमिणति—आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दुःख को। णच्चा—जानकर। एवममाहु—इस प्रकार कहते हैं। समत्तदंसिणो—सम्यगदृष्टि। ते सव्वे पावाइया—तथा वे सब यथार्थ वक्ता तीर्थंकरादि। दुक्खस्स—दुःख के कारण में। कुसला—कुशल। परिण्णं—परिज्ञा को। उदाहरंति—कहते हैं। इय—इस प्रकार। सव्वसो—सब प्रकार से। कम्म—कर्म को। परिण्णाय—जानकर उसके स्वरूप को भी बताते हैं।

मूलार्थ—हे आर्य ! तू अन्यधर्मावलम्वी लोगों को देख और उन्हें धर्म से बाहर आचरण करते हुए जान कर उनमे मध्यस्थ भाव रख। इस लोक मे जो अक्षरी ज्ञान मे निपुण एव विद्वान हैं, त्यागी व्यक्ति उनसे भी अधिक विद्वान है। जिसने मन, वचन और काय दण्ड का त्याग कर दिया है। जो धर्म के परिज्ञाता, कर्मों का त्याग करने वाले, शरीर का शृंगार नही करने वाले और सरल स्वभाव के हैं, वे आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दुःख को जानकर उनका वर्णन करते हैं। वे सम्यगदृष्टि कहते हैं कि सभी तीर्थंकर दुःख के कारणो को जानने मे कुशल हैं एव परिज्ञा का उपदेश देता है। इस तरह सब प्रकार से कुशल व्यक्ति कर्म के स्वरूप को जानकर उसका यथार्थ विवेचन करते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्त्व को दृढ़ बनाए रखने का उपदेश दिया है। धर्म-निष्ठ व्यक्ति को विपरीत बुद्धि एवं आचरण में प्रवृत्त व्यक्तियों का साथ नहीं करना चाहिए। वे कितने भी पढ़े-लिखे एवं प्रौढ़ विद्वान भी क्यों न हों, परन्तु सम्यग् ज्ञान एवं आचरण के अभाव के कारण, वे वास्तविक त्याग-निष्ठ मुनि की समता नहीं कर सकते। इसलिए त्यागी सन्त को उनसे भी अधिक विद्वान कहा है। इसका कारण यह है कि जो सम्यगदृष्टि है, वह ससार के स्वरूप को भली-भांति जानता है और यह भी जानता है कि आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होने से पाप कर्म का बन्ध होगा और ससार परिभ्रमण बढ़ेगा। इसलिए वह अपने योगों को हिंसा

आदि दोषों से बचाकर रखता है। परन्तु जिसे अपने स्वरूप एवं लोक का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह बाहरी ज्ञान से संपन्न होने पर भी आरम्भ समारम्भ एवं पापों से बच नहीं सकता और हिंसादि दोषों में प्रवृत्त होने के कारण पाप कर्म का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करता है। अतः त्यागी मनुष्य ही वास्तव में विद्वान है।

दुःख का मूल कारण कर्म ही है और कर्म का बीज राग-द्वेष एवं हिंसा आदि दोषजन्य प्रवृत्ति है। इस लिए तीर्थंकरों ने सब प्रकार के कर्मों को छोड़ने का उपदेश दिया है। क्यों कि कर्म छोड़ने का अर्थ है—राग-द्वेष का क्षय करना। राग-द्वेष कर्म का मूल है, और जब मूल का नाश हो जाएगा तो फिर कर्म वृक्ष तो स्वतः ही सूखकर ठूंठ हो जाएगा, निस्सत्व हो जाएगा। इससे स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने हिंसा आदि दोष का त्याग करके वीतराग अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

निष्कर्ष यह निकला कि कर्म क्षय का सर्व श्रेष्ठ मार्ग है— सत्य और संयम का परिपालन और यह महापुरुषों की संगति से ही प्राप्त हो सकता है। अतः साधक को अपनी निष्ठा—श्रद्धा को शुद्ध बनाए रखने एवं तप तथा त्याग में तेजस्विता लाने के लिए ज्ञान एवं चारित्र हीन व्यक्तियों की संगति का त्याग करके चारित्र-निष्ठ व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए, उनके पास बैठना चाहिए।

संसार एवं कर्मों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने से श्रद्धा में दृढ़ता आ जाती है। अतः इसके बाद साधक को कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्म क्षय की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे ॥१३६॥

छाया—इह आज्ञाकांक्षी पण्डितोऽस्नेहः आत्मानमेकं संप्रेक्ष्य धुनियात् शरीरकं, कृश आत्मानं जर आत्मानं—यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाह प्रमथ्नाति एवमात्मसमाहितः अस्नेहः परित्यज क्रोधमविकम्पमानः।

पदार्थ—इह—इस जिन शासन में। आणाकंखी—भगवान की आज्ञा का आकांक्षी।

पडिए — पडित । अणिहे — स्नेह— राग-द्वेष रहित होकर । एगमप्पाण — अपने एक आत्मा को संपेहाए — भली-भाति देखे, और वह । सरीर धुणे — शरीर को सुखावे । अप्पाण कसेहि— शरीर को कृश करे । अप्पाण जरेहि—शरीर को जीण करे । जहा — जैसे । जुन्नाइ कट्ठाइ —पुराने काष्ठ को । हव्वावाहो — अग्नि । पमत्थइ — शीघ्र ही भस्म कर देती है । एव — इसी प्रकार । अत्तसमाहिए — समाधिस्थ आत्मा । अणिहे — स्नेह रहित होकर तप रूप अग्नि से कर्म रूप काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है । अत हे शिष्य ! तू । कोह — क्रोध आदि का । विगिंच — परित्याग करके । अविकंपमाणे — कप रहित—निश्चल, स्थिर हो ।

मूलार्थ—इस जिन शासन मे भगवान की आज्ञा के अनुरूप चलने वाला पडित पुरुष स्नेह-राग रहित होकर अपनी आत्मा के एकत्व भाव को समझकर शरीर को सुखा लेना है । अत हे आर्य ! तू तप के द्वारा शरीर कर्मों को कृश एव जीर्ण करने का प्रयत्न कर । जैसे अग्नि पुराने काष्ठ को तुरन्त जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार स्नेह-राग रहित समाधिस्थ साधक तप रूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप काष्ठ को जला देता है । इसलिए हे आर्य तू ! क्रोध का परित्याग करके निष्कम्प-स्थिर मन वाला बनने का प्रयत्न कर ।

हिन्दी विवेचन

संसार मे कर्मबन्ध का कारण स्नेह-राग भाव है । स्नेह का अर्थ चिकनाहट भी होता है । इसी कारण तेल को भी स्नेह कहते हैं । हम देखते हैं कि जहा स्निग्धता होती है, वहा मैल जल्दी जम जाता है । इसी प्रकार जिस आत्मा में राग भाव रहता है, उससे ही कर्म आकर चिपकते हैं, राग भाव से रहित आत्मा के कर्म वन्ध नहीं होता । यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि पडित पुरुष राग रहित होकर आत्मा के एकत्व स्वरूप का चिन्तन करके शरीर अर्थात् कर्मों को पतला कर देता है और एक दिन निष्कर्म हो जाता है ।

'अणिहे' शब्द का सस्कृत में 'अनिहत' रूप भी बनता है । इसका अर्थ होता है—जो विषय-कषाय आदि भाव शत्रुओं से अभिहत न हो । इसका तात्पर्य यह हुआ कि वीतराग आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला साधक आन्तरिक शत्रुओं से परास्त नहीं होता है । ऐसा साधक ही स्नेह-राग भाव से निवृत्त होकर आत्म समाधि मे संलग्न हो सकता है । इस लिए साधक को राग-भाव का त्याग करके तप के द्वारा शरीर को कृश एवं जीर्ण बनाना चाहिए । क्योंकि प्रज्वलित अग्नि में जीर्ण काष्ठ जल्दी

ही जल जाता है उसी प्रकार तप से जीर्ण-शीर्ण बने कर्म भी जल्दी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्म समाधि प्राप्त करने के लिए साधक को राग भाव एवं क्रोध आदि अर्थात् कषायों का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि क्रोध आदि विकारों से आत्मा में सदा व्याकुलता बनी रहती है। योगों में स्थिरता नहीं आ पाती। मानसिक वैचारिक चंचलता एवं शारीरिक कंपन को दूर करके निष्कर्म बनने के लिए क्रोध आदि विकारों का त्याग करना आवश्यक है। इससे आत्म चिन्तन में स्थिरता आती है।

प्रश्न यह है कि वीतराग आज्ञा का परिपालन करने वाले साधक को योगों के स्थिर होने पर किस वस्तु का चिन्तन करना चाहिए? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं च जाण, अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि, त्तिबेमि ॥१३७॥

छाया—इदं निरुद्धायुष्कं संप्रेक्ष्य दुःखं च जानीहि अथवा आगामि [दुःखम्] पृथक् स्पर्शांश्च स्पृशेल्लोकं च पश्य विस्पन्दमानं ये निर्वृताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः तस्मादतिविद्वान् न प्रतिसंज्वलेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—इमं—यह मनुष्य भव। निरुद्धाउयं—परिमित आयु वाला है, यह। संपेहाए—विचार कर और। दुक्खं—क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले दुःखों को। जाण—जान। अदु—अथवा। आगमेस्सं—भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुःखों का और। पुढो—पृथक् पृथक् नरकों में। फासाइं फासे—दुःखों का स्पर्श करता है। च—समुच्चय अर्थ में। च—और। विफंदमाणं—दुःखों को दूर करने के लिए इधर-उधर भागते हुए। लोयं—लोक को। पास—देख। जे—जो। निव्वुडा—क्रोध आदि से निवृत्त हैं। पावेहिं—पाप कर्मों से निवृत्त हैं। अणियाणा—निदान कर्म से रहित हैं। ते—वे। वियाहिया—इच्छा; आशाओं से रहित हैं ऐसा कहा गया है। तम्हा—इस लिए। अतिविज्जो—प्रबुद्ध पुरुष। नो पडिसंजलिज्जासि—अपने हृदय में क्रोध को प्रज्वलित न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस मनुष्य जन्म को अल्पायुष्क समझकर

इसी जीवन मे क्रोध से होने वाले शारीरिक और मानसिक दु.खो को देख। इसके अतिरिक्त क्रोध से उत्पन्न होने वाले आगामी जन्मो के दु खो को समझ। क्योकि क्रोध के कारण ही जीव नरकादि योनियो मे भिन्न भिन्न प्रकार के कष्टो को अनुभव करते हैं। दुःख के वशवर्ती बना हुआ यह जीव उनसे बचने के लिए इधर-उधर भागता फिरता है यह भी तू देख। जो क्रोधादि विकारो एव पापकर्मो से निवृत्त हो गए है और निदान से रहित है। वे ही इच्छा रहित कहे जाते है। अत विद्वान पुरुष को कभी अपने हृदय मे क्रोध को प्रज्वलित नही करना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

जीवन सदा एक सा नहीं है। जन्म के बाद मृत्यु का आगमनन आरम्भ हो जाता है। प्रतिक्षण आयु कम होती रहती है। इस प्रकार मानव आयुष्य परिमित है। इसलिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। और विवेक पूर्वक संयम का परिपालन करना चाहिए। क्योंकि क्रोध आदि कषायों से विभिन्न दु ख एवं संक्लेश उत्पन्न होते हैं। क्रोध केवल वर्तमान के लिए ही दु ख रूप नहीं है, अपितु भविष्य मे भी वह मनुष्य को दु ख के गर्त मे गिरा देता है। कषायों के वश मानव नरक आदि योनियों में अनेक दु खों का सवेदन करता है। इस लिए साधक को दु.ख के मूल क्रोध आदि कषायों एवं पाप कर्मों से निवृत्त होकर तप आदि साधना में किसी भी प्रकार का निदान—कामना नहीं करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह निकला कि साधक को शात एव निष्पाप जीवन के साथ आकांक्षा का त्याग करना चाहिए। निराकांक्षी साधक ही समस्त कर्मों को क्षय करने मे समर्थ होता है। और वास्तव मे वही महाविद्वान एव प्रबुद्ध पुरुष है— जो क्रोध को प्रज्वलित नहीं होने देता है। क्रोध एवं कामना रहित व्यक्ति सदा सुख-शान्ति का अनुभव करता है। उसे कभी भी दु ख का अनुभव नहीं होता। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को कषाय एव कामना का त्याग कर सदा संयम में सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

। तृतीय उद्देशक समाप्त।

चतुर्थ अध्ययन-सम्यक्त्व

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में निष्काम तप का वर्णन किया गया है। तप का संयम साधना के साथ सम्बन्ध है। वह भी चारित्र का एक अंग है। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक में संयम—साधना—चारित्र का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् अावीलए, पवीलए, निप्पीलए जहित्ता पुव्वसजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि ॥१२८॥

छाया—आपीडयेत्, प्रपीडयेत् निष्पीडयेत् त्यक्त्वा पूर्व संयोगं हित्वोपशमं तस्मादविमनाः वीरः स्वारतः समितः, सहितः सदा यतेत, दुरनुचरो मार्गो वीराणामनिवर्तगामिनां विवेचय मांसशोणितं एष पुरुषः द्रविकः, वीरः आदानीयः व्याख्यातः यो धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये।

पदार्थ—पुव्वसंजोगं—मुमुक्षु पुरुष पूर्व संयोग को। जहित्ता—छोड़कर। उवसमं—हिच्चा—उपशम को प्राप्त कर मन, वचन और काय योग का दमन करने के लिए। आवीलए—थोड़ा तप करे, फिर। पवीलए—विशिष्ट रूप से करे। निप्पीलए—उससे भी उत्कृष्ट मर्यादित घोर तपश्चर्या करे। तम्हा—इसलिए। अविमणे—वैमनस्य से रहित। वीरे—वीर पुरुष। सारए—सम्यक् रूप से। समिए सहिए—समिति और ज्ञान से युक्त। सया—सदा। जए—यत्न पालन में संलग्न रहे, क्योंकि। दुरणुचरो—जो दुष्करता से आचरित किया जाए वह। वीराणंमग्गो—वीरों का मार्ग है। अनियट्टगामीणं—मोक्ष गमन का इच्छुक। विगिंच—उसके

द्वारा। मंस सोणिय—मास और शोणित को अलग कर देता है, अर्थात् ममस्त कर्मो को नष्ट करके शरीर रहित हो जाता है। एस—यह। पुरिसे—पुरुष। दविए—जो मोक्षगामी है, वह। आयाणिज्जे—आदेय वचन वाला। वियाहिए—कहा गया है। जे—जो व्यक्ति। बमचेरसि—ब्रह्मचर्य मे। वसित्ता—निवास करके। समुस्सय—तप के द्वारा शरीर एव कर्मोपचय को। धुणाइ—कृश करता है।

मूलार्थ—मुमुक्षु पुरुष पूर्व सयोग—असंयम का परित्याग एव सयम को स्वीकार करके तप साधना के द्वारा योगो का दमन करे, धीरे-धीरे योगो का निरोध करते हुए उनका सपूर्ण रूप से निरोध करे। इसके लिए वह वैमनस्य रहित, भली-भाति मर्यादा पूर्वक सयम मे सलग्न, समिति एव ज्ञान से युक्त होकर सयम का परिपालन करे। मोक्ष गामी वीर पुरुषो का मार्ग दुष्कर है। अतः हे शिष्य! तू तपश्चर्या के द्वारा मांस-शोणित को सुखा दे। जो साधक ब्रह्मचर्य मे स्थित रहकर तप के द्वारा शरीर एव कर्मोपचय को कृश करता है, वह सयमो, मोक्षगामी वीर और आदेय वचन वाला कहा गया है।

हिन्दी विवेचन

संयम—साधना का उद्देश्य कर्म क्षय करना है। और कर्म क्षय के लिए तपश्चर्या एक साधन है। इसलिए मुनि को तप के द्वारा कर्म क्षय करना चाहिए। यह तप-साधना दीक्षा ग्रहण करते ही प्रारम्भ करनी चाहिए। प्रारम्भ मे सामान्य रूप से तप करना चाहिए। इससे धीरे-धीरे आत्म शक्ति का विकास होगा। और संयम में तेजस्विता आएगी। अत: साधु को आगमों का अध्ययन करने तक थोडी-थोडी तपश्चर्या करनी चाहिए। आगम का भली-भाति अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद, उसके परिणामों में परिपक्वता आ जाए तब उसे विशिष्ट तप करना चाहिए। और साधना के पथ पर चलते हुए उसे यह निश्चय हो जाए कि अब शरीर शिथिल हो गया। अब यह अधिक दिन रहने वाला नहीं है, तब पूर्णतया आहार-पानी त्याग करके जीवन पर्यन्त के लिए तप स्वीकार करके शान्तिभाव से समाधि मरण को प्राप्त करे। इस तप के साथ किसी भी प्रकार इस लोक या परलोक सम्बन्धी यश-प्रशसा एवं भौतिक सुख की कामना नहीं होनी चाहिए। निष्काम भावमे एकान्त निर्जरा की दृष्टि से किया गया तप ही कर्मक्षय करने में समर्थ होता है।

तप-साधना का प्रमुख उद्देश्य कार्मण शरीर को कृश करना है। कार्मण शरीर की कृशता से ही आत्म गुणों का विकास होता है। इस अपेक्षा से आपीडन आदि शब्दों का यह अर्थ होगा—चौथे से सातवें गुणस्थान तक आपीडन—सामान्य तप, आठवें और नवमें गुणस्थान में प्रपीडन-विशेष तप और दसवें गुणस्थान में निष्पीडन-मास-क्षमण आदि तप अथवा औपशमिक श्रेणी में आपीडन तप क्षपक श्रेणी में प्रपीडन तप और सूक्ष्मसंपराय आदि शैलेसि अवस्था में निष्पीडन तप होता है। तप साधना के लिए यह शास्त्रीय पद्धति है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि असंयम का त्याग करके उपशम भाव को प्राप्त व्यक्ति तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। जो व्यक्ति ज्ञान एवं समिति से युक्त है, वही तप एवं संयम मार्ग पर चल सकता है। साधना का, मुक्ति का, संयम का मार्ग कायरों का नहीं वीरों का है। इसका आचरण करना सरल नहीं है। वही व्यक्ति इस पथ पर चल सकता है; जो संसार के स्वरूप को भली-भांति जानता है और ब्रह्मचर्य से युक्त है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति कर्मों को शीघ्र ही क्षय कर देता है। परन्तु उसके पालन के लिए इन्द्रिय एवं मन को विशेष रूप से वश में रखना होता है। और उन्हें वश में रखने का उपाय है—तप। अर्थात् जिव्हा को नियन्त्रण में रखना। कहा भी जाता है कि—"एक इन्द्रिय—जिव्हा को भूखी रखने पर शेष चारों इन्द्रियं तृप्त रहती हैं और एक जिव्हा का पोषण करने पर चारों इन्द्रिय बुभुक्षित होकर इधर उधर उछल-कूद मचाती हैं।"

जिव्हा के पोषण से या प्रकाम भोजन से शरीर में मांस-खून एवं चर्बी बढ़गे। इससे विकार भाव जागेगा। मन एवं अन्य इन्द्रियें विषय भोगों की ओर आकर्षित होंगी इसलिए ब्रह्मचर्य का परिपालन करने वाले साधक के लिए यह बताया गया है कि वह तपश्चर्या के द्वारा मांस और शोणित को सुखा दे। मांस और शोणित की शक्ति निर्बल होने पर ब्रह्मचर्य की साधना भली-भांति चल सकेगी। और इस प्रकार साधक कर्म क्षय करने में सहज ही सफलता प्राप्त कर लेगा।

जो साधक पूर्ण आसक्ति का त्याग नहीं करता उसकी क्या स्थिति होती है, इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढ़िए बाले,
अव्वोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ

आणाए लंभो नत्थि, त्तिबेमि ॥१३६॥

छाया—नेत्रैः परिच्छिन्नैः आदान श्रोतोगृद्धो बालः (अज्ञ) अव्यवच्छिन्न बन्धनोऽनभिक्रान्तसंयोग तमसि अविजानत. आज्ञायाः लाभो नास्ति, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—नित्तेहिं—चक्षु आदि इन्द्रिय को विषय से निवृत्त करके। पलिच्छिन्नेहिं—फिर मोह कर्म के उदय मे। आयाण सोय गढिए—कर्म आने के स्रोत में आसक्त, वह। बाले—अज्ञानी जीव। अव्वोच्छिन्नबंधणे—जिसने कर्म बन्ध का छेदन नहीं किया है। अणभिक्कंत संजोए—जिसने सयोग का त्याग नही किया है। तमसि—जो मोह अन्धकार में स्थित है। अवियाणओ—जो मोक्ष के उपाय—साधन को नही जानता है, उस व्यक्ति को। आणाए—तीर्थंकर की आज्ञा का। लभो नत्थि—लाभ प्राप्त नहीं होता। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति विषयो से इन्द्रियो का निरोध करने पर भी मोह कर्म के उदय से आस्रव मे आसक्त हो गया है। और जिसने कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष का छेदन नही किया है, विषयो के सयोग को नही त्यागा है और जो मोह अन्धकार से बाहिर नही निकला है तथा मोक्ष मार्ग को नहीं जानता है, वह अज्ञानी व्यक्ति तीर्थंकर की आज्ञा का लाभ नही उठा सकता। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी मानव की मानसिक निर्बलता को बताया गया है। वह अपने आपको विषयों से निवृत्त कर लेता है। और इन्द्रियों को भी कुछ समय के लिए वश में रख लेता है। परन्तु फिर से मोह कर्म का उदय होते ही विषयों में आसक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसने आस्रव एवं बन्ध के मूल कारण राग-द्वेष का उन्मूलन नहीं किया। और न मोह कर्म का ही छेदन किया है। इसके अतिरिक्त उसे मोक्ष मार्ग का भी पूरा बोध नहीं है। इसी कारण वह मोह कर्म का थोड़ा-सा झोंका लगते ही अपने मार्ग से फिसल जाता है।

इसलिए साधक को सब से पहिले साध्य एवं साधन का ज्ञान होना चाहिए। मार्ग का यथार्थ बोध होने पर ही वह उस पथ पर सुगमता से चल सकेगा और

मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को भी दूर कर सकेगा। अत जिसे उस पथ का बोध नहीं है वह संसार की हवा लगते ही इधर-उधर भटक जाता है। इसी कारण उसे तीर्थंकर की आज्ञा का भी लाभ प्राप्त नहीं होता। क्योंकि न तो उसे उस मार्ग का बोध ही है और न उस पथ के प्ररूपक पर निष्ठा ही है ऐसी स्थिति में उसे लाभ कैसे मिल सकता है।

ऐसी आत्मा को न पीछे बोधि लाभ हुआ है, न अब होता है और न भविष्य में होगा। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुश्रो सिया ?, से हु पन्नाणमते वुद्धे श्रारंभोवरए, सम्ममेयति पासह, जेण वंधं वह घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय वाहिरगं च सोयं, निक्कमदसी, इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तश्रो निज्जाइ वेयवी ॥१४०॥

छाया—यस्य नास्ति पुरा पश्चात् मध्ये तस्य कुतः स्यात् ? स खलु प्रज्ञानवान् बुद्ध आरम्भोपरतः सम्यगेतत् पश्यत येन बन्धं वधं घोरं परितापञ्च दारुणं परिच्छिद्य बाह्य च स्रोत निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु कर्मणां सफलं दृष्ट्वा ततः निर्याति वेदवित्।

पदार्थ—जस्स—जिसको। पुरा—पूर्वकाल में सम्यक्त्व का लाभ। नत्थि—नहीं हुआ और। पच्छा—ना ही आगामी काल में सम्यक्त्व का लाभ होगा तो फिर। तस्स—उसको। मज्झे—मध्य काल में। कुओ—कहां से। सिया—सम्यक्त्व का लाभ होगा। हु—जिससे दोषों से निवृत्त हो गया है इस लिए। से—वह। पन्नाणमन्ते—प्रज्ञावान है। बुद्धे—तत्त्वों को जानने वाला है। आरम्भोवरए—आरम्भ से उपरत हो गया है, हे शिष्यो ! तुम। सम्ममेयंति—सम्यग् शोभन रूप इस सम्यक्त्व को। पासह—देखो क्योंकि। जेण—जिस कारण से। वंधं—बन्ध को। वहं—वध को। घोरं—घोर रूप। च—और। परियावं—परिताप को। दारुणं—दारुण रूप असहनीय को। पलिछिंदिय—दूर करके। च—पुन। वाहिरगं—बहिर के धन-धान्यादि। सोयं—स्रोत को भी दूर कर दिया है। निक्कमदंसी—मोक्ष या संवर

मार्ग के देखने वाला। इह—इस ससार मे। मच्चिएहिं—मनुष्यो के मध्य मे। कम्माण—कर्मों के। सफलं—फल को। दट्ठूण—देख कर। तओ—तत्पश्चात्। वेयवी—आगमो के जानने वाला। निज्जाइ—कर्मो के स्रोत से पृथक् हो जाता है। अर्थात् निष्कर्मदर्शी आत्मा कर्मों के स्रोत से निर्गच्छति-निकल जाता है। सकाम व अकाम निर्जरा से कर्मो को नष्ट कर देता

मूलार्थ—जिस आत्मा को पूर्व काल मे सम्यक्त्व का लाभ नही हुआ आगामी काल में होने का नही तो फिर उसको मध्य काल मे सम्यक्त्व का लाभ किस प्रकार हो सकता है ?

हे शिष्यो! तुम उन बुद्धिमानो तथा तत्त्वो को जानने वाले आरभ से निवृत्त और सम्यग् देखने वाले व्यक्तियो को देखो ! जिस कारण से बन्ध वध-घोर भयकर और दारूण परिताप को तथा बाह्य और आभ्यन्तरिक स्रोतो को दूर करके जो निष्कर्मदर्शी बने है वे इस लोक मे सबसे बढ कर है। आगमवेत्ता कर्मों के फल को देखकर तत्पश्चात् आश्रव स्रोत से निकल जाता है अर्थात् आस्रव का सर्वथा निरोध कर देता है।

हिन्दी विवेचन

कुछ जीव ऐसे है, जिन्होंने न अतीत काल मे सम्यक्त्व का स्पर्श किया है और न अनागत काल में करेंगे। उन जीवों को आगमिक भाषा में अभव्य जीव कहते है। वे कभी भी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं करते। आगम मे उनके लिए स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है कि अतीत काल मे उन्होंने सम्यक्त्व का स्पर्श किया और न अनागत मे करेंगे। और अतीत एवं अनागत इन दोनों काल मे अनन्त-अनन्त अवसर्पिणी—उत्सर्पिणी का समावेश हो जाता है। इनके मध्य का काल अर्थात् वर्तमान काल तो केवल एक समय का होता है। अत जब इन दोनों काल में वे सम्यक्त्व के प्रकाश को नहीं पासकते तो मध्य काल मे पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ऐसे अभव्य जीव कभी भी मोक्ष मार्ग पर नहीं चल सकते।

कुछ जीव ऐसे हैं कि जिन्होंने अतीत काल मे सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया परन्तु मोह कर्म के उदय से वे फिर से मिथ्यात्व मे गिर गए। ऐसे जीव अनागत काल में फिर से सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं। एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श करने के पश्चात् मिथ्यात्व में चले जाने पर भी वह अधिक से अधिक अपार्द्ध पुद्गल परावर्त तक मिथ्यात्व में रह सकता है। उसके बाद तो वह अवश्य ही

सम्यक्त्व को प्राप्त करके मुक्ति की ओर पग बढ़ाएगा ही।

जिन जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है, वे किसी भी प्राणी को मारने, काटने एवं पीड़ा पहुंचाने आदि आरम्भ एवं हिंसा जन्य कार्यों से अलग रहते हैं। वे आस्रव के द्वार को रोकते हुए सदा संयम-साधना में संलग्न रहते हैं। इसलिए उन्हें निष्कर्मदर्शी कहा गया है। उनकी दृष्टि संवरमय होती है। वे कर्म के शुभाशुभ फल को जानते हुए उससे—कर्म बन्ध से सदा दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।
वह प्रज्ञावान् भी होता ही। और जो प्रज्ञावान् होगा वह बुद्ध-बोध युक्त होगा ही।

यह सत्य है कि प्रत्येक कर्म फल युक्त होता है, कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। इसमें इतना अन्तर हो सकता है कि कुछ कर्म विपाकोदय रूप से वेदन किए जाते हैं। तो कुछ कर्म प्रदेशोदय से ही अनुभव कर लिए जाते हैं। कर्म आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत कषाय प्रमाद और योग इन पांच कारणों से कर्म का बन्ध होता है। जो व्यक्ति जीवाजीव आदि पदार्थों का ज्ञाता है वह आस्रव से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

तत्वों के जानने वाले व्यक्ति को प्रज्ञावान् कहते हैं। वह आगम के द्वारा संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारण कर्म तथा कर्म-बन्ध के कारण को भली-भांति जानता है। प्रस्तुत सूत्र में आगम के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद का अर्थ है—जिसके द्वारा संपूर्ण चराचर पदार्थों का ज्ञान हो उसे वेद कहते हैं और वे सर्वज्ञोपदिष्ट आगम हैं। उसके परिज्ञाता उसके अनुरूप आचरण करने वाले साधक कहलाते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मविकास एवं साम्य को सिद्ध करने का मूल सम्यक्त्व है। अतः मुमुक्षु पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में सभी तीर्थंकरों का यही अभिमत है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे खलु भो ! वीरा ते समिया सहिया सया-जया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा, पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठिंसु साहिस्सामो नाणं, वीराणं समियाणं, सहियाणं सया जयाणं

संघड़दंसिणं, आओवरयाण अहातह लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही ? पासगस्स न विज्जइ नत्थि. त्तिबेमि ॥१४१॥

छाया—ये खलु भो ! वीराः ते समिता सहिता सदायता निरन्तरदर्शिन आत्मोपरताः यथातथं लोकम् उपेक्षमाणाः प्राच्या प्रतीच्याँ दक्षिणायाम् उत्तरस्यामिव सत्ये परिचिते तस्थु कथयिष्यामि ज्ञानं वीराणां समितानां सहिताना दायतानां निरन्तर स दर्शिना आत्मोपरताना यथातथ लोक समुत्प्रेक्षमाणाना किमस्ति उपाधि पश्यकस्य न विद्यते नास्ति, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—खलु—वाक्यालंकार मे है । भो—हे आर्य ! जे—जो । वीरा—कर्म विदारण में समर्थ । ते—वे । समिया—समितियो से युक्त । सहिया—ज्ञान से युक्त । सयाजया—सदा य.न करने वाले। सघड दसिणो—निरन्तर देखने वाले। आओवरया—पाप कर्मों से उपरत हुए। जहातह—यथा तथा । लोयं—लोक को । उवेहमाणा—देखते हुए । पाईण—पूर्व दिशा में। दाहिणं—दक्षिण दिशा में। पडिण—पश्चिम दिशा में। उइण—उत्तर दिशा मे। इय—इस प्रकार। सच्चसि—सत्य मे। परिचिए—परिचित विषय मे । परिचिट्ठिसु—ठहरे हुए स्थिति वाले। सहिस्सामो—मैं तुम्हारे प्रति कहूंगा—सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यो के प्रति कहते हैं। हे शिष्यो मैं तीन काल के तीर्थंकरों का अभिप्राय तुम्हारे प्रति कहूँगा तुम सुनो किनका। वीराण—वीरो का। समियाण—समिति वालो का। सहियाण—ज्ञानयुक्तो का। सयाजयाण—सदा यत्न करने वालो का। संघड़दसीण—निरन्तर देखने वालो का। आओवरयाण—जिनका आत्मा पापो से निवृत्त है। अहातहं—यथा-तथा। लोय—लोक के। समुवेहमाणाण—समुत्प्रेक्षया वालो का। नाण—जो ज्ञान है। किमत्थि उवाही—क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि है ? नत्थि—नही होती हैं। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे आर्यो ? वे वीर पुरूष जो समितियो से युक्त ज्ञान से सयुक्त सदायत्न शील निरन्तर देखने वाले पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर दिशा मे व्यवस्थित, स्थिर सत्य व तप सयम मे अवस्थित थे मैं उन वीर पुरूषो का ज्ञान तुम्हारे प्रति सुनाऊंगा जो कि समित- समिति युक्त ज्ञान-युक्त सदा यत्नशील, निरन्तर देखने वाले पापो से उपरत, और यथावस्थित लोक के स्वरूप को देखने वाले हैं, वे कहते हैं सत्य मे सयम मे ठहरो ?

क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि होती है अर्थात् नहीं होती, इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल में होने वाले तीर्थंकर सत्य और संयम की साधना से कर्मों का नाश करते हैं। सत्य किसी एक देश, वस्तु विशेष या काल विशेष में सीमित नहीं, अपितु समस्त लोक व्यापी है और सब काल में स्थित रहता है। अतः सभी तीर्थंकरों के उपदेश में एकरूपता रहती है। तीर्थंकर सम्यक्त्व को मुक्ति का मूल कारण बताते हैं। क्योंकि सम्यक्त्व प्रकाश में अपना विकास करता हुआ व्यक्ति सब कर्मों का नाश कर देता है। अतः इस प्रकरण में संलग्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है। वह वीर साधक ५ समिति और तीन गुप्ति की साधना से ज्ञानावरण कर्म को अनावृत करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और आयु कर्म के क्षय के साथ समस्त कर्म आवरण को नष्ट करके निरावरण आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

चार घातिकर्मों को क्षय करने पर आत्मा में अनन्त चतुष्टय ज्ञान दर्शन सुख और वज्र-वीर्य-शक्ति का उदय होता है। उस निरावरण ज्ञान के प्रकाश में वह सारे संसार एवं लोक में स्थित सभी तत्त्वों को यथार्थ रूप से देखने लगता है। उससे संसार का कोई रहस्य गुप्त नहीं रहता। और वह महापुरुष कर्मों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के बल पर वह कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता है और एक दिन आत्म—विकास की चरम सीमा—१४वें गुणस्थान को लांघकर अपने साध्य—सिद्ध अवस्था को पा लेता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को रत्नत्रय की आराधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अर्थात् अप्रमत्त भाव से संयम का परिपालन करना चाहिए।

त्तिबेमि का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन समाप्त

पंचम अध्ययन लोकसार

प्रथम उद्देशक

चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्व का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व के बाद सम्यक् चरित्र का स्थान है। क्योंकि सम्यग् दर्शन का महत्त्व चारित्र के विकास में है। इस लिए लोक में चरित्र ही सार रूप माना गया है। प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी लोक-सार है। अत. इस अध्ययन मे चारित्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के नाम पर विचार करते हुए वृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है—

"लोगस्स उ को सारो ? तस्स य सारस्स को हवइ सारो ?
तस्स य सारो सार जइ जाणसि पुच्छिओ साह !

अर्थात्—गुरुदेव ! इस चौदह राजुलोक का सार क्या है ? तथा उस लोक के सार का सार तत्त्व एव उस सार का भी सार तत्त्व क्या है ? इसका समाधान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—

लोगस्स सारो धम्मो धम्मपि य नाणसारिय विंति
नाण सजमसार सजमसारं च निव्वाणं ॥

अर्थात्—लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सयम है, और संयम का सार निर्वाण-मोक्ष है। निष्कर्ष यह रहा कि लोक का सार संयम है और संयम-साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। संयम-साधना के अभाव मे कोई भी व्यक्ति मोक्ष को नहीं पा सकता है। अत सूत्रकार असंयमी—असाधु जीवन किसका होता है अर्थात् मुनित्व का अभाव किस में है, इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरू से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे ॥१४२॥

छाया—यावन्त केचन लोके विपरामृशन्ति अर्थायानर्थाय एतेषु विपरामृशन्ति गुरव तस्य कामा ततः स मारान्त (मारा ठर्वर्ती) यत स मारान्त तत स दूर नैवासौ अन्त नैवदूरे ।

पदार्थ—यावन्ती—जितने जीव असंयत हैं, उनमें । केयावन्ती—कितने एक । लोयंसि—लोक में । विपरामुसंति—अनेक विषयाभिलाषा से अनेक जीवों की घात करते हैं । अट्ठाए—प्रयोजन से । अणट्ठाए—निष्प्रयोजन से फिर वे जीव । एएसु—इन्हीं ६ कायों में च—पुन । एव—अवधारणार्थ में । विपरामुसंति—उत्पन्न होते हैं तथा अनेक प्रकार के दुःखों का संवेदन करते हैं फिर । से—उसको । गुरुकामा—काम भोगों का परित्याग करना कठिन हो जाता है । तओ—तदनुसार । से—वह । मारन्ते—जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहता है । जओ—जिससे । से—वह । दूरे—मोक्ष से दूर रहता है । से—वह । नेव—अन्तो विषय सुख के अन्तर्वर्ती भी नहीं है, और । नेव दूरे—न उससे दूर ही है ।

मूलार्थ—ससार म जितने भी असयत जीव हैं, उनमें कई जीव अनेक तरह से प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही अनेक जीवों की हिंसा करते है। इस कारण वे इन्हीं ६ काय के जीवों में उत्पन्न होते रहते है वे मोक्ष स दूर हैं। विषय भोगों के इच्छुक होने के कारण ससार से दूर भी नही हैं और विषय सुख का उपभोग भी नहीं कर सकते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा एवं हिंसाजन्य फल का उल्लेख किया गया है। कुछ असंयत मनुष्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष के लिए अनेक जीवों की हिंसा करते रहते हैं। अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए तो स्पष्ट रूप से हिंसा होती ही है। परन्तु कुछ लोग धर्म एवं मोक्ष के नाम पर किए जाने वाले यज्ञों एवं अन्य क्रियाकाण्डों में-पंचाग्नि होम धूप दीप आदि में अनेक जीवों की हिंसा करते हैं व प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही केवल मौज-शौक के लिए दूसरे प्राणियों का प्राण ले लेते हैं। जैसे मनोविनोद के लिए शिकार आदि दुष्कर्मों के द्वारा प्राणियों की हिंसा करते हैं। और परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके इन्हीं ६ काय के जीवों में उत्पन्न होते रहते हैं, जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं।

ऐसे व्यक्ति मोक्ष से दूर रहते हैं। क्योंकि सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र का परिपालन करना मोक्ष मार्ग है। और विषयाभिलाषी प्राणी रत्नत्रय की आराधना-साधना कर नहीं सकता। वह रात-दिन विषय-वासना में आसक्त रहता है; अतः मोक्ष से दूर कहा गया है।

विषयासक्त व्यक्ति रात-दिन भोगों मे संलग्न रहता है। अतिभोग के कारण उसकी इन्द्रियें जर्जरित हो जाती हैं, शरीर दुर्बल एवं रोग से घिर जाता है। इस तरह वह विषय जन्य सुख से वचित रहता है और मानसिक भावों से उस में लीन रहने के कारण वह ससार से दूर नहीं होता है। क्योंकि उसका चिन्तन सदा विषय-वासना में ही लगा रहता है। अत. वह निरन्तर जन्म मरण के प्रवाह मे वहता रहता है।

सम्यक्त्व की साधना करने वाले व्यक्ति के अध्यवसाय किस तरह के रहते हैं? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो-पुणो ॥१४३॥

छाया—स पश्यति उदकबिन्दुमिव कुशाग्रे प्रणुन्नं निपतितं वातेरितमेवं बालस्य जीवितं मन्दस्य अविजानतः क्रूराणि कर्माणि बाल प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति मोहेन गर्भमरणादिमेति अत्र मोह. पुनः पुनः।

पदार्थ— वह। सम्यग् दृष्टि व्यक्ति ससार को असार। पासइ—देखता है। कुसग्गे—कुशा—तिनके के अग्रभाग पर स्थित। फुसिमिव—जल विन्दु की तरह। बालस्स—बालक का। जीवियं—जीवन है। पणुन्न—कुशाग्र पर स्थित वह जल विन्दु अन्य जल विन्दु से या। वाएरिय—वायु से प्रेरित हुआ। निवइय—गिर जाता है। एव—इसी प्रकार बाल्यकाल का जीवन समझना चहिए। मंदस्स—विवेक विकल। अवियाणओ—परमार्थ को नही जानता हुआ। बाले—बाल जीव। कूराइं—क्रूर। कम्माइं—कर्म। पकुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस दुष्कर्म के फल स्वरूप। दुःखेण—दुःख से वह। मूढे—मूढ। विप्परियासमुवेइ—विपर्यास भाव को प्राप्त हो जाता है। मोहेण—मोह से मोहित व्यक्ति। गब्भ—गर्भ को एव। मरणाइ एइ—मृत्यु को प्राप्त होता है। एत्थ मोहे—इस मोह कर्म से। पुणो पुणो—बार बार चार गति में परिभ्रमण करता है।

मूलार्थ—वह सम्यक्त्वी प्राणी जैसे बाल जीवन को कुशाग्र पर स्थित जल विन्दु की तरह असार देखता है। कुशाग्र पर स्थित जल विन्दु दूसरो

बून्द या हवा के झोंके की प्रेरणा से शीघ्र ही गिर पड़ता है उसी तरह बाल्य काल भी कुछ दिनों में बीत जाता है। परन्तु विवेकहीन प्राणी इस परमार्थ सत्य को नहीं जानता। अतः वह अज्ञानी व्यक्ति क्रूर कर्मों को करता हुआ तज्जन्य,दुःखानुभूति से मूढ़ होकर विपरीत मार्ग का अनुगामी बन जाता है और मोह से आवृत होकर जन्म मरण के प्रवाह में बहता रहता है।

हिन्दी विवेचन—

दुनियां की प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है। प्रत्येक पदार्थ की पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। काल की गति के साथ-साथ जीवन की धारा भी बदलती रहती है। बाल्य काल के बाद जवानी आती है, यौवन का स्थान प्रौढ़ता ग्रहण करती है प्रौढ़ावस्था को परास्त करके बुढ़ापा मनुष्य को बुरी तरह से पछाड़ देता है काल मानव को एकदम परास्त कर देता है। उसके सामने किसी की शक्ति नहीं चलती। आसुरिक शक्ति भी उसका सामना नहीं कर सकती। यह स्थिति हमारे सामने से गुजरती है। फिर मोह कर्म से आवृत एवं विषयासक्त व्यक्ति जीवन की क्षणिकता की तरफ से आंख मूंदकर रात-दिन दुष्कर्मों में संलग्न रहता है। परिणामस्वरूप पाप कर्म को बांध करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

परन्तु सम्यग्दृष्टि इस बात को भलीभांति जानता है। वह जीवन की अस्थिरता से अपरिचित नहीं है। क्योंकि वह दर्शन मोह का क्षय या क्षयोपशम कर चुका है। इस से स्पष्ट होता है कि संसार परिभ्रमण एवं दुष्कर्मों में प्रवृत्ति का कारण मोह कर्म का उदय है। अतः मोह कर्म का नाश करने से आत्मा में विशिष्ट ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होते देर नहीं लगती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ ॥१४४॥

छाया—संशयं परिजानतः संसारः परिज्ञातो भवति संशयमपरिजानतः संसारोऽपरिज्ञातो भवति।

पदार्थ—संसयं—जो संशय को। परिआणओ—जानता है वह। संसारे—संसार के स्वरूप का। परिन्नाए भवइ— जानता है अ संसयं—संशय को। अपरियाणओ—नहीं जानता

है, वह। ससारे—ससार को भी। अपरिन्नाए भवइ—नही जानता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति सशय को जानता है, वह ससार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है। और जो सशय को नही जानता है, वह ससार के स्वरूप को भी नही जानता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पदार्थ ज्ञान और संशय का अविनाभाव संबन्ध माना गया है। यहां सशय का अर्थ है—पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा वृत्ति। इससे स्पष्ट होता है कि सशय ज्ञान के विकास का कारण भी है। जब मन मे जानने की जिज्ञासा वृत्ति उद्बुद्ध होती है, तो मनुष्य उस ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वह ज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहता है।

संशय—जिज्ञासा वृत्ति दो प्रकार की होती है— १-अर्थगत और २-अनर्थ-गत। मोक्ष एव मोक्ष के कारण भूत सयम आदि को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत सशय कहते हैं और ससार एवं संसार परिभ्रमण के कारणों को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत सशय कहते हैं। दोनों प्रकार के संशय से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। और ससार एव मोक्ष दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति ही हेय वस्तु का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इस लिए यह कहा गया है कि जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप को जानता है और जो शय को नहीं जानता है वह ससार को यथार्थत नहीं जान सकता।

संशय ज्ञान कराने में सहायक है। परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल सन्देह-शका करते रहने की कुटिल वृत्ति अपना ता है, तो वह सशय पतन का कारण बन जाता है। उससे पदार्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु व्यक्ति और अधिक अज्ञान अन्धकार से आवृत हो जाता है। इसी दृष्टि से कहा गया है—"सशयात्मा विनश्यति" अर्थात् सशयशील आत्मा का विनाश होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि सशय पदार्थ ज्ञान के लिए होना चाहिए। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के लिए जात सशय, सजात सशय और समुत्पन्न सशय ऐसा तीन वार उल्लेख किया गया है*। जात सशय की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार

*भगवती सूत्र।

अभय देव सूरि ने लिखा है— 'जात संशयो यस्य स 'जातसंशयः, संशयस्तु अनव-धारितार्थं ज्ञानं जातसंशय. इदं वस्त्वेवं स्यादेवमिति ।' अर्थात् जो ज्ञान पहिले धारण नहीं किया गया है उस की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले संशय को जात संशय कहते हैं। इस प्रकार यह संशय ज्ञान वृद्धि में कारणभूत है। इससे पदार्थों का यथार्थ बोध होता है और उनकी हेयोपादेयता का भी परिज्ञान होता है।

हेय एवं उपादेय वस्तु का त्याग एवं स्वीकार कौन कर सकता है? इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाण थ्रो विइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाय त्तिबेमि ॥१४५॥

छाया—यश्छेकः स सागारिकं—मैथुनं न सेवते कृत्वा एवमविजानत द्वितीया मदस्य बालता लब्धानपि अर्थान् प्रत्युपेक्ष्य आगम्य आज्ञापयत् अना सेवनतया इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो साधक निपुण है। से—वह। सागारियं—मैथुन कर्म को। न सेवइ—सेवन नहीं करता है, परन्तु जो अज्ञानी व्यक्ति मैथुन का आसेवन करता है, वह उस का सेवन। कट्टु—करके भी गुरु के पूछने पर। एवं—इस प्रकार। अवियाणओ—अपलाप करता है कि मैंने मैथुन का आसेवन नहीं किया है, यह। मंदस्स—उस मन्दमति वाले व्यक्ति की। विइया—दूसरी। बालया—अज्ञानता है। इसलिए मतिमान पुरुष को। लद्धा—विषयों का संयोग मिलने पर भी। हुरत्था—उसके विपाक को। पडिलेहाए—विचार कर। आगमित्ता—जानकर। अणासेवणाय—उनका सेवन नहीं करना चाहिए। आणविज्जा—और अन्य व्यक्तियों को विषयों से दूर रहने की आज्ञा देनी चाहिए। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जो साधक कुशल है निपुण है वह विषय-भोगों का आसेवन नहीं करता। परन्तु कुछ दुर्बुद्धि साधक विषय-वासना का सेवन करके भी गुरु आदि के पूछने पर उसे छुपाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि हमने मैथुन का सेवन नहीं किया। इस तरह पाप को छुपाकर रखना

उन मन्दवुद्धि साधको की दूसरी अज्ञानता है।

वुद्धिमान साधक विपयो की प्राप्ति होने पर भी उस ओर अपने योगो को नही लगाते। वे उनके विपाक-फल का विचार कर उसका सेवन नही करते और अन्य साधको को भी उनसे बचकर रहने का आदेश देते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बुद्धिमान साधकों की वुद्धिमत्ता, मूर्खों की अज्ञानता एव वुद्धिमानों के कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। वुद्धिमान वह है जो किसी भी परिस्थिति मे अपने साधनापथ से विचलित नहीं होता है। जिस वस्तु को ससार परिभ्रमण का कारण समझ कर त्याग कर दिया, उसे फिर स्वीकार करना या उसे ग्रहण करने की मन मे कल्पना करना अज्ञानता का परिचायक है। प्रवुद्ध पुरुष किसी भी स्थिति मे परित्यक्त विपय-भोगों के आसेवन की इच्छा नहीं रखते। वे सदा भोगों से दूर रहते हैं, क्योंकि वे उसके दुष्परिणामों से परिचित हैं।

परन्तु, जो मूर्ख हैं, वे त्याग के पथ पर चलकर भी भटक जाते हैं, विषय-वासना के साधनों को देखते ही वे उसके प्रवाह में वह जाते हैं। और उसका आसेवन करके भी उसे छुपाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दुष्कर्म को स्वीकार नहीं करते। गुरु के पूछने पर कहते हैं कि मैंने कोई दुष्कर्म नहीं किया। इस प्रकार पहिले तो पाप कर्म मे प्रवृत्त होते हैं और फिर उसे छुपाने के लिए-दूसरे पाप कर्म का सेवन करते हैं। यह उनकी दूसरी अज्ञानता है। इससे उनका जीवन पतन के गर्त में गिरता है और वे ससार मे परिभ्रमण करते रहते हैं।

प्रवुद्ध पुरुष विपय-भोगों के कटु परिणाम एव बाल-अज्ञानी जीवों द्वारा आसेवित विषय भोगों एव माया-मृषावाद के दुष्परिणामों को भली-भाति जानते हैं। इस लिए भोग्य-पदार्थों के उपलब्ध होने पर भी वे उसका सेवन नहीं करते हैं। वस्तुत सच्चा त्यागी वही है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त प्रिय भोगों का हृदय से त्याग कर देता है, उनके सेवन की बिल्कुल इच्छा-आकाक्षा नहीं रखता*।' और अपने अन्य साथी साधकों को भी भोगों की असारता एव उनके दुष्परिणाम बताकर, विषय वासना से दूर रहने का आदेश देता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

* जे य कते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ,
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवैकालिक, २, ३

मूलम्—पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थवि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणंति मन्नमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहु कोहे, बहुमाणे, बहुमाए, बहुलोभे, बहुरए, बहुनडे बहुसढे, बहु संकप्पे, आसवसक्की पलिउच्छन्ने, उट्ठियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू, अन्नाणपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया मानव! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुक्खमाहु—आवट्टमेव अणुपरियट्टंति, त्तिबेमि ॥१४६॥

छाया—पश्यत एकान् रूपेषु गृद्धान् परिणीयमानान् अत्र स्पर्शान् पुनः पुनः यावन्तः केचन लोके आरम्भजीविनः एतेषु चैव आरम्भजीवी अत्रापि बालः परिपच्यमानः रमते पापैः कर्मभिः अशरणं शरणमिति मन्यमानः इहैकेषामेकचर्या भवति स बहुक्रोधः बहुमानः बहुमायः बहुलोभः बहुरतः बहुनटः बहुशठः बहुसंकल्पः आस्रवसक्ती पलितावच्छन्नः उत्थितवादं प्रवदन् मा मां केचन अद्राक्षुः अज्ञानप्रमाददोषेण सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति आर्ताः प्रजाः मानव! कर्मकोविदा ये अनुपरता अविद्यया परिमोक्षमाहुः आवर्तमेव अनुपरिवर्तन्ते, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—पासह—हे मनुष्यो! तुम देखो। एगे—कई एक धर्म के मानने वालों को। रूवेसु—रूपादि में। गिद्धे—मूर्छित हुओं को परिणिज्जमाणे—नरकादि स्थानों में ले जाये हुओं को, फिर वे। इत्थ—इस संसार में। पुणो पुणो—पुनः पुनः। फासे—दुःख रूप स्पर्शों का अनुभव करने वाला भी तथा। आवंती—जितने भी। केयावंती—कई एक प्राणी। लोयंसि—लोक में। आरंभजीवी—आरम्भ से जीवन व्यतीत करने वाले। च—और फिर। एव—निश्चय ही

एएसु — सावद्यारम्भप्रवृत्ति में, तथा गृहस्थों में । आरंभ जीवी—आरम्भ पूर्वक आजीविका द्वारा-रूप होती है । इत्थंपि—इस अर्हत प्रणीत मार्ग के स्थान में भी । बाले—राग और द्वेष से व्याप्त । परिपच्चमाणे— परिताप होता हुआ, अथवा विषय रूप पिपासा से सन्ताप को प्राप्त होता हुआ, फिर उन विषयों में । रमइ—रमण करता है, फिर । पावेहिं—पाप । कम्मेहिं—कर्मों से सन्तप्त होता हुआ । असरणे—अशरणरूप सावद्यानुष्ठान को । सरणंति—शरण रूप । मन्नमाणे—मानता हुआ, नाना प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करता है । इह—इस मनुष्य लोक में । एगेसि—कोई एक को क्रोध के वशीभूत होकर । एगचरिया—एकचर्या । भवइ—होती है । से—वह-विषय और कषायों के वशीभूत होकर अकेला विचरने वाला । बहुकोहे—बहुत क्रोध वाला । बहुमाणे—बहुत मान वाला । बहुमाए—बहुत माया वाला । बहुलोभे—बहुत लोभ वाला । बहुरए—बहुत पाप रज वाला । बहुनडे—नटकी भांति विषयों के लिये भ्रमण करने वाला । बहुसढे—बहुत शठता वाला । बहुसंकप्पे—बहुत संकल्पों वाला, हो जाता है, तथा । आसवसत्ती—आश्रव में आसक्त । पलिउच्छन्ने—कर्मों से आच्छादित । उट्ठियवायं—चारित्र रूप धर्म वाद में उद्यत हुआ २ । पवयमाणे—इस प्रकार बोलता हुआ । मा—मत । मे—मुझे । केइ—कोई । अदक्खू—पाप करते हुए को देखे, तथा वह । अन्नाण पमाय दोसेण—अज्ञान व प्रमाद के दोष से पाप कर्म करता है । सययं—निरन्तर । मूढे—मूढ-मोह के उदय से । धम्मं—धर्म को । नाभिजाणइ—नहीं जानता । अट्टा—विषय कषायों से पीड़ित । पया—जीव । माणव—हे मनुष्य ! कम्मकोविया—कर्मकोविद अर्थात् अष्टविध कर्मों के अनुष्ठान में चतुर । जे—जो । अणुवरया—पाप कर्म से अनिवृत्त हैं । अविज्जाए—अविद्या से । पलिमुक्खमाहु—सर्व प्रकार से मोक्ष मानते हैं । आवट्टमेव—संसार चक्र के आवर्त में ही । अणुपरियट्टंति—बार २ अनुवर्तन करते हैं अर्थात् जन्म मरण के चक्र में ही फिरते रहते हैं । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—भव्य जीवो ! तुम देखो ! कई एक विषयासक्त व्यक्ति नरकादि में वेदना पाते हुए नरकादि स्थानों में पुनः २ दुःख रूप स्पर्श का अनुभव करते हैं, लोक में कितने ही प्राणी आरम्भ से आजीविका करने वाले इन गृहस्थ वा सारम्भी अन्य तीर्थियों में आरम्भ पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं । इस संसार में अज्ञानी जीव, विषयों की अभिलाषा से सावद्य कर्मों में संलग्न रहते हैं, अशरणरूप पापकर्म को शरणभूत मानते हुए नाना प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करते हैं । तथा इस मनुष्य लोक में कोई व्यक्ति विषयकषायों के अधीन होकर अकेले विचरने लगता है । और फिर वह

अधिक क्रोध, अधिक मान अधिक माया अधिक लोभ वाला हो जाता है। तथा अधिक कर्मरज से युक्त नट की भांती विषयों के लिए घूमने वाला अत्यन्त धूर्त, अधिक सकल्पों वाला आश्रवों में आसक्ति रखने वाला और कर्मों से आच्छादित हुआ—'मैं धर्म के लिए उद्यत हो रहा हूं इस प्रकार बोलता है कि मुझे कोई पाप कर्म करते हुए न देखे इस प्रकार विचरता हुआ अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर सदा अकार्य में लगा रहता है। वह निरन्तर मूढ हुआ धर्म को नहीं जानता। हे मानव! विषयकषायभूत कर्म करने में कोविद, कर्मानुष्ठान में चतुर पापों से निवृत्त न होने वाले जीव अविद्या से मोक्ष सुख की प्राप्ति मानते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति के जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। यह स्पष्ट है कि वासना में आसक्त व्यक्ति दूसरे प्राणियों के हिताहित को नहीं देखता। वह अपनी भोगेच्छा की पूर्ति के लिए उपयुक्त अनुपयुक्त कार्य करते हुए संकोच नहीं करता। परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके नरकादि गतियों में उत्पन्न होता है। और वहां विविध वेदना का संवेदन करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो प्राणी अज्ञान के वश वासना में आसक्त रहता है वह नीच योनि में उत्पन्न होकर अनेक कष्टों को सहता है, संसार में परिभ्रमण करता है। भले ही वह गृहस्थ के वेश में हो या साधु के वेश में जैन कुल में उत्पन्न हुआ हो या जैनेतर कुल में विषय वासना में आसक्ति एवं दुष्कर्म में प्रवृत्ति रखना किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। फल भोग के समय लिंग वेश एवं कुल का भेद नहीं किया जाता। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसे उसके अनुरूप फल भोगना होता है।

परन्तु, अज्ञान से आवृत्त व्यक्ति इस बात को भूल जाता है और वह अशरण रूप दुष्कर्म को शरणभूत मानकर उस में प्रवृत्त होता है। परिणाम स्वरूप वह और अधिक दुःख एवं कष्ट का वेदन करता है। कुछ व्यक्ति विषय-वासना का त्याग करके मुनि बनते हैं परन्तु फिर से विषय-कषाय के वश में होकर अकेले विचरने लगते हैं। इससे उन पर आचार्य एवं गुरु आदि किसी का नियन्त्रण नहीं रहता। और अनुशासन के अभाव में उनके जीवन में कषायों—क्रोध मान, माया लोभ एवं विषयों की अभिवृद्धि होती है। वह गुप्त रूपसे पाप कर्म में प्रवृत्त रहता है। और परिणाम स्वरूप वह पतन के गर्त में

गिरता है।

अज्ञान के कारण ही कुछ व्यक्ति अधर्म एव पापकार्यों को धर्म स्वरूप समझते हैं। दुराग्रह के कारण वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास नहीं करते। या यों कहिए कि वे अपनी स्वार्थ साधना एवं मिथ्या प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए धम के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार नहीं करके, अधर्म को ही धर्म का चोला पहनाकर स्वयं पाप कम मे प्रवृत्तहोते है और जनता को भी उस मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह एसे व्यक्ति विषय-कषाय एवं अन्य पाप कर्मों को करने में प्रवीण होते हैं। और भोली-भाली जनता के मन मे तर्क के द्वारा अधर्म को धर्म बताने मे भी चतुर होते हैं। परन्तु वे धर्माचरण से सदा विमुख रहते हैं। वे अज्ञान या अविद्या के द्वारा ही मोक्ष मानते है। ऐसे व्यक्ति धर्म के स्वरूप को नहीं जानते। अत परिणाम स्वरूप वे चार गति ससार मे परिभ्रमण करते हैं। ऐसे आचरणनिष्ठ व्यक्तियों के ससार का अन्त नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में जो यह बताया गया है कि अकेले साधु के जीवन में विषय-कषाय की अभिवृद्धि होती है। वह विषय-वासना एवं प्रकृति की विषमता के कारण पृथक् हुए साधु की अपेक्षा से कहा गया है, न कि सभी साधुओं के लिए। क्योंकि कुछ साधक अकेले रहकर भी अपना आत्मविकास करते हैं और आगमकार भी उन्हें अकेले विचरने की आज्ञा देते हैं दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में एकाकी विहार समाचारी का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करने के लिए, जिनकल्प पर्याय को ग्रहण करने के लिए, या किसी विशेष परिस्थितिवश मुनि गुरु एव संघ के आचार्य की आज्ञा लेकर अकेला विचरता है, तो वह अपने आत्म गुणों में अभिवृद्धि करता है। अतः आचाराङ्ग सूत्र का यह पाठ उन मुनियों के लिए है, जो विशेष साधना एव किसी विशिष्ट कारण के बिना ही गुरु आदि की आज्ञा लिए बिना ही अपनी प्रकृति की विषमता से या विषय-वासना से प्रेरित होकर अकेले विचरते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे जो "एतेसु चेव आरम जीवी" पाठ दिया है। वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"एतेषु सावद्यारम्भ प्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरीरयापनार्थं वर्तमानस्तीर्थिक पार्श्वस्थादिर्वा 'आरंभजीवी' सावद्यानुष्ठानवृत्ति पूर्वोक्त दु खभाग् भवति।" अर्थात् गृहस्थ आदि में जो सावद्यवृत्ति होती है, उसका परिणाम दु खप्रद होता है।

"इत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ" की व्याख्या करते हुए लिखा है—"अत्र अस्मिन्नप्यर्हत्प्रणीतसयमाभ्युपगमे वालो रागद्वेषाकुलित परितप्यमान परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते" अर्थात्—अर्हत् भगवान के शासन में दीक्षित होकर भी कोई

कोई अज्ञानी व्यक्ति विषय-कषाय के वश पाप कर्म में रमण करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में 'रमइ रमते' वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार के समय में भी ऐसे व्यक्ति रहे हों। 'इत्यादि पाठ से भी यह ध्वनित होता है और ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि मोह कर्म की उदय में आने वाली उत्तर प्रकृतियों के कारण इस युग में भी संयम से पथ भ्रष्ट होना संभव हो सकता है।

'मानव' शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य ही मोक्ष की सम्यक् साधना कर सकता है अन्य योनि से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

अविज्जाए पलि मुक्खमाहु' का तात्पर्य है कि जो अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विद्या से विपरीत अविद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, वे धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ हैं।

तिबेमि का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे मुनित्व की साधना से दूर रहे हुए व्यक्तियों के विपय मे वर्णन किया गया था। प्रस्तुत उद्देशक मे उन साधकों के जीवन का विवेचन किया गया है, जो मुनित्व की साधना मे संलग्न रहते हैं। मुनि कौन हो सकता है ? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवन्ती केयावन्ती लोए अणारम्भजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अन्नेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विपणुन्नए ॥१४७॥

छाया—यावन्तः केचन लोके अनारम्भजीविनः तेषु अत्रोपरत तत् झोपयन् अयं सन्धिरिति अद्राक्षीत् योऽस्य विग्रहस्य अयं क्षण इति अन्वेषी एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः उत्थितः न प्रमादयेत् ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं पृथक् छन्दा इह मानवाः पृथग् दुःखं प्रवेदितं स अहिंसन् अनपवदन् स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रणोदयेत्—विप्रेरयेत् ।

पदार्थ—आवंती—जितने। केयावंती—कितने एक। लोए—लोक में। अणारमजीविणो—आरम्भ से रहित आजीविका करने वाले। तेसु—उन आरम्भ युक्त गृहस्थो में अनारम्भ जीवी होते हैं, तथा। एत्थोवरए—इस सावद्यारम्भ से उपरत हैं। त—उस सावद्यारम्भ से आये हुए पाप कर्म को। झोसमाणे—क्षय करता हुआ मुनि भाव धारण करता है। अय—यह। सधीति—अवसर इस प्रकार। अदक्खू—देखे। जे—जो। इमस्स—इस। विग्गहस्स—औदा-

रिक शरीर तथा । अयं — यह । खणेत्ति — क्षण । अन्नेसी — इसके अन्वेषण करने वाला सदैव ही अप्रमत्त होता है । एस — यह । मग्गे — मार्ग । आरिएहिं — आर्यों-तीर्थंकरों द्वारा । पवेइए — प्रकथित-प्रतिपादित है । उट्ठिए — धर्म ग्रहण करने में उद्यत हुए । णोपमायए — प्रमाद न करे, किन्तु । जाणित्तु — जान कर । दुक्खं — दुःख और उसके कारण कर्म तथा । पत्तेयं — प्रत्येक-प्राणी की । सायं — साता को । इह — इस संसार में । पुढो — पृथक्-पृथक् । छंदा — अभिप्राय है । माणवा — नाना प्रकार के अध्यवसाय वाले मनुष्य हैं । पुढो — पृथक् पृथक् । दुक्खं — दुःख प्राणियों का । पवेइयं — कथन किया गया है । से — वह । अविहिंसमाणे — हिंसा न करता हुआ । अणवयमाणे — असत्य न बोलता हुआ-हे शिष्य तू अनारम्भ जीवी को देख । फासे — शीतोष्ण स्पर्शों व परीषहों को । पुट्ठो — स्पर्शित हुआ । विरूवरूवे — नाना प्रकार की यातनाओं द्वारा उन कष्टों को सहन करे, किन्तु व्याकुल न होवे ।

मूलार्थ—जितने भी लोक में अनारम्भजीवी साधु हैं, गृहस्थों से आहारादि लेकर अनारम्भी जीवन व्यतीत करते हैं वे सावद्यकर्म से उपरत हैं, पाप कर्म को क्षय करते हुए साधुमार्ग को ग्रहण करते हैं । हे शिष्य ! तू इस अवसर को देख, जो इस शरीर के स्वरूप को जानता है, वह अवसर का अन्वेषण करने वाला है । यह मार्ग तीर्थंकर वा गणधरों द्वारा कथित है । संयम में उद्यत हुए प्राणी को प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख को जानकर प्रमाद नहीं करना चाहिए । जीवों के पृथक् २ अभिप्राय हैं, पृथक् २ मानवों के अध्यवसाय हैं, पृथक् २ प्राणियों का दुःख कथन किया गया है । वह अनारम्भ जीवी किसी की हिंसा न करता हुआ असत्य न बोलता हुआ, शीतोष्ण परिषहों के स्पर्शित होने पर उन कष्टों को सम्यग् रूप से सहन करता है किन्तु व्याकुल नहीं होता क्योंकि वह सम्यग्दर्शन से युक्त है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में मुनि जीवन का विश्लेषण किया गया है । मुनि के लिए आगम में बताया गया है कि पूर्णतः हिंसा का त्यागी होता है । अतः लोक में जितने भी प्राणी हैं, उनमें मुनि का आचार विशिष्ट है । क्योंकि असंयत प्राणियों का जीवन आरम्भ से युक्त होता है परन्तु मुनि का जीवन अनारम्भी—आरम्भ से रहित होता है । वह किसी भी स्थिति—परिस्थिति में आरम्भ-हिंसा का सेवन नहीं करता । उसके तीन करण और तीन योग से हिंसा करने का त्याग होता है । वह मन वचन

और काय से न तो किसी प्राणी की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा कराता है और न किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई हिंसा का अनुमोद समर्थन ही करता है।

वह गृहस्थ की निश्रा—गृहस्थ के अधिकार मे रहे हुए उसके मकान में उसकी आज्ञा से रहता है। फिर भी उसके अनुशासन को मानकर नहीं चलता। उसकी निश्रा मे रहते हुए भी वह आरम्भ की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह गृहस्थ की आज्ञा से उसके मकान में रहते हुए भी ऐसा आहार— पानी, वस्त्र— पात्र, तख्त आदि आवश्यक साधन-सामग्री स्वीकार नहीं करता, जिसमे उसके लिए आरम्भ—समारम्भ किया गया हो। वह स्वतन्त्ररूप से आहार आदि लाने के लिए जाएगा और अपनी साधु मर्यादा के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक एवं एषणिक आहार को ग्रहण करेगा। इस प्रकार वह अपनी समस्त क्रियाए स्वय विवेक पूर्वक करता है और अपने जीवन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। इस लिए उसकी समस्त क्रियाएँ निष्पाप होती हैं। वह पाप कर्म का क्षय करता हुआ मुनि भाव में विचरण करता है।

वह इस बात को जानता है कि यह मार्ग ही प्रशस्त है, सब दु खों से मुक्त करने वाला है। क्योंकि यह मार्ग तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। इस लिए यह मार्ग सब के लिए क्षेमकर है इस मार्ग में किसी भी प्राणी को संक्लेश उत्पन्न नहीं होता। मुनि अपने हित के साथ प्राणी मात्र के हित का ध्यान रखता है। वह अपने मन वचन और शरीर से किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुचाता। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकपा एवं दया का भाव रखता है। अत यह मार्ग सर्व श्रेष्ठ एव प्राणीजगत के लिए हितप्रद है।

निष्कर्ष यह है कि यह मार्ग प्रशस्त है। परन्तु प्रशस्त के साथ कठिन भी है। इस लिए इस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुए व्यक्ति को पूरी सावधानी रखनी होती है। अत, आगम मे मुनि को विवेक पूर्वक एव अप्रमत्त भावसे क्रिया करने का आदेश दिया गया है। मुनि को प्रत्येक कार्य विवेक, यत्ना एव अप्रमत्त भाव से करना चाहिए। जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट एव पीडा न हो अत साधक के लिए त्याग करना आवश्यक है* क्योंकि अयत्ना पूर्वक चलने वाला, खड़ा रहने वाला, बैठने वाला, खाने वाला, बोलने वाला, शयन करने वाला, प्राण-भूत जीव, सत्त्व की हिंसा करता है, पाप कर्म का बन्ध करता है। जिस मे वह कटु फल को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि अयत्ना एव प्रमाद पूर्वक की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध होता है। और विवेक पूर्वक अप्रमत्त भाव से की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

---

* दशवैकालिक सूत्र ४, १, ६

अतः मुनि को प्रत्येक समय प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त भाव से साधना में संलग्न रहना चाहिए। और किसी भी स्थिति में आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल एवं अनुकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट के समय भी उसे आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह आर्योपदिष्ट मार्ग बार-बार नहीं मिलता। इस लिए प्राप्त हुए अवसर को सफल बनाने के लिए साधक को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि आए हुए परीषहों को सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासइ, से पुव्विंपय पच्छापेय भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइय असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं पासह एयं रूव संधिं ॥१४८॥

छाया—एष सम्यक् (शमिता) पर्याय व्याख्यात ये असक्ताः पापेषु कर्मसु कदाचित् तान् आतंकाः स्पृशन्ति इति उदाहृतवान् धीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः सन् अध्यासयत् पूर्वमप्येतत् पश्चादप्येतत् भिदुरधर्म, विध्वंसनधर्म-मध्रुवं अनित्यं, अशाश्वतं, चयापचयिकं, विपरिणामधर्म्मं पश्यतैनं रूप-संधिम्।

पदार्थ—एस समिया—यह (मुनि) परीषहों को सहन करने वाला। परियाए—और सम्यक् प्रव्रज्या से युक्त। वियाहिए—कहा गया है। जब रोग के उत्पन्न होने पर सहिष्णुता रखने वाले साधक के सम्बन्ध में कहते हैं। उदाहु—तीर्थंकरों ने इस प्रकार कहा है, कि। जे—जो। पावेहिं—पाप कर्मों में। असत्ता—आसक्त नहीं हैं। ते—ऐसे मुनियों को। आयंका—आतंक-रोग। फुसंति—स्पर्श करता है। इति उदाहु—तब उनके सम्बन्ध में कहते हैं कि। धीरे—वे धैर्यवान पुरुष। ते—उन। फासे पुट्ठो—रोगादि के स्पर्श होने पर वह। अहियासइ—

सम्यक्तया सहन करे । से—वह रोग आदि से पीडित मुनि यह सोचे कि । पुव्विपेय—मैंने पहिले भी रोगादि के दु खो को सहन किया था । पच्छापेयं—बाद में भी होने वाला रोगादि का दु ख मुझे ही सहन करना है, फिर—यह औदारिक शरीर । भिउरधम्म—भेदेन धर्म —स्वभाव वाला है । विद्ध सण—विध्वंस होने वाला है । अधुव —अध्रु व है । अणिइय—अनित्य है । असासय-अशाश्वत है । चयावचइयं—चय-उपचय वाला है । विप्परिणामधम्म—विपरिणाम धर्म वाला है, अत । एय रूवसंघि—इस अमूल्य अवसर को। पासह—देख अर्थात् इस शरीर की स्थिति पर विचार करके रोग आदि दु खों एव परीषहो को समभाव पूर्वक सहन कर ।

मूलार्थ—जो साधक पाप कर्म मे आसक्त नही है, ऐसे चारित्रनिष्ठ साधक को मुनि कहा गया है । उसके लिए तीर्थंकरो ने कहा है कि वह धैर्यवान साधक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उन्हे समभाव पूर्वक सहन करता है । वह सयमी पुरुष ऐसा सोचता-विचारता है कि यह रोग मैंने पहिले भी सहन किया था । और पीछे भी मुझे सहन करना ही है । यह शरीर स्थायी रहने वाला नही है । यह विध्वस-नष्ट होने वाला है । यह अध्रुव, अनित्य अशाश्वत है, ह्रास और अभिवृद्धि वाला है । अतः ऐसे नाशवान् शरीर पर क्या ममत्व करना ? इस तरह शरीर के स्वरूप एव प्राप्त हुए अमूल्य अवसर को देखो ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को कष्ट सहिष्णु बनने का उपदेश दिया गया है । औदारिक शरीर रोगों का आवास स्थल है । जब तक पुण्योदय रहता है, तब तक रोग भी दबे रहते हैं । परन्तु अशातावेदनीय कर्म का उदय होते ही अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । अत शरीर में रोग एव वेदना का उत्पन्न होना सरल है । क्योंकि औदारिक शरीर ही रोगा से भरा-हुआ है । इस लिए रोगों के उत्पन्न होने पर साधक को आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए । उन्हें अशुभ कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए । उस समय साधक को यह सोचना चाहिए कि पहिले भी मैंने रोगों के कष्ट को सहन किया है और अब भी उदय में आए हुए वेदनीय कर्म को वेदना ही होगा । अत हाय-त्राय करके अशुभ कर्म का बंध क्यों करूं ? यह वेदना मेरे कृत कर्म का ही फल है । अत समभाव पूर्वक ही सहना चाहिए; यह शरीर सदा स्थायी रहने वाला नहीं है । यह प्रतिक्षण बदलता रहता है । यह अध्रुव है, अशाश्वत है, अनित्य है, ह्रास एव अभिवृद्धि वाला

है। अतः इसके लिए इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिए? इस तरह धैर्य के साथ कष्ट एवं वेदना को सहकर अशुभ कर्म नष्ट कर दे और आगे पाप कर्म का बन्ध नहीं होने दे।

मुनि जीवन का उद्देश्य है—समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ कर निष्कर्म बनना। अतः मुनि को सदा-सर्वदा इस शरीर एवं जीवन को अनित्य समझकर अपने आत्म-विकास में संलग्न रहना चाहिए। यह सत्य है कि शरीर आत्मविकास का साधन है। अतः साध्य की सिद्धि के लिए साधन को भी व्यवस्थित रखना चाहिए। परन्तु यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि साधन का महत्व साध्य सिद्धि के लिए है। यदि उसका उपयोग अपने लक्ष्य को साधने में नहीं हो रहा है, तो फिर उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अतः शरीर का ध्यान भी संयम साधना के लिए है, न कि शरीर पोषण के लिए। इस लिए रोगादि कष्टों के उपस्थित होने पर साधक को उस के लिए आर्त रौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वस्थ होने का भी प्रयत्न न करे। साधक शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए निर्दोष औषध आदि का उपयोग कर सकता है, परन्तु साथ में मानसिक, आत्मिक स्वस्थता को बनाए रखते हुए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि उस रोग से उसके मन में विचारों में एवं आचार में किसी तरह की विकृति न आए। महावेदना का प्रसंग उपस्थित होने पर भी धैर्य एवं सहिष्णुता का त्याग नहीं करे। हर परिस्थिति में वह आत्म चिन्तन में संलग्न रहने का प्रयत्न करे। इससे पूर्व में बन्धे हुए कर्मों का क्षय होगा और अभिनव कर्मों (पाप कर्म) का बन्ध नहीं होगा। इस तरह वह एक दिन निष्कर्म बन सकेगा। अतः समभाव पूर्वक परिषहों एवं कष्टों को सहन करने से वह एक दिन संपूर्ण कर्म परिषहों कष्टों से मुक्त हो जाएगा।

इस लिए साधक को कष्ट के समय अपने मन को शरीर से हटा कर आत्म चिन्तन में लगाना चाहिए और धैर्य के साथ कष्टों को सहन का प्रयत्न करना चाहिए। यही तीर्थंकर भगवान का उपदेश है।

इस तरह शरीर एवं आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले चिन्तन शील व्यक्ति को किस गुण की प्राप्ति होती है इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणुपेहमाणस्स इक्काययणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्तिबेमि ॥१४६॥

छाया—सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य एकायतनरतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्तिमार्गः विरतस्य, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—समुप्पेहमाणस्स—सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाले को । इक्काययणरयस्स—ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप र न त्रय में सलग्न रहने वाले को । इह विप्पमुक्कस्स--इस शरीर के ममत्व से रहित व्यक्ति को । विरयस्स—हिंसा आदि आस्रवो से निवृत्त व्यक्ति को । नत्थि मग्गे—नरकादि गतियो का मार्ग प्राप्त नही होता । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान दर्शन एव चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक, शरीर पर ममत्व नही रखने वाला और हिंसा आदि आस्रवो से निवृत्त साधक नरकादि गतियो मे नही जाता ऐसा मैं कहता हू ।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि संसार परिभ्रमण एव नरकादि गतियों मे उत्पन्न होने का कारण पापकर्म है। विषय कषाय में आसक्ति एव हिंसा आदि दोषों मे प्रवृत्ति होने से पाप कर्म का बन्ध होता है। और इस तरह विषयासक्त व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। अत' संसार का अन्त करने के लिए आगम में हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि जो साधक रत्नत्रय की साधना में संलग्न है, शरीर एव संयम पालन के अन्य साधनों पर ममत्व भाव नहीं रखता है और विषय-कषाय एवं हिंसा आदि दोषों मे आसक्त नहीं है, वह नरक, तिर्यंच आदि गतियों में नहीं जाता।

प्रस्तुत सूत्र में "इक्काययणरयस्स" शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा आत्मा को सब तरह के पापों मे रोका जाए उसे आयतन कहते हैं। यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय के नाम से प्रसिद्ध है और उस रत्नत्रय मे सलग्न रहने वाले साधक को 'एकायतन रत' कहते हैं। अत 'इक्काययणरयस्स' का अर्थ हुआ जो साधक रत्न—त्रय की साधना-आराधना में सलग्न है।

'नत्थिमग्गे विरयस्स' का तात्पर्य यह है कि जो साध हिंसा आदि दोषों से विरक्त है, निवृत्त है उसके लिए संसार परिभ्रमण का मार्ग नहीं रह जाता है।

दोषों से निवृत्त व्यक्ति का वर्णन करके अब सूत्रकार अविरत एव परिग्रही व्यक्ति के विषय में कहते हैं —

मूलम्—आवती केयावती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ ॥१५०॥

छाया—यावन्तः केचन लोके परिग्रहवन्तः तदल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद् वाऽचित्तवद् वा एतेष्वेव परिग्रहवन्तः एतदेव एकेषां महाभयं भवति लोकवित्तं च [वृत्तम्] उत्प्रेक्ष्य एतान् संगानविजानतः ।

पदार्थ—आवंती—जितने । केयावंती—कितनेक । लोगंसि—लोक में । परिग्गहावंती—परिग्रह वाले हैं । से—वह-द्रव्य । अप्पं—अल्प । वा—अथवा । बहुं—बहुत । वा—अथवा । अणुं—छोटा मूल्य से वा भार में । वा—अथवा । थूलं—स्थूल । वा—अथवा । चित्तमंतं—चेतना वाला । वा—अथवा । अचित्तमंतं—चेतना से रहित । वा—परस्पर अपेक्षा में है । एएसु—इस परिग्रह में गृहस्थों के समान साधु भी हो जाते हैं-यदि वे परिग्रह से युक्त हों तो । च—पुनः । एव—अवधारणार्थ में जानना । परिग्गहावंती—वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं । एतदेव—इसी परिग्रह में ही । एगेसिं—बहुतों को । महब्भयं—महाभय । भवइ—होता है । च—पुनः । णं—वाक्यालंकार अर्थ में है । लोगवित्तं—असंयत लोक में वित्त-धन-या लोकगत आहार, भय मैथुन परिग्रह आदि । उवेहाए—विचार कर (इसका परित्याग करे) तथा । एए—इन अल्प परिग्रह आदि के । संगे—संग को । अवियाणओ—न जानता हुआ ।

मूलार्थ—लोक में कितनेक परिग्रह वाले होते हैं, वह परिग्रह अल्प बहुत स्थूल अणु, सचित्त और अचित्त (चेतना वाला या चेतना रहित) रूप से अनेक प्रकार का है त्यागी मुनि-विरत भी यदि मूर्छायुक्त हों तो वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं, इसी परिग्रह से कितनेक जीवों को महाभय होता है अतः लोक वित्त का विचार करके इसका परित्याग करे, इस परिग्रह के संग का त्याग करता हुआ भययुक्त नहीं होता।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भय का कारण बताते हुए कहा गया है कि संसार में जितने भी

भय हैं, वे सब परिग्रही व्यक्ति को हैं। जब प्राणी पदार्थों एवं शरीर पर आसक्ति एवं ममत्वभाव रखता है, तो उसे कई तरह की चिन्ताएं लग जाती हैं। वह रात-दिन चिन्तित, सशंक एवं भयभीत सा रहता है। किन्तु अपरिग्रही मुनि को किसी तरह की चिन्ता एवं भय नहीं होता। यहां तक कि मृत्यु के समय भी वह निर्भय रहता है। क्योंकि शरीर पर भी उसे ममत्वभाव नहीं है। वह शरीर को केवल सयम साधना का साधन मानता है और साथ में वह यह भी जानता है कि यह नष्ट होने वाला है। अत. उसके नाश होने के समय उसे न चिन्ता होती है और न भय ही होता है। परन्तु 'साधु बनने के पश्चात् भी जो शरीर पर एव अन्य साधनों पर ममत्वभाव रखते हैं, वे भय से मुक्त नहीं होते और ऐसे साधक परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त नहीं होते।

इससे स्पष्ट है कि भय का मूल कारण परिग्रह है। इसकी आसक्ति के कारण मानव मन मे एक-दूसरे के प्रति अविश्वास का भाव उद्बुद्ध होता है और इसी कारण वह सदा भयभीत रहता है। चाहे परिग्रह परिमाण में थोड़ा हो या बहुत, वह-एक दूसरे के मन में शंका-सन्देह एव भय को जन्म देता है और दो मित्रों के बीच में भेद की दीवार खड़ी कर देता है। इस लिए आगम मे मुनि के लिए परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य कहा गया है।

परिग्रह भी दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। भाव परिग्रह—मूर्छा, आसक्ति आदि है। द्रव्य परिग्रह भी लौकिक वित्त और लोकवृत्त के भेद से दो प्रकार का माना गया है। धन-धान्य आदि परिग्रह लौकिक वित्त मे गिना गया है। और आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा आदि परिग्रह लोकवृत्त में माना गया है। सभी तरह का परिग्रह भय का कारण है। इस लिए मुनि को परिग्रह मात्र का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए। अत साधु के लिए थोड़ा या बहुत परिग्रह त्याज्य है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—से सुपडिबद्धं सूवणीयंति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बभंचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे—बन्धपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्तिबेमि ॥१५१॥

छाया—यस्य सुपरिज्ञातं सुआनीतमिति ज्ञात्वा हे पुरुष ! परम चक्षुः ! पराक्रमस्व एतेष्वेव ब्रह्मचर्यमिति ब्रवीमि तच्छ्रुतं च मया अध्यात्मं च मया बन्ध प्रमोक्ष अध्यात्मस्येव अत्र विरतः अनगारः दीर्घरात्रं तितिक्षेत् प्रमत्तान् बहिः पश्य ! अप्रमत्त परि व्रजेत् एतन्मौनं सम्यक् अनुवासयेः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह परिग्रह से विमुक्त मुनि । सुपरिण्णायं—जिसने भली प्रकार से बोध प्राप्त किया है । सुअक्खायं—भली प्रकार से ज्ञानादि प्राप्त किए हैं । नच्चा—जानकर । पुरिसा परमचक्खू—हे पुरुष ! परम चक्षु ! विपरिक्कमा—मोक्ष साधन में पराक्रम कर । एएसु—ये जो परिग्रह से विरत हैं इनमें ही । च—पुनः । एव—अवधारण अर्थ में है । बंभचेरं—ब्रह्मचर्य है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ । से—वह जो कहा है । च—पुनः जो कहूँगा सो वह । मे—सुयं—सुना है । च—पुनः । मे—मेरे । अज्झत्थयं—अध्यात्म में व्यवस्थित है । च—पुनः । मे—मैंने माना है । बंधपमुक्खो—बन्ध से प्रमोक्ष । अज्झत्थेव—अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही होता है । इत्थ—इस परिग्रह से । विरए—विरत । अणगारे—अनगार । दीहरायं—जीवन पर्यन्त । तितिक्खए—परीषहों को सहन करे । पास—हे शिष्य ! तू देख । पमत्ते—प्रमत्त । बहिया—धर्म से बाहिर हैं उन्हें तू । अप्पमत्ते—अप्रमत्त होकर । परिव्वए—संयमानुष्ठान में चल । एयं—यही । मोणं—मुनि का मुनित्व । सम्मं—सम्यक् प्रकार से । अणुवासिज्जासि—अनुपालन कर । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—ज्ञान रूप चक्षु रखने वाले हे पुरुष ! तू परिग्रह के त्यागी मुनि के भली प्रकार से प्राप्त हुए सुदृढ़ ज्ञानादि का विचार करके तपोनुष्ठान विधि से संयम में प्रयत्न कर ! जो ये परिग्रह से विरत हैं इन्हीं में ब्रह्मचर्य अवस्थित है । इस प्रकार मैं कहता हूं मैंने सुना है और मन में निश्चय किया हुआ है कि पुरुष ब्रह्मचर्य से ही बन्धन से मुक्त हो सकता है । परिग्रह का त्यागी अनगार जीवन पर्यन्त परीषहों को सहन करे । हे शिष्य ! जो व्यक्ति धर्म से बाहिर हैं उनको तू देख ! और अप्रमत्त होकर संयम मार्ग में विचरण कर। यही मुनि का मुनित्व है अतः तू सम्यक् प्रकार विहित क्रियाओं का पालन कर ।

हिन्दी विवेचन

हम देख चुके हैं कि परिग्रह आत्म विकास में प्रतिबन्धक है । जब तक पदार्थों

में आसक्ति रहती है, तब तक आत्मिक गुणों का विकास नहीं होता। अत निष्परिग्रही व्यक्ति ही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ सकता है। वही विषय वासना एव दोषों से निवृत्त हो सकता है। क्योंकि जीवन मे वासना की उत्पत्ति परिग्रह-आसक्ति से होती है। पदार्थों मे आसक्त व्यक्ति ही अब्रह्मचर्य या विषय सेवन की ओर प्रवृत्त होता है। जिस व्यक्ति के जीवन मे पदार्थों के प्रति मूर्छाभाव नहीं है, उसके मन मे कभी भी विषय-वासना की आग प्रज्वलित नहीं होती। अत परिग्रह से वासना जागृत होती है और विषय-भोग से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण एव दु.ख के प्रवाह मे अभिवृद्धि होती है। इस लिए मुमुक्षु पुरुष को विषय-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए परिग्रह अर्थात् पदार्थों पर स्थित मूर्छा ममता, आसक्ति एवं भोगेच्छा का त्याग करना चाहिए।

विषय मे आसक्त एवं प्रमत्त व्यक्ति ब्रह्मचर्य का परिपालन नहीं कर सकते। वे अपनी इच्छा, आकाक्षा एवं वासना की पूर्ति के लिए विषय भोगों मे सलग्न रहते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए रात-दिन छल-कपट एव आरभ-समारभ करते हैं। और फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके ससार मे परिभ्रमण करते हैं। अत मुनि को उन प्रमत्त जीवों की स्थिति को देख कर विषय-भोगों का एवं परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह से रहित व्यक्ति के मन में सदा शान्ति का सागर ठाठें मारता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह सहनशीलता का त्याग नहीं करता। यों कहना चाहिए कि उसकी सहिष्णुता मे अभिवृद्धि होती है। अत मुमुक्षु पुरुष को निष्परिग्रही होकर विचरना चाहिए।

त्तिबेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।

पचम अध्ययन—लोकसार

तृताय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में अविरत और परिग्रही व्यक्तियों के जीवन का उल्लेख किया है। प्रस्तुत उद्देशक में विरत और अपरिग्रही साधक के जीवन का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं ॥१५२॥

छाया—यावन्तः केचन लोके अपरिग्रहवन्तः एतेष्वेव अपरिग्रहवन्तः श्रुत्वा वाचं मेधावी पण्डितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्र मया सन्धिः क्षोषितः एवमन्यत्र सन्धिः दुर्क्षोष्यो भवति, तस्माद् ब्रवीमि नो निहन्यात् वीर्यम्।

पदार्थ—लोयंसि—इस लोक में। आवंती केयावंती—जितने भी। अपरिग्गहावंती—अपरिग्रही व्यक्ति हैं। च—और। एव—निश्चय ही। एएसु—इन में। अपरिग्गहावंती—निष्परिग्रही व्यक्ति। मेहावी—बुद्धिमान। पंडियाण—पंडितों के। वई—वचन। सोच्चा—सुनकर। समियाए—समभाव से। निसामिया—हृदय में विचार कर कि। आरिएहिं—आर्य पुरुषों ने। धम्मे—धर्म का। पवेइए—कथन किया है, और। जहित्थ—इस ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप धर्म से। मए—मैंने। संधी झोसिए—कर्म सन्तति को क्षय किया है। एवं इस प्रकार। अन्नत्थ—अन्यतीर्थियों के मत में। संधी—कर्म सन्तति को। दुज्झोसए—क्षय करना कठिन। भवति—होता है। तम्हा—इसलिए। बेमि—मैं कहता हूँ कि संयम परिपालन में। वीरियं—पुरुषार्थ को। नो निहणिज्ज—गोपन नहीं करना चाहिए अर्थात् छुपाना नहीं चाहिए।

मूलार्थ—इस लोक मे जितने भी मनुष्य है, उनमे कुछ हा निष्परिग्रही व्यक्ति होते है। पडितो के वचन सुनकर एव हृदय मे विचार कर बुद्धिमान पुरुष अपरिग्रह को स्वीकार कर लेते हैं। वे सोचते है कि आर्य पुरुषो ने समभाव से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। जैसे मैंने रत्नत्रय का आराधन करके कर्म का क्षय किया है, वैसे ही अन्य प्राणी भी कर्म का क्षय कर सकते हैं। क्योकि अन्य मन-मतान्तर मे कर्म का क्षय होना कठिन है। इस लिए मुमुक्षु पुरुप को सयम साधना मे पुरुषार्थ का गोपन नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

परिग्रह के दो भेद हैं-- द्रव्य और भाव परिग्रह। धन, धान्यादि पदार्थ द्रव्य परिग्रह में गिने जाते हैं। और मूर्छा, आसक्ति एव ममत्वभाव को भाव परिग्रह कहा गया है। दशवैकालीक सूत्र मे परिग्रह की परिभाषा करते हुए मूर्छा को ही परिग्रह माना गया है*। तत्त्वार्थ सूत्र में भी आगम की इसी परिभाषा को स्वीकार किया गया है‡। क्योंकि द्रव्य परिग्रह की अपेक्षा भाव परिग्रह का अधिक महत्व है। यदि किसी व्यक्ति के पास धन-वैभव एवं अन्य पदार्थों का अभाव है या कमी है, परन्तु उसके मन में परिग्रह की तृष्णा, आकांक्षा एवं ममता बनी हुई है, तो द्रव्य से परिग्रह कम या नहीं होने पर भी उसे अपरिग्रही नहीं कह सकते। वही व्यक्ति अपरिग्रही कहलाता है, जो भाव परिग्रह का त्यागी है, जिसके मन में पदार्थों के प्रति ममता, मूर्छा एवं तृष्णा नहीं है। अतः ममत्व का त्याग करना ही निष्परिग्रही बनना है। ऐसे निष्परिग्रही व्यक्ति कुछ ही होते हैं।

वे प्रवुद्धपुरुषों के वचन सुनकर और उनपर चिन्तन-मनन करके धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं। वे परिग्रह से होने वाले दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग करते हैं। इससे श्रुतज्ञान का महत्व बताया गया है, क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा मनुष्य को पदार्थ का ज्ञान होता है, उसकी हेयोपादेयता की ठीक जानकारी मिलती है और उसके जीवनमे त्याग एवं समभाव की ज्योति जगती है। समभाव साधना का मूल है, इसी के आश्रय से अन्य गुणों का विकास होता है और आत्मा कर्मों का छेदन करके निष्कर्म बनता है। अत

---

* मुच्छापरिग्गहोवुत्तो। दशवैकालिक सूत्र, ६, २१।

‡ मूर्च्छा परिग्रह। तत्त्वार्थ सूत्र, ७, १७।

पंचम अध्ययन—लोकसार

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में अविरत और परिग्रही व्यक्तियों के जीवन का उल्लेख किया
है। प्रस्तुत उद्देशक में विरत और अपरिग्रही साधक के जीवन का विश्लेषण करते हुए
सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—थावंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव
अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए
धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी
दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं ॥१५२॥

छाया—यावन्तः केचन लोके अपरिग्रहवन्तः एतेष्वेव अपरिग्रहवन्तः श्रुत्वा
वाचं मेधावी पंडितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदित यथाऽत्र मया
सन्धिः क्षोपितः एवमन्यत्र सन्धि दुर्क्षोप्यो भवति, तस्माद् ब्रवीमि नो निह
न्यात् वीर्यम्।

पदार्थ—लोयंसि—इस लोक में । यावंती केयावंती—जितने भी । अपरिग्गहावंती—
अपरिग्रही व्यक्ति हैं । च—और । एव—निश्चय ही । एएसु—इन में । अपरिग्गहावंती—
निष्परिग्रही व्यक्ति । मेहावी—बुद्धिमान । पंडियाण—पंडितों के । वई—वचन । सुच्चा—
सुनकर । समियाए—समभाव से । निसामिया—हृदय में विचार कर, कि । आरिएहिं—आर्य
पुरुषों ने । धम्मे—धर्म का । पवेइए—कथन किया है, और । जहित्थ—इस ज्ञान दर्शन चारित्र
रूप धर्म में । मए—मैंने । संधी झोसिए—कर्म सन्तति को क्षय किया है । एवं—इस प्रकार ।
अन्नत्थ—अन्यतीर्थियों के मत में । संधी—कर्म सन्तति को । दुज्झोसए—क्षय करना कठिन ।
भवति—होता है । तम्हा—इसलिए । बेमि—मैं कहता हूं कि संयम परिपालन में । वीरियं—
पुरुषार्थ को । नो निहणिज्ज—गोपन नहीं करना चाहिए अर्थात् छुपाना नहीं चाहिए ।

पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई. सोऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति ॥१५३॥

छाया—यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, सोऽपि तादृश एव स्याद् ये परिज्ञाय लोकमन्वेपयन्ति ।

पदार्थ—जे—जो । पुव्वुट्ठाई—पहिले त्याग-वैराग्य भाव से सयम साधना के लिए उद्यत होता है। नो पच्छानिवाई—वह पीछे संयम मार्ग से पतित नही होता । जे—जो । पुव्वुट्ठाई—पहिले तो त्याग-वैराग्य से संयम स्वीकार करता है, परन्तु । पच्छानिवाई—पीछे पथ भ्रष्ट हो जाता है । जे—जो । नो पुव्वुट्ठाइ—पहिले त्याग-वैराग्य से संयम नही लेता । नो पच्छानिवाई—पीछे पतित भी नहीं होता । सोऽवि—वह भी । तारिसए—गृहस्थ के तुल्य ही । सिया—है। जे—जो । परिन्नाय—परिज्ञा से जानकर । लोग—लोक को । अन्नेसयति—अन्वेपण करते हैं अर्थात् लोकेपणा में निमग्न हैं, वे भी गृहस्थ के तुल्य हैं।

मूलार्थ—कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो त्याग वैराग्य के साथ सयम साधना को स्वीकार करते हैं और स्वीकार करने के पश्चात् भी उसी निष्ठा के साथ उसका पालन करते है । अर्थात् साधना पथ से च्युत नही होते (गणधरवत्) कुछ व्यक्ति पहिले तो वैराग्य से दीक्षित होते हैं, परन्तु पीछे से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं (नन्दीपेण मुनि की तरह) । यहा तीसरे भग का अभाव होने से उसका उल्लेख नही किया है । कुछ व्यक्ति न त्याग-वैराग्य से सयम लेते हैं और न पीछे पतित ही होते है । उनमे सम्यक् चारित्र का अभाव होने से उन्हे गृहस्थ तुल्य कहा है। शाक्यादि अन्य मत के साधुओ को भी चौथे भग मे समाविष्ट किया है । कुछ व्यक्ति ज्ञपरिज्ञा से जानकर दीक्षित होने पर भी लोक के आश्रित रहते है और लोकेषणा मे सलग्न रहते है, इसलिए उन्हे गृहस्थ के समान कहा गया है । तात्पर्य यह है कि भाव चारित्र के अभाव मे साधु वेश होने पर भी उन्हे भाव से गृहस्थ जैसा ही कहा गया है, क्योंकि वे गृहस्थ को तरह आरभ-समारंभ मे सलग्न रहत है ।

बुद्धिमान व्यक्ति प्रबुद्ध पुरुषों के आर्य वचन सुनकर समभाव एवं अपरिग्रह को स्वीकार करते हैं।

"समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए" का अर्थ है-यह समता रूप धर्म आर्य-तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित है। अहिंसा अपरिग्रह आदि भी समता के ही रूप हैं। अहिंसक एवं अपरिग्रही-अनासक्त व्यक्ति ही शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रख सकता है। जिसके जीवन में अहिंसा, दया, करुणा का अभाव है तथा पदार्थों के प्राप्त करने की अभिलाषा बनी हुई है; तो वह व्यक्ति किसी भी प्राणी के प्रति समभाव नहीं रख सकता। अतः हिंसा, परिग्रह आदि दोषों का त्यागी व्यक्ति ही समभाव की साधना कर सकता है। उसके मन में छोटे-बड़े का या शत्रु मित्र का कोई भेद नहीं रहता। वह सब व्यक्तियों को समान भाव से कल्याण का मार्ग बताता है, उसकी उपदेश धारा में राजा-रंक या पूत अछूत का भेद नहीं होता। वह जो बात धनवान को कहता है, वही हितकर उपदेश एक दर-दर के भिखारी को भी देता है*। इससे स्पष्ट है कि भगवान की वाणी में समभाव की धारा बहती रहती है। क्योंकि उनका जीवन हिंसा परिग्रह आदि दोषों से ऊपर उठा हुआ है। और उन्हों ने हिंसा आदि दोषों के पनपने के कारण राग-द्वेष का क्षय कर दिया है। अतः हिंसा परिग्रह आदि दोषों से रहित व्यक्ति ही आर्य हो सकता है।

यह समता एवं अपरिग्रह की साधना का मार्ग ऐसे आर्य पुरुषों द्वारा कहा गया है, जिन्हों ने समभाव के द्वारा कर्म बन्ध की परम्परा का उच्छेद करके निष्कर्म बनने की ओर कदम बढ़ाया है। इससे स्पष्ट है कि समभाव की साधना से जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह आदि आत्म गुणों का विकास होता है और पूर्व में बन्धे हुए कर्मों का क्षय होकर आत्मा निष्कर्म बन जाता है। कर्म क्षय का यह मार्ग अन्य मत-मतान्तर में नहीं मिलता क्योंकि अन्य मत-मतान्तर में पूर्ण अहिंसा एवं अपरिग्रह की साधना को स्वीकार नहीं किया गया है। अतः उसके बिना जीवन में समभाव नहीं आता और समभाव के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। इस दृष्टि से कहा गया है कि अन्य मत-मतान्तर में बताई गई साधना से कर्म परंपरा का नाश होना दुष्कर है।

इस लिए साधक को अपरिग्रह की साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। और संयम का पालन करने में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई

* जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।

पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, सोऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति ॥१५३॥

छाया—यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, सोऽपि तादृश एव स्याद् ये परिज्ञाय लोकमन्वेपयन्ति ।

पदार्थ—जे—जो । पुव्वुट्ठाई—पहिले त्याग-वैराग्य भाव से सयम साधना के लिए उद्यत होता है । नो पच्छानिवाई—वह पीछे सयम मार्ग से पतित नही होता । जे—जो । पुव्वुट्ठाई—पहिले तो त्याग-वैराग्य से संयम स्वीकार करता है, परन्तु । पच्छानिवाई—पीछे पथ भ्रष्ट हो जाता है । ज—जो । नो पुव्वुट्ठाइ—पहिले त्याग-वैराग्य से सयम नही लेता । नो पच्छानिवाई—पीछे पतित भी नहीं होता । सोऽवि—वह भी । तारिसए—गृहस्थ के तुल्य ही । सिया—है । जे—जो । परिन्नाय—परिज्ञा से जानकर । लोग—लोक को । अन्नेसयति—अन्वेषण करते हैं अर्थात् लोकेषणा में निमग्न हैं, वे भी गृहस्थ के तुल्य हैं ।

मूलार्थ—कुछ व्यक्ति ऐसे है, जो त्याग वैराग्य के साथ सयम साधना को स्वीकार करते हैं और स्वीकार करने के पश्चात् भी उसी निष्ठा के साथ उसका पालन करते हैं । अर्थात् साधना पथ से च्युत नही होते (गणधरवत्) कुछ व्यक्ति पहिले तो वैराग्य से दीक्षित होते है, परन्तु पीछे से पथ भ्रष्ट हो जाते है (नन्दीषेण मुनि की तरह) । यहा तीसरे भग का अभाव होने से उसका उल्लेख नही किया है । कुछ व्यक्ति न त्याग-वैराग्य से सयम लेते हैं और न पीछे पतित ही होते है । उनमे सम्यक् चारित्र का अभाव होने से उन्हे गृहस्थ तुल्य कहा है । शाक्यादि अन्य मत के साधुओ को भी चौथे भग मे समाविष्ट किया है । कुछ व्यक्ति ज्ञपरिज्ञा से जानकर दीक्षित होने पर भी लोक के आश्रित रहते है और लोकेषणा मे सलग्न रहते है, इसलिए उन्हे गृहस्थ के समान कहा गया है । तात्पर्य यह है कि भाव चारित्र के अभाव मे साधु वेश होने पर भी उन्हे भाव से गृहस्थ जैसा ही कहा गया है, क्योकि वे गृहस्थ को तरह आरभ-समारभ मे सलग्न रहते है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विचार-चिन्तन की विचित्रता का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ व्यक्ति जीवन में त्याग-वैराग्य की भावना लेकर साधना पथ पर चलने को उद्यत होते हैं और प्रतिक्षण त्याग-वैराग्य को बढ़ाते चलते हैं। साधना के प्रारंभ समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक वे दृढ़ता के साथ संयम में स्थिर रहते हैं। गणधरों की तरह उनकी साधना में उत्तरोत्तर उज्ज्वलता एवं तेजस्विता आती रहती है। इस तरह से प्रति-क्षण विकास करते हुए अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं।

कुछ व्यक्ति त्याग वैराग्य की ज्योति लेकर दीक्षित होते हैं। प्रारंभ में उनके विचारों में तेजस्विता होती है, परन्तु पीछे परीषहों के उत्पन्न होने पर मन विचलित हो उठता है। साधना की ज्योति धूमिल पड़ने लगता है। उनके विचारों में शिथिलता आने लगती है। और वे पतन की ओर झुकने लगते हैं। शारीरिक एवं मानसिक आराम के प्रबल झोकों के सामने त्याग-वैराग्य की घनघोर घटाएं स्थिर नहीं रह पातीं। इस तरह कष्ट सहिष्णुता की कमी के कारण वे साधना पथ पर स्थित नहीं रह सकते हैं। परीषहों के उपस्थित होते ही पथ भ्रष्ट हो जाते हैं।

त्याग-वैराग्य भाव से संयम ग्रहण करना और अन्तिम क्षण तक उसका दृढ़ता से परिपालन करना प्रथम भंग है। संयम का ग्रहण करके पीछे से उसका त्याग कर देना दूसरा भंग है। पहिले संयम ग्रहण न करके पीछे से उसका पालन करना, यह तीसरा भंग बनता है। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि संयम का पालन एवं त्याग पहिले संयम स्वीकार करन पर ही घटित हो सकते हैं। परन्तु जिसने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसके पीछे से संयम पालन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः तीसरा भंग नहीं बनता है। इस लिए सूत्र में तीसरे भंग का उल्लेख नहीं किया गया है।

चतुर्थ भंग में न संयम का ग्रहण होता है और न त्याग का ही प्रश्न होता है। त्याग का प्रश्न ग्रहण करने पर ही उपस्थित होता है जो विद्यार्थी परीक्षा में बैठता ही नहीं उसके उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी तरह जिस ने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है उसके लिए संयम के पालन एवं त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भंग में गृहस्थ को लिया गया है, और उन साधुओं को भी इसी भंग में समाविष्ट किया गया है जो बिना भाव के साधु वेश को स्वीकार करते हैं और रात-दिन आरंभ-समारंभ में संलग्न रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम भाव से रहित समस्त साधु-सन्यासियों को इसी भंग में गिना गया है और इन्हें गृहस्थ के तुल्य कहा गया है। क्योंकि द्रव्य से साधु कहलाते हुए भी रात-दिन गृहस्थ की तरह आरंभ-समारंभ में

लगे रहने के कारण भाव से सयम हीन होने से गृहस्थ की श्रेणी में ही रखे गए हैं।

यह कथन स्वबुद्धि से नहीं, वलिक तीर्थंकरों द्वारा विया गया है। इस वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयं नियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सयासीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ॥१५४॥

छाया—एतद् ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितं इह आज्ञाकांक्षी पण्डित अस्निह पूर्वापररात्रं यतमानः सदाशीलं सम्प्रेक्ष्य श्रुत्वा भवेत् अकामः अज्झञ्झः अनेनैव युध्यस्व किन्ते युद्धेन बाह्यतः।

पदार्थ—एयं—यह यत्नादिक। नियाय—केवलज्ञान से जान कर। मुणिणा—तीर्थंकरा देव ने। पवेइयं—कथन किया है। इह—इस मौनीन्द्र प्रवचन मे स्थित। आणाकंखी—आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला। पडिए—सदसत् का विवेकी। अणिहे—स्नेह रहित। पुव्वावररायं—रात्रि के पहिले और पिछले पहर में। जयमाणे—सदाचार का आचरण करेने वाला अर्थात् ध्यान-आदि क्रियाओ का अनुष्ठान करने वाला। साया—सदा। सीलं—शील को। सुपेहाए—विचार कर, उसका पालन करे। सुणिया—सुनकर—शील सम्प्रेक्षण के फल को सुनकर, तथा कदाचार के फल को सुनकर। अकामे—इच्छा अथच मदन—काम भोगादि से रहित। अझझे—माया और लोभादि से रहित। भवे—होवे। च परस्पर सापेक्षार्थ है। एव—अवधारणार्थ मे। इमेण—इस औदारिक शरीर के साथ। जुज्झाहि—युद्ध कर। किं—क्या है। ते—तुझे। बज्झओ—वाहिर के जुज्झेण—युद्ध से।

मूलार्थ—तीर्थंकर देवने का उक्त विषय केवलज्ञान के द्वारा अवलोकन करके कथन किया है। इस जिन शासन मे स्नेह रहित आगमानुसारि क्रियानुष्ठान करने वाला पंडित-विचार शील पुरुष रात्रि के पहिले और पिछले पहर मे यत्न करने वाला तथा सदैवकाल शील को विचार कर उसके अनुसार चलने वाला, शील और कदाचार के फल को सुनकर-हृदय मे विचार

कर इच्छा, कामभोग और लोभादि रहित होवे ? हे शिष्य ! तू इस औदारिक शरीर के साथ युद्ध कर तुझे बाहिर के युद्ध से क्या प्रयोजन है ?

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में संयम-साधना को लेकर जो भंग बताए गए हैं, वे सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा उपदिष्ट हैं। उन्हों ने अपने ज्ञान में देखकर यह बताया है कि संयम साधना के द्वारा ही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है। साधना में तेजस्विता लाने के लिए प्रस्तुत सूत्र में पांच बातें बताई गई हैं। इन गुणों को जीवन में उतारने वाला साधक साध्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ये पांच गुण इस प्रकार हैं—१-स्नेह रहित होना; २-सदसद् का ज्ञाता होना ३-रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में धर्मजागरण चिन्तन करने वाला होना, ४-सदा शील का परिपालक होना और ५-कामेच्छा एवं लोभ-तृष्णा का त्यागी होना।

स्नेह रहित होने का तात्पर्य है—राग-द्वेष रहित होना, क्योंकि राग भाव में मनुष्य हिताहित की भावना को भूल जाता है। राग के तीन भेद किए गए हैं—१-स्नेह राग २-दृष्टि राग और ३-विषय राग। स्नेह राग का अर्थ है—अपने स्नेही के दोषों को भी राग वश गुण रूप मानना, उसे गल्ती करने पर भी कुछ नहीं कहना। दृष्टि राग का अर्थ है—असत्य सिद्धान्त को असत्य होते हुए भी साम्प्रदायिक राग वश सत्य मानना एवं कुतर्कों के द्वारा उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। विषय राग का अर्थ है—काम भोगों के प्रति आसक्ति रखना। ये तीनों तरह का राग संयम से दूर हटाने वाला है, अतः साधक को राग भाव का परित्याग करना चाहिए।

विवेकशील व्यक्ति ही संयम का भली भांति पालन कर सकता है। जिस व्यक्ति को सदसत् का विवेक नहीं है, हेयोपादेयता का बोध नहीं है वह संयम का पालन नहीं कर सकता। इसलिए संयम-साधना को स्वीकार करने के पहिले पदार्थों का ज्ञान होना जरूरी है। अतः प्रस्तुत सूत्र में साधक के लिए विवेक सम्पन्न होना बताया गया है।

साधक का जीवन आत्म साधना का जीवन है। वह रात दिन चिन्तन-मनन में संलग्न रहता है। वह जंगल में रहे या शहर में सोया हुआ हो या जागृत बना रहा हो या बैठा हो, प्रत्येक समय आत्म साधना में लीन रहता है। भावों की दृष्टि से वह सदा आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है। क्योंकि एक क्षण भी आत्मा को भूलता नहीं है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वह २४ घण्टे साधना नहीं कर सकता। कुछ आवश्यक कार्यों के लिए वह दिन में कुछ देर के लिए स्वाध्याय-ध्यान आदि नहीं कर पाता। इसी तरह रात में कुछ समय विश्रान्ति के लिए आवश्यक है इस लिए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया

गया है कि मुनि रात के पहिले और अन्तिम प्रहर मे निरन्तर आत्म चिन्तन करे। बीच के दो प्रहर निद्रा से मुक्त होने के लिए हैं। इससे मस्तिष्क को विश्राम मिल जाने से थकावट अनुभव नहीं होती, जिससे वह शेष समय आत्म चिन्तन में रह सकता है।

शील शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे होता है। अष्टादश सहस्रशीलाग रथ, संयम महाव्रतों का पालन, तीन गुप्तियों का आराधन, ५ इन्द्रिय एवं कषाय निग्रह को शील कहते हैं। इन अर्थों से शील शब्द का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अत. साधक को शील का पालन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

सयम का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए विषयेच्छा एवं कषायों का परित्याग करना जरूरी है। विपयासक्त एवं क्रोध आदि विकारों से प्रज्वलित व्यक्ति संयम का पालन नहीं कर सकता, इस लिए साधक को समस्त विकारों का परित्याग करना चाहिए।

इस तरह विकारों पर विजय प्राप्त करके साधक निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है। उसे निष्कर्म बनने के लिए औदारिक शरीर से युद्ध करना पड़ता है। औदारिक शरीर से युद्ध करने का अर्थ है—शरीर बन्धन से मुक्त होकर अशरीरी बनना। यह स्थिति चार घातिकर्मों को क्षय करके जीवन के अन्त मे अवशेप चार अघातिकर्मों का नाश करने पर प्राप्त होती है। अत यह युद्ध जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस में विजयी होने के बाद आत्मा सर्व कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अत, साधक को अप्रमत्त भाव से संयम का पालन करना चाहिए।

ऐसा अवसर एव संयम के साधन का मिलना सुलभ नहीं है। अत साधक को इस अवसर को व्यर्थ न खो देना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्थ कुसलेहिं परिन्ना-विवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चेयं पवुच्चइ, रूवसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमई नो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचणं

सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने निव्विरणचारी अरए पयासु ॥१५५॥

छाया—युद्धार्हं खलु दुर्लभं यथात्र कुशलैः परिज्ञाविवेकः भाषितः च्युतः खलु बालः गर्भादिषु रज्यतेऽस्मिन् चैतत् प्रोच्यते रूपे वा क्षणे वा स खलु एकः संविद्धपथः मुनिः अन्यथा लोकं उत्प्रेक्षमाणः इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः स न हिनस्ति संयमयति नो प्रगल्भते उत्प्रेक्षमाणः प्रत्येकं सातं, वर्णादेशी नारभेत कञ्चन सर्वलोके एकाग्रमुखः विदिक् प्रतीर्णः निर्विण्णचारी अरतः प्रजासु।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में है। जुद्धारिहं—यह औदारिक शरीर, भाव युद्ध के योग्य। दुल्लहं—दुर्लभ-मुश्किल से प्राप्त होता है। जहित्थ—जिस प्रकार से इस संसार में। कुसलेहिं—तीर्थंकरों ने। परिन्नाविवेगे—परिज्ञाविवेक। भासिए—भाषण किया है—अर्थात् धर्म पदार्थों की विशेषता प्रतिपादन की है, बुद्धिमान को उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिये। हु—निश्चयार्थक है। बाले—अज्ञानी जीव। चुए—धर्म से च्युत होकर। गब्भाइसु—गर्भादि में। रज्जइ—रचता है अर्थात् गर्भादि में दुःख पाता है या गृहादि को प्राप्त करता है। अस्सिं—इस अर्हत् प्रवचन में। च—समुच्चय अर्थ में है। एवं—यह विषय। पवुच्चइ—प्रकर्ष से कहा गया है। रूवंसि—रूप में। वा—अथवा-अन्य इन्द्रियों के विषयों में। छणंसि—हिंसादि में। वा—अनृतादि में प्रवृत्ति करता है, अर्थात् धर्म से पतित हुआ हिंसादि में प्रवृत्ति करके फिर गर्भादि में रच जाता है, इस प्रकार अर्हत् प्रवचन में वर्णन किया गया है। से—वह जिनेन्द्र। एगे—एक अद्वितीय। मुणी—तीन लोक के जानने वाला मुनि। संविद्धपहे—जिसने मोक्ष मार्ग को सम्यक् प्रकार से सन्मुख किया हुआ है अर्थात् जिसकी गति मोक्ष मार्ग में है। अन्नहा—अन्यथा—जो हिंसादि में प्रवृत्ति कर रहे हैं इस प्रकार के। लोय—लोक को। उवेहमाणे—उत्प्रेक्षमाण-उसकी विचारणा करता हुआ तथा च आत्मा के सावद्य व्यापार की निवृत्ति की आलोचना करता हुआ निम्न प्रकार से विचार करता है। इयं—इस प्रकार। कम्म—जो यह कर्म है उसको। सव्वसो—सर्व प्रकार से। परिन्नाय—ज्ञपरिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान करे अर्थात् छोड़ देवे। से—वह कर्म परिज्ञाता मन वचन और काय से। न हिंसइ—किसी जीव की हिंसा नहीं करता किन्तु। संजमइ—पाप में प्रवृत्त हुए आत्मा को संयमन करता है या सतरह प्रकार के संयम का पालन करता है। नोपगब्भइ असंयम प्रवृत्ति में धृष्टता नहीं करता अर्थात् लज्जा शील है, किन्तु। उवेहमाणे—विचार करता हुआ। विचारता

है। पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी को। साय—साता—सुख प्रिय है, अन्यके सुखसे अन्य सुखी नही होता, इत्यादि विचारो से हिंसादि कर्म, मुनि नही करता है, तथा। वण्णाएसी—यश की इच्छा करने वाला मुनि। नारभे कंचण—किसी प्रकार के पाप कर्म मे प्रवृत्ति न करे। सव्वलोए—सर्वलोक के विषय तथा। एगप्पमुहे-जिसने एक मोक्ष पथ मे दृष्टि दी हुई है, वह पापारम्भ नही करता। विदिसप्पइन्ने—असयम से उत्तीर्ण हो गया है। निव्विण्णचारी—वैराग्य युक्त होकर विचरने वाला, तथा हिंसादि क्रियाओ से निवृत्त हो कर चलने वाला पयासु—जीवो मे। अरए—अरत अर्थात् आरम्भादि से निवृत्त होगया है, अथवा। पयासु—स्त्रियो में। अरए—रत नही है।

मूलार्थ—युद्ध योग्य औदारिक शरीर का मिलना दुर्लभ है, तीर्थकरो ने परिज्ञा विवेक से भाषण किया है, धर्म पतित व्यक्ति बाल भावको प्राप्त होकर गर्भ मे रमण करता है, इस प्रकार आर्हत मत मे वर्णन किया गया है जो जीव, रूपादि विषयो वा हिंसादि कार्यों मे मूर्छित है वही गर्भादि मे रचता अर्थात् रमण करता है, वह जितेन्द्रिय मुनि एकमात्र मोक्ष मार्ग मे ही गति कर रहा है, अन्यथा-अन्यप्रकार से लोककी विचारणा करता हुआ कर्म के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार से हिंसादि क्रियाये नही करता, किन्तु अपने आत्मा को सयम मे रखता हुआ पापकर्म के करने मे धृष्टता नही करता। प्रत्येक प्राणी सात-सुख का इच्छुक है, इस प्रकार की विचारणा से किसी भी जीव की हिंसा नही करता, एव यश की इच्छा न करने-वाला किंचत् मात्र भी पापकर्म का आरम्भ नही करता, वह सर्वलोक मे सभी जीवो को समभाव से देखता है, जिसने एक मोक्ष की ओर दृष्टि (मुख) की हुई है वह विदिक् प्रतीर्ण है (दिशा मोक्ष नाम है और विदिशा ससार का) अर्थात् वह ससार से उत्तीर्ण हो गया है इस लिए वह हिंसादि क्रियाओ से अथवा स्त्रियो के ससर्ग से निवृत्त होकर शान्तभाव से मोक्ष पथ मे विचरता है।

हिन्दी विवेचन

साधना के लिए उपयुक्त सामग्री का मिलना भी आवश्यक है। योग्य साधन के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं हो पाता। इस लिए प्रस्तुत सूत्र मे योग्य साधनों का उल्लेख किया गया है सयम साधना के लिए सब से प्रमुख है। औदारिक शरीर—मनुष्य

का शरीर। मनुष्य ही संयम को स्वीकार कर सकता है। औदारिक शरीर में संपूर्ण अंगोपांग एवं स्वस्थ होने पर ही वह धर्म साधना में सहायक हो सकेगा। अंगोपांग की कमी एवं अस्वस्थ अवस्था में मनुष्य को संयम के पालन करने में कठिनता होती है। संयम पालन के योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त स्वस्थ शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। प्रबल पुण्योदय से हो सम्पूर्ण अंगोपांगों से युक्त स्वस्थ शरीर उपलब्ध होता है। फिर भी कुछ प्रमत्त प्राणी विषय भोगों में आसक्त होकर उसका दुरुपयोग करके जन्म-मरण को बढ़ाते हैं।

कर्मों का बन्ध एवं क्षय दोनों आत्मा में अध्यवसायों पर आधारित हैं। साधक शुभ अध्यवसायों-परिणामों के द्वारा पूर्व बन्धे हुए कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। क्योंकि वह साधना किसी प्रकार की आकांक्षा, लालसा एवं यश आदि पाने की अभिलाषा से नहीं करता है। केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही वह तप—संयम की साधना करता है। अतः वह उक्त साधना के द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अज्ञानी प्राणी प्रमाद के वश विषय-वासना में आसक्त रहते हैं। विषयों की पूर्ति के लिए रात दिन भावद्य कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं हिंसा आदि दोषों का सेवन करते हैं। इससे पाप कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप संसार में परिभ्रमण करते हैं और अनेक दुःखों का संवेदन करते हैं।

विवेकशील पुरुष इस बात को जानता है। उसकी दृष्टि स्वच्छ और विस्तृत होती है। वह अपने ही स्वार्थ एवं हित को नहीं देखता है। वह सब प्राणियों का हित चाहता है। वह जानता है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। इस लिए वह सब के प्रति समभाव रखता है। किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाता। इस तरह वह अपनी निष्पापमय प्रवृत्ति से प्रत्येक प्राणी की रक्षा करता हुआ कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस लिए मुमुक्षु पुरुष को संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अक-रणिज्जं पावकम्मं तं नो अन्नेसी, जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासह तं संमंति पासहा, न इमं सक्कं सिढि लेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गार

मावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्तेविरए वियाहिए त्तिबेमि ॥१५६॥

छाया—सः वसुमान् सर्व समन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापकर्म तन्नो अन्वेषयति यत् सम्यगिति—सम्यक्त्वमिति—सम्यक् इति पश्यत तन्मौन-मिति पश्यतः यन्मौनमिति पश्यतः तत् सम्यगिति पश्यत नैतत् शक्य शिथिलै आर्द्री क्रियमाणैः गुणास्वादै वक्रसमाचारैः प्रमत्तैः अगारमावसदभिः मुनि-मौनं समादाय धुनीयात् शरीरकं प्रान्त रूक्षं सेवन्ते वीराः—सम्यक्त्वदर्शिनः एष ओघन्तरः मुनिः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। वसुम—सयम वाला। सव्व—सव। समन्नागयपन्नाणेणं—विशिष्ट ज्ञान से युक्त। अप्पाणेणं—आत्मा से। पावकम्म—पापकर्म। अकरणिज्जं—अकरणीय है, इस प्रकार से जो मानता है वह। त—उस-पापकर्म की। नो अन्नेसी—गवेषणा नही करता अर्थात् पापकर्म नही करता, कारणकि। ज समंति—जो सम्यक्त्व है वही। मोणंति—मौन-सयमानुष्ठान है। पासहा—यह देखो, विचार करो। जमोणंति—जो मौन-सयमानुष्टान है। त समंति—वह सम्यक्त्व है। पासहा—यह देखो-विचार करो। नइम सक्क सिढिलेहिं—शिथिल पुरुष इसका पालन करने में समर्थ नहीं हैं। अदिज्जमाणेहि—पुत्रादि के स्नेह से आर्द्रचित वाले अर्थात् जो पुत्रादि के स्नेह में खचित हैं वे इसका पालन नहीं कर सकते। गुणासाएहिं—शब्दादि गुणो का आस्वादन करने वाले। वक्कसमायारेहिं—कपटाचारी—कपट करने वाले। पमत्तेहिं—प्रमादी-प्रमाद का सेवन करने वाले। गारमावसतेहिं—घरो पर ममत्व रखने वाले, इस सम्यक्त्वादि रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकते अत.। मुणी मोण समायाए—मुनि-मनन शील आत्मा मौन-मुनि भाव को ग्रहण करके। सरीरग—कार्मण वा औदारिक शरीर को। धुणे—धुनने-कृश करने का यत्न करे। पत—प्रान्ताहार अथवा वल्ल चणकादिरूप अल्पाहार। लूह—रूक्षाहार को जो। सेवति—सेवन करते हैं। वीरा—वीरपुरुष-जोकर्म विदारण में समर्थ हैं। सम्मत्तदसिणो—सम्यक्त्वदर्शी है वा समत्वदर्शी हैं। एस—यह-उक्त गुणो से युक्त। मुणी—मुनि। ओहतरे—भावौघ-ससार को तर जाता है। तिण्णे—तथा वह मुनि संसार रूप समुद्र को तर गया। मुत्ते—बन्धन से मुक्त हुआ। विरए—सावद्यानुष्ठान से विरत हुआ। वियाहिए—इस पकार से कहा गया है। त्तिबेमि—इस पकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह संयम धनवाला साधु, सर्वप्रकार से ज्ञान सम्पन्न, 'अपने आत्मा के द्वारा किसी प्रकार के अकरणीय कर्म की गवेषणा नहीं करता अर्थात् किसी प्रकार का अनुचित कर्म नहीं करता गुरुकहते है हे शिष्यो ! तुम देखो ! जो सम्यग्दर्शन को देखता है वह मौन-मुनिभाव-साधुत्व को देखता है और जो मुनि भाव को देखता है वह सम्यग्ज्ञान को देखता है। कातर शिथिल भावों वाले, पुत्रादि से स्नेह युक्त, शब्दादि गुणों का आस्वादन करने वाले वक्रसमाचारी-मायावी और घरों में ममत्व रखने वाले मठाधीश व्यक्ति मुनिवृत्ति को आराधना नहीं कर सकते किन्तु जो वीर आत्माएं हैं वे ही मुनि वृत्ति को धारण करके कार्मण औदारिक शरीर को धुनने मे समर्थ होसकते हैं। वे प्रान्त चणकादि, और रूक्ष आहार का सेवन करते हैं। इतना ही नहीं किन्तु सम्यक्त्व या समत्व को धारण करने वाले मुनि ससार समुद्र को तैर जाते हैं। सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र सम्पन्न मुनि तीर्ण मुक्त और विरत, इस प्रकार से वर्णन किया गया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में चारित्र की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया गया है। यह बताया गया है कि रत्न त्रय से सम्पन्न व्यक्ति पापकर्म से छुटकारा पा सकता है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से ही आत्मा मोक्ष को पा सकता है। संयम-सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् दर्शन और ज्ञान होता ही है। क्योंकि सम्यग् दर्शन एवं ज्ञानके अभाव में चारित्र सम्यग् हो ही नहीं सकता। अतः सम्यक् चारित्र के साथ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं। क्योंकि चारित्र पापकर्म का निरोधक है और पाप कर्म अर्थात् हिंसा आदि आस्रवों-दोषों का जिनके सेवन से पापकर्म का बन्ध होता है, बोध ज्ञान से ही होता है। इस लिए साधक ज्ञान की आंख से हेय और उपादेय मार्ग को देखता है, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझता है और दर्शन से उस यथार्थ मार्ग पर श्रद्धा-विश्वास करता है और चारित्र के द्वारा हेय मार्ग का त्याग करके उपादेय मार्ग स्वीकार करता है। इस तरह रत्नत्रय की आराधना से वह पूर्व में बन्धे कर्मों का क्षय करता है, अभिनव पापकर्म के बन्ध को रोकता है। इस तरह वह संयम साधना से निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

रत्नत्रय की आराधना त्याग-वैराग्य से युक्त आत्माएँ ही कर सकती हैं। विषय-भोगों मे आसक्त व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकते। साधु का वेश ग्रहण करके भी जो मठ-मन्दिर या चल-अचल सपत्ति पर अपना आधिपत्य जमाए बैठे हैं एवं अनेक प्रकार के आरम्भ-समारंभ मे सलग्न हैं, वे रत्न त्रय की साधना से कोसों दूर हैं। इसके लिए धन-सम्पत्ति, स्त्री,पुत्र, परिवार एवं घर आदि सभी पदार्थों से आसक्ति हटानी होती है। अत सभी स्नेह वन्धन एवं ममत्वभाव का त्यागी व्यक्ति ही सयम की साधना कर सकता है और वही। कर्म वन्धन को तोड़ सकता है दुर्वल एवं कायर पुरुष इस पथ पर नहीं चल सकत।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥
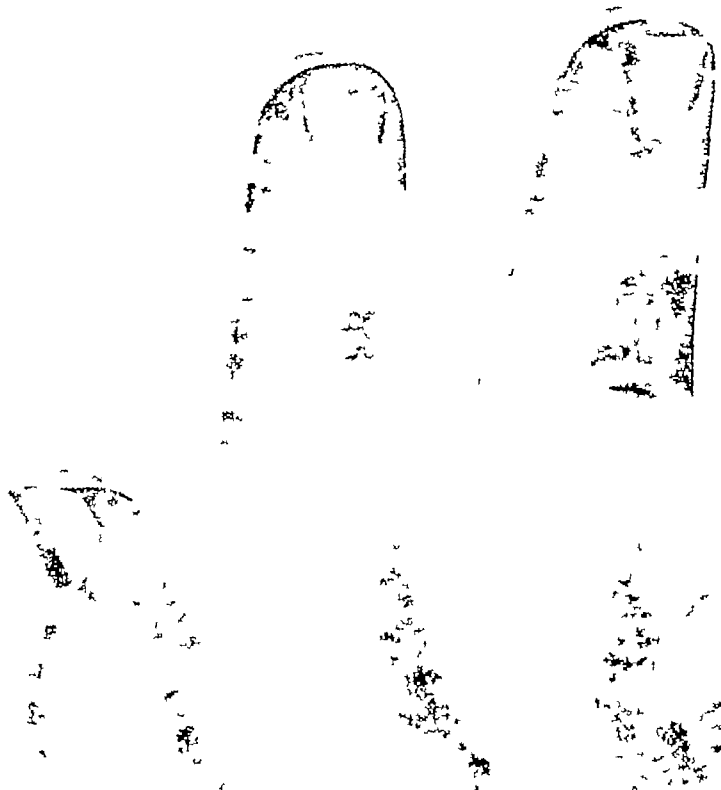
पञ्चम अध्ययन—लोकसार

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में मुनित्व का वर्णन किया गया है। मुनित्व का सम्यक् आराधन गुरु के सान्निध्य में ही हो सकता है। गुरु आज्ञा से विपरीत चलने वाला व्यक्ति भली-भांति साधुत्व का परिपालन नहीं कर सकता। अतः प्रस्तुत उद्देशक में यह बताया गया है कि गुरु की आज्ञा बिना एकाकी विचरने वाले साधु के जीवन में कौन-कौन से अव गुणों की अभिवृद्धि होती है और आज्ञानुसार चलने वाले शिष्य के जीवन में कौन-से गुणों की अभिवृद्धि होती है। स्वच्छन्द एवं आज्ञा में विचरने वाले दोनों साधकों की प्रकृति का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परिक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥१५७॥

छाया—ग्रामानुग्रामं द्रूयमानस्य दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं भवति अव्यक्तस्य भिक्षो।

पदार्थ—अवियत्तस्स—अव्यक्त-अगीतार्थ। भिक्खुणो—भिक्षु को। गामाणुगामं—अकेले एक गांव से दूसरे गांव को। दूइज्जमाणस्स दुज्जायं—विचरने की क्रिया सुखप्रद नहीं होती और। दुप्परक्कंतं—उसका एकाकी भ्रमण भी उसके चारित्र के पतन का कारण। भवइ—होता है।

मूलार्थ—अव्यक्त अगीतार्थ भिक्षु को अकेले एक गांव से दूसरे गांव का विचरना सुखप्रद नहीं होता। इससे उसके चारित्र का पतन होने की सभावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अकेले विचरने वाले साधु के जीवन का विश्लेषण किया गया है। इस में बताया गया है कि जो साधु बिना कारण गुरु की आज्ञा के बिना अकेला विचरता है उसे अनेक दोष लगने की संभावना है। पहिले तो लोगों के मन में अनेक तरह की शंकाएं पैदा होती हैं कि यह अकेला क्यों घूमता है? फिर उसके सम्बन्ध में झूठी-सच्ची अनेक

बातें होती हैं और एकाकी होने के कारण अनेक परीषह उपस्थित हो सकते हैं, उन में दृढ़ता न रहने के कारण वह कभी संयम पथ से च्युत भी हो सकता है। इसी दृष्टि को सामने रख कर आगम मे अव्यक्त–अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का आदेश नहीं दिया है।

एकाकी विचरने का निषेध उत्सर्ग मार्ग में है और वह भी अगीतार्थ मुनिके लिए है। परन्तु, विशेष परिस्थिति में या किसी विशेष कारण से एकाकी विहार करना पड़े तो गुरु की आज्ञा से गीतार्थ मुनि वैसा करके भी शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है और न उसके संयम से गिरने की संभावना है। एक तो वह परिस्थिति वश जा रहा है और दूसरे गुरु की आज्ञा से जा रहा है और साथ मे गीतार्थ होने से वह आगम मर्यादा से भी भली-भाति परिचित है और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही विचरण करता है, इस लिए उसके गिरने की संभावना नहीं रहती।

अव्यक्त—अगीतार्थ किसे कहते हैं ? अव्यक्त की श्रुत और वय की अपेक्षा से चतुर्भंगी बनती है।

१—श्रुत और वय से अव्यक्त-श्रुत में आचार-प्रकल्पागम का अर्थ से अनुशीलन नहीं करने वाला एवं १६ वर्ष की आयु वाला साधक श्रुत एवं वय से अव्यक्त कहलाता है।

२—श्रुत से अव्यक्त और वय से व्यक्त—आचार के अर्थ ज्ञान से रहित, परन्तु सोलह वर्ष से अधिक आयु वाला साधक।

३—श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त किन्तु १६ या १६ वर्ष से कम अवस्था का साधक।

४—श्रुत और वय दोनों से व्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त और सोलह वर्ष से अधिक अर्थात् परिपक्व अवस्था वाला साधक।

चतुर्थ भग वाला साधक कारण विशेष से गुरु आज्ञा से अकेला भी विचर सकता है। क्योंकि वय से परिपक्व एवं श्रुतज्ञान से सम्पन्न होने के कारण परीषह उपस्थित होने पर भी वह साधना मार्ग से भटक नहीं सकता। परन्तु, अगीतार्थ मुनि के ज्ञान अपरिपक्वता के कारण वह परीषहों के उपस्थित होने पर विपरीत मार्ग पर भी चल सकता है। इस लिए अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का निषेध किया गया है।

एक बात यह भी है कि अव्यक्त अवस्था मे अकेला रहने से उसका ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैसे पूर्वकाल-में माता पिता अपने बच्चे को गुरुकुल मे रखकर पढ़ाते थे, आज भी कई जगह ऐसा किया जाता है। क्योंकि गुरुकुल में शिक्षक के अनुशा-

सन में कच्चा ज्ञान की कमी को पूरा कर लेता है। उसी तरह गुरु के अनुशासन में रहकर शिष्य ज्ञान सम्पन्न बन जाता है। अतः श्रुत एवं ज्ञान साधना के लिए अगीतार्थ मुनि को गुरु की सेवा में रहना चाहिए और उनकी आज्ञा के बिना अकेले नहीं विचरना चाहिए।

क्रोधादि के वश अकेले विचरने वाले मुनि की क्या स्थिति होती है। इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—वयसावि एगे वुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संवाहा बहवे भुज्जो २ दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ, एय ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेसणे जयं विहारी चित्त निवाई पथ निज्झाई पलिवाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा ॥१५८॥

छाया—वचसापि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः उन्नतमानश्च नरो महता मोहेन मुह्यति, संबाधाः बहव्यः भूयो भूयो दुरतिक्रमाः अजानतः अपश्यतः एतत् ते मा भवतु एतत् कुशलस्य दर्शनं तद्दृष्ट्या तन्मुक्त्या तत् पुरस्कारे तत् संज्ञी तन्निवेशन यतमान विहारी चित्तनिपाती पथनिर्ध्यायी परिबाह्यः दृष्ट्वा प्राणिनः गच्छेत्।

पदार्थ—वयसावि—वचन से गुरु द्वारा। वुइया—कहे हुए। एगे—कई एक। माणवा—मनुष्य अर्थात् शिष्य वर्ग। कुप्पंति—क्रोध करने लग जाता है। य—फिर। उन्नयमाणे—अहंकार करता हुआ। नरे—मनुष्य। महया मोहेण—महान्-अज्ञ मोह से। मुज्झइ—कार्याकार्य विचार विवेक से विकल हो जाता है। संबाहा—संबाधा—पीड़ा। बहवे—बहुत। भुज्जो २—पुनः पुनः। दुरइक्कम्मा—सहन करनी दुष्कर है। अजाणओ—अज्ञानी—अतत्वदर्शी उपाय को न जानता हुआ। अपासओ—न देखता हुआ गुरु कहते हैं हे शिष्य! एयं—यह एकाकीचर्या। ते—तुझे। मा होउ—मत हो क्योंकि। एयं—यह। कुसलस्स दंसणं—कुशल अर्थात् श्री वर्द्धमान स्वामी का दर्शन है, अतः। तद्दिट्ठीए—गुरु—आचार्य की दृष्टि से वर्तना चाहिए। तम्मुत्तीए—निर्लोभता से वर्तना चाहिए। तप्पुरक्कारे—प्रत्येक कार्य में गुरु को

आगे रखना चाहिए । तस्सन्नी—गुरु पर श्रद्धा रखने वाला । तन्निवेसणे—गुरुकुलवासी होना चाहिए अर्थात् गुरु के पास रहना चाहिए । जय विहारी—यत्न पूर्वक विचरना चाहिए। चित्त निवाई—गुरुजनो के चित्त के अनुसार वर्तना चाहिए। पथ निज्झाई —गुरुजनो के कही चले जाने पर उनकी ओर ध्यान रखने वाला हो। पलिवाहिरे—गुरुओ की आज्ञा के वाहिर कभी न हो, यदि गुरु ने किसी स्थान पर भेजा हो तो । पाणे—प्राणियो को। पासिय—देखकर। गच्छिज्जा— जावे-यत्नपूर्वक गमन करे।

मूलार्थ—जो मनुष्य गुरुजनो की हित शिक्षा से क्रोधित होते है, अहकार के वश मे होकर तथा महामोह के उदय से अज्ञानता में मूर्छित होकर गुरुजनो से पृथक् होकर विचरने लग जाते हैं, ऐसा करने से उन्हे उपसर्गादि जनित वार २ अनेक प्रकार की दुर्रतिक्रम बाधायें उपस्थित होती है। सम्यक् सहन करने के उपाय से अज्ञात और कर्म विपाक के न देखने के कारण उन वाधाओ से अत्यन्त दुःखी होकर वे चारित्र मार्ग से गिर जाते है। गुरु कहते है हे शिष्य! श्रमण भगवान महावीर स्वामी का यह दर्शन है कि तुम्हारी यह दशा न हो, किन्तु गुरु की दृष्टि से, सर्व प्रकार की निर्ममत्ववृत्ति से, प्रत्येक कार्य मे गुरुजनो की आज्ञा को सन्मुख रखने से, गुरुओ के पास रहने से, और यत्नपूर्वक विचरने से, गुरुओ के चित्त की आराधना करनी चाहिए, एव कही पर गए हुए गुरुओ के मार्ग का अवलोकन करना चाहिए, गुरुओ को आज्ञा मे रहना चाहिए, यदि गुरु कही पर भेजें तो मार्ग मे प्राणियो की रक्षा करते हुए चलना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

अव्यक्त अवस्था में—श्रुतज्ञान से सम्पन्न न होने के कारण, साधक अपने अन्दर स्थित कषायों को दवा नहीं सकता। कभी परिस्थिति वश उसका क्रोध प्रज्वलित हो उठता है और वह उस स्थिति में अपनी समझ को भी भूल जाता है। कषायों के प्रवाह में उसे अपने हिताहित का भी ख्याल नहीं रहता। इस लिए वह कर्त्तव्य मार्ग से च्युत होकर पतन के गर्त में गिरने लगता है। आवेश के नशे मे उसका भाषा पर भी अकुश नहीं रहता। गुरु के सामने भी वह अट-संट बकने लगता है और अपने आतरिक दोषों को न देख कर गुरु के दोष निकालने का प्रयत्न करता है। और अपने दोषों पर पर्दा डालने के लिए वह दूसरे साधकों के दोषों को सामने रख कर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने

का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि गुरु मुझे हित शिक्षा नहीं दे रहे हैं, अपितु सबके सामने मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। इस लिए वह आवेश के वश गुरु के वचनों का अनादर करके तथा उन्हें भला-बुरा कहकर अकेला विचरने लगता है। परन्तु वय एवं श्रुत से अव्यक्त होने के कारण वह संयम मार्ग पर स्थिर नहीं रह सकता। रोग आदि कष्ट उपस्थित होने पर वह घबरा जाता है। उन परीषहों को सह नहीं पाता। और परिणाम स्वरूप अनेक दोषों का सेवन करने लगता है। इस तरह आवेश के वश संघ से पृथक् होकर विचरने वाला साधक चारित्र से गिर जाता है। अतः अव्यक्त साधु को गुरु की सेवा में रहते हुए क्रोध आदि कषायों के वश में नहीं होना चाहिए।

गुरु की सेवा में रहकर संयम का परिपालन करना चाहिए और सावधानी एवं विवेक के साथ सभी क्रियाएँ करनी चाहिएँ। और कभी भूल हो जाने पर उसका संशोधन करके उस दोष को निष्फल करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलिमज्जमाणे, एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिन्ना एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं, जं आउट्टिकयं कम्मं तं परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी ॥१५६॥

छाया—स अभिक्रामन् प्रतिक्रामन् संकुचन् प्रसारयन् विनिवर्तमानः संपरिमृजन् एकदा गुणसमितस्य रीयमाणस्य कायसंस्पर्शं समनुचीर्णाः एके प्राणाः—प्राणिनः अपद्रान्ति इह लोके वेदनवेद्या पतितं यत् आकुट्टी कृतकर्म तत् परिज्ञाय विवेकमेति एवं तस्य अप्रमादेन विवेकं कीर्तयति वेदवित्।

पदार्थ—से—वह भिक्षु। अभिक्कममाणे—जाता हुआ। पडिक्कममाणे—पीछे हटता हुआ। संकुचमाणे—हस्तादि का संकोच करता हुआ। पसारेमाणे पादादि को पसारता-फैलाता हुआ। विणिवट्टमाणे—अशुभ व्यापार से निवृत्त होता हुआ। संपलिमज्जमाणे—सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन करता हुआ। एगया—एकदा किसी समय। गुणसमियस्स—गुण युक्त अप्रमत्त भाव से। रीयओ—चलते हुए के। कायसंफासं—काय के स्पर्श से—

समणुचिन्ना —स्पर्शित हुआ । **एगतिया** – कई एक । **पाणा** – प्राणी । **उद्दायंति** – मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं अथवा परितापना युक्त हो जाते है तब । **इहलोगवेयण विज्जा वडिय**—इस लोक मे वेदना का अनुभव करके उसे क्षय कर देवे । **जं** – जो । **आउट्टिकयं** – जो जान कर किया हुआ । **कम** – हिंसादि कर्म है । **तं** – उसको । **परिन्नाय** – ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्यख्यान करके । **विवेगमेइ** — विवेक परिज्ञा द्वारा उस कर्म को क्षय कर देवे । **एव** – इस प्रकार । **से** – वह-सापरायिक कर्म । **अप्पमाएण** – अप्रमाद के द्वारा । **विवेगं** – क्षय कर देवे । इस प्रकार । **वेयवी** – तीर्थंकर वागण धरो ने । **किट्टइ** – कहा है ।

मूलार्थ—समस्त अशुभ व्यापार से अलग रहने वाला भिक्षु चलते हुए, पोछे हटने हुए, हस्त पादादि अङ्गो को संकोचते हुए और फैलाते हुए, भली प्रकार से रजोहरणादि के द्वारा शरार के अङ्गोपांग तथा भूमि आदि का प्रमार्जन करता हुआ गुरुजनो के समीप निवास करे । इस प्रकार अप्रमत्त भाव से सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान करते हुए गुण युक्त मुनि से यदि किसी समय चलते-फिरते हुए काय-शरीर के स्पर्श से किसो प्राणी-सपातिमादि जीव की मृत्यु हो जावे तो वह भिक्षु उस कर्म के फल को इसी लोक मे वेदनादि का अनुभव करके क्षय कर देवे, परन्तु जान-बूझकर किया गया हो तो उस को तप अनुष्ठान के द्वारा क्षय कर देवे, यह कर्म क्षय करने का विधान तोर्थंकरो ने किया है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाद और अप्रमाद का सुन्दर शब्दों में विश्लेपण किया गया है। प्रमाद आरम्भ-समारम्भ एवं सब पापों का मूल है। प्रमाद पूर्वक कार्य करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, पाप कर्म का बन्ध होता है। इस लिए साधु के लिए आगम में प्रमत्त भाव का त्याग करने का आदेश दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र मे बताया गया है कि अविवेक पूर्वक चलने वाला, खडे रहने वाला, बैठने वाला, सोने वाला, भोजन करने वाला, एवं बोलने वाला पापकर्म का बन्ध करता है। अविवेक पूर्वक की जाने वाली प्रत्येक क्रिया पाप बन्ध का कारण है और विवेक पूर्वक की जाने वाली उपरोक्त सभी क्रियाओं मे पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अविवेक एव प्रमाद से पाप कर्म का बन्ध होता है, अत साधु को अप्रमत्त भाव से विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए। विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए भी कभी भूल से किसी प्राणी की हिंसा हो जाए

तो ईर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिंसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्प्रायिक तप अनुष्ठान या प्रायश्चित्त स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिंसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए ईर्यापथिक एवं साम्प्रायिक क्रियाओं का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित्त एवं तप के द्वारा मुनि पाप कर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ संयम में संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिए सयाजए, दट्ठु विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ?, एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दूइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि त्तिबेमि ॥१६०॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञान उपशान्तः समितः सहितः सदायतः दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जनः कुर्यात् ? स एष परमारामः याः लोके स्त्रियः मुनिना हु एतत् प्रवेदितं उद्बाध्यमानः ग्राम

धर्मैरपि निर्वलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्राम विहरेद् अपि आहारं व्यवछिन्द्यादपि त्यजेत् स्त्रीषु मन पूर्वं दडा पश्चात् स्पर्शा पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दडाः इत्येते कलहसंगकरा. भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि। स नो कथा कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्व (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से–वह साधु। पभूयदसी–प्रभूत देखने वाला। पभूय परिन्नाणे—अत्यन्त ज्ञान वाला। उवसते—उपशान्त कपाय वाला। समिए—समितियों से समित। सहिए—ज्ञान युक्त। सयाजए—सदा यत्नशील। वट्ठु—स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर। अप्पाण—आत्मा को। विप्पडिवेएइ—शिक्षित करता है। किमेस जणो करिस्सइ—यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? एस से—यह स्त्री जन। परमारामो—परमाराम रूप है अथवा। जाओ—जो। लोगम्मि—लोक मे। इत्थिओ—स्त्रियां हैं वे पुरुपो के मोहोदय का मुख्य कारण हैं। हु—निश्चय ही। एवं—यह पूर्वोक्त विषय। मुणिणा—श्री वर्द्धमान स्वामी ने। पवेइयं—विशेषता से प्रतिपादन किया है। गामधम्मेहि—इन्द्रिय धर्मों में। उव्वाहिज्जमाणे—पीडित होता हुआ। अवि—अपि शब्द सभावना अर्थ से जानना चाहिए। गुरुजनो की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते हैं, यथा। निव्वलासए—निर्बल और असार-साररहित आहार के करने वाला। अवि—पूर्ववत् जानना चाहिए। ओमोदरियं—ऊनोदरी तप कुज्जा—करे। अवि—पूर्ववत्। उड्ढ—ऊर्ध्व। ठाणठाइज्जा—स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे। अवि—पूर्ववत्। गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा—विचरे। अवि—अपि समुच्चय अर्थ में है। आहार—आहार को। वुच्छिदिज्जा—छोड देवे। अवि—अपि शब्द से अन्य अर्थो का भी ग्रहण कर लेना। चए—छोड देवे। इत्थीसु मण—स्त्री में लगे हुए मन को। पुव्व—पूर्व में। दंडा—दड है। पच्छा फासा—पीछे नरकादि दुखों का स्पर्श है तथा। पुव्वफासा—पहिले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है। पच्छा दडा—पीछे दुख रूप दड मिलता है। इच्चेए—अत ये स्त्रियो के ससर्गादि। कलह सगकरा भवति—कलह सग्रामादि के कारण होते है अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते हैं, अत। पडिलेहाए-प्रत्युपेक्षणा से। आगमित्ता—जानकर। आणविज्जा—स्वात्मा को शिक्षित करे। अणासेवणाए—विपयो का सेवन न करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मा को विपयो से पराङ् मुख रहने की शिक्षा देवे। त्तिवेमि—इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति मे है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते है हे! शिष्य यह मैं तीर्थंकर वचन के अनुसार कहता हूं अब सूत्रकार स्त्री के

परिहरण के विषय में कहते हैं—से—वह त्यागी भिक्षु। णोकहिए—स्त्री के शृङ्गारादि की कथा न करे। णो पासणिए—स्त्री के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन न करे। णो मामए—स्त्री के साथ न ममत्व करे। णो कय किरिए—तथा स्त्री मंडनादि क्रियायें न करे अर्थात् स्त्री की वैयावृत्य न करे। वइगुत्ते—वचन से संलाप न करे। अज्झप्पसंवुडे—अध्यात्म संवृत स्त्री के विषय में मन से भी विचार न करे, तथा। सया—सदा। पावं—पाप कर्म को। परिवज्जए—त्याग देवे। एवं—यह। मोणं—मुनित्व-मुनि भाव है पूर्व कहते हैं हे शिष्य! इस मुनि भाव को तू। समणुवासिज्जासि—सम्यक् प्रकार से पालन कर। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह भिक्षु प्रभूत देखने वाला, प्रभूत ज्ञान वाला उपशान्त, समितियों से समित, ज्ञानयुक्त सदा यत्नशील स्त्रीजन को देख कर अपने आत्मा को शिक्षित करे कि हे आत्मन्! यह स्त्री जन तुम्हारा क्या करेगा! यह स्त्री जन समस्त लोक में परमाराम रूप है, इस प्रकार से कामीजन मानते हैं ऐसा श्री वर्धमान स्वामी ने वर्णन किया है। विचारशील भिक्षु यदि ग्रामधर्म विषय से पीड़ित हो जावे तो उसे नीरस आहार करना चाहिए, ऊनोदरी तप करना चाहिए ऊँचे स्थान पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग द्वारा आतापना लेनी चाहिए, ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए, आहार का परित्याग करना चाहिए (यहाँ तक कि झम्पे से गिर कर प्राण त्याग कर देने चाहिए।) परन्तु स्त्रीजन में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए कारण कि स्त्रीसंग से पहिले (दंड-धनादि में उपार्जन के लिए महाकष्ट) होता है पीछे से नरकादि अमित दुःखों का स्पर्श होता है तथा पहिले स्त्री के अङ्ग प्रत्यंग का स्पर्श और पीछे नरकादि यातनाओं का दंड भोगना पड़ता है, ये स्त्रियें कलह और संग्रामादि का कारण है और भयंकर राग द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं इस प्रकार बुद्धि से विचार कर के कर्म के विपाक को सम्मुख रखकर विचार शील भिक्षु अपने आत्मा को शिक्षित करे। इस प्रकार मैं कहता हूँ। फिर वह त्यागी भिक्षु स्त्री की कथा न करे, इस के अ ग प्रत्यंग का अवलोकन न करे, इसके साथ एकान्त में किसी प्रकार की पर्यालोचना न करे, इस पर ममत्व न करे इसकी वैयावृत्य न करे और

इसके साथ रहस्यमय वार्तालाप न करे, तथा इसके विषय में मन मे सकल्प भा न करे, पापकर्म का सदैव त्याग करे, गुरु कहते हैं हे शिष्य! तू इस मुनि-भाव का सम्यग् रूप से पालन कर, इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

विवेकशील साधु दीर्घदर्शी एवं ज्ञान सम्पन्न होता है। वह अतीत, अनागत एवं वर्त्तमान को तथा कर्म फल को भलि-भाती देखने वाला है। उसे सयम को सुरक्षित रखने एव संयम के द्वारा समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर मुक्त होने के रास्ते का भी परिज्ञान है। वह उपशान्त प्रकृति वाला है एवं समिति–गुप्ति से युक्त है' इस लिए वह सयम-निष्ठ मुनि कभी अनुकूल या प्रतिकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी संयम से च्युत नहीं होता। उसे कोई भी स्त्री एवं भोगोपभोग के साधन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। क्योंकि उसने आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को जान लिया है, अत' उसके सामने दुनिया के सभी पदार्थों का सौन्दर्य उसे फीका–सा प्रतीत होता है।

स्त्री एवं भोग-विलास के साधनों के उपस्थित होने पर वह सोचता है कि मैंने बड़ी कठिनता से सम्यक्त्व को एव संयम-साधना को प्राप्त किया है। इन विषय-भोगों को तो मैं अनेक बार भोगचुका हूँ फिर भी इससे आत्मा की तृप्ति नहीं हुई। इनके कारण मैं बार–बार संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ। इस ससार बन्धन से छूटने का यह साधन मुझे कर्मों के क्षयोपशम से मिला है अत अब संसार में भटकाने वाले विषय-भोगों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। संसार का रूप-सौन्दर्य मुझे पथ भ्रष्ट नहीं कर सकता।

ये स्त्रियें एवं भोगोपभोग के साधन बडे-बडे तत्त्ववेत्ताओं को भी मोह लेते हैं। और उनके मोहजाल में आबद्ध साधक पहिले तो संयम से भ्रष्ट होता है और बाद मे वह उनका दास हो कर जीवन व्यतीत करता है। इसलिए सब से अच्छा यही है कि मैं इन विषय-विकारों एवं भोगों को स्वीकार ही नहीं करूं। इस प्रकार सोच-विचारकर प्रबुद्ध पुरुष भोगेच्छा का त्याग कर देता है, वह भोगों की ओर आकर्षित ही नहीं होता।

तीर्थंकरों ने स्त्री-काम-भोगों को भाव बन्धन कहा है। मोह कर्म के उदय से मनुष्य वासना के प्रवाह मे बहता है अत साधु को गुरु के अनुशासन मे रहकर मोह कर्म का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए और वासना एव विकृति को रोकने के लिए कामोत्तेजक आहार एवं ऐसे अन्य साधनों का त्याग करना चाहिए। विषयों से विरक्त रहने के लिए साधु को नीरस भोजन करना चाहिए। एक गाव मे लम्बे समय तक नहीं रहकर ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए, आतापना लेनी चाहिए, एकान्त स्थान मे या पर्वतके शिखिर

पर कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा तपश्चर्या करते रहना चाहिए।

इसके साथ उसे सोचना चाहिए कि स्त्री के कारण कलह-कदाग्रह होते रहते हैं। इतिहास में भी इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्री संसर्ग से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। व्यभिचारी व्यक्ति का दुनियां में तिरस्कार होता है। इस तरह सोच कर विषय-वासना का त्यागी साधु विषय-विकार की ओर आकर्षित न हो और उसे स्त्री कथा, स्त्री परिचर्या एवं उसके साथ रहस्यपूर्ण बात-चीत नहीं करनी चाहिए। इस के लिए आगम में मन, वचन और शरीर को गोप कर रखने का विधान किया गया है।

इस तरह साधु को विवेक के साथ संयम का परिपालन करना चाहिए। अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों से पराभूत होकर संयम से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अव्यक्त-अगीतार्थ मुनि के एकाकी विचरने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में आचार्य की सेवा में रह कर रत्नत्रय की आराधना-साधना करने वाले मुनि के विषय मे विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि तंजहा-अवि हरए पडिपुराणे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्तिबेमि ॥१६१॥

छाया—तद् ब्रवीमि तद्यथा—अपि ह्रदः प्रतिपूर्णः समे भूभागे तिष्ठति उपशान्तरज सरक्षन् स तिष्ठति स्रोतोमध्यगत स पश्य । सर्वतः गुप्तः पश्य । लोके महर्षयः ये प्रज्ञानवन्तश्च प्रवुद्धाः आरम्भोपरताः सम्यगेतदिति पश्यत ! कालस्य काक्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—यह शब्द अथ शब्द के स्थान में प्रयुक्त किया गया है, अत इसका अर्थ है—अब मैं आचार्य के संवन्ध मे। बेमि—कहता हूँ। तजहा—जैसे। अपि—सभावना अर्थ में। पडिपुण्णे हरए—जल से भरा हुआ एक जलाशय है। समसि—उसका जल समतल। भोमे—भूमि में। चिट्ठइ—ठहरता है। उवसतरए—उसका जल उपशान्त रज वाला है, और। से—वह—जलाशय। सारक्खमाणे—जलचर जीवो का सरक्षण करता हुआ। चिट्ठइ—स्थित है। इसी तरह वह आचार्य भी। सोयमज्झगए—स्रोत मध्यगत है—स्वय श्रुत का पारायण करता है और अन्य साधुओ को पढाता भी है, और वह। सव्वओ—सब तरह से। गुत्ते—इन्द्रिय और मन का गोपन करने वाला है। पास—हे शिष्य! तू देख कि। लोए—लोक में

से महेसिणो—जो महर्षि हैं, उनको। पास—देख, वे भी जलाशय के समान हैं। य—और वे। धम्ममंता—धर्मवन्त आगमों के ज्ञाता हैं। पबुद्धा—प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ हैं। आरम्भोवरया—आरम्भ से निवृत्त हैं। सम्ममेयंति—जो कुछ मैंने कहा है उसे सम्यक् प्रकार से। पास—देखो, क्योंकि संयमी पुरुष। कालस्स—समाधि मरण रूप काल की। कंखाए—आकांक्षा रखते हुए संयम मार्ग में। परिव्वयंति—भली-भांति चलने का प्रयत्न करते हैं। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—तीर्थंकर भगवान ने आचार्य के गुणों का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूं। जैसे एक जल से परिपूर्ण उपशान्त रज वाला जलाशय समभूमि में ठहरा हुआ, जलचर जीवों का संरक्षण करता हुआ स्थित है। इसी प्रकार आचार्य भी सद्गुणों से युक्त, उपशान्त एवं गुप्तेन्द्रिय हैं। वे श्रुत का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं एवं अन्य साधुओं को भी श्रुत का बोध कराते हैं। हे शिष्य! तू लोक में उनको देख, जो महर्षि हैं आगमवेत्ता तत्त्वज्ञ एवं आरम्भ-समारंभ से निवृत्त हैं। हे शिष्य! तू मध्यस्थ भाव से उनके जीवन का अवलोकन कर, वे महापुरुष जलाशय के समान हैं अतः मुमुक्षु पुरुष को समाधि मरण की आकांक्षा करते हुए संयम पालन में संलग्न रहना चाहिए, ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

संघ की व्यवस्था के लिए, साधु-साध्वियों में अनुशासन बनाए रखने के लिए शास्ता का होना जरूरी है। आगम की परिभाषा में शास्ता को आचार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में गुणों एवं उनकी श्रुत संपदा का जलाशय की उपमा देकर वर्णन किया गया है। जलाशय की विशेषता का उल्लेख करते हुए चार बातें बताई गई हैं—१-जलाशय समभूमि पर होता है, २-जल से परिपूर्ण होता है, ३-उपशान्त रज वाला होता है, और ४-जलचर जीवों का संरक्षक या आश्रयभूत होता है। सरोवर का महत्त्व इन्हीं चार विशेषताओं से ही स्थित है। यदि सरोवर समतल भूमि पर नहीं है तो प्रत्येक प्राणी सुगमता से उसके पानी का लाभ नहीं उठा सकता। दूसरे में जल से रहित सरोवर का कोई मूल्य नहीं है। जिससे किसी भी प्राणी को लाभ नहीं पहुंचता। तीसरे में सरोवर का उपशान्त रजमय होना उसकी स्वच्छता का प्रतीक है और स्वच्छ जल प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभप्रद हो सकता है और चौथे में जलचर जीवों के संरक्षक के रूप में उसकी परोपकारिता परिल

चित होती है। वह जैसे मत्स्य आदि जीवों को आश्रय देता है, उसी प्रकार सर्प आदि को भी आश्रय देता है और सर्प-सिंह आदि हिंसक जन्तुओं की भी प्यास बुझाता है। इस गुण से उसकी समभाव वृत्ति का भी बोध होता है। इन चार बातों से ही जलाशय सरोवर का महत्त्व एवं श्रेष्ठता बताई गई है।

आचार्य का जीवन भी सरोवर के समान होता है। उनके जीवन में कहीं भी विषमता परिलक्षित नहीं होती। और वह श्रुतज्ञान के जल से परिपूर्ण रहता है। ज्ञान सम्पन्न होने पर भी उनके जीवन में अभिमान का उदय नहीं होता। उनकी कषायें सदा उपशान्त रहती हैं। और वे संघ में स्थित साधकों के संरक्षण में सदा तत्पर रहते हैं। वे समभाव से प्रत्येक साधक की उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं। छोटे-बड़े का, विद्वान-मूर्ख का उनके मन में भेद नहीं रहता। सब के साथ समानता का व्यवहार करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "पबुद्धा, पन्नाणमंता, आरम्भोवरया" इन तीन पदों से रत्नत्रयी का बोध कराया गया है। प्रबुद्ध शब्द से सम्यग्दर्शन, प्रज्ञावंत शब्द से सम्यक् ज्ञान और आरम्भ से निवृत्त शब्द से सम्यक् चारित्र का बोध होता है। और आचार्य एवं साधु दोनों रत्नत्रय के आराधक हैं। अत: श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु को जलाशय के समान श्रेष्ठ बताया गया है।

इस तरह श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु के आदर्श जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तुम स्वयं मध्यस्थ—निष्पक्ष भाव से अनुभव करो देखो। इस कथन से अन्धश्रद्धा का उच्छेद किया गया है। साधक को अपनी निष्पक्ष बुद्धि से गुणों को समझने का अवसर दिया गया है। इस कथन से स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह साधक को श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में समाधि मरण की आकांक्षा रखते हुए रत्नत्रय के विकास में संलग्न रहना चाहिए। जीवन में मृत्यु का आना निश्चत है। अत साधु को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए, बल्कि समभाव पूर्वक समाधि मरण की आकांक्षा रखनी चाहिए। क्योंकि समाधि मरण से साधक अशुभ कर्मों की निर्जरा करता हुआ, एक दिन इसी मरण से निर्वाण पद को पा लेता है। अत: साधक को समाधि मरण की आकांक्षा रखने का आदेश दिया गया है।

श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में रहकर अपनी साधना को तेजस्वी बनाने वाले शिष्य की कैसी वृत्ति हो, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं,

सिया वेगे अणुगच्छति असिता वेगे अणुगच्छति, अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणो कह न निव्विज्जे ? ॥१६२॥

छाया—विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नो लभते समाधिम्, सिता वा एके अनुगच्छन्ति, असिता वा एके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छद्भिः अननुगच्छन् कथं न निर्विद्येत्।

पदार्थ—वितिगिच्छासमावन्नेणं—संशय से युक्त। अप्पाणेणं—आत्मा द्वारा। समाहिं—समाधि को। नो लहइ—प्राप्त नहीं कर सकता। वा—अथवा। एगे—कोई २। सिया—लघुकर्मी जीव पुत्रादि के स्नेह से बद्ध होने पर भी। अणुगच्छंति—आचार्यादि का अनुगमन करते हैं—उनके वचन को स्वीकार करते हैं। वा—अथवा। एगे—कोई २। असिता—जो पुत्रादि के स्नेह से विमुक्त हैं (साधु हैं वे भी)। अणुगच्छंति—आचार्यादि के वचन को स्वीकार करते हैं। अणुगच्छमाणेहिं—जो आचार्य के आदेशानुसार चलने वाले हैं तथा अणणुगच्छमाणे—कर्मोदय से जो आचार्यादि के वचनानुसार नहीं चलता, वह। कहं—कैसे। न निव्विज्जे—खेद को प्राप्त नहीं होता ? अवश्य होता है।

मूलार्थ—सन्देह युक्त आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता कोई २ गृहस्थ आचार्य की आज्ञा का पालन करते हैं तथा कोई २ साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते हैं ! अर्थात् आचार्य के वचनानुसार चलने से समाधि की प्राप्ति करते हैं। तो फिर जो आचार्य की आज्ञा का पालन नहीं करता वह संशययुक्त आत्मा खेद को क्यों न प्राप्त होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

हिन्दी विवेचन

आगम में आत्म विकास की १४ श्रेणियां मानी गई हैं। जिन्हें आगमिक भाषा में गुणस्थान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से आत्मा विकास की ओर सन्मुख होता है और १४ वें गुणस्थान में पहुंचकर वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस तरह सम्यक् श्रद्धा से आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता है और अयोगि अवस्था में पहुंचकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इस विकास क्रम में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् श्रद्धा के बल पर ही साधक साध्य को सिद्ध कर पाता है। इस लिए आगम में श्रद्धा को

परम-अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है।* क्योंकि श्रद्धा पूर्वक पढा गया श्रुत सम्यग्श्रुत-कहलाता है और श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया गया आचरण ही सम्यक् चारित्र के नाम से जाना-पहचाना जाता है श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के अभाव मे ज्ञान एवं चारित्र दोनों सम्यग् नहीं रह पाते।

सम्यक्श्रद्धा के अभाव मे चारित्र भी सम्यग् नहीं रहता है। श्रद्धा विहीन साधक के चित्त मे सशय एवं परिणामों मे स्थिरता नहीं रहती है और इस कारण उसके चित्त मे समाधि भी नहीं रहती। क्योंकि समाधि-शान्त चित्त की स्थिरता पर आधारित है और चित्त की स्थिरता शुद्ध श्रद्धा पर अवलम्बित है। अत साधक को आचार्य एवं तीर्थंकरों के वचनों पर तथा श्रुत पर विश्वास रखना चाहिए। जो साधक श्रुत पर विश्वास रखता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसके मन में चंचलता एवं अस्थिरता नहीं होती है। इससे वह शाति को, पूर्ण सुख को प्राप्त कर लेता है। परन्तु रात-दिन संशय मे पड़ा हुआ व्यक्ति शाति को नहीं पा सकता। कहा भी है "सशयात्मा विनश्यति" अर्थात् सशय में निमग्न व्यक्ति अपना विनाश करता है।

इस लिए साधक को सशय का त्याग कर निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। अपनी श्रद्धा को तेजस्वी बनाने के लिए साधक को क्या चिन्तन करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥१६३॥

छाया—तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्।

पदार्थ—तमेव—वह पदार्थ—तत्त्वज्ञान। सच्च—सत्य है। नीसक—सशय रहित है। ज—जो। जिणेहिं—जिन भगवान के द्वारा। पवेइय—कहा गया है।

मूलार्थ—जो तत्त्वज्ञान जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है, वह सत्य एवं सशय रहित है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से श्रुतज्ञान अधिक न हो तब भी साधक को जिन प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे वीतराग द्वारा प्ररूपित वचनों मे शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ प्रभु ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव आदि पदार्थों का एवं जीवाजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर निर्जरा-बन्ध एव मोक्ष आदि तत्त्वों का जो वर्णन किया है, वह अपने ज्ञान मे देखकर

* सद्धा परम दुल्लहा।

किया है। उनके ज्ञान में दुनियां का कोई भी पदार्थ अनदेखा नहीं रह सकता है। अतः उनके प्रवचन में पूर्णतः यथार्थता है। इस कारण उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इस तरह जिन वचनों पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्म विकास की ओर उन्मुख होता है।

संशय का कारण मोह कर्म है और मोह कर्म का उदय साधु एवं श्रावक जीवन में भी हो सकता है। अतः साधु के मनमें भी श्रुतज्ञान-आगमों में संशय हो सकता है और संशय से आत्मा का पतन होता है। अतः संशय उत्पन्न होने पर साधु को यह सोच-विचार कर अपने संशय को नष्ट कर देना चाहिए कि जिनेश्वर भगवान ने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं संशय रहित है, मेरे ज्ञान की कमी के कारण मैं पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु इन वचनों में असत्यता नहीं है। इस तरह साधक को संशय रहित होकर संयम का परिपालन करना चाहिए। एक आचार्य ने भी कहा है—"वीतराग भगवान सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होते हैं, वे कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करते।" अतः उनका प्रवचन सर्वथा सत्य एवं सत्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है।

> "वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न प्रुवते क्वचित्।
> यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्य भूतार्थ दर्शनम्।"

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सड्ढिस्स णं समणुन्नस्स सपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १, समियति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २, असमयति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ ३, असमयंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ ४, समयति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया वा होइ उवेहाए ५ असमयंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि स मयाए, इच्चेव तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइ

समणुपासह इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा ॥१६४॥

छाया—श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजत सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति१, सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति २, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति ३, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति ४, सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग् भवति उत्प्रेक्षया ५, असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा असम्यग् भवति ६, इत्युत्प्रेक्षया उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयात—उत्प्रेक्षस्व सम्यक्तया भावेन इत्येव तत्र सन्धिर्झोषितः भवति स तस्योत्थितस्य स्थितस्य गतिं समनुपश्यत अत्रापि बालभावे आत्मान नोपदर्शयेत्।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकार अर्थ मे है। सड्ढिस्स—श्रद्धालु को तथा। समणुन्नस्स—वैराग्य से जिसका आत्मा भावित हो, अथवा। संपव्वयमाणस्स—सप्रव्रजित-दीक्षा-लेते हुए को। समियति—जैसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने प्रतिपादन किया है वह सम्यग्-यथार्थ है इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा-किसी समय-उत्तर काल मे। समिया—सम्यग्। होइ—होता है १। समियंति—सम्यक् है इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा-उत्तर काल मे। असमिया—असम्यक्। होई—होता है २। असमियति—असम्यग् है इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा। समिया—सम्यक्। होई—होता है३। असमयति-असम्यग् है इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा—किसी समय। असमिया—असम्यग्। होइ—होता है४। समियंति—सम्यग् है इस प्रका मन्नमाणस्स—मानते हुए को। समिया—सम्यग्। वा—अथवा। असमिया—असम्यग। वा—अथवा। समिया—सम्यग्। होइ—होता है। उवेहाए—सम्यग् विचार करने से५। असमियति—असम्यक् है इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। समिया—सम्यक् है। वा—अथवा। असमिया—असम्यग् है। वा—अथवा। असमिया—असम्यग्। होइ—होता है। उवेहाए—असम्यग् विचार करने से ६। उवेहमाणो—आगमानुसार विचार करता हुआ। अणुवेहमाणे—विचार करते हुए के प्रति। बूया—कहे। समियाए—हे पुरुष! सम्यग् विचार से। उवेहाहि—पर्यालोचन कर! (तात्पर्य कि सम्यग् प्रकार से- मध्यस्थ भाव से विचार करने पर ही पदार्थों का यथार्थ स्वरूप अवगत हो सकता है अन्यथा नही) इच्चेव—इस प्रकार। तत्थ—उस सयम मे यत्नशील होने पर। सधी—कर्म सन्तति रूप सन्धि। झोसियो—क्षपित। भवइ—होती

किया है। उनके ज्ञान में दुनियां का कोई भी पदार्थ अनदेखा नहीं रह सकता है। अतः उनके प्रवचन में पूर्णतः यथार्थता है। इस कारण उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इस तरह जिन वचनों पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्म विकास की ओर उन्मुख होता है।

संशय का कारण मोह कर्म है और मोह कर्म का उदय साधु एवं श्रावक जीवन में भी हो सकता है। अतः साधु के मनमें भी श्रुतज्ञान आगमों में संशय हो सकता है और संशय से आत्मा का पतन होता है। अतः संशय उत्पन्न होने पर साधु को यह सोच-विचार कर अपने संशय को नष्ट कर देना चाहिए कि जिनेश्वर भगवान ने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं संशय रहित है, मेरे ज्ञान की कमी के कारण मैं पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूं। परन्तु इन वचनों में असत्यता नहीं है। इस तरह साधक को संशय रहित होकर संयम का परिपालन करना चाहिए। एक आचार्य ने भी कहा है-"वीतराग भगवान सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होते हैं, वे कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करते।" अतः उनका प्रवचन सर्वथा सत्य एवं सत्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है।

"वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां, तथ्य भूतार्थ दर्शनम्।"

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं -

मूलम्—सड्ढिस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १, समियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २, असमयंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ ३, असमयंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ ४, समयंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया वा होइ उवेहाए ५, असमयंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि समयाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइ

समणुपासह इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा ॥१६४॥

छाया—श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजत सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति १, सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति २, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति ३, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति ४, सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग् भवति उत्प्रेक्षया ५, असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा असम्यग् भवति ६ इत्युप्रेक्षया उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयात—उत्प्रेक्षस्व सम्यक्तया भावेन इत्येव तत्र सन्धिर्झोषितः भवति स तस्योत्थितस्य स्थितस्य गतिं समनुपश्यत अत्रापि बालभावे आत्मान नोपदर्शयेत् ।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकार अर्थ मे है । सड्ढस्स—श्रद्धालु को तथा । समणुन्नस्स—वैराग्य से जिसका आत्मा भावित हो, अथवा । संपव्वयमाणस्स—सप्रव्रजित-दीक्षा-लेते हुए को । समियति—जैसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने प्रतिपादन किया है वह सम्यग्-यथार्थ है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा-किसी सयय-उत्तर काल मे । समिया—सम्यग् । होइ—होता है १ । समियति—सम्यक् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा-उत्तर काल मे । असमिया—असम्यक् । होई—होता है २ । असमियति—असम्यग् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा । समिया—सम्यक् । होई—होता है३ । असमयति-असम्यग् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । एगया—एकदा—किसी समय । असमिया—असम्यग् । होइ—होता है४ । समियति —सम्यग् है इस प्रका मन्नमाणस्स—मानते हुए को । समिया—सम्यग् । वा—अथवा । असमिया—असम्यग । वा—अथवा । समिया—सम्यग् । होइ—होता है । उवेहाए—सम्यग् विचार करने से५ । असमियति—असम्यक् है इस प्रकार । मन्नमाणस्स—मानते हुए को । समिया—सम्यक् है । वा—अथवा । असमिया—असम्यग् है । वा—अथवा । असमिया—असम्यग् । होइ—होता है । उवेहाए—असम्यग् विचार करने से ६ । उवेहमाणो—आगमानुसार विचार करता हुआ । अणुवेहमाणे—विचार करते हुए के प्रति । बूया—कहे । समियाए—हे पुरुप ! सम्यग् विचार से । उवेहाहि—पर्यालोचन कर ! (तात्पर्य कि सम्यग् प्रकार से- मध्यस्थ भाव से विचार करने पर ही पदार्थों का यथार्थ स्वरूप अवगत हो सकता है अन्यथा नही) इच्चेव—इस प्रकार । तत्थ—उस सयम मे यत्नशील होने पर । सधी—कर्म सन्तति रूप सन्धि । झोसियो—क्षपित । भवइ—होती

है। से – वह, सम्यक् प्रकार से। उट्ठियस्स – संयम मार्ग में उत्थित हुए की। ठियस्स – गुरुजनों की आज्ञा में स्थित की। गइं – गति को। समणुपासह – सम्यक् प्रकार से देखो! इत्थवि – यहां पर भी। बालभावे – बालभाव–असंयम भाव। अप्पाणं – अपने आत्मा को। णोवदंसिज्जा – नहीं दिखलावे, अर्थात् संयम मार्ग में बालभाव का प्रदर्शन न करे।

मूलार्थ—श्रद्धालु या वैराग्य युक्त मुनि तथा दीक्षा लेते हुए व्यक्ति-जोकि श्री १ जिनेन्द्र भगवान के वचनों को सम्यग् मान रहा है–के भाव उत्तर काल में भी सम्यग् होते हैं २–सम्यग् मानते हुएके एकदा-किसी समय असम्यग् होते हैं, ३ असम्यग् मानते हुए के किसी समय सम्यग् होते हैं, ४–असम्यग् मानते हुए के भाव एकदा असम्यग् होते हैं, ५–सम्यग् मानते हुए के सम्यग् या असम्यग्–तथा सम्यग् विचारणा से सम्यग् भाव होते हैं ६–और असम्यग् मानते हुए के सम्यग् या असम्यग् तथा असम्यग् विचारणा से असम्यग् होते हैं। आगमानुसार विचार करता हुआ विचार करने वाले के प्रति कहे कि हे पुरुष! तुम सम्यक् प्रकार से विचार करो! इस प्रकार संयम में अवस्थित होने से कर्मों की सन्तति का क्षय होता है, वह जो संयम मार्ग में यत्नशील और गुरुजनों की आज्ञा में स्थित है तुम उसकी गति को देखो! साधक पुरुष यहां अपने आत्मा का बालभाव प्रदर्शित न करे

हिन्दी विवेचन

जब आत्मा अनन्तानुबन्धीकषाय और दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों—मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय या क्षयोपशम करता है, तब साधक के जीवन में श्रद्धा की सम्यक्त्व की ज्योति जगती है। उसे यथार्थ तत्त्वों पर विश्वास होता है। अतः जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शनमोह का उदय रहता है, तब तक सम्यक्श्रद्धा आवृत रहती है। जैसे आंखों पर मोतिया बिन्दु आवरण आ जाने से दृष्टि मन्द पड़ जाती है। इसी तरह दर्शनमोह कर्म के उदय से आत्मा के स्वगुणों पर पर्दा-सा पड़ जाता है और उस कर्म आवरण के कारण आत्मा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता।

इससे स्पष्ट हो गया कि दुनियां में दो तरह की दृष्टि है, एक दर्शनमोह के आवरण से अनावृत और दूसरी है आवृत। इन्हें आगम में सम्यग् एवं मिथ्या दर्शन या

दृष्टि कहते हैं। संसार की चारों गतियों में दोनों दृष्टि के जीव पाए जाते हैं। परन्तु आत्मा का विकास एवं अभ्युदय सम्यग्दृष्टि से ही होता है। इस लिए जीवन में सम्यक्त्व को अधिक महत्त्व दिया है। सम्यक्त्व भी क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन तरह का होता है। क्षायिक सम्यक्त्व जीवन में आने के बाद सदा बना रहता है, परन्तु शेष दो तरह का सम्यक्त्व सदा एक-सा नहीं रहता है। उस मे विचारों की तरग के अनुसार उतार-चढाव आता रहता है। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है। कुछ व्यक्ति जिस निष्ठा के साथ दीक्षा लेते हैं, वही श्रद्धा-निष्ठा उनकी अन्त तक बनी रहती है। उनकी निष्ठा मे तेजस्विता आती रहती है, परन्तु उसका प्रकाश धूमिल नहीं पड़ता। कुछ व्यक्ति दीक्षा समय निर्मल सम्यक्त्व वाले होते हैं, परन्तु दीक्षित होने के बाद दर्शन मोह के उदय से श्रद्धा से गिर जाते हैं। कुछ साधक दीक्षित होते समय सशय शील होते हैं, परन्तु बाद मे उनका सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कुछ साधक दीक्षा ग्रहण करते समय एव बाद मे सशय शील या सम्यक्त्व रहित बने रहते हैं। इसी तरह अन्य भंगों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

जीवों के कार्यों के भेद इन्ही दो दृष्टियों के आधार पर किए गए हैं। मिथ्यादृष्टि की क्रिया मिथ्या कहलाती है, तो सम्यग्दृष्टि की क्रिया सम्यक् कहलाती है और इसी सम्यक् क्रिया से आत्मा का विकास होता है सम्यक् भाव से अन्वेषण करने पर पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को देखा एवं जाना जा सकता है। अत. साधक को जीवन में श्रद्धा एवं निष्ठा को बनाए रखना चाहिए और उसे प्रत्येक पदार्थ को सम्यग् दृष्टि से देखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त साधक को सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के अन्तर को समझ कर अपनी श्रद्धा-निष्ठा को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में स्थिरता रहती है और उसमे पूर्व बन्धे हुए पाप कर्म का क्षय होता है। अभिनव रूप से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति रात-दिन पाप कर्म का बन्ध करता है। अत साधक को मिथ्यादृष्टि एव संशय का त्याग करके जिन वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए।

यह नितान्त सत्य है कि पाप कर्म का बन्ध अध्यवसाय के अनुसार होता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति के अध्यवसाय सदा आरभ-समारभ मे लगे रहते हैं, अत वह सदा हिंसा आदि दोषों में संलग्न रहता है। और उससे पाप कर्म का बन्ध करता है इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमंसि-

नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एवं जं परिघित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्दवेयति मन्नसि अंजू चेय पडिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हतव्वं नाभिपत्थए ॥१६५॥

छाया—त्वमेव नाम स एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स एव यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स यं परितापयितव्यमिति मन्यसे एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे यमपद्रापयितव्यमिति मन्यसे, ऋजुश्चैतस्य प्रतिबुद्धजीवी तस्मान्न हता नापि घातयेत् अनुसंवेदनमात्मना यद् हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत्।

पदार्थ—नाम—संभावना अर्थ में है। च—और। एव—शब्द अवधारण अर्थ में है। जं—जिसको तू। हंतव्वंति—मारना। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है। नाम—संभावना। च एव—पूर्ववत्। जं—जिसको तू। अज्जावेयव्वंति—आज्ञा में प्रवर्तना। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है। नाम और च एव पूर्ववत्। जं—जिसको तू। परियावेयव्वंति—परितापना देनी। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है अथवा जिसे तू परिगृहीतव्य—पकड़ना चाहता है वह तू ही है। एवं—इस प्रकार। जं—जिसको तू। परिघित्तव्वंति—पकड़ना। मन्नसि—चाहता है वह तू ही है। जं—जिसको। उद्दवेयति—प्राणों से वियुक्त करना। मन्नसि—चाहता है वह तू ही है। च—पुनः। एय—यह पूर्वोक्त विषय जानकर। अंजू—सरल वृत्ति वाला साधु। पडिबुद्धजीवी—ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला अर्थात् प्रत्येक जीव को अपने आत्मा के समान जानने वाला। तम्हा—इसलिए। न हंता—स्वयं जीव को न हने। नवि घायए—और न दूसरे से घात करावे तथा न उसकी अनुमोदना करे। अप्पाणं—आत्मा को हिंसादि कर्मों का अणुसंवेयणं—अनुवेदन अर्थात् हिंसादि व्यापार जनित दुःख का अनुभव करना पड़ेगा इसी प्रकार की विचारणा करता हुआ। जं—जो कोई भी मारने आदि के भाव हैं अथवा हिंसा रूप—सावद्य क्रियाएं हैं उनकी। नाभिपत्थए—प्रार्थना न करे।

मूलार्थ—जिस को तू मारना चाहता है वह तू ही है। जिसको तू आदेश देना चाहता है वह तू ही है जिस को तू परितापना देना चाहता है

वह तू ही है, जिसको तू पकड़ना चाहता है वह तू ही है, जिसको तू प्राणों से वियुक्त करना चाहता है वह तू ही है। रिजुप्राज्ञ साधु प्रतिबुद्ध जीवन व्यतीत करने वाला, अर्थात् ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला होता है। इसलिए किसी भी जीव को न मारे, और न मारने की प्रेरणा करे, तथा मारने वाले को इस सावद्य क्रिया का अनुमोदन भी न करे, किन्तु इस प्रकार के भाव रखे कि यदि मुझसे किसी प्रकार की हिंसा हो गई तो उसके कटु फल का अनुभव मुझे अवश्य करना पड़ेगा। अतः किसी भी जीव को मारने की प्रार्थना न करे, अर्थात् न मारे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि सम्यग् एवं मिथ्यादृष्टि की क्रिया में अन्तर रहता है। जिस साधक के जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रत्येक कार्य विवेक एवं उपयोग पूर्वक करता है। क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि में विवेक का अभाव होता है। उसके जीवन में अपना स्वार्थ ही सर्वोपरि होता है, अत वह दूसरे के दुःख-सुख को नहीं देखता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि दूसरे प्राणी की हिंसा करना अपनी हिंसा करना है। क्योंकि जिसे तू मारना चाहता है, अपने अधीन रखना चाहता है, परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों की आत्मा आत्मद्रव्य की अपेक्षा से समान है। सबको सुख-दुःख का समान संवेदन होता है। और प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख से बचना चाहता है। अत इस सिद्धांत को जानने वाला साधक किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करेगा। क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी का वध करते समय अध्यवसायों-परिणामों में क्रूरता रहती है और भावों की मलिनता के फलस्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है और आत्मा पतन के महागर्त में जा गिरती है। आत्मा का पतन होना भी एक प्रकार से मृत्यु ही है। मृत्यु के समय दुःखानुभूति होती है और हिंसक प्रवृत्ति से भी दुःख परम्परा में अभिवृद्धि होती है। इससे जन्म—मरण का प्रवाह बढता है। इस प्रकार मरने वाले प्राणी के अहित के साथ मारने वाले प्राणी का भी अहित होता है। वह पाप कर्म से बोझिल होकर संसार में परिभ्रमण करता है। अत यही उसकी मृत्यु है। इस लिए साधक

को यह समझकर-जिसे मैं मार रहा हूँ, वह मैं ही हूँ, यह उस प्राणी की नहीं मेरी अपनी ही हिंसा है, हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

उसे अपने आत्म ज्ञान से सब प्राणियों के स्वरूप को समझ कर हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि जो आत्मा है वही विज्ञाता है, अन्य नहीं। कुछ विचारक आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते हैं। उन्हें संशय है कि आत्मा और ज्ञान एक कैसे हो सकते हैं? इसी संशय का निवारण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए, त्तिबेमि ॥१६६॥

छाया—यः आत्मा स विज्ञाता यः विज्ञाता स आत्मा येन विजानाति स आत्मा तं प्रतीत्य प्रतिसंख्यायते एष आत्मवादी सम्यक्तया पर्यायः व्याख्यात इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो। आया—आत्मा है। से—वह। विन्नाया—विज्ञाता है। जे—जो। विन्नाया—विज्ञाता है। से—वह। आया—आत्मा है। जेण—जिससे—मत्यादि ज्ञान से। वियाणइ—जानता है। से—वह। आया—आत्मा है। तं पडुच्च—उस ज्ञान परिणाम के आश्रय से। पडिसंखाए—आत्मा कहा जाता है। अर्थात् आत्म व्यपदेश ज्ञान सापेक्ष है। एस—यह अनन्तरोक्त। आयावाई—आत्मवादी कहा जाता है, तथा। समियाए—सम्यग् भाव से या समिता से। परियाए—संयम पर्याय। वियाहिए—वर्णन किया गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है, जिसके द्वारा जानता है वह आत्मा है उस ज्ञान पर्याय की अपेक्षा से आत्मा कहलाता है इस प्रकार वह आत्मवादी कहा गया है और फिर उसका सम्यक् प्रकार से संयम पर्याय कहा गया है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा और ज्ञान की एक रूपता बताई गई है। आगम में आत्मा का लक्षण उपयोग—ज्ञान और दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जहां ज्ञान परिलक्षित होता है, वहां आत्मा की प्रतीति होती है और जहां चेतना का आभास होता है वहां ज्ञान की ज्योति अवश्य

रहती है। जैसे सूर्य की किरणें और प्रकाश एक-दूसरे के अभाव मे नहीं रह सकते। जहा किरणें होंगी वहा प्रकाश भी अवश्य होगा और जहा सूर्य का प्रकाश होगा वहा किरणों का अस्तित्व भी निश्चित रूप से होगा। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान के विना नहीं रह सकती। जिस पदार्थ मे ज्ञान का अभाव है वहां आत्म चेतना की प्रतीति भी नहीं होती, जैसे स्तम्भ आदि जड पदार्थ।

यह सत्य है कि ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा दो भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि गुण सदा गुणी मे रहता है। गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र उसका कहीं अस्तित्व नहीं पाया जाता और उसका गुणी आत्मा ही है। अत. इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। क्योंकि सदा-सर्वदा आत्मा मे ही स्थित रहता है। इसी अभिन्नता को बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया कि जो आत्मा है वही विज्ञाता—जानने वाला है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इससे आत्मा और विज्ञाता मे एकरूपता परिलक्षित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि आगम में आत्मा को कर्ता एवं ज्ञान को करण माना गया है और कर्ता और करण दोनों भिन्न होते है, और यहां दोनों की अभिन्नता बताई गई है, अत. दोनों विचारों मे एकरूपता कैसे होगी ?

इसका समाधान यह है कि जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ पर स्याद्वाद—अनेकान्त की दृष्टि से सोचता-विचारता है। अत उसके चिन्तन में विरोध को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह आत्मा और ज्ञान को न तो एकान्त रूप से भिन्न ही मानता है और न अभिन्न ही। गुण और गुणी की अपेक्षा से आत्मा और ज्ञान अभिन्न प्रतीत होते हैं, तो कर्ता एव करण की अपेक्षा से भिन्न भी परिलक्षित होते हैं। इनका भेद करण के बाह्य और आभ्यन्तर भेद पर आधारित है। जैसे देवदत्त आत्मा का आत्मा से निश्चय करता है, इसमें देवदत्त—आत्मा एवं निश्च ज्ञान की एक रूपता दिखाई देती है। और देवदत्त कलम से पत्र लिखता है, इसमें देवदत्त एव कलम से लिखने की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। प्रस्तुत सूत्र मे उसका गुण-गुणी की दृष्टि से उल्लेख किया गया है, अत यहा उसकी अभिन्नता ही दिखाई गई है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा ज्ञानवान है। उसमे सत्ता रूप से अनन्त ज्ञान स्थित है। परन्तु, ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से उसकी शक्ति प्रच्छन्न रहती है। उक्त कर्म का जितना क्षय एवं क्षयोपशम होता रहता है, उतना ही आत्मा में

ज्ञान का प्रकाश फैलता रहता है। जब उक्त कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया जाता है तब आत्मा में पूर्ण ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है। ज्ञान के इस विकास पांच प्रकार का माना गया है— १-मति ज्ञान, २-श्रुत ज्ञान, ३ अवधि ज्ञान, ४-मनः पर्यव ज्ञान और ५-केवल ज्ञान। जिस व्यक्ति के जीवन में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है उसमें भी ज्ञान का सद्भाव होता है। परन्तु, मोह कर्म के उदय से वह ज्ञान सम्यक् नहीं, मिथ्या ज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद किए गए हैं— १-मति अज्ञान २-श्रुत अज्ञान और ३-विभंग ज्ञान। इस ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पदार्थों को जानता है और वह (ज्ञान) सदा-सर्वदा आत्मा के साथ संबद्ध रहता है। इसलिए उसे आत्मा कहा है।

आत्म विकास में सम्यग् ज्ञान ही कारण भूत है। उसी के द्वारा साधक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर संयम को स्वीकार करता है और रत्नत्रय की सम्यक् आराधना करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अतः साधक को आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान पर पड़े हुए आवरण को क्षय करके निरावरण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा संयम-साधना में संलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन—लोकसार

षष्ठ उद्देशक

पचम उद्देशक मे आचार्य को जलाशय के समान वताया गया है। जलाशय के समीप रहने वाले अर्थात् रत्नत्रय से सम्पन्न आचार्य के सान्निध्य मे रहने वाले शिष्य रत्नत्रय को प्राप्त करके सयम साधना में सलग्न रहते हैं और उसके द्वारा पूर्ण शान्ति को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत उद्देशक मे शिष्यों के जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे, तस्सन्नी, तन्निवेसणे ॥१६७॥

छाया—अनाज्ञया एके सोपस्थाना आज्ञायामेके निरुपस्थानाः अय ते माभूत्, एतत् कुशलस्यदर्शनं तद्दृष्टिः तन्मुक्तिः, तत्पुरस्कारः, तत्सज्ञी, तन्निवेशन ।

पदार्थ—एगे—कई एक व्यक्ति । अणाणाए—जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के विना । सोवट्ठाणा—कुमार्ग पर चल रहे हैं। एगे—कई एक व्यक्ति। आणाए—भगवान की आज्ञा में। निरुवट्ठाणा—पुरुषार्थ नहीं करते । एयं—ये दोनो—कुमार्ग में पुरुषार्थ और सन्मार्ग में आलस्य। ते मा होउ—तुम्हारे मे न हो। एय—ऐसा। कुसलस्स—तीर्थंकर भगवान का। दसण—दर्शन—मन्तव्य है, उनका आदेश है कि। तद्दिट्ठिए—शिष्य को आगम एव आचार्य की दृष्टि—आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए। तन्मुत्तीए—आचार्य की निर्लोभ वृत्ति के अनुसार उसे चलना चाहिए। तप्पुरक्कारे—प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा के अनुसार करना चाहिए। तस्सन्नी—आचार्य की भांति सदा ज्ञान मे सलग्न रहना चाहिए। तन्निवेसणे—शिष्य को सदा आचार्य एव गुरु के सान्निध्य मे रहना चाहिए।

मूलार्थ—कुछ लोग भगवान की आज्ञा के विपरीत कुमार्ग पर चलते हैं। कुछ साधक भगवान को आज्ञा का परिपालन करने मे आलस्य करते

है। परन्तु जिनेश्वर भगवान का आदेश है कि साधक के जीवन में ये दोनों दोष-कुमार्ग में पुरुषार्थ एवं सन्मार्ग में आलस्य न रहे। विनीत शिष्य को इन दोषों का त्याग करके गुरु की दृष्टि आज्ञा से उनके समान निर्लोभवृत्ति से संयम का पालन करना चाहिए। आचार्य एवं गुरु की तरह सदा ज्ञान साधना में संलग्न रहना चाहिए। और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा से करना चाहिए। शिष्य को सदा आचार्य एवं गुरु के सान्निध्य में रहना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के अभाव में जीवन में धर्म का रूप नहीं हो सकता और विनय की आराधना आज्ञा में है। इस लिए आगम में कहा गया है कि-आज्ञा को पालन करने में धर्म है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि जो व्यक्ति आगम एवं आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता है। वह आत्मा का विकास करते हुए एक दिन अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। और जो व्यक्ति वीतराग प्रभु की आज्ञा के विपरीत मार्ग पर चलता है, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने में आलस्य करता है, वह व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। अतः विनीत शिष्य को उक्त दोनों दोषों का त्याग करके सदा तीर्थंकर भगवान एवं उनके शासन के संचालक आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। उसे सदा ज्ञान साधना एवं संयम पालन में संलग्न रहना चाहिए और उसे प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

इस तरह के आचरण से साधक के जीवन में किस गुण का विकास होता है, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अभिभूय अदक्खू अणभिभूए पभू निरालंबणयाए जे महं अबहिमणे, पवाएण पवायं जाणिज्जा, सहसंमइयाए पर वागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा ॥१६८॥

छाया—अभिभूय अद्राक्षीत् अनभिभूतः प्रभुः निरालम्बनतायाः य महान् अबहिर्मना प्रवादेन प्रवादं जानीयात् सह सन्मत्या परव्याकरणेन अन्येषां वा

अन्तिके श्रुत्वा।

पदार्थ —**अभिभूय**— परीषहो को जीतकर । **अदक्खू**—चारो घातिककर्मों को क्षय करके तत्त्व को देखता है, और। **अणभिभूए**—अनुकूल और प्रतिकूल परीषहो के आने पर भी पराभूत नही होता। **निरालंबणयाए**—माता-पिता आदि के आलम्बन से रहित हो कर। **पभू**—संयम पालन में समर्थ है। **जे**—जो। **मह**—महापुरुष —लघुकर्म वाला है, उसका **अबहिमणे**—मन तीर्थंकर भगवान की आज्ञा से बाहिर नहीं जाता है। **पवाएणं**—आचार्य परम्परा से। **पवार्य**—प्राप्त सर्वज्ञ उपदेश को। **सहसमइयाए**—सन्मति से या। **परवागरणेण**—तीर्थंकर आदि के उपदेश से, या। **अन्नेसिं अन्तिए**— अन्य आचार्य के सान्निध्य से। **सुच्चा**—सुन कर। **जाणिज्जा**—जाने अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से परिज्ञात होवे।

मूलार्थ—जो साधक परीषहो पर विजय प्राप्त करके तत्त्व का द्रष्टा होता है और माता-पिता एव परिजनो के आलम्बन से रहित होकर संयम पालन में समर्थ है, वह भगवान की आज्ञा से बाहिर नही होता। आचार्य परपरा से सर्वज्ञ के सिद्धान्त को जान कर और सर्वज्ञ के उपदेश से अन्य मत की परीक्षा करके, सन्मति-शुद्ध एव निष्पक्ष बुद्धि से, तीर्थंकरों के उपदेश से या आचार्य के सान्निध्य से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक विकास का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों से घबराता नहीं है, वही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ सकता है। परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस, शक्ति एवं श्रद्धा-निष्ठा का होना अनिवार्य है। जिस व्यक्ति को तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है एवं उन पर पूर्ण विश्वास है, वही व्यक्ति कठिनाई के समय भी अपने सयम मार्ग से विचलित नहीं होता और माता-पिता एवं अन्य परिजनों के आलम्बन की भी आकाक्षा नहीं रखता। क्योंकि वह जानता है कि उनका जीवन आरंभमय है। अत उनके आश्रय में जाने का अर्थ है—आरभ-समारंभ को बढ़ावा देना। और इस प्रवृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है तथा ससार परिभ्रमण बढ़ता है। इस बात को जानने वाला एवं उस पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का परिपालन कर सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ के वचनों मे

परस्पर विरोध नहीं होता और न प्राणी जगत के हित को लेकर कहे गए हैं। इस लिए सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी के वचनों पर श्रद्धा नहीं होती। वह उसके आधार पर अन्य मत की परीक्षा करता है और हेय-उपादेय की पहचान करके हेय का त्याग करता है और उपादेय को स्वीकार करता है। जैसे—जैनागमों में शब्द पौद्गलिक माना है और नैयायिक वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है। क्योंकि शब्द रूपवान है और आकाश रूप रहित है। रूप रहित पदार्थ का गुण रूप युक्त पदार्थ हो नहीं सकता। इसलिए शब्द भी रूपवान होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। और आज के वैज्ञानिक आविष्कारों ने शब्द की पौद्गलिकता को स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ के वचनों में असत्यता नहीं होती।

इस प्रकार साधक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा के अनुरूप संयम का पालन करते हैं। पदार्थों का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—१— सन्मति से— ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम से सन्मति प्रस्फुटित होती है और उससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। २— तीर्थंकर के उपदेश से और ३— आचार्य के उपदेश से भी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है।

पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए? इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिण्णाय, इह आरामं परिण्णाए अल्लीणे गुत्ते परिव्वए निट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि त्तिवेमि ॥१६६॥

छाया—निर्देशं नातिवर्तेत मेधावी सुप्रतिलेख्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यक् समभिज्ञाय इह आरामं परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा पराक्रमेथा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मेहावी—बुद्धिमान साधु। निद्देसं—तीर्थंकरादि के उपदेश को। नाइवट्टेज्जा—अतिक्रम न करे—उल्लंघन न करे। सुपडिलेहिया—भली प्रकार से प्रतिलेखन कर फिर। सव्वओ—सर्व प्रकार से—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से। सव्वप्पणा—सर्वात्मना-सामान्य विशेष रूप से पदार्थों का पर्यालोचन करके। सम्मं—सम्यक् प्रकार से। समभिण्णाय—सम्यग् वाद और मिथ्यावाद को जानकर, मिथ्यावाद का निराकरण करे, फिर। इह—इस मनुष्यलोक में

आराम— आराम-सयम स्थान को (जानकर) स्वीकार करके। अल्लीणे गुत्ते— जितेन्द्रिय होकर। परिव्वए — सर्व प्रकार से सयमानुष्ठान में विचरे। निट्ठियट्ठी— मोक्षार्थी। वीरे—कर्म विदारण में समर्थ-वीर। आगमेण—सर्वज्ञ प्रणीत आचार द्वारा। सया—सदा। परक्कमे—मोक्ष मार्ग मे पराक्रम करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु भगवदुपदेश का उल्लंघन न करे, तथा सम्यक्-तथा सर्व प्रकार से सामान्य और विशेष रूप से पदार्थों के स्वरूप को जानकर परवाद-मिथ्यावाद का निराकरण करे, और इस मनुष्यलोक मे, आराम-सयम को स्वीकार करके जितेन्द्रिय होकर विचरे, तथा मोक्षार्थी कर्म विदारण मे समर्थ सदा सर्वज्ञ-प्रणीत आचार द्वारा मोक्षमार्ग मे पराक्रम करे।

हिन्दी विवेचन

हम यह देख चुके हैं कि आत्म विकास का मूल सम्यक्त्व—श्रद्धा है। जब साधक को सर्वज्ञ प्रणीत आगम पर श्रद्धा—निष्ठा होती है, तो वह उस उपदेश को जीवन मे स्वीकार कर सकता है। फिर भी, किसी भी स्थिति मे आज्ञा का उल्लघन नहीं कर सकता और श्रुतज्ञान के द्वारा हेय—उपादेय के स्वरूप को जानकर हेय पदार्थों का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह आरम्भ—समारम्भ से मुक्त होकर सयम—साधना में सलग्न होता है।

सयम-साधना में वही सलग्न होता है, जिसके मन मे कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की अभिलाषा है। मोक्षार्थी व्यक्ति इस बात को भली-भाति जानता हैं कि आरम्भ—समारम्भ, विषय-भोग में आसक्ति आदि संसार परिभ्रमण के कारण है और इनमें सलग्न व्यक्ति का मन सदा अशान्त रहता है। इसलिए पूर्ण समाधि एव शान्ति का इच्छुक व्यक्ति ही संयम का परिपालन कर सकता है।

इस उपदेश की आवश्यकता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया।
एए सोया विअक्खाया, जेहिं संगंति पासह ॥१३॥

छाया—ऊर्ध्वं श्रोतासि अधः श्रोतांसि तिर्यक् श्रोतांसि, व्याहितानि, एतानि श्रोतासि व्याख्यातानि, यैः संगमिति पश्यत।

पदार्थ—सोया—कर्म आने के मार्ग। उड्ढ—ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवो में

विषय वासना रूप हैं। अहे—नीचे के लोक में-भवनपति आदि देवों में। सोया—विषय-वासना आदि रूप कर्म स्रोत हैं। तिरियं सोया—तिर्यक—व्यन्तर और मनुष्यादि में विषय-वासना रूप कर्म स्रोत। वियाहिया—कथन किए हैं। तथा ऊंचे पर्वतादि में, नीचे-गुफा आदि में और तिर्यक् आरामादि में कर्म स्रोत कथन किए गए हैं। एए—ये। सोया—स्रोत। वियक्खाया—वर्णन किए गए हैं। जेहिं—जिन्हों के। संगंति—संग से प्राणी पापकर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, इति शब्द हेतु अर्थ में आया हुआ है।

मूलार्थ—ऊंची दिशा में नीची दिशा में और तिर्यक दिशा में कर्म स्रोत विषय वासना रूप-वर्णन किए गए हैं। इन वर्णन किये गए कर्म स्रोतों को हे शिष्यो! तुम देखो! इन कर्म स्रोतों के संग से प्राणी पाप कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं।

हिन्दी विवेचन

संयम का विशुद्ध पालन करने के लिए साधक को आस्रव द्वार—कर्म आगमन के स्रोत से भली-भांति परिचित होना चाहिए। कर्म बन्ध के कारण को जानने वाला साधक उनसे बच सकता है। परन्तु जो इनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है, वह कर्म बन्ध के प्रवाह में बह जाता है। अतः उससे बचने के लिए साधक को सबसे पहिले आस्रव द्वार को रोकना चाहिए।

आगम में आठ प्रकार के कर्म बताए गए हैं। परन्तु, इन सब में मोह कर्म की प्रधानता है। वह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है और सम्यग्दर्शन एवं चारित्र को आवृत रखता है। इसके उदय से जीव विषय-वासना में संलग्न रहता है और परिणाम स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसी कारण मोह कर्म को कर्म का स्रोत कहा है। वह ऊर्ध्व अधो एवं मध्य लोक में सर्वत्र फैला हुआ है। तीनों लोक में स्थित जीव इसी कर्म के उदय से विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं। और उससे पाप कर्म का बन्ध करके संसार में भटकते फिरते हैं। अतः संयमनिष्ठ साधक को बार-बार विषय-वासना से निवृत्त होकर साधना में संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज, वेयवी, विणइत्तु

सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिराणाय ॥१७०॥

छाया—आवर्त्तं तु उत्प्रेक्ष्य अत्र विरमेत् वेदवित् विनेतुं स्रोत निष्क्रम्य एष महान् अकर्म्मा जानाति पश्यति प्रत्युत्प्रेक्ष्य नाकांक्षति इह आगतिं गतिं परिज्ञाय ।

पदार्थ-तु—वितर्क अर्थ मे। आवट्ट—राग-द्वेष और विषय रूप आवर्त्त में। पेहाए—विचार कर। इत्य—इस आवर्त्त विषयक। मेहावी—आगम के जानने वाला। विरमिज्ज—निवृत्ति करे। सोय—स्रोत के। विणइत्तु—दूर करने के लिए। निक्खम्म—दीक्षा लेकर, पुरुषार्थ-प्रयास करे। एस—यह प्रत्यक्ष। मह—महापुरुष। अकम्मा—चार घातिकर्मों से रहित होने पर। जाणइ—विशेष रूप से जानता है। पासइ—सामान्य रूप से देखता है किन्तु, फिर। पडिलेहाए-पदार्थों के स्वरूप को जानकर-अर्थात् प्रतिलेखन कर। नावकंखइ—सत्कारादि की अभिलाषा नही करता। इह—इस मनुष्य लोक मे। आगइं—प्राणियों की आगति-आगमन। गइं—गति-गमन को। पडिलेहाए—पर्यालोचन करके, परिन्नाय—संसार के कारण को ज्ञान से जानकर प्रत्याख्यान से त्यागकर ससार से विमुक्त हो जाता है।

मूलर्थ— वेदवित्-ज्ञानवान् पुरुष, संसार के कारणभूत भाव स्रोत का विचार कर उसे छोड़ देता है। भाव स्रोत को दूर करने के लिए ही दीक्षा ग्रहण करता है अर्थात् प्रव्रज्याके द्वारा भाव स्रोतका निरोध करना है। यह महापुरुष चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके ससारवर्ति पदार्थों को जानता और देखता है–विशेष रूप से जानता और सामान्यरूप से देखता है। फिर वह किसी प्रकार के मान सत्कार की इच्छा नही करता किन्तु इस लोकवर्ति जीवो के गमनागमन को देखकर और उनके मूल कारणो को जानकर, उनका निराकरण करता है।

हिन्दी विवेचन

आत्मा में स्थित अनन्त चतुष्टय—१-अनन्त ज्ञान, २-अनन्त दर्शन, ३-अनन्त शक्ति और ४-अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिए पहिले कर्म स्रोत को रोकना आवश्यक है। अभिनव कर्मों के आगमन को रोके विना ज्ञानादि का विकास नहीं हो सकता। इस

के लिए साधक संयम-दीक्षा को स्वीकार करता है। संयम के द्वारा कर्मों का आगमन रोकता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व आबद्ध कर्मों का क्षय करता है। इस तरह चार घातिक-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का क्षय करके सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बनता है। इस तरह संयम-साधना से राग-द्वेष का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त होता है। फिर उसके मनमें किसी तरह की आकांक्षा नहीं रह जाती है। वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं से रहित होकर अपने आत्म स्वरूप में रमण करता है। उस के ज्ञानमें सब कुछ स्पष्ट रहता है। संसार का कोई भी पदार्थ उससे प्रच्छन्न नहीं रहता। ऐसे महापुरुष को प्रस्तुत सूत्र में वेदवित् एवं अकर्मा कहा गया है।

इस तरह संसार परिभ्रमण के कारणों का उन्मूलन करने से उसे किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किल्ले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न सीए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि ॥१७१॥

छाया—अत्येति जातिमरणस्य वर्त्ममार्गं व्याख्यातरतः सर्वेस्वरा निवर्तन्ते तर्को यत्र न विद्यते मतिस्तत्र न ग्राहिका ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः स न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतुरस्रो न परिमंडलो न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो न सुरभिगन्धो न दुरभिगन्धो न तिक्तो न कटुको

न कषायो नामलो न मधुरो न कर्कशो न मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो न उष्णो न स्निगधो न रुक्षो न कायवान् न रुहो न संगो न स्त्री, न पुरुषो न अन्यथा परिज्ञः संज्ञः, उपमा न विद्यते अरूपिणी सत्ता अपदस्य पद नास्ति।

पदार्थ—जाई—जन्म। मरणस्स—मरण के। वट्टमग्ग—मार्ग के कारण कर्मों का अच्चेइ—अतिक्रम करता है। विवखायरए—मोक्ष मे रत है। सव्वे सर्व। सरा—स्वर—नियट्टति—वहा पर नही हैं—अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति नही है, तथा वाच्य वाचक सम्वन्ध भी नही है। जत्थ—जहा पर। तक्का—तर्क। न विज्जइ—विद्यमान नही है। तत्थ—वहा पर। मई—मति—मतिज्ञान। न गाहिया—ग्राहक नही है अर्थात् मति का वहा पर कोई भी प्रयोजन नही है। ओए—केवल कर्म कलंक से रहित सिद्ध भगवान है। अपइट्ठाणस्स—औदारिक शरीर वा कर्म अप्रतिष्ठान—मोक्ष का जो। खेयन्ने—खेदज्ञ—निपुण वा क्षेत्रज्ञ है। से—वह—परम पद का अध्यासी, सिद्ध आत्मा ज्ञानदर्शनोपयुक्त है और। सस्थान की अपेक्षा से न दीर्घ है। न हस्से—न ह्रस्व है। न वट्टे—न वृत्त—वर्त्तुलाकार है—। न तसे—न त्रिकोण है। न चउरसे—न चतुष्कोण है—। न परिमंडले—न परिमंडल सस्थान वाला है, तथा वर्ण की अपेक्षा। न किण्हे—न कृष्ण वर्ण वाला है। न नीले—न नील वर्ण वाला है। न लोहिए—न लोहित है। न हालिद्दे—न पीत है—पीले वर्ण वाला है। न सुक्किल्ले—न शुक्ल-श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा। न सुरभिगधे—न सुगन्ध वाला है। न दुरभिगधे—न दुर्गन्ध वाला है—रसकी अपेक्षा। न तित्ते—न तिक्त है। न कडुए—न कटुक है। न कसाए—न कषाय रस वाला है। न अबिले—न खट्टा है। न महुरे—न मधुर है, स्पर्श की अपेक्षा। न कक्खडे—न कर्कश स्पर्श वाला है। न मउए—न मृदु स्पर्श—कोमल स्पर्श वाला है। न गरुए—न गुरु—भारा—है। न लहुए—न लघु—हल्का है। न उण्हे—न उष्ण है। न सीए—न शीत है। न निद्धे—न स्निग्ध है। न लुक्खे—न रुक्ष है। न काऊ—न काय वा लेश्या से युक्त है। न रुहे—कर्म वीज के अभाव से जिसका पुनर्जन्म नही होता। न सगे-अमूर्त होने से जिसको किसी का सग नही। न इत्थी—जो न स्त्री है। न पुरिसे-न पुरुष है। न अन्नहा-न नपुसक है। परिन्ने—परिज्ञ है सर्वात्म प्रदेशो का ज्ञाता है। सन्ने—सज्ञ है—अर्थात् ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त है—सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है। उवमा न विज्जए—उसके-सिद्धात्मा के सुख की किसी पदार्थ से उपमा नही दी जा सकती। अरूवी सत्ता—वह अरूपी सत्ता है। अपयस्स—उसकी कोई भी अवस्था विशेष नही है अत। पय—उसकी नियत्त अवस्था। नत्थि—नही है। तात्पर्य कि अपद का पद नही होता अर्थात् ऐसा कोई शब्द नही जिससे उसका निरूपण किया जा सके।

के लिए साधक संयम-दीक्षा को स्वीकार करता है। संयम के द्वारा कर्मों का आगमन रोकता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व आबद्ध कर्मों का क्षय करता है। इस तरह चार घातिक-ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोह और अन्तराय कर्म का क्षय करके सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बनता है। इस तरह संयम-साधना से राग-द्वेष का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त होता है। फिर उसके मनमें किसी तरह की आकांक्षा नहीं रह जाती है। वह समस्त इच्छा आकांक्षाओं से रहित होकर अपने आत्म स्वरूप में रमण करता है। उस के ज्ञानमें सब कुछ स्पष्ट रहता है। संसार का कोई भी पदार्थ उससे प्रच्छन्न नहीं रहता। ऐसे महापुरुष को प्रस्तुत सूत्र में मेधावि एवं अकर्मा कहा गया है।

इस तरह संसार परिभ्रमण के कारणों का उन्मूलन करने से उसे किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिदे न सुक्किल्ले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न सीए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि ॥१७१॥

छाया—अत्येति जातिमरणस्य वर्त्ममार्गं व्याख्यातरतः सर्वे स्वराः निवर्तन्ते तर्को यत्र न विद्यते मतिस्तत्र न ग्राहिका ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः स न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतुरस्रो न परिमण्डलो न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो न सुरभिगन्धो न दुरभिगन्धो न तिक्तो न कटुको

आत्मा सब प्रकार की बाधा-पीड़ाओं एव कर्म तथा कर्म जन्य उपाधि से रहित हो जाता है, निरावरण ज्ञान एव अनन्त आत्म सुख मे रमण करता हुआ सदा-सर्वदा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है। यह अक्षय सुख वाला है, समस्त कर्मों से रहित है, अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं शक्ति संपन्न है।

उसके स्वरूप का वर्णन करने की शक्ति किसी शब्द मे नहीं है। उसके वर्णन करने मे समस्त स्वर अपना सामर्थ्य खो देते हैं। क्योंकि शब्दों के द्वारा उसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है, जिसका कोई रूप हो, रंग हो या उसमें अन्य भौतिक आकार-प्रकार हो। परन्तु शुद्ध आत्मा इन सब गुणों से रहित है। उसमें वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि का सर्वथा अभाव है। वहां आत्मा के साथ किसी पौद्गलिक पदार्थ का संबन्ध नहीं है। अत शब्दों के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। वेदों में 'नेति नेति' शब्द द्वारा इसी बात को व्यक्त किया गया है कि परमात्मा के स्वरूप का शब्दों से विवेचन नहीं किया जा सकता। आत्मा-परमात्मा को मानने वाले प्राय सभी भारतीय दर्शन इस बात में एकमत हैं।

शब्द की अपेक्षा तर्क एवं बुद्धि का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है और यह उससे भी सूक्ष्म है। इस कारण इनकी पहुच भी शब्द से अधिक विस्तृत क्षेत्र में है। कवि एवं विचारक तर्क एवं बुद्धि की कल्पना से बहुत ऊ ची उड़ाने भरने मे सफल होते हैं। परन्तु मुक्त आत्म के स्वरूप का वर्णन करने में तर्क एव बुद्धि भी असमर्थ है। क्योंकि मनन-चिन्तन एव तर्क-वितर्क आदि पदार्थों के आधार पर होता है और मुक्ति समस्त मानसिक विकल्पों से रहित है अत: वहा तर्क एव बुद्धि की भी पहुच नहीं है।

वैदिक ग्रन्थों मे भी ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है--जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रस हीन, नित्य और अगन्ध युक्त है, जो अनादि-अनन्त, यह तत्त्व से भी पर और ध्रुव (निश्चल) है, उस तत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुखसे छूट जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है*वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि रहित, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है,उसे विवेकी पुरुष देखते हैं†।' तैत्तीरय उपनिषद् में कहा

---

* अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय, तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्ते महत पर ध्रुव, निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

कठोपनिशद्, १, ३, १५।

† यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षु, श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा॥

मुण्डकोपनिषद् ६, १, ६।

मूलार्थ—वह जन्म मरण के मार्ग को अतिक्रम करने वाला है, मोक्ष मे रत है। मोक्ष या मोक्ष के सुख का शब्दों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता तर्क उसमें काम नहीं करती मति का वहां प्रयोजन नहीं अर्थात् मति के द्वारा वहां विकल्प उत्पन्न नहीं किया जा सकता, ऐसा केवल शुद्ध चैतन्य और ज्ञान, दर्शन तथा अक्षय सुख एव अनन्त शक्तिमय सिद्ध भगवान है। क्योंकि अप्रतिष्ठान नाम मोक्ष का ज्ञाता और परमपद का अभ्यासी है तथा सस्थान की अपेक्षा से वह-सिद्ध भगवान—न दीर्घ है न ह्रस्व न वृत्ताकार है न त्रिकोण, एव न चतुष्कोण है न परिमडल के आकार-चूडी के आकार वाला। वर्ण की अपेक्षा से न कृष्ण है न नीला, लाल है न पीला और न ही श्वेत है गन्ध की अपेक्षा से न सुगन्ध युक्त है और न ही दुर्गन्धवाला है रस की अपेक्षा से न तिक्त है न कटुक न कषाय न खट्टा और न मधुर है एव स्पर्श की अपेक्षा से वह न तो कर्कश है न कोमल तथा न लघु है न गुरु न उष्ण है न शीत और न स्निग्ध है न रूक्ष तथा न वह काय वाला या लेश्या वाला है इसी तरह न तो उसका कर्म रूप बीज है और न उसको किसी का संग है वह न तो स्त्री है और न ही पुरुष और न ही नपुसक है वह सामान्य और विशेष ज्ञान वाला अवस्था विशेष से रहित अनुपम केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप अरूपी सत्ता वाला, अक्षय सुख की राशि अनन्त शक्तियों का भडार और ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त हुआ विराजमान है।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में बताया गया है कि आस्रव का निरोध करके एवं निर्जरा के द्वारा चार घातिकर्मों का क्षय करके आत्मा सर्वज्ञ बनता है। और सर्वज्ञ अवस्था में आयु कर्म के क्षय के साथ शेष तीन—वेदनीय नाम और गोत्र कर्म का सर्वथा क्षय करके आत्मा निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी मोक्ष एवं मुक्तात्मा के विषय का विवेचन किया गया है।

मोक्ष उस स्थिति का नाम है; जिसमें साधक समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देता है। अत उसके लिए कुछ भी करना अवशेष नहीं रह जाता है। फिर

छाया—म न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्श. इत्येव (इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदा स्युः) इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह मुक्तात्मा । न सद्दे—शब्द रूप नही है । न रूवे—रूप युक्त नहीं है । न गधे—गध रूप नही है । न रसे—रस युक्त नही है । न फासे—स्पर्श वाला नही है । इच्चेव—वस्तु के इतने ही भेद हो सकते हैं । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा शब्द, रूप, गध, रस एव स्पर्श युक्त नही है और रूपी वस्तु के इतने ही भेद होते हैं । ऐसा मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में विस्तार से कही गई बात को संक्षेप मे कहा है । और यह बताया है कि वस्तु के इतने ही भेद होते हैं । शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श के अतिरिक्त वस्तु का कोई भेद नहीं होता । अत इनके आधार पर वस्तु का वर्णन किया जाता है और मुक्तात्मा में इन सब का अभाव है, अत उसका शब्दादि के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । सर्वज्ञ पुरुष भी उसका प्रत्यक्ष तो करते हैं, परन्तु उस आत्मानुभव को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकते । क्योंकि अभिव्यक्ति का साधन शब्द है और इस बात को हम देख चुके हैं कि शब्द में उसका विवेचन करने की शक्ति नहीं है । अत उसका अनुभव निरावरण स्थिति को प्राप्त करके ही किया जा सकता है ।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें ।

॥षष्ठ उद्देश समाप्त ॥

॥ पचम अध्ययन-लोकसार समाप्त ॥

है—*जहां वचन की गति नहीं है और मन भी अप्राप्य है, ऐसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म की द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती है। इसी तरह बृहदारण्यक में भी ब्रह्म को अस्थूल, असूक्ष्म, अदीर्घ, अह्रस्व आदि माना है †। निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसे ही विचार मिलते हैं ‡। इस तरह इस विषय में प्रायः सबके विचारों में एकरूपता है।

मोक्ष में आत्मा सर्व कर्म मल से रहित विशुद्ध एवं एक है। उसके साथ न कर्म है और न कर्म जन्य उपाधि है। वह सब दोषों से रहित है और दुनियां के समस्त पदार्थों का ज्ञाता एवं द्रष्टा है। निष्कर्ष यह निकला कि मोक्ष में स्थित आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमंडल संस्थान वाला है, न कृष्ण, नील, पीत, रक्त एवं श्वेत वर्ण वाला है, न दुर्गन्ध एवं सुगन्ध वाला है, न तीक्ष्ण, कटुक, कषाय, मीठा एवं अम्ल रसवाला है, न गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, एवं उष्ण स्पर्श वाला है, न स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद वाला है अर्थात् शब्द, रूप, रस, गंध स्पर्श आदि विशेषणों से रहित है। इस लिए मोक्ष या मुक्तात्मा को अपद कहा गया है। पद अभिधेय को कहते हैं, अतः इसका यह अर्थ हुआ कि मोक्ष का कोई भी अभिधेय नहीं है। क्योंकि वहां वाच्य विशेष का अभाव है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेव त्तिबेमि ॥१७२॥

---

*यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥

—तैत्तिरीय उपनिषद् २ ४, १।

† स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

—बृहदारण्यक उपनिषद् ३ ८, ८, ४ ६, १५।

‡ मज्झिमनिकाय (मूलमानुंक्य सुत्त) ११।
संयुत्तनिकाय ४४।

छाया—स न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्श इत्येव (इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदा स्यु) इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह मुक्तात्मा। न सद्दे—शब्द रूप नही है। न रूवे—रूप युक्त नहीं है। न गधे—गध रूप नही है। न रसे—रस युक्त नही है। न फासे—स्पर्श वाला नही है। इच्चेव—वस्तु के इतने ही भेद हो सकते हैं। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा शब्द, रूप, गंध, रस एव स्पर्श युक्त नही है और रूपी वस्तु के इतने ही भेद होते हैं। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र मे विस्तार से कही गई बात को संक्षेप में कहा है। और यह बताया है कि वस्तु के इतने ही भेद होते हैं। शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श के अतिरिक्त वस्तु का कोई भेद नहीं होता। अत इनके आधार पर वस्तु का वर्णन किया जाता है और मुक्तात्मा में इन सब का अभाव है, अत उसका शब्दादि के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञ पुरुष भी उसका प्रत्यक्ष तो करते हैं, परन्तु उस आत्मानुभव को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकते। क्योंकि अभिव्यक्ति का साधन शब्द है और इस बात को हम देख चुके हैं कि शब्द मे उसका विवेचन करने की शक्ति नहीं है। अत उसका अनुभव निरावरण स्थिति को प्राप्त करके ही किया जा सकता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥षष्ठ उद्देश समाप्त॥

॥ पचम अध्ययन-लोकसार समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन—धुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम धुत अध्ययन है। धुत शब्द का अर्थ है—मल का निवारण करना। यह दो प्रकार का है—द्रव्य धुत और भाव धुत। वस्त्र आदि के मैल को दूर करके उन्हें स्वच्छ-साफ बनाने को द्रव्य धुत कहा है और परीषह एवं उपसर्ग को सहन कर अष्ट कर्म मल को दूर कर आन्तरिक मल को निवारण करने वाली आत्मा को भाव धुत शुद्ध-बुद्ध कहा गया है। प्रस्तुत अध्ययन में आभ्यन्तर-राग-द्वेष आदि विकार एवं बाह्य भोगोपभोग के साधन आदि के त्याग का एवं आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया का उपदेश दिया गया है। आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया को धुत शब्द से अभिव्यक्त किया जाता रहा है, बौद्ध ग्रन्थों में भी इसके लिए धुत शब्द का प्रयोग मिलता है। उनमें भी धुत शब्द के उक्त निर्युक्ति सम्मत अर्थ पाए जाते हैं।

भाव धुत के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से नरे, जस्स-इमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं निक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं, एवं (अवि) एगे महावीरा विपरिक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपन्ने से बेमि, से जहावि [सेवि] कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मग से नो लहइ भंजगा इव संनिवेस नो चयंति एवं (अवि) एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति नियाणओ ते न लभंति मुक्खं, अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए

—जाया ।

गंडी अहवा कोढ़ी, रायंसी अवमारियं ।
काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा ॥१४॥
उदरिं च पास मूयं च, सूणीयं च गिलासणिं ।
वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ॥१५॥
सोलस्स एए रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो ।
अहणं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा ॥१६॥

मरणं तेसिं संपेहाए उववायं, चवणं च नच्चा, परियागं च सपेहाए ॥१७३॥

छाया—अवबुध्यमानः इह मानवेषु आख्याति स नरो यस्य इमा जातयः सर्वतः सुप्रत्युपेक्षिता. भवन्ति, आख्याति स ज्ञानमनीदृशं, स कोर्त्तयति तेषां सम्यगुत्थिताना निक्षिप्त दण्डानां समाहितानां-प्रज्ञानवताम् इह मुक्ति-मार्गं एवं (अपि) एके महावीराः विपराक्रमते पश्यत एकान् अवसीदत. अनात्मप्रज्ञान सोऽहं ब्रवीमि तद्यथा च (सोपि) कूर्म्मो ह्रदे विनिविष्टचित्तः पलाशप्रच्छन्न उन्मार्गमसी न लभते, भञ्जगा. (वृक्षाः) इव सन्निवेशं न त्यजन्ति एवं (अपि) एके अनेक रूपेषु कुलेषु जाताः रूपेषु सक्ता करुणं स्तनन्ति निदानतः ते न लभन्ते मोक्षम्, अथ पश्य। तेषु कुलेषु आत्म-त्वाय जाता गण्डी अथवा कुष्ठी राजांसी अपस्मार· काणत्वं जाड्यता चैव कुणिः कुब्जी तथा उदरिं च पश्य मूकं च शूनत्व च गिलासणिं (भस्म-कोव्याधि.) वेपन्ति (कम्पमानम्) पीढसर्पित्व च श्लीपदत् मधुमेहिनम् षोडशाऽप्येते रोगाः आख्याता अनुपूर्वश अथ (णं) स्पृशन्ति आतकाः स्प-

शृादिषु असमंजसा । मरणं तेषां सम्प्रेक्ष्य—उपपातं, च्यवनं च ज्ञात्वा परिपाकं च सम्प्रेक्ष्य ।

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक में । माणवेसु—मनुष्यों में । आघाइनाण—स्वर्ग अपवर्ग और संसार के कारणों को जानता हुआ । से—वह । णरे—मनुष्य । आघाइ—धर्म कहता है । जस्स—जिसके । इमाओ—ये—वक्ष्य परिज्ञाध्ययन में कथन की गई । जाइओ—एकेन्द्रियादि जातियें । सव्वओ—सर्व प्रकार से । सुपडिलेहियाओ—सुप्रतिलेखित । भवंति—होती हैं, तथा वही अर्थात् केवली, श्रुतकेवली या अतिशय ज्ञान युक्त व्यक्ति । आघाइ—धर्म का कथन करता है । से—वह—तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली जिसका । नाणमणेलिसं—ज्ञान अन्य स्थानों में नहीं है अर्थात् अलौकिक ज्ञान है । से—वह । किट्टइ—कहता है । किनको कहता है ? तेसिं—उनको जो । समुट्ठियाणं—धर्म ग्रहण करने के लिए उत्थित हैं । निक्खित्त दंडाणं—मन, वचन और काय दंड को जिन्होंने छोड़ दिया है । समाहियाणं—जो तप-संयमादि में समाहित—उद्यत हैं । पन्नाणमंताणं—जो प्रज्ञान वाले हैं । इह—इस मनुष्य लोक में । मुत्तिमग्गं—मुक्तिमार्ग का प्रकाश करते हैं । एवं—इस प्रकार । एगे—तीर्थंकरादि धर्म कहते हैं, फिर । महावीरा—वीर पुरुष तीर्थंकर भाषित धर्म में । विप्परिक्कमंति—पराक्रम करते हैं, तथा । एगे—कई एक । अवसीयमाणे—अवसीदित हुए—मोह कर्म के प्राबल्य से जो संयम से गिरते हैं, उनको । पास—हे शिष्य ! तू देख । अणत्तपन्ने—अनात्म प्रज्ञ—जिनकी आत्मा के लिए हित बुद्धि नहीं है । से बेमि—हे शिष्य ! वह जो धर्म से गिरता है उसके विषय में फिर मैं कहता हूँ । से—अथ । जहावि—जैसे कि—यहां अपि शब्द च शब्द के अर्थ में आया है । कुम्मे—कछुआ । हरए—हृद में—सरोवर में । विणिविट्ठचित्ते—आसक्त एकाग्र चित्त होकर ठहरता है, तथा जो सरोवर । पच्छन्नपलासे—पत्तों के पत्र गिरने से आच्छादित हो रहा है । उम्मग्गं—निकलने का मार्ग । से—वह—कछुआ । नो लहइ—प्राप्त नहीं कर सकता, इसी प्रकार संसारी जीव संसार सरोवर में पड़ा हुआ उससे बाहिर निकलने का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता, जो संसारी जीव । भंजगा इव—वृक्षों की तरह । सन्निवेस—स्व स्थान को । नो चयंति—नहीं छोड़ते (वे ही दुःखादि को सहते रहते हैं) एवं—इसी प्रकार । अवि—संभावना अर्थ में है । एगे—कई एक भारी कर्मी जीव । अणेगरूवेहिं—नाना प्रकार के ऊंच-नीच । कुलेहिं—कुलों में । जाया—उत्पन्न होते हैं । रूवेहिं सत्ता—रूपादि विषयों में आसक्त हुए । कलुणं—करुणा युक्त—दीन वचन । थणंति—बोलते हैं । नियाणओ—दुःख के कारण कर्मों के बिना भोगे । ते—वे—विलाप करते हुए । मोक्खं—मोक्ष को । न लभंति—प्राप्त नहीं होते अर्थात् बिना भोगे दुःखों से छुटकारा नहीं पाते । अथवा दुःख से छुटकारा कराने वाले संयम को धारण नहीं करते । अह—अब शब्द वाक्यो-

[illegible] है। पास—हे शिष्य! तू देख। तेहिं कुलेहिं—उन कुलों में। आयत्ताए—स्वकर्मों के लिए। जाया—उत्पन्न हुए हैं। अशुभ कर्म के उदय से जीव, जिस २ दुःखमयी अवस्था को प्राप्त होता है, उस उसका वर्णन करते हैं। गंडी—गण्डमाला रोग। अहवा—अथवा। कोढी—कुष्ट रोग। रायसी—राजयक्ष्मा—क्षयरोग। अवमारियं—अपस्मार—मृगीरोग। काणियं—एक चक्षु वाला काणारोग। च—पुनः। एव—अवधारण अर्थ में है। झिमियं—जड़ता—शरीर के अवयवों का शून्य हो जाना। कुणियं—एक पाद ह्रस्व और एक दीर्घ, अथवा एक हाथ छोटा और एक बड़ा। तहा—तथा। खुज्जियं—कुब्ज रोग। च—पुनः या समुच्चय अर्थ में आता है। उदरिं—उदर के रोग, जलोदरादि। पास—हे शिष्य तू देख! मूय—मूकरोग गूंगापन। च—समुच्चय अर्थ में। सूणीय—शोथरोग—सूजन। च—समुच्चय अर्थ में। गिलासणि—भस्मकरोग। वेवइं—कम्परोग। च—पुनः। पीढसप्पि—काष्ठ की पाटियों को कक्षांग में रखकर उनके सहारे चलने वाला रोगी। सिलिवयं—श्लीपद रोग। महुमेहिणं—मधुमेह-प्रमेह रोग। एए—ये। अणुपुव्वसो—अनुक्रम से। सोलस—सोलह रोग। अक्खाया—कथन किये हैं। अ—वाक्यालंकार अर्थ में है। अह—अथ तदनन्तर। आयंका—शूलादि आतंक-भयंकर रोग। फुसंति—स्पर्श करते हैं। य—और उनके। फासा—स्पर्श। असमंजसा—असमंजस हैं। तेसिं—उन भारी कर्मी जीवों को, रोगों के स्पर्श से। मरणं—मृत्यु को। सपेहाए—विचार कर। च—और। उववायं—देवों के उपपात और। चयणं—च्यवन को। नच्चा—जानकर। च—और। परियागं—कर्मों के परिपाक को। सपेहाए—पर्यालोचन करके।

मूलार्थ—इस मनुष्य लोक में सद्बोध को प्राप्त हुआ पुरुष ही अन्य मनुष्यों के प्रति धर्म का कथन करता है अथवा वह श्रुतकेवली—जिसके शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में कथन की गई सर्व प्रकार से एकेन्द्रियादि जातियें सुप्रतिलेखित हैं या तीर्थंकर, केवली तथा अतिशय ज्ञानी पुरुष धर्म का उपदेश करते हैं।

प्रश्न—वे किस व्यक्ति को धर्म कहते हैं?

उत्तर—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित हैं, जिसने मन, वचन और काय के दण्ड को त्याग दिया है, समाधि को प्राप्त है, बुद्धिमान है, वह उसे मुक्ति मार्ग का उपदेश करता है। इसी प्रकार कई एक वीर पुरुष धर्म को सुनकर सयम मार्ग में पराक्रम करते हैं। हे शिष्य! तू देख। कई आत्मा का हित न चाहने वाले पुरुष धर्म से गिरते

है। हे शिष्यो ! मैं कहता हूं, जैसे वृक्ष के पत्तों से आच्छादित ह्रद सरोवर में निमग्न हुआ कछुआ वहां से निकलने का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार गृहवास में आसक्त जीव वहां से निकलने में समर्थ नहीं हो सकता मोहावरण के कारण वे जीव धर्मपथ को नहीं देख सकते। जैसे वृक्ष शीतोष्णादि कष्टों को सहन करता हुआ भी अपने स्थान को नहीं छोड़ता उसी प्रकार भारी कर्म वाले जीव भी अनेक ऊंच नीच कुलों में जन्म धारण कर नाना प्रकार के रूपादि विषयों में आसक्त हुए नाना विध कर्मों के कारण नाना प्रकार की दुःख वेदनाओं को भोगते हुए अनेक प्रकार के दीन वचन कहते हैं। परन्तु, वे कर्म फल को भोगे बिना कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो सकते। और संसार से छूटने के उपाय का भी अन्वेषण नहीं करते। सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे शिष्यो! तुम देखो कि वे ऊंच-नीच कुलों में उत्पन्न होने वाले जीव निम्न लिखित रोगों द्वारा असह्य वेदना को प्राप्त होते हैं। यथा— १-गण्डमाला २-कुष्ट, ३ राजयक्ष्मा, ४ अपस्मार—मृगी ५-काणत्व, ६-जड़ता शून्यता, ७-कुणित्व लुंजपन, ८-कुब्जता—कुबड़ापन ९—मूकता—गूंगापन १०—उदर रोग—जलोदरादि ११-शोथ-सूजन, १२ भस्मरोग १३-कम्पवात, १४-गर्भ दोष से उत्पन्न हुआ रोग जिससे प्राणी बिना लाठी के चलने में असमर्थ होता है १५-श्लीपद, १६—मधुमेह। इन सोलह प्रकार के रोगों का अनुक्रम से कथन किया है। जब शूलादि का स्पर्श होता है तब बुद्धि असमंजस अर्थात् अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतः देवों के उपपात और च्यवन को तथा उक्त प्रकार के रोगों द्वारा होने वाली मनुष्यों की मृत्यु को देख कर एवं कर्मों के विपाक को लक्ष्य में रख कर साधक को संयम – साधना द्वारा जन्म—मरण से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

ज्ञान आत्मा का गुण है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान की सत्ता स्थित है।

परन्तु ज्ञानावरण कर्म के कारण बहुत-सी आत्माओं का ज्ञान प्रच्छन्न रहता है। ज्ञानावरण कर्म का जितना क्षय या क्षयोपशम होता है, उतना ही ज्ञान आत्मा मे प्रकट होता रहता है। जब आत्मा पूर्ण रूप से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर डालती है, तब उसे पूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान प्राप्त होता है। फिर उससे संसार का कोई भी पदार्थ प्रच्छन्न नहीं रहता। वह महापुरुष अपने ज्ञान से संसार परिभ्रमण के कारण एवं उससे मुक्त होने के साधन को जान लेता है। अत ऐसा महापुरुष ही धर्म का यथार्थ उपदेश दे सकता है। इसी कारण जैन धर्म मे तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ भगवान को उपदेष्टा माना गया है। छद्मस्थ साधकों का उपदेश तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित प्रवचन या आगम के आधार पर होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। क्योंकि सर्वज्ञ सभी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को देखता है, इसलिए उनके उपदेश मे कहीं भी विपरीतता नहीं आ पाती। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने से उनका उपदेश प्राणी जगत के लिए हितप्रद एव कल्याणकारी होता है।

सर्वज्ञ पुरुष राग-द्वेष के विजेता होते हैं। अतः उनके उपदेश में भेद-भाव नहीं होता। त्यागी-भिक्षु वर्ग एवं भोगी—गृहस्थ वर्ग हो, धनी या निर्धन हो, छूत या अछूत हो, स्त्री या पुरुष हो, कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, सबको उपदेश सुनने का अधिकार है। जैन धर्म मे जाति, लिंग, देश, रग आदि को महत्त्व नहीं दिया गया है, महत्त्व दिया गया है गुणों को, आचरण को। प्रत्येक वर्ग, जाति एवं देश का व्यक्ति अपने आचरण को शुद्ध बनाकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। अत' धर्म निष्ठा एव जिज्ञासा की भावना लेकर सुनने वाला व्यक्ति—भले ही वह किसी भी जाति, रग एव देश का क्यों न हो, अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। इस प्रकार श्रद्धा-निष्ठ व्यक्ति वीतराग प्रभु का प्रवचन सुनकर अपने जीवन को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त करके तप, सयम एवं ज्ञान साधना मे लगा देते हैं। अत. वे महापुरुष दण्ड से सर्वथा निवृत्त होकर श्रुतसम्पन्न बनकर त्याग पथ पर गतिशील होते हैं।

परन्तु, सभी श्रोताओं का जीवन एक समान नहीं होता है। कुछ श्रद्धा-निष्ठ प्राणी भगवान का प्रवचन सुनकर तप-सयम के द्वारा कर्म-बन्धन तोडने का प्रयत्न करते हैं और प्रतिक्षण निष्कर्म बनने की साधना मे सलग्न रहते है। किन्तु, कुछ व्यक्ति मोह कर्म से इतने आवृत्त होते हैं कि त्याग—वैराग्य के पथ पर भली-भाति चल नहीं सकते। वे कायर पुरुष विषय-भोग एव पदार्थों की आसक्ति को त्याग नहीं सकते। जैसे शैवाल से आच्छादित सरोवर मे स्थित कछुआ उक्त सरोवर से बाहिर निकलने का मार्ग जल्दी नहीं पा सकता। उसी प्रकार मोह कर्म से आवृत्त व्यक्ति संसार सागर से ऊपर नहीं उठ सकता, तप-त्याग की ओर पग नहीं बढ़ा सकता।

तप-संयम की साधना के लिए मोह कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना आवश्यक है।

इस प्रकार विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति कर्म बन्धन एवं कर्म जन्य दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते। क्योंकि विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहने के कारण वे पाप कर्म का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप दुःख के प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं। वे जन्म—मरण के दुःख एवं व्याधियों से संतप्त रहते हैं। यों तो रोग— व्याधियों की कोई परिमित संख्या नहीं है। फिर भी प्रमुख रोग १६ प्रकार के माने गए हैं। उनका नाम निर्देश करते हुए सूत्रकार ने लिखा है— ।

१—गंडमाला—यह रोग वात, पित्त, कफ और इन तीनों का सन्निपात, इस प्रकार यह चार प्रकार का होता है। लोक भाषा में इसे कंठमाला कहते हैं। इसमें सन्निपात असाध्य रोग माना गया है।

२—कुष्ठरोग— यह रोग अठारह प्रकार का होता है। इसमें सात प्रकार के महा-कुष्ठ—असाध्य और ग्यारह प्रकार के क्षुद्र—साधारण कुष्ठ होते हैं। १-अरुण, २-उदुम्बर, ३-निश्यजिह्व ४-कपाल, ५-काकनाद, ६-पौंडरीक और ७-दद्रु ये महाकुष्ठ हैं। १-स्थूलारुष्क २-महाकुष्ठ, ३-एक कुष्ठ, ४ चर्मदल ५-परिसर्प, ६-विसर्प ७-सिध्म, ८-विचर्चिका, ९-किटिभ १०-पामा, ११-शतारुक ये क्षुद्र कुष्ठ कहलाते हैं।

३—राजयक्ष्मा— इसे क्षय रोग या टी० बी० भी कहते हैं। यह रोग पेशाब-टट्टी आदि के रोकने से धातु क्षय से, अत्यन्त साहस एवं शक्ति का काम करने से तथा विषम भोजन से होता है।

४—अपस्मार—इस रोग में स्मृति के ऊपर आवरण सा आ जाता है। इस रोग में रोगी को मूर्छा आ जाती है। इसे लोक भाषा में मृगी एवं अंग्रेजी में हिस्टेरिया की बीमारी भी कहते हैं।

५—काणत्व— एक आंख की रोशनी का चला जाना। यह रोग गर्भ में भी हो जाता है और जन्म के बाद भी हो जाता है।

६—जाड्यता— इस रोग में शरीर संचालन क्रिया से शून्य हो जाता है।

७—कुणि— इस रोग में एक पैर या एक हाथ बड़ा और दूसरा पैर या हाथ छोटा हो जाता है।

८—कुब्जरोग—इसमें पीठ पर कुबड़ उभर आता है।

९—उदररोग—यह रोग वात-पित्त आदि के प्रकोप से होता है। यह आठ प्रकार

का होता है— १- जलोदर, २- वातोदर, ३- पित्तोदर, ४- कफोदर, ५- कठोदर, ६- प्लीहोदर ७- उदर और ८- बद्ध गुदोदर ।

१०—मूकरोग— इस रोग के कारण मनुष्य गूङ्गा हो जाता है। वह बोल नहीं सकता। यह ६५ प्रकार का है और ७ स्थानों में होता है। वे स्थान ये हैं— १-आठ ओष्ठ के, २-पन्द्रह दन्त मूल के, ३- आठ दान्तों के, ४-पाच जिव्हा के, ५- नव ताल के, ६—सत्रह कण्ठ के और ७— तीन सब स्थानों के, इस प्रकार कुल मिलाकर ६५ प्रकार के होते हैं।

११—शून्यत्व – इसमे अंगोपाग शून्य हो जाते हैं। यह रोग वात, पित्त, श्लेष्म, सन्निपात, रक्त और अतिघात से उत्पन्न होता है।

१२—भस्मक – यह रोग वात-पित्त की अधिकता एव कफ की कमी से होता है। इसमे भूख अधिक लगती है, भोजन करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती।

१३—कपरोग—इससे शरीर कापता रहता है। यह रोग वायु के प्रकोप से होता है।

१४—पीठसर्पी – इस रोग मे रोगी लाठी के आश्रय से ही चल सकता है।

१५—श्लीपद—इस रोग में पैर बहुत बड़ा एवं भारी हो जाता है।

१६—मधुमेह—इसमे मूत्र मे मधु जाता है। इसे अंग्रेजी मे डायाबिटिज या शूगर (चीनी) की बीमारी कहते हैं।

इस प्रकार विषय—भोगों मे आसक्त व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्टों का संवेदन करता हुआ ससार मे परिभ्रमण करता है। अत मुमुक्षु पुरुष को सम्यग्ज्ञान से भोगासक्ति के परिणाम स्वरूप प्राप्त कष्टों एव उनसे छुटकारा पाने के स्वरूप को जानकर सयम का पालन करना चाहिए। क्योंकि ज्ञान से ही साधक सयम के पथ को जान सकता है और फिर उसका आचरण करके निरावरण ज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त बन सकता है। अत साधक को सदा साधना में सलग्न रहना चाहिए। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया, तमेव सइं असइं अइअच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एयं पवेइयं-संति पाणा वासगा,रसगा, उदए-उदएचरा आगास गामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं ॥१७४॥

छाया—तच्छृणुत यथा तथा सन्ति प्राणा प्राणिन अन्धा तमसि व्याख्याता। तामेव सकृत्, असकृत्, अतिगत्य उच्चावचान् स्पर्शान् प्रति संवेदयति बुद्धैः एतत् प्रवेदितम् सन्ति प्राणा प्राणिन वासका, रसगा उदके-उदकचरा आकाशगामिनः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति पश्य! लोके महद् भयम्।

पदार्थ—तं— उस कर्म विपाक को। अहातहा—जैसे तैसे—यथार्थ रूप से उसी प्रकार, मुझसे। सुणेह—हे शिष्यो! तुम श्रवण करो। पाणा—प्राणी, संसार में। संति—हैं जो। अंधा—द्रव्य चक्षु या भावचक्षु—विवेक— से रहित। तमसि—नरकादि प्रधान अन्धकारमय स्थानों में रहने वाले। वियाहिया—कथन किए हैं। तमेव—उन योनियों में रोगादि स्थानों से उत्पन्न हुए दुःख। सइं—एक बार। असइं—अनेक बार। अइअच्च—भोगकर फिर तिर्यग् आदि गतियों में। उच्चावयफासे—शीतादि स्पर्शों को। पडिसंवेएइ—प्रतिसंवेदन करता है। एयं—यह विषय। बुद्धेहिं—तीर्थंकरों ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है, तथा। पाणा—द्वीन्द्रियादि प्राणी। वासगा—भाषालब्धि सम्पन्न। संति—हैं। रसगा—रस के जानने वाले संज्ञी जीव हैं, इन संसारी जीवों के कर्म विपाक का विचार कर आत्म विकास करना चाहिए तथा। उदए—उदक रूप—एकेन्द्रिय अप्काय के जीव। उदएचरा—जल में रहने वाले त्रस जीव तथा। आगास गामिणो—आकाश में गमन करने वाले पक्षी आदि जीव। पाणा—तथा प्राणी। पाणे—अन्य प्राणियों को। किलेसंति—पीड़ित करते हैं—अर्थात् निर्बल को बलवान मार देता है, अतः हे शिष्य! लोए—लोक में। महब्भयं—महाभय है, इसको तू। पास—देख! अर्थात् संसार में दुःखों का महाभय है इसको तू देख!

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम कर्म विपाक के यथावस्थित स्वरूप को मुझ से सुनो! संसार में द्रव्यचक्षु रहित या भावचक्षु रहित जीव कहे गए हैं, वे उन रोगादि अवस्थाओं में दुःखों का अनुभव कर रहे हैं। नरकादि गतियों में एक बार या अनेक बार नाना प्रकार के दुःख रूप स्पर्शों का अनुभव करते हैं। यह अनन्तोक्त विषय बुद्धों—तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है। द्वीन्द्रियादि जीव या रसके जानने वाले संज्ञी जीव तथा अप्काय-जलरूप जीव, जल में रहने वाले त्रस जीव और आकाश में उड़ने वाले

पक्षी, ये ससार मे जितने जीव हैं, उनमे वलवान निर्बलोको पीडित-दुःखित करते हैं। हे शिष्यो ! तुम ससार के दुःखो से उत्पन्न हुए महाभय को देखो अथवा हे शिष्य ! तू ससार के महाभय को देख।

हिन्दी विवेचन

संसार मे अनन्त जीव हैं। इन्द्रिय आदि साधनों की समानता की अपेक्षा से उनके ५ भेद किए गए हैं। जिन्हें जीवों की पांच जातियें कहते हैं-१-एकेन्द्रिय, २-द्वीन्द्रिय ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय, और ५ पन्चेन्द्रिय। एकेन्द्रिय मे स्पर्श इन्द्रियवाले पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एव वनस्पति के सभी जीव समाविष्ट हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय में-स्पर्श और जिव्हा दो इन्द्रिय वाले लट आदि जीवों को लिया गया है। इसी तरह त्रीन्द्रिय मे स्पर्श, जिव्हा, घ्राण वाले चींटी, जू आदि जीवों को, चतुरिन्द्रिय मे स्पर्श, जिव्हा, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय वाले मच्छर-मक्खी-विच्छू आदि जीवों को तथा पञ्चेन्द्रिय में स्पर्श जिव्हा, घ्राण,चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय वाले नरक, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवयोनि के जीवों को गिना गया है। इस तरह ये समस्त ससारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करते हैं।

संसार में कुछ प्राणी अंधे भी होते हैं। अंधत्व द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। द्रव्य अधत्व का अर्थ है-आंखों मे देखने की शक्ति का न होना और भाव अधत्व का तात्पर्य है—पदार्थों के यथार्थ वोध का न होना। द्रव्य अधत्व आत्मा के लिए इतना अहितकर नहीं है जितना भाव अधत्व है। भाव अंधत्व अर्थात् अज्ञान एव मोह के वश जीव विषय वासना मे सलग्न रहता है और परिणाम स्वरूप पापकर्म का वन्ध करके संसार मे परिभ्रमण करता है, अनेक तरह की वेदनाओं का संवेदना करता है।

अत मुमुक्षु पुरुष को संसार के सभी प्राणियों एव उनके परिभ्रमण करने के कारणों का परिज्ञान होना चाहिए। और साधक को उसका चिन्तन करके ससार में भटकाने वाले दुष्कर्मों से अलग रहना चाहिए। इसी तरह ससार का चिन्तन उसे दुष्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर कदम बढाने की प्रेरणा देता है और इससे उसकी साधना मे तेजस्विता आती है। अत साधक को वीतराग प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमों के द्वारा संसार के स्वरूप का सम्यक् वोध प्राप्त करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वह निर्भय वनकर निष्कर्म स्थिति को पा सके।

भय मोह कर्म के उदय से होता है। उसका क्षय या क्षयोपशम होने पर आत्मा में निर्भयता आती है। इसी बात को वताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छंति सरीरेणं पभंगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ, एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नाल पास, अलं तवेएहिं एयं पास मुणी ! महब्भयं नाइवाइज्जा कंचणं ॥१७५॥

छाया—बहु दुःखा हु (खलु) जन्तवः सक्ताः कामेषु मानवाः अबलेन वधं गच्छन्ति शरीरेण प्रभंगुरेण आर्तः स बहुदुःख इति बाल प्रकरोति एतान् रोगान् बहून् ज्ञात्वा आतुरा परितापयेयुः नाल पश्य ! अलं तव एभिः एतद् पश्य मुने ! महद् भयं नातिपातयेत् कञ्चन ।

पदार्थ—हु—जिस से-हिंसादि कर्मों से । जंतवो—जीव । बहुदुक्खा—बहुत दुःखी हैं । माणवा—मानव । कामेसु—काम भोगों में । सत्ता—आसक्त हैं मूर्छित हैं । अबलेण—बल से रहित । सरीरेण—औदारिक शरीर के द्वारा । पभंगुरेण—जो स्वतः विनाशशील है । वहं—वध विनाश को । गच्छन्ति—प्राप्त होते हैं । से—वह । अट्टे—राग और द्वेष से व्याकुल चित्त वाला जीव । बहुदुक्खे—बहुत दुःख पाता है तथा । एए—ये सब । रोगा—रोग । बहू—बहुत उत्पन्न हुए । नच्चा—जानकर-चिकित्सा के लिए जीवों को मारकर चिकित्सा करनी चाहिए । इइ—इस प्रकार । बाले—बाल । पकुव्वइ—किया करता है और । आउरा—आतुर होकर । परियावए—प्राणियों को परिताप देता है । पास—हे शिष्य तू देख ? नालं—कर्म रोग चिकित्सा के द्वारा उपशान्त नहीं हो सकता । तवेएहिं—ऐसे पापकारी चिकित्सा विधि से । अलं—दूर रहना चाहिए अर्थात् तुमको यह पापकारी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । मुणी—हे मुने ! एयं—यह अभिनव । पास—देख । महब्भयं—महान् भय रूप है, अतः । कंचणं—किसी प्राणी का । नाइवाइज्जा—अतिपात मत कर ।

मूलार्थ—हिंसादि कर्मों से जीव बहुत दुःखी हो रहे हैं । संसारी मनुष्य काम भोगों में आसक्त हैं । क्षण भंगुर निर्बल शरीर के द्वारा जीव विनाश को प्राप्त होते हैं, वे रोगादि से पीड़ित जीव बहुत दुःखित हैं । बाल-अज्ञानी जीव इस प्रकार बोलते हैं कि राजयक्ष्मादि रोगों की निवृत्ति के लिए सावद्य चिकित्सा-जीव हिंसामय औषधोपचार करो और मांस आदि का भक्षण करो । आतुर प्राणी उत्पन्न हुए गण्ड, कुष्ठ राजयक्ष्मादि रोगों को

जानकर उनकी निवृत्ति के लिए अन्य प्राणियो को परिताप देता है। परन्तु, हे शिष्य ! तू यह देख, सम्यग्विचार कर कि हिसा प्रधान चिकित्सा से कर्म जन्य रोग उपशान्त नही होता। अतः हे शिष्य! तुझे जीव हिंसामय औषधि से कदापि उपचार नही करना चाहिए। यह सावद्य औषधोपचार महाभय का कारण है। इसलिए तुझे किसी भी जीव का अतिपात नहीं करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि मोह कर्म से आवृत्त अज्ञानी जीव हिसा आदि दुष्कर्मों से अनेक प्रकार के दुःखों एवं रोगों का सवेदन करते हैं। फिर भी वे विषय-कषाय से निवृत्त नहीं होते। वे उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भी आरम्भ-समारम्भ एव विषय-कषाय का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार वे दुःख परम्परा को और बढाते हैं तथा महादुःख एव महाभय के गर्त में जा गिरते हैं। विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति सदा भयभीत बना रहता है। क्योंकि वह दूसरे प्राणियों को त्रास देता है, डराता है। इसलिए स्वय भी दूसरों से डरता रहता है। सिंह जैसा शक्ति शाली जानवर भी—जो हाथी जैसे विशालकाय प्राणी को मार डालता है, सदा भयभीत रहता है। वह जब भी चलता है तब प्रत्येक कदम पर पीछे मुड़कर देखता है। इसका कारण यह है कि वह दूसरे प्राणियों के मन में भय उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वयं भय ग्रस्त रहता है। उसकी इसी दुर्बलता के कारण साहित्यिक क्षेत्र मे पीछे मुड़कर देखने के अर्थ में सिहावलोकन शब्द का निर्माण किया गया है। अस्तु, सिंहावलोकन भय का प्रतीक है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरों को सत्रस्त करने वाला व्यक्ति स्वयं त्रास एव भय से पीड़ित रहता है। वह अनेक पाप कर्मों का बन्ध करके अनेक दुःखों एव रोगों का सवेदन करता है।

अतः साधक को विषय-कषाय एवं आरम्भ-समारम्भ के दुष्परिणामों को जानकर उससे दूर रहना चाहिए। उसे किसी भी परिस्थिति मे आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी आरम्भ जन्य दोषों मे प्रवृत्त न होकर समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए और कर्मों की निर्जरा के लिए सदा सयम मे सलग्न रहना चाहिए।

ऐसे सयम-निष्ठ साधकों के गुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आयाण भो सुस्सूस भो धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिनिव्वुडा अभिसवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अणुपुव्वेण महामुणी ॥१७६॥

छाया—आजानीहि भोः शुश्रूषस्व भोः धूतवादं प्रवेदयिष्यामि इह खलु आत्मतया (आत्मता-तया) तेषु तेषु कुलेषु अभिषेकेण अभिसंभूता अभिसंजाता अभिनिर्वृत्ता अभिसंवृद्धा अभिसंबुद्धा अभिनिष्क्रान्ताः अनुपूर्वेण महामुनिः।

पदार्थ—भो—हे शिष्य! आयाण—तू अवधारण कर। सुस्सूस—सुनने की इच्छा कर। धूयवायं—धुतवाद को—कर्म धुनने के वाद को। पवेयइस्सामि—प्रवेदन करूंगा। इह—इस संसार में। खलु—वाक्यालंकार में है। अत्तत्ताए—अपनी कर्म परिणति के द्वारा। तेहिंतेहिं—उन उन। कुलेहिं—कुलों में—। अभिसेएण—शुक्र शोणित के अभिषेक—अभिषिंचन से। अभिसंभूया—गर्भ में कलल रूप हुआ। अभिसंजाया—फिर मांस एवं पेशी रूप बना, और। अभिनिव्वुडा—पाणोपाग—स्नायु सिर रोमादि क्रम से अभिनिवृत्त हुआ, फिर। अभिसंवुड्ढा—अभिवृद्ध हुआ फिर। अभिसंबुद्ध—जागृत हुआ। अभिनिक्कंता—त्याग मार्ग में प्रव्रजित हुआ, वह। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। महामुणी—महामुनि हो जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्यो! ध्यानपूर्वक सुनो और समझो मैं तुम्हें कर्म क्षय करने का उपाय बतलाता हूं। इस ससार में कतिपय जीव अपने किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न कुलों में माता-पिता के रज वीर्य से गर्भ रूप में उत्पन्न हुए, जन्म धारण किया क्रमशः परिपक्व वय के बने प्रतिबोध पाकर त्यागमार्ग अंगीकार करके अनुक्रम से महामुनि बने।

हिन्दी विवेचन

आगम में बताया गया है कि मनुष्य ही सब कर्मों का क्षय करके मुक्ति को पा सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी गति या योनि में स्थित जीव निष्कर्म नहीं बन सकता। मनुष्य योनि में भी सभी मनुष्य निष्कर्म नहीं बनते हैं। प्रस्तुत सूत्र में निष्कर्म बनने वाले मनुष्यों के जीवन विकास का चित्रण किया गया है, गर्भ में उत्पन्न होने के समय से लेकर कर्म क्षय करने के स्वरूप का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

प्रत्येक ससारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार जन्म ग्रहण करते हैं। जिस ने मनुष्य गति का आयुष्य बांध रखा है, वे मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं। माता-पिता के रज और वीर्य का संयोग होने पर जीव उसमे उत्पन्न होता है। उस रज-वीर्य का सात दिन मे कुलल वनता है दूसरे सात दिन मे अवुर्द वनता है, उसके वाद पेशि वनती है, फिर वह सघन होता है, उसके वाद उसके अंगोपाग वनते हैं और फिर गर्भ का समय पूरा होने पर वः जन्म ग्रहण करता है और धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होता है। समझदार होने के बाद मोहकर्म के क्षयोपशम से वह स्वय वोध को प्राप्त होकर या धर्म शास्त्र एवं सन्त पुरुषों के ससर्ग से सद्ज्ञान को पाकर मुनि वन जाता है और तप-सयम में संलग्न होकर कर्मों का क्षय करने लगता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो मनुष्य योनि को प्राप्त करके संयम मे संलग्न होता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना करता है, वही मनुष्य निष्कर्म वन सकता है।

इस प्रकार संसार के स्वरूप को समझकर जव मनुष्य साधना के पथ पर चलने को तैयार होता है, उस समय उसके परिजन एवं स्नेही उसे क्या कहते हैं, इसे वताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयंति-छंदोवणोया अज्झोववन्ना अक्कंदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुणी (णय) ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढ़ा, सरणं तत्थ नो समेइ, कहं नु नाम से तत्थ रमइ? एयं नाणं सया समणुवासिज्जासित्तिबेमि ॥१७७॥

छाया—तं पराक्रममाणं परिदेवमानाः मा परित्यज। इति ते वदन्ति, छन्दोपनीता अभ्युपपन्नाः (अध्युपपन्ना वा) आक्रन्दकारिणः जनकाः रुदन्ति—अतादृशोमुनिः नच ओघंतरति जनका येन अपोढाः शरणं तत्र न समेति कथं नु नामासौ (स.) तत्ररमते एतद् ज्ञान सदा सम्यगनुवासये. 'व्यवस्थापयेः' इति ब्रवोमि।

पदार्थ—तं—उस—तत्व के जानने वाले। परिक्कमतं—सयम मार्ग में पराक्रम करने वाले के प्रति। परिदेवमाणा—रुदन करते हुए माता-पिता आदि। इय—इस प्रकार। ते—वे। वयति—कहते है, क्या कहते हैं? छदोवणीया—हे पुत्र! हम सब तेरी इच्छा के अनुसार

वर्ताव करने वाले हैं। अतक्कोवकम्मा—तेरे पर ही हमारा विश्वास है—तेरे में हम आसक्त हैं। अक्कंदकारी—इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए। जणगा—जनक—माता-पिता आदि बन्धु जन। रयंति—रुदन करते हैं, फिर इस प्रकार बोलते हैं। अतारिसेमुणी—इस प्रकार से मुनि नहीं हो सकता। णोहंतरे—और न वह संसार समुद्र को तैर सकता—पार कर सकता है। जेण—जिसने। जणगा—माता-पिता आदि को। विप्पजढा—छोड़ दिया है, इस प्रकार के वचनों को सुनकर तत्वज्ञ मुनि क्या विचारता है, वह सूत्रकार कहते हैं। तत्थ—उस कष्ट के समय वे—उसके सम्बन्धी वर्ग। सरणं—शरण भूत। भी समेइ—नहीं होता। कु—वितर्क में जानना। नाम—संभावना अर्थ में है। कह—किस प्रकार। से—मुमुक्षु जन। तत्थ—उस गृहस्थवास में। रमइ—रमण कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता। एयं—यह पूर्वोक्त। नाणं—ज्ञान। सया—सदा आत्मा में। समणु-वासिज्जासि—स्थापन करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—संयम के लिए उद्यत हुए तत्वज्ञ व्यक्ति के प्रति उसके माता-पिता आदि सम्बन्धि जन इस प्रकार कहते हैं—हे पुत्र ! तू हमको मत छोड़, हम तेरे अभिप्राय के अनुसार चलने वाले हैं और तेरे में आसक्त हैं। वे आक्रन्दन और रुदन करते हुए कहते है कि तू इस प्रकार से मुनि नहीं हो सकता और नाही वह संसार समुद्र को पार कर सकता है, जिसने रोते हुए माता-पिता आदि सम्बन्धी जनों का परित्याग कर दिया है। तब संयम के लिए उद्यत हुआ साधक [व्यक्ति] विचार करता है कि यह स्वजन वर्ग कष्ट के समय शरण भूत नहीं हो सकता। वह तत्वज्ञ पुरुष किस प्रकार गृहस्थावास में रह सकता है अर्थात् कदापि नहीं रह सकता। यह पूर्वोक्त ज्ञान सदा अपनी आत्मा में स्थापन करे, इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जीवन में अनेकों उतार-चढ़ाव आते हैं। कभी मनुष्य को परिजनों का स्नेह मिलता है, तो कभी उनकी ओर से तिरस्कार भी सहना पड़ता है। परन्तु प्रायः यह देखा गया है कि जीवन विकास के पथ पर बढ़ने वाले व्यक्ति को उस मार्ग से हटाने के लिए वे सदा तैयार रहते हैं। भले ही, घर में रहते समय उससे सदा लड़ते झगड़ते रहे हों, उसे सदा कोसते रहे हों परन्तु जब वह श्रेय का प्राप्त होकर साधना के पथ पर चलने का उपक्रम करता है, तब उनका समस्त प्यार-दुलार उमड़ पड़ता है और वे उसे अनेक तरह से संसार में रोकने का प्रयत्न करते हैं।

उस समय प्रिय और अप्रिय सभी परिजन उसे समझाते हैं कि तू हमारे जीवन का आधार है। हमने सदा तुम्हारे जीवन का एवं दु.ख-सुख का ध्यान रखा है। तुम्हें योग्य बनाने के लिए सब तरह का प्रयत्न किया है। परन्तु, जब हमारी सेवा करने का अवसर उपस्थित हुआ, तब तुम हमें छोड़कर जा रहे हो। क्या यही तुम्हारा धर्म है? कर्त्तव्य है? ज़रा गभीरता से सोचो-समझो?

इस तरह के आक्रन्दन भरे शब्द दुर्बल मन वाले साधक को विचलित कर देते हैं। उनके अनुराग के सामने उसका वैराग्य शरद् ऋतु के बादलों की तरह उड जाता है। इसलिए महापुरुषों ने ऐसे समय में दृढ़ रहने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति मोह के प्रबल झोकों से भी विचलित नहीं होता, वही सयम मे सलग्न रह सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक माता-पिता आदि परिजनों का तिरस्कार करके घर से भाग जाए, बुद्ध की तरह बिना आज्ञा प्राप्त किए छुपकर घरसे भाग निकले या उन्हें परेशान करके, दुःख एवं कष्ट देकर आज्ञा प्राप्त करे। इसका तात्पर्य इतना हो है कि वह अपने सद्‌विचारों पर स्थित रहता हुआ, प्रेम एव स्नेह से परिजनों को समझाकर, उनकी शकाओं का निराकरण करके आज्ञा प्राप्त करे। यह ठीक है कि यदि वैराग्य की कसौटी के लिए उसे किसी तरह का कष्ट दिया जाए तो वह उसे समभाव पूर्वक सहकर उसमे उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करे, परन्तु अपनी तरफ से उन्हें कष्ट देने का प्रयत्न न करे।

इस तरह त्याग-वैराग्य एव ज्ञान के द्वारा परिजनों के मोह आवरण को दूर करके अपने पथ को प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करे। ऐसे विवेकनिष्ठ साधक ज्ञान एव त्याग-वैराग्य के द्वारा सदा अभ्युदय की ओर बढ़ते रहते हैं और एक दिन समस्त कर्म बन्धनों से उन्मुक्त हो कर अपने ध्येय को, लक्ष्य को पूरा कर लेते हैं।

"त्तिवेमि" की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

प्रथम उद्देशक समाप्त

षष्ठ अध्ययन—धुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में मोह पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि मोह विजय से कर्मों की निर्जरा होती है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में कर्म निर्जरा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइ कुसीला ॥१७८॥

छाया— आतुरं लोकमादाय त्यक्त्वा पूर्वसंयोगं हित्वा उपशमं उषित्वा ब्रह्मचर्ये वसुः वा अनुवसुः वा ज्ञात्वा धर्मं यथा-तथा अथैके तं पालयितुं न श-क्नुवन्ति कुशीलाः।

पदार्थ—लोयं—माता-पिता आदि। आउरं—स्नेह राग तथा काम राग से आतुर लोगों को। आयाए—ज्ञान से जानकर और। पुव्वसंजोगं—फिर माता-पिता आदि के पूर्व संयोग को। चइत्ता—छोड़कर। उवसमं—उपशम को। हिच्चा—ग्रहण कर के तथा। बंभचेरंसि—ब्रह्मचर्य में। वसित्ता—बस कर। वसु—वीतराग या साधु। वा—अथवा। अणुवसु—साधु या श्रावक। धम्मं—धर्म को। अहातहा—यथार्थ रूप से। जाणित्तु—जानकर भी मोहोदय से। अहेगे—कई एक। कुसीला—कुत्सित शील वाले व्यक्ति। तं—उस धर्म का। णाचाइ—पालन नहीं कर सकते।

मूलार्थ—स्नेह राग में आसक्त माता-पिता आदि के स्वरूप को जान कर, पूर्वसंयोग माता-पिता के सम्बन्ध को छोड़कर, उपशम को प्राप्त कर। ब्रह्मचर्य में बसकर, साधु अथवा श्रावक यथार्थ रूप से धर्म को जानकर भी मोहोदय से कुछ कुशील बुरे आचार वाले व्यक्ति उस धर्म का पालन नहीं कर सकते।

हिन्दी विवेचन

कुछ व्यक्ति श्रुत और चारित्र धर्म का यथार्थ स्वरूप समझकर साधना के पथ पर चलने का प्रयत्न करते हैं। उस समय मोह एवं राग में आसक्त एवं आतुर व्यक्ति उन्हें उस मार्ग से रोकने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, प्रबल वैराग्य के कारण वे पारिवारिक बन्धन से मुक्त होकर संयम साधना मे प्रविष्ट होते हैं। ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने वाले मुनि या श्रावक के व्रतों के परिपालक श्रमणोपासक धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसका परिपालन करते हैं। परन्तु, कुछ व्यक्ति धर्म के स्वरूप को जानते हुए भी मोहोदय के कारण साधना पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण एवं श्रमणोपासक दोनों मोक्ष मार्ग के साधक हैं। श्रमणोपासक पूर्णत त्यागी न होने पर भी मोक्ष मार्ग का आराधक है। क्योंकि उसका लक्ष्य एव ध्येय वही है, जो साधु का है। अत आत्म विकास का मार्ग दोनों के लिए उपादेय है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह मोह से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक महाव्रत या अणुव्रत रूप धर्म का शुद्ध पालन करे।

'वसु' और 'अनुवसु' शब्द का वृत्तिकार ने क्रमश वीतराग एवं सराग अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त उक्त शब्दों से श्रमण—साधु एव श्रमणोपासक—श्रावक अर्थ भी ग्रहण किया गया है।

जो व्यक्ति सयम को स्वीकार करके फिर उससे भ्रष्ट हो जाता है, उस की क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुञ्छणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए ॥१७९॥

छाया—वस्त्र पतद्ग्रह कम्बलं पादपुञ्छनकं व्युत्सृज्य अनुपूर्वेण अनाधिसहमानाः परीषहान् दुरधिसहनीयान् कामान् ममायमानस्य इदानी मुहूर्तेन वा अपरिमाणाय भेद. एवं स अन्तरायिकैः कामैः आकेवलिकैः अवतीर्णा

कर देते हैं अर्थात् वे भोगों से कभी भी तृप्त नहीं होते हैं।

हिन्दी विवेचन

साधना का पथ फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग है। त्याग के पथ पर बढ़ने वाले साधक के सामने अनेक मुसीबतें, कठिनाइयां एवं परेशानियां आती हैं। उसे प्रत्येक पग पर परीषहों के शूल बिछे मिलते हैं। कभी समय पर अनुकूल भोजन नहीं मिलता, तो कभी अनुकूल पानी की कमी रह जाती है। कभी ठहरने के लिए व्यवस्थित मकान उपलब्ध नहीं होता, तो कभी ठीक शय्या नहीं मिलती। इसी प्रकार गर्मी-सर्दी, वर्षा, भोगोपभोग आदि अनेक परीषह सामने आते हैं। इस प्रकार साधना का मार्ग परीषहों से भरा-पूरा है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है— 'श्रेयस्कर—कल्याणप्रद मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं।' उन पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

परन्तु, कुछ साधक परीषहों के प्रबल थपेड़ों को सहन नहीं कर सकते। मोहोदय के कारण वे एकदम फिसल जाते हैं और पथ भ्रष्ट होते समय लोक भय एवं लज्जा का भी त्याग कर देते हैं। इस तरह वे विवेक विकल साधक दुर्लभता से प्राप्त चिन्तामणि (संयम) रत्न को खो देते हैं। वे संयम का त्याग कर फिर से गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। कुछ साधक महाव्रतों का त्याग कर देते हैं, परन्तु देशव्रत से नहीं गिरते। कुछ साधक चारित्र व्रतों से गिर कर भी दर्शन-सम्यक्त्व से नहीं गिरते। परन्तु, कुछ साधक दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय में आसक्त होकर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

वे भोगेच्छा को पूरी करने के लिए संयम का परित्याग करते हैं और रात-दिन भोगों में आसक्त रहते हैं, फिर भी उनकी भोगेच्छा पूरी नहीं होती। क्योंकि इच्छा, तृष्णा एवं कामना अनन्त है, अपरिमित है और जीवन या आयु सीमित है। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति सदा अतृप्त ही रहता है। मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उसकी आकांक्षाएं, तृष्णाएं एवं वासनाएं जागृत ही रहती हैं और वह इन्हीं में गोते लगाते हुए अपनी आयु को समाप्त कर देता है और उस वासना से आबद्ध कर्मों के अनुसार संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

अतः साधु को विषय-वासना के प्रवाह में नहीं बहना चाहिए और परीषहों के समय भी अडिग एवं स्थिर रहना चाहिए, ऐसे साधु के जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्–अहेगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढ़े सव्वं गिद्धिं परिन्नाय, एस पणए महामुणी, अइअच्च सव्वओ संगं, न महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सिं जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुण्डे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अदुवा पकत्थ अतहेहिं सद्दफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणा ॥१८०॥

छाया—अथैके धर्ममादाय आदानप्रभृतिषु प्रणिहिताः चरेयुः अप्रलीयमानाः दृढाः सर्वां गृद्धिं परिज्ञाय एष प्रणतः महामुनिः अतिगत्य सर्वतः संगं न मम अस्तीति इति एकोऽहं अस्मिन् यतमानः अत्र विरतः अनगारः सर्वतः मुण्डो रीयमाणो योऽचेलः पर्युषितः संतिष्ठते अवमौदर्ये स आक्रुष्टो वा हतो वा लुञ्चितो वा पलितं कर्म प्रकथ्य अथवा प्रकथ्य अतथ्यैः शब्दस्पर्शैः इति संख्याय एकतरान् अन्यतरान् अभिज्ञाय तितिक्षमाणः परिव्रजेत् ये च हारिणो ये च अहारिणः ।

पदार्थ—अहेगे—इसके अनन्तर कई एक। धम्ममायाय—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। आयाणप्पभिइसु—धर्मोपकरणादि से युक्त। पणिहिए—परीषहों के सहन करने वाले। चरे—सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म का आचरण करें या करते हैं। अप्पलीयमाणे—माता-पिता आदि में अनासक्त। दढे—संयमादि में दृढ़। सव्वं—सर्व। गिद्धिं—भोगाकांक्षा को। परिन्नाय—ज्ञ परिज्ञा से जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर, उसको छोड़ देवे। एस—वह श्रमण निष्पाप का परित्यागी। पणए—संयम में अथवा कर्म धुनने में प्रवृत होता है, अतः वह। महामुणी—महामुनि होता है फिर। संगं—संग को। सव्वओ—सर्व प्रकार से। अइअच्च—अतिक्रम करके—जिस प्रकार से भावना भावे। न महं अत्थित्ति—इस संसार में मेरा कोई नहीं है। इय—इस प्रकार से। एगो अहं—मैं अकेला हूं। अस्सिं—इस जिन प्रवचन में। जयमाणे—दशविध प्रकथित सामाचारी में यत्न करता हुआ। इत्थ—इस जिन शासन में। विरए—सावद्यानुष्ठान से विरक्त होता है। अणगारे—वह अनगार। सव्वओ—सर्व प्रकार से।

मुंडे–द्रव्य और भाव से मुंडित होकर। रीयते–विचरता हुआ। जे–जो। अचेले–अल्पवस्त्र से। परिवुसिए–संयम मार्ग में विचरने वाला। अमोयरियाए–ऊनोदरी तप में। संचिक्खइ–भली प्रकार से स्थित होता है। से–वह–भिक्षु। आकुट्ठे–वचन से आक्रोशित हुआ। वा–अथवा। हए–दण्डादि से ताडित हुआ। वा–अथवा। लुंचिए–केशोत्पाटनादि से लुंचित हुआ। वा–अथवा। पलियं पकत्थ–पूर्वकृत दुष्कृत्यों को उद्देश्य करके कोई उसकी निन्दा करता है। अदुवा–अथवा। अतहेहिं–अयथार्थ वचनों से, यथा—तू चोर है, दुराचारी है, इत्यादि। सद्द–इस प्रकार के असत् शब्दों से। फासेहिं-अथवा शस्त्रादि के स्पर्शों से दुःख देता है, तब मुनि। इय–इस प्रकार से विचार करता है कि यह सब मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है। संखाए–इस प्रकार विचार कर-जानकर। तितिक्खमाणे–कष्ट को सहन करता हुआ। परिव्वए–संयम में विचरे, तथा। एगयरे–अनुकूल परीषहों को। अन्नयरे–प्रतिकूल परीषहों को। अभिन्नाय–जानकर संयम मार्ग में ही विचरे। य–और। जे–जो परीषह। हिरी–लज्जा-पुरस्कारादि मन को प्रसन्न करने वाले। य–और। जे–जो परीषह। अहिरीमाणा–मन को अप्रसन्नता देने वाले, तथा। हिरी–जो परीषह लज्जा रूप हैं–याचना एवं अचेलादि रूप हैं, तथा जो। अहिरीमाणा–अलज्जा रूप–शीतोष्णादि रूप हैं, उनको सहन करता हुआ–संयम में विचरे।

मूलार्थ—कुछ एक व्यक्ति धर्म को ग्रहण कर, धर्मोपकरणादि से युक्त होकर सयम मार्ग मे विचरते है तथा माता पिता आदि मे अनासक्त होकर सयम मे दृढ और सर्व प्रकार की भोगाकाक्षा को छोड कर सयमानुष्ठान मे प्रयत्नशील होते है।

सयम मार्ग मे चलने से ही वह मुनि कहलाता है। वह सर्व प्रकार के सग को छोड कर–मैं इस ससार मे अकेला हूं, मेरा कोई नही है। इस प्रकार की भावना से आत्मा का अन्वेषण करता है, जिन शासन मे विचरनेका यत्न करता हुआ सावद्य व्यापार से रहित होकर वह अनागार सर्व प्रकार से मुण्डित होकर विचरता है। और अचेल धर्म मे वसा हुआ वह ऊनोदरी तपमे स्थित रहता है तथा वचन से आक्रोशित किया हुआ, दडादि से ताडित, केशोत्पाटनादि से लुञ्चित, किसी पूर्व दुष्कृत्य के कारण निन्दित किया हुआ, अतथ्य शब्दो से पीडित किया हुआ और शस्त्रादि से घायल किया हुआ वह भिक्षु अपने स्वकृत पूर्व कर्मों के फल को विचार कर

शान्त चित्त से संयम मार्ग में विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन में खेद उत्पन्न करने वाले परीषहों को शान्ति पूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसी कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने में सफल होता है।

हिन्दी विवेचन

साधना में निष्ठा एवं सहिष्णुता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा-श्रद्धा के बिना संयम का परिपालन नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणों के साथ संयम-साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना में संलग्न रहे, फिर भी जब तक शरीर है तब तक कुछ उपकरणों की आवश्यकता रहती ही है। परन्तु वह उन उपकरणों को भोग—विलास की दृष्टि से नहीं रखता केवल साधना में सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अत उसके उपकरण मर्यादित सीधे-सादे एवं साधना में तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्योंकि वेश-भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग-विलास के समय की पोशाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन में स्फूर्ति के स्थान में शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नहीं समझेगा। सैनिक के लिये उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोशाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एवं त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एवं सात्त्विक वेश भूषा होनी चाहिए। इस लिए आगम में साधु के लिए मुख-वस्त्रिका रजोहरण, चद्दर एवं चोलपट्टक (धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणों तक ही सीमित नहीं है। उपकरण साधना में सहायक है, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर में स्थित राग-द्वेष काम क्रोध तृष्णा-आसक्ति आदि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। अत साधक को प्रत्येक परिस्थिति में समभाव को बनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन-नमस्कार कर तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एवं प्रताड़न करे तो रुष्ट एवं क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओं में एक रूप रहना चाहिए और दोनों व्यक्तियों के लिए एक समान कल्याण की भावना रखनी चाहिए। यही साधुत्व की साधना है जिसके द्वारा वह कर्मों की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त अचेलक शब्द में 'अ' अव्यय का पूर्णत निषेध अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है। यहां उसका स्वल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है। अत अचेलक

शब्द का अर्थ बिल्कुल नग्न नहीं प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है— 'अचेल— अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।'

'ओमोयरियाए संचिक्खाइ' का अर्थ है -साधु को ऊनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर मे आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की भली-भांति आराधना नहीं कर सकता है। अत रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणिक एव सात्विक आहार भी भूख से थोड़ा खाना चाहिए।

साधना के विषय मे कुछ विशेष बाते बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो! णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे-आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि ॥१८१॥

छाया—त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् समितदर्शनः भो! एते नग्नाः उक्ताः ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उत्तरवादः इह मानवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषां एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवाः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टः धीरः अति सहस्व ? इति ब्रवीमि।

पदार्थ—चिच्चा—छोडकर। सव्व—सव। विसुत्तिय—परीषहों के सहन करने की शंका को। फासे—परीषहों के स्पर्शों—परीषहजन्य कष्टों को सहन करे। समियदसणे—

समित दर्शन अर्थात् जो सम्यग् दृष्टि है, वह सम्यक् प्रकार से परीषहों को सहन करे। मो!—यह आमगन्ध धर्म में है अतः हे लोगो! एए—ये परीषहों को सहन करने वाले। नगिणा—नग्न। वुत्ता—कहे गये हैं। जे—जो। लोगंसि—लोक में। अणागमणधम्मिणो—दीक्षा ले कर घर में वापिस नहीं आने वाले। आणाए—आज्ञा। मामगं—मेरा। धम्मं—धर्म है, इस प्रकार से धर्म का सम्यक्तया पालन करे। एस—यह। उत्तरवाए—उत्कृष्ट वाद। इह—इस मनुष्य लोक में। माणवाणं—मनुष्यों का। वियाहिए—कथन किया गया है, और। इत्थोवरए—कर्म नष्ट करने के उपाय संयम में रत होकर। तं—आठ प्रकार के कर्मों का। झोसमाणे—क्षय करता हुआ संयम में विचरे। आयाणिज्जं—आयाणीय कर्म की परिण्णाय—मूल तथा उत्तर प्रकृतियों को जानकर फिर। परियाएण—संयम पर्याय से उनको। विगिंचइ—क्षय करता है। इह—इस प्रवचन में। एगेसिं—कई एक हलुकर्मी जीवों को। एगचरिया—एकाकी विहार प्रतिमा। होइ—होती है। तत्थियरा—उस एकाकी विहार प्रतिमा में अन्य सामान्य साधुओं से विशिष्टता होती है। इयरेहिं—इतर अन्य। कुलेहिं—कुलों में सुद्धेसणाए—शुद्धएषणा से। सव्वेसणाए—सर्व प्रकार के दोषों से रहित होने से—सर्वेषणा से पालन करे, अतः। मेहावी—बुद्धिमान। परिव्वए—संयम मार्ग में विचरे अर्थात् संयम में स्थिर रहे। सुब्भिं—इतर कुल में यदि सुगन्ध वाला आहार मिले। अदुवा—अथवा। दुब्भिं—दुर्गन्ध युक्त आहार मिले तो उसमें राग द्वेष न करे। अदुवा—अथवा। भेरवा—श्मशानादि में यदि राक्षसादि के भयानक शब्द हों तो उन्हें सहन करे तथा। भेरवा—भयोत्पन्न करने वाले। पाणा—प्राणी। पाणे—अन्य प्राणियों को। किलेसंति—पीड़ित-दुःखी करते हैं, अतः हे शिष्यो! ते—उन। फासे—दुःख रूप स्पर्शों से। पुट्ठो—स्पृष्ट हुआ फिर उन स्पर्शों को। धीरे—तू धैर्यवान बन कर। अहियासेज्जासि—सहन कर। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे शिष्यो! परीषहों के सहन की शंका को सर्वथा छोड़ कर समित दर्शन—सम्यग् दृष्टि सम्पन्न होने को आम नग्नता कहते हैं जो इस मनुष्य लोक में दीक्षित होकर पुनः घर में आने की अभिलाषा नहीं रखते। इस मनुष्य लोक में यह उत्कृष्ट वाद कथन किया गया है कि भगवान की आज्ञा ही मेरा धर्म है। इस जिन शासन में संलग्न व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मों का क्षय करता हुआ, कर्मों के भेदों को जानकर संयम पर्याय से कर्म क्षय करता है। इस प्रवचन में कोई एक हलुकर्मी जीव एकाकी विहार प्रतिमा में प्रवृत्त हो जाते हैं, नाना प्रकार के अभिग्रहों से युक्त हो जाते हैं अतः

वह सामान्य मुनियो से विशिष्टता रखता है, अज्ञात कुलो मे निर्दोष तथा एषणिक भिक्षा को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह बुद्धिमान साधक सयमवृत्ति का पालन करता है, किन्तु यदि उसे अज्ञात कुलो मे सुगन्ध युक्त या दुर्गंध युक्त आहार मिला है; तो वह उसमे राग-द्वेष न करे। यदि एकाकी प्रतिमा वाला भिक्षु किसी श्मशानादि,स्थान पर ठहरा हुआ है और वहां पर यक्षादि के भयानक शब्द सुनाई पडे, तो उसे स्ववृत्ति से विचलित नही होना चाहिए। यदि व्याघ्रादि भयानक प्राणी, अन्य प्राणियो को सताप दे रहे हो या वे हिंसक जन्तु मुनि पर आक्रमण कर रहे हो, तो वह उन दुःख रूप स्पर्शों को शान्ति पूर्वक सहन करे। तात्पर्य यह है कि मोक्षाभिलाषी जीव को यदि किसी प्रकार के हिंसक प्राणी कष्ट दें, तो वह उन कष्टो-परिषहो को धैर्य पूर्वक सहन करने में तत्पर रहे। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सदा सहिष्णु बना रहे। वह अपनी साधना का पूरी निष्ठा के साथ पालन करे। वह अपने सयम पथ पर दृढ़ता से चलता रहे और वीतराग द्वारा उपदिष्ट धर्म एव आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करे। वह यह विचार करे कि दुनिया में धर्म के सिवाय कोई भी पदार्थ अक्षय नहीं है। धर्म ही कर्म मल को दूर करके आत्मा को शुद्ध करने वाला है। अत हिंसा आदि समस्त दोषों का त्याग करके जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार, वस्त्र-पात्र आदि स्वीकार करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करे। परन्तु, तीर्थंकर भगवान की आज्ञा के विपरीत आचरण न करे।

इस तरह सयम-साधना में संलग्न रहे और उक्त समय मे आने वाले अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कोई दुष्ट व्यक्ति उस पर प्रहार भी करे तब भी वह उसके प्रति द्वेष न करे, मन में भी घृणा एव नफरत का भाव न रखे। यदि कभी श्मशान आदि शून्य स्थानों मे ध्यान लगा रखा हो और उस समय कोई हिंसक पशु, मनुष्य या देव कष्ट दे, तब भी अपने आत्म चिन्तन का त्याग न करे और उनके प्रति क्रूर भाव भी न लाए। और तो क्या, यदि कोई हिंसक पशु या मनुष्य आदि उसके शरीर

का भी नाश करता हो, तब भी उसे बुरा-भला न कहकर उस वेदना को यह समम समभाव पूर्वक सहन करे कि यह शरीर नाशवान है और मेरी आत्मा अविनाशी इस शरीर के नाश होने पर भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अ एवं अशरण भावना के द्वारा अपने शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्म चिन्तन का बनाने का प्रयत्न करे। इस तरह समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला मा राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके शीघ्र ही वीतराग पद को प्राप्त करके सिद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन—धुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे कर्म निर्जरा की बात कही है। कर्म की निर्जरा अनासक्ति एव सहिष्णुता पर आधारित है। अत. प्रस्तुत उद्देशक में बताया है कि वस्त्र आदि के फट जाने पर या अनुकूल वस्त्र न मिलने पर मन में सवेदन नहीं करे। परन्तु, अनासक्त भाव से परीषहों को सहन करते हुए सयम का पालन करे। इसी का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ--परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ. जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं ॥१८२॥

छाया—एतत् खु मुनि आदानं सदा स्वाख्यातधर्मा विधूतकल्पः निर्झोषयित्वा योऽचेलः पर्युषितः तस्य (ण) भिक्षो नैवं भवति परिजीर्णं मे वस्त्रं, वस्त्रं याचिष्ये, सूत्रं याचिष्ये, सूचिं च याचिष्ये सन्धास्यामि सेविष्यामि, उत्कर्षयिष्यामि व्युत्कर्षयिष्यामि परिधास्यामि, प्रावरिष्यामि, अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयोऽचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति तेज स्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशक स्पर्शाः स्पृशंति, एकतरान् अन्यतरान् विरूप रूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेल लाघवं आगमयन् तप तस्य अभिसमन्वागतं भवति। यथा इदं भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वात्मना (सर्वतया) सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्। एवं तेषां महावीराणां चिर रात्रं पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणानां द्रव्याणां पश्य! अधिसोढम्।

पदार्थ—एयं—यह पूर्वोक्त। खु—निश्चय अथवा वाक्यालंकार अर्थ में है। आयाणं—कर्म ग्रहण करने के कारण धर्मोपकरण के अतिरिक्त उपधि का। निज्झोसइत्ता—त्याग कर देता है। मुणी—वह मुनि है तथा जो। सया—सदा। सुयक्खायधम्मे—सुन्दर धर्म वाला है। विधूयकप्पे—जिसने सम्यक् प्रकार से आचार को धारण किया है, वास्तव में वही मुनि कर्म क्षय कर सकता है। जे—जो साधु। अचेले—अल्प वस्त्र वाला। परिवुसिए—संयम में ठहरा हुआ है। णं—वाक्यालंकार में है। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु को। नो एवं भवइ—यह नहीं होता कि। मे—मेरा। वत्थे—वस्त्र। परिजुण्णे—सर्व प्रकार से जीर्ण हो गया है, अतः मैं। वत्थं—नूतन वस्त्र की। जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर उसके सीने के लिए। सुत्तं—सूत की। जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर। सुइं—सूई की। जाइस्सामि—याचना करूंगा फिर। संधिस्सामि—उस वस्त्र का सन्धान करूंगा, फिर। सीविस्सामि—फटे हुए वस्त्र को सीऊंगा। उक्कसिस्सामि—या छोटे वस्त्र के साथ अन्य वस्त्र जोड़ कर उसे लम्बा करूंगा, फिर। वुक्कसिस्सामि—अथवा बड़े वस्त्र को फाड़ कर छोटा करूंगा। परिहिस्सामि—फिर वस्त्र धारण करूंगा। पाउणिस्सामि—शरीर को आच्छादित करूंगा। (इस प्रकार के अपध्यान—जो कि आर्तध्यान को उत्पन्न करने वाले हैं—उस मुनि के नहीं होते)। अदुवा—अथवा। तत्थ—उस अचेलत्व में। परिक्कमंतं—पराक्रम करते हुए। अचेलं—अचेलक मुनि को। भुज्जो—फिर। तणफासा—तृण के स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। सीयफासा—शीत के स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। तेउफासा—उष्णता के स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। दंसमसगफासा—डांस-मच्छर के स्पर्श

फुसति—स्पर्शित होते हैं। एगयरे—उनमे से कोई एक परीषह, मन्द या तीव्र स्पर्श वाले हैं, तथा। अन्नयरे—मे से कई अन्य परीषह हैं, तथा। विरूवरूवे—नाना प्रकार के परीषहो के। फासे—स्पर्शों को। अचेल—वस्त्र से रहित या अल्प वस्त्र वाला भिक्षु। अहियासेइ—सहन करे। लाघव—लघु भाव को। आगममाणे—जानता हुआ। से—वह भिक्षु। तवे—काय क्लेशादि तप मे। अभिसमन्नागए—युक्त। भवइ—होता हैं अर्थात् सुधर्मास्वामी कहते हैं कि वह काय क्लेशादि तप को सहन करने वाला होता है। जहेयं—जिस प्रकार से यह विषय कहा गया है वह। भगवया—भगवान ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। तमेव—उपकरण और आहार की लाघवता को। अभिसमिच्चा—विचार कर। एव—अवधारणा अर्थ में है। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्वताए—सर्वात्मा से। समत्तमेव—सम्यक् प्रकार से। समभिजाणिज्जा—जाने। एवं—इस प्रकार। तेसिं—उन। महावीराण—महावीरो का यह आचार है। चिरराय—चिर काल पर्यन्त। पुव्वाइ—पूर्वोक्त वासाणि—और वर्षो तक। रीयमाणाण—सयम मे विचरते हुओ का यह आचार हैं। पास—हे शिष्य! तू देख। दवियाण—मोक्ष मार्ग पर चलने वाले। अहियासिय—व्यक्तियों के लिए ये परीषह सहन करने योग्य हैं।

मूलार्थ—इन पूर्वोक्त धर्मोपकरणो के अतिरिक्त उपकरणो को कर्मबन्ध का कारण जानकर जिसने उनका परित्याग कर दिया है, वह मुनि सुन्दर धर्म को पालन करने वाला है। वह आचार सपन्न अचेलक साधु सदा-सर्वदा सयम मे स्थित रहता है। उस भिक्षु को यह विचार नहीं होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है। अतः मैं नए वस्त्र की याचना करूंगा, या सूई धागे को याचना करूगा और फटे हुए वस्त्र को सीऊगा या छोटे से बडा या बडे से छोटा करूगा, फिर उससे शरीर को आवृत करूंगा। अथवा उस अचेलकत्व मे पराक्रम करते हुए मुनि को तृणो के स्पर्श चुभते हैं, उष्णता के के स्पर्श स्पर्शित करते है और दशमशक के स्पर्श स्पर्शित करते हैं, तो वह एक या अनेक तरह के परीषहजन्य स्पर्शों को सहन करता है। अचेलक भिक्षु लाघवता को जानता हुआ कायक्लेश तप से युक्त होता है। यह पूर्वोक्त विषय भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया है। हे शिष्य! तू उस विषय को सम्यग् रूप से जानकर उन वीर पुरुषो की तरह—जिन्होने पूर्वों या वर्षों तक सयम मार्ग मे विचरकर परीषहो को सहन किया है, तू

भी अपनी आत्मा में परीषहों को सहन करने की वसी ही शक्ति प्राप्त करें। इसका निष्कर्ष यह है कि मुनि के हृदय में परीषहों को सहन करने की तीव्र भावना होनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मुनि को साधक अवस्था में कुछ उपकरण रखने पड़ते हैं। यह बात अलग है कि उपकरणों की संख्या में कुछ अन्तर रहता है। जैसे जिनकल्पी मुनि—जो जंगल एवं पर्वतों की गुफाओं में रहते हैं, के लिए मुख वस्त्रिका और रजोहरण दो उपकरण ही पर्याप्त हैं, तो स्थविरकल्पी के लिए १४ उपकरण बताए गए हैं। इनमें भी कमी की जा सकती है। इन उपकरणों में कमी करना तपश्चर्या है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है। अतः साधक को कषायों के त्याग के साथ-साथ यथाशक्य उपकरणों में कमी करने के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मुनि का मूल उद्देश्य आत्म विकास है। आत्म विकास के लिए ही वह आहार-पानी एवं वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को स्वीकार करता है। ये उपकरण केवल संयम साधना के साधन हैं, न कि साध्य। अतः वह उपकरणों को रखते हुए भी उनकी विशेष चिन्ता नहीं करता और न उनमें आसक्त ही रहता है। उसका मन एवं उसका चिन्तन सदा-सर्वदा संयम परिपालन में ही संलग्न रहता है। क्योंकि, वह इस बात को जानता है कि संयम से ही कर्मों का नाश होगा और कर्म क्षय होने पर ही आत्मा का विकास हो सकेगा। अतः वह सदा संयम पालन में ही जागरूक रहता है।

कभी वस्त्र आदि के फट जाने पर तथा समय पर शुद्ध—एषणिक वस्त्र के न मिलने पर वह उसके लिए चिन्ता नहीं करता आर्त-रौद्र ध्यान नहीं करता। ऐसे समय में भी वह समभाव पूर्वक अपनी साधना में संलग्न रहता है। वह वस्त्र की कमी के कारण होने वाले शीत, दंश-मशक एवं तृण स्पर्श के परीषहों को बिना किसी खेद के सहन करता है। वह अपने मन में सोचता—विचारता है कि भगवान महावीर ने इसी धर्म का या समभाव की साधना करने का उपदेश दिया है और अनेक महापुरुषों ने वर्षों एवं पूर्वों† तक इस शुद्ध धर्म एवं संयम का परिपालन करके आत्मा को कर्मों से सर्वथा अनावृत कर लिया है। अतः मुझे भी इसी धर्म का पालन करके निष्कर्म बनना

---

†८४ लाख वर्षों को ८४ लाख वर्षों से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है उतने वर्षों का एक पूर्व होता है अर्थात् ८४ लाख × ८४ लाख = ७० लाख करोड़ ५६ हजार करोड़ वर्ष (७ ५६)।

चाहिए। इस प्रकार साधक को समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते हुए संयम में सलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'अचेलक' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग अचेलक शब्द का वस्त्र रहित अर्थ करते हैं। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र मे 'अ' अव्यय पर्ण निषेध के अर्थ मे नहीं, स्वल्प के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि अज्ञ का अर्थ है—स्वल्प ज्ञान वाला, न कि ज्ञान शून्य। इसी प्रकार अचेलक शब्द का तात्पर्य है—अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि। यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वल्प वस्त्र भी सयम—साधना के साधन हैं, साध्य नहीं। अत. साधक इनमें आसक्त नहीं रहता। इन सब उपकरणों मे अनासक्त रहते हुए वह सदा सयम मे सलग्न रहता है और आने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है।

परीषहों को सहन करने से आत्मा मे किस गुण का विकास होता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आगयपन्नाणाणं किसा बाहवो भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिन्नाय. एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि ॥१८३॥

छाया—आगतप्रज्ञानाना कृशाः बाहवः भवन्ति, प्रतनुके च मासशोणिते, विश्रेणी कृत्वा परिज्ञाय, एष तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यात इति ब्रवामि।

पदार्थ—आगयपन्नाणाणं—जिनको परीषहों के सहन करने से उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति होगई है, उनके। बाहवो—भुजाए। किसा—कृश। भवंति—होती हैं अथवा। बाहवो—बाधा-पीडा। किसा—कृश। भवति—होती हैं। य—और, मनके दृढ होने से। मससोणिए—मास-शोणित रुधिर। पयणुए—थोडा हो जाता है। विस्सेणि—ससार रूप श्रेणि—जिसकी कषाय रूप सन्तति है, उसको क्षमादि के द्वारा नष्ट। कट्टु—करके तथा। परिन्नाय—समत्व भावना से जानकर। एस—उक्त लक्षण वाला मुनि। तिण्णे—ससार समुद्र को तैर गया है। मुत्ते—सब सग से मुक्त हो गया है। विरए—सर्व सावद्यानुष्ठान से रहित हो गया है। वियाहिए—ऐसा कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—प्रज्ञावान मुनि की परीषहो को सहन करने से भुजाए कृश हो जाती हैं, मास और रुधिर थोडा हो जाता है। वह ससार परिभ्रमण को

बढ़ाने वाली रागद्वेष रूप संतति को नष्ट करके और समत्व भाव एवं पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर संसार समुद्र को पार कर जाता है। वह सर्व संसर्ग से छूट जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

संसार में दो प्रकार का परिवर्तन होता है— १ शरीर और २-भव भ्रमण। शरीर का विकास प्रकाम-गरिष्ठ एवं पौष्टिक भोजन और आराम तलबी पर आधारित है और भव भ्रमण का प्रवाह राग-द्वेष एवं विषय-वासना के आसेवन से बढ़ता है। मुनि का जीवन त्याग का जीवन है। वह भोजन करता है, वस्त्र पहनता है, मकान में रहता है, फिर भी इनमें आसक्त नहीं रहता। क्योंकि, वह इन्हें केवल संयम पालन के साधन मानता है। अतः साधना को शुद्ध रखने के लिए वह सादा एवं सात्विक भोजन या वस्त्रादि लेकर समभाव से संयम का पालन करता है और कभी समय पर यथाविधि शुद्ध—एषणिक आहार आदि उपलब्ध न होने पर भी वह किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता है। वह इन सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है। इस प्रकार अनेक परीषहों को सहन करने से उसके शरीर का मांस सूख जाता है। उसका शरीर कृश—दुबला-पतला हो जाता है परन्तु सहन शक्ति के साथ समभाव की धारा प्रवहमान रहने के कारण वह पूर्व बद्ध कर्मों को क्षय करके कर्म के बोझ से भी हल्का हो जाता है। इससे वह जन्म-मरण की परम्परा को परिवर्धित करने वाले राग-द्वेष का क्षय करके अजर अमर पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के संसार-परिवर्तन को समाप्त करके भव सागर से पार हो जाता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान दर्शन एवं चरित्र से संपन्न साधक समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है। इससे उसकी साधना में तेजस्विता आती है और वह संसार परिभ्रमण को घटाता रहता है। इस प्रकार परीषहों को सहन करने से उसकी आत्मा का विकास होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विरयं भिक्खु रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए? संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा

जइया मेहाविणो पंडिया, एव तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्तिबेमि ॥१८४॥

छाया—विरतं भिक्षु रीयमाण चिररात्रोषितमरतिस्तत्र किं विधारयेत्? संदधानः समुत्थितः यथा स द्वीपोऽसदीनः एवं स धर्मः आर्यप्रदेशितः ते अनवकांक्षन्तः प्राणिनोऽनतिपातयन्तः दयिताः (दयिताः) मेधाविनः पण्डिताः, एवं तेषां भगवतोऽनुष्ठानः यथा स द्विजपोतः एवं ते शिष्याः दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—रीयंत—संयम मार्ग पर चलते हुए। विरय—विरत। भिक्खुं—भिक्षु को। चिररातोसिय—जो चिर काल पर्यंत संयम से रहा हुआ है। किं—क्या उसे। तत्थ—संयम के विषय में। अरई—अरति चिन्ता। विधारए—उत्पन्न हो सकती है?

उत्तर—हां, यह कर्म की विचित्रता है, जिसके कारण उसे चिन्ता उत्पन्न हो सकती है, तथा नहीं भी हो सकती है, जैसे कि। संधेमाणे—जो उत्तरोत्तर संयम स्थान में आत्मा को जोडता है, तथा। समुट्ठिए—सम्यक् प्रकार से संयम मार्ग में उपस्थित हुआ है, ऐसे मुनि को अरति किस प्रकार हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती, वह मुनि तो। जहा—जैसे से वह। दीवे असदीणे—असदीन द्वीप जल से सर्वथा रहित होने से डूबते हुए प्राणियों का आश्रयभूत है, इसी प्रकार मुनि भी द्वीप तुल्य-द्वीप के समान अन्य जीवों का रक्षक है। एव—इसी प्रकार। से—वह। धम्मे—धर्म। आरियपदेसिए—आर्य प्रदेशित—तीर्थंकर प्रणीत होने से द्वीप के समान प्राणियों की रक्षा करने वाला है। ते—वे—धर्म के पालने वाले। अणवकंखमाणा—भोगों को न चाहते हुए तथा। पाणे—प्राणियों की। अणइवायमाणा—हिंसा न करते हुए—उपलक्षण से अन्य महाव्रतों का पालन करते हुए। जइया—सर्व जीवों की रक्षा करने से लोगों को प्रिय हैं अथवा सब जीवों के रक्षक हैं। मेहाविणो—मर्यादा में स्थित रहने से मेधावी हैं। पंडिया—पंडित-पापों से दूर रहने वाले हैं। एवं—इसी प्रकार। तेसिं—उनको भगवओ—भगवान वर्द्धमान स्वामी के धर्म में। अणुट्ठाणे—अनुष्ठान-अनुस्थान है अथवा जो भगवान के धर्म में स्थिर चित्त नहीं है, वे उनको धर्म में स्थिर करते हैं—शिक्षा के द्वारा उनकी आत्मा को धर्म में लगाते हैं। जहा—जैसे। से—वह। दिया—द्विज—पक्षी। पोए—अपने पोत—बच्चों का पालन करता है। एव—इसी प्रकार। ते—वे महापुरुष।

बढ़ाने वाली रागद्वेष रूप सन्तति को नष्ट करके और समस्त भाव एवं पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर संसार समुद्र को पार कर जाता है। वह सर्व संसग से छूट जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

संसार में दो प्रकार का परिवर्तन होता है— १-शरीर और २-भव भ्रमण। शरीर का विकास प्रकाम-गरिष्ठ एवं पौष्टिक भोजन और आराम तलबी पर आधारित है और भव भ्रमण का प्रवाह राग-द्वेष एवं विषय-वासना के आसेवन से बढ़ता है। मुनि का जीवन त्याग का जीवन है। वह भोजन करता है, वस्त्र पहनता है, मकान में रहता है, फिर भी इनमें आसक्त नहीं रहता। क्योंकि, वह इन्हें केवल संयम पालन के साधन मानता है। अतः साधना को शुद्ध रखने के लिए वह सादा एवं सात्विक भोजन या वस्त्रादि लेकर समभाव से संयम का पालन करता है और कभी समय पर यथाविधि शुद्ध—एषणिक आहार आदि उपलब्ध न होने पर भी वह किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता है। वह इन सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है। इस प्रकार अनेक परीषहों को सहन करने से उसके शरीर का मांस सूख जाता है। उसका शरीर कृश—दुबला-पतला हो जाता है परन्तु सहन शक्ति के साथ समभाव की धारा प्रवहमान रहने के कारण वह पूर्व बद्ध कर्मों को क्षय करके कर्म के बोझ से भी हल्का हो जाता है। इससे वह जन्म-मरण की परम्परा को परिवर्धित करने वाले राग-द्वेष का क्षय करके अजर अमर पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के संसार-परिवर्तन को समाप्त करके भव सागर से पार हो जाता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान दर्शन एवं चरित्र से संपन्न साधक समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है। इससे उसकी साधना में तेजस्विता आती है और वह संसार परिभ्रमण को घटाता रहता है। इस प्रकार परीषहों को सहन करने से उसकी आत्मा का विकास होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विरय भिक्खु रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए? संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा

में भटकने वाले प्राणियों की द्वीप रक्षा करता है, उसे आश्रय देता है, उसी प्रकार संयमशील साधक सब प्राणियों की दया, रक्षा करता है। सयम सब के लिए अभय प्रदाता है। इससे बढ़कर संसार मे कोई और आश्रय या शरण नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में केशीश्रमण के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने भी यही कहा है कि "संसार सागर में भटकने वाले प्राणी के लिए धर्म द्वीप ही सबसे श्रेष्ठ आश्रय है, उत्तम शरण है*।"

ऐसे संयम-निष्ठ मुनि ही समस्त प्राणियों के रक्षक हो सकते हैं। वे ही भोगासक्त व्यक्तियों को त्याग का मार्ग बताकर उन्हें निवृत्ति पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दे सकते हैं। ऐसे आचार सम्पन्न महापुरुषों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे साधक को तत्त्वों का यथार्थ बोध कराए और ज्ञान के द्वारा उसकी साधना में तेजस्विता लाने का प्रयत्न करें। यदि किसी साधक के पैर लड़खड़ा रहे हैं, मन चल विचलित हो रहा है, तो उस समय आचार्य एव गीतार्थ (वरिष्ठ) साधु को चाहिए कि वह अपने अन्य सब कार्यों को छोड़कर उसके मन को स्थिर करने का प्रयत्न करे। उसे रात-दिन स्वाध्याय कराते हुए, आगम का बोध कराते हुए उसके हृदय में सयम के प्रति निष्ठा जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अगीतार्थ एवं चल-विचल मन वाले शिष्य को सुयोग्य बनाने का दायित्व आचार्य एव सघ के वरिष्ठ साधुओं पर है।

इस प्रकार संयम-निष्ठ एवं सयम में स्थिर हुआ साधक प्राणी जगत के लिए शरण रूप होता है। स्वय संसार सागर से पार होता है और अन्य प्राणियों को भी पार होने का मार्ग बताता है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

*धम्मो दीवो पइट्ठा य सरणमुत्तमं। —उत्तराध्ययन, २३,६३ ।

दिया—दिन। च—और। रातो—रात्रि में। य समुच्चयार्थ में है। अनुपुब्बेण—अनुक्रम से। वाइयं—वाचनादि के द्वारा। सिस्सा—शिष्यों का पालन करते हैं, जिससे कि वे संसार समुद्र से पार होने में समर्थ हों। इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—सावद्य व्यापार से निवृत्त और संयम मार्ग में विचरते हुए भिक्षु—जो चिर काल से संयम में अवस्थित है, को भी क्या अरति उत्पन्न हो सकती है? हां कर्म की विचित्रता के कारण उस भी संयम में अरुचि हो सकती है। परन्तु,संयम निष्ठ मुनि को अरुचि उत्पन्न नहीं होती है उत्कृष्ट संयम में आरमा को जोड़ने वाला सम्यक प्रकार से संयम में यत्नशील मुनि असन्दीन [कभी भी जल से नहीं भरने वाले] द्वीप की तरह सब जीवों का रक्षक होता है या यह तीर्थंकर प्रणीत धर्म द्वीप तुल्य होने से जीवों का रक्षक है। वे साधु भोगेच्छा से रहित एवं प्राणियों के प्राणों का उत्पीडन नहीं करने वाले जगत प्रिय-वल्लभ मेधावी और पंडित हैं। परन्तु, जो भगवान के धर्म में स्थिर चित्त नहीं हैं, ऐसे साधकों को आचार्यादि भी दिन और रात्रि में अनुलोम वाचनादि के द्वारा रत्न त्रय का यथार्थ बोध करवा कर संसार समुद्र से तैरने के योग्य बनाते हैं। इसप्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

आगमों में मोह कर्म को सबसे प्रबल माना है। जिस समय इसका उदय होता है, उस समय यह बड़े-बड़े योगियों को साधना पथ से च्युत कर देता है। इसी बात को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि मोह कर्म के उदय से भी साधक के मन में चिन्ता एवं साधना से घृणा उत्पन्न हो सकती है। अतः इस दुर्भावना को मन में पनपने नहीं देना चाहिए, प्रत्युत उसे तुरन्त निकाल फैंकने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अपने मन को विषय-वासना एवं पदार्थों की आसक्ति से हटाकर संयम में लगाना चाहिए। उसे अपने चिन्तन की धारा को रत्न-त्रय की साधना की ओर मोड़ देना चाहिए। जिससे उसका मन संयम में तथा ज्ञान एवं दर्शन की साधना में संलग्न हो सके। इस प्रकार वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार संयम में संलग्न रहने वाला साधक कभी भी अपने पथ से भ्रष्ट नहीं होता है।

वह संयम संपन्न मुनि सब प्राणियों के लिए आश्रयभूत होता है। जैसे समुद्र

रात्रं.] रात्री मे। य—समुच्चय अर्थ में है। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। तेहिं—उन। महावीरेहिं—तीर्थंकर, गणधर आदि। पन्नाणमतेहिं—प्रज्ञावानों के द्वारा। वाइया—पढाए गए हैं। तेसिंमंतिए—वे शिष्य आचार्यादि के समीप। पन्नाणमुवलब्भ—विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करके बहुश्रुत बनकर, प्रबल मोह के उदय से पुन। उवसम—उपशम भाव को। हिच्चा—छोडकर। फारुसियं—कठोर भाव को। समाइयंति—ग्रहण करते हैं और। बंभचेरसि—ब्रह्मचर्य में-सयम में। वसित्ता—वस कर। आण त—भगवद् आज्ञा को। नोत्ति—नही। मन्नमाणा—मानते हुए। तु—अवधारण अर्थ में है। आघायं—कुशील के विपाक को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय में विचार कर शिक्षक को कठोर वचन बोलते हैं, फिर। एगे—कई एक। समणुन्ना—लोक में प्रामाणिक होकर। जीविस्सामो—जीवन व्यतीत करेंगे, इस आशा से वे शब्द शास्त्र आदि को पढते हैं। निवखमते—दीक्षा लेकर फिर मोह के उदय से। असमवंता—तीन गौरव के वश होकर—मोक्ष मार्ग का अनुसरण न करके। विडज्झमाणा—मान में जलते हुए। कामेहिं—काम भोगो में। गिद्धा—मूर्छित—आसक्त तथा। अज्झोववन्ना—तीन गौरवो में अत्यन्तासक्त होकर। समाहिमाघायं—तीर्थंकर कथित समाधि का। अजोसयता—सेवन न कर के। सत्थारमेव—शास्ता- गुरुजनो को ही। फारुस—कठोर वचन। वयति—बोलते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! कुछ शिष्य तीर्थंकर, गणधर तथा आचार्यादि प्रज्ञावानो के द्वारा रात-दिन पढ़ाये हुए, उनके समीप श्रुतज्ञान को प्राप्त कर के भी प्रबल मोहोदय से उपशम भाव को छोडकर कठोर भाव को ग्रहण करते हैं। वे सयम मे वसकर तीर्थंकर की आज्ञा को न मानते हुए तथा कुशील सेवन से उत्पन्न होने वाले कष्टों को सुनकर और हृदय मे विचार कर भी कई साधु इस आशा से दोक्षा लेकर शब्द शास्त्रादि पढते हैं कि हम लोक मे प्रामाणिक जीवन व्यतीत करेंगे। मोह के प्राबल्य से वे बाल जीव तीन गौरवो के वशीभूत होकर भगवत् कथित मोक्ष मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण न करते हुए अहंकार से जलते है। वे काम-भोगो में मूर्छित, गौरवों में अत्यन्त आसक्त हुए भगवत् कथित समाधिमार्ग का अनुसरण नही करते हैं। यदि कभी गुरुजन उन्हें हित शिक्षा दें तो वे उनको भी कठोर वचन बोलते हैं और उनका तथा शास्त्रो का दोष निकालते है।

हिन्दी विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। निरभिमानता विनय का लक्षण हैं।

षष्ठ अध्ययन—धुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में उपकरणों में कमी करने का उपदेश दिया गया है। उपकरणों में कमी करने अथवा साधना में सहायक आवश्यक उपकरणों से अधिक न रखने के लिए अनासक्त भाव का होना आवश्यक है। इसके लिए गौरव का त्याग करना अनिवार्य हो जाता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में इसी बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एव ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पन्नाणमंतेहिं तेसिमंतिए पन्नाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं नोत्ति मन्नमाणा आघायं तु सुच्चा निसम्म, समणुन्ना जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभवंता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववन्ना समाहिमाघायमजोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥१८५॥

छाया—एवं ते शिष्या दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचितास्तैर्महावीरैः प्रज्ञानवद्भिः तेषामन्तिके प्रज्ञानमुपलभ्य हित्वा उपशमं पारुष्यं समाददति, उषित्वा ब्रह्मचर्ये आज्ञां तां नो इति मन्यमाना आख्यातं तु श्रुत्वा निशम्य समनोज्ञाः जीविष्यामः एके निष्क्रम्य असंभवन्तः विदह्यमानाः कामैर्गृद्धाः अध्युपपन्नाः समाधिमाख्यातमजोषयन्तः शास्तारमेव परुषं वदन्ति।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। ते—वे। सिस्सा—शिष्य। दिया—दिन। य—और।

रात्रि.] रात्री में। य—समुच्चय अर्थ में है। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। तेहिं—उन। महावीरेहिं—तीर्थंकर, गणधर आदि। पन्नाणमतेहिं—प्रज्ञावानों के द्वारा। वाइया—पढाए गए हैं। तेसिमंतिए—वे शिष्य आचार्यादि के समीप। पन्नाणमुवलब्भ—विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करके बहुश्रुत बनकर, प्रबल मोह के उदय से पुन.। उवसम—उपशम भाव को। हिच्चा—छोडकर। फारुसियं—कठोर भाव को। समाइयति—ग्रहण करते हैं और। बंभचेरसि—ब्रह्मचर्य में-सयम में। वसित्ता—वस कर। आण तं—भगवद् आज्ञा को। नोत्ति—नही। मन्नमाणा—मानते हुए। तु—अवधारण अर्थ में है। आघायं—कुशील के विपाक को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय में विचार कर शिक्षक को कठोर वचन बोलते हैं, फिर। एगे—कई एक। समणुन्ना—लोक में प्रामाणिक होकर। जीविस्सामो—जीवन व्यतीत करेंगे, इस आशा से वे शब्द शास्त्र आदि को पढते हैं। निवसमते—दीक्षा लेकर फिर मोह के उदय से। असमवंता—तीन गौरव के वश होकर —मोक्ष मार्ग का अनुसरण न करके। विडज्झमाणा—मान में जलते हुए। कामेहिं—काम भोगों में। गिद्धा—मूर्छित—आसक्त तथा। अज्झोववन्ना—तीन गौरवो में अत्यन्तासक्त होकर। समाहिमाघायं—तीर्थंकर कथित समाधि का। अजोसयता—सेवन न कर के। सत्थारमेव—शास्ता- गुरुजनो को ही। फारुस—कठोर वचन। वयति—बोलते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! कुछ शिष्य तीर्थंकर, गणधर तथा आचार्यादि प्रज्ञावानो के द्वारा रात-दिन पढ़ाये हुए, उनके समीप श्रुतज्ञान को प्राप्त कर के भी प्रबल मोहोदय से उपशम भाव को छोड़कर कठोर भाव को ग्रहण करते हैं। वे सयम मे बसकर तीर्थंकर की आज्ञा को न मानते हुए तथा कुशील सेवन से उत्पन्न होने वाले कष्टो को सुनकर और हृदय मे विचार कर भी कई साधु इस आशा से दीक्षा लेकर शब्द शास्त्रादि पढते हैं कि हम लोक मे प्रामाणिक जीवन व्यतीत करेंगे। मोह के प्राबल्य से वे बाल जीव तीन गौरवो के वशीभूत होकर भगवत् कथित मोक्ष मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण न करते हुए अहंकार से जलते है। वे काम-भोगो में मूर्छित, गौरवो में अत्यन्त आसक्त हुए भगवत् कथित समाधिमार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं। यदि कभी गुरुजन उन्हें हित शिक्षा दें तो वे उनको भी कठोर वचन बोलते हैं और उनका तथा शास्त्रों का दोष निकालते हैं।

हिन्दी विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। निरभिमानता विनय का लक्षण है।

है। अभिमान और विनय का परस्पर मेल नहीं बैठता है। अभिमानी व्यक्ति गुरु का, आचार्य का एवं वरिष्ठ पुरुषों का आदर-सत्कार एवं विनय नहीं कर सकता है। प्रज्ञावान पुरुषों द्वारा आगम का ज्ञान प्राप्त करके भी वह ज्ञान के मद में गुरु के उपकार को भी भूल जाता है। वह उपशम का त्याग करके कठोरता को धारण कर लेता है। उपशम का अर्थ है—विकारों को शान्त करना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। पानी में मिली हुई मिट्टी को उससे अलग करने के लिए उसमें चीजों का निर्मल चूर्ण डालते हैं या फिटकरी फेरते हैं, जिससे मिट्टी नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है। यह द्रव्य उपशम है। आत्मा में उदय भाव में आई हुई कषायों को ज्ञान के द्वारा उपशांत करना भाव उपशम है। जैसे वायु के प्रबल झोंकों से शान्त पानी में लहरें उठने लगती हैं, उसी तरह मोह के उदय से आत्मा में भी विषमता एवं विकारों की तरंगें उछल-कूद मचाने लगती हैं और संयम में स्थित साधु भी तीर्थंकर, आचार्य आदि महापुरुषों की अवज्ञा करने लगता है। वह साता—सुख-शान्ति रस एवं ऋद्धि इन तीन गौरवों के वश में होकर किसी की भी परवाह नहीं करता है और अपने आपको सब से अधिक योग्य समझने लगता है।

वे आगमों का अध्ययन संयम में आने वाले दोषों को दूर करके शुद्ध संयम का परिपालन करने की दृष्टि से नहीं, अपितु केवल अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने एवं दूसरों पर अपना प्रभाव डालने के लिए ही करते हैं। अतः ज्यों ही उनका थोड़ा-सा अध्ययन होता है त्यों ही व एकदम मेंढकों की तरह उछल-कूद मचाने लगते हैं। ऐसे अभिमानी एवं अविनीत शिष्य अपने गुरु एवं अन्य वरिष्ठ पुरुषों की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते हैं।

वे संघ के अन्य साधुओं के साथ भी शिष्टता का व्यवहार नहीं करते हैं। उन्हें भी वे कठोर शब्द बोलते रहते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणु-वयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया ॥१८६॥

छाया—शीलवन्तः उपशान्ताः संख्यया रीयमाणाः अशीला अनुवदतः द्वितीया मन्दस्य बालता।

पदार्थ—सीलमंता—आचार सम्पन्न। उवसंता—उपशांत कषाय वाले। संखाए—ज्ञान पूर्वक। रीयमाणा—संयम में संलग्न साधु को, वे बाल अज्ञानी कहते हैं कि। असीला—

ये साधु दुराचारी हैं। अणुवयमाणस्स – वह उन्हें पार्श्वस्थ आदि भी कहता है। मदस्स – उस मद बुद्धि वाले साधक की यह। विइया – दूसरी। बालया – मूर्खता है।

मूलार्थ—आचार निष्ठ, उपशांत कषाय वाले और ज्ञान पूर्वक संयम में संलग्न साधक को दुराचारी कहना उस मन्द बुद्धि एवं बाल अज्ञानी साधक की दूसरी मूर्खता है।

हिन्दी विवेचन

जीवन का अभ्युदय ज्ञान, आचार एवं कषायों की उपशांतता पर आधारित है। ज्ञान एवं आचार सम्पन्न पुरुष विकारों पर विजय पा सकते हैं। वे उदय में आई हुई कषायों को भी उपशांत कर सकते हैं। अतः ऐसे साधक ही आत्म विकास कर सकते हैं। कुछ व्यक्ति साधना के पथ को स्वीकार करते हैं, परन्तु मोहोदय के कारण वे संयम से गिर जाते हैं। वे साधक अपने दोषों को न देखकर शुद्ध संयम में संलग्न साधकों की अवहेलना करते हैं। वे उन्हें दुराचारी पाखण्डी, मायाचारी एवं कपटी आदि बताकर उनका तिरस्कार करते हैं। इस तरह वे अज्ञानी व्यक्ति संयम का त्याग करके पहली मूर्खता करते हैं और फिर महापुरुषों पर झूठा दोषारोपण करके दूसरी मूर्खता करते हैं। इस प्रकार वे पतन के महागर्त में जा पड़ते हैं।

अतः मुमुक्षु पुरुष को किसी भी संयम-निष्ठ पुरुष की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, नाण-ब्भट्ठा दंसणलूसिणो ॥१८७॥

छाया—निवर्तमाना (उपशान्ता) वैके आचारगोचरमाचक्षते, ज्ञान भ्रष्टाः दर्शनलूषिणः (विध्वंसिनः)।

पदार्थ – एगे – कई एक। नियट्टमाणा वा – संयम से निवृत्त होते हुए या वेश का परित्याग करते हुए। आयारगोयरं – जो आचार का परिपालन करते हैं, वे धन्य हैं। 'आइ-क्खति-ऐसा कहते हैं, वे आचार सम्पन्न मुनियों की निन्दा नहीं करते हैं। परन्तु, जो वेश का त्याग करके या वेश को रखते हुए भी सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन का त्याग कर देते हैं, वे। नाणब्भट्ठा – ज्ञान से भ्रष्ट होते हैं और। दंसणलूसिणो – दर्शन के नाशक होते हैं।

मूलार्थ—कुछ साधक मुनि वेश का त्याग करने पर भी आचार संपन्न

मुनियों का आदर करते हैं वे संयम निष्ठ मुनियों की निन्दा नहीं करते। परन्तु अज्ञानी पुरुष ज्ञान एवं दर्शन-श्रद्धा दोनो के विध्वंसक होते हैं।

हिन्दी विवेचन

ज्ञान दर्शन चारित्र की समन्वित साधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः जीवन विकास के लिए रत्न-त्रय की साधना महत्व पूर्ण है। इनमें ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं, दोनों एक साथ रहते हैं। सम्यग् ज्ञान के साथ सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् दर्शन के साथ सम्यग् ज्ञान अवश्य होगा। परन्तु ज्ञान और दर्शन के साथ चारित्र हो भी सकता है और कभी नहीं भी होता। किन्तु सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् ज्ञान और दर्शन अवश्य होगा। इनके अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता है। सम्यग् ज्ञान के अभाव में चारित्र—भले ही वह आगम में प्ररूपित आचार या क्रिया कांड भी क्यों न हो मिथ्या चारित्र ही कहलाएगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग् ज्ञान युक्त चारित्र का ही महत्त्व है। अतः यदि कोई व्यक्ति चारित्र मोहकर्म के उदय से संयम का त्याग भी कर देता है। परन्तु, श्रद्धा-ज्ञान एवं दर्शन का त्याग नहीं करता है, तो वह संयम से गिरने पर भी मोक्ष मार्ग से सर्वथा भ्रष्ट नहीं होता है। वह अपने विकास पथ से पूर्णतः नहीं गिरता है। वह व्यक्ति संयम का त्याग करने पर भी आचार एवं विचार निष्ठ मुनियों की निन्दा एवं अवहेलना नहीं करता है। वह उन्हें आदर की निगाह से देखता है। उसकी विवेक दृष्टि पूरी तरह बन्द नहीं हुई है। परन्तु जो अज्ञानी है अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन का भी त्याग कर चुके हैं, उन पर 'ततोभ्रष्टस्ततोभ्रष्ट' की कहावत पर्याप्त लागू होती है। वे धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहते हैं और न घाट के। वे अपने जीवन का भी पतन करते हैं और चारित्र-निष्ठ पुरुषों की निन्दा करके उन्हें बदनाम करने का भी प्रयत्न करते हैं तथा अन्य लोगों के मन में उनके प्रति रही हुई श्रद्धा निष्ठा को निकालकर उनको भी पतन के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करते हैं।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— नममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति पुट्ठा वेगे नियट्टन्ति जीवियस्सेव कारणा, निक्खंतंपि तेसिं दुन्निक्खंतं भवइ, बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति,

अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकथे अदुवा पकथे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥१८८॥

छाया—नमन्तो वैके जीवितं विपरिणामयन्ति स्पृष्ठाः वैके निवर्त्तन्ते जीवितस्यैव कारणात् निष्क्रान्तमपि तेषां दुर्निष्क्रान्तं भवति बालवचनीयाः हु ते नराः पौनः पुन्येन जातिं प्रकल्पयन्ति अधः संभवन्तो विद्वासो मन्यमानाः अहमस्मीतिव्युत्कर्षयेत् उदासीनान् परुषं वदन्ति पलितं (अनुष्ठानं) प्रकथयेत् अथवा प्रकथयेद् अतथ्यै तद् (तंवा) मेधावी जानीयाद् धर्मम् ।

पदार्थ—एगे—कई एक साधु । नममाणा—श्रुतज्ञान के लिए भावशून्य नमस्कार करते हुए । जीविय—सयम जीवन का । विप्परिणामंति—नाश करते हैं । वा—अथवा । एगे—कई एक । पुट्ठा—परीषहो के स्पर्श होने पर । नियटंति सयम या लिंग-भेष से निवृत्त हो जाते हैं । एव—अवधारणार्थक है। जीवियस्स—असयममय जीवन के । कारणा—कारण से—निमित से । तेसिं—उन का । निक्खंतंपि—गृहस्थावास से निकलना भी । दुन्निक्खंतं—दुष्कर । भवइ—होता है । हु—जिस से । बालवयणिज्जा—बाल अर्थात् प्राकृत पुरुषों में भी निन्दनीय । ते—वे । नरा—मनुष्य । पुणोपुणो—पुनर्पुन । जाइ—चतुर्गतिरूप उत्पति स्थान मे । पकप्पिंति—परिभ्रमण करते हैं । कौन ? अहे संभवंता—जो सयम स्थान से निम्न स्तर पर वर्तन करने वाले अथवा संयम मार्ग से पतित होने वाले, तथा । विद्दायमाणा-अपने आप को ही विद्वान मानने वाले हैं। अहमंसीति—मैं ही सब से अधिक विद्वान हूं, इस प्रकार । विउक्कसे—अहकार करने वाले अर्थात् आत्मश्लाघी पुरुष, अन्य । उदासीणे—मध्यस्थ व्यक्तियो को । फरुसं—कठोर वचन । वयंति—बोलते हैं, तथा । पलियं—पूर्व आचरित अनुष्ठान के द्वारा । पकथे—निन्दा करते हैं यथा तू वाचाल है इत्यादि । अदुवा--अथवा । अतहेहिं—असत्य वचनो से गाली प्रदान करते है और मुख विकारादि कुचेष्टाओं से । पकथे—गुरु जनो की हीलना करते हैं। मेहावी—बुद्धिमान । तं—उस श्रुत और चारित्र रूप। धम्म—धर्म अथवा वाच्य को । जाणिज्जा—भली-भांति जाने।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई एक साधक पुरुष आचार्यादि को श्रुतज्ञान के लिए भाव रहित नमस्कार करते हुए

परीषहों के उपस्थित होने पर केवल असंयम-असयत जीवन के लि
संयममय जीवन का परित्याग कर देते हैं। उनका संसार से निकल
श्रेष्ठ नहीं कहलाता है। वे बाल अर्थात् प्राकृत जनों द्वारा भी निन्दा के पा
बनते हैं और चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हैं। सं
स्थान से नीचे गिरते हुए अथवा अविद्या के वशीभूत होकर वे अपने आ
को परम विद्वान् मानते हुए तथा मैं परम शास्त्रज्ञ अथवा बहुश्रुत हूं
प्रकार आत्मश्लाघा में प्रवृत्त हुए अभिमानी जीव, मध्यस्थ पुरुषों
भी कठोर वचन कहते हैं। उनके भूतपूर्व चरित्र को लेकर वे उन पुरु
की निन्दा करते हैं अश्लील वचनों तथा मुखविकारादि कुचेष्टाओं से
गुरुजनों का भी अवहेलना करते हैं। अतः बुद्धिमान पुरुष, श्रुत और चारि
रूप धर्म को या वाच्य और अवाच्य को भली भांति जानने का प्रयत्न करे

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए विनय की आवश्यकता है
परन्तु, उसके साथ निष्ठा—श्रद्धा का होना भी आवश्यक है। कुछ साधक ज्ञान
प्राप्ति के लिए आचार्य एवं गुरु को यथाविधि वन्दन-नमस्कार करते हैं। परन्तु गु
के प्रति श्रद्धा भाव नहीं रखते। अतः उनका विनय या वन्दन केवल दिखावा मात्र होता
परिणाम स्वरूप वे अपनी ज्ञान साधना में सफल नहीं होते हैं। उनके हृदय में श्रद्धा न
होने के कारण उनका मन साधना में नहीं लगता है। इस तरह वे संयम से गिर जाते हैं
और अपने दोषों को छुपाने के लिए महापुरुषों की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध कर
हैं और जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाते हैं।

वे अज्ञानी व्यक्ति अपने आपको सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। वे अपने आप को
सब से अधिक ज्ञानी ईमानदार एवं चरित्रवान समझते हैं। वे आचार निष्ठ महापुरु
की सदा आलोचना करते रहते हैं। उनके जीवन में से दोषों का अन्वेषण करने
ही संलग्न रहते हैं। सदा गुरुजनों पर व्यंग कसते हैं तथा शारीरिक क्रियाओं के द्वा
उनका उपहास करते हैं। इस प्रकार महापुरुषों की निन्दा करके वे संसार में परि
भ्रमण करते रहते हैं।

अतः साधक को ऐसे विचारकों का त्याग करके श्रद्धापूर्वक ज्ञान एवं क्रिया तथ
आचार एवं विचार की साधना करनी चाहिए। आचार एवं विचार से संपन्न साध

ही आत्मा का विकास कर सकता है। ज्ञान से रहित केवल आचार का पालन करने वाले तथा क्रिया-काण्ड से शून्य केवल (मात्र) ज्ञान की साधना मे संलग्न साधक यथार्थ रूप से आत्मा का विकास नहीं कर सकते हैं। ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना के अभाव में साधक पतन की ओर भी लुढ़क सकता है और वह भगवदाज्ञा के विपरीत चलकर ससार को भी बढ़ा सकता है।

इसी बात को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहम्मट्ठी तुमंसि नाम बाले आरम्भट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसन्ने वियद्दे वियाहिए, त्तिबेमि ॥१८६॥

छाया—अधर्मार्थी त्वमेव नाम बालः आरम्भार्थी अनुवदन् जहि प्राणिनः घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि (समनुजानान्) घोरो धर्म, उदीरितः उपेक्षते (ण) अनाज्ञया एष. विषण्णो वितर्दो व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सयम से पतित होते हुए साधक को गुरुदेव शिक्षा देते हैं। नाम—सम्भावनार्थ में है। तुमसि—हे शिष्य ! तू। अहम्मट्ठी—अधर्मार्थी है। बाले—बाल-अज्ञानी है और। आरम्भट्ठी—आरम्भार्थी—आरम्भ करने वाला है। अणुवयमाणे—हिंसक पुरुषों के वचनों का अनुसरण करने वाला होने से तू इस प्रकार कहता है। हणपाणे—प्राणियो का हनन करो। घायमाणे—दूसरों से हिंसा करवाता है। हणओ यावि—हिंसा करने वाले अन्य प्राणियों का। समणुजाणमाणे—अनुमोदन करता है-उन्हें भला जानता है, अतएव तू बाल है। घोरे धम्मे—आश्रव का निरोधक होने से भगवान ने धर्म को घोर—महान्। उदीरिए—कथन किया है, तू उस धर्म की। उवेहइ—उपेक्षा करता है। ण—वाक्यालंकार में है। अणाणाए—भगवद् आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन रहा है। एस—इन पूर्वोक्त कारणो से तू बाल है, अत.। विसन्ने—काम-भोगों में आसक्त। वियद्दे—हिंसक वियाहिए—कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—सयम से पतित होते हुए शिष्य के प्रति गुरु कहते है—हे शिष्य! तू अधर्मार्थी है, बाल है और आरम्भ में प्रवृत्त हो रहा है। हिंसक पुरुषों के वचनो का अनुसरण करके तू भी कहता है कि प्राणियो का अवहनन-घात

करो और तू दूसरों से हनन करवाता है तथा हिंसा करने वालों को अच्छा भी समझता है अतः तू बाल है। आश्रवों का निरोधक होने से ही भगवान ने धर्म को घोर—दुरनुचर कहा है। किन्तु, तू उस धर्म की उपेक्षा करता है भगवान की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन गया है। इन पूर्वोक्त कारणों से तथा काम भोगों में आसक्त और संयम के प्रतिकूल आचरण करने के कारण तू हिंसक कहा गया है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

जब साधक साधना पथ से एक बार फिसलने लगता है, तो बीच में उचित सहयोग न मिलने या मोहकर्म के उदय के कारण फिर वह फिसलता ही जाता है। उसका पतन यहां तक हो जाता है कि वह अन्य हिंसक प्राणियों की तरह आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहने लगता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए वह हिंसा झूठ आदि दोषों का सेवन करने लगता है। वह विषय-कषाय में आसक्त होकर धर्म से सर्वथा विमुख हो जाता है और इससे पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता है।

गुरु शिष्य को जागृत करते हुए कहते हैं कि हे आर्य! तुझे संयम पथ से भ्रष्ट, अधर्मी व्यक्ति के दुःखद एवं अनिष्टकर परिणाम को जानकर सदा संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए। संयम पथ से भ्रष्ट व्यक्ति को अधर्मी, स्वेच्छाचारी, भगवान की आज्ञा से बाहर एवं संसार में परिभ्रमण करने वाला कहा गया है। अतः मुमुक्षु पुरुष को सदा शुद्ध संयम का परिपालन करना चाहिए।

गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— किमणेण भो! जणेण करिस्सामित्ति मन्नमाणे एव एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्ठा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ, से समणो भवित्ता विब्भंते २ पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए नममाणेहिं अनममाणे

विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि त्तिबेमि ॥१९०॥

छाया—किमनेन भो ! जनेन करिष्यामीति मन्यमानाः एवमेके उदित्वा मातरं पितरं हित्वा ज्ञातीन् च परिग्रहं वीरायमाणाः समुत्थाय अविहिंसाः सुव्रताः दान्ताः पश्य ! दीनान् उत्पतितान् प्रतिपततः वशार्त्ताः कातरा जना लूषकाः भवन्ति अथ एकेषां श्लोको पापको भवति स श्रमणो भूत्वा विभ्रान्तो विभ्रान्तः पश्य एके समन्वागतैः सह असमन्वागतान् नममानैः अनममानान्, विरतैरविरतान् द्रव्यैरद्रव्यानभिसमेत्य पंडितः मेधावी निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा परिक्रामयेरिति ब्रवीमी।

पदार्थ—भो—आमन्त्रणार्थ में है। जणेण—माता-पिता आदि से। किमणेण—मैं क्या। करिस्सामित्ति—करूंगा, इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ, संसार के स्वरूप को जानने वाले। एगे—कई एक। वइत्ता—यह कहकर। मायर—माता को। पियरं—पिता को। हिच्चा—छोडकर। य—और। नायओ—ज्ञातिजनों को। परिग्गहं—परिग्रह को। वीरायमाणा—आत्मा को वीर की भांति मानते हुए। समुट्ठाए—संयमानुष्ठान मे सम्यक् प्रकार से सावधान होकर। अविहिंसा—दया के धारण करने वाले। सुव्वया—सुन्दर व्रतों का सेवन करने वाले। दत्ता—इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं, हे शिष्य ! इनको। पस्स—तू देख ! जो कि पहले सिंह की भांति दीक्षा के लिए, उद्यत होकर, फिर पतित हो जाते हैं। दीणे—उन दीनों को। उप्पइए—पतितों को। पडिवयमाणे—संयम से गिरते हुओं को वे, किस कारण से पतित हो जाते हैं ? वसट्टा—वे इन्द्रियों के वशीभूत होने से आर्त हो रहे हैं। कायरा—परीषहोपसर्गादि के सहन करने में कायर। जणा—जन। लूसगा। व्रतों के विध्वंसक हो जाते हैं, अब उसका फल दिखाते हुए कहते हैं। अहमेगेसिं—उनमें से कई एक की। सिलोए—श्लाघा-रूप कीर्ति। पावए भवइ—पापरूप होती हैं अर्थात् यश के स्थान में अपयश हो जाता है। से—वह। समणो—श्रमण। भवित्ता—होकर। विब्भते—विभ्रांत होकर श्रमण भाव से गिर जाते हैं। पासह—हे शिष्य तू देख ! एगे—कई एक। समन्नागएहिं—उद्यत विहारियों के। सह—साथ, वसते हुए भी। असमन्नागए—शिथिल विहारी हो जाते हैं, तथा। नममाणेहिं—संयमानुष्ठान मे विनयशील साधकों के साथ रहते हुए

भी। समणभावे—श्रमणता रहित—निर्ग्रन्थता और साधनानुष्ठान का सेवन करने वाले हो जाते हैं। विरएहिं—विरतों-त्यागियों के साथ रहकर भी। अविरए—अविरत हो जाते हैं। दविएहिं—मुक्ति जाने योग्य साधकों के साथ रहते हुए भी। अदविए—मुक्ति गमन के अयोग्य हो जाते हैं, इस प्रकार के शिष्यों को। अभिसमिच्चा—जानकर। पंडिए—पंडित। मेहावि—बुद्धिमान-मर्यादाशील णिट्ठियट्ठे—विषय सुख से रहित। वीरे—वीर-कर्म विदारण में समर्थ। आगमेणं—आगम के द्वारा साधना पथ को जानकर। सया—सदा। परक्कमिज्जासि—संयम में पराक्रम करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ— सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई पुरुष प्रथम संयम मार्ग की आराधना में सम्यक प्रकार से उद्यत होकर पीछे से किस प्रकार उसका परित्याग करके प्राणियों के विनाश में प्रवृत्त हो जाते हैं। वह इस प्रकार कहता है कि हे लोगो! मुझे इन सम्बन्धिजनों से क्या प्रयोजन है? ऐसा मानकर वह दीक्षित होता है माता पिता और सम्बन्धिजनों तथा अन्य प्रकार के परिग्रह को त्यागकर वीर पुरुष की भांति आचरण करते हुए सम्यक प्रकार से संयमानुष्ठान में प्रवृत्त होकर अहिंसक वृत्ति से व्रतों का परिपालन करने और इन्द्रियों को दमन करने में सदा सावधान रहता है। परन्तु पीछे से किसी पाप के उदय होने पर दीक्षा को छोड़कर संयम को त्यागकर वह दीनता को धारण कर लेता है। अपने त्यागे हुए विषय भोगों को फिर से ग्रहण करने लगता है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! तू ऐसे पतित पुरुषों को देख जो कि इन्द्रियजन्य विषय और कषायों के वश में होकर आर्त दुःखी बन गए हैं। वे परीषहों को सहन करने में कायर होने से व्रतों के विध्वंसक बन रहे हैं। वे श्रमण होकर तथा विरत त्यागी बनकर भी यश के स्थान में अपयश को ही प्राप्त करते हैं। वे विनयशील साधकों के साथ रहकर भी अविनयी विरतों के सहवास में रहकर भी अविरति उद्यत विहारियों के साथ रहकर भी शिथिल विहारी बन जाते हैं एवं मुक्ति गमन योग्य व्यक्तियों के साथ बसकर

भी वे मुक्तिगमन के योग्य नहीं रहते हैं। अत मेधावी-विचारशील व्यक्ति इनको अच्छी तरह समझ कर वीर पुरुष की भांति विषय सुखों से सर्वथा पराङ्मुख होकर आगम के अनुरूप क्रियानुष्ठान—साधना का पालन करने मे सदा सलग्न रहे। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधना की पूर्व एवं उत्तर स्थिति का एक चित्र उपस्थित किया है। इसमें बताया गया है कि कुछ साधक त्याग-विराग पूर्वक घर का एव विषय—भोगों का त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं। परिजन उन्हें घर मे रोकने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, वे उनके प्रलोभनों मे नहीं आते और पारिवारिक बन्धन को तोडकर सयम स्वीकार कर लेते हैं और निष्ठापूर्वक संयम का पालन करते हैं। वे संयम में किसी प्रकार का भी दोष नहीं लगाते हैं।

परन्तु, मोह कर्म के उदय से वे विषय-भोगों में आसक्त होकर संयम का त्याग कर देते हैं। वर्षों की घोर तपश्चर्या को क्षणभर में धूल में मिला देते हैं। सिंह की तरह गर्जने वाले गीदड़ की तरह कायर बन जाते हैं। भोगों में अति आसक्त रहने के कारण वे जल्दी ही मर जाते हैं। उन में से कुछ जीवित भी रहते हैं, परन्तु पथ भ्रष्ट हो जाने के कारण लोगों में उनका मान-सन्मान नहीं रहता है। जहा जाते हैं वहा निन्दा एव तिरस्कार ही पाते हैं। इस तरह वे वर्तमान एवं भविष्य के या इस लोक एवं परलोक दोनों लोक के जीवन को विगाड़ लेते हैं।

अत- उनके दुष्परिणाम को देखकर साधक को सदा विषय-वासना से दूर रहना चाहिए। ज्ञान एवं आचार की साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। जो साधक सदा-सर्वदा विवेक पूर्वक संयम का परिपालन करता है और आचार एवं विचार को शुद्ध रखता है, वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ एक दिन निष्कर्म बन जाता है।

तिबेमि की व्याख्या पर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन–धुत

पञ्चम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में गौरव (रस, साता और ऋद्धि) के त्याग का उपदेश दिया गया है। परन्तु इन पर विजय पाने के लिए कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है। परीषहों के उपस्थित होने पर भी जो समभाव पूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ता रहता है, वही गारवों का त्याग कर सकता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में परीषहों पर विजय पाने का या शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के कष्ट उपस्थित होने पर भी संयम में स्थिर रहने का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जणवयेसु वा जणवयंतरेसु वा गामनयरंतरे वा गामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए ओए समियदंसणे, दय लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी, से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा ॥१९१॥

छाया—स गृहेषु वा गृहान्तरेषु वा ग्रामेषु वा ग्रामान्तरेषु वा

नगरेषु वा, नगरान्तरेषु वा, जनपदेषु वा, जनपदान्तरेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, सन्ति एके जनाः लूषकाः भवन्ति अथवा स्पर्शाः स्पृशन्ति तैः (तान्) स्पर्शान् स्पृष्टो वीरोऽधिसहेत् ओजः समितदर्शन दया लोकस्य ज्ञाता प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनमाचक्षीत विभजेत् कीर्तयेद्वेदवित् सः उत्थितेषु वा, अनुत्थितेषु वा, शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाणं, शौच, आर्जवं, मार्दवं, लाघवमनतिपत्य सर्वेषां प्राणिनां, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां सत्वाना, सर्वेषा जीवानां अनुविचिन्त्य भिक्षु धर्ममाचक्षीत।

पदार्थ—से—वह भिक्षु आहारादि के लिए। गिहेसुवा-घरों में अथवा। गिहतरेसु वा—गृहान्तरो मे अथवा। गामेसु वा—ग्रामो मे अथवा। गामतरेसु वा—ग्रामान्तरो में अथवा, नगरेसुवा—नगरो मे अथवा। नगरन्तरेसु वा—नगरान्तरो मे अथवा। जणवयेसु वा—जनपदो में अथवा। जणवयतरेसु वा—जनपदान्तरो में अथवा। गामनयरंतरेसु वा—ग्राम और अन्य नगरों मे अथवा। गामजणवयन्तरेसु वा—ग्रामो या जनपदो मे, अथवा। नगरजणवयन्तरेसु वा—नगरो या जनपदो में। सतेगया जणा—वहुत से जन विद्यमान हैं, जो। लूसगा भवंति—हिंसक होते हैं अर्थात् उपद्रव करने वाले होते हैं। अदुवा—अथवा। फासा—तृणादि के स्पर्श से। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। ते—उन। फासे—स्पर्शों को। पुट्ठे—स्पृष्ट होने पर वीरो—वीर पुरुष। अहियासए—सहन करे। ओए—रागादि से रहित अकेला। समियदसणे—समितदर्शी—सम्यग् दृष्टि। दय—दया को। जाणिता—जानकर। पाईण—पूर्व दिशा को। पडीण—पश्चिम दिशा को। दाहिण—दक्षिण दिशा को। उदीण—उत्तर दिशा को, विचार कर। लोगस्स—लोक के ऊपर दया करता हुआ। आइक्खे—धर्म कथा को कहे। विभए—विभाग करे अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर धर्म कथा कहे। किट्टे—और व्रतों के फल को कहे। वेयवी—आगमो का वेत्ता—जानकार। से—वह-आगमवित्। उट्ठिएसु वा—जो धर्म श्रवण करने के लिए उद्यत हैं या सयम में सावधान हैं उनको अथवा। अणुट्ठिएसु वा—जो श्रावकादि धर्म मे या सयम में उपस्थित नही है तथा। सुस्सूसमाणेसु—जो धर्म सुनने के इच्छुक हैं उनको। पवेयए—धर्म सुनाए, उन्हें कैसा धर्म सुनाए अब इस के सम्बन्ध में कहते हैं। संतिं—शान्ति-क्षमा। विरइ—विरति। उवसम—उपशम-कषायों को उपशात करना। निव्वाण—निर्वाण-निवृति। सोय—शौच-निर्दोष व्रताचरण। अज्जविय—आर्जव-ऋजुता। मद्दविय—मृदुता—मार्दव, मृदुभाव,। लाघवियं—लाघवता-लघुभाव। इणइवत्तियं—आगम का अतिक्रम न करके अर्थात् आगम के अनुसार इनका कथन करे। सव्वेसिं—सर्व। पाणाण—प्राणियों के प्रति। सव्वेसिं—सर्व। भूयाण—भूतो के प्रति अर्थात्

सव्व पाणियों के प्रति। सव्वेसिं सत्ताणं—सर्व सत्त्वों के प्रति। सव्वेसिं जीवाणं—सर्व जीवों के प्रति। भिक्खु—भिक्षु-साधु। अणुवीइ—विचारकर, अपने और पर—दूसरे के लिए। धम्ममाइक्खिज्जा—धर्म कथा कहे।

मूलार्थ—वह आगम का ज्ञाता भिक्षु, गृहों में, गृहान्तरों में ग्रामों में ग्रामान्तरों में नगरों में नगरान्तरों में देशों में देशान्तरों में, ग्रामों और नगरान्तरों में ग्रामों और जनपदों में, नगरों और जन पदान्तरों में बहुत से लोग हिंसक-उपद्रव करने वाले होते हैं। अतः धीर पुरुष उनके द्वारा दिए गए दुःख एवं कष्ट विशेष को तथा परीषहों के स्पर्श से स्पृष्ट हुए संवेदन को सहन करे और राग-द्वेष से रहित एकाकी होकर समभाव पूर्वक केवल वीतराग भाव में विचरण करता हुआ प्राणी जगत पर दयाभाव लाकर पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर आदि सब दिशाओं में धर्म कथा कहे, धर्म का विभाग करके समझाए। आगम का ज्ञाता मुनि सबको व्रतों का फल सुनाए। जो जीव संयम में सावधान हैं-पुरुषार्थ कर रहे हैं, उनको तथा जो संयम में पुरुषार्थ तो नहीं कर रहे हैं परन्तु धर्म सुनने की इच्छा रखते हैं उनको भी धर्म कथा सुनावे। आगमों में वर्णित क्षमा विरति उपशम निवृत्ति, शौच ऋजुता मार्दव और लघुता आदि धर्म के लक्षणों को, वह विचार पूर्वक एवं स्व-पर कल्याण के लिए सब प्राणियों सर्व भूतों, सर्व सत्त्वों और सर्व जीवों को सुनाए।

हिन्दी विवेचन

संसार में विभिन्न प्रकृतियों के प्राणी हैं। क्योंकि सब प्राणियों के कर्म भिन्न हैं और कर्मों के अनुसार स्वभाव बनता-बिगड़ता है। कषाय के उदय भाव से जीवन में क्रोध, लोभ आदि की भावना उबुद्ध होती है और क्षायिक भाव के समय क्रोध आदि की प्रवृत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि अपने कृत कर्म के अनुसार प्राणी संसार में प्रवृत्त होता है। कर्म सब प्राणियों के भिन्न हैं, इसलिए उनके स्वभाव एवं कार्य में भी भिन्नता दिखाई देती है।

हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य दूसरे को परेशान करने एवं दुःख देने में आनन्द अनुभव करते हैं। यहां तक कि वे सन्त-पुरुषों को कष्ट पहुंचाने से भी नहीं चूकते हैं।

मुनियों को देखते ही उनके मन मे द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठती है और वे उन्हें पीडा पहुचाने का प्रयत्न करते हैं, उपाय सोचते है और अनेक तरह के कष्ट देते हैं। ऐसे समय में भी मुनि अपने स्वभाव का अर्थात् समभाव की साधना का त्याग न करे। इन कठोर स्पर्शों एव दुःखों से घबराकर उन पर मन से भी द्वेष न करे, उन्हें कटु वचन न कहें और न उन्हें अभिशाप ही दे, प्रत्युत शान्त भाव से उन्हें सहन करते हुए सयम का पालन करे। यदि उचित समझे तो उन्हें भी धर्म का, शान्ति का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

मुनि जीवन की उदारता एवं विराट्ता को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र मे यह महत्त्व पूर्ण बात कही गई है कि मुनि सब जीवों पर दया भाव रखे। वह उपकारी एव अनुपकारी, जैन एव अजैन, अमीर एव गरीब, धर्मनिष्ठ एव पापी, ब्राह्मण एव शूद्र आदि पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते हुए, सब जीवों का कल्याण करने की तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से सबको सन्मार्ग दिखाने का प्रयत्न करे। उसके इस उपदेश का क्षेत्र कोई शहर विशेष या स्थान विशेष नहीं, अपितु सूत्रकार की भाषा मे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सभी दिशाएं-विदिशाएं हैं। वह किसी स्थान विशेष का आग्रह न रखते हुए, जहा भी आवश्यकता अनुभव करता है, वहीं उपदेश की धारा बहाने लगता है। उसका उपदेश व्यक्ति विशेष एव जाति विशेष के लिए नहीं, अपितु मानव मात्र के लिए होना चाहिए। वह भी किसी जाति, धर्म, पंथ एव सम्प्रदाय विशेष का साधु नहीं, अपितु अपने हित के साथ मानव मात्र का, प्राणी जगत का हित साधने वाला साधु है*। अत वह सब को समभावपूर्वक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और क्षमा, शान्ति, आर्जव आदि धर्मों का उपदेश देकर प्राणी जगत को कल्याण का मार्ग बताता है, सबको जीओ और जीने दो का मन्त्र सिखा कर सुख-शान्ति से रहना एव जीना सिखाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त प्राण†, भूत, जीव, सत्व का अर्थ है— १० प्राण धारण करने वाले सन्नी पञ्चेन्द्रिय प्राणी, भव्य जीव—जिनमे मोक्ष जाने की योग्यता है, भूत कहलाते हैं, सयम—निष्ठ जीवन जीने वाले जीव और तिर्यञ्च, मनुष्य एव देव सत्व कहे गए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु ससार के सभी प्राणियों की रक्षा एव दया के लिए बिना भेद-भाव के सबको उपदेश दे।

यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा उपदेष्टा किसी पथ या सम्प्रदाय पर आक्षेप

---

* स्वपर हित साध्यतीति साधु।

† प्राण, भूत, जीव और सत्व शब्दों के अर्थ शीलांकाचार्य कृत वृत्ति के अनुसार किए गए हैं। —आचाराङ्ग वृत्ति, पृष्ठ, २५६।

कर सकता है या नहीं ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्जा, नो परं आसाइज्जा, नो अन्नाइं पाणाइं, भूयाइं जीवाइं, सत्ताइं आसाइज्जा, से अणासायए, अणासायमाणे वज्झमाणाणं, पाणाणं, भूयाणं, जीवाणं, सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे तम्हा संगति पासह गंथेहिं गढ़िया नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्जा, जस्सिमे आरम्भा सव्वओ सव्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवंति जेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च, माणं च मायं च, लोभं च एस तुट्टे वियाहिए त्तिबेमि ॥१६२॥

छाया—अनुविचिन्त्य भिक्षुर्धर्ममाचक्षाणः नोआत्मानमाशातयेत् नो परमाशातयेत् नोऽन्यान् प्राणिन भूतान जीवान् सत्वानाशातयेत् सोऽनाशातकः अनाशातयम् बध्यमानानां प्राणिनां भूतानां जीवानां सत्त्वानां यथा स द्वीपोऽसन्दीनः एवं स भवति शरण्यं महामुनिः, एवं स उत्थित स्थितात्मा, अस्निहः अचल चलः अबहिर्लेश्यः परिव्रजत् संख्याय पेशलं धर्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृत तस्मात् संगितिपश्यत् ग्रन्थैर्ग्रथिता नराः विषण्णाः कामक्रान्ता तस्माद् रूक्षात् नो परिवित्रसेत् यस्येमे आरम्भाः सर्वतःसर्वात्मकतया सुपरिज्ञाता भवन्ति येष्विमे लूषिणो न परिवित्रसन्ति, स वान्त्वा क्रोधञ्च मानञ्च मायाञ्च लोभञ्च एष (त्रोटयति) त्रुटः व्याख्यात इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—भिक्खू—वह मुनि। अणुवीइ—विचार कर। धम्ममाइक्खमाणे—धर्म कथा करते हुए। अत्ताणं—आत्मा को। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। परं—दूसरे—सुनने वाले की। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। अन्नाइं—अन्य। पाणाइं—प्राणियों की। भूयाइं—भूतों की। जीवाइं—जीवों की। सत्ताइं—सत्त्वों की। नो—नहीं। आसाइज्जा—आशातना करे। से—वह भिक्षु। अणासायए—आशातना न करने वाला। अणासायमाणे—अन्य की आशातना न करता हुआ। वज्झमाणाणं—वध्यमान। पाणाणं—प्राणियों को। भूयाणं—भूतों को। जीवाणं—जीवों को। सत्ताणं—सत्त्वों को। से—वह। असंदीणे—जिसमें पानी नहीं लगता है अर्थात् जो जल से सुरक्षित है ऐसा विशाल। दीवे—द्वीप। जहा—जैसे होता है। एवं—इस प्रकार। से—वह। महामुणी—महामुनि। सरणं भवई—संसारी जीवों को शरण भूत होता है। एवं—इसी प्रकार से। से—वह शरण भूत मुनि। उट्ठिए—संयमानुष्ठान में उद्यत। ठियप्पा—ज्ञानादि में स्थित। अणिहे—स्नेह से रहित। अचले—परीषहों से अचलायमान। चले—अप्रतिबन्ध होकर विचरने वाला। अबहिल्लेसे—जिस की लेश्या अध्यवसाय संयम से बाहिर नहीं है ऐसा मुनि। परिव्वए—संयमानुष्ठान में चले। दिट्ठिमं—सम्यग् दृष्टि। धम्मं—धर्म को। संखाय—अवधारण कर के। पेसलं—मनोहर। परिनिव्वुडे—निवृत्त कषायों के क्षय या उपशम होने से शान्त हो जाता है। इति—इस हेतु से। तम्हा—इसलिये। पासह वहे शिष्यो ! तुम। संग—संग के विपाक को देखो। गंथेहिं-बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों से। गढिया—प्रतिबद्ध। विसन्ना-परिपूर्ण वे पुरुष। कामक्कंता-विषय विकारों से आक्रान्त हुए। नरा—मनुष्य। निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते। अत: उन्हें क्या करना चाहिए ? तम्हा—इस लिए। लूहाओ—संयम से। नो परिवित्तसिज्जा—वे त्रास न पाए, संयम के कष्टों से भयभीत न होए ? जास्सिमे—जिस मुनि के ये संग और। आरंभा—आरम्भ। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्वत्ताए—सर्वात्म रूप से। सुपरिन्नाया—ज्ञ परिज्ञा से भली प्रकार जाने गये हैं और प्रत्याख्यान से त्यागे गये हैं। भवति—वे ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। जेसिमे—जो जन आरम्भ में आसक्त हैं। लूसिणो—हिंसा करने वाले हैं। नो परिवित्तसंति—पाप कर्म करते हुए त्रास नहीं पाते, अत:। से—वह मुनि। कोहं च—क्रोध को और। माणं च—मानको और। मायं च—माया को और। लोभं च—लोभ को। वंता—छोडकर। एस—वह मोह रहित हो जाता है, तो वह। तुट्टे—भव भ्रमण से छूटा हुआ। वियाहिए—तीर्थंकरों द्वारा कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे आर्य ! तू विचार कर। धर्म कथा करते समय मुनि अपनी आत्मा तथा अन्य सुनने वाले श्रोताओं की आशातना—अवहेलना न करे और न प्राणी, भूत, जीव और सत्वों की ही आशातना

करे। आशातना नहीं करने वाला मुनि आशातना न करता हुआ दुःखों से पीड़ित प्राणी भूत जीव और सत्त्वों का उस विशाल द्वीप की तरह आश्रयभूत होता है, जो समुद्र में डूबते हुए एवं व्यथित प्राणियों को आश्रय देता है। इस तरह ज्ञानादि में स्थित, स्नेह रागभाव से रहित संयम निष्ठ मुनि परीषहों के समय अविचलित एवं अप्रतिबद्ध विहारी और संयमानुसार शुद्ध अध्यवसायों में स्थित रहता हुआ संयम में प्रवृत्ति करे। कषायों के क्षयोपशम से धर्म के यथार्थ रूप को जानकर ज्ञान संपन्न मुनि शान्त भाव से आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है। हे शिष्यो! तुम यह देखो कि जो व्यक्ति सांसारिक पदार्थों में एवं काम भोगों में आसक्त हैं या काम-भोगों ने जिन्हें आक्रान्त बना रखा है वह शान्ति नहीं पा सकता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष संयमानुष्ठान से भयभीत नहीं होते हैं। जो इन आरम्भादि से सुपरिज्ञात-सुपरिचित होते हैं वे ही शान्ति को प्राप्त करते हैं। अतः वह भिक्षु क्रोध मान माया और लोभ का त्याग करके इस संसार सागर से पार हो सकता है। ऐसा तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने कहा है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि उपदेश प्राणियों के हित के लिए दिया जाता है। अतः उपदेष्टा को सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि परिषद् किस विचार की है, उसका स्तर कैसा है। उसके स्तर एवं योग्यता को देखकर दिया गया उपदेश हित प्रद हो सकता है। उससे उनका जीवन बदल सकता है। परन्तु, परिषद् की विचार स्थिति को समझे बिना दिया गया उपदेश वक्ता एवं श्रोता दोनों के लिए हानिप्रद हो सकता है। यदि कोई बात श्रोताओं के मन को चुभ गई तो उनमें उत्तेजना फैल जाएगी और उत्तेजना के वश वे वक्ता को भी भला-बुरा कह सकते हैं या उस पर प्रहार भी कर सकते हैं। इस प्रकार बिना सोचे-समझे अविवेक पूर्वक दिया गया उपदेश दोनों के लिए अहितकर हो सकता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि मुनि को व्याख्यान में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे स्व एवं पर को संक्लेश पहुंचे।

इस प्रकार का विवेकशील, संयमनिष्ठ मुनि प्राणी मात्र का शरण भूत हो सकता है। जैसे समुद्र में परिभ्रमित व्यक्ति के लिए द्वीप आश्रयदाता होता है, उसी तरह ज्ञान एवं आचार सम्पन्न मुनि भी प्राणीमात्र के लिए आधारभूत होता है और प्राणी जगत की रक्षा करता हुआ विचरता है। इससे स्पष्ट हो गया कि मुनि किसी भी प्राणी को क्लेश पहुंचाने का कोई कार्य न करे। अपने उपदेश में किसी पर आक्षेप न करे।

दूसरी बात यह है कि संयमशील साधक ही दूसरों को सहायक हो सकता है। अत. मुमुक्षु पुरुष को संसार की परिस्थिति का परिज्ञान करके आरम्भ से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि, आरम्भ-समारम्भ एव विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता है। वह रात-दिन अशान्ति की आग में जलता रहता है। इसलिए साधक को आरम्भ आदि से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ, त्तिबेमि ॥१९३॥

छाया—कायस्य व्याघातो एषः संग्रामशीर्षे व्याख्यातः स पारगामी मुनि अविहन्यमान फलकवत् स्थायी (फलकवदवतिष्ठते) कालोपनीतः काङ्क्षेत् काल यावत् शरीरभेदः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कायस्स—काया का। वियाघाए—विनाश। एस—यह। सगामसीसे—सग्राम का शीर्षरूप। वियाहिए—कहा गया है। हु—अवधारणार्थ में है, जो मुनि। अविहम्ममाणे—परीषहों से पराभूत नहीं होता है। फलगावयट्ठी—शरीर पर प्रहार होने पर भी फलग की तरह स्थिर रहता है। कालोवणीए—काल-मृत्यु के निकट आने पर भी जो घबराता नहीं, बल्कि पादोगमन इंगितमरण और भक्तप्रत्याख्यान अनशन के द्वारा। काल कंखिज्जा—काल की आकांक्षा करता है। जावसरीरभेउ—जब तक शरीर से आत्मा पृथक नहीं होती है। से—वह। मुणी—मुनि। पारगमे—संसार समुद्र से पार हो जाता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिस प्रकार वीर योद्धा सग्राम मे निर्भय होकर विजय को

प्राप्त करता है। उसीतरह मुनि भी मृत्यु के आने पर फलग की तरह स्थिर चित्त रहकर पादोपगमन आदि अनशन (संथारा) करके-जब तक आत्मा शरीर से पृथक न हो तब तक मृत्यु की आकांक्षा करता हुआ चिन्तन मनन में संलग्न रहे। ऐसा मुनि संसार से पार होता है। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

संसारी जीवन में जन्म और मृत्यु दोनों का अनुभव होता है। यह ठीक है कि दुनिया के प्राय सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरने की कोई आकांक्षा नहीं रखता। मृत्यु का नाम सुनते ही लोग कांप उठते हैं, उससे बचकर रहने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी मृत्यु का आगमन होता ही है। इस तरह सामान्य मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा जीवन को जन्म को महत्त्व पूर्ण समझते हैं। परन्तु, महापुरुष एवं ज्ञानी पुरुष मृत्यु को भी महत्त्वपूर्ण समझते हैं। वे भी बचने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु मृत्यु से नहीं, जन्म से। क्योंकि जन्म कर्म जन्य है और मृत्यु कर्मक्षय का प्रतीक है। आयु कर्म का बन्ध होने पर जन्म होता है और उसका क्षय होना मृत्यु है। अतः ज्ञान-संपन्न मुनि आयु कर्म का क्षय करने का प्रयत्न तो करता है परन्तु उसके बांधने का प्रयास नहीं करता है। वह सदा कर्म बन्ध से बचना चाहता है। क्योंकि यदि कर्म का बन्ध नहीं होगा तो फिर पूर्व कर्म के क्षय के साथ पुनर्जन्म रुक जाएगा और जन्म के साथ फिर मृत्यु का बन्ध तो स्वत ही हो जाएगा। जब कर्म ही नहीं रहेगा तो फिर उस के क्षय का या मरन ही नहीं उठेगा। इस प्रकार जन्म से बचने का अर्थ है—जन्म मरण के प्रवाह से मुक्त होना। इसलिए मुनि मृत्यु से भय नहीं खाते। वे मृत्यु को अभिशाप नहीं अपितु वरदान समझते हैं। अतः पण्डित मरण के द्वारा उसे सफल बनाने में या यों कहिए अपने साध्य को सिद्ध करने में सदा संलग्न रहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया है कि जैसे योद्धा युद्ध क्षेत्र में मृत्यु को सामने देखकर भी घबराते नहीं। उसी तरह कर्मों एवं मनोविकारों के साथ युद्ध करने में संलग्न साधक भी मृत्यु से भय नहीं खाता है। यदि कोई उस पर प्रहार भी करे तब भी वह विचलित नहीं होता घातक के प्रति मन में भी द्वेष भाव नहीं लाता है। उस समय भी वह शान्त मन से आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है। इसी तरह मृत्यु के निकट आने पर भी वह घबराता नहीं और न उससे बचने का ही कोई प्रयत्न करता है। वह महान् पुरुष उसके स्वागत के लिए संलेखना आरम्भ कर देता है। वह वह

साधना १२ वर्ष पूर्व प्रारम्भ कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है❀।

इस प्रकार साधक सलेखना के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता हुआ अपने आपको पडित मरण प्राप्त करने के लिए तैयार कर लेता है और मृत्यु के समय विना किसी घबराहट के वह पादोगमन, इगितमरण या भक्तप्रत्याख्यान किसी भी संथारे—आमरण अनशन को स्वीकार करके आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहता है और जब तक आत्मा शरीर से पृथक् नहीं होजाती तब तक शान्त भाव से साधना में या यों कहिए कर्मों को क्षय करने मे प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मृत्यु से परास्त नहीं होने वाला साधक मृत्यु के मूल कारण जन्म या कर्म बन्ध को समाप्त करके जन्म-मरण पर विजय पा लेता है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि जन्म का ही दूसरा नाम मृत्यु है। जन्म के दूसरे क्षण से ही मरण आरम्भ हो जाता है। अत मृत्यु जन्म के साथ संबद्ध है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जन्म का अन्त होते ही मृत्यु का भी अन्त हो जाता है। अत साधक मृत्यु का अन्त नहीं करता, अपितु पण्डित मरण के द्वारा जन्म का या जन्म के मूल कारण कर्म का उन्मूलन कर देता है और यही उसकी सबसे बड़ी विजय है। अत साधक को निर्भय एव निर्द्वन्द्व भाव से पण्डित मरण को स्वीकार करके निष्कर्म बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पण्डित मरण को प्राप्त करके सारे कर्मों से मुक्त होना ही उसकी साधना का उद्देश्य है। अत मुमुक्षु पुरुष को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए।

॥ पचम उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

❀ विशेष विवरण के लिए मेरे द्वारा लिखित उत्तराध्ययन सूत्र भाग ३, अध्ययन ३६ गाथा २५१-२६८ पृष्ठ १७४६-१८११ देखें।

सप्तम अध्ययन महापरिज्ञा

षष्ठ अध्ययन में कर्मों की निर्जरा के संबन्ध में उल्लेख किया गया है। कर्मों की निर्जरा मोह एवं मोह जन्य साधनों से निवृत्त होने से होती है। अब प्रस्तुत अध्ययन में विभिन्न मोहजन्य उपसर्ग एवं परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने की विधि बताई गई थी। मुमुक्षु पुरुष के लिए आदेश दिया गया था कि मोह जन्य स्थिति के उपस्थित होने पर या विषयेच्छा जागने पर वह किसी चमत्कार एवं यंत्र-मंत्र का प्रयोग करके मोह के प्रवाह में न बहे, अपितु उन परीषहों पर विजय प्राप्त करे। वह समस्त चमत्कारों एवं यंत्र-मंत्र से निर्लिप्त रहकर सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे।

महापरिज्ञा शब्द का भी यही अर्थ है कि महा—विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोह जन्य दोषों को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक मोह जन्य समस्त साधनों एवं आकांक्षाओं से मिलने वाले दुःखद परिणामों को जानकर उनका परित्याग करके केवल कर्मों की निर्जरा करने के लिए तप संयम स्वाध्याय एवं आत्म चिन्तन में ही व्यस्त रहे।

परन्तु, सभी साधकों का मानसिक स्तर एक जैसा दृढ़ नहीं होता है। आज ही नहीं, भगवान महावीर के समय एवं उसके पहले के साधकों की मानसिक भाव भी एक जैसी नहीं थी। सभी साधक गजसुकुमाल की तरह कष्ट सहिष्णु एवं स्थूलिभद्र की तरह मोह एवं काम विजेता नहीं थे। उनमें कुछ साधक कुण्डरीक एवं अरणक मुनि जैसे भी थे, जो मोह के प्रबल झोंकों से गिर भी सकते थे और योग्य निमित्त मिलने पर फिर से सजग भी हो जाते थे। इस से भगवान महावीर के बाद की स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधु-साध्वियों के वैचारिक स्तर में तारतम्य रहता है। कुछ साधक दृढ़ मनोबल वाले होते हैं तो कुछ साधक निर्बल चिन्तन वाले भी होते हैं।

इन सब साधकों की मानसिक स्थिति को सामने रखकर सर्व साधारण साधकों को इस अध्ययन की स्वाध्याय करने की आज्ञा नहीं दी गई थी। चूर्णिकार ने लिखा है कि बिना आज्ञा या अधिकार के महापरिज्ञा अध्ययन पढ़ा नहीं जाता था*। अधिकारी व्यक्ति अर्थात् गीतार्थ—श्रुत संपन्न मुनि ही इसका स्वाध्याय कर सकता था।

---

*महापरिण्णा न पढिज्जइ असमणुण्णाया। —आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २४४

आचार्य शीलांक ने भी लिखा है कि महापरिज्ञा नामक सातवा अध्ययन विच्छिन्न हो गया है। उसकी निर्युक्ति भी नहीं मिलती है। जबकि निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के विषय मे अध्ययन के प्रारम्भ मे लिखा है— "प्रस्तुत अध्ययन में मोहकर्म के कारण होने वाले विभिन्न परीषह एवं उपसर्गों का वर्णन था*।"

इन सब विवरणों से यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत अध्ययन मे अनेक मोह-जन्य परीषहों एव चमत्कारों का वर्णन था। अनेक मोहजन्य दोषों का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन मे था। अत: इससे सामान्य साधकों के जीवन मे शिथिलता आ जानेकी संभावना थी और उनके द्वारा उक्त अध्ययन मे वर्णित चमत्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता था। इसी दृष्टि को सामने रखकर सर्व साधारण के लिए उसके पढने का निषेध किया गया था। इस कारण उसका पठन-पाठन कम हो गया और बाद में वह विलुप्त हो गया हो।

यह भी कहा जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में चमत्कारों का अधिक उल्लेख होने के कारण उसका दुरुपयोग न किया जाए, इस-दृष्टि से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने प्रस्तुत अध्ययन को आचाराङ्ग से पृथक् कर दिया। कुछ भी कारण रहे हो, इतना तो स्पष्ट है कि साधना मे दोष उत्पन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र का दुरुपयोग न हो, इसलिए उसके पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया गया और परिणाम स्वरूप वह अध्ययन आज हमारे सामने नहीं रहा। कुछ भी हो, प्रस्तुत अध्ययन का न रहना बहुत बडी कमी है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

* मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा...। —आचारांग निर्युक्ति।

अष्टम अध्ययन—विमोक्ष

प्रथम उद्देशक

सप्तम अध्ययन में मोहजन्य परीषहों पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि मोहजन्य परीषहों का विजेता ही संयम का भली-भांति परिपालन कर सकता है, वह आचार को शुद्ध रख सकता है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में आचार एवं त्यागनिष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सेवेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा, नो पादेज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे, त्तिबेमि ॥१६४॥

छाया—सोऽहं ब्रवीमि समनोज्ञस्य वा असमनोज्ञस्य वा अशनं वा पानं वा खादिमं वा, स्वादिमं वा, वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं-पात्रं वा कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनं वा, नो प्रदद्यात्, नो निमंत्रयत् नो कुर्यात् वैयावृत्यं परमादरियमानः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सेवेमि—हे आर्य! मैं तुम्हें कहता हूं कि। समणुन्नस्स वा—जो दृष्टि और लिंग से सुन्दर है, परन्तु चारित्र पालन में जो शिथिल है उसको, अथवा। असमणुन्नस्स—उससे भिन्न शाक्यादि को। वा—का अर्थ उत्तरोत्तर अपेक्षा है। असणं—अशन—चावल, रोटी आदि खाद्य पदार्थ। पाणं वा—द्राक्षादि का पानी। खाइमं वा—बादाम-किशमिश एवं फलादि। साइमं वा—स्वादिम-लवंगादि स्वादिष्ट पदार्थ। वत्थं वा—वस्त्रादि। पडिग्गहं वा—पात्रादि। कंबलं वा—कम्बलादि। पायपुंछणं वा—रजोहरणादि। परं आढायमाणे—अत्यधिक आदर पूर्वक। नोपादेज्जा—न देवे। नो निमंतिज्जा—न निमंत्रित-मनुहार करे। नो कुज्जावेयावडियं—न उनकी वैयावृत्य-सेवा शुश्रूषा करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ— हे आर्य ! पार्श्वस्थ मुनि या शिथिलाचारी [जैन साधु के वेश मे स्थित चारित्र से हीन] साधु या जैनेतर भिक्षुओं को विशेष आदरपूर्वक अन्न पानी, खादिम-मिष्टानादि एवं स्वादिम-लवगादि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि न देवे, न निमन्त्रित करे और न उनको वैयावृत्य ही करे। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचना

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को किसके साथ सम्बन्ध रखना चाहिए। सम्बन्ध हमेशा अपने समान आचार-विचार वाले व्यक्ति के साथ रखा जाता है। इसी बात को यहा समनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों मे अभिव्यक्त किया गया है। दर्शन एवं चरित्र से सपन्न साधु समनोज्ञ कहलाता है और इन से रहित अमनोज्ञ। अत. साधु को दर्शन एव चरित्र सपन्न मुनियों के साथ आहार आदि का सम्बन्ध रखना चाहिए, अन्य के साथ नहीं। इसके अतिरिक्त जो साधु दर्शन से सम्पन्न है और जैन मुनि के वेश मे है, परन्तु चारित्र सम्पन्न नहीं है—शिथिलाचारी है या केवल वेश सम्पन्न है, परन्तु दर्शन एव चारित्र निष्ठ नहीं है और जो साधु दर्शन, चरित्र एव वेश से सम्पन्न नहीं है अर्थात् जैनेतर सम्प्रदाय का भिक्षु है, तो उन्हें विशेष आदर सत्कार के साथ आहार पानी, वस्त्र–पात्र आदि पदार्थ नहीं देना चाहिए और न उनकी वैयावृत्य-सेवा ही करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि विश्व बन्धुत्व का भाव रखने वाले जैन दर्शन मे इतनी सकीर्णता क्यों ? इसका समाधान यह है कि साधक का जीवन रत्नत्रय की विशुद्ध आराधना करने के लिए है। अत उसे ऐसे साधकों के साथ ही सम्बन्ध रखना चाहिए जो उसके स्तर के हैं। क्योंकि, उनके सपर्क एवं सहयोग से उसे अपनी साधना को आगे बढाने में बल मिलेगा। परन्तु विपरीत दृष्टि रखने वाले एवं चारित्र से हीन व्यक्ति की सगत करने से उसके जीवन पर बुरा प्रभाव पड सकता है। पहले तो उसका अमूल्य समय—जो स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन मे लगना चाहिए, वह इधर-उधर की वार्तों में नष्ट होगा। उसकी ज्ञान साधना में विघ्न पड़ेगा और दूसरे बार-बार आचार एव विचार के सम्बन्ध में विभिन्न तरह की विचारधाराए सामने आने से उसका मन लड़खडाने लगेगा और परिणाम स्वरूप उसके आचार एव विचार मे भी शिथिलता आने लगेगी। अत साधक को शिथिलाचार वाले स्वलिंगी एव दर्शन एव आचार से रहित अन्य लिंगी साधुओं से विशेष सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें आदर पूर्वक आहार आदि भी नहीं देना चाहिए।

इसमें एक दृष्टि यह भी है कि जैसे शिथिलाचारी साधु दर्शन एवं वेश से मनोज्ञ और चारित्र से अमनोज्ञ है, उसी प्रकार श्रावक एवं सम्यग् दृष्टि दर्शन से समनोज्ञ और चारित्र एवं वेश से अमनोज्ञ होते हैं और शाक्य शैव आदि अन्य साधु सन्यासी दर्शन चारित्र एवं वेश से अमनोज्ञ हैं। अतः साधु किसके साथ आहारादि का सम्बन्ध रखे और किससे न रखे यह बड़ी कठिनता है। सम्यग् दृष्टि से लेकर शिथिलाचारी तक मनोज्ञता एवं अमनोज्ञता दोनों ही हैं। यदि शिथिलाचारी के साथ आहार आदि का संबन्ध रखा जा सकता है, तो दर्शन से समनोज्ञ श्रावक के साथ संबन्ध क्यों न रखा जाए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। परन्तु, सबके साथ संबंध रखने पर वह अपनी साधना का भली-भांति परिपालन नहीं कर सकेगा। अतः उसके लिए यही उचित है कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से मनोज्ञ—संपन्न साधु के साथ ही अपना सम्बन्ध रखे अन्य के साथ नहीं।

जब उसका सम्बन्ध रत्नत्रय से सम्पन्न साधुओं के साथ ही है तो वह प्रत्येक आवश्यक वस्तु अपने एवं अपने से सम्बद्ध साधकों के लिए ही लाएगा और देने वाला दाता भी उनके उपयोग के लिए ही देगा। अतः उसे अपने एवं अपने साथियों के लिए लाए हुए आहार-पानी आदि पदार्थों को अपने से असम्बद्ध व्यक्तियों को देने का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। प्रथम तो उसे उक्त पदार्थ अन्य असम्बद्ध साधु को देने के लिए गृहस्थ की आज्ञा न होने से चोरी लगती है, उसके तीसरे महाव्रत में दोष लगता है और दूसरा दोष यह आएगा कि उनसे अधिक संपर्क एवं परिचय होने से उसके विशुद्ध दर्शन एवं चारित्र में शिथिलता आ सकती है। इसलिए साधक को अपने से असम्बद्ध स्वलिंगी एवं परलिंगी किसी भी साधु को विशेष आदर सत्कार पूर्वक आहार-पानी आदि नहीं देना चाहिए। यह उत्सर्ग सूत्र है, अपवाद में कभी विशेष परिस्थिति में आहारादि दिया भी जा सकता है*। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में आहारादि देने का सर्वथा निषेध न करके आदर-सम्मान पूर्वक देने का निषेध किया गया है।

इससे स्पष्ट हो गया कि इस निषेध के पीछे कोई दुर्भावना संकीर्णता एवं तिरस्कार की भावना नहीं है। केवल संयम की सुरक्षा एवं आचार शुद्धि के लिए साधक को यह आदेश दिया गया है कि वह रत्नत्रय से सम्पन्न मुनि के साथ ही आहार पानी आदि का सम्बन्ध रखे और उसकी ही सेवा-शुश्रूषा करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

* इस का विशेष विवरण द्वितीय श्रुतस्कन्ध में देखें।

मूलम्—धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुञ्छणं वा लभिया, नो लभिया, भुंजिया, नो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे, समेमाणे, चलेमाणे, पाइज्जा वा, निमंतिज्ज वा, कुज्जा वेयावडियं, परं अणाढायमाणे त्तिबेमि ॥१६५॥

छाया—ध्रुव चैतज्जानीयात्, अशन वा यावत् पादप्रोञ्छनं वा लब्ध्वा, नो लब्ध्वा, भुक्त्वा, नो भुक्त्वा, पंथान व्यावर्त्य व्युत्क्रम्य विभक्तं धर्मं जुषन् समागच्छन् चलन (गच्छन्) प्रदद्याद्वा वा निमन्त्रयेद्वा कुर्यद् वैयावृत्य परमनाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—बौद्धादि भिक्षु—जैन भिक्षु के प्रति कहते हैं कि हे भिक्षु! धुंव—ध्रुव-निश्चय। च—पुनः। इय—यह। जाणिज्जा—जान। असण—अशन-अन्न अथवा। जाव—यावत्। पायपुञ्छण—पादपुञ्छन-रजोहरण आदि। वा—परस्पर अपेक्षार्थक है। लभिया—प्राप्त कर के। नोलभिया—प्राप्त नहीं करके। भुंजिया—भोगकर-खाकर। न भुंजिया—विना खाए ही पथ विउता—मार्ग का अपक्रम या। विउक्कम्म—व्युत्क्रम करके भी हमारे मठ में आजना। विभत्तधम्म—भिन्न धर्म को। जोसेमाणे—सेवन करता हुआ। समेमाणे—उपाश्रय मे आकर कहता हो या। चलेमाणे—चलते हुए के प्रति कहता हो या। पाइज्जा—अन्न आदि देता हो। वा—अथवा। निमंतिज्जा—निमन्त्रण करे। वेयावडिय कुज्जा—वैयावृत्य करे। परअणाढायमाणे—मुनि को अत्यन्त अनादरवान-अनादर युक्त होकर रहना चाहिए। यह दर्शन शुद्धि का उपाय है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—यदि किसी जैन भिक्षु को कोई बौद्धादि भिक्षु ऐसा कहे कि तुम्हे निश्चित रूप से हमारे मठ मे सब प्रकार के अन्नादि पदार्थ मिल सकते हैं। अतः हे भिक्षु! तू अन्न पानी आदि को प्राप्त करके या इन्हें विना प्राप्त किए, उन्हे खाकर या विना खाए ही तुमको हमारे मठ मे अवश्य आना चाहिए। भले ही तुम्हें वक्रमार्ग से हो क्यो न आना पडे, आना अवश्य। यदि विभिन्न धर्म वाला साधु, उपाश्रय मे आकर या मार्ग मे चलते हुए को इस प्रकार कहता हो या आदरपूर्वक अन्नादि का निमन्त्रण देता हो या सम्मान पूर्वक अन्नादि पदार्थ देना चाहता

हो और वैयावृत्य-सेवा-शुश्रूषा आदि करने की अभिलाषा रखता हो, तो ऐसी स्थिति में संयमशील मुनि को उसके वचनों का विशेष आदर नहीं करना चाहिए अर्थात् उसके उक्त प्रस्ताव को किसी भी तरह स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में अपने से असंबद्ध अन्य मत के भिक्षुओं को आहार-पानी आदि देने का निषेध किया था। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि यदि कोई बौद्ध या अन्य किसी मत का साधु आकर कहे कि हे मुनि ! तुम हमारे विहार में चलो। वहां तुम्हें भोजन आदि की सब सुविधा मिलेगी। यदि तुम्हें हमारे यहां का भोजन नहीं करना हो तो तुम भोजन करके आ जाना। भले ही तुम भोजन करके आओ या भूखे ही आओ जैसे तुम्हारी इच्छा हो, परन्तु हमारे यहां आना अवश्य। इस तरह के वचनों को मुनि आदर पूर्वक श्रवण न करे। इसका तात्पर्य यह है कि वे विभिन्न प्रलोभनों के द्वारा परिचय बढ़ाकर उसे अपने मत में मिलाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए उनके संपर्क से मुनि के आचार एवं विचार में गिरावट आ सकती है, वह साधना पथ से भ्रष्ट हो सकता है। अतः उसे उनसे घनिष्ठ परिचय नहीं बढ़ाना चाहिए और न उनके संपर्क में अधिक आना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र सामान्य रूप से है। श्रुत एवं आचार सम्पन्न विशिष्ट साधक अन्य मत के भिक्षुओं के साथ विचार-चर्चा कर सकता है। क्योंकि, उसमें अपनी साधना में दृढ़ रहते हुए अन्य व्यक्ति को सत्य मार्ग बताने की योग्यता है। वह उन्हें भी सही मार्ग पर ला सकता है। अतः विशिष्ट साधक के लिए प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु, सामान्य साधक में अभी इतनी योग्यता नहीं है कि वह उन्हें सही मार्ग पर ला सके। अतः उनके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने से संबद्ध मुनियों के अतिरिक्त अन्य के साथ संपर्क न बढ़ावे न उनका आदर-सम्मान करे एवं न उनके स्थान पर ही आए-जाए। वह न उनकी सेवा करे और न उनसे सेवा-शुश्रूषा करावे।

अन्य मत के विचारकों की विचारधारा कैसी है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरम्भट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि

समणुजाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा अत्थि लोए, नत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडेत्ति वा, दुक्कडेत्ति वा, कल्लाणेत्ति वा, पावेत्ति वा. साहुत्ति वा, असाहुत्ति वा, सिद्धित्ति वा. असिद्धित्ति वा, निरएत्ति वा. अनिरएत्ति वा, जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात् एवं तेसि नो सुयक्खाए धम्मे, नो सुपन्नत्ते धम्मे भवइ ॥१९६॥

छाया—इहैकेषामाचारगोचरो नो निशान्तो भवति ते इह आरंभार्थिनो भवन्ति, अनुवदन्तः जहि प्राणिनः घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः अथवा अदत्तमाददति (गृह्णन्ति) अथवा वाचो वियुञ्जन्ति, तद्यथा-अस्ति लोक, नास्ति लोकः, ध्रुवो लोक, अध्रुवो लोकः, सादिको लोकः, अनादिको लोकः, सपर्यवसितो लोक, अपर्यवसितो लोक, सुकृतमिति वा, दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा, पापमिति वा, साधुरिति वा, असाधुरिति वा, सिद्धिरिति वा, असिद्धिरिति वा, नरक इति वा, अनरक इति वा, यदिद विप्रतिपन्नाः मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्तः अत्रापि जानीत अकस्मादेव तेषां न स्वाख्यातो धर्मो नो सुप्रज्ञापितो धर्मो भवति।

पदार्थ—इह इस मनुष्य लोक में। एगेसि—किसी किसी को—जिनके पूर्वकृत अशुभ कर्म उदय मे आरहे हैं। आयारगोयरे—आचार विषयक—जो मोक्ष मार्ग की साधना के विषय में। नो सुनिसते—भली-भान्ति से परिचित नही। भवति—होते हैं। ते—वे आचार-विचार से अपरिचित व्यक्ति। इह—इस लोक में। आरम्भट्ठी—आरम्भ करने वाले हो जाते हैं। अणुवयमाणा—फिर वे उन शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओ की तरह वोलने लग जाते हैं कि।

हणयाबे—तुम प्राणियों का अवहनन—नाश करो। घायमाणा—वे अन्य व्यक्तियों से घात कराते हुए। हणओ या ब—और हनन करने वाले प्राणियों का। समणुजाणमाणा—अनुमोदन समर्थन करते हैं। अदुवा—अथवा। अदिन्नमाइयन्ति—वे अदत्तादान ग्रहण करते हैं इस प्रकार पहले तीसरे महाव्रत के संबंध में कहकर अब सूत्रकार दूसरे व्रत के विषय में भी कुछ बातें कहते हैं। अदुवा—अथवा। वायाउ विउज्जन्ति—वे विविध प्रकार के वचन बोलते हैं। तंजहा—जैसे कि। अत्थि लोए—एक कहता है कि लोक है तो दूसरा कहता है कि। नत्थि लोए—लोक नहीं है, एक कहता है कि। धुवलोए लोक ध्रुव है, तो दूसरा कहता है कि। अधुवे लोए—लोक अध्रुव है। साइए लोए—एक कहता है कि लोक सादि है, तो दूसरा कहता है कि। अणाइए लोए लोक अनादि है एक कहता है कि। सपज्जवसिए लोए—लोक सपर्यवसित अर्थात् सान्त है तो दूसरा कहता है कि। अपज्जवसिए लोए—लोक अनन्त है। सुकडेति वा—एक कहता है कि इसने दीक्षा ले कर अच्छा किया तो दूसरा कहता है कि। दुक्कडेति वा—इसने बुरा कार्य किया अर्थात् इसने जो दीक्षा ग्रहण की है यह बुरा कार्य है। कल्लाणेति वा—एक कहता है कि यह कल्याणकारी काम है तो दूसरा कहता है कि। पावेति वा—यह दीक्षा लेना पाप कार्य है। साहुति वा—एक कहता है यह साधु है तो दूसरा कहता है कि। असाहुत्ति वा—यह असाधु है। सिद्धित्ति वा—एक कहता है सिद्धि है तो दूसरा कहता है कि। असिद्धित्ति वा—सिद्धि नहीं है, एक कहता है कि यह। निरएत्ति वा—नरक है, तो दूसरा कहता है कि यह। अनिरएत्ति वा—नरक नहीं है। इस प्रकार अन्य मत वाले भिक्षु विभिन्न विचार प्रकट करते हुए अपने २ आग्रह में फंसे हुए हैं अब सूत्रकार यह बताते हैं कि। जमिणं—जो यह। विप्पडिवन्ना—नाना प्रकार के आग्रहों से युक्त। मामगं धम्मं—स्वकीय—अपने २ धर्म का। पन्नवेमाणा—प्ररूपण करते हुए और स्वधर्म से ही मोक्ष मानते हुए अन्य मत वालों को मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त करने का यत्न करते हैं अतः सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यो! जाणह—तुम इसे जानो। इत्थवि—इस पर भी लोकादि विषयक। अकस्मात्—बिना हेतु के एकान्त पक्ष का ग्रहण करते हैं। एवं—इस प्रकार। तेसिं—उन वादियों का कथन। नो सुअक्खाए धम्मे—युक्ति युक्त धर्म नहीं है और। नो सुपन्नत्ते धम्मे—यह धर्म भली भांति प्रतिपादन किया हुआ भी नहीं। भवइ—है।

मूलार्थ—इस संसार में कुछ व्यक्तियों को आचार विषयक सम्यग् बोध नहीं होता। अतः कुछ अज्ञात भिक्षु इस लोक में आरम्भ में प्रवृत्त हो जाते हैं। वे अन्य धर्मावलम्बियों के कथनानुसार स्वयं भी जीवों के वध को आज्ञा देते हैं दूसरों से वध करवाते हैं और वध करने वालों का अनुमोदन भी करते हैं। वे अदत्तादान का ग्रहण करते हैं और अनेक

तरह के विरुद्ध वचनो के द्वारा एकात पक्ष की स्थापना करते हैं। जैसे कि कुछ व्यक्ति कहते हैं कि लोक है, तो कुछ कहते हैं कि लोक नही है। कोई कहता है कि यह लोक ध्रुव-शाश्वत है, तो कोई कहता है कि यह लोक अध्रुव-अशाश्वत है। कोई कहता है कि लोक सादि है, तो कोई कहता है कि लोक अनादि है। कोई कहता है कि लोक सान्त है, तो कोई कहता है कि लोक अनन्त है। कोई कहता है कि इसने दीक्षा ली यह अच्छा काम किया, तो कोई कहता है कि इसने यह अच्छा नही किया है। कोई कहता है, धर्म कल्याण रूप है तो कोई कहता है कि यह पाप रूप है। कोई कहता है कि यह साधु है, तो कोई कहता है कि यह असाधु है। कोई कहता है कि सिद्धि है, तो कोई कहता है कि सिद्धि का अस्तित्व ही नही है। कोई कहता है कि नरक है, तो कोई कहता है नरक का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार ये विभिन्न विचारक एकान्ततः अपने २ मत की स्थापना करते हैं। ये अन्य धर्मावलम्बी विविध प्रकार के विरुद्ध वचनो से धर्म की प्ररूपणा करते हैं। अतः भगवान कहते हैं कि हे शिष्यो! इन विभिन्न धर्मावलम्बियो के द्वारा कथित धर्म का स्वरूप अहेतुक होने से प्रामाणिक नही है और उनमे एकात पक्ष का अवलम्बन होने से वह यथार्थ भी नही है। अतः तुम्हे यह समझना चाहिए कि वह आदरणीय भी नही है।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे अपने से असम्बद्ध अन्य मत के भिक्षुओं के साथ परिचय बढाने का जो निषेध किया है, उसका कारण यह है कि वे धर्म से परिचित नहीं हैं। उनका आचार-विचार साधुत्व के योग्य नहीं है। वे हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों से मुक्त नहीं हुए हैं। वे स्वयं हिंसा आदि दोषों का सेवन करते हैं, अन्य व्यक्तियों से दोषों का सेवन करवाते हैं और दोषों का सेवन करने वाले व्यक्तियों का समर्थन भी करते हैं। इसी तरह वे भोजनादि स्वयं बना लेते हैं या अपने लिए बनवा लेते हैं। इसी प्रकार वे अग्नि, पानी आदि का आरम्भ-समारम्भ भी करते-करवाते हैं। वे किसी भी प्रकार के दोष से निवृत्त नहीं हुए हैं।

दूसरे में उन्हें तत्त्व का भी बोध नहीं है। वे लोक है, लोक नहीं है, लोक

ध्रुव है लोक अध्रुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सपर्यवसित—सान्त है, लोक अपर्यवसित—अनन्त है सुकृत है, दुष्कृत है, कल्याण है पाप है, पुण्य है, साधु है असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, नरक नहीं है, इन वादों को स्पष्टतया नहीं जानते हैं। कोई इनमें से किसी एक का प्रतिपादन करता है, तो दूसरा उसका निषेध करके अन्य का समर्थन करता है। जैसे पतञ्जलि दर्शन लोक को एकान्त ध्रुव मानता है, तो बौद्ध दर्शन इसे एकान्त अध्रुव† मानता है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक भी किसी एक तत्त्व का प्रतिपादन करके दूसरे का निषेध करते हैं। क्योंकि, उन्हें वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने से उनके विचारों में स्पष्टता एवं एकरूपता उभर नहीं आती है। जैसे वेदों में विराट् पुरुष द्वारा सृष्टि का उत्पन्न होना माना है। मनुस्मृति आदि में लिखा है कि सृष्टि का निर्माण अण्डे से हुआ है। पुराणों में विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और उससे सृष्टि का सृजन हुआ ऐसा उल्लेख किया गया है। स्वामी दयानन्द जी की कल्पना इससे भिन्न एवं विचित्र है। वे माता-पिता के संयोग के बिना ही अनेक युवक स्त्री-पुरुषों का उत्पन्न होना मानते हैं। ईसाई और यवन विचारकों की सृष्टि के सम्बन्ध में इनसे भी भिन्न कल्पना है। गॉड (ईश्वर) या खुदा ने कहा कि सृष्टि उत्पन्न हो जाए और एकदम सारा संसार जीवों से भर गया। इस प्रकार अन्य तत्त्वों के विषय में भी सबकी भिन्न २ कल्पना है। इसलिए कोई विचारक एक निश्चय पर नहीं पहुंच सकता है। उसके मन में भ्रान्ति हो जाती है। इसलिए आगम में कहा गया है कि अपने से असम्बद्ध विचारकों के साथ परिचय नहीं रखना चाहिए। क्योंकि, इससे श्रद्धा निष्ठा में शिथिलता आने की सम्भावना है।

उपरोक्त तत्त्वों के सम्बन्ध में जैनों का चिन्तन स्पष्ट है। संसार के समस्त पदार्थ अनेक धर्म वाले हैं अतः उनका एकान्त रूप से एक ही स्वरूप नहीं होता है। जैसे लोक नित्य भी है और अनित्य भी है, सादि भी है और अनादि भी है। वह सान्त भी है और अनन्त भी है। भगवती सूत्र में बताया गया है कि लोक चार प्रकार का है—द्रव्य लोक, क्षेत्र लोक, काल लोक और भाव लोक। द्रव्य और क्षेत्र से लोक नित्य है। क्योंकि द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है और क्षेत्र से भी वह

†'अध्रुवः' इत्यादि भूगोलः केषाञ्चिन्मतेन नित्यं चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव।—आचाराङ्ग टीका, पृष्ठ, २२६।

टीका के इस पाठ से यह परिज्ञात होता है कि आजकल के वैज्ञानिकों की तरह पहले भी इस तरह के लोग थे जो यह मानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य नहीं चलता है—स्थिर है।

सदा १४ राजू परिमाण का रहता है। काल एवं भाव की अपेक्षा से वह अनित्य है। क्योंकि भूतकाल मे लोक का जो स्वरूप था, वह वर्तमान में नहीं रहा और जो वर्तमान मे है वह भविष्य मे नहीं रहेगा, उसकी पर्यायों मे प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है। इसी तरह भाव की अपेक्षा से भी उसमे सदा एकरूपता नहीं रहती है। कभी वर्णादि गुण हीन हो जाते है, तो कभी अधिक हो जाते है। अत द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक नित्य भी है और काल एवं भाव की दृष्टि से अनित्य भी है। इसी प्रकार सादि-अनादि, सान्त-अनन्त आदि प्रश्नो का समाधान भी स्याद्वाद की भाषा मे दिया गया है। उसमे किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता है, क्योंकि उसमे एकान्तता नहीं है। उसमे किसी एक पक्ष का समर्थन एवं दूसरे का सर्वथा विरोध नहीं मिलता है। उसमे प्रत्येक पदार्थ को समझने की एक अपेक्षा, एक दृष्टि रहती है। वैज्ञानिकों ने भी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सापेक्षवाद को स्वीकार किया है। आगमिक भाषा मे इसे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या विभज्यवाद कहा है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकान्तवाद पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने मे समर्थ नहीं है। अत मुनि को एकान्तवादियों से संपर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें यथार्थ धर्म में श्रद्धा-निष्ठा रखनी चाहिए।

कौन-सा धर्म यथार्थ है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्तिबेमि। सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए. गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे, नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया, जामा तिन्नी उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया ॥१९७॥

छाया—तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितमाशुप्रज्ञेन जानता-पश्यता अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्येति ब्रवीमि, सर्वत्र सम्मतं पापं, तदेवोपातिक्रम्य,

एष मम विवेको व्याख्यातः ग्रामे वा अथवा अरण्ये वा, नैवग्रामे, नैवाऽरण्ये धर्ममाजानीत प्रवेदितं माहनेन मतिमता यामास्त्रय उदाहृता येषु इमे आर्याः संबुध्यमानाः समुत्थिताः ये निर्वृताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः।

पदार्थ—से—वह। जहेयं—जैसे इस स्याद्वाद—अनेकान्तवाद रूप वस्तु का यथार्थ वर्णन करने वाले सिद्धान्त का। भगवया—भगवान महावीर ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है वे प्रतिपादक कैसे हैं? आसुपन्नेण—आशुप्रज्ञा वाले हैं। जाणया—उपयोग से युक्त हैं। पासया—दर्शनोपयोग से सम्पन्न हैं अतः एकान्तवादियों का धर्म स्वाख्यात नहीं है। अदुवा—अथवा। वओगोयरस्स—वाणी के विषय को। गुत्ती—गुप्त रखना-बोलते समय भाषा समिति का विचार रखना अर्थात् वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति को पूर्ण व्यवस्थित रखना चाहिए उस महापुरुष ने इस प्रकार का उपदेश दिया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। सव्वत्थ—यह सिद्धान्त सर्वत्र। संमयं—सम्मत है। पावं—परन्तु मैंने पाप का एवं। तमेव उवाइक्कम्म—उस पाप कर्म का परित्याग कर दिया है। मह—मेरा। एस—यह। विवेगे—विवेक। गामे वा—ग्रामों में। अदुवा—अथवा। रण्णे—जंगल में, सर्वत्र। वियाहिए—कहा गया है। नेव गामे—और न ग्रामों में धर्म है। नेव रण्णे—न जंगल में है, किन्तु यह तो विवेक में है। पवेइयं—भगवान ने ऐसा प्रतिपादन किया है अतः। धम्ममायाणह—तुम धर्म को जानो। मइमया—मतिमान। माहणेण—भगवान ने। तिण्णि—तीन। जामा—याम-व्रत विशेष। उदाहिया—कहे हैं। जेसु इमे—इन यामों में। आयरिया—जो आर्य मनुष्य। संबुज्झमाणा—बोध को प्राप्त होकर। समुट्ठिया—साधना के लिए उद्यत हुए हैं। जे—जो। निव्वुया—क्रोधादि को दूर करके शान्त हो गए हैं। पावेहिं कम्मेहिं—पाप कर्म करने से जो। अणियाणा—निदान से रहित हैं अर्थात् पापकर्म में जिनकी इच्छा एवं रुचि नहीं है। ते—वे। वियाहिया—मुमुक्षु—मोक्ष मार्ग के योग्य कहे गए हैं।

मूलार्थ—जैसा कि यह स्याद्वाद रूप सिद्धांत सर्वदर्शी भगवान ने प्रतिपादन किया है एकान्तवादियों का वैसा सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि भगवान भाषा समिति युक्त हैं अथवा भगवान ने वाणी के विषय में गुप्ति और भाषा समिति के उपयोग का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह है कि वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति का पूरा ध्यान रखना चाहिए। तर्क-वितर्क एवं वादियों के प्रवाद को छोड़कर यह कहना उचित एवं श्रेष्ठ है कि पाप कर्म का त्याग करना ही सर्ववादि सम्मत सिद्धान्त

है। अतः मैंने उस पापकर्म का त्याग कर दिया है। चाहे मैं ग्राम मे रहूं या जंगल मे रहूं, परन्तु पाप कर्म नही करना यह मेरा विवेक है। वस्तुतः धर्म न ग्राम मे है और न जंगल मे है, वह तो विवेक मे है। अत तुम परम मेधावी सर्वज्ञ कथित धर्म को जानो। भगवान ने तीन याम का वर्णन किया है। जिनमे ये आर्य लोग सम्बोध को प्राप्त होते हुए धर्म कार्य मे उद्यत हो रहे है और वे कषायो का परित्याग करके शान्त होते है। मुमुक्षु पुरुष पापकर्मों मे निदान से रहित होते है, अतः वे ही मोक्ष मार्ग के योग्य कहे गये है।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि स्याद्वाद की भाषा मे संशय को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता है। अत स्याद्वाद की भाषा में व्यक्त किया गया सिद्धान्त ही सत्य है। यह सिद्धान्त राग-द्वेष विजेता सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। इस--लिए इसमे परस्पर विरोधि बातें नहीं मिलती है और यह समस्त प्राणियों के लिए हितकर भी है। वीतराग भगवान के वचनों में यह विशेषता है कि वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते हैं, परन्तु किसी भी व्यक्ति का तिरस्कर नहीं करते। इनके उपासक मुनि भी वाद-विवाद के समय असत्य तर्कों का खण्डन कर के सत्य सिद्धात को बताते हैं, परन्तु यदि कहीं वाद-विवाद मे संघर्ष की सम्भावना हो या वितण्डावाद उत्पन्न होता हो तो वे उसमे भाग नहीं लेते। वे स्पष्ट कह देते हैं कि यदि तुम्हारे मन मे पदार्थ के यथार्थ स्वरूव को समझने की जिज्ञासा हो तो-शान्ति से तर्क वितर्क के द्वारा हम चर्चा कर सकते हैं और तुम्हारे संशय का निरा-करण कर सकते हैं। परन्तु, हम इस वितण्डावाद मे भाग नहीं लेंगे। क्योंकि, हम सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर चुके हैं और इसमें सावद्य प्रवृत्ति होती है। इसलिए हम इस चर्चा से दूर ही रहेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हम जगलों मे रहते हैं, कन्द-मूल खाते हैं, इसलिए हम धर्म-निष्ठ हैं। इस विषय मे सूत्रकार कहते हैं कि धर्म ग्राम या जगल मे नहीं है और न वह कन्द-मूल खाने में ही है। धर्म विवेक मे है, जीवाजीव आदि पदार्थों का यथार्थ बोध करके शुद्ध आचार का पालन करने मे है, प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की रक्षा करने मे है।

भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। स्थानाङ्ग सूत्र के तीसरे स्थान मे

कहा है—प्रथम, मध्यम और अन्तिम तीन याम—जीवन की तीन अवस्थाएं हैं*। इन तीनों यामों में जीव सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म को पा सकता है, श्रद्धानिष्ठ बन सकता है, त्याग, व्रत एवं प्रव्रज्या—दीक्षा को स्वीकार कर सकता है। आगम में दीक्षा के लिए जघन्य ८ वर्ष की आयु बताई है अर्थात् ८ वर्ष की आयु में मनुष्य संयम साधना के योग्य बन जाता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा गया है कि भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। भगवान का उपदेश किसी भी देश-काल विशेष से आबद्ध नहीं है, वह तो पाप से निवृत्त होने में है। वैदिक परम्परा में सन्यास के लिए अन्तिम अवस्था निश्चित की गई है और अरण्यवासी सन्यासी होता है। परन्तु, भगवान ने त्याग भावना को किसी काल—अवस्था या देश से बांध कर नहीं रखा। क्योंकि, मन में त्याग की जो उदात्त भावना आज प्रबुद्ध हुई है, वह अन्तिम अवस्था में रहेगी या नहीं? यदि त्याग की भावना बनी भी रही तब भी क्या पता तब तक जीवन रहेगा या बीच में ही मानव आगे के लिए चल पड़ेगा। अतः भगवान महावीर ने कहा है कि जब मन में त्याग की भावना जगे उसी समय उसे साकार रूप दे दो। काल का कोई विश्वास नहीं है कि वह मनुष्य को कब आ कर दबोच ले अतः शुभ कार्य में समय मात्र भी प्रमाद मत करो†। किसी भी काल एवं देश की प्रतीक्षा मत करो। जिस देश और जिस काल— भले ही बाल्यकाल हो, यौवनकाल हो या वृद्ध काल हो, मैं स्थित हो उसी काल में त्याग के पथ पर बढ़ चलो। वस्तुतः धर्म सभी काल में साधा जा सकता है। धर्म के लिए काल आवश्यक नहीं है, आवश्यक है पाप से हिंसा आदि दोषों से, विषय-कषाय से निवृत्त होना। अतः जिस समय मनुष्य पाप कार्य से निवृत्त होता है, तब से ही वह धर्म की साधना कर सकता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शीलांक ने याम शब्द का व्रत अर्थ किया है और प्राणातिपात मृषावाद एवं परिग्रह के त्याग को तीन याम कहा है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को भी तीन याम बताया है। त्रियाम का तीन व्रत के रूप में उल्लेख अपेक्षा विशेष से किया गया है। भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के शासन में पांच याम—व्रत और शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में चार याम—व्रत का उल्लेख

---

* चूर्णिकार ने भी याम शब्द का अवस्था अर्थ किया है और ८ से ३ वर्ष की आयु को प्रथम याम ३ से ६ वर्ष की आयु को मध्यम याम और उसके बाद की आयु को अन्तिम याम बताया है।

† समयं गोयम ! मा पमायए। —उत्तराध्ययन १ ।

मिलता है। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। क्योंकि, ये सब वर्णन अपेक्षा विशेष से किए गए हैं। तीन याम मे अस्तेय और ब्रह्मचर्य को छोड़ दिया है। मृषावाद और स्तेय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह किसी अंश में चोरी भी करता है और जो चोरी करता है, वह झूठ भी बोलता है। इस तरह मृषावाद एव स्तेय दोनों को एक मे ही स्वीकार कर लिया गया है। इसी तरह परिग्रह का अर्थ तृष्णा, लालसा एवं पदार्थों की भोगेच्छा है और तृष्णा, आकाक्षा एव भोगेच्छा का ही दूसरा नाम अब्रह्मचर्य है। अत अब्रह्मचर्य का परिग्रह मे समावेश कर लिया गया है। इससे व्रतों की सख्या तीन रह गई। चार व्रतों में ब्रह्मचर्य का अपरिग्रह मे समावेश किया गया है और पाच व्रतों मे सबको अलग अलग खोलकर रख दिया है, जिससे कि साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सकें। इस तरह त्रियाम, चतुर्याम और पंचयाम मे केवल संख्या का भेद है सिद्धात का नहीं। क्योंकि, सर्वज्ञ पुरुषों के सिद्धान्त मे परस्पर विरोध नहीं होता है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे त्रियाम* धर्म का उपदेश दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी भी समय में धर्म के स्वरूप को समझकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। जागने वाले के लिए जीवन का प्रत्येक समय महत्त्वपूर्ण है। जब जागे तब ही सवेरा— चाहे बाल्य काल हो या प्रौढकाल उस के लिए जीवन विकास का महत्त्वपूर्ण प्रभात है। मुमुक्षु पुरुष को पापकर्म से सर्वथा निवृत्त होकर प्रति समय संयम मे संलग्न रहना चाहिए।

इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंती च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभे. णं तं परिन्नाय मेहावी

---

* वैदिक ग्रन्थो मे भी 'याम' शब्द का उल्लेख मिलता है। वेदों मे 'याम' शब्द गति, प्रगति, मार्ग एवं रथ आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति एव महाभारत आदि में 'याम' शब्द का प्रयोग रात्रि और दिन के चतुर्थ भाग (¼) के अर्थ में मिलता है। गति का सम्बन्ध काल से होने के कारण 'याम' काल वाची भी मान लिया गया है। कालवाची 'याम' शब्द 'य' धातु से बना है और व्रत वाची 'याम' शब्द 'यम्' धातु से।

त्रिपिटक में भी तीन यामों का उल्लेख मिलता है और स्थानाग सूत्र की तरह उसके प्रथम आदि तीन भाग किए हैं। पञ्चयाम का तो नहीं, परन्तु चातुर्याम का वर्णन त्रिपिटको मे भी मिलता है और उसे निर्ग्रथों का धर्म बताया गया है।

नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारभाविज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारभंतेऽवि समणुजाणेज्जा जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारभंति तेसिंपि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्तिबेमि ॥१९८॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सर्वा (सा कारवत दिशाः) प्रत्येकं जीवेषु कर्म समारम्भः (तं) तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं (आत्मना) एतेषु कायेषु दण्डसमारमेत् नैवान्येन एतेषु कायेषु दंडं समारम्भयेत् नैवान्यान् एतेषु कायेषु दंडं समारभमाणानपि समनुजानीयात् ये चान्ये एतेषु कायेषु दंडं समारम्भन्ते तैरपि वयं लज्जामः तं परिज्ञाय मेधावी तं वा दंडं अन्यद् वा नो दण्डभी दंडं समारभेथाः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—उड्ढं—ऊंची । अहं—नीची । तिरियं—तिरछी । दिसासु—दिशाओं में । सव्वओ—सर्व प्रकार से । सव्वावंति—सब । च—च शब्द से विदिशाओं में । वं—वाक्यालंकार अर्थ में है । पाडियक्कं—प्रत्येक । जीवेहिं—जीवों में । कम्मसमारंभे—कर्म समारम्भ—उपमर्दन रूप क्रिया का प्रारम्भ । णं—प्राग्वत् । तं—उस समारम्भ को । परिन्नाय—जानकर—ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर । मेहावी—बुद्धिमान । नेवसयं—न स्वात्मा से । एएहिं काएहिं—इन कायों पृथ्वी आदि कायों में । दंडंसमारंभिज्जा—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करे । नेवन्ने—न अन्य व्यक्तियों से । एएहिं काएहिं । इन पृथ्वी आदि कायों में । दंडं समारंभाविज्जासि—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ कराये । नेवन्ने—न अन्य व्यक्तियों को । एएहिं काएहिं इन पृथ्वी आदि कायों में । दंडं समारंभंतेऽवि—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करने वालों के कार्य को । समणुजाणेज्जा—अच्छा समझे, और । नेवऽन्ने—जो अन्य । एएहिं काएहिं—इन पृथ्वी आदि कायों में । दंडं समारंभंति—उपमर्दन रूप का दंड का समारम्भ करते हैं । तेसिंपि—उनके इस प्रकार कार्य से भी । वयं लज्जामो—हम लज्जित होते हैं ।

न — उन जीवों में। मेहावी — बुद्धिमान। परिन्नाय — ज्ञान से जानकर। त वा दड — उस दड को। अन्न वा — मृषावाद आदि दड को। दडभी — उपमर्दन रूप दड से डरने वाला भिक्षु। दड — दड का। नो समारंभिज्जासि — समारम्भ न करे और न करावे। त्तिवेमि — इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओ तथा विदिशाओ मे रहने वाले जीवो मे उपमर्दन रूप दड समारम्भ को ज्ञान से जानकर मर्यादा शील भिक्षु स्वय दड का समारम्भ न करे और न अन्य व्यक्ति से दंड समारम्भ करावे तथा दंड समारम्भ करने वालो का अनुमोदन भी न करे। वह ऐसा माने कि जो लोग इन पृथ्वी आदि कायो मे दण्ड समारंभ करते हैं, उनके कार्य से हम लज्जित होते हैं। अतः हिंसा अथवा मृषावाद आदि दंड से डरने वाला बुद्धिमान पुरुष हिंसा के स्वरूप को जानकर दण्ड का समारम्भ न करे।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे हम देख चुके है कि धर्म देश-काल से आवद्ध नहीं है, प्रत्युत पाप से निवृत्त होने में है। प्रस्तुत सूत्र मे इसी वात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भिक्षु को पाप कर्म से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि, पाप कर्म के सयोग से चित्त वृत्तियों मे चचलता आती है। अत मन को शान्त करने के लिए साधक को हिंसा आदि दोषों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे छ काय पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति एव त्रस काय के जीवों का न तो स्वयं आरम्भ-समारम्भ करना चाहिए, न अन्य व्यक्ति से करवाना चाहिए और न आरम्भ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। इसी तरह मृषावाद, स्तेय आदि सभी दोषों का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग करना चाहिए। हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने रूप इस धर्म को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही आत्मा का विकास करके निर्वाण पद को पा सकता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन–विमोक्ष

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में असम्बद्ध साधु के साथ सम्बन्ध नहीं रखने का उपदेश दिया गया है। परन्तु इसके लिए अकल्पनीय पदार्थों—आहार-पानी स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का त्याग करना भी आवश्यक है। अतः साधु को किस तरह का आहार-पानी लेना चाहिए एवं कैसे स्थान में रहना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा, चिट्ठिज्ज वा निसीइज्ज वा, तुयट्टिज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुम्भारायणंसि वा, हुरत्था वा, कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा, पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स, कीय,पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं आहट्टु, चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुञ्जह, वसह, आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे आउसंतो! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि, नो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा

४ पाणाइं वा ४ समारम्भ समुद्दिस्स कीयं, पामिच्चं, अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई ! एयस्स अकरणयाए ॥१६६॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेद्वा, तिष्ठेद्वा, निषीदेद्वा, त्वग्वर्तेद्वा, श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहाया वा वृक्षमूले वा, कुम्भकारायतने वा, अन्यत्र वा क्वचिद्विहरन्तं त भिक्षुमुपसंक्रम्य गृहपतिर्ब्रूयात्—आयुष्मन् भो श्रमण ! अह खलु तवार्थाय अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा स्वादिमं वा, वस्त्र वा, पतद्ग्रहं (पात्र) वा, कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनं, प्राणिन , भूतानि, जीवान्, सत्त्वान् – समारभ्य समुद्दिश्य क्रीत, प्रामित्यं, आच्छिद्य, अनिसृष्ट, अभिहृतमाहृत्य ददामि, आवमथं वा समुच्छृणोमि तद् भुङ्क्ष्व वस्स आयुष्मन् श्रमण ! भिक्षुस्तं गृहपतिं समनस सवचसं प्रत्याचक्षीत्-आयुष्मन् गृहपते ! नो खलु ते वचनमाद्रिये, न खलु ते वचनं परिजानामि यस्त्व ममार्थाय अशनंवा४, वस्त्रं वा ४, प्राणिनो वा ४ समारम्य समुद्दिश्य क्रीतं, प्रामित्यं आच्छिद्यमनिसृष्टमभिहृतमाहृत्य ददासि आवसथं वा समुच्छृणोपि म (अह) विरतः आयुष्मन् गृहपते ! एतस्याकरणतया ।

पदार्थ—से—वह सावद्य व्यापार से निवृत्त हुआ । भिक्खू—भिक्षु । परिक्कमिज्ज—भिक्षा एव अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे । वा—अथवा, अपेक्षा अर्थ में जानना । चिट्ठिज्ज वा—खडा रहे । निसीइज्ज वा—बैठे या । तुयट्टिज्ज वा-कर्वट वदले या शयन करे । सुसाणसि वा—श्मशान में । सुन्नागारसि वा—शून्यागार-शून्य घर में । गिरिगुहसि वा—पर्वत की गुफा में । रुक्खमूलंसि वा—वृक्ष के मूल में—वृक्ष के नीचे । कुमारायतणसि वा—कुम्भकार की शाला मे । हुरत्था वा—ग्राम के वाहिर अन्यत्र । कहिंचि—किसी स्थान पर । विहरमाण—विचरते हुए । त—उस । भिक्खु—भिक्षु को । गाहावई—कोई गृहपति । उवसंकमित्तु—आकर । वूया—ऐसा कहे कि । आउसतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण! खलु—वाक्यालकारार्थ में है । अह—मैं । तव—तुम्हारे । अट्ठाए—लिये । असणं वा—अन्न । पाण वा—पानी । खाइम वा—खाद्य पदार्थ-मिठाई आदि । साइमं वा—स्वादिम—लवगादि पदार्थ । वत्थ वा—वस्त्र । पडिग्गह वा—काष्ठादि के पात्र । कंवलं वा—कम्वल-ऊन का वस्त्र ।

पायपुञ्छणं—पाद प्रोञ्छन-रजोहरण। पाणाइं—प्राणियों। भूयाइं—भूतों। जीवाइं—जीवों सत्ताइं—सत्वों का। समारब्भ—उपमर्दन कर के। समुद्दिस्स—साधु के उद्देश्य से। कीयं—खरीद कर। पामिच्चं—किसी से उधार लेकर। अच्छिज्जं—किसी से छीन कर। अणिसट्ठं—दूसरे की वस्तु को बिना आज्ञा लेकर। अभिहडं—अपने घर से। आहट्टु—लाकर। चेएमि—देता हूं और। आवसहं वा—आप के रहने लिए स्थान—उपाश्रय बनवाता हूं और। समुस्सिणोमि—उसका जीर्णोद्धार करवा देता हूं—पुराने बने हुए उपाश्रय का नया संस्कार करवा देता हूं। से—वह कहे कि। आउसंतो समणा—हे आयुष्मान श्रमण! आप। भुंजह—आहार-पानी करो और। वसह—उस उपाश्रय में रहो। गृहस्थ के ये वचन सुनकर वह। भिक्खू—भिक्षु—साधु। तं—उस। गाहावइं—गृहपति के प्रति। समणसं—मन से। सवयसं—वचन से। पडियाइक्खे—ऐसा कहे कि। आउसंतो गाहावई—हे आयुष्मान गृहपते! ते—तेरे। वयणं—वचन का। नो आढामि—मैं आदर नहीं कर सकता हूं। ते वयणं—और तेरे वचन को। नो परिजाणामि—मैं उचित नहीं समझता हूं। जमु—यह अपि अर्थ में है। जो तुम—जो तू। मम—मेरे। अट्ठाए—लिए। असणं वा ४—अन्नादि। वत्थं वा—वस्त्रादि। पाणाइं वा ४—प्राणि आदि का। समारम्भ—उपमर्दन करके। समुद्दिस्स—मेरे उद्देश्य से। कीयं—मोल लेकर। पामिच्चं—उधार लेकर। अच्छिज्जं—किसी से छीन कर। अणिसट्ठं—दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना लाकर या। अभिहडं—घर से। आहट्टु—लाकर मुझे। चेएसि—देता है या। आवसहं वा—उपाश्रय-मकान बनवा कर देता है या। समुस्सिणासि—जीर्णोद्धार करवा कर देता है यह मुझे स्वीकार नहीं है क्योंकि मैं। से—उक्त क्रिया से। विरओ—निवृत्त हो चुका हूं। आउसो गाहावई—हे आयुष्मान गृहपते! एयस्स—आपके इस वचन को। अकरणयाए—मैं स्वीकार नहीं कर सकता हूं।

मूलार्थ—वह भिक्षु (मुनि) आहारादि या अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। आवश्यकता होने पर वह खड़ा होवे बैठ और शयन करे। जब वह श्मशान में शून्यागार में पर्वत की गुफा में वृक्ष के मूल में या ग्राम के बाहर अन्य किसी स्थान पर विचर रहा हो उस समय उसके समीप आकर यदि कोई गृहपति इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण! मैं तुम्हारे लिए प्राण, भूत जीव सत्त्व आदि का उपमर्दन एवं आरंभ-समारम्भ करके आहार पानी खादिम मिठाई आदि स्वादिम-लवंग आदि वस्त्र पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि बनवा देता हूं या तुम्हारे उद्देश्य से मोल लेकर उधार लेकर किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की

वस्तु को उसकी विना अनुमति के लाकर एवं अपने घर से लाकर तुम्हे देता हू । मैं तुम्हारे लिए नया मकान-उपाश्रय वनवा देता हूं या पुराने मकान का नवीन सस्कार करवा देता हू। हे आयुष्मन श्रमण ! तुम अन्नादि पदार्थ खाओ और उस मकान मे रहो। ऐसे वचन सुनकर वह भिक्षु गृहपति से कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं तेरे इस वचन को आदर नहीं दे सकता और मैं तेरे इस वचन को उचित भी नहो समझता हू । क्योकि तू मेरे लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व आदि का उपमर्दन करके आहारादि पदार्थ बनाएगा या मेरे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसो से छीनकर या अन्य व्यक्ति की वस्तु उसकी विना आज्ञा ले कर और घर से लाकर देगा । तू नया मकान-उपाश्रय बनवा कर या पुरातन मकान का जीर्णोद्धार करवाकर देगा । परन्तु, हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं आप के इन पदार्थों को स्वीकार नही कर सकता हू । क्योकि, मैं विरत हू, आरम्भ समारम्भ का पूर्णत त्याग कर चुका हू, अतः मैं आप के उक्त प्रस्ताव का न आदर करता हू और न उसे उचित ही समझता हू ।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है। अत वह न तो स्वय भोजन वनाता है और न अपने लिए वनाया हुआ आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, मकान आदि स्वीकार ही करता है। वह गृहस्थ के अपने एव उसके परिवार के उपभोग के लिए वने हुए आहार-पानी आदि को अपनी मर्यादा के अनुरूप होने पर ही स्वीकार करता है । परन्तु, यदि उसके निमित कोई गृहस्थ आरम्भ-समारम्भ करके कोई पदार्थ तैयार करे, तो साधु को वह पदार्थ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

इसी तरह मुनि श्मशान मे, शून्य स्थान मे, पर्वत की गुफा मे या इस तरह किसी अन्य स्थान में वैठा हो, खडा हो या शयन कर रहा हो, उस समय यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त—गृहस्थ आकर मुनि से प्रार्थना करे कि मैं आपके लिए भोजन तैयार कर के तथा वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर लाता हूं और रहने के लिए मकान भी वनवा देता हूं। उस समय मुनि उसे कहे कि हे देवानुप्रिय ! मुनि को ऐसा भोजन एव वस्त्र-पात्र

आदि लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि, मैंने आरम्भ-समारम्भ का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग कर दिया है। अतः मेरे लिए भोजन आदि बनाने खरीदने आदि में अनेक तरह का आरम्भ होगा, अनेक जीवों का नाश होगा इसलिए मैं ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं कर सकता हूं।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि इस तरह की प्रार्थना जैन साधु के आचार से अपरिचित व्यक्ति ही कर सकता है। उस युग में बौद्ध आदि भिक्षु गृहस्थ का निमंत्रण स्वीकार करते थे। आज भी अन्य मत के बहुत से साधु-सन्यासी गृहस्थों का निमन्त्रण स्वीकार करते हैं। अतः उनकी वृत्ति को देखकर कोई जैन मुनि को भी निमन्त्रण दे तो मुनि उसे स्वीकार न करे। वह अपनी साधु वृत्ति से उसे परिचित कराकर अपनी निर्दोष साधना में संलग्न रहे।

श्मशान आदि में ठहरने के पाठ को वृत्तिकार ने जिनकल्पी एवं प्रतिमाधारी मुनि के लिए बताया है स्थविर कल्पी के लिए नहीं‡। परन्तु वृत्तिकार का कथन उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि, उत्तराध्ययन सूत्र में सभी साधुओं के लिए श्मशान आदि में ठहरने का उल्लेख मिलता है। कोई भी साधक आत्म चिन्तन के लिए ऐसे स्थान में ठहर सकता है*। निषिद्या परीषह का वर्णन करते समय भी श्मशान आदि शून्य स्थान में ठहरने का सभी साधुओं के लिए उल्लेख किया गया है†।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उपरोक्त निर्दोष स्थानों में स्थित साधु सदा निर्दोष वृत्ति से आहार पानी आदि स्वीकार करके शुद्ध संयम का पालन करे। यदि कोई गृहस्थ स्नेह एवं भक्ति वश सदोष वस्तु तैयार कर दे तो साधु उसे स्वीकार न करे।

---

‡ गच्छवासिनस्तत्र स्थानादिकं न कल्पते प्रमादस्खलितादौ व्यन्तराद्युपद्रवसम्भवात् तथा जिनकल्पार्थं सत्त्वभावनां भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञातः, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थानं, जिनकल्पिकस्य वा तदपेक्षया श्मशान सूत्रम्।—आचाराङ्ग वृत्ति।

* सुसाणे सुन्नागारे वा रुक्ख मूले व इक्कओ।
पइरिक्के परकडे वा वासं तत्थाभिरोयए॥

—उत्तराध्ययन ३५, ६।

† सुसाणे सुन्नागारे वा रुक्ख मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं॥
तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभि धारए।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं॥

—उत्तराध्ययन २,२० —२१।

वह उसका किस तरह निषेध करे इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाई भिक्खू परिघासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा— अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि ॥२००॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेत् यावदन्यत्र वा अन्यत्र ग्रामादेर्बहिः क्वचिद्विहरन्तं त भिक्षुमुपसक्रम्य गृहपतिरात्मगतया प्रेक्षया अशन वा ४ वस्त्र वा ४ यावदाहृत्य ददामि आवसथञ्च समुच्छृणोमि (करोमि) समुच्छृणोति परिघासयितु (भोजयितु) तञ्च भिक्षुः जानीयात् स्वसन्मत्या परव्याकरणेन अन्येभ्यो वा श्रुत्वा अय खलु गृहपतिः ममार्थाय अशन वा ४ वस्त्र वा यावदावसथ वा समुच्छृणोति त च भिक्षुः प्रत्युपेक्ष्यावगम्य ज्ञापयेदनासेवनया इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू—भिक्षु । परिक्कमिज्ज वा—कभी श्मशानादि में ध्यानादि की साधना मे पराक्रम करता हो । जाव—यावत् । हुरत्था वा—किसी अन्य स्थान पर । कहिंचि—कभी । विहरमाण—विचरता हो तब । त—उस । भिक्खु—भिक्षु के । उवसकमित्तु—पास आकर । गाहावई—गृहपति । आयगयाए पेहाए—अपने आत्मगत भावो को साधु के सामने प्रकट न करता हुआ कि मैं साधु को अवश्य दान दूगा, इस आशा से । असण वा ४—अशनादि । वत्थ वा ४—वस्त्रादि । जाव—यावत् । आहट्टु—लाकर । चेएइ—देता है । आवसह वा—उपाश्रय का । समुस्सिणाइ—जीर्णोद्धार करवाकर नया मकान बनवा देता है ।

परियावेर्द—आहार लाने के लिए गया हुआ। भिक्खू—साधु। च—पुनः। भिक्खू—भिक्षु। तं—उस भोजन को। सहसम्मइयाए—अपनी सद्बुद्धि से। परवागरणेणं—तीर्थंकर देव द्वारा कथित विधि विशेष से। वा—अथवा। अन्नेसिं सुच्चा—किसी अन्य परिजन आदि से सुनकर। अह—अवधारणार्थ में है। जाणिज्जा—जान ले, कि। अयं गाहावइ—यह गृहपति। असणं वा४—आहारादि। वत्थं वा४—वस्त्रादि। जाव—यावत्। आवसहं वा—यह अभिनव सुन्दर स्थानादि या। समुस्सिणाइ—जीर्णोद्धार किया हुआ मकान। मम अट्ठाए—मेरे लिए बनाया है, अतः। च—पुनः। त—उनका। पडिलेहाए—पर्यालोचन करके। आगमित्ता—जानकर। आणविज्जा—उस गृहस्थ से कहे कि। अणासेवणाए—ये सब पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नहीं हैं, अतः मैं इन्हें ग्रहण नहीं कर सकता। त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हूं।

मूलार्थ—वह भिक्षु श्मशानादि स्थानों में ध्यानादि साधना में पराक्रम करता हो या अन्य कारण से इन स्थानों में विचरता हो, उस समय यदि कोई गृहस्थ भिक्षु के पास आकर अपने मानसिक भावों को व्यक्त न करता हुआ, साधु को दान देने के लिए अन्न, वस्त्रादि लाकर या उसके निवास के लिए सुंदर स्थान बनवाकर उसे देना चाहता है। तब आहारादि की गवेषणा के लिए गया हुआ भिक्षु अपनी स्व बुद्धि से अथवा तीर्थकरोपदिष्ट विधि से या किसी अन्य परिजन आदि से उन पदार्थों के सम्बन्ध में सुनकर, यदि वह यह जान ले कि वस्तुतः यह गृहस्थ मेरे उद्देश्य से बनाए या खरीद कर लाए हुए आहार, वस्त्र और मकान आदि मुझे दे रहा है तो वह भिक्षु उस गृहस्थ से कहे कि ये पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नहीं हैं। अतः मैं इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में उल्लिखित विषय को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त मुनि को बिना बताए ही उसके निमित्त आहारादि बनाकर या वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर रख ले और आहार के समय मुनि को उसके लिए आमन्त्रण करे। उस समय आहार आदि की गवेषणा करते हुए मुनि को अपनी बुद्धि से या तीर्थंकरोपदिष्ट विधि से या किसी के कहने से यह ज्ञात हो जाए कि यह आहारादि मेरे लिए तैयार किया गया है या खरीदा गया है, तो वह उसे स्वीकार न करे। वह उस

गृहस्थ से स्पष्ट शब्दों मे कह दे कि इस तरह हमारे लिए बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहारादि हम नहीं लेते हैं। वह उसे साध्वाचार का सही बोध कराए, जिससे वह फिर कभी किसी भी तरह का सदोष आहारादि देने का प्रयत्न न करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हन्ता हणह, खणह, छिंदह, दहह, पयह आलुम्पह विलुम्पह सहसाकारेह विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया णमणेलिमं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए आयगुत्ते बुद्धेहिं एय पवेइय॥२०१॥

छाया—भिक्षुञ्च खलु पृष्ट्वा वाऽपृष्ट्वा वा यः इमे आहृत्य ग्रन्थात् स्पृशन्ति स हंता, हत, क्षणुत, छिन्त, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसा कारयत विपरामृशत तान् स्पर्शान्धीरः स्पृष्टः अधिसहेत अथवा आचार-गोचरमाचक्षीत, तर्कयित्वा अनीदृश अथवा वागगुप्तिर्विधेया, गोचरस्यानुपूर्व्या सम्यक्प्रत्युपेक्षेत, आत्मगुप्तो बुद्धैरेतत् प्रवेदितम्।

पदार्थ—च—यह समुच्चय अर्थ में है। खलु—यह वाक्यालकार अर्थ मे है। भिक्खु—भिक्षु को। पुट्ठा वा—पूछकर अथवा। अपुट्ठा वा—बिना पूछे। जे—जो। इमे—ये आहारादि पदार्थ। गथा वा—बहुत धन खर्च करके बनाए हैं। आहच्च—वह उसके सामने लाकर देने पर जब मुनि उसे ग्रहण नही करता है। तब वह गृहस्थ मुनि को। फुसन्ति-कष्ट—परितापनादि देता है, यथा—। से—वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोध के वशीभूत होकर साधु को। हता—स्वय मारता है तथा अन्य व्यक्तियों को मारने का आदेश देता है, वह कहता है। हणह—इस भिक्षु को मारो। खणह—पीडित करो। छिदह—इसके हाथादि अगोपागों का छेदन करो। दहह—इसे आग मे जला दो। पयह—इसके मांस को पकाओ। आलुपह—इसके वस्त्र छीन लो। विलुपह—इसका सब कुछ छीन लो। सहसाकारेह—इसको जल्दी मारो, जिससे इसकी मृत्यु हो जाए। विप्परामुसह—इसे अनेक तरह से पीडित करो। ते फासे—उन दुःख रूप स्पर्शो से।

पुट्ठो—स्पृष्ट हुआ । वीरो—वह धैर्यवान साधु । अहियासए—उन्हें सहन करे । अदुवा—अथवा । आयारगोयरमाइक्खे—उनसे साधु के आचारानुष्ठान को कहे । तक्किया—परन्तु साध्वाचार बताने के पूर्व यह सोच ले कि यह पुरुष माध्यस्थ वृत्ति वाला है, तो कहे । णं—वाक्यालंकार में है । अणेलिसं—अनुपम वचन कहे । यदि वह पुरुष दुराग्रही हो या अपनी आत्मा में उसे समझाने की शक्ति न हो । अदुवा—अथवा । वइगुत्तीए—तब वह वचन गुप्ति में स्थित रहे । गोयरस्स—आचार-गोचर की । अणुपुव्वेण—अनुक्रम से । सम्मं—सम्यक् बुद्धि का । पडिलेहाए—प्रतिलेखन करके । आयगुत्ते—आत्मा से गुप्त होता हुआ निरंतर संयम साधना में संलग्न रहे । बुद्धेहिं—बुद्धों—तीर्थंकरों ने । एय—इसका । पवेइयं—प्रतिपादन किया है ।

मूलार्थ—कोई सद्गृहस्थ साधु को पूछकर या बिना पूछे ही बहुत सा धन खर्चकर अन्नादि पदार्थ बना करके साधु के पास लाकर उसे ग्रहण करने की प्रार्थना करता है । परन्तु, जब साधु उसे अकल्पनीय समझकर लेने से इनकार करता है, तब क्रोध के वशीभूत होकर वह गृहस्थ साधु को परिताप देता है, उसे मारता है तथा दूसरों से कहता है कि इस भिक्षु को मारो इसका विनाश करो इसके हाथ-पैर काट लो, इसको अग्नि में जला दो, इसके मांस को काट कर पकाओ इसके वस्त्रादि छीन लो, इसका सब कुछ लूट लो और इसे नाना प्रकार से पीड़ित करो जिससे इसकी जल्दी ही मृत्यु हो जाए । इत्यादि कठोर परीषहों-कष्टों के उपस्थित होने पर भी साधु उन कष्टों को बड़े धैर्य से सहन करे । यदि वे समझने योग्य हैं, तो वह उन्हें साध्वाचार का यथार्थ स्वरूप समझा कर शान्त करे । यदि वे अयोग्य व्यक्ति हैं तो वह वचन-गुप्ति का पालन करे-मौन रहे । वह अनुक्रम से अपने आचार का सम्यक् प्रतिलेखन करके आत्मा से गुप्त होता हुआ सदा उपयोग पूर्वक क्रियानुष्ठान में संलग्न रहे । तीर्थंकरों ने इस विषय का इस प्रकार से प्रतिपादन किया है ।

हिन्दी विवेचन

साधना का महत्व सहिष्णुता में है । अतः कठिनाई के समय भी साधु को समभाव पूर्वक परीषहों को सहते हुए संयम का परिपालन करना चाहिए । परन्तु परीषहों

के उपस्थित होने पर उसे सयम से भागना नहीं चाहिए। साधना की कसौटी परीषहों के समय ही होती है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है कि साधु को खाने-पीने के पदार्थों एव वस्त्र-पात्र आदि के प्रलोभन मे आकर अपने सयम मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। परन्तु, ऐसे समय मे भी समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध सयम का पालन करना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति स्वादिष्ट पकवान बनाकर या सुन्दर एव कीमती वस्त्र-पात्र ला-कर दे और उसे ग्रहण करने के लिए अत्यधिक आग्रह भी करे, तब भी साधु उन्हें स्वीकार न करे। वह उसे स्पष्ट शब्दों में समझाए कि इस तरह का आहार आदि लेना हमें नहीं कल्पता है। यदि इस पर भी वह गृहस्थ न माने—क्योंकि कई पूंजीपति गृहस्थों को अपने वैभव का अभिमान होता है। वे चाहते हैं कि हमारे विचारों को कोई ठुकराए नहीं। जिन्हें वे अपना गुरु मानते हैं, उनके प्रति भी उनकी यह भावना रहती है कि वे भी मेरे विचारों को स्वीकार करे, मेरे द्वारा दिए जाने वाले पदार्थों या विचारों को अस्वीकार न करे। इस पर भी यदि कोई साधु अकल्पनीय वस्तु को स्वीकार नहीं करता है, तो उनके अभिमान को ठेस लगती है और वे आवेश में आकर अपने पूज्य गुरु के भी शत्रु बन जाते हैं। वे उसे मारने-पीटने एव विभिन्न कष्ट देने लगते हैं। ऐसे समय मे भी मुनि को अपने आचार पथ से नहीं गिरना चाहिए। मुनि को पदार्थों के लोभ में आकर अपनी मर्यादा को तोडना नहीं चाहिए और न कष्टों से घबराकर ही सयम से विमुख होना चाहिए। परन्तु हर परिस्थिति मे सयम मे संलग्न रहते हुए उन्हें आचार का यथार्थ स्वरूप समझाना चाहिए।

इस विषय मे कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— ते समणुन्ने असमणुन्नस्स असणं वा जाव नो पाइज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं पर आढाय-माणे त्तिबेमि ॥२०२॥

छाया—स समनोज्ञोऽसमनोज्ञायाशनं वा यावन्नो प्रदद्यात्, न निमंत्रयेत्, न कुर्याद्वैयावृत्य परमाद्रियमाण इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। समणुन्ने—समनोज्ञ मुनि। असमणुन्नस—असमनोज्ञ साधु को। असणं वा—आहार आदि पदार्थ। पर आढायमाणे—अति आदर पूर्वक। नो पाइज्जा—नदेवे।

नो निमंतिज्जा—न निमंत्रित करे। नो कुज्जा वेयावडियं—न वैयावृत्य ही करे। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—समनोज्ञ साधु असमनोज्ञ साधु को आदर-सम्मान पूर्वक आहार आदि नहीं दे और न उसकी वैयावृत्य ही करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक के १६४वें सूत्र में उल्लिखित विषय को दोहराया गया है। इसका विवेचन उक्त स्थान पर किया जा चुका है, अतः हम यहां पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं समझते, पाठक वहीं देख लें।

समनोज्ञ साधु को समनोज्ञ साधु के साथ कैसा बर्ताव रखना चाहिए, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—धम्ममायाणह पवेइयं माहणेणं मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि ॥२०३॥

छाया-धर्म जानीत प्रवेदितं माहनेन मतिमता समनोज्ञः समनोज्ञाय अशनं वा यावत् कुर्याद्वैयावृत्यं परमाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—धम्ममायाणह—हे आर्य! तू धर्म को जान लिये। मइमया—मतिमान—सर्वज्ञ। माहणेणं—भगवान ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है, कि। समणुन्ने—समनोज्ञ साधु। समणुन्नस्स—समनोज्ञ साधु को। असणं वा—आहार आदि पदार्थ। जाव—यावत्। परं आढायमाणे—अत्यन्त आदर पूर्वक दे, और। वेयावडियं कुज्जा—उनकी वैयावृत्य करे। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—हे आर्य! तू सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म को समझ। उन्होंने कहा है कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक आहार आदि पदार्थ दे और उनकी सेवा शुश्रूषा भी करे। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र मे अमनोज्ञ—शिथिलाचारी या अपने से असम्बद्ध साधु को आहार आदि देने का निषेध किया गया है। इस सूत्र में अपने समान आचार वाले समनोज्ञ साधु को आदर पूर्वक आहार आदि देने एवं उसकी वैयावृत्य करने का विधान किया गया है।

अपने समानधर्मी मुनि का स्वागत करना मुनि का धर्म है। इससे पारस्परिक धर्म-स्नेह बढ़ता है और एक-दूसरे के सपर्क से ज्ञान, दर्शन एव चारित्र में अभिवृद्धि होती है, सयम मे भी तेजस्विता आती है। अत साधक को समनोज्ञ मुनि का आहार-पानी से आदर-सम्मान पूर्वक उचित सत्कार करना चाहिए। उसकी सेवा-वैयावृत्य करनी चाहिए। क्योंकि, सेवा-शुश्रूषा से कर्मों की निर्जरा होती है और उत्कट भाव आने पर तीर्थंकर गोत्र का भी बन्ध हो सकता है। अत साधक को सदा सयम-निष्ठ पुरुषों का स्वागत करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन–विमोक्ष

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में अकल्पनीय आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में बताया गया है कि यदि भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु शीत के कारण कांप रहा हो और गृहस्थ के मन में यह शंका उत्पन्न हो गई हो कि साधु कामेच्छा के उत्कट वेग से कांप रहा है, तो उस समय साधु को उसकी शंका का निवारण कैसे करना चाहिए? इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सोच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकंखमाणा, अणइवाएमाणा, अपरिग्गहेमाणा, नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ओए जुइमस्स खेयन्ने उववायं चवणं च नच्चा ॥२०४॥

छाया—मध्यमेन वयसापि एके संबुध्यमानाः समुत्थिताः श्रुत्वा मेधावी वचनं पंडितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः ते अनवकांक्षमाणाः अनतिपातयन्तोऽपरिगृह्णन्तः नो परिग्रहवन्तः सर्वस्मिन्नपि च लोके (सं) निधाय दण्डं प्राणिषु (प्राणिभ्यः) पापं कर्म अकुर्वाणः एषो महान् अग्रन्थः व्याख्यातः ओजः द्युतिमतः खेदज्ञः उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा।

पदार्थ—एगे—कई एक। मेहावी—बुद्धिमान व्यक्ति। मज्झिमेण—मध्यम-यौवन। वयसावि—वय—अवस्था मे। पडियाणं—तीर्थंकरादि पण्डित पुरुषो के। वयण—वचन। सुच्चा—सुनकर। निसामिया—हृदय मे सोच-विचार कर कि। आरिएहिं—आर्य पुरुषों—तीर्थंकरादि ने। समियाए—समता भाव से। धम्मे—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का। पवेइए—प्रतिपादन किया है। ते—वे। सबुज्झमाणा—बोध को प्राप्त हुए हैं, और। समुट्ठिया—दीक्षित होकर धर्म का परिपालन करने को उद्यत हुए हैं। अनवकखमाणा—काम भोगो की इच्छा न रखते हुए। अणइवाएमाणा—प्राणियों की हिंसा न करते हुए। अपरिग्गहेमाणा—परिग्रह न रखते हुए। नोपरिग्गहावती—अपने शरीर पर ममता नही रखते हुए। च—समुच्चय अर्थ में हैं। ण—वाक्यालकार मे है। सव्वावती—सर्व। लोगसि—लोक मे। निहाय दंडपाणेहिं—प्राणियों के दड--परितापं, पीड़ादि को छोडकर। पावं कम्म—पाप कर्म। अकुव्वमाणे—नही करते हैं। एस—उन। मह—महान् पुरुषों को जो। ओए—राग-द्वेष से रहित हैं। जुइमस्स—सयम या मोक्ष मार्ग के। खेयन्ने—ज्ञाता-जानने वाले हैं। उववायं—देवों के उपपात। च—और। चवण—च्यवन (मृत्यु) को। नच्चा—जानकर, जो पाप कर्म एव कषायो का त्याग करदेते हैं और। अगथे—जिनके पास धनादि परिग्रह नही है, उन्हे निर्ग्रन्थ। वियाहिए—कहते हैं।

मूलार्थ—कई एक व्यक्ति मध्यवय मे भी बोध को प्राप्त होकर धर्म मे उद्यत होते हैं। बुद्धिमान तीर्थकरादि के वचनो को सुनकर और समता भाव से हृदय में विचार कर, तीर्थकरो के प्रतिपादन किए हुए धर्म मे दीक्षित होकर वे काम-भोगो के त्यागी, प्राणियो की हिंसा से निवृत्त धनादि परिग्रह से रहित होते हुए अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते है। वे महापुरुष सपूर्ण लोक मे स्थित समस्त प्राणियो के दड का परित्याग करके किसी भी प्रकार के पापकर्म का आचरण नही करते हैं। वे बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ कहे गए हैं। अतः जो साधक राग-द्वेष से रहित हैं और सयम एव मोक्ष के ज्ञाता है, वे देवो के-उपपात एव च्यवन को जानकर कभी भी पापकर्म का आचरण नही करते हैं।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मनुष्य तीनों अवस्थाओं—बाल्य, यौवन एव वृद्ध अवस्था मे साधना को साध सकता है। फिर भी यहा मध्यम अवस्था को लिया गया है। इस समय मे प्राय बुद्धि परिपक्व होती है। इसलिए वह अपने हिताहित

का भली-भांति विचार कर सकता है। अतः कोई व्यक्ति तीर्थंकर के या आचार्य आदि के वचनों से बोध को प्राप्त होकर श्रुत और चारित्र धर्म को स्वीकार करता है। वह समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर समस्त आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर देता है। वह समस्त पदार्थों पर से— यहां तक कि अपने शरीर पर से भी ममत्व हटा लेता है। किसी भी पदार्थ में उसकी ममता नहीं रहती है। वह इस बात को भली-भांति जानता है कि ये भोग के साधन क्षणिक हैं और तो क्या देवों का विपुल ऐश्वर्य भी अस्थायी है। वे भी एक दिन अपनी ऐश्वर्य सम्पन्न स्थिति से गिर जाते हैं। जब देवों की यह स्थिति है—जिन्हें लोग अमर कहते हैं, तो मनुष्य की क्या गिनती है। ऐसा सोचकर वे कभी भी पाप कर्म का आचरण नहीं करते हैं। समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर सदा संयम साधना में संलग्न रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ही निर्ग्रन्थ[*] कहलाते हैं।

परन्तु जो युवक साधना पथ को स्वीकार करके भी उसमें ग्लानि को प्राप्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं ॥२०५॥

छाया—आहारोपचया देहाः परीषह प्रभंगिन (भंगुरा) पश्यत एके सर्वेन्द्रियैः परिग्लायमानैः।

पदार्थ—पासह—हे शिष्य ! तू देख। आहारोवचया—आहार से उपचित। देहा—शरीर ये। परीसह—परीषहों के उत्पन्न होने पर। एगे—कई एक व्यक्ति। सव्विंदिएहिं—सब इन्द्रियों से। परिगिलायमाणेहिं—ग्लानि को पा। पभंगुरा—नाश को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य ! तू देख, यह आहार से परिपुष्ट हुआ शरीर परीषहों के उत्पन्न होने पर विनाश को प्राप्त होता है। अतः कुछ साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर सब तरह से ग्लानि या नाश को प्राप्त होते हैं।

हिन्दी विवेचन

शरीर की वृद्धि अनुकूल आहार पर आधारित है। योग्य आहार के अभाव

---

[*] धन धान्य घर, परिवार आदि बाह्य साधन-सामग्री बाह्य ग्रन्थि-गांठ कहलाती है और राग-द्वेष, ममत्व एवं वासना भाव आदि मनोविकार अभ्यन्तर ग्रन्थि कहलाते हैं और बाह्य एवं अभ्यन्तर ग्रन्थि का त्यागी साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है।

मे शरीर क्षीण होता रहता है और इन्द्रिएं भी कमजोर हो जाती है। अत शरीर से दुर्बल व्यक्ति परीपह एव व्याधि के उत्पन्न होने पर इस शरीर का त्याग भी कर देते हैं। अत यह शरीर क्षणिक है, नाशवान है, फिर भी धर्म साधना करने का सर्व श्रेष्ठ साधन है। मनुष्य के शरीर मे ही साधक अपने चरम उद्देश्य को सफल बना सकता है। वह सदा के लिए कर्म बन्धन से छुटकारा पा सकता है। इसलिए साधक को सदा इससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ कायर लोग परीपहों के उत्पन्न होने पर ग्लानि का अनुभव करते हैं। वे नाशवान शरीर पर ममत्व लाकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

परन्तु, वीर पुरुष किसी भी परिस्थिति मे पथ-भ्रष्ट नहीं होते। वे परीपहों के उपस्थित होने पर किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करते हैं। इस विपय में सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्थस्स खेयन्ने से भिक्खू कालन्ने, बलन्ने, मायन्ने, खणन्ने, विणयन्ने, समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइ॥२०६॥

छाया—ओजः दया दयते य सन्निधानस्य खेदज्ञः स भिक्षुः कालज्ञः, बलज्ञ, मात्रज्ञः, क्षणज्ञः, विनयज्ञ, समयज्ञः परिग्रहममत्वेन कालेनोत्थायी अप्रतिज्ञ. उभयतः छेत्ता निर्याति।

पदार्थ—ओए—रागादि से रहित अकेला भिक्षु क्षुधापरीपहादि के होने पर। दयं दयइ—दया का पालन करे। जे जो। सनिहाणसत्थस्स—नरकादि के स्वरूप के निरूपक शास्त्र या कर्म रूप सन्निधान के शस्त्र—संयम का। खेयन्ने—परिज्ञाता है। से—वह। भिक्खू—भिक्षु। कालन्ने—काल के स्वरूप का परिज्ञाता। बलन्ने—बल का परिज्ञाता। मायन्ने—परिमाण को जानने वाला। समयन्ने—समय का ज्ञाता एव। परिग्गहं—परिग्रह के विषय में। अममायमाणे—ममत्व न करता हुआ। कालेणुट्ठाइ—समय पर कार्य करने वाला। अपडिन्ने—कषाय आदि की प्रतिज्ञा से रहित। दुहओ—दोनो प्रकार के राग-द्वेष अथवा द्रव्य और भाव से। छित्ता—ममत्व का छेदन करने वाला। नियाइ—निश्चित रूप से सयमानुष्ठान में सलग्न रहता है।

मूलार्थ—रागद्वेष से रहित भिक्षु क्षुधा आदि परीषहो के उत्पन्न होने पर भी दया का पालन करता है। वह भिक्षु जो नरक आदि के स्वरूप का वर्णन करने वाले शास्त्रो का परिज्ञाता है, काल का ज्ञाता

है, अपने बल का ज्ञाता है परिमाण आदि का ज्ञाता है अवसर का ज्ञाता है विनय का ज्ञाता है तथा स्वमत और परमत का ज्ञाता है परिग्रह मे ममत्व नही रखता है और नियत समय पर क्रियानुष्ठान करने वाला है। वह साधक कषायो को प्रतिज्ञा से रहित और राग-द्वेष का छेदन करने वाला है और वह निश्चित रूप मे सयम साधना में सलग्न रहता है ।

हिन्दी विवेचन

साधना का क्षेत्र परीषहों का क्षेत्र है। साधु वृत्ति में परीषहों का उत्पन्न होना आश्चर्य जनक नहीं है अपितु परीषहों का उत्पन्न न होना आश्चर्य का कारण हो सकता है। अत साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर दया भाव का परित्याग नहीं करता है। वह जीवों की दया एवं रक्षा करने में सदा संलग्न रहता है। दया संयम का मूल है इसलिए यहां सूत्रकार ने दया शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि, दयाहीन व्यक्ति संयम का परिपालन नहीं कर सकता है। इसलिए शारीरिक कष्ट उपस्थित होने पर भी साधक दयाभाव का परित्याग नहीं करता है।

ऐसे संयम का पालन वही कर सकता है, जो कर्म शास्त्र का परिज्ञाता है और संयम विधि का पूर्ण ज्ञाता है*। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनि को कर्म बन्ध के कारण एवं उसके क्षय करने के साधन का परिज्ञान होना चाहिए और यह परिज्ञान आगमों के अध्ययन स्वाध्याय एवं चिन्तन से ही हो सकता है। स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में संलग्न रहने वाला साधक ही उपयुक्त समय एवं आहार आदि की मात्रा—परिमाण का ज्ञाता हो सकता है। वह परिग्रह में ममत्व न रखते हुए शुद्ध संयम का पालन कर सकता है। अत मुनि को निष्ठा पूर्वक स्वाध्याय एवं चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी दया भाव का त्याग नहीं करना चाहिए।

इससे संयम में निष्ठा बढ़ती है और उसकी साधना में तेजस्विता आती है। इस संबन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—त भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता

---

* यहां पर— "संनिहाण सत्थस्स खेयन्ने" के वृत्तिकार ने ऊपर बतलाये गये दोनों अर्थ इस प्रकार किये हैं—(सम्यङ् निधीयते नरकादिषु येन तत्सन्निधानं कर्म तस्य स्वरूपनिरूपकं शास्त्रं तस्य खेदज्ञो-निपुणः, यदिवा सन्निधानस्य कर्मणः शस्त्रं संयमः सन्निधानशस्त्रं तस्य खेदज्ञः—सम्यक् संयमानुष्ठाता") इत्यादि ।

गाहावई बूया--आउसंतो समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ? आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति,सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा (पज्जालित्तए वा) कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अन्नेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि ॥२०७ ॥

छाया—तं भिक्षु शीतस्पर्श परिवेपमानगात्रमुपसंक्रम्य गृहपति ब्रूयात्-आयुष्मन् श्रमण ! नो खलु (ते) भवन्त ग्रामधर्माः उद्बाधन्ते ? आयुष्मन गृहपते ! न खलु मम ग्रामधर्मा उद्बाधन्ते, शीतस्पर्श च न खलु अह शक्नोमि अधिषोढुम्, न खलु मे कल्पते अग्निकायं (मनाग्) उज्ज्वालयितु वा प्रज्वालयितु वा कायं आतापयितु वा प्रतापयितु वा अन्येषां वा वचनात् स्यात् स एवं वदन्तं (वदत) परः अग्निकाय उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य काय आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा तच्च भिक्षु प्रतिलेख्य अवगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—त— उस । भिक्खु—भिक्षु को । सीयफासपरिवेवमाणगाय—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से काप रहा है। उवसकमित्ता—उसके समीप जाकर । गाहावई—गृहपति बूया—कहे कि । आउसतो समणा—हे आयुष्मन श्रमण ! खलु—निश्चय ही । ते—तुझे। गामधम्मा—ग्राम धर्म । नो उव्वाहत्ति—पीडित नही करता है। खलु—निश्चयार्थ है, किन्तु । अह—मैं। च—समुच्चय अर्थ मे है । सीयफास—शीत के स्पर्श को । अहियासित्तए—सहन करने में। नो सचाएमि—समर्थ नही हू। खलु—पूर्ववत्। अगणिकाय—अग्नि काय को। उज्जालित्तए वा—उज्ज्वलित करना। पज्जालित्तए वा—प्रज्वलित करना। काय—शरीर को ।

आयावित्तए वा—थोड़ा-सा तापना और। पयावित्तए वा—अधिक तापना अथवा। अन्नेसिं वा—अन्य व्यक्ति को। वयणाओ—कह कर अग्नि प्रज्वलित करवाना। सिया—कदाचित्। स—वह। एवं वयंतस्स—इस प्रकार बोलने पर। परो—पर-गृहस्थ। अगणिकायं—अग्नि काय को। उज्जालित्ता—उज्ज्वलित करके। पज्जालित्ता—प्रज्वलित करके। कायं—साधु की काया-शरीर को। आयाविज्ज वा—थोड़ा-सा तपावे। पयाविज्ज वा—विशेष रूप से तपावे। मे—मुझे। नो कप्पइ—नहीं कल्पता। च—पुन। तं—मुनि उस अग्निकाय के आरम्भ को। पडिलेहाए—अपनी बुद्धि से विचार कर। आगमित्ता—भली-भांति जानकर। तं—उस गृहस्थ से इस प्रकार। आणविज्जा—कहे। अणासेवणाए—यह अग्नि मेरे सेवन करने योग्य नहीं है। अतः मुझे इस अग्नि का सेवन करना नहीं कल्पता है अर्थात् मैं इसका सेवन नहीं कर सकता हूं। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिसका शरीर ओस के स्पर्श से काम्प रहा है, ऐसे भिक्षु के समीप आकर यदि कोई गृहस्थ कहने लगे कि हे आयुष्मन् श्रमण! आप विषय विकार से पीड़ित तो नहीं हो रहे हैं? उसके इस संशय का निराकरण करने के लिए मुनि उसे कहे कि मुझ ग्रामधर्म पीड़ित नहीं कर रहा है। किन्तु, मैं शीत के स्पर्श को सहन नहीं कर सकता। मुझे अग्निकाय [अग्नि को] उज्ज्वलित प्रज्वलित करना अग्नि से शरीर को थोड़ा-सा गर्म करना या अधिक गर्म करना अथवा दूसरों से करवाना नहीं कल्पता है। यदि साधु के इस प्रकार बोलने से कभी कोई गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित प्रज्वलित करके उस साधु के शरीर को थोड़ा या अधिक गर्म करे या गर्म करने का प्रयत्न करे तो भिक्षु उस गृहपति को इस प्रकार प्रतिबोधित करे कि यह अग्नि मेरे लिए अनासेव्य है अर्थात् मुझ अग्नि का सेवन करना नहीं कल्पता है। अतः मैं इसका सेवन नहीं कर सकता हूं। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

जीवन में कंपन विकारों के वेग से होता है। विकार भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शीत एवं ज्वर आदि द्रव्य विकार हैं, जिनके कारण शरीर में कंपन होता है। काम क्रोध, मोह आदि भाव विकार हैं और जब इनका वेग होता है, उस समय भी शरीर कांपने लगता है। इस तरह सर्दी से, गर्मी से, ज्वर से या

काम आदि से शरीर मे कम्पन हो, वह विकारजन्य ही कहलाती है। परन्तु, द्रव्य विकारों से उत्पन्न कम्पन जीवन के लिए अहितकर नहीं है। परन्तु, भाव विकारों के वेग से उत्पन्न कम्पन जीवन का पतन भी कर सकता है। इसलिए साधक को भाव विकारों के आवेग से सदा दूर रहना चाहिए।

कुछ मनुष्यों का स्वभाव होता है कि वे प्रत्येक मनुष्य की चेष्टा को अपनी चेष्टा के अनुरूप देखते या समझते हैं। उन्हें काम-भोगों के आवेग से कम्पन पैदा होता है, तो वे दूसरे व्यक्ति को कांपते हुए देखकर उसे भी काम-विकार से पीड़ित समझने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति के सन्देह को अवश्य दूर करना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है।

कोई साधु किसी गृहस्थ के घर भिक्षा को गया। सर्दी की अधिकता के कारण उसके शरीर को कापते हुए देखकर यदि कोई गृहस्थ पूछ बैठे कि क्या आपको काम-वासना का वेग सता रहा है? तो मुनि स्पष्ट शब्दों मे कहे कि मैं वासना से प्रताड़ित नहीं हू। परन्तु, सर्दी की अधिकता के कारण कांप रहा हू। यह सुनकर यदि गृहस्थ कहे कि तुम अग्नि ताप लो। यदि तुम हमारे चूल्हे के पास जाना नहीं चाहते हो, तो हम ताप का साधन यहां लाकर दे दें। उस समय मुनि कहे कि हे देवानुप्रिय! मुझे अग्नि तापना नहीं कल्पता है। क्योंकि, वह सजीव है, इसलिए आग तापने से तेजस्कायिक जीवों की हिंसा होती है। इस तरह वह समस्त शंकाओं का निराकरण करके विशुद्ध भावों के साथ साधना में संलग्न रहे।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन-विमोक्ष

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में अभिग्रह निष्ठ मुनि के लिए वस्त्र पात्र रखने की मर्यादा का उल्लेख किया गया है। और अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उत्पन्न होने पर वह संयम का त्याग न करे—भले ही प्राणों का त्याग करना पड़े तो प्रसन्नता के साथ करदे, इस बात का उपदेश दिया गया है। उद्देशक के प्रारम्भ में वस्त्राचार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा, अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥२०८॥

छाया-यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषितः पात्र चतुर्थैः तस्य (खु) नैवं भवति चतुर्थं वस्त्रं याचिष्ये स यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् न धावेत् नो धौतरक्तवस्त्राणि धारयेत्, अगोपयन् ग्रामान्तरेषु अवमचेलिकः. एतद् वस्त्रधारिणः सामग्र्यम् (भवति)।

पदार्थ—जे—जो अभिग्रहधारी। भिक्खू—भिक्षु। तिहिं वत्थेहिं—तीन वस्त्र। एवं पाय चउत्थेहिं—चौथे पात्र से। परिवुसिए—युक्त है। णं—वाक्यालंकार में। तस्स—उसको। णो एवं भवइ—शीतादि के लगने पर यह विचार नहीं होता। चउत्थं वत्थं जाइस्सामि—मैं चौथे वस्त्र की याचना करूंगा। से—वह यदि उसके पास तीन वस्त्रों से कम हो तो। अहेसणिज्जाइं—वह एषणीय निर्दोष। वत्थाइं—वस्त्रों की। जाइज्जा—याचना करे और।

अहापरिग्गहियाइं — जैसा वस्त्र मिला है। वत्थाइं — वैसे ही वस्त्र को। धारिज्जा — धारण करे, किन्तु। नो धोइज्जा — उसे प्रक्षालित न करे। नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा — और जो वस्त्र प्रक्षालित करके रंगा हुआ है, उसे भी धारण न करे। अपलिओवमाणे गामंतरेसु — ग्रामादि मे वस्त्र को गुप्त रखता हुआ — छुपा कर न चले। ओमचेलिए — अभिग्रहधारी मुनि अवमचेलक होता है अर्थात परिमाण एव मूल्य की अपेक्षा से वह स्वल्प वस्त्र रखता है। खु — अवधारण अर्थ मे है। एय — यह। वत्थधारिस्स — वस्त्रधारी मुनि की। सामग्गिय — सामग्री है।

मूलार्थ — जो अभिग्रहधारी मुनि एक पात्र और तीन वस्त्रो से युक्त है। शीतादि के लगने पर उसके मन मे यह विचार उत्पन्न नही होता है कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूंगा, यदि उसके पास तीन वस्त्रो से कम हो तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना करे और याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वैसा ही धारण करे। किन्तु, उसको प्रक्षालित न करे और न धोकर रंगे हुए वस्त्र को धारण करे। वह ग्रामादि मे विचरते समय अपने पास के वस्त्र को छुपाकर न रखे। वह वस्त्रधारी मुनि परिमाण मे स्वल्प एव थोडे मूल्य वाला वस्त्र रखने के कारण अवमचेलक अल्प-वस्त्रवाला भी कहलाता है। यह वस्त्रधारी मुनि की सामग्री भी सदाचार है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र अभिग्रह निष्ठ या जिनकल्प की भूमिका पर स्थित साधु के विषय में है। इसमे बताया गया है कि जिस मुनि ने तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि शीतादि का परीषह उत्पन्न होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वीकार करने की इच्छा न करे। वह अपनी प्रतिज्ञा का दृढता मे पालन करने के लिए समभाव पूर्वक परीषह को सहन करे। परन्तु, अपनी प्रतिज्ञा एव मर्यादा से अधिक वस्त्र सग्रह करने की भावना न रखे। यदि उसके पास अपनी की हुई प्रतिज्ञा से कम वस्त्र है, तो वह दूसरा वस्त्र ले सकता है। उस समय उसे जैसा वस्त्र उपलब्ध हो, उस का उसी रूप मे उपयोग करे। न उसे पानी आदि से साफ करे और न उसे रगकर काम मे लेवे। वह गाव आदि मे जाते समय उस वस्त्र को छुपाकर भी न रखे। उक्त मुनि के पास अल्प मूल्य के थोड़े वस्त्र होने के कारण सूत्रकार ने उसे अवमचेलक-अल्प वस्त्रवाला कहा है।

वृत्तिकार ने पात्र शब्द से पात्र के साथ उसके लिए आवश्यक अन्य

उपकरणों को भी ग्रहण किया है। जैसे— १ पात्र, २-पात्र बन्धन, ३-पात्र स्थापन, ४-पात्र केसरिक-प्रमार्जनिका ५-पटल, ६-रजस्त्राण ७-गोच्छक-पात्र साफ करने का वस्त्र ये सात उपकरण हुए* और तीन वस्त्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका इस प्रकार जिनकल्प की भूमिका पर स्थित एवं अभिग्रह निष्ठ मुनि के १२ उपकरण होते हैं†।

साधु को मर्यादित उपधि रखने का उपदेश देने का कारण यह है कि उपधि संयम का साधन मात्र है। अतः साधु संयम की साधना के लिए आवश्यक उपधि के अतिरिक्त उपधि का संग्रह न करे। क्योंकि, अनावश्यक उपधि के संग्रह से मन में ममत्व का भाव जगेगा और उसका समस्त समय जो अधिक से अधिक स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में लगाना चाहिए, वह उसमें न लगकर अनावश्यक उपधि को संभालने में ही व्यतीत कर देगा। इस तरह स्वाध्याय एवं चिन्तन में विघ्न न पड़े तथा मन में संग्रह एवं ममत्व की भावना उद्बुद्ध न हो इस अपेक्षा से साधु को मर्यादित उपकरण रखने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र धोने का जो निषेध किया गया है, वह भी विशिष्ट अभिग्रह संपन्न मुनि के लिए ही किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि, स्थविर कल्पी मुनि कुछ कारणों से वस्त्र धो भी सकते हैं। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध किया गया है और उसके लिए प्रायश्चित भी बताया गया है‡। परन्तु, भगवान महावीर के शासन के सब साधुओं के लिए—भले ही वे जिन कल्पी हों या स्थविर कल्पी रंगीन वस्त्र पहनने का निषेध है।

इस तरह अभिग्रह निष्ठ मुनि मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि का उपयोग करे। परन्तु, ग्रीष्म ऋतु आने पर उसे क्या करना चाहिए, इस बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा

* पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिज्जोगो॥ —आचाराङ्ग वृत्ति।

† तदेवं सप्त प्रकारं पात्रं कल्पत्रयं रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेत्येवं द्वादशधोपधिः।
—आचाराङ्ग वृत्ति।

‡ जे विभूसावडियाए वत्थं वा ४ धोवेइ धोवंतं वा साइज्जइ।—निशीथ सूत्र १५ १५१।

संतरुत्तरे अदुवा, ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले ॥२०६॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात्-अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरोऽथवा अवमचेलः अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः ।

पदार्थ—अह—अब । पुण—पुन । एव—इस प्रकार । जाणिज्जा—जाने । खलु—निश्चय । हेमंते—हेमन्त काल । उवाइक्कंते—अतिक्रान्त हो गया है और । गिम्हे—ग्रीष्म काल । पडिवन्ने—आ गया है तब । अहापरिज्जुन्नाइं—यथा परिजीर्ण । वत्थाइं—वस्त्रों को । परिट्ठविज्जा—परिष्ठापन करदे—छोड दे । अदुवा—अथवा । संतरुत्तरे—यदि शीत के पडने की सम्भावना हो तो वह समर्थ वस्त्र का त्याग न करे, उसे पहने या पास रक्खे । अदुवा—अथवा । ओमचेले—तीन वस्त्रों में से कम करदे । अदुवा—अथवा । एगसाडे—एक ही वस्त्र रखे जिस से सारा शरीर आच्छादित हो जाए । अदुवा—अथवा । अचेले—रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त अन्य सब वस्त्रों को छोडकर अचेलक हो जाए ।

मूलार्थ—वह अभिग्रहधारी भिक्षु जब यह समझले कि हेमन्त-शीत काल चला गया है और ग्रीष्मकाल आ गया है और ये वस्त्र भी जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं । ऐसा समझकर वह उनको त्याग दे । यदि निकट भविष्य मे शीत की सभावना हो तो मजबूत वस्त्र को धारण कर ले, अन्यथा पास मे पडा रहने दे । शीत कम होने पर वह एक वस्त्र का परित्याग करदे और शीत के बहुत कम हो जाने पर दूसरे वस्त्र का भी त्याग करदे, केवल एक वस्त्र रखे जिससे लज्जा का निवारण हो सके या शरीर आच्छादित किया जा सके । यदि शीत का सर्वथा अभाव हो जावे तो वह रजोहरण और मुखवस्त्रिका को रखकर वस्त्र मात्र का त्याग करके अचेलक बन जाए ।

हिन्दी विवेचन

वस्त्र की उपयोगिता शीत एवं लज्जा निवारण के लिए है । यदि शीतकाल समाप्त हो गया है और वस्त्र भी बिल्कुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है, तो वह पूर्व सूत्र में कथित अभिग्रह निष्ठ मुनि उन वस्त्रों का त्याग करके एक वस्त्र रखे । यदि कुछ सर्दी अवशेष है, तो वह दो वस्त्र रखे और सर्दी के समाप्त होने पर केवल लज्जा निवारण

करने के लिए और लोगों की निन्दा एवं तिरस्कार से बचने के लिए वह एक वस्त्र रखे। यदि वह लज्जा आदि पर विजय पाने में समर्थ है तो वह पूर्णतया वस्त्र का त्याग कर दे परन्तु मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण अवश्य रखे। क्योंकि ये दोनों जीव रक्षा के साधन एवं जैन साधु के चिन्ह हैं।

चूर्णिकार ने 'सांतरोत्तर' शब्द का अर्थ एक अन्तर पट और दूसरा ऊपर पट किया है। आचार्य शीलांक ने लिखा है कि कभी-कभी वह शरीर से अपना अंग ढांकता है और कभी-कभी उसे पास में रख लेता है*। इन दोनों में चूर्णिकार का अर्थ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रंथों में भी निर्ग्रन्थों के लिए एक शाटक वाले निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख मिलता है‡।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के शासन में सचेलक साधु भी थे या यों कहना चाहिए कि स्थविरकल्पी साधु सवस्त्र रहते थे और सवस्त्र अवस्था में मुक्ति को प्राप्त करते थे।

वस्त्रों के त्याग से जीवन में किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ ॥२१०॥

छाया—लाघविकमागमयन् तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति।

पदार्थ—लाघवियं—वह मुनि लाघवता को। आगममाणे—प्राप्त करता हुआ वस्त्र का त्याग करे, इससे। से—उस त्याग निष्ठ साधक के। तवे—तप। अभिसमन्नागए भवइ—सम्मुख होता है।

मूलार्थ—वस्त्र के परित्याग से लाघवता होती है और वस्त्राभाव के कारण होने वाले परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने से वह साधक तप के सम्मुख होता है अर्थात् वस्त्र का त्याग भी तपस्या है।

---

*क्वचिच्छीतादिशङ्कायां निधानं काले कस्मिंश्चित् ... परिभुङ्क्ते, क्वचिद् ... निक्षिपति ... सान्तरोत्तरो भवेत् सान्तरमुत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति।
—आचाराङ्ग वृत्ति।

‡ निर्ग्रन्थ एक शाटक। —अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ३८३।

हिन्दी विवेचन

कर्म के बोझ से हल्का बनना अर्थात् उसका क्षय-नाश करना ही साधना का उद्देश्य है। हल्कापन त्याग से होता है। इसलिए मुनि जीवन त्याग का मार्ग है। वह सदा अपने जीवन को कम बोझिल बनाने का प्रयत्न करता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है कि वस्त्र का त्याग कर देने से जीवन मे लाघवता—हल्कापन आ जाता है। वस्त्र के अभाव मे शीत, दशमशक—मच्छर आदि जन्तुओं का, तृण स्पर्श आदि परीषहों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु, इन्हें समभाव पूर्वक सहन करने से तप होता है और तप से कर्मों की निर्जरा होती है। इस तरह साधक कर्म के बोझ से हल्का होता हुआ सदा आत्म अभ्युदय की ओर बढता है।

वस्त्र के त्याग से जीवन मे लाघवता आती है। प्रतिलेखना में लगने वाला समय भी बच जाता है। इससे स्वाध्याय एव ध्यान के लिए अधिक समय मिलने लगता है, और स्वाध्याय-ध्यान से आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। वस्तुत आत्म-विकास की दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र महत्व पूर्ण है। इसी भाव को लेकर स्थानाङ्ग सूत्र मे ५ कारणों से अचेलकत्व को प्रशस्त बताया है†—१-इससे प्रतिलेखना कम हो जाती है, २-वह विश्वस्त होता है, ३-उसे तप होता है, ४-लाघवता होती है और ५-इन्द्रियों का निग्रह—दमन होता है।

यह उपदेश तीर्थंकर भगवान द्वारा दिया गया है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा ॥२११॥

छाया—यदेतद् भगवता प्रवेदित तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—जमेय—जो यह। भगवया—भगवान महावीर ने। पवेइय—प्रतिपादन किया है। तमेव—उसी को। अभिसमिच्चा—विचार कर। सव्वओ—सब तरह से। सव्वत्ताए—सर्व आत्मतया। सम्मत्तमेव—सम्यक्त्व या समभाव को। समभिजाणिज्जा—सम्यक्तया जाने।

† पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तजहा—अप्पापडिलेहा, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, लाघविए पसत्थे, विउले इदियनिग्गहे। —स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ५।

मूलार्थ—भगवान महावीर ने आगम में जो सचेलक एवं अचेलक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है, उसे सब तरह से सर्वात्मतया तथा समभावपूर्वक या सम्यक्तया जाने।

हिन्दी विवेचन

सचेलकत्व और अचेलकत्व दोनों अवस्थाओं में साधक अपने साध्य की ओर बढ़ता है। वस्त्र रखना या नहीं रखना ये दोनों साध्य सिद्धि के साधन हैं। साध्य की प्राप्ति के लिए नग्नत्व का महत्व है, परन्तु द्रव्य नग्नत्व का नहीं। यह बिल्कुल सत्य है कि जब तक आत्मा कर्म से आवृत्त रहेगी, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती, भले ही वह वस्त्र से अनावृत्त हो। मोक्ष प्राप्ति के लिए राग-द्वेष एवं कर्मों से सर्वथा अनावृत्त होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। आत्मा को अनावृत्त बनाने के लिए राग-द्वेष, कषाय एवं कर्म बन्धन के अन्य कारणों का त्याग करना अथवा आस्रव का निरोध करना जरूरी है न कि वस्त्र का त्याग करना। यदि कोई साधक लज्जा आदि को जीतने में समर्थ है तो वह वस्त्र का भी त्याग कर सकता है और यदि वह लज्जा आदि के परीषहों पर विजय पाने की क्षमता नहीं रखता है, तो स्वल्प मर्यादित वस्त्र रखकर भी राग-द्वेष पर विजय पाने की या आत्मा का कर्मों से सर्वथा अनावृत्त करने की साधना कर सकता है।

इस तरह भगवान द्वारा प्ररूपित सचेल एवं अचेल दोनों मार्गों का सम्यक्तया अवलोकन करके साधक को अपनी योग्यतानुसार मार्ग का अनुकरण करके राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी एक मार्ग को ही एकान्त रूप से श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं मानना चाहिए। क्योंकि, दोनों मार्ग आत्मा को कर्मों से अनावृत्त करने के साधन हैं अतः दोनों ही श्रेष्ठ हैं।

इस तरह प्रबुद्ध पुरुष भगवान के वचनों पर विश्वास करके समभावपूर्वक परीषहों को सहते हुए कर्मों से अनावृत्त होने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो भगवान के मार्ग को सम्यक्तया नहीं जानते हैं, जब उनके सामने परीषह आते हैं तब उनकी क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागय पन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं

(सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स काल परियाए, सेऽवि तत्थ विअंतिकारए.) इच्चेयं विमोहायतणं हियं, सुहं. खम, निस्सेसं आणुगामियं, त्तिबेमि ॥२१२॥

छाया—यस्य (ण) भिक्षो रेवं भवति—स्पृष्ट· खलु अहमस्मि नालमहमस्मि शीतस्पर्शमध्यासयितु स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना कश्चिद्-कारणतया आवृत्तः तपस्विनस्तत् श्रेयः यदेकः वेहानसादिकं तत्रापि तस्य कालपर्याय. सोऽपि तत्र व्यन्तिकारक इत्येतत् विमोहायतन हित, सुख । क्षम निश्रेयसमानुगामिकमिति ब्रवीमि ।

पदार्थ—ण—वाक्यलकार में है । जस्स—जिस । भिक्खुस्स—भिक्षु के । एव भवइ—इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि । पुट्ठो अहमंसि—मैं शीतादि परीषहो से स्पर्शित हो गया हू । खलु—अवधारणार्थ मे है। अहमसि—मैं । सीयफास—शीत स्पर्श को । अहियासितए—सहन करने में । नाल—समर्थ नही हू । से—वह साधु । वसुम—सयम रूप धन से युक्त । सव्वसमन्नागयपन्नाणेण—सव तरह से ज्ञान सम्पन्न होने से । अप्पाणेण—अपनी ज्ञान-निष्ठ आत्मा से । केइ—किसी उपसर्गादि के उपस्थित होने पर । अकरणयाए—औषधि के न करने से । आउट्टे—सयम मे ठहरता है—अवस्थित है। तवस्सिणो—उस तपस्वी को । हु—जिससे । त—उसके लिये । सेयं—मृत्यु श्रेयस्कर है । जमेगे—जो एक । विहमाइए—फासी लगा कर मर जाना । तत्थावि—वह मृत्यु । तस्स—जो कि उसका । कालपरियाए—काल पर्याय वनती है। सेऽवि—वह भी । तत्थ—उस समय । विअतिकारए—अन्त क्रिया करने वाला है । इच्चेय—यह पूर्वोक्त मृत्यु । विमोहायतणं—मोह के दूर करने का स्थान है। हियं—हितकारी है । सुह—सुखकारी है। खम—यथार्थ । निस्सेस—मोक्ष प्रदानी है । आणु-गामियं—साथ चलने वाली है । त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हू ।

मूलार्थ—जिस भिक्षु को रोगादि के स्पर्श होनेसे अथवा शीतादि परीषहो से इस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं कि मैं शीतादि के स्पर्श को सहन नही कर सकता हू । फिर भी वह सयम एव ज्ञान सपन्न साधु किसी भी औषधि का सेवन न करके भी संयम में स्थित है । उस तपस्वी मुनि को ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के लिये फासी आदि से मृत्यु का आलिगन करना भी श्रेयस्कर है । उस

की वह मृत्यु कर्म नाशक मानी गई है। वह मृत्यु उसके मोह को दूर करने वाली है। अतः उसके लिए वह मृत्यु हितकारी है, सुखकारी है और शक्ति एवं मोक्ष प्रदायिनी है। वह संयम की रक्षा के लिए ऐसा कार्य करता है अतः उससे निर्जरा एवं पुण्य बंध भी होता है। इसलिए भवान्तर में साथ जाने वाली भी है।

हिन्दी विवेचन

साधना के मार्ग में अनेक परीषह उत्पन्न होते हैं, उन पर विजय पाने का प्रयत्न करना साधु का परम कर्तव्य है। परन्तु अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों से घबरा कर संयम का त्याग करना उसके लिए श्रेयस्कर नहीं है। अपने व्रतों से भ्रष्ट होने वाला साधक अपने जीवन का पतन करता है और भव भ्रमण को बढ़ाता है। अतः ऐसी स्थिति आने पर विषादि खाकर या अनशन करके मर जाना उसके लिए अच्छा है, परन्तु संयम पथ का त्याग करना अच्छा नहीं है। जिस समय राजमती को गुफा के एकान्त स्थान में देखकर रथनेमि विचलित हो उठता है और उससे विषय-भोग भोगने की प्रार्थना करता है, उस समय राजमती उसे सदुपदेश देते हुए यही बात कहती है कि हे मुनि! तुझे धिक्कार है कि तू वमन किए—त्यागे हुए भोगों की पुनः इच्छा करता है। इस जीवन की अपेक्षा तेरे लिए मर जाना श्रेयस्कर है†।

जैन आगमों में आत्महत्या करने का निषेध किया गया है। विष खाकर या फांसी लगा कर मरने वाले को बाल—अज्ञानी कहा गया है। परन्तु विवेक एवं ज्ञान पूर्वक धर्म एवं संयम की सुरक्षा के लिए आत्महत्या करना पाप नहीं बल्कि धर्म है। वह मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र अपवाद स्वरूप है। धर्म संकट के समय ही साधक को विष पान करके या गले में फंदा डालकर मरने की आज्ञा दी गई है। आगम में कहा गया है कि भगवान ने दो प्रकार से मरने की आज्ञा नहीं दी है, परन्तु विशेष परिस्थिति में उस का निषेध भी नहीं किया है॥। इसी अपेक्षा से प्रस्तुत उद्देशक में संयम को सुरक्षित रखने के लिए मृत्यु को स्वीकार करने की आज्ञा दी है। 'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

† धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीविय कारणा
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे। —दशवैकालिक २,७।

॥ दो मरणाइं जाव णो निच्चं अब्भणुण्णायाइं भवन्ति कारणेणं पुण अप्पडिकुट्ठाइं तंजहा—वेहाणसे चेव गिद्धपिट्ठे चेव। —स्थानाङ्ग सूत्र २, ४।

अष्टम अध्ययन–विमोक्ष

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अभिग्रह निष्ठ मुनि के वस्त्र-पात्र की मर्यादा एवं संयम की रक्षा हेतु विपणन आदि के द्वाराप्राण त्याग का मार्ग बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अभिग्रह निष्ठ मुनि का एव पंडित मरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायत्तइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ-तइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं, अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने, अहा परिज्जुन्नाइं वत्थाइं परिठ्ठविज्जा अहापरिज्जुन्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो अबलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतर संकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं ४ भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे ॥२१३॥

छाया—यः भिक्षुः द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषित पात्रतृतीयाभ्यां तस्य (च) नैवं भवति तृतीयं वस्त्र याचिष्य तस्य अथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत् यावत् एव तस्य भिक्षो सामग्र्य अथ पुनरेवं जानीयात् अपक्रान्तः खलु हेमन्त ग्रीष्म प्रतिपन्न यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तर अवमचेल अथवा एकशाटकः अथवा अचेल लाघविकं आगमयन् तप तस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिद भगवता प्रवेदित तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् तस्य ण भिक्षो एव भवति स्पृष्टः अबलः अहमस्मि नालमहमस्मि गृहान्तरं सङ्क्रमितु भिक्षाचर्यया गमनाय तदेवं वदत परः अभिहृत अशन वा ४ आहृत्य दद्यात् स पूर्वमेव आलोचयत् आयुष्मन्! न खलु मे कल्पते अभिहृतं अशनं वा ४ भोक्तु वा पातु वा अन्यद् वा एतत् प्रकारम्।

पदार्थ—जे—जो। भिक्खू—भिक्षु-साधु। दोहिं वत्थेहिं—दो वस्त्रों और। परिवुसिए—युक्त है। पायतइएहिं—तृतीय तीसरे पात्र। णं—वाक्यालंकार में है। तस्स—उस भिक्षु। नो एवं भवइ—मन में यह भावना नहीं होती कि। तइयं वत्थं जाइस्सामि—मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूंगा। से—वह भिक्षु। अहेसणिज्जाइं—यदि उसके दो वस्त्रों में कमी हो तो वह निर्दोष। वत्थाइं—वस्त्रों की। जाइज्जा—याचना करे। जाव—यावत्-शेष विषय पूर्ववत् समझें। एयंखु—इस प्रकार निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। सामग्गियं—यह आचार है। अह—अब। पुण—पुनः। एवंजाणिज्जा—इस प्रकार जानना चाहिए कि। खलु—निश्चय ही। हेमंते—हेमन्त काल। उवाइक्कन्ते—व्यतिक्रान्त व्यतीत हो गया है और। गिम्हे पडिवन्ने—ग्रीष्म काल आगया है, तब। अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं—वह परिजीर्ण हुए वस्त्रों का। परिट्ठविज्जा—परिष्ठापन करे त्याग करदे। अदुवा—अथवा। संतरुत्तरे—यदि शीतादि की संभावना हो तो वस्त्र धारण करे या अपने पास रखे। अदुवा—अथवा। ओमचेले—वस्त्र कम कर दे। अदुवा—अथवा। एग साडे—एक चादर शरीर वस्त्र धारर मात्र रखे। अदुवा—अथवा। अचेले—मुख वस्त्रिका और रजोहरण को छोड़ कर अन्य सब वस्त्रों का त्याग करके अचेलक बन जाए। लाघवियं—इस प्रकार लाघवता को। आगममाणे—प्राप्त हुए। से—मुनि को। तवे—तप-कायक्लेशरूप तप। अभिसमन्नागए—सम्मुख। भवइ—होता है। जमेयं—जिसका। भगवया—भगवान महावीर ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। तमेव—उसे। अभिसमिच्चा—सम्यक्तया भली-भांति जानकर। सव्वओ—

सर्व प्रकार से। सव्वत्ताए – सर्वात्मभाव से। सम्मत्तमेव – सम्यक्त्व या समभाव को। समभि-जाणिया – सम्यक् प्रकार से जाने। ण – वाक्यालकार मे है। जस्स – जिस। भिक्खुस्स – भिक्षु का। एव – इस प्रकार का अध्यवसाय। भवइ – होता है, कि। पुट्ठो – वातादि रोगो से स्पृष्ट होने से। अवलो अहमसि – मैं निर्बल हू अत। गिहतर सकमण – एक घर से दूसरे घर मे सक्रमण करने-जाने को तथा। भिक्खायरिय – भिक्षाचरी-आहारादि गवेपणा के लिए घरो मे। गमणाय – जाने के लिए। नालमहमसि – मैं समर्थ नही हू। से – उसे। एव – इस प्रकार। वयंतस्स – वोलते हुए सुनकर। परो – गृहस्थ। अभिहड – जीवनादि का उपमदन करके वनाया हुआ। असण वा ४ – आहार-पानी आदि खाद्य पदार्थ। आहट्टु – घर से लाकर दलइज्जा – देवे। से – वह भिक्षु। पुव्वामेव – पहले ही। आलोइज्जा – यह विचार करे कि यह आहार दोप युक्त है, अत। आउसतो – हे आयुष्मन् गृहस्थ। खलु – निश्चयअर्थ मे जानना। अभिहड – सम्मुख लाया हुआ। असण वा ४ – आहारादि। भुत्तएवा – खाना। पायएवा – पीना। नो कप्पइ – नही कल्पता है तथा। एयप्पगारे – इसी प्रकार से। अन्ने वा – अन्य उद्गमादि दोपयुक्त आहार भी मुझे ग्रहण करना नही कल्पता है।

मूलार्थ—जो भिक्षु दो वस्त्र और तीसरे पात्र से युक्त है उसे यह विचार नही होता है कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूगा। यदि उसके पास दो वस्त्रो से कम हो तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना कर लेता है। जैसा कि पूर्व मे वर्णन कर चुके हैं। यह सब भिक्षु का आचार है। जब उसे यह प्रतीत हो कि अब हेमन्त काल, शीत काल व्यतीत होगया और ग्रीष्म काल-उष्णकाल आगया है, तब वह जीर्ण फटे पुराणो वस्त्रो का त्याग कर दे। यदि उसे शीतादि के पडने की सभावना हो तो वह ऐसा वस्त्र अपने पास रखले जो अधिक जीर्ण नही हुआ है या वह वस्त्र कम करदे या एक चादर मात्र अपने पास रखे या मुख वस्त्रिका और रजोहरण को छोड कर अवशिष्ट वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जावे। वह भिक्षु लाघवता प्राप्त करने के लिए वस्त्रो का परित्याग करे। वस्त्रपरित्याग से काय क्लेश रूप तप होता है। भगवान महा-वीर ने जिस आचार को प्रतिपादन किया है, उसका विचार करे और सर्व प्रकार तथा सर्वात्मभाव से सम्यक्त्व या समत्व-समभाव को

जाने। जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं रोगादि के स्पर्श से दुर्बल होने से एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए जाने में असमर्थ हूं। उसकी इस वाणी को सुनकर या भाव को समझ कर यदि कोई सद्गृहस्थ जीवों के उपमर्दन से सम्पन्न होने वाले अशनादि पदार्थ साधु के लिए बनाकर या अपने घर से लाकर उसे दे या उन्हें ग्रहण करने के लिए साधु से विनति कर तो साधु पहले ही उस आहार को देखकर उस गृहस्थ से कहे कि हे आयुष्मान ! मुझे यह लाया हुआ तथा इसी प्रकार का दूसरा सदोष आहारादि पदार्थ स्वीकार करना एवं अपने उपभोग में लेना नहीं कल्पता। अतः मैं इसे ग्रहण नहीं कर सकता।

हिन्दी विवेचन

पूर्व सूत्र में तीन वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्र रखने वाला मुनि शीत आदि का परीषह उत्पन्न होने पर भी तीसरे वस्त्र की याचना न करे। वस्त्र संबंधी पूरा वर्णन पूर्व सूत्र की तरह किया गया है।

यदि कभी वह अभिग्रह निष्ठ मुनि अस्वस्थ हो जाए और घरों में आहार आदि के लिए जाने की शक्ति न रहे। वह भिक्षु ऐसा कहे कि मैं इस समय एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए नहीं जा सकता। उस समय उसके वचनों को सुनकर कोई सद्गृहस्थ अपने घरसे साधु के लिए भोजन बनाकर साधु के स्थान में लाकर उसे दे, तो वह साधु उसे स्पष्ट शब्दों में कहे कि मुझे ऐसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। साधु के लिए आरम्भ करके बनाया गया आहार तथा यदि कभी निर्दोष आहार भी हो तो वह भी साधु के लिए उसके स्थान पर लाया हुआ आहार लेना नहीं कल्पता। क्योंकि, इसमें अनेक जीवों की हिंसा होती है और साधु आहार के दोषों की गवेषणा करके उनसे बच भी नहीं सकता है। इसलिए साधु अस्वस्थ अवस्था में भी ऐसा सदोष आहार स्वीकार न करे परन्तु समभाव पूर्वक रोग एवं भूख के परीषह को सहन करे।

इसके अतिरिक्त अभिग्रह निष्ठ मुनि के अन्य कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए। सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे अहं च खलु पडि

न्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साह-म्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकख-साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणु-क्खिस्सामि आहड च साइज्जिस्सामि १, आहट्टु परिन्नं आण-क्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३,आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, एवं से अहा-किट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्तिबेमि ॥२१४॥

छाया—यस्य णं भिक्षो अय प्रकल्प अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रति-ज्ञप्तैः ग्लान अग्लानैः अभिकान्ष्य साधर्मिकै क्रियमाण वैयावृत्य स्वादयिष्यामि अह चापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञातस्य अग्लानः ग्लानस्य अभिकांक्ष्य साधर्मिकस्य वैयावृत्यम् कुर्याम् करणाय आहृत्य प्रतिज्ञा अन्वेषयिष्यामि आहृत च स्वादयिष्यामि १ आहृत्य प्रतिज्ञां अन्वीक्षिष्ये आहृतं च नो स्वाद–यिष्यामि २ आहृत्य प्रतिज्ञां न अन्वीक्षिष्यामि आहृतं च न स्वादयिष्यामि ३ आहृत्य प्रतिज्ञा नान्वीक्षि आष्येहृतं च न स्वादयिष्यामि ४ एवं सः यथा कीर्तितमेव धर्मं सम्यगभिजानन् शान्त विरत. सुसमाहितलेश्यः तत्रापि तस्य कालपर्यायः स तत्र व्यन्तिकारक इत्येतद् विमोहायतनं हित सुखं क्षमं निश्रेयस

आनुगामिकमिति ब्रवीमि ।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में है । जस्स—जिस । भिक्खुस्स—भिक्षु का । अयं—यह—वक्ष्यमाण । पगप्पे—आचार है । च—समुच्चयार्थ में । खलु—वाक्यालंकारार्थ में है । अहं—मैं अन्य के द्वारा की हुई वैयावृत्य को । पडिन्नत्तो—स्वीकार करूंगा । अपडिन्नत्तेहिं—उनसे यह नहीं कहूंगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो, अर्थात् वे अप्रतिज्ञप्त हैं । गिलाणे—मैं ग्लान हूं पर । अगिलाणेहिं—अग्लानों से । अभिकंख—उद्देश्य करके । साहम्मिएहिं—सहधर्मियों—समानधर्मियों से । कीरमाणं—करता हुआ । वेयावडियं—वैयावृत्य को । साइज्जिस्सामि—इच्छा करूंगा जिस भिक्षु का यह आचार है वह उसका पालन करता हुआ भक्त परिज्ञा से मृत्यु प्राप्त करे किन्तु प्रतिज्ञा का भंग न करे । खलु—वाक्यालंकार अर्थ में । अवि—पुनः अर्थ में जानना । च—समुच्चयार्थक है । अहं—मैं । अप्पडिन्नत्तो—अविहित । पडिन्नत्तस्स—वैयावृत्य करने के लिये कहे हुए के प्रति । अगिलाणो—मैं अग्लान हूं । गिलाणस्स—ग्लान की निर्जरा के लिये वैयावृत्य करूंगा । अभिकंख—उद्देश करके । साहम्मियस्स—सहधर्मी की । वेयावडियं—वैयावृत्य । करणाए—कर्म या किस लिये ? करणाए—उपकार आदि करने के लिये । पइन्नं—प्रतिज्ञा को । आहट्टु—ग्रहण करके वैयावृत्य करे । आणुक्खिस्सामि—पर सहधर्मी के लिये आहारादि का अन्वेषण करूंगा । च—और । आहडं—परका लाया हुआ आहार । साइज्जिस्सामि—मैं आस्वादन नहीं करूंगा । आहट्टुपइन्नं—एक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है । आहट्टु—अन्य साधु के लिये । अणुक्खिस्सामि—अन्वेषण करूंगा, किन्तु । आहडं च—उसके लाए हुए आहारादि का । नो साइज्जिस्सामि—मैं आस्वादन नहीं करूंगा । आहट्टु पइन्नं—कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि । नो आणक्खिस्सामि—मैं अन्य साधु के लिये आहार आदि की गवेषणा नहीं करूंगा किन्तु । आहडं च साइज्जिस्सामि—उनके लाए हुए आहारादि का आस्वादन करूंगा । आहट्टु पइन्नं—कोई मुनि यह प्रतिज्ञा करता है कि । नो आण क्खिस्सामि—मैं अन्य के लिए आहारादि का अन्वेषण नहीं करूंगा और । आहडं च नो साइज्जिस्सामि—न उनका लाया हुआ ही खाऊंगा इस तरह भिक्षु विविध प्रतिज्ञाओं को ग्रहण करके कभी ग्लान होने पर जीवन का भले ही परित्याग करदे किन्तु प्रतिज्ञा का भंग न करे । एवं—उक्त विधि से । से—वह भिक्षु । आहाकिट्टियमेव—भगवान द्वारा पदर्शित । धम्मं—धर्म के स्वरूप को । समभिजाणमाणे—अच्छी तरह से जानता हुआ और उसका आसेवन करता हुआ विचरे, शेष वर्णन पूर्व कथित चतुर्थ उद्देशक की तरह समझें, तथा । सन्ते—कषायों के उपशम से शान्त । विरए—सावद्यानुष्ठान से विरत । सुसमाहियलेसे—सुसमाहित लेश्या वाला जिसने तेजो लेश्या आदि लेश्याओं का भली प्रकार से संग्रह किया है, उसका नाम सुसमाहित लेश्या है । तत्थावि—भक्त परिज्ञा में । तस्स—उसकी । कालपरियाए—मृत्यु का अवसर, निर्जरा के लिए होता है अतः । से—वह भिक्षु । तत्थ—अनशन करने पर । विअंतिकारए—वह

समझे कि यह सब कर्म क्षय करने का कारण है। इच्चेयं - यह सर्व। विमोहायतण - मोहनष्ट करने का स्थान है। हियं - इसलिए, यह मृत्यु हितकारी है। सुहं - सुखकारी है। खमं - क्षेमकारी है। निस्सेसं - कल्याण कारी है। आणुगामियं - भवान्तर मे साथ जाने वाली है। त्तिबेमि - इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—जिस साधु का यह आचार है कि यदि मैं रोगादि से पीडित हो जाऊ तो अन्य साधु को मैं यह नही कहूगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो। परन्तु यदि रोगादि से रहित, समान धर्म वाला साधु अपने कर्मों को निर्जरा के लिए मेरी वैयावृत्य करेगा, तो मैं उसे स्वीकार करूगा। जव मै निराग-रोगरहित अवस्था मे होऊगा तो मैं भी कर्म निर्जरा के लिए समान धर्म वाले अन्य रोगी साधु को वैयावृत्य करूगा। इस प्रकार मुनि अपने आचार का पालन करता हुआ अवसर आने पर भक्त परिज्ञा नाम की मृत्यु के द्वारा अपने प्राणो का त्याग करदे, परन्तु अपने आचार को खण्डित न करे। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं साधुओ के लिए आहारादि लाऊगा और उनका लाया हुआ आहारादि ग्रहण भी करूगा। कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मै अन्य साधु को आहारादि लाकर दूगा परन्तु अन्य का लाया हुआ ग्रहण नही करूगा। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मे अन्य साधुओ को आहार लाकर नही दूगा, किन्तु अन्य का लाया हुआ ग्रहण कर लूगा। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं न तो अन्य साधु को लाकर दूगा और न लाया हुआ खाऊंगा इस प्रकार भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को सम्यक्तया जानता हुआ उसका यथार्थरूप से परिपालन करे। अतः भगवान के कहे हुए धर्म का यथाविधि पालन करने वाले शान्त, विरत एव अच्छी लेश्या से युक्त साधु भक्त परिज्ञा से आयु कर्म के क्षय करने का कारण होता है। यह भक्त परिज्ञा मोह नष्ट करने का स्थान है, इस लिए यह मृत्यु हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी और कल्याणकारी होने से भवान्तर मे साथ जाने वाली है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

साधना का जीवन स्वावलम्बन का जीवन है। साधक कभी अपने समानधर्मी साधक का सहयोग लेता भी है, तो वह अदीनभाव से एवं उसकी स्वेच्छा पूर्वक लेता है। वह न तो किसी पर दबाव डालता है और न वह दीन स्वर से गिड़गिड़ाता ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि परिहार विशुद्ध चारित्र निष्ठ एवं अभिग्रह संपन्न मुनियों के ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं अस्वस्थ अवस्था में किसी भी समानधर्मी मुनि को वैयावृत्य–सेवा के लिए नहीं कहूंगा। यदि वह अपने कर्मों की निर्जरा के लिए सेवा करेगा तो उसे मैं स्वीकार करूंगा और इसी तरह मैं भी यथा समय उनकी सेवा करूंगा। इस तरह वह अभिग्रह निष्ठ मुनि अपनी प्रतिज्ञा का पालन करे। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी प्रतिज्ञा को भंग न करे।

सेवा करने के संबन्ध में चार भंग–विकल्प बताए गए हैं। कुछ मुनि ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं अपने समान धर्मी अन्य मुनियों के लिए आहार लाऊंगा और उनका लाया हुआ आहार ग्रहण भी करूंगा। कुछ मुनि ऐसा नियम करते हैं कि मैं अन्य मुनियों को आहार ला दूंगा परन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा। कुछ मुनि ऐसा संकल्प करते हैं कि मैं दूसरों का लाया हुआ ले लूंगा परन्तु उन्हें लाकर नहीं दूंगा। कुछ ऐसा नियम करते हैं कि मैं न तो अन्य मुनि को आहार लाकर दूंगा और न अन्य का लाया हुआ आहार स्वीकार ही करूंगा।

भक्त परिज्ञा अनशन द्वारा पंडित मरण को प्राप्त करने वाले भिक्षु के लिए बताया गया है कि वह कम से कम ६ महीने तक, मध्यम ४ वर्ष और उत्कृष्ट १२ वर्ष तक तप करे। इस तरह ज्ञान दर्शन चारित्र एवं तप की साधना से कर्मों की निर्जरा करके साधक अपनी आत्मा का विकास करता है। इस लिए इस तरह से प्राप्त होने वाली मृत्यु को सुखकारी, हितकारी एवं कल्याणकारी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि तपस्या से पाप मल नष्ट होता है और पाप मल के नाश होने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही समाधिमरण को प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक मुनि को अपनी ली हुई प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करते हुए भक्तपरिज्ञा अनशन के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करना चाहिए।

त्तिबेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन-विमोक्ष

षष्ठ उद्देशक

पचम उद्देशक मे यह बताया गया है कि साधु अस्वस्थ अवस्था मे भी अपने व्रतों एवं नियमों पर दृढ रहते हुए भक्त प्रत्याख्यान अनशन के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करे। अब प्रस्तुत उद्देशक मे एकत्व भावना का चिन्तन करते हुए इङ्गित मरण के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिइएण तस्स ण नो एवं भवइ बिइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभि—जाणिया ॥२१५॥

छाया—यः भिक्षुः एकेन वस्त्रेण पर्युषितः पात्रद्वितीयेन तस्य नैव भवति, द्वितीय वस्त्र याचिष्ये, स अथैषणीय वस्त्र याचेत् यथा परिगृहीत वस्त्र धारयेत् यावत् ग्रीष्मः प्रतिपन्न यथा परिजीर्णवस्त्रं परिष्ठापयेत् अथवा एकशाटक. अथवा अचेल लाघविकम् आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् ।

पदार्थ—जे—जो । भिक्खू—भिक्षु—साधु । एकेण वत्येण—एक वस्त्र और । पा विईएण—द्वितीय पात्र से । परिवुसिए—युक्त है । ण—वाक्यालकार है । तस्स—उस भिक्षु के मन में । एवं—इस प्रकार का । नो भवइ—विचार नही होता है कि वह शीतादि के लगने पर मैं । विइय—द्वितीय । वत्य—वस्त्र की । जाइस्सामि—याचना करूगा, यदि उसका वस्त्र जीर्ण हो गया है तो । से—वह । अहेसणिज्ज वत्य जाइज्जा—

एषणीय वस्त्र की याचना करे, और। अहापरिग्गहियं—याचना करने पर जैसा उसे वस्त्र मिले। वत्थं—वैसे ही वस्त्र को। धारिज्जा—धारण करे। जाव—यावत्। गिम्हे पडिवन्ने—ग्रीष्म काल आ गया हो तब। अहापरिजुन्नं—जो वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो चुका है। वत्थं—उस वस्त्र को। परिट्ठविज्जा—परिष्ठापित करदे—त्याग दे। अदुवा—अथवा। एगसाडे—एक चादर रक्खे। अदुवा—अथवा। अचेले—वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जाए और वह। लाघवियं—लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ। जाव—यावत्। सम्मत्तमेव—सम्यक्त्व या समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—जो भिक्षु एक वस्त्र और दूसरे पात्र से युक्त है। उस को इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता कि शीतादि के लगने पर मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूंगा। यदि उसका वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो गया है तो फिर वह दूसरे वस्त्र की याचना कर सकता है। याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वह उसे उसी रूप में धारण करे और ग्रीष्म ऋतु के आजाने पर जीर्ण वस्त्र को त्याग दे या एक शाटक-चादर रखे या अचेलक बन जाए। इस प्रकार वह लाघवता को प्राप्त होता हुआ सम्यक्तया समभाव को जाने।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अभिग्रह निष्ठ मुनि का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस मुनि ने एक वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि सर्दी लगने पर दूसरा वस्त्र लेने की भावना न करे। प्रस्तुत अध्ययन के चौथे उद्देशे में तीन वस्त्र की और पांचवें उद्देशक में दो वस्त्रों की प्रतिज्ञा करने वाले मुनियों का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत उद्देशक में एक वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन है। उत्तरोत्तर वस्त्र की संख्या में कमी का उल्लेख किया गया है, शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

यह हम पहले बता चुके हैं कि आत्म-विकास के लिए समभाव की आवश्यकता है वस्त्र पात्र आदि उपकरण शरीर सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। अतः जब तक साधक शीत आदि के परीषह को समभाव पूर्वक सहन करने में सक्षम नहीं है तथा लज्जा को नहीं जीत सकता है, तब तक उसे वस्त्र रखने की आवश्यकता है। इन कारणों के अभाव में अर्थात् पूर्ण सक्षम होने पर वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः ऐसी स्थिति में वह मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण—जो शरीर रक्षा के लिए नहीं

जीव रक्षा के लिए हैं को छोड़कर शेष वस्त्रों का त्याग करके आत्म चिन्तन में संलग्न रहे।

साधक को आत्म-चिन्तन कैसे करना चाहिए, इस विषय मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया ॥२१६॥

छाया—यस्य णं भिक्षोरेव भवति एकोऽहमस्मि नमेऽस्ति कोपि, न चाहमपि कस्यापि एव स एकाकिनमेव आत्मानं समभिजानीयात् लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागत भवति यावत् समभिजानीयात् ।

पदार्थ—ण—यह वाक्यालकार मे है। जस्स—जिस का विचार। भिक्खुस्स—भिक्षु को। एव—इस प्रकार। भवइ—होता है कि। एगे अहमसि—मैं अकेला हू। न मे अत्थि-कोइ—मेरा कोई नही है और। नयाहमवि—न मैं भी। कस्सवि—किसी का हू। एव—इस प्रकार। से—वह साधु। एगागिणमेव—अकेला ही। अप्पाण—अपनी आत्मा को। समभिजाणिज्जा—सम्यक् प्रकार से जाने। लाघविय—लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ व पालन करता हुआ। से—उसके। तवे—तप। अभिसमन्नागए भवइ—अभिमुख-सम्मुख होता है। जाव—यावत्। समभिजाणिया—सम्यक् दृष्टि भाव को व समभाव को सम्यक्-तया जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अकेला हू, मेरा कोई नही है और न मैं भी किसी का हू। इस प्रकार वह भिक्षु एकत्व भाव । से सम्यक्तया आत्मा को जाने। क्योंकि आत्मा मे लाघवता को उत्पन्न करता हुआ वह तप के सम्मुख होता है। अतः वह सम्यक्तया समभाव को जाने। जिससे वह आत्मा का विकास कर सके।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा के एकत्व भाव के चिन्तन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि साधक को यह सोचना-विचारना चाहिए कि इस संसार में मेरा कोई सहयोगी

नहीं है और न मैं भी किसी का साथ दे सकता हूं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख का वेदन करती है। अतः कोई भी शक्ति उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती है। स्वयं आत्मा ही अपने सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा उस कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त बन सकता है। इसलिए यह आत्मा अकेला ही सुख-दुःख का संवेदन करता है और कर्म बन्ध का कर्ता एवं हर्ता भी यह अकेला ही है। इस प्रकार अपने एकाकीपन का चिन्तन करने वाला साधक प्रत्येक परिस्थिति में संयम में संलग्न रहता है वह परीषहों से घबराता नहीं। अतः साधक को सदा एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

चिन्तन शील साधक को आहार कैसे करना चाहिए। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा४ आहारेमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासाए माणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त मेव समभिजाणिया ॥२१७॥

छाया—स भिक्षुः वा भिक्षुकी वा अशनं वा ४ आहारयन्नो वामतो हनुतो दक्षिणां हनुं संचारयेत् आस्वादयन् दक्षिणतो वामां हनुं (क) नोसंचारयेत् आस्वादयन् स अनास्वादयन् लाघविकं आगमयन् तपःतस्य अभिसमन्नागतो भवति यदिदं भगवता प्रवेदितं तदिदं अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—भिक्षु या। भिक्खुणी वा—भिक्षुणी—साध्वी। असणं वा—आहार-पानी खादिम स्वादिम आदि पदार्थों। आहारेमाणे—का उपभोग करते समय। वामाओ हणुयाओ—बाएं कपोल से। दाहिणं हणुयं—दाहिने कपोल में। आसाए माणे—आस्वादन करता हुआ। नो संचारिज्जा—संचार न करे और। आसाएमाणे—उन पदार्थों का आस्वादन करता हुआ। दाहिणाओ—दाहिने कपोल से। वामं हणुयं—बाएं कपोल में। नो संचारिज्जा—संचार न करे। से—परन्तु वह साधु। अणासायमाणे।

अनास्वादन करता हुआ—पदार्थों का स्वाद न लेते हुए आहार करे। लाघविय आगममाणे—क्यों कि आहार की लाघवता को जानता हुआ। से—वह। तवे—तप के। अभिसमन्नागए भवइ—सन्मुख होता है। जमेय भगवया—भगवान ने जो भाव। पवेइय—प्रतिपादन किया है। तमेव—उस विषय को। अभिसमिच्चा—विचार कर। सव्वओ—साधक सर्व प्रकार से। सव्वत्ताए—सर्वात्मा से। सम्मत्तमेव—समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी आहार-पानी, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थों का उपभोग करते समय बाए कपोल से दहिने कपोल की ओर दाहिने से बाए कपोल की ओर आस्वादन करता हुआ सचार न करे। किन्तु वह आहार का आस्वादन न करता हुआ आहार की लाघवता को जानकर तप के सन्मुख होता है। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया है उसे साधु सर्व प्रकार और सर्वात्मभाव से सम्यक्तया जानने एव समताभाव का परिपालन करने का प्रयत्न करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि आसक्ति एव तृष्णा कर्म बन्ध का कारण है। इस लिए साधक को अपने उपकरणों पर आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, अपितु खाद्य पदार्थों को भी आसक्त भाव से नहीं खाना चाहिए। साधु का आहार स्वाद के लिए नहीं, परन्तु सयम साधना के लिए है या यों भी कह सकते हैं कि सयम साधना और शरीर को व्यवस्थित रखने के लिए उसे आहार करना पडता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि साधु को जैसा भी प्रासुक एव एषणीय आहार उपलब्ध हुआ हो वह से बिना स्वाद लिए ही ग्रहण करे। इसमे यह भी बताया गया है कि रोटी आदि के ग्रास—कोर को मुह मे एक ओर से दूसरी ओर न ले जाए अर्थात् इतनी जल्दी निगल जाए कि उस पदार्थ के स्वाद की अनुभूति मुह के जिस भाग मे कोर रखा है उसके अतिरिक्त दूसरे भाग को भी न हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'हनु' शब्द का अर्थ ठोड़ी नहीं, गाल (मुह का भीतरी भाग) किया गया है और यही अर्थ यहा सगत बैठता है। भोजन का ग्रास मुह मे रखा जाता है और वह मुह में एक गाल से दूसरे गाल की ओर फिरता जाता है। यहा ठोडी का अर्थ प्रसगोचित नहीं है।

इस प्रकार अनासक्त भाव से रूक्ष आहार करने से शरीर का रक्त एव मांस

सूख जाता है, उस समय साधक के मन में समाधि मरण की भावना उत्पन्न होती है। उसी भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे ॥२१८॥

छाया—यस्य भिक्षो एवं भवति तद् ग्लायामि च खलु अहं अस्मिन् समये इदं शरीरकं आनुपूर्व्या परिवोढुं स भिक्षु आनुपूर्व्या आहारसंवर्तयेत् आनुपूर्व्या आहारं संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्च फलकावस्थायी उत्थाय भिक्षुः अभिनिवृतार्च ।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है, कि। च—समुच्चय अर्थ में। से—तत् शब्द के अर्थ में। यहां तत् शब्द वाक्योपन्यासार्थ में है। च—समुच्चयार्थ में है। खलु—अवधारण अर्थ है। अहं—मैं। इमंमि—इस। समए—समय में। गिलामि—ग्लानि को प्राप्त हो रहा हूं अतः। इमं सरीरगं—इसलिए शरीर को। अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। परिवहित्तए—क्रियानुष्ठान में नहीं चला सकता। से—अतः वह भिक्षु। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से तप के द्वारा। आहारं संवट्टिज्जा—आहार का संक्षेप करे और। अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। आहारं—आहार का। संवट्टित्ता—संक्षेप करके। कसाए—कषाय को। पयणुए किच्चा—स्वल्प करके। फलगावयट्ठी—फलक लकड़ी के पट्टे की तरह अवस्थित। उट्ठाय—मृत्यु के लिए उद्यत होकर। भिक्खू—भिक्षु। समाहियच्चे—समाधि को प्राप्त करे। अभिनिवुडच्चे—और शरीर के सन्ताप से रहित बने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अध्यवसाय होता है कि इस समय मैं संयम साधना का क्रियानुष्ठान करते हुए ग्लानि को प्राप्त हो रहा हूं।

रोग से पीडित हो गया हूं। अतः मैं इस शरीर को क्रियानुष्ठान मे भी नही लगा सकता हूं। ऐसा सोचकर वह भिक्षु अनुक्रम से तप के द्वारा आहार का सक्षेप करे और अनुक्रमेण आहार सक्षेप करता हुआ कषायो को स्वल्प -कम करके आत्मा को समाधि मे स्थापित करे। रोगादि के आने पर वह फलकवत् सहनशील बनकर पडित मरण के लिए उद्यत हो कर शरीर के सन्ताप से रहित बने। वह भिक्षु सयम मे सलग्न एवं नियमित क्रियानुष्ठान मे लगा रहने से समाधि पूर्वक इगित मरण को प्राप्त कर लेना है।

हिन्दी विवेचन

एकत्व भावना के चिन्तन में सलग्न मुनि अनासक्त भाव से रूक्ष आहार करते हुए शरीर मे क्षीणता एवं दुर्बलता का अनुभव करे और अपनी मृत्यु को निकट जान ले तो उस समय वह आहार का त्याग करके कषायों को उपशान्त करने का प्रयत्न करे। इस तरह कषायों को उपशान्त करने से उसे समाधि भाव की प्राप्ति होगी। क्योंकि, चित्त मे अशान्ति का कारण कषाय वृत्ति है, इसका नाश होते ही अशान्ति भी समाप्त हो जाएगी और साधक परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समाहियच्चे' का अर्थ है— जिस साधक ने सम्यक्तया शरीर एवं मन पर अधिकार कर लिया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह निकला कि कषायों पर विजय पाने वाला साधक ही समाधिस्थ कहलाता है। 'फलगावयट्ठी' शब्द से यह बात परिपुष्ट होती है। जैसे काष्ठ फलक शीत-ताप आदि को बिना किसी हर्ष शोक के सहता है तथा कारीगर की आरी के नीचे आकर कटने पर भी अपने रूप मे रहता है। इसी तरह साधक को प्रत्येक स्थिति मे समभाव पूर्वक अपनी आत्म-साधना मे स्थित रहना चाहिए। मान-सम्मान के समय न हर्ष करना चाहिए और न अपमान-तिरस्कार एव प्रहार के समय शोक या किसी पर द्वेष भाव लाना चाहिए।

इस तरह शारीरिक शक्ति का ह्रास हो जाने पर मुनि अनशन व्रत को स्वीकार करके समभाव पूर्वक समाधि मरण को प्राप्त करे। यह मरण कहां पर प्राप्त करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — अणु पविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कब्बडं वा

मडंबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा सन्निवसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणग दगमट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्सभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थावि तस्स काल परियाए जाव अणुगामियं त्तिबेमि ॥२१६॥

छाया—अनुप्रविश्य ग्रामं वा नगरं वा खेटं वा कर्बटं वा मडम्बं वा पत्तनं वा द्रोणमुखं वा आकरं वा आश्रमं वा सन्निवेशं वा नैगमं वा राजधानीं वा तृणानि याचेत तृणानि याचित्वा स तानि आदाय एकान्तम् अपक्रामेत् एकान्तम् अपक्रम्य अल्पाण्डे अल्पप्राणिनि अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके प्रत्युपेक्ष्य २ प्रमृज्य २ तृणानि संस्तीर्य अत्रापि समये इत्वरं कुर्यात् तत् सत्यं सत्यवादी ओजः तीर्णः छिन्नकथंकथः अतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विश्रम्भणतया भैरवम् अनुचीर्णः तत्रापि तस्य कालपर्यायः यावत् आनुगामिकम् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—गामं वा—ग्राम में। वा—यह शब्द पक्षान्तर का द्योतक है। नगरं वा—नगर में। खेडं वा—खेट में। कब्बडं—कर्बट में। मडंबं—मडंब में। पट्टणं वा—पत्तन में।

दोणमुह वा—द्रोणमुख मे । आगर वा—आकर में—खान मे । आसमंसि वा—आश्रम मे । सन्निवेसंसि वा—सन्निवेश मे । नेगम वा—नैगम में । रायहाणिया—राजधानी मे । अणुपविसित्ता—प्रवेश करके । तणाइ—तृणो की । जाइज्जा—याचना करे । तणाइ जाइत्ता—तृणो की याचना करके । से—वह भिक्षु । तमायाए—उन तृणों को लेकर । एगंत मवक्कमिज्जा—एकान्त गृह या गुफादि में चला जाए । एगंतमवक्कमित्ता—वहा एकान्त मे जाकर । अप्पडं—जिस स्थान मे अल्प अडे हैं । (यहा पर अल्प शब्द अभावार्थक है) अत अडे रहित । अप्पपाणे—अल्प प्राणी । अप्पबीए—अल्प बीज । अप्पहरिए—अल्पहरी । अप्पोसे—अल्प ओस । अप्पोदए—अल्प उदक—पानी । अप्पुत्तिग—अल्प पिपीलिका—चीटियें । पणग—उल्ली विशेष । दग—पानी— । मट्टिय—सचित्त मिट्टी । मक्कडा संताणए—मर्कट सतानक-मकडी का जाला आदि से रहित स्थानो मे । पडिलेहिय २—प्रतिलेखना करे । पमज्जिय २—प्रमार्जन करे और प्रमार्जन करके । तणाइ—तृणो को । संथरिज्जा—विछावे । तणाइ संथरित्ता—तृणो को विछाकर फिर । इत्थवि—यहा पर भी । समए—इस समय में । इत्तरियं कुज्जा—इत्वर करे (पादोगमन की अपेक्षा से नियत देश प्रचारादि के अभ्युपगम से सम्पन्न होने वाले इगित मरण का नाम इत्वर है) । त—वह इगित मरण । सच्च—सत्य है । सच्चावाई—वह सत्यवादी है । ओए—राग-द्वेष से रहित है । तिण्णे—ससार-सागर से पार हो गया है । छिन्नकहकहे—जिसने रागादि विकथा करनी छोड दी है । आईयट्ठे—जो जीवादि पदार्थों को जानने वाला है या जिसका कोई प्रयोजन शेष नही रहा । अणाईए—जो ससार से पार होने वाला । भेउर काय—जो विनाश होने वाली काया को । चिच्चाण—छोडकर और । विरूवरूवे—नाना प्रकार के । परीसहोवसग्गे—परीपहोपसर्गों को । संविहूय—सहन करके — अस्सि—इस सर्वज्ञ प्रणीत आगम में । विस्सभणयाए—विश्वास होने से । भेरवमणुचिन्ने—भयानक अनुष्ठान—इगित मरण को स्वीकार करता है । तत्थावि—रोगादि के उत्पन्न हो जाने पर उसने इस अनशन को स्वीकार किया है । तस्स—उस कालज्ञ भिक्षु का । काल परियाए—यह काल पर्याय । जाव- यावत्—शेष पाठ पूर्ववत समझें । अणुगामिय—पुण्योपार्जक होने से भवान्तर में साथ जाने वाला है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू ।

मूलार्थ—वह भिक्षु ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मण्डव, पत्तन, द्रोणमुख आकर-खान, आश्रम, सन्निवेश, नैगम और राजधानी इन स्थानो मे प्रवेश कर तथा उचित प्रासुक-जीवादि से रहित एव निर्दोष घास की याचना करके उस घास को एकान्त स्थान मे ले जाए। जहा पर अण्डे, प्राणी-जीव-जन्तु, बीज, हरी, ओस, जल, चीटिए, निगोद मिट्टी और

मकड़ी के जाल आदि न हों उस स्थान को अपनी आंखों से देखकर, रजोहरण से प्रमार्जन करके उस प्रासुक घास को बिछावे और उसे बिछाकर उचित अवसर में इंगित मरण स्वीकार करे । यह मृत्यु सत्य है । मृत्यु को प्राप्त करने वाला साधक सत्यवादी है, राग द्वेष को क्षय करने में प्रयत्नशील है । अतः वह ससार सागर से तरने वाला है । उस ने विकथा आदि को छोड़ दिया है । वह जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञाता है और ससार से पारगामी है । वह सर्वज्ञप्रणीत आगम मे विश्वास रखता है इसलिए वह इस नाशवान शरीर को छोड़ कर, नाना प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करके इस इंगितमरण—जो कि कायर पुरुषों द्वारा आदेय नहीं है—को स्वीकार करता है । अतः रोगादि के होने पर भी उसका काल पर्याय पुण्योपार्जक होता है । अतः वह पंडितमरण भवान्तर में साथ जाने वाला है । शेष पाठ पूर्ववत् समझें । इस प्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

जीवन के साथ मृत्यु का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है । उसका आना निश्चित है । इसलिए साधक मृत्यु से घबराता नहीं । उसके लिए यह आदेश दिया गया है कि ज्ञान, दर्शन चारित्र एवं तप की साधना से वह अपने आपको पंडितमरण प्राप्त करनेके योग्य बनाए साधना करते हुए जब उसका शरीर सूख जाए इन्द्रियें शिथिल पड़ जाएँ शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगे उस समय वह साधक जीवन पर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करके समभाव पूर्वक आत्मचिन्तन में संलग्न होकर समाधिमरण की प्रतीक्षा करे ।

ग्राम खेट, कोट, पत्तन द्रोणमुख, आकर स्थान, सन्निवेश राजधानी आदि स्थानों में से वह जिस किसी भी स्थान पर स्थित हो वहां की भूमि की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए । भूमि प्रमार्जन के साथ पेशाब आदि का त्याग करने का स्थान भी भली-भांति देख लेना चाहिए । वहां पर कीड़े-जन्तु हरी घास आदि न हों । ऐसे निर्दोष स्थान में तृण की शय्या बिछाकर और नमोत्थुणं का पाठ पढ़कर इंगित मरण अनशन को स्वीकार करे ।

इस तरह समभाव पूर्वक प्राप्त की गई मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है। इससे कर्मों का क्षय होता है और आत्मा शुद्ध एवं निर्मल बनती है। इस मृत्यु को वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जिस की आगम पर श्रद्धा-निष्ठा है। क्योंकि श्रद्धा-निष्ठ व्यक्ति ही परीषहों के उत्पन्न होने पर उन्हें समभाव पूर्वक सह सकता है और राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करता हुआ अपनी साधना मे सलग्न रह सकता है।

यह अनशन सागारिक अनशन की तरह थोड़े समय के लिए नहीं, अपितु जीवन पर्यन्त के लिए होता है। इस अनशन के द्वारा साधक समाधि मरण को प्राप्त करता है।

।। षष्ठम उद्देशक समाप्त ।।

अष्टम अध्ययन—विमोक्ष

सप्तम उद्देशक

षष्ठ उद्देशक में एक वस्त्रधारी मुनि एवं इंगित मरण अनशन का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में अचेलक मुनि एवं पादोपगमन अनशन के द्वारा समाधि मरण प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबन्धणं धारित्तए ॥२२०॥

छाया—यो भिक्षुः अचेलः पर्युषित तस्य भिक्षो एवं भवति शक्नोमि अहं तृणस्पर्शं अधिसोढुम् (अध्यासयितुं) शीतस्पर्शं अध्यासयितुं (अधिसोढुं) तेजःस्पर्शं (उष्णस्पर्शं) अधिसोढुं दंशमशकस्पर्शं अधिसोढुं अध्यासयितुं एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अध्यासयितुं ह्रीप्रच्छादनं चाहं न शक्नोमि अध्यासयितुं एवं तस्य कल्पते कटिबन्धनं धर्तुम्।

पदार्थ—जे—जो प्रतिमासंपन्न। अचेले—अचेलक। भिक्खू—भिक्षु साधु। परिवुसिए—संयम में अवस्थित है। णं—वाक्यालंकार में है। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार अभिप्राय होता है कि। अहं—मैं। तणफासं—तृण के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। चाएमि—समर्थ हूं। सीयफासं अहियासित्तए—शीत स्पर्श को सहन करने में। तेउफासं—उष्णस्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में।

दसमसगफास — डास-मच्छर के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। एगयरे—एक जाति के स्पर्श। अन्नयरे — अन्य प्रकार के स्पर्श अनुकूल या प्रतिकूल। विरूवरूवे — नाना प्रकार के फासे—स्पर्शों को। अहियासित्तए — सहन करने मे समर्थ हू, किन्तु। अह — मैं। हिरि पडिच्छायण च — लज्जा के कारण गुप्त प्रदेश के प्राच्छादन रूप वस्त्र का परित्याग करने मे। नो सचाएमि — समर्थ नहीं हू। एव इस कारण से। से — उस भिक्षु को। कडिबधणं — कटिबन्धन-चोलपट्टा। धरित्तए — धारण करना। कप्पेइ — कल्पता है।

मूलार्थ—जो प्रतिमासपन्न अचेलक भिक्षु सयम मे अवस्थित है और जिसका यह अभिप्राय होता है कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, डास-मच्छरादि के स्पर्श, एक जाति के स्पर्श, अन्य जाति के स्पर्श और नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों को तो सहन कर सकता हू किन्तु मैं सर्वथा नग्न हो कर लज्जा को जीतने मे असमर्थ हू। ऐसी स्थिति मे उस मुनि का कटिबन्धन चोलपट्टा रखना कल्पता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अचेलक मुनि का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि जो मुनि शीत आदि के परीषहों को सहने मे तथा लज्जा को जीतने मे समर्थ है, वह वस्त्र का सर्वथा त्याग करदे। वह मुनि केवल मुखवस्त्रिका एव रजोहरण के अतिरिक्त कोई वस्त्र न रखे। परन्तु, जो मुनि लज्जा एव घृणा को जीतने मे सक्षम नहीं है, वह कटिबन्ध अर्थात् चोल पट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखे और गांव या शहर मे भिक्षा आदि के लिए जाते समय उसका उपयोग करे। परन्तु, जगल एव एकान्त स्थान मे निर्वस्त्र होकर साधना करे।

यह हम चौथे उद्देशक मे स्पष्ट कर चुके है कि साधना की सफलता या मुक्ति नग्नता मे है। वह नग्नता शरीर मात्र की नहीं, आत्मा की होनी चाहिए। जब आत्मा कर्म आवरण से सर्वथा अनावृत्त हो जाएगी तभी मुक्ति प्राप्त होगी और उसके लिए आवश्यक है राग-द्वेप को क्षय करना। यह क्रिया वस्त्र रहित भी की जा सकती है और वस्त्र सहित भी। मर्यादित वस्त्र रखते हुए भी जो साधु समभाव के द्वारा राग-द्वेप पर विजय पाने में सलग्न है, उसकी साधना सफलता की ओर है और यदि कोई साधु वस्त्र का त्याग करके भी राग-द्वेप एव विपम भाव मे घूमता है तो उसकी साधना साध्य की ओर ले जाने वाली नहीं है। अत असाधुता वस्त्र मे नहीं कषायों में है, ममता मे है, राग-द्वेष मे है। इन विकारों से युक्त वस्त्र युक्त एवं वस्त्र रहित कोई भी साधक

क्यों न हो वास्तव में वह साधुता से दूर है।

इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल लज्जा एवं शीत निवारणार्थ है। इससे साधना का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि परिग्रह पदार्थ में नहीं, ममता में है। आगमों एवं तत्त्वार्थ सूत्र* दोनों में मूर्च्छा को परिग्रह माना है। यदि शरीर पर एवं शुभ कार्य तपस्या आदि पर भी आसक्ति है, तो वहां भी परिग्रह लगेगा और यदि तन पर एवं वस्त्रों पर तथा अन्य उपकरणों पर ममत्व भाव नहीं है, तो परिग्रह नहीं लगेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि साधुत्व अनासक्त भाव में है राग-द्वेष से रहित होने की साधना में है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया ॥२२१॥

छाया—अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजःस्पर्शाः स्पृशन्ति दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेलः लाघविकं आगमयन् यावत् समभिजानीयात्।

पदार्थ—अदुव—अथवा। तत्थ—संयम में। परक्कमंतं—पराक्रम करते हुए मुनि को। भुज्जो—फिर। अचेल—अचेलक को। तणफासा—तृणों के स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। सीयफासा—शीत स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। तेउफासा—उष्ण स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। दंसमसगफासा—दंशमशक के स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। एगयरे—वह एक जाति के स्पर्शों को तथा। अन्नयरे—अन्य जाति के स्पर्शों को। विरूवरूवे—नाना प्रकार के। फासे—स्पर्शों को। अहियासेइ—सहन करता है, और अचेले—अचेल अवस्था में रहकर। लाघवियं—कर्मों की लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ। जाव—यावत्। समभिजाणिया—सम्यग् दर्शन या समभाव को सर्व प्रकार से जानता है।

---

* श्री दिगम्बर सम्प्रदाय को भी मान्य है।

मूलार्थ—यदि मुनि लज्जा को न जीत सके तो वस्त्र धारण करले और यदि वह लज्जा को जीत सकता है तो अचेलकता मे पराक्रम करे। जो मुनि अचेलक अवस्था मे तृणो के स्पर्श, शीत के स्पर्श, उष्ण के स्पर्श, डास-मच्छरादि के स्पर्श एक जाति के या अन्य जाति तथा नाना प्रकार के स्पर्शों के स्पर्शित होने पर उन्हे समभाव से सहन करता है। वह कर्मक्षय के कारणो का ज्ञाता मुनि सम्यग् दर्शन एव समभाव का परिज्ञान करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे इस बात को और स्पष्ट कर दिया गया है कि जो मुनि लज्जा एव परीपहों को जीतने मे समर्थ है वह वस्त्र का उपयोग न करे। इससे स्पष्ट हो गया कि वस्त्र केवल सयम सुरक्षा के लिए है, न कि शरीर की शोभा एव शृ गार के लिए अत साधु को सदा समभाव पूर्वक परीपहो को सहते हुए सयम मे सलग्न रहना चाहिए। जो मुनि साधना के स्वरूप एव समभाव को सम्यक्तया जानता है, वह परीपहों के उत्पन्न होने पर अपने पथ से विचलित नहीं होता है। अत साधक को सदा समभाव की साधना मे सलग्न रहना चाहिए। और यदि उसमे शीत आदि के परीषहों को एवं लज्जा को जीतने की क्षमता है तो उसे वस्त्र का त्याग कर देना चाहिए और यदि इतनी क्षमता नहीं है तो वह कम से कम कटिबन्ध (चोल पट्टक) या मर्यादित वस्त्र रख सकता है।

इसके बाद प्रतिभासम्पन्न मुनि के अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १ जस्स णं भिक्खुस्स एवंभवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि

३ जस्स ण भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूण असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जि स्सामि ४ अहं च खलु तेण अहाइरित्तेणं अहेसणिज्जेण अहा परिग्गहिएण असणेण वा ४ अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडिय करणा ए, अहंवावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा पाणेण वा ४ अभिकंख साहम्मि एहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥२२२॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति-अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्य' अशनं वा ४ आहृत्य दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि यस्य भिक्षो एवं भवति अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्य अशनं वा ४ आहृत्यदास्यामि आहृतं च नो स्वादयिष्यामि २ यस्य च भिक्षो एवं भवति अहं च खलु अशनं वा आहृत्य नो दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि ३ यस्य भिक्षो एवं भवति अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्य अशनं वा ४ आहृत्य नो दास्यामि आहृतं च नो स्वादयिष्यामि ४ अहं च खलु तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरि गृहीतेन अशनेन वा ४ अभिकांक्ष्य साधर्म्मिकस्य वैयावृत्यं कुर्यात् वैयावृत्य करणाय अहं वापि तेन् यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा पानेन वा ४ अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि लाघविकं आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् ।

पदार्थ—णं—यह वाक्यालंकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है कि। च—पुनः। खलु—अवधारण अर्थ में है। अहं—मैं। अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं को। असणं—अन्न-पानी खादिम और स्वादिम पदार्थ। आहट्टु—लाकर। दलइस्सामि—दूंगा। च—और। आहडं च—उनका

लाया हुआ। साइज्जिस्सामि — खा भी लूगा। जस्सण२ - जिस भिक्षु का। एव मवइ — इस प्रकार का अभिप्राय है कि। अह च खलु — मैं। अन्नेसि — अन्य। भिक्खुण — भिक्षुओ को। असणं वा — अशनादि। आ हट्टु — लाकर। दलइस्सामि — दूगा। अहड च — परन्तु उनका लाया हुआ। नोसाइज्जिस्सामि — नही खाऊगा। जस्सण भिक्खुस्स ३। जिस भिक्षु का। एव — मवइ — इस प्रकार का भाव होता है कि। अह च खलु — मैं। असण वा ४ — अन्न-पानी, खादिम और स्वादिमादि पदार्थ। आहट्टु — अन्य साधु को लाकर। नो दलइस्सामि — नही दूंगा। आहड च साइज्जिस्सामि — परन्तु उनका लाया हुआ आहार खा लूगा ४। जस्सण भिक्खुस्स — जिस भिक्षु का। एव मवइ — इस प्रकार का अभिप्राय होता है। अह च खलु — मैं। अन्नेसि — अन्य। भिक्खूण — भिक्षुओ को। असण वा — अन्न-पानी, खादिम, स्वादिमादि पदार्थ। आहट्टु — लाकर। नो दलइस्सामि — नही दूगा। आहड नो साइज्जिस्सामि — और न उनका लाया हुआ खाऊगा ही। अब इसके अतिरिक्त अन्य अभिग्रह के विषय मे कहते हैं। अह च खलु — मैं। तेण अहाइरित्तेण — अपने अधिक लाए हुए आहार से। अहेसणिज्जेण — निर्दोष आहार से। अहापरिग्गहिएणं — अपने लिए लाए हुए। असणेण वा ४ — आहारादि चारो पदार्थो से और। अभिकख — निर्जरा का उद्देश्य करके। साहम्मियस्स — तथा सधर्मी के ऊपर उपकार। करणाय — करने के लिए उसकी। वेयावडिय — वैयावृत्य। कुज्जा — करूगा। अह वावि — मैं भी। तेण — उस अन्य मुनि के पास। अहाइरित्तेण — अधिक आहार आ जाने से। अहेसणिज्जेण — उसके निर्दोष आहार से। अहापरिग्गहिएण — वह अपने लिए जो आहार लाया है उस मे स। असणेण वा पाणेण वा ४ — अन्न-पानी आदि पदार्थ। अभिकख — निर्जरा का उदेश करके। साहम्मिएहिं — सधर्मियो के द्वारा। कीरमाण — किए जाने वाली। वेयावडिय — वैयावृत्य को। साइज्जिस्सामि — स्वीकार भी करूगा। लाघविय — इस तरह कर्मो की लाघवता को। आगममाणे — जानता हुआ अर्थात् कर्म क्षय करने के लिए। जाव — यावत्-शेष पाठ पूर्ववत् समझें। सम्मत्तमेव — सम्यग् दर्शन या समभाव को। समभिजाणिया — सम्यक् प्रकार से जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय होता है कि मै अन्यभिक्षुओ को अन्नादि चतुर्विध पदार्थ लाकर दूगा और उनका लाया हुआ स्वीकार भी करूगा २ जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अन्य भिक्षुओ को आहारादि चार प्रकार के पदार्थ लाकर दूगा किन्तु उन का लाया हुआ स्वीकार नही करूंगा। ३ जिस भिक्षु का इस प्रकार का प्रण होता है कि मैं अन्नादि चतुर्विध आहार अन्य साधु को लाकर नही

दूंगा किन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार करूंगा। ४ जिस भिक्षु की यह प्रतिज्ञा होती है कि मैं अन्य भिक्षुओं को अन्नादि चारों पदार्थ न लाकर दूंगा और न उनका लाया हुआ स्वीकार ही करूंगा। इसके अतिरिक्त उनके अन्य अभिग्रह का वर्णन भी किया गया। जैसे कि मैं अपने लिए लाए हुए अधिक निर्दोष एवं यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा को उद्देश्य करके या पर उपकार के लिए सधर्मी को वैयावृत्य करूंगा या मैं अन्य के अधिक लाये हुए निर्दोष एवं यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा के कारण सधर्मियों द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य को स्वीकार करूंगा और निर्जरा के लिए अन्य के द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य का अनुमोदन भी करूंगा। इस तरह कर्मों की लघुता को मानता हुआ यावत् सम्यग् दर्शन या समभाव को सम्यक्तया जाने।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अभिग्रह निष्ठ मुनि के आहार के सम्बन्ध में चारों भंग पूर्व के उद्देशक की तरह ही बताए गए हैं। इसमें अन्तर इतना ही है कि पूर्व के उद्देशे में केवल निर्जरा के लिए वैयावृत्य करने का उल्लेख किया गया था और इस उद्देशे में परोपकार एवं निर्जरा दोनों दृष्टियों से वह वैयावृत्य करता है या दूसरे समानधर्मी साधु से वैयावृत्य करवाता भी है। वह यह भी निश्चय करता है कि मैं अपने साधुओं की बीमारी के समय आहार आदि से वैयावृत्य करूंगा या जो साधु वैयावृत्य कर रहा है, उसकी प्रशंसा भी करूंगा। इस तरह वैयावृत्य में परोपकृति एवं कर्म निर्जरा दोनों की प्रधानता निहित है। इस तरह मन वचन और शरीर से सेवा करने कराने एवं अनुमोदना करने वाले साधक के मन में एक अपूर्व आनन्द एवं स्फूर्ति की अनुभूति होती है और उससे उसके कर्मों की निर्जरा होती है। अस्तु, सेवाभाव से साधक की साधना में तेजस्विता आती है और उसकी साधना अन्तर्मुखी होती जाती है। इससे वह कर्मों से हल्का बनकर आत्म-विकास की ओर बढ़ता है। अतः साधक को अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा का दृढ़ता से परिपालन करना चाहिए।

मुनि को रोग आदि के उत्पन्न होने पर घबराना नहीं चाहिए। यदि अन्तिम समय निकट प्रतीत हो तो उसे सब ओर से अपना ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक पंडित-मरण का स्वागत करना चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा २ कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा जाव संथरिज्जा, इत्थवि समये कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विसंभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थवि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ विअन्तिकारए इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं अणुगामियं तिबेमि ॥२२३॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति अथ ग्लायामि खलु अस्मिन् समये इद शरीरकं आनुपूर्व्या परिवोढु आनुपूर्व्या आहार सवर्तयेत् संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकापदर्शी (फलकावस्थायी) उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृतार्चः अनुप्रविश्य ग्राम वा नगर वा यावत् राजधानीं वा तृणानि याचित्वा यावत् समस्तरेत् अत्रापि समये काय च योग च ईर्यां च प्रत्याचक्षीत् तत् सत्य सत्यवादी ओजः तीर्णः—छिन्नकथकथः आतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुर काय सविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विस्रम्भणतया भैरवमनुचीर्णः तत्रापि तस्य काल पर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतत् विमोहायतन हितं सुखं क्षम निश्रेयस आनुगामिक इतिब्रवीमि ।

पदार्थ—जस्स भिक्खुस्स—जिस भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय, होता है कि। से—वह अर्थात् मैं। गिलामि—रोगादि से पीड़ित हूं। खलु—वाक्यालंकार में है

भत। अहं—मैं। इमम्मि—इस। समए—समय में। इमं सरीरगं—इस शरीर को। आणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। परिवहित्तए—संयम साधना में लगाने के लिए। नो संचाए—समर्थ नहीं हूं। से—अतः वह भिक्षु। अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से। आहारं संवट्टिज्जा—आहार का संक्षेप करे, आहार का संक्षेप करके फिर। कसाए—कषाय को। पयणुए—स्वल्प। किच्चा—करके। समाहियच्चे—जिस साधु का शरीर समाधियुक्त है। फलगावयट्ठी—वह फलकवत् सुख-दुःख के सहने वाला। उट्ठाय—मृत्यु के लिए उद्यत होकर। भिक्खू—साधु। अभिनिव्वुडच्चा—शरीर के सन्ताप से रहित होकर। गामं वा—ग्राम में। नगरं वा—नगर में। जाव—यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी में। अणुपविसित्ता—प्रवेश करके। तणाइं जाइज्जा—तृणों की याचना करे। जाव संथरिज्जा—यावत् (शेष पाठ पूर्ववत्) तृणों को बिछाए। इत्थवि समए—इस समय में। कायं च जोगं च—वह काय योग को, अर्थात् शरीर को सकोचने और पसारने की क्रिया आदि। च—और। इरियं च—चलने-फिरने आदि का। पच्चक्खाइज्जा—प्रत्याख्यान करे। च शब्द से वचन योग के प्रयोग करने का भी प्रत्याख्यान करे। तं—वह प्रायोपगमन रूप अनशन। सच्चं—सत्य है। सच्चावाई—सत्यवादी है। ओए—वह रागद्वेष से रहित। तिण्णे—संसार सागर से तीर्ण। छिन्नकहंकहे—विकथादि का परित्यागी। आइयट्ठे—जीवाजीवादि पदार्थों को जानकर साधु। अणाइए—जिसने संसार का अन्त कर दिया है। भेउरं कायं—अपनी नाशवान काया को। चिच्चा—छोड़कर। _ं—पूर्ववत्। विरूवरूवे—नाना प्रकार के। परीसहोवसग्गे—परीषह उपसर्गों को। संविहुणिय—सहन करता है। अस्सिं—उसी इस जिन प्रवचन में। विस्संभणाए—विश्वास होने से। भेरवमणुचिण्णे—उसने भयंकर प्रतिज्ञा को ग्रहण किया है। तत्थवि—वहां पर भी। तस्स—उस साधु की। कालपरियाए—काल पर्याय और। तत्थ—वहां पर। से वि—वह भी। विअंतिकारए—कर्मों के क्षय करने वाले है। इच्चेयं—यह पूर्वोक्त मृत्यु। विमोहायतणं—मोह से रहित होने का स्थान है। हियं—इसलिए यह मृत्यु हितकारी है। सुहं—सुखकारी है। खमं—समर्थ है। निस्सेसं—कल्याणकारी है। आणुगामियं—भवान्तर में साथ जाने वाली है। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय हो कि मैं ग्लान हूं रोगाक्रान्त हूं। अतः मैं इस समय अनुक्रम से इस शरीर को संयम साधना में नहीं लगा सकता हूं तो वह भिक्षु अनुक्रम से आहार का संक्षेप करे और कषायों को स्वल्प बनाए। ऐसा करके वह समाधियुक्त मुनि फलक की भान्ति सहनशील होकर मृत्यु के लिए उद्यत होकर तथा शरीर के सन्ताप से रहित होकर ग्राम, नगर यावत् राजधानी में प्रवेश करके तृणों

को याचना कर के गुफादि निर्दोष स्थान मे ले जाकर उसे बिछावे। इस स्थान पर भी वह इस समय कायके व्यापार के और वचन के व्यापार तथा मनके अशुभ सकल्पो का प्रत्याख्यान करे। यह पादोपगमन अनशन सत्यवादी है राग और द्वेष से रहित ससार समुद्र से पार होने वाला है काम आदि विकथाओ का त्यागी है, पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है। ससार का अन्त करने वाला है नाशवान शरीर को त्याग करने का इच्छुक है। नाना विध परीषहोपसर्गो को सहन करने मे समर्थ है। जैनागम मे आस्था रखने वाला और भयकर प्रतिज्ञा का परिपालक है। उसका काल पर्याय कर्मों का नाशक है। यह पूर्वोक्त मृत्यु मोह से रहित है। अतः यह हितकारी है, सुख कारी है, क्षेमकारी है, कल्याणकारी है और भवान्तर मे साथ जानेवाली है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

साधु का जीवन साधना का जीवन है। अत उसे न जीने मे हर्ष है और मृत्यु के समान दुःख है। उसका समस्त समय साधना में बीतता है। मृत्यु भी साधना में ही गुजरती है। इसलिए उसकी मृत्यु भी सफल मृत्यु है। इस लिए आगमकारों ने उसे पडित मरण कहा है। रोगादि से या तपस्या से शरीर क्षीण एव शक्तिहीन होने पर साधक घबराता नहीं, परन्तु वह समभाव पूर्वक आने वाले परीषहों को सहता हुआ मृत्यु का स्वागत करता है। उस समय वह आहार आदि का त्याग करके शान्त भाव से पडित मरण को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत अध्ययन में मरण के तीन प्रकार बताए गए हैं— १-भक्त प्रत्याख्यान, २—इगित मरण और। ३—पादोपगमन। तीनों अनशन जीवन पर्यन्त के लिए होते हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि भक्त प्रत्याख्यान में केवल आहार एव कषाय का त्याग होता है, इसके अतिरिक्त अनशन काल में साधक एक स्थान से दूसरे स्थान मे आ जा सकता है। परन्तु, इगित मरण मे भूमि की मर्यादा होती है, वह मर्यादित भूमि से बाहिर आ जा नहीं सकता है। पादोपगमन मे पेशाब-शौच आदि आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त शारीरिक अग-उपागों का सकोच-विस्तार एव हलन-चलन आदि सभी क्रियाओं का त्याग होता है। इस प्रकार अतिम समय निकट आने पर साधक तीनों प्रकार की मृत्यु में से किसी एक मृत्यु को स्वीकार करके पडित मरण को प्राप्त करता है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन-विमोक्ष

अष्टम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में पूर्व के उद्देशों में उपदिष्ट बातों का गाथाओं में वर्णन किया गया है। सबसे प्रथम पंडितमरण के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज।
वसुमन्तो मइमन्तो, सव्वं नच्चा अणेलिसं ॥१॥

छाया—आनुपूर्व्या विमोहानि यानि धीराः समासाद्य।
वसुमन्तः मतिमन्तः सर्वं ज्ञात्वा अनीदृशम् ॥

पदार्थ—अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। विमोहाइं—मोह से रहित। जाइं—जो भक्त प्रत्याख्यान आदि मृत्यु। धीराः—धैर्यवान साधु। समासज्ज—प्राप्त करके। वसुमंतो—संयम-निष्ठ। मइमन्तो—बुद्धिमान। सव्वं—सब तरह से कर्तव्य-अकर्तव्य को। नच्चा—जानकर। अणेलिसं—अनुपम समाधि को प्राप्त करे।

मूलार्थ—अनशन करने के लिए जो संलेखना की विधि बताई गई है उसके अनुसार धैर्यवान ज्ञान सपन्न, संयम निष्ठ एवं हेयोपादेय का परिज्ञाता मुनि मोह से रहित होकर पंडित मरण को प्राप्त करे।

हिन्दी विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। अतः साधक मृत्यु से डरता नहीं घबराता नहीं। वह पहले से ही जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए मृत्यु को सफल बनाने का प्रयत्न करना शुरु कर देता है। वह विभिन्न तपस्या के द्वारा अपनी साधना को सफल बनाता हुआ पंडित मरण की योग्यता को प्राप्त कर लेता है पंडित मरण के लिए ४ बातों का होना जरूरी है— १-संयम, २-ज्ञान, ३-धैर्य और ४-निर्मोह भाव। संयम एवं ज्ञान सम्पन्न साधक ही हेयोपादेय का परिज्ञान करके दोषों का परित्याग करके शुद्ध संयमका पालन कर सकता है और धैर्यता के सद्भाव में ही साधक समभाव पूर्वक परीषहों कोसह सकता है। वह मोह से रहित हो कर ही शुद्ध संयम का पालन कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सयम, ज्ञान एव धर्म से युक्त मोह रहित साधक ही पडित-मरण को प्राप्त करता है। मृत्यु को सफल वनाने के लिए ज्ञान, धैर्यता एव अनासक्त होना आवश्यक है।

इस वात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुविहंपि विइत्ताणं, बुद्धाधम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीइ संखाए, आरभाओ (य) तिउट्टइ ।२।

छाया—द्विविधमपिविदित्वा बुद्धाः धर्मस्य पारगा।
आनुपूर्व्या संख्याय आरम्भात् च त्रुट्यति ॥

पदार्थ—ण—वाक्यालकार मे है। दुविहंपि—दो प्रकार के वाह्य और आभ्यान्तर रूप को। विइत्ता—जानकर या ग्रहण करके। बुद्धा—तत्त्व के परिज्ञाता। धम्मस्स—श्रुत और चारित्र रूप धम के। पारगा—पारगामी। अणुपुव्वीइ—अनुक्रम से दीक्षा का परिपालन करके और मृत्यु के अवसर को। सखाए—जानकर। आरम्भाओ—आरम्भ से। तिउट्टइ—अष्ट प्रकार के कम वन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

मूलार्थ—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का पारगामी तत्वज्ञ मुनि वाह्य और आभ्यन्तर तपको धारण करके अनुक्रम से सयम का आराधन करते हुए मृत्यु के समय को जानकर आठ कर्मों से मुक्त हो जाता हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में वताया गया है कि धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता, तत्त्वज्ञ साधक ही मृत्यु के समय को जानकर कर्म वन्धन से मुक्त हो सकता है। कर्म वन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। ज्ञान सम्पन्न साधक वस्तु के हेयोपादेय स्वरूप को भली-भाति जान सकता है और त्यागने योग्य दोषों से निवृत्त होकर साधना मे सलग्न रहता है। वह मृत्यु से डरता नहीं, अपितु मृत्यु के समय को जानकर तप के द्वारा अष्ट कर्मों को क्षय करता हुआ समाधि मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान पूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया साधक को साध्य के निकट पहुचाती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "आरम्भाओ तिउट्टइ" पद मे पचमी के अर्थ में

पञ्चमी विभक्ति एवं भविष्यत् काल के अर्थ में वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार का भी यही मत है* ।

किसी प्रति में चतुर्थ पद में 'कम्मुणाओ तिउट्टई' यह पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य है— आठ प्रकार के कर्मों से पृथक् होना।

अब संलेखना के आभ्यन्तर अर्थ को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ॥३॥

छाया—कषायान् प्रतनून् कृत्वा, आहार तितिक्षते।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्येव अन्तिकम् ॥

पदार्थ—कसाए—कषाय। पयणु—पतली। किच्चा—करके। अप्पाहारे—अल्प आहार करने वाला। तितिक्खए—परीषहों एवं दुर्वचनों को सहन करे। अह—अथ-यदि। भिक्खु—साधु, आहार के बिना। गिलाइज्जा—ग्लानि को प्राप्त होता है तो वह। आहारस्सेव—आहार का ही। अंतियं—अन्त कर दे।

मूलार्थ—मुनि पहले कषाय कम करके फिर अल्पाहारी बने और आक्रोश आदि परीषहों को समभाव से सहन करे। यदि आहार के बिना ग्लानि पैदा होती हो तो वह आहार को स्वीकार करले अन्यथा आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत स्वीकार कर ले।

हिन्दी विवेचन

समाधि मरण को प्राप्त करने के लिए संलेखना करना आवश्यक है और संलेखना के लिए तीन बातों की आवश्यकता है—१-कषाय का त्याग २-आहार का कम करना और ३-परीषहों को सहन करना। कष् का अर्थ संसार है और आय का अर्थ लाभ है अतः कषाय का अर्थ है— संसार परिभ्रमण में वृद्धि होना। आहार से स्थूल शरीर को पोषण मिलता है और कषाय से सूक्ष्म कार्मण शरीर परिपुष्ट होता है।

---

* आरम्भार्थं आरम्भः शरीरधारणायापानपानादावेवमात्मनः तस्मात् त्रुट्यति अपगच्छतीत्यर्थः। सूत्र व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी पाठान्तरं वा-कम्मुणाओ तिउट्टइ कर्मणोऽपगच्छति भविष्यतीति त्रुट्यति वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा (पा ३।३।१३१) इत्यनेन भविष्यत् कालस्य वर्तमानता —आचाराङ्ग वृत्ति।

और साधना का उद्देश्य है शरीर रहित होना। अत उसके लिए स्थूल एव सूक्ष्म शरीर को परिपुष्ट करने वाले कषाय एव आहार को कम करना जरूरी है, क्योंकि इनका एकदम त्याग कर सकना कठिन है। अत सलेखना काल मे कषायों एव आहार को कम करते-करते एक दिन कषायों से सर्वथा निवृत्त हो जाना यही साधना की सफलता है।

कषायों पर विजय पाने के लिए सहिष्णुता का होना आवश्यक है। परीषहों के समय विचलित नहीं होने वाला साधक ही कषायों से निवृत्त हो सकता है। इस तरह कषाय एवं आहार को घटाते हुए साधक अपनी साधना मे सलग्न रहे। यदि आहार की कमी से मूर्च्छा आदि आने लगे और स्वाध्याय आदि की साधना भली-भाति नहीं हो सकती हो तो साधक आहार करले और यदि आहार करने से समाधि भग होती हो तो वह आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत (सथारे) को स्वीकार कर ले। परन्तु ऐसा चिन्तन न करे कि मैं सलेखना के तप को तोड कर आहार कर लूं और फिर तप शुरु कर लूगा।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा।४।

छाया—जीवितं नाभिकांक्षेत, मरण नाभिप्रार्थयेत्।
उभयतोपि न सज्ज्येत् जीविते मरणे तथा॥

पदार्थ—जीविय—जीवन को। नाभिकखिज्जा—न चाहे। नोऽवि—और न। मरण पत्थए—मृत्यु की प्रार्थना करे। जीविए तहा मरणे—जीवन तथा मृत्यु। दुहओवि—दोनो में। न सज्जिज्जा—आसक्ति न रखे।

मूलार्थ—सलेखना एव अनशन मे स्थित साधु न जीने की अभिलाषा रखे और न मरने की प्रार्थना करे। वह जीवन तथा मरण दोनो मे अनासक्त रहे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि आसक्ति पाप कर्म के बन्ध का कारण है। अत सलेखना एवं सथारे में स्थित साधु उपासकों के द्वारा अपनी प्रशंसा होती हुई देखकर यह

यह अभिलाषा न करे कि मैं अधिक दिन तक जीवित रहूँ जिससे कि मेरी प्रशंसा अधिक होगी। वह कष्टों से घबरा कर मरने की भी अभिलाषा न करे। वह जन्म-मरण की अभिलाषा से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक संलेखना एवं अनशन की साधना में संलग्न रहे।

ऐसे साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्—मज्झत्थो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ।५।

छाया—मध्यस्थः निर्जरापेक्षी, समाधिमनुपालयेत्।
अन्तः बहिः व्युत्सृज्य अध्यात्मं शुद्धमेषयेत ॥

पदार्थ—मज्झत्थो—मध्यस्थ भाव में स्थित। निज्जरापेही—निर्जरा को देखने वाला मुनि। समाहिं—सदा समाधि का। अणुपालए—परिपालन करे। अन्तो—अन्तरङ्ग कषायों को और। बहिं—बा शरीर आदि उपकरणों को। विउस्सिज्ज—त्याग कर। अज्झत्थं-मन की। सुद्धं—शुद्धि का। एसए-अन्वेषण करे अर्थात् मानसिक शुद्धि की अभिलाषा रखे

मूलार्थ—मध्यस्थ भाव में स्थित निर्जरा का इच्छुक मुनि सदा समाधि का परिपालन करे और अन्तरङ्ग कषायों एवं बाह्य शरीरादि उपकरणों को त्याग कर मनकी शुद्धि करे।

हिन्दी विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील आत्मा जीवन-मरण की आकांक्षा का त्याग करके संलेखना को स्वीकार करता है। अतः उसके लिए यह आवश्यक है कि पहले वह कषायों का त्याग करे और उसके पश्चात् उपकरण एवं शरीर का भी परित्याग कर दे। कषाय का त्याग करने पर ही आत्मा में समाधि भाव की ज्योति जग सकती है और साधक त्याग के पथ पर बढ़कर सभी कर्मों एवं कर्म जन्य साधनों से निवृत्त हो सकता है। इसलिए साधक को सदा अपने अन्तःकरण को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही संयम की सम्यक् साधना करके कर्मों से मुक्त हो सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं किंचुवक्कमं जाणे, आउ खेमस्समप्पणो।
तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पंडिए ।६।

छाया— यं कञ्चन उपक्रम जानीयात्, आयुःक्षेमस्य आत्मनः।
तस्यैव अन्तरकाले, क्षिप्र शिक्षेत् पण्डित ॥

पदार्थ—जं अप्पणो—यदि आत्मा की। आउखेमस्स—आयु को क्षेम रूप से यापन-बिताने का। किंचुवक्कम—किंचित मात्र-थोड़ा-बहुत। उवक्कम—उपाय। जाणे—जानता हो तो वह। तस्स—उस संलेखना काल के। अन्तरद्धाए—मध्य में। खिप्प—शीघ्र ही। पंडिए-सिक्खिज्जा—उस भक्त परिज्ञा आदि से पंडित मरण को स्वीकार करे।

मूलार्थ—यदि मुनि अपनी (आत्मा की) आयु का क्षेम—समाधि पूर्वक बीताने का उपाय जानता हो तो वह उस उपाय को सलेखना के मध्य में ही ग्रहण करले। यदि कभी अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाए तो वह शीघ्र ही भक्त परिज्ञा आदि सलेखना को स्वीकार करके पडित मरण को प्राप्त करे।

हिन्दी विवेचन

यदि सलेखना के काल मे कोई ऐसा रोग उत्पन्न हो जाए कि संलेखना का काल पूरा होने से पूर्व ही उस रोग से मृत्यु की सभावना हो तो उस समय साधक सलेखना को छोड़कर औषध के द्वारा रोग को उपशान्त करके फिर से सलेखना आरम्भ कर दे। यदि कोई व्याधि तेल आदि के मालिश से शान्त हो जाती हो तो वैसा प्रयत्न करे और यदि वह व्याधि शान्त नहीं होती हो या उसके उग्र रूप धारण कर लेने से ऐसा प्रतीत होता हो कि इससे शीघ्र ही प्राणान्त होने वाला है, तो साधक भक्त प्रत्याख्यान आदि अनशन स्वीकार करके समाधि मरण को प्राप्त करे।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को आत्महत्या की अनुमति नहीं है। जहा तक शरीर चल रहा है और उसमें साधना करने की शक्ति है, तब तक उसे अनशन करने की आज्ञा नहीं है। रोग के उत्पन्न होने पर भी उसका उपचार करने की अनुमति दी गई है। अनशन उस समय के लिए बताया गया है जब कि रोग असाध्य बन गया है और उसके ठीक होने की कोई आशा नहीं रही है या उसका शरीर इतना जर्जरित-निर्बल हो गया है कि अब भली-भाति स्वाध्याय आदि साधना नहीं हो रही है। अत अनशन (सथारे) को आत्महत्या कहना नितान्त असत्य है।

मृत्यु का समय निकट आने पर साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाइं संथरे मुणी ।७।

छाया—ग्रामे वा अथवा अरण्ये स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य ।
अल्पप्राणं तु विज्ञाय तृणानि संस्तरेद् मुनिः ॥

पदार्थ—गामे वा—ग्राम में। अदुवा—अथवा। रण्णे—जंगल में स्थित संयमशील मुनि। थंडिलं—स्थण्डिल भूमि को। पडिलेहिया—प्रतिलेखन करके। तु—वितर्क के अर्थ में है। तणाइं—तृणों को। संथरे—बिछाए।

मूलार्थ—ग्राम या जंगल में स्थित संयमशील मुनि संस्तारक बिछौने एवं शौचादि के स्थान का प्रतिलेखन करे और जीव-जन्तु से रहित निर्दोष भूमि को देखकर वहां तृण बिछाये।

हिन्दी विवेचन

पूर्व के उद्देशक में अनशन करने के स्थान का जो वर्णन किया गया है, उसी को इस गाथा में दोहराया गया है। मृत्यु का समय निकट आने पर साधक जिस स्थान में ठहरा हुआ हो उस स्थान में या उससे बाहर जंगल में या अन्य स्थान में जहां उसे समाधि रहती हो वहां याचना करके निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर इस पर अनशन व्रत स्वीकार करे। इसके साथ पेशाब आदि का त्याग करने की भूमि का भी प्रतिलेखन कर ले। इस तरह निर्दोष भूमि पर निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर जन्म और मरण की आकांक्षा रहित होकर अनशन व्रत को स्वीकार करे।

तृण शय्या बिछाने के बाद मुनि को क्या करना चाहिए। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए।
नाइवेलं उवचरे माणुस्सेहिं विपुट्ठवं ।८।

छाया—अनाहारः त्वग् वर्तयेत् स्पृष्टस्तत्र अध्यासयेत्।
नातिवेलं उपचरेत् मानुष्यैः विस्पृष्टवान् ॥

पदार्थ—अणाहारो—यथा शक्ति तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करे और यत्नापूर्वक संस्तारक—सथारे पर। तुयट्टिज्जा—त्वग् वर्तन करे (करवट बदले)। तत्थ—वहा पर। पुट्ठो—परीषहो के स्पर्श होने पर। अहियासए—उस कष्ट को सहन करे और। माणुस्सेहिं—मनुष्यो के द्वारा। विपुट्ठव—स्पर्शित अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों की। नाइवेल उवचरे—मर्यादा को उल्लघन न करे।

मूलार्थ—संस्तारक पर बैठा हुआ मुनि तीन वा चार प्रकार के आहार का परित्याग करे। वह यत्ना से सस्तारक शय्या पर शयन करे, और वहा पर स्पर्शित होने वाले कष्टो को समभावपूर्वक सहन करे। वह मनुष्यो द्वारा स्पर्शित होने वाले अनुकूल या प्रतिकूल परीषहो के उपस्थित होने पर मर्यादा का उल्लघन न करे। वह पुत्र एवं परिजन आदि के सम्बन्ध को याद कर आर्त ध्यान भी न करे।

हिन्दी विवेचन

सस्तारक—तृण शय्या बिछाकर मुनि उस पर बैठकर तीनों आहार-पानी को छोड कर शेष सब खाद्य पदार्थों का या चारों आहार-पानी सहित सभी खाद्य पदार्थों का त्याग करे। यदि उसे तृण आदि के स्पर्श से कष्ट होता हो या कोई देव, मनुष्य एव पशु-पक्षी कष्ट देता हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे। परन्तु, उस परीषह से घबराकर अपने व्रत को भग न करे, अपने साधना मार्ग का त्याग न करे। अनुकूल एव प्रतिकूल सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कठिनता के समय पर भी अपने मार्ग पर स्थित रहने में ही साधना की सफलता है। इस लिए साधक को पुत्र, माता आदि परिजनों की ओर से ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक अपनी साधना में ही सलग्न रहना चाहिए।

अनशन को स्वीकार करने वाला साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर भी क्रोध न करके समभाव पूर्वक उन्हें सहन करे, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुञ्जंति मंस सोणियं, न छणे न पमज्जए।९।

छाया—संसर्पकाश्च ये प्राणाः (प्राणिनः) ये चोर्ध्वाधश्चरा।
भुजंते मांस शोणित, न क्षणुयात् न प्रमार्जयेत्॥

पदार्थ—य—पुनः। जे—जो। संसप्पगा—चींटी और शृगाल आदि। जे—जो। पाणा—प्राणी हैं। य—पुनः। जे—जो। उड्ढं—आकाश में उड़ने वाले प्राणी। अहेचरा—बिलों में रहने वाले प्राणी जब। मंससोणियं—मांस और खून को। भुंजंति—खाते हैं तब। न छणे—मुनि उनको न हाथ से पहरे और। न पमज्जए—न रजोहरण से प्रमार्जन करे अर्थात् दूर हटाए।

मूलार्थ—अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर में स्थित मांस एवं रक्त को यदि कोई भी चींटी मच्छर आदि जन्तु, गृध आदि पक्षी एवं सिंह हिंसक पशु आदि खाए या पीए तो मुनि न तो उन्हें हाथ से मारे और न रजोहरण से दूर करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला मुनि ही कर्मों से मुक्त हो सकता है। प्रस्तुत सूत्र में भी यही बताया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि को उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। यदि कोई चींटी, मच्छर आदि जन्तु सर्प-नेवला आदि हिंस जन्तु, गृध आदि पक्षी और सिंह-शृगाल आदि हिंस्र पशु अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि के शरीर पर डंक मारते हैं या उसके शरीर में स्थित मांस एवं खून को खाते पीते हैं तो उस समय मुनि उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करे। किन्तु अपने हाथ से न किसी को मारे, न परिताप दे और न किसी प्राणी को रजोहरण से हटाए। इस सूत्र में साधक की साधना की पराकाष्ठा बताई गई है। साधक साधना करते हुए ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है कि उसका अपने शरीर पर कोई ममत्व नहीं रह जाता है। ऐसी उत्कृष्ट साधना को साधकर ही साधक कर्म बन्धन से मुक्त होता है। अतः उसे सदा परीषहों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ नवि उब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणो अहियासए ॥१०॥

छाया—प्राणा (प्राणिनः) देहं विहिंसन्ति, स्थानात् नापि उद्भ्रमेत्।
आस्रवैः विविक्तैः तृप्यमाणः (तप्यमानः) अध्यासयेत् ॥

पदार्थ—पाणा—प्राणी। देहं—शरीर की। विहिंसंति—हिंसा करते रहे हैं अत मुनि। ठाणाओ—उस स्थान से। नवि उब्भमे—उठकर अन्यत्र न जावे। आसवेहिं—आश्रवो से। विविक्तेहिं—रहित होने के कारण जो मुनि शुभ अध्यवसाय वाला है, वह उन प्राणियो के द्वारा भक्षण किए जाने पर भी। तिप्पमाणे—उस वेदना को अमृत के समान सिंचन कार्य मानता हुआ। अहियासए—सहन करे।

मूलार्थ—हिंसक प्राणियो द्वारा शरीर की हिंसा होने पर भी मुनि उन के भय से उठकर अन्य स्थान पर न जाए। आस्रवो से रहित होने के कारण जो शुभ अध्यवसाय वाला मुनि है, वह उस हिंसा जन्य वेदना को अमृत के समान सिंचन की हुई समझकर सहन करे।

हिन्दी विवेचन

पूर्व की गाथा में हिंस्र जन्तुओं द्वारा दिए गए परीषहों को सहन करने का उपदेश दिया गया है। इस गाथा मे बताया गया है कि किसी भी हिंस्र जन्तु को सामने आते देख कर अनशन व्रत की साधना मे संलग्न मुनि उस स्थान से उठकर अन्यत्र न जाए। वह उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली वेदना को अमृत के समान समझे। इससे यह स्पष्ट किया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला साधक आत्म चिन्तन में इतना सलग्न हो जाए कि उसे अपने शरीर का ध्यान ही न रहे। शरीर पर होने वाले प्रहारों की वेदना मनुष्य को तभी तक परेशान करती है जब तक उस का मन शरीर पर स्थित है। जब साधक आत्म चिन्तन मे गहरी डुबकी लगा लेता है, तो उसे शारीरिक पीडाओं की कोई अनुभूति नहीं होती और वह समभाव पूर्वक उस वेदना को सह लेता है। वह उसे कटु नहीं, अपितु अमृत तुल्य मानता है। जैसे अमृत जीवन में अभिवृद्धि करता है, उसी तरह वेदना को समभाव पूर्वक सहन करने से आत्मा के ऊपर से कर्म मल दूर होकर आत्म ज्योति का विकास होता है, आत्मा की गुणों में अभिवृद्धि होती है और आत्मा समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त होकर सदा के लिए अजर-अमर हो जाती है। अत साधक को पूर्णत निर्भय बन कर आत्मसाधना मे सलग्न रहना चाहिए।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गन्थेहिं विवित्तेहिं आउकालस्स पारए।
पग्गहियत्तरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ ॥११॥

छाया—ग्रंथं विविच्य आयुः कालस्य पारगः ।
प्रगृहीततरकं चैतद् द्रविकस्य विजानतः ॥

पदार्थ—गन्थेहिं—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रूप गांठ का । विवित्तहिं—त्याग करके अथवा । वर्णेहिं—आचाराङ्ग आदि । विवित्त हिं—विविध शास्त्रों के द्वारा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहा हुआ मुनि । आउ कालस्स—आयुष्य काल का । पारए—पारगामी हो अर्थात् आयु पर्यन्त समाधि रखे । अब सूत्रकार इंगित मरण के विषय में कहते हैं । च—पुनः । इयं—यह इंगित मरण । पग्गहियतरगं—भक्त-परिज्ञा से विशिष्टतर है अतः । वियाणओ—गीतार्थ मुनि को ही इस मृत्यु की प्राप्ति हो सकती है अन्य को नहीं ।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह का त्याग करने से मुनि आयुपर्यन्त समाधि धारण कर या आचारांगादि विविध शास्त्रों के द्वारा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहता हुआ समय का ज्ञाता बने अर्थात् जीवन पर्यन्त समाधि रखे । प्रस्तुत गाथा के अन्तिम दो पादों में सूत्रकार ने इंगित मरण का वर्णन किया है । यह इंगित मरण भक्त परिज्ञा से विशिष्टतर है अतः उसकी प्राप्ति संयमशील गीतार्थ मुनि को ही हो सकती है अन्य को नहीं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भक्त प्रत्याख्यान और इङ्गित मरण अनशन स्वीकार करने वाले मुनि की योग्यता का उल्लेख किया गया है । उक्त अनशनों को स्वीकार करने वाला मुनि बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थि से मुक्त एवं आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता होना चाहिए । क्योंकि आगम ज्ञान से संपन्न एवं बाह्य परिग्रह तथा कषायों से निवृत्त मुनि ही निर्भयता के साथ आत्म-चिन्तन में संलग्न रह सकता है और उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सह सकता है ।

इङ्गित मरण अनशन के लिए कहा गया है कि गीतार्थ मुनि ही इसे स्वीकार कर सकता है । इस अनशन में मर्यादित भूमि से बाहर हलन-चलन एवं हाथ-पैर आदि का संकोच एवं प्रसार नहीं किया जा सकता है । अतः इस अनशन को श्रुत ज्ञान सम्पन्न एवं दृढ़ संहनन वाला मुनि ही ग्रहण कर सकता है । इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'पग्गहियतरगं वियाणओ' इन दो पदों का उल्लेख किया है । इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है— 'इङ्गित मरण अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि कम से कम

९ पूर्व का ज्ञाता हो।" इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इतना ज्ञान प्राप्त करने वाले मुनि का सहनन कितना दृढ होगा।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयं से अवरे धम्मे, नायपुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहातिहा ॥१२॥

छाया—अय स अपरः धर्म, ज्ञातपुत्रेण स्वाहित।
आत्मवर्ज्जं प्रतिचार विजह्यात् त्रिधात्रिधा ॥

पदार्थ—अय से—यह। अवरे—अपर भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न इगित मरण रूप। धम्मे—धर्म का। नायपुत्तेण—भगवान महावीर ने। स्वाहिए—प्रतिपादन किया है। आयवज्ज—आत्मा के। पडीयार—प्रतिचार अगोपागो के व्यापार का त्याग करे और। तिहातिहा—तीन करण एव तीन योग मे, आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का। विजहिज्जा—विशेष रूप मे त्याग करे।

मूलार्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इगितमरण रूप धर्म का भगवान महावार ने प्रतिपादन किया है। इसे स्वीकार करने वाला मुनि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का तीन करण और तोन योग से परित्याग करे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि इगित मरण भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न है और इसकी साधना भी विशिष्ट है। भगवान महावीर ने इसके लिए वताया है कि शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त नियमित भूमि मे कोई कार्य न करे और मर्यादित भूमि के बाहर शारीरिक क्रियाए भी न करे।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'आयवज्ज पडियार, विज्जहिज्जा तिहातिहा' इन पदों का वृत्तिकार ने यह अर्थ किया है— आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर कर्मों की अनन्त वर्गणाए स्थित हैं, उन्हें आत्म प्रदेशों से सर्वथा अलग करना साधक के लिए अनिवार्य है और उन्हें अलग करने का साधन है— ज्ञान और सयम। जसे सावुन से वस्त्र का मैल दूर करने पर वह स्वच्छ हो जाता है। इसी तरह ज्ञान और संयम की साधना से आत्मा पर

से कर्म हट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। अतः साधक को सदा ज्ञान एवं संयम की साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

इन गुणों की प्राप्ति का मूल अहिंसा की साधना है। अत उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — हरिएसु न निवज्जिज्जा, थंडिलं मुणियासए ।
विओसिज्जा अणाहारो पुट्ठो तत्थ अहियासए ॥१३॥

छाया—हरितेषु न शयीत स्थण्डिलं मत्वा शयीत ।
व्युत्सृज्य अनाहारः स्पृष्टः तत्र अध्यासयेत् ॥

पदार्थ—हरिएसु—मुनि हरी वनस्पति पर। न निवज्जिज्जा—शयन न करे। थंडिलं—वह निर्दोष भूमि। मुणिया—जानकर। सए—उस पर शयन करे। विओसिज्ज—बाह्य और आभ्यन्तर उपधि को छोड़कर। अणाहारो—आहार रहित होता हुआ। तत्थ उस आसन पर। पुट्ठो—यदि कोई परीषह स्पर्शित हो तो। अहियासए—उसे सहन करे।

मूलार्थ—अनशन करने वाला मुनि हरे घास एवं तृणादि पर शयन न करे। वह शुद्ध निर्दोष भूमि देखकर उस पर शयन करे वह बाह्याभ्यन्तर उपधि को छोड़ कर आहार से रहित होता हुआ विचरे और यदि वहां पर कोई परीषह उत्पन्न हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे।

हिन्दी विवेचन

अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि किसी भी प्राणी को पीड़ा न दे। सब प्राणियों की रक्षा करना उसका धर्म है। क्योंकि वह छः काय का रक्षक कहलाता है। इसलिए मुनि को अपनी तृण-शय्या ऐसे स्थान पर बिछानी चाहिए जहां हरियाली बीज अंकुर आदि न हो। इसी तरह सचित्त मिट्टी एवं जल काय आदि तथा छोटे मोटे प्राणियों की भी विराधना नहीं होती हो। मुनि को चाहिए कि वह आहार आदि का त्याग करके सर्वथा निर्दोष भूमि पर तृण शय्या बिछाकर समाधि में और उस समय उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहता हुआ आत्म चिन्तन में संलग्न रहे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्-इंदिएहिं गिलायंतो. समियं आहारे मुणी।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए ।१४।

छाया—इन्द्रियैर्ग्लायमानः शमितमाहारयेन्मुनिः।
तथाप्यसौ अगर्ह्यः, अचलो यः समाहितः ॥

पदार्थ—मुणी—आहारादि का त्याग करने वाला मुनि। इन्दिएहिं—इन्द्रियों से। गिलायंतो—ग्लानि को प्राप्त करता हुआ। समियं—समता भाव को। आहरे—धारण करे, अर्थात् आत्मा में समभाव रखे। यदि अंगों का सकोचन या प्रसारण करना हो तो नियमित भूमि में ही करे। तहावि—तथापि। से—वह मुनि नियमित भूमि मे शरीर सम्बन्धी चेष्टा करता हुआ। जे—जो। समाहिए—समाधि मे रहा हुआ। अचले—धर्म ध्यान या प्रतिज्ञा पर अटल है। अगरिहे—वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता है।

मूलार्थ—आहार न करने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्लानि को प्राप्त हुआ मुनि अपनी आत्मा मे समता भाव को धारण करे। जो मुनि अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है, यदि वह नियमित भूमि मे अङ्गोपाग का प्रसारण करता है तव भी वह निन्दा का पात्र नही वनता है।

हिन्दी विवेचन

इङ्गित मरण स्वीकार करने वाले मुनि के लिए वताया गया है कि यदि शरीर में ग्लानि उत्पन्न हो तो उसे उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को आत्मा की ओर लगाना चाहिए। यदि वह मुनि अपने मर्यादित प्रदेश मे हाथ-पैर आदि को सकोच या प्रसार करता है तो भी वह अपने व्रत से नहीं गिरता है। क्योंकि, उसने मर्यादित स्थान से वाहर जाकर अग सचालन करने का त्याग किया है। अत मर्यादित भूभाग मे अगों का सचालन करना वन्द नहीं है। इस तरह वह अपनी मर्यादा को ध्यान मे रखते हुए समभाव पूर्वक साधना मे सलग्न रहे, परन्तु उसे त्यागने का विचार न करे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए।
काय साहारणट्ठाए, इत्थंवावि अचेयणो ।१५।

छाया—अभिक्रामेत् (अभिकामेत्) प्रतिक्रमण (प्रतिक्रामेत्) सङ्कोचयेत्प्रसारयेत् कायसाधारणार्थ अत्रापि अचेतन ॥

पदार्थ—काय साहारणट्ठाए—शरीर की समाधि के लिए। अभिक्कमे—सम्मुख होना। पडिक्कमे—पीछे हटना। सकुचए—अंगादि का सकोच करना या। पसारए—विस्तार करना आदि क्रियाएं मर्यादित भूमि में करे। वा—पादोपगमन में मुनि अचित्तवत्-सक्रिय भी निष्क्रिय की तरह रहे। इत्थवावि अचेयणो—यदि शक्ति हो तो इंगित मरण में भी अचेतनवत् क्रिया रहित होकर स्थित रहे।

मूलार्थ—उक्त अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि शरीर की समाधि के लिए मर्यादित भूमि में अङ्गोपांग का सकुचन प्रसारण करे। यदि उसके शरीर में शक्ति हो तो वह इंगित मरण अनशन में अचेतन पदार्थ की तरह क्रिया एव चेष्टा रहित होकर स्थित रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भी पूर्व गाथा में भी उल्लिखित बात को ही पुष्ट किया गया है। इसमें बताया गया है कि यदि शरीर में ग्लानि का अनुभव होता हो तो वह मर्यादित भूमि में घूम फिर सकता है। यदि उसे ग्लानि की अनुभूति न होती हो तो उसे शान्त भाव से आत्म चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। जहां तक हो सके हलन-चलन कम करते हुए या निश्चेष्ट रहते हुए साधना में संलग्न रहना चाहिए और उससे उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

यदि आत्मबल अधिक न हो तो इंगित मरण स्वीकार करने वाले गीतार्थ मुनि को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—परिक्कमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए।
ठाणे ण परिकिलन्ते, निसीइज्जा य अतसो ॥१६॥

छाया—परिक्रामेत् परिक्लान्त, अथवा तिष्ठेत् यथायत।
स्थानेन परिक्लान्तो निषीदेच्चान्तशः॥

पदार्थ—अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि परिक्कमे—नियत प्रदेश में चले। परिकिलन्ते अदुवा—अथवा थक जाने पर। चिट्ठे—बैठ जाए। अहायए—सीधा होकर बैठ

जाए। ठाणेण – यदि खड़े होने से। परिकिलन्ते – कष्ट होता हो तो। निसीइज्जा – बैठ जाए। अत्तसो – उसे जिस प्रकार समाधि रहे वैसा करे।

मूलार्थ – यदि अनशन स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर को कष्ट होता हो तो वह नियत भूमि पर घूमे। यदि उसे घूमने से थकावट होती हो तो बैठ जाय और बैठने से भी कष्ट होता हो तो लेट जाए। इसी प्रकार पर्यंक आसन, अर्ध पर्यंक आसन कर और यदि इसके करने से भी कष्ट होता हो तो बैठ जाए। जिस तरह से उसे समाधि रहे वैसा करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि यदि इंगित मरण अनशन को स्वीकार किए हुए साधक को थकावट प्रतीत होती हो, तो वह मर्यादित भूमि में घूम-फिर सकता है। यदि घूमने से उसे थकावट मालूम हो, तो वह पर्यंक आसन या अर्ध पर्यंक आसन कर ले या बैठ जाए। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जिस तरह से उसे समाधि रहती हो उस तरह उठने-बैठने की व्यवस्था कर सकता है। परन्तु, वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे। यह बात अलग है कि मर्यादित भूमि मे वह खड़ा रहे या बैठा रहे या पर्यंक आसन करे या सीधा लेट जाए या एक ओर से लेट जाए। जिस किसी आसन से उसे समाधि रहती हो, आत्म-चिन्तन मे मन लगता हो, उसी आसन को स्वीकार करके आत्म साधना मे संलग्न रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् – आसीणेऽणेलिसं मरणं, इन्दियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरेसए ।१७।

छाया—आसीनः अनीदृश मरण, इन्द्रियाणि समीरयेत्।
कोलावासं समासाद्य, वितथ प्रादुरेषयेत्।

पदार्थ – मरण—इङ्गित मरण के। अणेलिस – जो अनन्य सदृश अनुपम है मुनि। आसीणे – आश्रित हुआ मुनि। इन्दियाणि – इन्दियो को इष्ट और अनिष्ट विषयो से आर। समीरए – राग-द्वेष से हटाने की प्रेरणा करे। यदि थकावट होने पर उसे अपनी कमर को सहारा देने के लिए पट्टे की आवश्यकता हो तो वह। कोलावास—घुन आदि से युक्त। समासज्ज—

पट्टे के मिलने पर उसका त्याग। वितह—जीवादि से रहित पट्टे की। पाउरेसए—गवेषणा करे।

मूलार्थ—सामान्य साधक के लिए जिसका आचरण करना कठिन है ऐसे इंगित मरण में अवस्थित मुनि इन्द्रियों को विषय विकारों से हटाने की प्ररणा करे। यदि उसे सहारा लेने के लिए पट्ट की आवश्यकता अनुभव हो तो वह जीव जन्तु से युक्त पट्टे के मिलने पर उसे ग्रहण न करके जीवादि से रहित पटटे की गवेषणा कर।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि इंगित मरण अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि को राग-द्वेष एवं विकारों से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए। यदि कभी कषायों के उत्पन्न होने तथा मनोविकारों के जागृत होने की सामग्री उपस्थित हो तो मुनि अपने मन एवं इन्द्रियों को उस ओर न जाने दे। वह अपनी साधना के द्वारा उस ओर से मन को हटाकर आत्म-चिन्तन में लगा दे। मुनि को उस समय अपने योगों पर इतना काबू होना चाहिए कि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्यत्र योगों की प्रवृत्ति हो न हो। इस तरह इंगित मरण अनशन की भावना में स्थित साधक योगों का निरोध करने का प्रयत्न करे।

यदि उसके उपयोग में आने वाले तख्त आदि में घुन आदि जीव-जन्तु हो तो उस उस तख्त को काम में नहीं लेना चाहिए। इससे जीवों की हिंसा होती है। अहिंसा के प्रतिपालक मुनि को जीवों से संयुक्त तख्त ग्रहण न करके जीवों से रहित अन्य तख्त ग्रहण करना चाहिए। इस तरह समस्त जीवों का रक्षण करते हुए साधक को अपने योगों का राग-द्वेष आदि मनोविकारों से रोकते हुए आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए।

अनशन करने वाले मुनि की वृत्ति कैसी रहनी चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् —जओवज्जं समुप्पज्जे, न तत्थ अवलम्बए।
तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए ।१८।

छाया— यतः वर्ज्यं [अवद्यं] समुत्पद्येत, न तत्र अवलम्बेत्।
ततः उत्कर्षेद् आत्मानं स्पर्शान् तत्र अध्यासयेत्।

पदार्थ—जओ—जिसमे। वज्ज—वज्रवत् कर्म। समुप्पज्जे—उत्पन्न हो। तत्थ—ऐसे घुणादि से युक्त काष्ट फलक का। न अवलम्बए—अवलम्बन न करे। तउ—उसके पश्चात्। वह। अप्पाण—आत्मा को। उक्कसे—आर्त ध्यान और दुष्ट योग से हटाए। तत्थ—वहा पर ही दु:ख रूप स्पर्शों को। अहियासए—सहन करे।

मूलार्थ—जिससे वज्रवत् भारी कर्म उत्पन्न हो, इस प्रकार वे घुणादि से युक्त काष्ट फलक पर का अवलम्बन न करे। उसके पश्चात वह आत्मा को दुष्ट ध्यान और दुष्टयोग से हटाए और वहा उपस्थित हुए दुःख रूप स्पर्शों को समभावपूर्वक सहन करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे इ गित मरण अनशन का उपसहार करते हुए बताया गया है कि आवश्यकता पडने पर मुनि को घूमना पड़े तो वह मर्यादित भूमि मे घूम फिर सकता है। यदि उसे थकावट मालूम हो तो वह किसी काष्ट फलक का सहारा लेकर खड़ा होना चाहे तो पहले उसे यह देख लेना चाहिए कि उसमे घुण आदि जीव-जन्तु तो नहीं है। यदि उसमें जीव-जन्तु आदि हों तो उसका सहारा न ले और जीव सहित किसी भी तख्त आदि का उपयोग न करे। क्योंकि, इसमे जीवों की विराधना होती है और फलस्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है। पाप कर्म वज्रवत् बोझिल होता है। वह आत्मा को सदा नीचे की ओर घसीटता है। इसलिए जिस क्रिया से पापकर्म का बन्ध हो उस क्रिया से साधक को सदा दूर रहना चाहिए और ऐसी किसी वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिए जिससे जीवों की हिसा होती हो।

मुनि को सदा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहना चाहिए। उसे अपने को कभी भी दुर्ध्यान मे नहीं लगाना चाहिए। दुष्ट चिन्तन एव बुरे विचार आत्मा को गिराने वाले हैं। अत मुनि को कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी अपने चिन्तन की धारा को दुष्ट विचार की ओर नहीं मोडना चाहिए। परीषहों के उत्पन्न होने पर भी उसे विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु समभाव से सब परीषहों को सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को सदा आत्म विकास मे लगाए रखना चाहिए। इस तरह जीवों की रक्षा एक शुद्ध चिन्तन के द्वारा साधक समाधि मरण को प्राप्त करता है और फल स्वरूप स्वर्ग या मुक्ति को प्राप्त करता है।

इगित मरण के बाद पादोपगमन अनशन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयं चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए।
सव्वगाय निरोहेवि, ठाणाओ न विउब्भमे ।१६।

छाया—अयं चायततर स्यात्, य एवमनुपालयेत्।
सर्वगात्र निरोधेऽपि स्थानात् न व्युद्भ्रमेत्।

पदार्थ—अयं—यह पादोपगमन अनशन। च—च शब्द से भक्त परिज्ञा और इङ्गित मरण से। आययतरे—विशिष्टतर। सिया—है, अतः। जो—जो इसे स्वीकार करने वाला साधक। एवं—इस विधि से। अणुपालए—इसका पालन करे। सव्वगायनिरोहेवि—सारे शरीर का निरोध होने पर भी। ठाणाओ—एक स्थान से दूसरे स्थान को। न विउब्भमे—संक्रमण न करे अर्थात् परीषहों के भय से वह स्थान का परिवर्तन न करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन भक्त परिज्ञा और इंगितमरण से विशिष्टतर है अर्थात विशेष यत्ना वाली है। अतः साधु उक्त विधि से इसका पालन करे। समस्त शरीर का निरोध होने पर भी वह परीषहों से भयभीत होकर स्थानान्तर में न जाए।

हिन्दी विवेचन

पंडित मरण को प्राप्त करने के लिए तीन तरह के अनशन बताए गए हैं—१ भक्त प्रत्याख्यान, २-इंगित मरण और ३-पादोपगमन। पहले दो प्रकार के मरण का उल्लेख कर चुके हैं। अंतिम अनशन का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह अनशन पूर्व के दोनों अनशनों से अधिक कठिन है। भक्त प्रत्याख्यान में साधक अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थान पर आ जा सकता है, परन्तु इङ्गित मरण में वह मर्यादित स्थान से बाहर शरीर का संचालन नहीं कर सकता और पादोपगमन में साधक बिल्कुल स्थिर रहता है। वह जिस स्थान पर जिस आसन से—बैठे हुए या लेटे हुए, अनशन स्वीकार करता है, अन्तिम श्वास तक उसी आसन से रहता है। इधर-उधर घूमना-फिरना तो दूर रहा वह शरीर का संचालन भी नहीं कर सकता है। केवल पेशाब एवं शौच आदि से निवृत्त हो सकता है।

शारीरिक हलन-चलन न करने के कारण तथा कभी मूर्छा आदि आ जाने पर उसे मृत समझ कर कोई पशु पक्षी उसको खाने आए तो उससे डरकर वह अन्य स्थान में नहीं जाए। वह वहीं निश्चेष्ट रहकर समभाव पूर्वक उत्पन्न होने वाले परीषहों

को सहन करे। इसका तात्पर्य यह है कि अपने शरीर पर बिल्कुल ध्यान न रखते हुए आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहे। यही इस अनशन की विशेषता है और इसी कारण यह पूर्वोक्त दोनों अनशनों से श्रेष्ठ माना गया है। वृत्तिकार को भी यही अभिमत है*।

इस बात का समर्थन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठे माहणे।२०।

छाया—अथ सः उत्तमो धर्मः, पूर्वस्थानस्य प्रग्रहः।
अचिर प्रत्युपेक्ष्य, विहरेत् तिष्ठेत् माहनः।

पदार्थ—अय—यह। से—पादोपगमन अनशन। उत्तमे धम्मे—श्रेष्ठ धर्म है। पुव्वट्ठाणस्स—पूर्व दो अनशनो से। पग्गहे—यह प्रकृष्टतर है अत। अचिरं—स्थडिल भूमि को। पडिलेहित्ता—देखकर। माहणे—साधु। चिट्ठे—वहां ठहरे और। विहरे—विधिपूर्वक उसका परिपालन करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन उत्तम धर्म है और पूर्व कथित दोनो अनशनो से श्रेष्ठतर है। इस अनशन को स्वीकार करने वाले मुनि को मल-मूत्र त्याग करने की भूमि को देखकर वहा स्थित होना चाहिए और विधि पूर्वक अनशन का परिपालन करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

पादोपगमन अनशन की विशेषता उसकी कठोर साधना के कारण है। उस अनशन मे साधक वृक्ष से टूटकर जमीन पर पड़ी हुई शाखा की तरह निश्चेष्ट होकर आत्म चिन्तन मे संलग्न रहता है। वह केवल मलमूत्र का त्याग करने के अतिरिक्त अपने अगोपागों का संचालन भी नहीं कर सकता है।

उक्त साधक की वृत्ति का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

*स चायततरो न केवल भक्त परिज्ञाया इङ्गित मरण विधिरायततर अय च तस्मादायततर. इति च शब्दार्थ। आयततर इत्याङभिविधौ सामस्त्येन यत आयत अय मनयो रतिशयेनायत आयततर', यदि वाऽयमनयोरति शयेनात्तो गृहीत आत्ततर', यत्नेनाध्यवसित इत्यर्थ, नवेब अयं पादपोपगमनमरण विधिराततरो दृढतर, स्याद् भवेत्।

मूलम्—अचित्त तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं
वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा ।२१।

छाया—अचित्तं तु समासाद्य, स्थापयच्चात्मानम् ।
व्युत्सृजेत् सर्वशः कायं न मे देहे परीषहाः ॥

पदार्थ—तु—वितर्क के अर्थ में है। अचित्तं—निर्जीव स्थण्डिल एवं तख्तादि को। समासज्ज—प्राप्त करके। तत्थ—वहां पर। अप्पगं—अपनी आत्मा को। ठावए—स्थापन करे और। सव्वसो—सब तरह से अपने। कायं—शरीर का। वोसिरे—व्युत्सर्जन करे। परीसहा—परीषहों के उत्पन्न होने पर वह यह भावना करे कि। न मे देहे—यह शरीर मेरा नहीं है। परीसहा—अत मुझे परीषह कैसे ?

मूलार्थ—अचित्त स्थण्डिल एवं तख्त आदि को प्राप्त करके वह अपनी आत्मा को वहां स्थापित करे। वह अपने शरीर का पूर्णतः व्युत्सर्ग करके यह सोचे कि जब यह शरीर मेरा नहीं तो फिर इसे परीषह कैसे ? और किसको ? इस भावना से वह उत्पन्न होने वाले परीषहों को सहन करे।

हिन्दी विवेचन

पादोपगमन अनशन को स्वीकार करने वाले साधक को निर्दोष तृण शय्या एवं तख्त आदि अर्थात् जीव-जन्तु आदि से रहित शय्या आदि का, एवं हरियाली बीज अंकुर एवं जीव-जन्तु से रहित स्थण्डिल भूमि का उपयोग करना चाहिए। उसे अपने शरीर की ममता का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि मेरी आत्मा इस शरीर से पृथक् है। इसके ऊपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह एक दिन अवश्य ही नष्ट होना है। परन्तु, यह आत्मा सदा स्थित रहने वाला है। अतः वह शरीर की बिल्कुल चिन्ता न करते हुए आत्म चिन्तन में संलग्न रहे और उस समय उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव से सहन करे।

उसे अपने सामने आने वाले परीषहों को कब तक सहन करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जावज्जीवं परिसहा, उवसग्गा इति संखया।
संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए ।२२।

छाया—यावज्जीवं परीषहा., उपसर्गाः इतिसंख्याय ।

सवृत्तः देहभेदाय, इति प्राज्ञ अध्यासयेत् ।

पदार्थ - जावज्जीव -- जीवन पर्यन्त । परीसहा — परीषह और । उवसग्गा — उपसर्ग । इति—इस प्रकार। सखया—जानकर सहन करना चाहिए । देहभेयाए — शरीर भेद के लिए । सवुडे — सवृतात्मा । इय — इस प्रकार । पन्ने — उचित विघान के जानने वाला । अहियासए— सहन करे ।

मूलार्थ—इस तरह देह भेद अनशन के विधान को जानने वाला सवृत्त आत्मा को जो परीषह एव उपसर्ग उत्पन्न हो उसे समभाव से जीवन पर्यन्त अन्तिम सास तक सहन करे ।

हिन्दी विवेचन

परीषहों का सबन्ध शरीर के साथ है। शरीर के रहते हुए ही अनेक तरह की वेदनाएं उत्पन्न होती हैं, अनेक कष्ट सामने आते हैं। शरीर के नाश होने के वाद तत्मम्बन्धित कष्ट भी समाप्त हो जाते हैं। अत साधक को जीवन की अतिम सांस तक उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए

इस गाथा में यह भी वताया गया है कि सवृत्त आत्मा अर्थात समस्त दोषों से निवृत्त एव सवर मे स्थित आत्मा एव ज्ञान सपन्न—सदसद् के विवेक से युक्त साधु ही परीषहों को समभाव से सह सकता है। क्योंकि, जो दोषों को जानता ही नहीं और जो उनसे निवृत्त ही नहीं है, वह साधना के पथ पर चल ही नहीं सकता है। इसलिए सदसद् के विवेक से सपन्न साधक ही सम्यक्तया पादोपगमन अनशन का परिपालन कर सकता है।

इतनी उत्कृष्ट साधना मे सलग्न साधक को देखकर यदि कोई राजा उसे भोगों का निमन्त्रण दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु वहुतरेसु वि ।

इच्छालोभ न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया ।२३।

छाया—भिदुरेषु न रज्येत्, कामेषु बहुतरेष्वपि।
इच्छा लोभं न सेवेत, ध्रुववर्णं संप्रेक्ष्य।

पदार्थ—भेउरेसु—विनाशशील। बहुतरेसु—प्रभूततर। कामेसु—शब्दादि काम गुणों में। न रज्जेज्जा—राग न करे और। इच्छा लोभं—इच्छा रूप लोभ का भी। न सेविज्जा—सेवन न करे। धुववन्नं संपेहिया—निश्चल वर्ण यशवती कीर्ति का विचार करके अथवा संयम को जानकर वह इच्छा का परित्याग करे।

मूलार्थ—यदि कोई राजा महाराजा आदि उक्त मुनि को भोगों के लिए निमन्त्रित करे तो वह विनाशशील प्रभूततर काम भोगों में राग न करे, उनमें आसक्त न होवे। निश्चल कीर्ति को जान कर वह यथावत् संयम परिपालन करने के लिए इच्छा रूप लोभ का भी सेवन न करे।

हिन्दी विवेचन

साधना का उद्देश्य ही समस्त कर्मों से मुक्त होना है, अतः साधक के लिए समस्त भोगों का त्याग करना अनिवार्य है। इसी बात को बताते हुए कहा गया है कि यदि कोई राजा-महाराजा आदि विशिष्ट धन एवं भोग सम्पन्न व्यक्ति उक्त साधक को देखकर कहे कि तुम इतना कष्ट क्यों उठाते हो मेरे महलों में चलो मैं तुम्हें सभी भोग साधन दूंगा तुम्हारे जीवन को सुखमय बना दूंगा। इस तरह के वचनों को सुनकर साधक विषयों की ओर आसक्त न होवे। वह सोचे कि जब भोगों को भोगने वाला शरीर ही नाशवान है तब भोग मुझे क्या सुख देंगे? वस्तुतः ये काम-भोग अनन्त दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं, संसार को बढ़ाने वाले हैं। इस तरह सोचकर वह भोगों की आकांक्षा भी न करे और न यह निदान ही करे कि मैं आगामी भव में राजा-महाराजा जैसे भोग साधनों से संपन्न बनूं। इन सभी सावद्य आकांक्षाओं से रहित होकर वह अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। वह किसी भी तरह के वैषयिक चिन्तन की ओर ध्यान न दे।

उसे भोगों की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमायं न सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विहूणिया॥२४॥

छाया—शाश्वतैः निमंत्रयेत् दिव्यमायां न श्रद्दधीत।
तत् प्रतिबुध्यस्व माहनः, सर्वं नूमं विधूय।

पदार्थ—सासएहिं—यदि कोई व्यक्ति आयु-पर्यन्त रहने वाले धनादि पदार्थों से। निमंतिज्जा—निमन्त्रित करे, तब भी वह मुनि उसकी इच्छा न करे। दिव्वमाय—इसी प्रकार देवता सम्बन्धि माया पर भी। न सद्दहे—श्रद्धा-विश्वास न करे। त पडिबुज्झ—हे शिष्य! तू उस माया जाल को समझ। माहणे—साधु। सव्व—इन सबको। नूम—कर्म-बन्धन का कारण। विहूणिया—जानकर त्याग देना है, अत हे शिष्य! तुम देवादि के मायाजाल मे मत फसना।

मूलार्थ—यदि कोई व्यक्ति आयु पर्यन्त रहने वाले अथवा प्रतिदिन दान करने से क्षय न होने वाल वैभव का भी निमत्रण करे तब वह साधु उसे ग्रहण करने की इच्छा न करे। इसी तरह देव सम्बन्धी माया को भी इच्छा नही करनी चाहिए। अतः हे शिष्य! तू माया के स्वरूप को समझ और इसे सर्व प्रकार से कर्मबन्ध का कारण जान कर इस से दूर रह अर्थात् इसमे रागभाव मत रख।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया है कि यदि साधक को कोई इतना धन-वैभव दे कि वह जीवन पर्यन्त समाप्त न हो, तब भी उसे उस वैभव की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। मनुष्य के वैभव की तो बात ही क्या है, उसे स्वर्ग के वैभव को पाने की भी अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि, वह नाशवान है और आरम्भ-समारम्भ एवं वासना को बढाता है, जिससे पापकर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप जन्म-मरण के प्रवाह मे बहना पड़ता है। इसलिए साधक को भोगों की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

कभी-कभी मिथ्यात्वी देव उसे पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। विभिन्न प्रलोभनों एवं कष्टों के द्वारा उसके ध्यान को भग करने का प्रयास करते हैं। उस समय साधक को समस्त अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों को सहन करना चाहिए, परन्तु अपने ध्येय से गिरना नहीं चाहिए। उसे देव माया को भली-भाँति समझकर अपने मन को सदा आत्म-चिन्तन मे लगाए रखना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं ।२५। त्तिबेमि

छाया—सर्वार्थैः अमूर्छितः आयुः कालस्य पारगः।
तितिक्षां परमं ज्ञात्वा विमोहान्यतरत् हितम्।

पदार्थ—सव्वट्ठेहिं—वह मुनि समस्त शब्दादि विषयों में। अमुच्छिए—आसक्त न बने। आउकालस्स—वह जीवन पर्यन्त उन विषयों से निवृत्त होने में। पारए—पारंगत बने और। तितिक्खं—तितिक्षा को। परमं नच्चा—सर्वश्रेष्ठ जान कर। विमोहन्नयरं हियं—मोह रहित होकर यथाशक्ति तीनों में से किसी एक अनशन को हितकारी जानकर स्वीकार करे। त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हूं।

मूलार्थ—मुनि शब्दादि विषयों में अनासक्त रहे। वह जीवन पर्यन्त उन विषयों से निवृत्त रहे और तितिक्षा को सर्वश्रेष्ठ जानकर मोह से रहित बने। तीनों अनशनों में यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझकर स्वीकार करे। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जन्म ग्रहण करने वाला प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है मरना सभी को पड़ता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही जो न मरा हो और न कभी मरेगा। मरते सब हैं, परन्तु मरने-मरने में अन्तर है। एक मृत्यु जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाती है, तो दूसरी मृत्यु उस प्रवाह को समाप्त कर देती है। पहली मृत्यु को आगमिक भाषा में बाल अज्ञान मरण और दूसरी को पंडित-सज्ञान मरण कहते हैं। पंडित मरण जन्म-मरण को समाप्त करने वाला है और साधना का उद्देश्य भी जन्म-मरण के प्रवाह को समाप्त करना है। अतः साधक को अपनी साधना को सफल बनाने के लिए पंडित मरण को प्राप्त करना चाहिए।

यह हम देख चुके हैं कि पंडित मरण तीन प्रकार का है—१-भक्त प्रत्याख्यान २-इंगित मरण और ३-पादोपगमन। पादोपगमन सब श्रेष्ठ है और इंगित मरण मध्यम स्थिति का है और भक्त प्रत्याख्यान सामान्य कोटि का है। ये श्रेणियां साधना की कठोरता

की अपेक्षा से है। साधना की दृष्टि से तीनों मरण महत्वपूर्ण हैं। यदि साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते हुए समाधि-मरण को प्राप्त करता है, तो वह प्रत्येक मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। यह उसकी शारीरिक क्षमता पर आधारित है कि वह तीनों में से किसी भी एक मरण को स्वीकार करे। परन्तु, समभाव से उसका पालन करे, अन्तिम सास तक अपने पथ से भ्रष्ट न हो, इसी में उसकी साधना की सफलता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन—उपधान श्रुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान श्रुत है। इसमें भगवान महावीर के उपधान तप-निष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। आचाराङ्ग सूत्र में साधु के आचार का वर्णन है और भगवान महावीर एक आदर्श साधु थे। अतः उनका यह आचार विषयक उपदेश अनुभव जन्य है। जिन परीषहों-कष्टों को सहने की तथा जिस साधना का परिपालन करने की बात आचाराङ्ग के आठ अध्ययनों में कही गई है, वैसे परीषह भगवान महावीर ने स्वयं सहन किए थे और इस साधना पथ पर वे स्वयं चले थे। अतः जब ऐसा विश्वास साधक के मन में हो जाता है कि यह साधना पथ केवल भगवान का उपदेश मात्र नहीं, प्रत्युत उनके द्वारा आचरित है, तो उसकी साधना में तेजस्विता आ जाती है, उसके जीवन में परीषहों को सहने की क्षमता बढ़ जाती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि द्वादशांगी श्रुत अनादि अनन्त भी है। इस पर यहां यह प्रश्न उठता है कि अनादि अनन्त श्रुत में ऐतिहासिक घटना आ सकती है या नहीं? यह प्रश्न वेद को ईश्वर-कृत मानने वाली वैदिक परम्परा के सामने भी था। उसमें दो पक्ष मिलते हैं—कुछ वेदों में ऐतिहासिक घटना मानते हैं और कुछ वेदों में ऐतिहासिक घटना का अभाव मानते हैं। परन्तु जैन विचारकों ने इसका समाधान स्याद्वाद की भाषा में दिया। उन्होंने कहा कि त्रैकालिक सत्य की अपेक्षा से द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। क्योंकि त्रैकालिक सत्य सदा एक रूप रहता है। प्रत्येक काल चक्र में होने वाले प्रत्येक तीर्थंकर भगवान अहिंसा सत्य आदि धर्मों का स्याद्वाद या अनेकान्त की भाषा में उपदेश देते हैं। उनके विचारों में सैद्धांतिक एकरूपता रहती है। इस दृष्टि से उनके द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। परन्तु प्रत्येक युग में होने वाले तीर्थंकर उसका उपदेश देते हैं। अतः उपदेश की अपेक्षा से वह सादि-सान्त भी है और वे उपदेष्टा अपने पूर्व में हुए महापुरुषों के तथा अपने युग में होने वाले महापुरुषों के जीवन का उदाहरण देकर त्रैकालिक सत्य को परिपुष्ट करते हैं। इस तरह अनादि अनन्त श्रुत में भी ऐतिहासिक महापुरुषों का उल्लेख होता है इसमें सब आचार्यों की एक मान्यता है। जैन विचारकों में इस मान्यता के सम्बन्ध में दो विचार नहीं पाए जाते। अस्तु, इस

तरह आचाराङ्ग मे भगवान महावीर के जीवन का वर्णन उसकी अनन्तता को भी बनाए रखता है।

उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने दो तरह का उपधान माना है– १-द्रव्य उपधान और २-भाव उपधान। द्रव्य उपधान तकिया है, जिससे शयन के समय आराम मिलता है। परन्तु भाव उपधान तपस्या है। तपस्या के द्वारा जीव को अनन्त शान्ति, अनन्त सुख एव आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए यह भाव उपधान है। तपस्या से कर्म मैल का नाश होता है और आत्मा उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं महोज्ज्वल बनती है और एक दिन सर्व कर्म मल से मुक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने लगती है। अत उपधान से आत्मा का उपधूनत-कर्म गाठ का भेदन होता है। कर्म गाठ का नष्ट होना ही वास्तव मे यथार्थ सुख को प्राप्त करना है। अत इस अध्ययन में भगवान महावीर के तप एव साधना निष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। उसकी साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्– अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाए।
संखाए तंसि हेमन्ते अहुणो पव्वइए रीइत्था ।१।

छाया–यथा श्रुतं वदिष्यामि, यथा सः श्रमणः भगवान् उत्थाय।
संख्याय तस्मिन् हेमन्ते, अधुना प्रव्रजितः रीयते स्म।

पदार्थ—**अहासुय** – यथा श्रुत-अर्थात् आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि जैसे मैंने सुना है। **वइस्सामि** – मैं वैसे ही कहूंगा। **जहा** – जैसे। **से**—वह। **समणे भगव**—श्रमण भगवान्। **उट्ठाए**—सम्यक् चारित्र को ग्रहण करके, कर्मों को क्षय करके और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए उद्यत होकर, और। **सखाए**—तत्व को जानकर। **तसि**—उस। **हेमते**—हेमन्त काल में। **अहुणो**—तत्व मे। **पव्वइए**—प्रव्रजित होकर। **रीइत्था**—विहार किया।

मूलार्थ–आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बु! मैंने जैसे श्रमण भगवान महावीर की विहार चर्या का श्रवण किया है वैसे ही मैं तुम्हारे प्रति कहूंगा। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने कर्मों के क्षय करने और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए सयम मार्ग मे उद्यत होकर, तत्व को जानकर उस हेमन्त काल मे तत्काल ही दीक्षित होकर विहार किया था।

हिन्दी विवेचन

आचाराङ्ग सूत्र को प्रारम्भ करते समय आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हे जम्बु ! मैं तुम्हें वही श्रुत सुना रहा हूँ जो मैंने श्रमण भगवान महावीर से सुना है। इसके पश्चात् आठ अध्ययनों में इस प्रतिज्ञा को फिर से नहीं दुहराया गया परन्तु नवमें अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए इस प्रतिज्ञा को फिर से उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि आठ अध्ययन साध्वाचार से संबन्धित थे इस लिए उनमें बार-बार उक्त प्रतिज्ञा को दोहराने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन भगवान महावीर की साधना से सम्बद्ध होने से यह शंका हो सकती है कि सूत्रकार ने अपनी ओर से भगवान महावीर की स्तुति की है या उनकी विशेषता को बताने के लिए उक्त अध्ययन का वर्णन किया है। सूत्रकार के द्वारा आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ में की गई प्रतिज्ञा को पुन दोहराने के बाद भी कुछ लोग प्रस्तुत अध्ययन को भगवान महावीर का गुण कीर्तन ही मानते हैं। उनका कथन है कि यह भगवान महावीर का यथार्थ जीवन-वर्णन नहीं किन्तु गणधरों ने उनके गुणों का वर्णन किया है*। इस तरह की शंकाओं का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने इस "श्रावसुयं" प्रतिज्ञा सूत्र का फिर से उल्लेख किया है। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान महावीर के जीवन के सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा हूँ। मैंने भगवान महावीर से उनकी संयम साधना के विषय में जैसा सुना है वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन भगवान की स्तुति में नहा किन्तु भगवान महावीर की साधना का यथार्थ चित्र है सूत्रकार ने सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छट्ठे अध्ययन में भगवान महावीर का गुण कीर्तन किया है और उस अध्ययन का नाम है— वीर स्तुति अध्ययन। यदि प्रस्तुत अध्ययन में गणधर भगवान ने स्तुति की होती तो वे सूत्र कृताङ्ग की तरह यहां भी उल्लेख करते। परन्तु उक्त अध्ययन में सूत्रकार ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है। वे कहते हैं कि जैसा भगवान महावीर ने अपनी संयम-साधना का वर्णन किया है, वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

भगवान महावीर का जन्म क्षत्रियकुण्ड नगर में हुआ था। महाराज सिद्धार्थ उनके पिता एवं महारानी त्रिशला उनकी माता था। वे अपने किसी पूर्वभव में आबद्ध तीर्थंकर नाम कर्म के कारण इस अवसर्पिणी काल के २४वें तीर्थंकर हुए। जन्म के समय ही वे मति श्रुत एवं अवधि तीन ज्ञान से युक्त थे। वे शरीर से जितने सुन्दर थे उससे

* कुणे इहां भगवंतो जयवाद रा गुण वर्णन कीधा। त्यां गुणां में प्रभुता ने दिख कहे। गुणां में तो गुणां ने इम कहे।

— भ्रमविध्वंसनम् पृष्ठ २६१

भी अधिक आपका अतर जीवन दया, करुणा, क्षमा, उदारता एव वीरता आदि गुणों से परिपूर्ण था। उनका विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी के साथ हुआ और प्रियदर्शना नामक कन्या का जन्म हुआ जिसका जमाली के साथ विवाह किया गया। आप ससार मे रहते हुए भी ससार से अलिप्त रहते थे। आप अपनी गर्भ मे की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार माता-पिता के जीवित रहते उनकी सेवा मे सलग्न रहे। उनके स्वर्गवास"के पश्चात् आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन के सामने दीक्षा लेने का विचार रखा। अभी माता-पिता का वियोग हुआ ही था और अब भाई के विरह की बात को एक दम सह नहीं सके। अत उनके अत्यधिक आग्रह के कारण आप दो वर्ष और गृहस्थवास में ठहर गए। और इन दो वर्षों मे त्याग-निष्ठ जीवन बिताते रहे। फिर एक वर्ष अवशेष रहने पर उन्होंने प्रतिदिन १ करोड ८ लाख सोनैयों का दीन-हीन तथा गरीब जनों को दान देना आरम्भ किया और एक वर्ष तक निरन्तर दान देते रहे।

इसके पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन, दिन के चतुर्थ पहर मे भगवान ने गृहस्थ जीवन का त्याग करके साधु जीवन को स्वीकार किया। गृहस्थ जीवन के समस्त वस्त्राभूषण आदि को उतार कर एव पचमुष्ठि लुचन करके 'करेमि भते' के पाठ का उच्चारण करके समस्त सावद्य योगो से निवृत्त होकर साधना जीवन मे प्रविष्ट हुए और साधना जीवन मे प्रवेश करते ही उन्हें चौथा मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। उस समय इन्द्र ने उन्हें एक देव दूष्य वस्त्र प्रदान किया, जिसे स्वीकार करके भगवान महावीर ने वहा से कुमार ग्राम की ओर विहार कर दिया। और साढे बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक मौन साधना एव घोर तपश्चर्या के द्वारा चार घातिक कर्मों को सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को अपने स्नेही सम्बन्धियों के साथ अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए। इससे अनुराग एव मोह की जागृति होती है और मोह साधक के जीवन को पतन की ओर ले जाने वाला है। अत भगवान ने केवल उपदेश देकर ही नहीं, किन्तु स्वय उसका आचरण करके बताया कि साधना के क्षेत्र मे प्रविष्ट साधक को किस तरह रहना चाहिए।

भगवान महावीर ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त देव दूष्य वस्त्र का उपयोग किया और उसे क्यों स्वीकार किया? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमन्ते।
से पारए आवकहाए, एवं खु अणुधम्मियं तस्स।२।

छाया—नो चैवाहं तेन वस्त्रेण पिधास्यामि तस्मिन् हेमन्ते ।
स पारगः यावत्कथं, एतत् खलु अनुधार्मिकं तस्य ।

पदार्थ—च—पुनः । एव—अवधारण अर्थ में । इमेण वत्थेण—मैं इस वस्त्र से । तंसि हेमंते—उस हेमन्त काल में । णो पिहिस्सामि—अपने शरीर को नहीं ढकूंगा । से—वह भगवान । पारए—प्रतिज्ञा के परिपालक और संसार से पारगामी थे । आवकहाए—जीवन पर्यन्त इसी वृत्ति को धारण करने वाले थे । खु—अवधारणार्थ में है । एयं—यह वस्त्र का ग्रहण । अणुधम्मियं—अन्य तीर्थकरों ने ग्रहण किया है इस कारण से । तस्स—उसी धर्म से भगवान ने ग्रहण किया है ।

मूलार्थ—मैं इस वस्त्र से हेमन्त काल में शरीर को ढकूंगा इस भाव से भगवान ने वस्त्र ग्रहण नहीं किया । भगवान तो जीवन पर्यन्त प्रतिज्ञा के पालक, परीषह और संसार के पारगामी हैं—किन्तु पूर्ववर्ति तीर्थकरों ने इसे ग्रहण किया है इसलिए भगवान ने भी स्वीकार किया अर्थात् पूर्व तीर्थकरों द्वारा आचरित होने से उस इन्द्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र को भगवान ने ग्रहण किया ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि दीक्षा लेते समय स्वीकार किए गए देव दूष्य के सम्बन्ध में भगवान ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं इस वस्त्र का अपने शरीर को ढकने के लिए उपयोग नहीं करूंगा और भगवान ने जीवन पर्यन्त इस प्रतिज्ञा का पालन किया। वस्त्र स्वीकार करने के प्रायः तीन कारण होते हैं— १ हेमन्त, सर्दी में शीत से बचने के लिए, २ लज्जा ढकने के लिए और ३ जुगुप्सा को जीतने का सामर्थ्य न होना। भगवान ने इन तीनों कारणों से वस्त्र को स्वीकार नहीं किया था। वे समस्त परीषहों को जीतने में समर्थ थे और सदा परीषहों पर विजय पाते रहे हैं। परीषहों से घबराकर उन्होंने कभी भी वस्त्र का उपयोग नहीं किया। अतः उन्होंने वह वस्त्र अपने उपयोग के लिए स्वीकार नहीं किया परन्तु पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरित परम्परा को निभाने के लिए या अपने बाद में होने वाले साधु-साध्वियों के लिए आचरण का मार्ग स्पष्ट करने के लिए उन्होंने देवदूष्य को स्वीकार करके अपने कन्धे पर रख लिया।

सभी साधकों की बाहरी सहिष्णुता एक समान नहीं होती। सभी साधक महावीर नहीं बन सकते। इसलिए स्थविर कल्प मार्ग की आचार परम्परा के स्पष्ट

करने के लिए उन्होंने वस्त्र ग्रहण किया। क्योंकि साधना का सम्बन्ध आत्मा के विशुद्ध भावों से है, राग-द्वेष को क्षय करने से है। वस्त्र रखने एव नहीं रखने से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए भगवान महावीर ने न तो वस्त्र रखने का निषेध किया और न वस्त्र त्याग का ही निषेध किया। उन्होंने तीर्थपरम्परा को अनवरत चालू रखने के लिए वस्त्र को ग्रहण किया।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अभिनव धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु पूर्व से चले आ रहे धर्म को आगे बढाया। पूर्व के समस्त तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित त्रैकालिक सत्य का उपदेश दिया, जनता को धर्म का यथार्थ मार्ग बताया। इस प्रकार "अणुधम्मिय" पद से स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर ने पूर्व परम्परा के अनुसार आचरण किया। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है और आगम के पाठ के उद्धरण देकर वस्त्र रखने की परम्परा का समर्थन किया है*।

"अनुधर्मिता" शब्द का अर्थ चूर्णि मे गतानुगत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र रखने की परम्परा का पालन किया चूर्णि मे इसका एक दूसरा अर्थ 'अनुकालधम्म' भी दिया गया है और उसका अभिप्राय यह बताया गया है कि तीर्थंकरों को भविष्य मे सोपधिक-वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना पड़ता है।

अनुधर्मिता शब्द का प्रयोग सस्कृत कोष मे नहीं मिलता, किन्तु पालिकोष को देखने से ज्ञात होता है कि पालि मे यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप से मिलता है। कोष मे इसका अर्थ — Lawfulness (धर्म सम्मतता), Conformity of Dhamma (धर्म के अनुरूप) किया गया है। पालि मे 'अनुधम्म' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। उसका भी Conformity or accordance with the Law (नियम के अनुसार), Lawfulness (धर्म सम्मतता), Relation (सम्बन्ध), Essence (सार) Consistansy (दृढता, अनुकूलता) Truth (सच्चाई) अर्थ किया गया है। पालि मे 'धम्मानुधम्म' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उसका अर्थ है— मुख्य-गौण सभी प्रकार का धर्म‡।

---

* से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहन्ता भगवन्ता जे य पव्वयन्ति जे य पव्वइस्सन्ति ते सोवही धम्मो देसिअव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसाणुधम्मिगत्ति एग दूसमायाए पव्वइस वा पव्वयति वा पव्वइस्सति वा।

‡ आचाराङ्ग सूत्र (प दलसुख मालवणिया) — श्रमण, वर्ष ६, अक २७।

इन शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थों पर ध्यान दिया जाए तो 'अनुधर्मिकता' का अर्थ होता है कि भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। और चूर्णिकार एवं टीकाकार ने भी जो अर्थ किया है, वह भी असंगत नहीं है। क्योंकि अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म कौन सा? तब उत्तर यही मिलता है— 'जो पूर्व में आचरण का विषय बना हो। अतः वह केवल धर्म नहीं बल्कि अनुधर्म-परम्परा से प्रवहमान धर्म है। चूर्णिकार का अनकाल धम भी सामर्थ्य लक्ष्य अर्थ माना जा सकता है। जैसा उन्होंने स्वयं आचरण किया वैसा आचरण दूसरे साधु भी करें। इस अपेक्षा से 'अनुधर्म धर्म' भी असंगत नहीं कहा जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर ने अपने उपयोग के लिए या उस से शीत आदि निवारण करने की भावना से वस्त्र को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि दीक्षा लेते ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा धारण कर ली थी कि मैं इस वस्त्र का हेमन्त में उपयोग नहीं करूंगा अर्थात् सर्दी के परीषह से निवृत्त होने के लिए इससे अपने शरीर को आवृत्त नहीं करूंगा।

दीक्षा लेने के पूर्व भगवान के शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों की मालिश एवं लेपन किया गया था। उस सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमर आदि जन्तु आकर भगवान को कष्ट देने लगे। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया अभिगम्म।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसिया णं तत्थ हिंसिसु।३।

छाया—चतुरः समधिकान् मासान् बहवः प्राणिजातय समागत्य।
आरुह्य कायं विजह्रुः आरुह्य तत्र हिंसन्तिस्म॥

पदार्थ—चत्तारि मासे—चार महीनों से। साहिए—अधिक। बहवे पाणजाइया—अनेक जातियों के प्राणी। आगम्म—आ कर के। अभिरुज्झ कायं—शरीर पर बैठ कर। विहरिंसु—रहने लगे तथा। आरुसिया—मांस एवं रुधिर का आस्वादन करने के लिए शरीर पर चढ़ कर। तत्थ—वहां—उस शरीर की। हिंसिसु—हिंसा करने लगे माछ-जम आदि काटने लगे भगवान के शरीर पर डंक मारने लगे।

मूलार्थ—भगवान महावीर के शरीर एवं देवदूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर बहुत सी जातियों के प्राणी उनके शरीर

पर बैठने एव रहने लगे और करीबन साढे चार महीने नक उनके शरीर पर डक मारते रहे।

हिन्दी विवेचन

दीक्षा के पूर्व भगवान को सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान कराया गया था और उनके शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ लगाए थे। उन पदार्थों एवं देव-दूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर भ्रमर, मधु-मक्खी आदि अनेक प्राणी उनके शरीर पर बैठने लगे और सुवास का आनन्द लेने के साथ-साथ भगवान के शरीर पर डक भी मारने लगे। कुछ प्राणियों ने तो भगवान के शरीर को ही आवास स्थान बना लिया। इतना कष्ट होने पर भी भगवान उन्हें हटाते नहीं थे। वे शारीरिक चिन्तन से ऊपर उठकर केवल आत्म चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

भगवान महावीर की साधना प्रत्येकबुद्ध साधक की विशिष्ट साधना है। सामान्य साधक अपने शरीर पर बैठने वाले मच्छर आदि जन्तुओं को यतना पूर्वक हटा भी देता है। वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर का बचाव करते हुए दूसरे के शरीर का नाश न हो। इसलिए साधक प्रमार्जनी के द्वारा धीरे से उस प्राणी को बिना आघात पहुचाए अपने शरीर से दूर कर देता है। परन्तु, विशिष्ट साधक उन्हें हटाने का प्रयत्न नहीं करते। वे अपने मन में भी उनको दूर करने की कल्पना तक नहीं करते। क्योंकि वे शरीर पर से अपना ध्यान हटा चुके हैं। उनका चिन्तन केवल आत्मा की ओर लगा हुआ है। इसलिए उन्हें यह अनुभूति ही नहीं होती कि शरीर पर क्या-कुछ हो रहा है। इस तरह भगवान महावीर ने साढ़े चार महीने तक जन्तुओं के परीषहों को समभाव पूर्वक सहन किया।

ध्यान एव आत्म-चिन्तन में सलग्न प्रत्येक साधक के लिए यह बताया गया है कि उस समय वह शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्म भाव में स्थित रहे। ध्यान को कायोत्सर्ग भी कहते हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ है— काय (शरीर) का त्याग कर देना। यहा शरीर त्याग का अर्थ – मर जाना नहीं, किन्तु शरीर से अपना ध्यान हटा लेना होता है। उस समय कोई भी जीव-जन्तु उसके शरीर पर डंक भी मारे तब भी वह साधक अपनी साधना से विचलित न होते हुए और उस प्राणी को न हटाते हुए समभाव पूर्वक अपनी साधना एव चिन्तन वृत्ति में सलग्न रहे। इस प्रकार की आत्म साधना से कर्मों का क्षय होता है। भगवान महावीर ने यह साधना केवल ध्यान के समय ही नहीं, अपितु सदा-सर्वदा चालू रखी।

वह देव दूष्य वस्त्र भगवान के पास कब तक रहा इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सवच्छर साहियं मासं,जं न रिक्कासि वत्थग भगवं।
अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ।४।

छाया—सम्वत्सरं साधिकं मासं यन्न त्यक्तवान् वस्त्र भगवान्।
अचेलकः ततः त्यागी तत् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः ॥

पदार्थ—भगवं—भगवान ने। संवच्छर—एक वर्ष। साहियं मासं—एक मास अधिक अर्थात् १३ महीने तक। जं—जिस। वत्थगं—वस्त्र को। न रिक्कासि—नहीं छोड़ा। तओ—तत्पश्चात्। चाइ—वस्त्र के त्यागी हुए। तं—उसे। वोसिज्ज—छोड़ कर। अणगारे—अनगार-भगवान। अचेलए—अचेलक हुए।

मूलार्थ—भगवान १३ महीने तक वस्त्र को धारण किए हुए रहे तत्पश्चात् वस्त्र को छोड़ कर वे अचेलक हो गए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त देव दूष्य वस्त्र भगवान के पास १३ महीने रहा। उसके पश्चात् भगवान ने उसका त्याग कर दिया और वे सदा के लिए अचेलक हो गए। सभी तीर्थंकरों की यही मर्यादा है कि वे देव दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी वस्त्र को स्वीकार नहीं करते। उसका त्याग करने के बाद वे अचेलक ही रहते हैं। भगवान महावीर ने भी इसी परम्परा का अनुकरण किया।

इस गाथा में 'चाई' और वोसिज्ज दो पद दिए हैं। पहले पद का अर्थ है त्याग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि त्याग करने पर ही त्यागी होता है। और साधक अपनी साधना का विकास करने के लिए या विशिष्ट साधना के लिए सदा कुछ न कुछ त्याग करता ही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ उसकी साधना को दूषित करने वाला है, इसलिए वह उसका त्याग करता है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि विशिष्ट साधना के लिए साधक उसका त्याग करता है। जैसे तपश्चर्या की साधना करने वाला साधक आहार-पानी का त्याग कर देता है। इससे यह समझना गलत एवं भ्रान्त होगा कि आहार संयम का बाधक है। अतः वह संयम पालन के लिए आहार का त्याग नहीं करता अपितु तप साधना के लिए आहार का परित्याग करता है। इसी तरह

निस्पृह भाव से वस्त्र रखते हुए भी शुद्ध संयम का पालन हो सकता है। फिर भी कुछ विशिष्ट साधक विशिष्ट साधना या शीत-ताप एवं दशमशक आदि परीषहों को सहन करने रूप तप की विशिष्ट साधना के लिए वस्त्र का त्याग करते हैं, जैसा कि भगवान महावीर ने किया था।

भगवान ने वस्त्र का कैसे परित्याग किया इसका विस्तृत विवेचन कल्प सूत्र की सुबोधिका टीका मे किया गया है। यहा वृत्तिकार ने इतना ही बताया है कि एक बार भगवान सुवर्ण वालुका नदी के किनारे चल रहे थे। उस समय उसके प्रवाह में वहकर आए हुए कांटों मे फसकर वह वस्त्र उनके कन्धे पर से गिर गया। भगवान ने उसे उठाने का प्रयत्न नहीं किया। वे उसे वहीं छोडकर आगे बढ़ गए। और एक व्यक्ति ने उस वस्त्र को उठा लिया*।

अब भगवान के विहार का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ।
अह चक्खुभीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिंसु ॥५॥

छाया—अथ पौरुषीं तिर्यग्भित्तिं, चक्षुरासाद्य अन्तः ध्यायति।
अथ चक्षुर्भीता संहिता, यो हत्वा हत्वा बहव चक्रंदुः

पदार्थ—अदु—आनन्तर्य अर्थ में है। पोरिसिं—पुरुष परिमाण। तिरियं भित्तिं—ऊर्ध्व शकटवत् अर्थात् पीछे से संक्षेप और आगे से विस्तार वाली धुरी की तरह। चक्खुमासज्ज—दृष्टि को आगे रखकर अर्थात् देखकर। अन्तसो—वे अपने मन को। झायइ—ईर्या-समिति मे लगाते हुए चलते हैं। अह—अथ। चक्खुभीया—उस समय उनके दर्शन से डरे हुए। ते—वे। संहिया—बहुत से बालक मिलकर। हंता २—धूल से भरी हुई मुष्टि को मारते हुए। बहवे—बहुत से बालक। कंदिंसु—कोलाहल करते हैं।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, पुरुष प्रमाण आगे के मार्ग को देखते हुए अर्थात् रथको धुरे प्रमाण भूमि को देख कर ईर्यासमिति मे ध्यान देकर चलते है। उनको चलते हुए देख कर उनके दर्शन से डरे हुए

---

* तच्च सुवर्णवालुकानदी पूराहृतकण्टकावलग्न धिग्जातिना गृहीतमिति।
—आचाराङ्ग वृत्ति।

बहुत से बालक इकट्ठे होकर भगवान पर धूल फेंकते हैं और वे अन्य बालकों को बुलाकर कहते हैं कि देखो! देखो! मुण्डित कौन है? वे इस प्रकार कोलाहल करते हैं।

हिन्दी विवेचन

साधना का जीवन निवृत्ति का जीवन है। परन्तु, शरीर युक्त प्राणी सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता। उसे आवश्यक कार्यों के लिए कुछ न कुछ प्रवृत्ति करनी होती है। इसलिए साधना के क्षेत्र में भी निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। अतः निवृत्ति की तरह साधना में सहायक प्रवृत्ति भी धर्म है। फिर भी दोनों में अंतर इतना ही है कि निवृत्ति उत्सर्ग है और प्रवृत्ति अपवाद है। या यों कहिए कि निवृत्ति के लिए सदा-सर्वदा आज्ञा है, साधक प्रतिसमय निवृत्ति कर सकता है, परन्तु प्रवृत्ति के लिए यह बन्धन है कि आवश्यक व अनिवार्य कार्य होने पर ही उसका उपयोग किया जाए। जैसे मौन रखने के लिए सदा आज्ञा है, उसके लिए कोई बन्धन नहीं है। परन्तु, बोलने के लिए मुक्त आज्ञा नहीं है। उसके लिए यह विधान है कि बोलने की आवश्यकता होने पर ही साधु निर्दोष एवं मर्यादित भाषा का प्रयोग करे।

इस निवृत्ति और प्रवृत्ति के लिए समिति और गुप्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। समिति प्रवृत्ति की प्रतीक है और गुप्ति निवृत्ति परक जीवन की संसूचक है। प्रत्येक साधक की साधना समिति एवं गुप्ति से युक्त होती है। भगवान महावीर भी समिति-गुप्ति से युक्त थे। वे जब भी चलते थे तब ईर्यासमिति के साथ चलते थे। वे अपनी दृष्टि को अपने योगों को सब ओर से हटाकर मार्ग पर केन्द्रित कर लेते थे। इससे रास्ते में आने वाले किसी भी जीव की विराधना नहीं होती थी। वे रास्ते में आने वाले प्रत्येक प्राणी को बचाकर अपना मार्ग तय कर लेते थे। यदि दृष्टि में एकाग्रता न हो तो रास्ते में आने वाले छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा से बच सकना कठिन है। इस लिए यह नियम बना दिया गया कि साधक को अपनी दृष्टि एवं अपने योगों को एकाग्र करके विवेक पूर्वक चलना चाहिए। भगवान महावीर ने इसका स्वयं आचरण करके बताया कि साधक को किस प्रकार चलना चाहिए। भगवान महावीर केवल उपदेष्टा नहीं थे। इसलिए उन्होंने उपदेश देने से पहले स्वयं आचरण करके साधना के मार्ग को बताया।

भगवान महावीर को पथ से गुजरते हुए देखकर बहुत से बालक डर कर कोलाहल मचाते और अन्य बालकों को बुलाकर भगवान पर धूल फेंकते और हो-हल्ला

मचाते। इससे भगवान का कुछ नहीं बिगडता। वे उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। वे समभाव पूर्वक अपने पथ पर चलते रहते। इस तरह सब परीषहों को सहते हुए भगवान ईर्या समिति को देखते हुए विचरते थे।

पहले महाव्रत—अहिंसा का वर्णन करके अब सूत्रकार चौथे महाव्रत के विषय में कहते हैं—

मूलम्—सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाय।
सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ ।६।

छाया—शयनेषु व्यतिमिश्रेषु, स्त्रियः तत्र स परिज्ञाय।
सागारिकं न सेवेत, स स्वयं प्रवेश्य ध्यायति ॥

पदार्थ—वितिमिस्सेहिं—गृहस्थ और अन्य दर्शनीयो से मिश्रित। सयणेहिं—जो वसति में हैं। तत्थ—वहां पर। इत्थिओ—स्त्रियो से प्रार्थित किए गए। से—वे श्रमण भगवान महावीर परिन्नाय—मैथुन क्रीडा के परिणाम को जानकर। सागारियं—मैथुन क्रीडा का। न सेवेइ—सेवन नही करते थे। य—पुन। से—वे। सयं—स्वयं-अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग में। पवेसिया—प्रविष्ट होकर। झाइ—धर्म वा शुक्ल ध्यान मे निमग्न रहते थे।

मूलार्थ—यदि गृहस्थो एवं जैनेतर सन्तो से मिश्रित वस्तियो मे ठहरे हुए भगवान को वहां स्थित देखकर स्त्रिएं विषय भोग के लिए प्रार्थना करती तो वे मैथुन के परिणाम को जानकर उसका सेवन नही करते थे। वे स्वयं अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग मे प्रवेश करके सदा धर्म एवं शुक्ल ध्यान मे ही संलग्न रहते थे।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि भगवान महावीर सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहते थे। वे प्रायः गांव के बाहर या जंगल में ही ठहरते थे। फिर भी इधर-उधर से गुजरते समय उनके रूप-सौंदर्य को देखकर कुछ कामातुर स्त्रियां उनके पास पहुंचकर भोग-भोगने की इच्छा प्रकट करती थीं। वे अनेक तरह के हाव-भाव प्रदर्शित करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती थीं। परन्तु भगवान उस ओर ध्यान ही नहीं देते थे। क्योंकि वे विषय-वासना के विषाक्त परिणामों से परिचित थे। वे जानते थे कि ये भोग ऊपर से मधुर प्रतीत होते हैं, परन्तु इनका परिणाम बहुत

मयावना होता है। जैसे किंपाक फल देखने में सुन्दर लगता है उसकी सवास भी बड़ी सुहावनी होती है, उसका स्वाद भी मधुर होता है और उसका उपयोग करने वाले व्यक्ति को वह बड़ा प्रिय लगता है। परन्तु खाने के बाद जब उसका असर होता है, तो मनुष्य निर्जीव हो जाता है। इस तरह रूप आदि में सुन्दर प्रतीत होने वाला वह फल परिणाम की दृष्टि से भयंकर है। इसी प्रकार काम-भोग बाहर से सुखद प्रतीत होने पर भी परिणाम की दृष्टि से दुःखद ही हैं। वे अनेक रोगों के जन्मदाता है, शारीरिक शक्ति का ह्रास करने वाले हैं और आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए भगवान ने न तो उनकी ओर आंख उठाकर देखा और न उनकी बातों पर ही ध्यान दिया। वे सदा-सर्वदा समभाव पूर्वक अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे के इमे अगारत्था, मीसीभाव पहाय स झाइ।
पुट्ठोवि नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजू ।७।

छाया—ये केचन इमे अगारस्था मिश्रीभावं प्रहाय स ध्यायति।
पृष्टोऽपि नाभ्यभाषत गच्छति नातिवर्तते ऋजुः॥

पदार्थ—जे—यदि। के—कभी भगवान। अगारत्था—गृहस्थों से युक्त मकान में ठहरते थे। तब वे वे। इमे—इन। मिस्सी भावं—मिश्रीभाव को। पहाय—छोड़कर। झाइ—धर्म ध्यान ध्याते थे अतः। पुट्ठोवि—वे पूछने या न पूछने पर भी। नाभिभासिंसु—नहीं बोलते थे। वे सदा मोक्ष मार्ग की साधना के लिए ही। गच्छइ—गमन करते थे। नाइवत्तइ—वे किसी के कहने पर भी मोक्ष मार्ग का त्याग नहीं करते थे। अंजू—इसलिए वे ऋजु-सरल थे।

मूलार्थ—गृहस्थों से मिश्रित स्थान को प्राप्त होने पर भी भगवान मिश्रभाव को छोड़कर धर्म ध्यान में ही रहते थे। गृहस्थों के पूछने या न पूछने पर भी वे नहीं बोलते थे। अपने कार्य की सिद्धि के लिए गमन करते थे। और किसी के कहने पर भी मोक्षमार्ग या आत्मचिन्तन का त्याग नहीं करते थे। अथवा ऋजु परिणामी भगवान संयम मार्ग में विचरते रहते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर प्रायः जंगल में या गांव के बाहर शून्य स्थानों में ठहरते थे। कभी वे परिस्थितिवश गृहस्थों से युक्त स्थान में अथवा शहर या गांव के बीच भी

ठहरते थे। परन्तु, ऐसे स्थानो में भी वे उनके सपर्क से दूर रहते थे। वे अपने आत्म-चिन्तन में इतने संलग्न थे कि उनका मन गृहस्थों की ओर जाता ही नहीं था। यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुलाने का प्रयत्न करता, उनसे कुछ पूछना चाहता तो भी वे नहीं बोलते थे। न उनकी बातों को सुनते थे और न उसका कोई उत्तर ही देते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गृहस्थों के शब्द उनके कर्ण कुहरों मे प्रविष्ट ही नहीं होते थे। शब्द तो उनके कानों में पड़ते थे, परन्तु, उन्हें ग्रहण करने वाला मन या चित्तवृत्ति आत्म चिन्तन मे लगी हुई थी, इसलिए उन्हें उनकी अनुभूति ही नहीं होती थी। क्योंकि मन जब तक किसी विषय को ग्रहण नहीं करता तब तक केवल इन्द्रिए उसे पकड़ नहीं सकतीं।

भरत चक्रवर्ती के समय की बात है कि उसने सुनार के मन मे स्थित सदेह—"भरत चक्रवर्ती मेरे से अल्प परिग्रही कैसे हैं?" को दूर करने के लिए उसे एक तैल का कटोरा भरकर दिया और सुसज्जित बाजार का चक्कर लगाकर आने का आदेश दिया। साथ मे यह भी सूचित कर दिया गया कि इस कटोरे से एक भी बून्द नीचे नहीं गिरनी चाहिए। यदि एक बून्द तैल भी गिर गया तो यह साथ में जाने वाले सिपाही ही तुम्हारे मस्तक को धड़ से अलग कर देंगे। वह पूरे बाजार मे घूम आया। बाजार खूब सजाया हुआ था। स्थान-स्थान पर नृत्य-गान हो रहे थे। परन्तु, वह जैसा गया था वैसा ही वापिस लौट आया। जब भरत ने पूछा कि तुमने बाजार मे क्या देखा? तुम्हें कौन सा नृत्य या गायन पसन्द आया? तो उसने कहा महाराज, मैंने बाजार में कुछ नहीं देखा और कुछ नहीं सुना। यह नितान्त सत्य है कि मेरी आख खुली थी और कानों के द्वार भी खुले थे। नृत्य एव गायन की ध्वनि कानों में पड़ती थी और दृष्टि पदार्थों पर गिरती थी, परन्तु मेरा मन, मेरी चित्तवृत्ति तैल के कटोरे मे ही केन्द्रित थी। इसलिए उस ध्वनि को मेरा मन पकड़ नहीं पाया। जैसे समुद्र की लहरें किनारे से टकराकर पुन समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी तरह वह ध्वनि कर्ण कुहरों से टकराकर पुन लोक मे फैल जाती थी।

भरत ने उसे समझाया कि तेरी और मेरी चित्त वृत्ति में यही अंतर है। तुम्हारा मन भय के कारण अपने आप में केन्द्रित था। परन्तु मेरा मन बिना किसी भय एव आकाक्षा के अपनी आत्मा में केन्द्रित है। मैं ससार में रहते हुए भी ससार से अलग अपनी आत्मा मे स्थित होने के लिए प्रयत्नशील हूँ, सदा आत्मा को सामने रख कर ही कार्य करता हूँ। इसलिए भगवान ऋषभदेव ने मुझे आपसे अल्प परिग्रही बताया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों के साथ मन, चित्तवृत्ति या परिणाम की धारा जुड़ी हुई होती है, तभी हम किसी विषय को ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु,

जब मन आत्मा के साथ संलग्न होता है, तो हजारों विषयों के सामने आने पर भी हमें उनकी अनुभूति नहीं होती। अस्तु आत्म चिन्तन मन एवं परिणामों की धारा को विषय चिन्तन से रोकने के लिए महत्वपूर्ण साधन है। भगवान महावीर का मन अपनी आत्मा में इतना संलग्न था कि गृहस्थों की बातों का उनपर कोई असर नहीं होता था। वे उनके किसी भी प्रश्न का उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं देते थे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका चिन्तन जंगल एवं शहर में समान रूप से चलता था। किसी भी तरह के बाह्य वातावरण का उनके मन पर असर नहीं होता था। इस तरह वे गृहस्थों के मध्य में रहते हुए भी मौन रहते थे और सदा आत्म चिन्तन में संलग्न रहते थे।

भगवान की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णो सुकरमेयमेगेसिं, नाभिभासे य अभिवायमाणे।
हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अप्पुण्णेहिं ।८।

छाया—नोसुकरमेतदेकेषां नाभिभाषते च अभिवादयतः।
हतपूर्वः तत्र दण्डैः लूषितपूर्वः अपुण्यैः ॥

पदार्थ—तत्थ – उस अनार्य देश में। अपुण्णेहिं – पुण्यहीन अनार्य मनुष्य। दण्डेहिं – डण्डों से। हयपुव्वे – पहले मारन करते। लूसिय पुव्वे – बालों को खींच कर या अन्य तरह उन्हें कष्ट देते, फिर भी भगवान महावीर। अभिवायमाणे नाभिभासे – अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उससे बात नहीं करते। य – और जो व्यक्ति अभिवादन नहीं करता उस पर क्रोध नहीं करते इसलिए। एयं – यह भगवान की साधना। एगेसिं – कई एक व्यक्तियों के लिए। णो सुकर–सुगम नहीं थी।

मूलार्थ—जब भगवान महावीर अनार्य देश में विहार कर रहे थे, उस समय पुण्यहीन अनार्य व्यक्तियों ने भगवान को डंडों से मारा-पीटा एवं उन्हें विविध कष्ट दिए फिर भी वे अपनी साधना में संलग्न रहे। वे अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर न तो उससे बात करते थे और न तिरस्कार करने वाले व्यक्ति पर क्रोध ही करते थे। वे मान एवं अपमान को समभाव पूर्वक सहन करते थे। अतः प्रस्तुत अध्ययन में उल्लिखित भगवान महावीर की साधना जन साधारण के

लिए सुगम नहा थो अर्थात् सामान्य साधक इतनी उत्कृष्ट साधना नही
कर सकता था।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है।
इसमे बताया है कि भगवान सदा सभी प्राणियों पर समभाव रखते थे। उनका किसी
भी प्राणी के प्रति रागद्वेष नहीं था। वे न तो किसी के वन्दन-अभिवादन आदि से
प्रसन्न होते थे और न किसी के द्वारा मान-सम्मान या वन्दन न मिलने पर उस पर
क्रुद्ध ही होते थे।

जब भगवान अनार्य देश में गए तो वहा के लोग भगवान की साधना से
परिचित नहीं थे। वे धर्म के मर्म को नहीं जानते थे। अत. वे भगवान की मखौल
उडाते, उन्हें गालिए देते, उनके शरीर पर डडे से प्रहार करते और उनके ऊपर शिकारी
कुत्तों को छोड देते थे। इस तरह वे अबोध प्राणी भगवान को घोर कष्ट देते थे। फिर
भी भगवान महावीर उन पर कभी कोध नहीं करते थे। वे समभावपूर्वक समस्त
परीषहों को सहते हुए विचरण करते थे।

यह स्पष्ट है कि कृत कर्म कभी भी निष्फल नहीं जाते चाहे तीर्थंकर हो, साधु हो
या और कोई भी व्यक्ति क्यों न हो अपने किए हुए कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना
पडता है। यह बात अवश्य है कि कुछ महापुरुष उस फल को समभाव पूर्वक सहन
कर लेते हैं और कुछ व्यक्ति हाय-हाय करके उसका वेदन करते हैं। जो व्यक्ति समभाव
पूर्वक पूर्व कर्मों का फल भोग लेता है, वह समभाव की साधना से नए कर्मों के आगमन
को रोक लेता है और पुरातन कर्म को क्षय करके पथ पर बढ जाता है। और जो आर्त-
रौद्र ध्यान करता हुआ कृत कर्म के फल का सवेदन करता है, वह नए कर्मों का बन्ध करके
ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। भगवान महावीर इस बात को भली-भाति जानते
थे। अत वे परीषहों को अपने कृत कर्म का फल समझकर समभाव पूर्वक भोगते रहे।

ऐसा कहा जाता है कि भगवान महावीर के कर्म इस काल चक्र मे हुए सब
तीर्थंकरों से अधिक थे, २३ तीर्थंकरों के कर्मों का समूह और भगवान महावीर का
कर्म समूह प्राय बराबर था। अत उसे क्षय करने के लिए भगवान महावीर ने कठोर
तप एव अनार्य देश मे विहार किया। अनार्य देश के लोग धर्म एव साधु जीवन से
अपरिचित होने के कारण उन्हें अधिक परीषह उत्पन्न होने थे और उनको समभाव
पूर्वक सहन करने से कर्मों की अधिक निर्जरा होनी थी। अस्तु आबद्ध कर्मों को क्षय
करने के लिए भगवान अनार्य देश मे पधारे और वहा उन्होंने समभाव से अनेक

कष्टों को सहन किया परन्तु किसी भी व्यक्ति पर क्रोध एवं द्वेष नहीं किया। भगवान महावीर की यह उत्कृष्ट साधना सब के लिए सुगम नहीं है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — फरुसाइं दुतितिक्खाइं, अइअच्च मुणी परक्कममाणे।
आघायनट्टगीयाइं, दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ।६।

छाया—परुषाणि दुस्तितिक्षाणि अतिगत्य मुनिः पराक्रममाणः।
आख्यातनृत्यगीतानि दण्डयुद्धानि मुष्टियुद्धानि।

पदार्थ—अणारिय—अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए। दुतितिक्खाइं—असह्य तीक्ष्ण एवं असहनीय। फरुसाइं—कठोर वचनों को। अइअच्च—सुनकर भी उन पर ध्यान नहीं देते हुए मुणि—भगवान महावीर। परक्कममाणे—उन्हें सहन करने का पुरुषार्थ करते थे, और वे। नट्टगीयाइं—नृत्य एवं गीतों को देखते एवं सुनते नहीं थे। दंड जुद्धाइं—दंड युद्ध एवं। मुट्ठि जुद्धाइं—मुष्टि युद्ध को देखकर विस्मित नहीं होते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर अनार्य पुरुषों के द्वारा कथित कठोर एवं असह्य शब्द प्रहारों से प्रतिहत न होकर उन शब्दों को समभाव पूर्वक सहन करने का प्रयत्न करते थे। और प्रेम पूर्वक गाए गए गीतों एवं नृत्य की ओर ध्यान ही नहीं देते थे और न दंड युद्ध एवं मुष्टि युद्ध को देखकर विस्मित ही होते थे।

हिन्दी विवेचन

साधक के लिए आत्म चिन्तन के अतिरिक्त सब बाह्य कार्य गौण होते हैं। वह अपनी निन्दा एवं स्तुति से ऊपर उठकर आत्म साधना में संलग्न रहता है। भगवान महावीर भी सदा अपनी साधना में संलग्न रहते थे। कोई उन्हें कठोर शब्द कहता, कोई गालियां देता तब भी वे उस पर क्रोध नहीं करते थे। वे उसे समभाव पूर्वक सह लेते थे। इसी तरह कोई उनको प्रसन्न करता था कहीं नृत्य गान होता था मुष्टि एवं दण्ड युद्ध होता तो भी भगवान उस ओर ध्यान नहीं देते। क्योंकि इस से राग द्वेष की भावना उत्पन्न होती है और राग-द्वेष से कर्म बन्ध होता है। अतः भगवान समस्त प्रिय-अप्रिय विषयों की ओर ध्यान नहीं देते हुए तथा अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहते हुए आत्म-साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गढ़िए मिहुकहासु समयंमि, नायसुए विसोगे अदक्खु।
एयाइ से उरालाइं गच्छइ, नायपुत्ते असरणयाए ॥१०॥

छाया—ग्रथित मिथः कथासु समये ज्ञातपुत्र विशोक अद्राक्षीत्।
एतानि स उरालानि, गच्छति, ज्ञातपुत्रः अशरणाय ॥

पदार्थ—समयंमि—उस समय। नायसुए—ज्ञातपुत्र-भगवान महावीर। गढिए मिहुकहासु—लोगो को विषय-विकार से युक्त कथाए करते हुए देखकर भी भगवान। विसोगे—हर्ष एव शोक से रहित होकर। अदक्खु—उन्हे देखते थे, और। से—वह। नायपुत्ते—भगवान महावीर। एयाइ उरालाइ—इन अनुकूल एव प्रतिकूल उत्कृष्ट परीषहो को सहन करते हुए। असरणयाए—दु खो का स्मरण न करते हुए या दु खो से घबरा कर दूसरे की शरण न लेते हुए। गच्छइ—सयम मार्ग पर विचरण करते थे।

मूलार्थ—जहा कही लोग शृङ्गार रस से युक्त कथाए करते थे या स्त्रिए परस्पर कामोत्पादक कथाओ मे प्रवृत्त होती, तो उन्हे देखकर भगवान महावीर के मन मे हर्ष एव शोक उत्पन्न नही होता था। और अनुकूल एव प्रतिकूल कैसा भी उत्कृष्ट परीषह उत्पन्न हो किन्तु फिर भी वे दीनभाव से या दुःखित होकर किसी की शरण स्वीकार नही करते थे। परन्तु उस समय समभावपूर्वक सयम साधना मे सलग्न रहते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर के सामने कई तरह के प्रसग आते थे। वे जब कभी भी शहर या गाव के मध्य मे ठहरते तो वहा स्त्री-पुरुषों की पारस्परिक कामोत्तेजक वार्ते भी होती थीं, परन्तु भगवान उनकी वार्तों की ओर ध्यान नहीं देते थे। वे विषय-विकार बढाने वाली बातों को सुनकर न तो हर्षित होते थे और न विषयों के अभाव का अनुभव करके दु खित ही होते थे। वे हर्ष और शोक से सर्वथा रहित होकर आत्म-साधना मे संलग्न रहते थे। क्योंकि वे भली-भाति जानते थे कि विषय-वासना मोह का कारण है और मोह समस्त कर्मों मे प्रबल है, वह सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश सुगमता से किया जा सकता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता को प्राप्त करने वाले महापुरुष सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय करते हैं, उसके बाद शेष तीन

घातिक कर्मों का नाश करते हैं। अतः भगवान महावीर विषय-विकारों को मोह बढ़ाने का कारण समझकर उनमें रस नहीं लेते थे। वे उस समय भी अपनी आत्म-साधना में ही संलग्न रहते थे।

भगवान की निस्पृहता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि साहिये दुवे वासे सीओदं अभुच्चा निक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नाय दंसणे संते ॥११॥

छाया—अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वा निष्क्रान्तः।
एकत्वगत पिहितार्चः स अभिज्ञातदर्शन शान्तः ॥

पदार्थ—अवि—अपि-संभावनार्थक है। साहिए दुवे वासे—दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक। सीओदं—शीतोदक—सचित्त पानी। अभुच्चा—पीए बिना। निक्खंते—दीक्षित हुए। एगत्तगए—जिन्होंने एकत्व भावना से अपने अन्तःकरण को भावित किया। पिहियच्चे—क्रोध की ज्वाला को शान्त कर लिया। से—वह। अहिन्नदंसणे—ज्ञान दर्शन से युक्त भगवान महावीर। संते—इन्द्रिय और नोइन्द्रिय मन को दमन करने के कारण शान्तचित्त—वाले भगवान विचरते थे।

मूलार्थ—जो दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहस्थ जीवन में रहते हुए सचित्त जल को पिए बिना दीक्षित हुए थे। और जिन्होंने एकत्व भावना में संलग्न रहते हुए क्रोध की ज्वाला को शान्त किया था वे ज्ञान दर्शन से युक्त शुद्ध अन्तःकरण वाले और शान्तचित्तवाले भगवान महावीर विचरते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर का जीवन सदा से त्याग निष्ठ जीवन रहा है। जब वे गर्भ में आए, तब उन्होंने सोचा कि हलन-चलन आदि के संचरण से माता को पीड़ा होगी। इसलिए अंगोपांगों को संकोच कर वे स्थिर हो गए। इससे माता को गर्भ के मरने या गलने या गिरने का संदेह हो गया और सुख के स्थान में दुःख की वेदना बढ़ गई। इस बात को जानकर भगवान ने पुनः अपने शरीर का संचरण आरम्भ कर दिया। सारे घर में हर्ष एवं आनन्द का वातावरण छा गया। उस समय भगवान ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक माता पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा नहीं लूंगा। इस कारण भगवान ने

२८ वर्ष तक दीक्षा की बात नहीं की। २८ वर्ष की अवस्था में माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता से दीक्षा की आज्ञा मांगी तो उन्होंने उन्हें कुछ समय तक और ठहरने का आग्रह किया और भाई की बात को मानकर आप दो वर्ष और ठहर गए। परन्तु उन्होंने ये दो वर्ष अपनी साधना मे ही बिताए। इन दिनों मे सचित्त (सजीव अर्थात् कुए, तालाब, नदी, वर्षा आदि के) पानी को नहीं पिया।

वे सदा एकत्व भावना मे संलग्न रहते थे। इससे आत्मा के साथ संबद्ध राग द्वेष आदि विकारों की द्वैतता को क्षय करने मे प्रबल सहायता मिलती है और साधना में तेजस्विता आती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन के कारण ही वे परीषहों को सहन करने में सक्षम बने। क्योंकि, वे आत्मा के अतिरिक्त समस्त साधनों को क्षणिक, नाशवान एवं संसार मे परिभ्रमण कराने वाले समझते थे। इस कारण भगवान सब साधनों से अलग होकर अपने एकत्व स्वरूप के चिन्तन मे ही सलग्न रहते थे।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'पिहिच्चे' का अर्थ है—जिसने क्रोध रूप ज्वाला को शान्त कर दिया है या जिसका शरीर गुप्त है— वस्त्र के अभाव मे भी जो नग्न दिखाई नहीं देते हैं। इसमे भगवान की निस्पृहता स्पष्ट होती है। उन्होंने केवल वस्त्र आदि का ही त्याग नहीं किया था, अपितु क्रोध आदि कषायों से भी वे सर्वथा निवृत्त हो चुके थे। कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी उनके मन मे क्रोध की, प्रतिशोध लेने की भावना नहीं जगती थी। वे शान्त भाव से सदा आत्मशोधन मे सलग्न रहते थे।

उनके त्यागनिष्ठ जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वायु कायं च।
पणगाइं वियहरियाइं, तसकायं सव्वसो नच्चा।१२।

छाया—पृथिवीं च अप्काय च, तेजस्काय च, वायुकाय च।
पनकानि वीजहरितानि, त्रसकायं च सर्वशः ज्ञात्वा ॥

पदार्थ—पुढविंच—भगवान महावीर पृथ्वी काय, आउकाय च—अप्काय। तेउकायं च—तेजस्काय। वाउकाय च—वायुकाय। पणगाइ—निगोद शैवाल के जीव आदि। वीय हरियाई—वीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एव। तसकाय च—त्रसकाय को। सव्वसो—सर्व प्रकार मे। नच्चा—जानकर इन सब कायो की यतना करते हुए विचरते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय

पनक निगोद बीज हरी वनस्पति एवं त्रस काय के जीवों को सब प्रकार से जानकर इन सब कायों की रक्षा करते हुए विचरते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर की साधना प्राणी जगत के हित के लिए थी। आगम में बताया गया है कि समस्त प्राणियों की रक्षारूप दया के लिए भगवान ने अपना प्रवचन दिया था*। वे सब प्राणियों के रक्षक थे। उन्हें समस्त प्राणियों के स्वरूप का परिज्ञान था। क्योंकि जीवों की योनियों का परिबोध होने पर ही साधक उनकी रक्षा कर सकता है।

इसलिए प्रस्तुत गाथा में समस्त जीवों के भेदों का कथन किया गया है। समस्त जीव ६ प्रकार के हैं—१-पृथ्वी काय २-अप्काय ३-तेजस्काय ४-वायुकाय ५-वनस्पति काय और ६-त्रस काय। पहले पांच प्रकार के जीव स्थावर कहलाते हैं और इनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय होती है। इस अपेक्षा से जीव दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं— १-त्रस और २-स्थावर। स्थावर जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीव समस्त लोक में व्याप्त है और बादर जीव लोक के एक भाग में स्थित है†। बादर पृथ्वी काय श्लक्ष्ण और कठिन के भेद से दो प्रकार की है। श्लक्ष्ण पृथ्वी काय सात प्रकार की है—१-कृष्ण २-नील, ३-लाल ४-पीत ५-श्वेत ६-पंडुक और ७-मटिया और कठोर पृथ्वी काय के शर्करा आदि ३६ भेद बताए हैं‡। बादर अपकाय के शुद्ध उदक (जल) आदि ५ भेद हैं*। बादर

---

* सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठाए भगवया पावयणं कहियं।

—प्रश्न व्याकरण सूत्र।

† सुहुमा सव्व लोगम्मि लोगदेसे य बायरा। —उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ७८।

‡ दुविहा य पुढवीजीवा सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेव दुहा पुणो।
बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा सण्हा सत्तविहा तहिं।
किण्हा नीला य रुहिरा य हालिद्दा सुक्किला तहा।
पंडुपणगमट्टिया खरा छत्तीसईविहा।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ७०, ७१।

* बायरा जे उ पज्जत्ता पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से य हरतणु महिया हिमे।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ८६

तेजस्काय (अग्नि) के भी अंगारा आदि ५ भेद हैं†। बादर वायु काय के भी उत्कालिक आदि ५ भेद हैं‡। बादर वनस्पति काय के ६ भेद हैं—१-अग्रबीज, २-मूलबीज, ३-पर्वबीज, ४ बीजरुह, ५-सम्मूर्छिम और ६-स्कन्ध बीज। वनस्पति काय प्रत्येक और साधारण शरीर की अपेक्षा से दो प्रकार की है। जिस वनस्पति मे एक शरीर में एक जीव रहता हो वह प्रत्येक शरीर वनस्पति कहलाती है और जिस के एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हों वह साधारण वनस्पति काय कहलाती है। प्याज, लहसुन, मूली गाजर, शकरकंद आदि जमीन मे पैदा होने वाले कंद मूल साधारण वनस्पति काय या अनन्त काय कहलाते है। शेष सभी प्रकार की वनस्पति के जीव प्रत्येक शरीर वनस्पति काय कहलाते हैं*। त्रस काय के ४ भेद है— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। इनके भी अवान्तर भेद अनेक हैं। इन सब का परिज्ञान करके भगवान समस्त प्राणियों की रक्षा करते हुए विचरते थे।

वर्तमान काल मे वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से स्थावर जीवों की चेतना को जानने का प्रयत्न करते हैं। जगदीश चन्द्र बोस ने यन्त्रों के द्वारा वनस्पति की सजीवता को स्पष्ट रूप से दिखाया था। परन्तु, इन सब साधनों की सहायता के बिना विज्ञान युग से २५०० वर्ष पहले भगवान महावीर ने अपने दिव्यज्ञान के द्वारा इन जीवों की सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था।

भगवान की साधना के संबन्ध में वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयाइं सन्ति पडिलेहे, चित्तमंताइ से अभिन्नाय।
परिवज्जिय विहरित्था, इय संखाय से महावीरे।१३।

---

† बायरा जे उ पज्जता णेगहा ते वियाहिया।
इगाले मुम्मुरे, अगणी, अच्चिजाला तहेव य।
उक्का विज्जू य बोधव्वाणेगहा एवमायओ
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया।
—उत्तराध्ययन ३६, ११०-१११।

‡ बायरा जे उ पज्जता, पचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया, मडलिया घणगुञ्जा सुद्धवाया य
संवट्टगवाया य णेगहा एवमायओ।
—उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ११९-१२०

*उत्तराध्ययन सूत्र ९४-१००

छाया—एतानि सन्ति प्रत्युपेक्ष्य, चित्तमन्तानि स अभिज्ञाय ।
परिवर्ज्य विहृतवान्, इति संख्याय स महावीरः ॥

पदार्थ—एयाई—ये पृथिवी आदि जीव । संति—हैं । पडिलेहे—इस प्रकार विचार कर तथा । चित्तमंताइं—चेतना वाले । अभिन्नाय—जानकर । इय—इस प्रकार । संखाय—भलिभांति जानकर । से—वह भगवान । महावीरे—महावीर । परिवज्जिय—इनके आरम्भ का त्याग कर के । विहरित्था—विचरते थे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर पृथ्वी आदि के जीवों को सचेतन जानकर और उनके स्वरूप को भली-भांति अधिगत करके उनके आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होकर विचरते थे ।

हिन्दी विवेचन

श्रमण भगवान महावीर पृथ्वी आदि पांचों को सजीव मानते थे । उन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा उनकी सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था । आगम एवं अनुमान के द्वारा छद्मस्थ प्राणी भी उनमें सजीवता की सत्ता का अनुभव कर सकता है परन्तु वह सजीवता को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता । उसे प्रत्यक्ष देखने की शक्ति सर्वज्ञ पुरुषों में ही है ।

जैन दर्शन में पृथ्वी आदि को सचेतन और अचेतन दोनों तरह का माना है । इस सम्बन्ध में हम प्रथम अध्ययन में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं । इन स्थावर जीवों में संख्यात असंख्यात एवं अनन्त जीव पाए जाते हैं ।

जीवों की विचित्रता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु थावरा य तसत्ताए तसा य थावरत्ताए ।
अदुवा सव्व जोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ।१४।

छाया—अथ स्थावराश्च त्रसतया त्रसाश्च स्थावरतया ।
अथवा सर्वयोनिकाः सत्त्वा कर्मणा कल्पिताः पृथक् बालाः ॥

पदार्थ—अदु—अथवा । थावरा—पृथिवी आदि स्थावर । तसत्ताए—त्रसकाय रूप से परिणमन होते हैं । य—समुच्चय अर्थ में है । तसाय—और त्रस जीव । थावरत्ताए—स्थावर रूप से उत्पन्न होते हैं । अदुवा—अथवा । सव्वजोणियासत्ता—प्राणी सर्व योनियों में आवागमन

करने वाले होते हैं। बाला—अज्ञानी जीव। कम्मुणा—अपने कर्म से। पुढो—पृथक् रूप से। कप्पिया— ससार में स्थित हैं।

मूलार्थ—स्थावर जीव त्रस मे उत्पन्न होते है और त्रसजीवस्थावर काय मे जन्म ले सकते हैं। या यो कहिए, ससारी प्राणी सब योनियो मे आवागमन करने वाले हैं। और अज्ञानी जीव अपने २ कर्म के अनुसार विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होते है।

हिन्दी विवेचन

दुनिया में प्रत्येक प्राणी अपने कृत कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करता है। स्थावर काय मे स्थित जीव अनन्त पुण्य का संचय करके त्रस काय में जन्म ले लेते हैं और पाप कर्म के द्वारा त्रस जीव स्थावर योनि में उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह मनुष्य तिर्यञ्च, नरक, देव, मनुष्य आदि किसी भी गति मे जन्म धारण कर सकता है। वह अपने कृत कर्म के अनुसार चार गति में से किसी एक गति में उत्पन्न होता है। कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति जिस रूप मे मरता है, उसी रूप में जन्म लेता है। जैसे स्त्री सदा स्त्री के रूप मे ही रहती है और पुरुष के लिंग में ही जन्म लेता है। परन्तु, यह मान्यता कर्म सिद्धान्त एवं अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध नहीं होती। यदि लैंगिक रूप कभी बदलता ही नहीं या उसका अस्तित्व कभी समाप्त ही नहीं होता, तो फिर ये समस्त कर्म निष्फल हो जाएगे और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि कर्म कभी निष्फल नहीं जाते। अत हम कहते हैं कि ससार परिभ्रमण मे कभी भी लैंगिक एकरूपता स्थित नही रह सकती। पुरुष स्त्री एवं नपुसक के लिग में जन्म धारण कर सकता है। और स्त्री एव नपुसक पुरुष के लिग में जन्म ले सकते हैं और वे लैंगिक आधार को समाप्त करके अलिंग सिद्ध स्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं।

इस तरह लैंगिक आकार एव योनि आदि की प्राप्ति कर्म के अनुसार होती है। जब व्यक्ति अपने ज्ञान एव तप के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर देता है, तब वह जन्म मरण एव लैंगिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक आत्मा में अज्ञान एव राग-द्वेष है तब तक वह कर्मों का बन्ध करती है और संसार सागर मे परिभ्रमण करती रहती है। अत योनियों में परिभ्रमण करने का मूल कारण कर्म है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूल — भगवं च एवमन्नेसिं, सोवहिए हु लुप्पइ बाले।
कम्मं च सव्वसो नच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ।।१५।।

छाया — भगवान् च एवमन्वेष्य सोपधिकः हु लुप्यते बालः ।
कर्म च सर्वशः ज्ञात्वा तत् प्रत्याख्यातवान् पापकं भगवान् ।।

पदार्थ—च—पुनः । भगवं—भगवान ने । एवमन्नेसिं—इस प्रकार जाना । हु—जिससे । सोवहिए—उपधि सहित ममत्व युक्त । बाले—अज्ञानी जीव । लुप्पइ—कर्म से पीड़ित होता है । च—पुनः । सव्वसो—सब प्रकार से । कम्मं—कर्म के स्वरूप को । नच्चा—जानकर । भगवं—भगवान ने । तं—उस । पावगं—पापकर्म को । पडियाइक्खे—त्याग किया ।

मूलार्थ—भगवान ने यह जान लिया कि अज्ञानी आत्मा कर्म रूप उपधि से आबद्ध हो जाता है । अतः कर्म के स्वरूप को जानकर भगवान ने पापकर्म का परित्याग कर दिया ।

हिन्दी विवेचन

कर्म के कारण ही संसारी जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । वे विभिन्न योनियों में विभिन्न तरह की वेदनाओं का संवेदन करते हैं । अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को भूल कर पापकर्म में आसक्त रहते हैं इससे वे संसार में परिभ्रमण करते हैं । इस लिए भगवान ने कर्म के स्वरूप को समझकर उसका परित्याग कर दिया । इस तरह भगवान ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से युक्त थे । क्योंकि कर्मों के स्वरूप को जानने का साधन ज्ञान है और दर्शन से उस का निश्चय होता है और त्याग का आधार चारित्र है । इस तरह रत्नत्रय की साधना से आत्मा निष्कर्म हो जाती है । आगम में बताया गया है कि आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानता है दर्शन से सम्यग् परिज्ञात स्वरूप पर विश्वास करता है, चारित्र से आने वाले नए कर्मों के द्वार को रोकता है और तप के द्वारा पूर्व काल में बन्धे हुए कर्मों का क्षय करता है† । भगवान महावीर भी इन चारों तरह की साधना से युक्त थे और ज्ञान दर्शन चारित्र एवं तप से समस्त कर्मों को क्षय करके उन्होंने निर्वाण पद को प्राप्त किया ।

---

† नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ।

—उत्तराध्ययन २८, ३५ ।

उपधि द्रव्य एव भाव के भेद से दो प्रकार की है। आत्मा के साथ पदार्थों का संबन्ध द्रव्य उपधि है और राग-द्वेष आदि विकारों का सम्बन्ध भाव उपधि है। भाव उपधि से द्रव्य उपधि प्राप्त होती है और द्रव्य उपधि भाव उपधि—राग-द्वेष को वढाने का कारण भी बनती है। इस तरह दोनों उपधियें ससार का कारण हैं। दोनों उपधियों का नाश कर देना ही मुक्ति है। ससार परिभ्रमण का मूल कारण भाव उपधि है, भाव उपधि का नाश होने पर द्रव्य उपधि का नाश सुगमता से हो जाता है। इसलिए सर्वज्ञ पुरुष पहले भाव उपधि—राग-द्वेष का नाश करके वीतराग बनते हैं और उसके बाद द्रव्य उपधि का क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी।

आयाण सोयमइवायसोयं, जोगं च सव्वसो णच्चा।१६।

छाया—द्विविधं समेत्य मेधावी, क्रियामाख्यातमनीदृश ज्ञानी।

आदानं स्रोत अतिपातस्रोतः योगं च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ—मेहावि—बुद्धिमान सर्व भाव के ज्ञाता भगवान ने। किरिय—क्रिया कर्मों का नाश करने वाली सयमानुष्ठान रूप। दुविह—दो प्रकार के कर्म ईर्या प्रत्यय और साम्परायिक को। समिच्च—सम्यक्तया जानकर। अणेलिस—अनुपम। अक्खाय—कहा है और। नाणी—ज्ञानयुक्त भगवान ने। आयाणसोय—कर्मों के आने का स्रोत कहा है। अइवाय सोय—अतिपात हिंसा स्रोत। च—और। जोग—योगरूप स्रोत को। सव्वसो—सर्व प्रकार से। णच्चा—कर्म बन्धन जानकर उन से निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

मूलार्थ—भावज्ञ और ज्ञानी भगवान ने ईर्यापथिक और साम्परायिक क्रिया को जो कि अनुपम और कर्मों का नाश करने वाली सयमानुष्ठान रूप कहा है। तथा कर्मों के आने के स्रोत और हिंसा रूप स्रोत एव योगरूप स्रोत को कर्म बन्धन का कारण रूप जानकर इनकी शुद्धि के लिऐ सयमानुष्ठान का प्रतिपादन किया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में दो प्रकार की क्रिया का वर्णन किया गया है—१-साम्परायिक और २-ईर्यापथिक। कषायों के वश जो क्रिया की जाती है, वह साम्परायिक क्रिया कहलाती

है। इससे सात या आठ कर्मों का बन्ध होता है और आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। राग द्वेष और कषाय रहित भाव से यत्ना पूर्वक की जाने वाली क्रिया ईर्यापथिक क्रिया कहलाती है। इस क्रिया से संसार नहीं बढ़ता है। यह क्रिया आत्मा को निष्क्रिय बनाने में सहायक होती है। भगवान महावीर दोनों प्रकार की क्रियाओं के स्वरूप को भली भांति जानते थे। वे साम्परायिक क्रिया का सर्वथा त्याग कर चुके थे और ईर्यापथिक क्रिया का उच्छेद करने में प्रयत्नशील थे।

क्रिया के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए आगम में कहा है कि अयत्ना—विवेक रहित गमनागमन आदि कार्य करते हुए प्राणी साम्परायिक क्रिया के द्वारा कर्मों का बन्ध करता है और आगम के अनुसार यत्ना विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए ईर्यापथिक कर्म का बन्ध करता है*। इससे स्पष्ट है कि कषाय युक्त भाव से की जाने वाली क्रिया संसार परिभ्रमण कराने वाली है और कषाय रहित अनासक्त भाव से की जाने वाली क्रिया संसार बढ़ाने वाली नहीं अपितु घटाने वाली है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अइवत्तियं अणाउट्टिं, सयमन्नेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थिओ परिन्नाया, सव्वकम्मावहाउ से अदक्खु॥१७॥

छाया—अतिवर्तिकाम् अनाकुट्टिं स्वयं अन्येषां अकरणतया।
यस्य स्त्रियः परिज्ञाताः सर्वकर्मावहाः सोऽद्राक्षीत्॥

पदार्थ—अइवत्तियं—भगवान ने पाप से परिक्रान्त होने से निर्दोष। अणाउट्टिं—अहिंसा। सय—स्वयं आचरण किया और। अन्नेसिं—दूसरों को। अकरणयाए—हिंसा नहीं

* अणगारस्स णं भंते! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा चिट्ठमाणस्स वा निसीयमाणस्स वा; अणाउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा; निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते! किं इरिया वहिया किरिया कज्जइ; संपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा! नो इरिया वहिया किरिया कज्जइ संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं? गोयमा! जस्स णं कोह माणमाया लोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरिया वहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह माणमाया लोभा अवोच्छिन्ना भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ अहासुत्तं रियमाणस्स इरिया वहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रियमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ। से णं उस्सुत्तमेव रियइ से तेणट्ठेणं।

भगवती सूत्र ७, १

करने का उपदेश दिया। जइसित्थिओ – जिन्हें स्त्रियों का स्वरूप एवं उनके साथ भोगे जाने वाले भोगों का विपाक। परिन्नाया – परिज्ञात है और। से – उस श्रमण भगवान महावीर ने। अदक्खु – देखा था कि। सव्व कम्मावहाउ – ये भोग सब पाप कर्म के आधारभूत हैं।

मूलार्थ—भगवान ने स्वय निर्दोष अहिंसा का आचरण किया और अन्य व्यक्तियों को हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया। भगवान स्त्रियों के यथार्थ स्वरूप एव उनके साथ भोगे जाने वाले काम-भोगों के परिणाम से परिज्ञात थे ये काम-भोग समस्त पाप कर्मों के कारण भूत है, ऐसा जानकर भगवान ने स्त्री-ससर्ग का परित्याग कर दिया।

हिन्दी विवेचन

साधना का मूल अहिंसा है। हिंसक व्यक्ति साधना मे प्रवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उसके मन मे प्राणियों के प्रति दया भाव नहीं रहता है। अत भगवान महावीर ने स्वय अहिंसा व्रत का पालन किया। उन्होंने अपने साधना काल मे न किसी प्राणी की हिंसा की और न किसी व्यक्ति को हिंसा करने की प्रेरणा ही दी। उनके हृदय में प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एव करुणा का स्रोत बहता था। उन्होंने अपने समय मे होने वाली याज्ञिक हिंसा जैसे क्रूर कर्मों को समाप्त करके जीवों को अभयदान दिया।

साधक के लिए हिंसा की तरह मैथुन भी त्याज्य है। इससे मोह की अभिवृद्धि होती है और मोह से पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए भगवान ने मैथुन के साधन स्त्री ससर्ग का सर्वथा त्याग कर दिया। साधु के लिए स्त्री का एव साध्वी के लिए पुरुष-ससर्ग का त्याग करना जरूरी है। क्योंकि दोनों के लिए दोनों मोह को जगाने का कारण है और मोह की जागृति से महाव्रतों का नाश होता है। अत भगवान ने अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार किया।

साधना मे प्रथम और चतुर्थ दो महाव्रत मुख्य हैं। दोनो मे अन्य तीनों महाव्रतों का समावेश हो जाता है। पूर्ण अहिंसक एव पूर्ण ब्रह्मचारी साधक न झूठ बोल सकता है, न चोरी कर सकता है और न परिग्रह की आकांक्षा रख सकता है। अत दो महाव्रतों में पाचों का समावेश हो जाता है।

मूल गुणों की व्याख्या करके अब सूत्रकार उत्तर गुणों का उल्लेख करते हैं—

मूलम् – अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्म अदक्खू।
जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ।१८।

छाया—यथाकृतं न स सेवते, सर्वशः कर्म अद्राक्षीत्

यत्किञ्चित् पापकं भगवान् तदकुर्वन् विकटमभुङ्क्त ॥

पदार्थ—अहाकडं—साधु के वास्ते बनाया हुआ आहार आधाकर्म आहार कहलाता है। से—भगवान उस आहार का। न सेवे—सेवन नहीं करते थे, क्योंकि उस आहार का सेवन करने से। सव्वसो—सर्व प्रकार से। कम्म—आठ प्रकार के कर्म का बन्ध होता है। अदक्खू—भगवान ने ऐसा देखा। जं किंचि—अतः जो आहार थोड़े से। पावगं—पाप का कारण हो। भगवं—भगवान। तं—उसको। अकुव्वं—न करते हुए। वियडं—प्रासुक निर्दोष आहार। भुंजित्था—ग्रहण करते थे।

मूलार्थ—आधाकर्म आहार को सब तरह से कर्मबन्ध का कारण जान कर भगवान ने उसका सेवन नहीं किया। भविष्य में पाप का कारण होने के कारण उसको न करते हुए भगवान ने निर्दोष आहार ही ग्रहण किया।

हिन्दी विवेचन

साधना के लिए शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार आवश्यक है और आहार के बनने में हिंसा का होना भी स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण अहिंसक साधक अपनी साधना कैसे कर सकता है। इसके लिए यह बताया गया है कि साधु पाचन किया से सर्वथा दूर रहे। वह न स्वयं आहार आदि बनाए और न अपने लिए किसी से बनवाए और अपने (साधु के) निमित्त बनाकर या खरीद कर लाया हुआ आहार आदि स्वीकार भी न करे। परन्तु गृहस्थ के घर में अपने परिवार के लिए जो भोजन बना है उसमें से अनासक्त भाव से सब दोषों को टालते हुए थोड़ा सा आहार ग्रहण करे जिससे उसे पीछे से किसी तरह का कष्ट न हो या अपने खाने के लिए कम रहने से पुनः न बनाना पड़े। इस तरह कई घरों से निर्दोष आहार लेकर साधु अपने शरीर का निर्वाह करे। परन्तु जिह्वा के स्वाद के लिए या शारीरिक पुष्टि आदि के लिए वह आधा कर्म आदि सदोष आहार न ले। जो आहार साधु के लिए बनाया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं। उस आहार का ग्रहण करने से उसमें हुई हिंसा का पाप साधु को भी लगता है। अतः साधु अनासक्त भाव से निर्दोष आहार की गवेषणा करे।

भगवान महावीर ने केवल यह उपदेश ही नहीं दिया, प्रत्युत उन्होंने स्वयं इस नियम का परिपालन किया। उन्होंने कभी भी आधा कर्म आदि दोषों से युक्त आहार को स्वीकार नहीं किया। इस तरह भगवान सदा निर्दोष आहार की गवेषणा करने और

अपनी मर्यादा के अनुसार निर्दोष आहार उपलब्ध होने पर उसे स्वीकार करते थे। इसी तरह भगवान ने अन्य सावद्य सदोष व्यापार एवं साधनों का भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वे सारे पाप कर्मों से निवृत्त होकर सदा निर्दोष साधना में सलग्न रहते थे।

उनकी साधना के संबन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णो सेवइ य परवत्थं परपाएवि से न भुंजित्था।
परिवज्जियाणं ओमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए।१६।

छाया—नो सेवते च परवस्त्र, परपात्रेपि स ना भुक्ते।
परिवर्ज्यमान गच्छति, संखंडिं अशरणाय॥

पदार्थ—य—पुन। परवत्थ—भगवान दूसरे के वस्त्र का। णो सेवइ—सेवन नही करते थे। परपाएवि—अन्य व्यक्ति के पात्र में भी। से—वे। न भुजित्था—भोजन नही करते थे। उमाणं—अत वे अपमान को। परिवज्जियाणं—छोडकर। सखडि—सखडी में भोजनशाला मे। असरणयाए—किसी के सहारे के विना। गच्छइ—जाते हैं।

मूलार्थ—भगवान ने दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का सेवन नही किया, और न दूसरे व्यक्ति के पात्र मे भोजन ही किया, वे मान अपमान को छोड कर विना किसी के सहारे भिक्षा के लिए जाते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर ने अपने साधना काल में न तो किसी भी व्यक्ति के पात्र में भोजन किया और न दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का उपयोग ही किया। यह हम देख चुके हैं कि भगवान ने दीक्षा लेते समय केवल एक देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई उपकरण स्वीकार नहीं किया था और वह देव दूष्य वस्त्र भी १३ महीने के बाद उनके कन्धे पर से गिर गया। और जब तक वह उनके पास रहा, तब तक भी उन्होंने शीत आदि निवारण करने के लिए उसका उपयोग नहीं किया। आगम से यह भी स्पष्ट है कि वे अकेले ही दीक्षित हुए थे और साधना काल में भी अकेले ही रहे थे। बीच में कुछ काल के लिए गोशालक उनके साथ अवश्य रहा था। परन्तु, अधिकतर वे अकेले ही विचरते रहते थे। ऐसी स्थिति में किसी अन्य साधु के वस्त्र आदि स्वीकार करने या न करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अपने साधना काल में न किसी गृहस्थ के

पात्र में भोजन किया और न सर्दी के मौसम में किसी गृहस्थ के वस्त्र को ही स्वीकार किया। इस युग में एवं वर्तमान में भी अन्य मत के साधु गृहस्थ के बर्तन में भोजन कर लेते हैं एवं गृहस्थ के वस्त्रों को भी अपने उपयोग में ले लेते हैं। परन्तु जैन साधु आज भी अपने एवं अपने से सम्बन्धित साधुओं के वस्त्र-पात्र के अतिरिक्त अन्य किसी के वस्त्र पात्र को स्वीकार नहीं करते हैं।

भगवान ने भिक्षा के लिए जाते समय किसी भी व्यक्ति का सहारा नहीं लिया वे सदा मान-अपमान को छोड़कर भिक्षा के लिए जाते थे। वे किसी दानशाला या महाभोजनशाला के सहारे भी अपना जीवन निर्वाह नहीं करते थे। क्योंकि इससे अन्य दीन-हीन व्यक्तियों को अन्तराय लगती है और वहां आहार भी निर्दोष नहीं मिलता है। इस लिए वे अदीनमन होकर भिक्षा के लिए जाते और जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता वही स्वीकार करके अपनी साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी साधना के सम्बन्ध में और उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मायरणे असणपाणस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।
अच्छिपि नो पमज्जिज्जा, नोविय कंडूयए मुणी गाय।२०।

छाया—मात्रज्ञः अशनपानस्य, नानुगृद्ध रसेषु अप्रतिज्ञः।
अक्ष्यपि नो प्रमार्जयेत् नापि च कण्डूयते मुनिः गात्रम्॥

पदार्थ—मुणी—भगवान महावीर। असणपाणस्स—अन्न पानी के। मायण्णे—परिमाण को जानने वाले। रसेसु—रसों में। नाणुगिद्धे—मूर्छारहित। अपडिन्ने—मन में सिंह-केसरादि मोदक लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा से रहित—ऐसी प्रतिज्ञा न करने वाला। अच्छिपि—आंख में रज आदि के पड़जाने पर भी। नो पमज्जिज्जा—उसे दूर करने के लिए प्रमार्जन नहीं करते। य—और। गायं—गात्र को। नोविकंडूयए—खाज आने पर भी खुजलाते नहीं थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर अन्न पानी के परिमाण को जानने वाले थे रसों में अमूर्च्छित थे सरस आहार के लेने की प्रतिज्ञा से रहित थे आंख में रज कण पड़ने पर भी उसे नहीं निकालते थे। तथा खुजली आने पर भी शरीर को नहीं खुजलाते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर का जीवन उत्कृष्ट साधना का जीवन था। वे केवल साधना

को चालू रखने के लिए ही आहार ग्रहण करते थे, स्वाद एवं शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए नहीं। इसलिए उन्होंने कभी भी सरस एवं प्रकाम आहार की गवेषणा नहीं की। वे नीरस आहार ही स्वीकार करते थे और वह भी निरन्तर नहीं लेते थे। कभी चार चार महीने का, कभी ६ महीने का, कभी एक महीने का, कभी १५ दिन का तप तो कभी और कुछ तप कर देते थे। इस तरह उनका जीवन तपमय था। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान ने कभी सरस एव स्वादिष्ट आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा नहीं की थी। इस लिए उन्हें अप्रतिज्ञ कहा है।

परन्तु, यह "अप्रतिज्ञ" शब्द सापेक्ष है। क्योंकि सरस आहार की प्रतिज्ञा नहीं की, किन्तु, नीरस आहार की प्रतिज्ञा अवश्य की थी। जैसे उड़द के बाकले लेने की प्रतिज्ञा की थी। इसने उन्होंने साधना काल मे आहार के सम्बन्ध में कोई प्रतिज्ञा नहीं की ऐसी बात नहीं है फिर भी सूत्रकार ने जो 'अप्रतिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि सरस आहार की प्रतिज्ञा न करने या इच्छा न रखने से उन्हें अप्रतिज्ञ ही कहा है। क्योंकि शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार लेना आवश्यक है। यदि सरस एव प्रकाम भोजन ग्रहण करते हैं तो उसमे आसक्ति पैदा हो सकती है और अधिक परिमाण मे खाने पर विकृति भी जागृत हो सकती है। परन्तु, नीरस एव रूक्ष आहार मे न आसक्ति होती है और न विकारों को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है और नीरस आहार स्वाद पर एवं विकारों पर विजय प्राप्त करने का साधन है। ६ महीने के लगभग लम्बे तप के बाद रूक्ष उडद के बाकले खाना साधारण बात नहीं है। इसके लिए मन पर बहुत बडा अधिकार करना होता है। उस समय हमारा मन दूध आदि स्निग्ध एवं सुस्वाद्य आहार की इच्छा रखता है। उस समय रूक्ष उडद के उबले हुए दाने और वह भी नमक-मिर्च से रहित स्वीकार करके समभाव पूर्वक खा लेना जबरदस्त साधक का ही काम है। इस तरह भगवान ने स्वाद एव अपने योगों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसी कारण उनकी नीरस आहार की प्रतिज्ञा को प्रतिज्ञा नहीं माना है। क्योंकि, वह आहार स्वाद एव शक्ति बढाने के लिए नहीं, अपितु साधना में तेजस्विता लाने के लिए करते थे। इस अपेक्षा से 'अप्रतिज्ञ' शब्द उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

भगवान महावीर का लक्ष्य शरीर पर नहीं, आत्मा पर था। वे सदा आत्मा का ही ध्यान रखते थे। यदि कभी आंख में तृण या रेत के कण आदि गिर जाते तो उन्हे निकालने का प्रयत्न नहीं करते थे और शरीर में खुजली आदि आती थी तो उसे भी नहीं करते थे। वे शरीर की चिन्ता नहीं करते थे। शरीर की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। वे सदा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

उनके विचरण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अप्पं तिरियं पेहाए अप्पिं पिट्ठओ पहाए।
अप्पं बुइएऽपडिभाणी पंथपेहि चरे जयमाणे ॥२१॥

छाया—अल्पं तिरश्चीनं प्रेक्षते अल्पं पृष्ठतः प्रेक्षते।
अल्पं ब्रूते अप्रतिभाषी पथि प्रेक्षी चरेद् यतमानः॥

पदार्थ—अप्पं—अल्प शब्द अभाववाचक है, अतः भगवान चलते हुए। तिरियं—तिर्यक मार्ग को। पेहाए—नहीं देखते थे उसी प्रकार। अप्पिं पिट्ठओ—खड़े होकर पीछे को नहीं। पेहाए—देखते। अप्पंबुइए अपडिभाणी—किसी के बुलाने पर नहीं बोलते थे। जयमाणे—यत्नाशील। पंथपेहि—मार्ग को देखते हुए। चरे—वे चलते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर चलते हुए न तिर्यग् दिशा को देखते थे न खड़े होकर पीछे को देखते थे और न मार्ग में किसी के पुकारने पर बोलते थे। किन्तु मौन वृत्ति से यत्ना पूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे।

हिन्दी विवेचन

साधना का मूल उद्देश्य है—योगों की चंचलता को रोकना। इधर-उधर विषयों में परिभ्रमण करने वाले योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना। इसके लिए समिति और गुप्ति की साधना बताई है। समिति का परिपालन करते समय साधक अपने आवश्यक कार्य में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसी में अपने योगों को केन्द्रित कर लेता है। योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करने एवं उनका निरोध करने का यह सबसे अच्छा उपाय है कि साधक उन्हें समिति-यतना-पूर्वक किए जाने वाले अपने आवश्यक कार्य में केंद्रित करे। भगवान महावीर ने ऐसा ही किया था। जब वे चलते थे तो अपनी चित्तवृत्ति एवं योगों को ईर्यापथ में केन्द्रित कर लेते थे। इस तरह उनका इधर-उधर या पीछे को ध्यान नहीं जाता था। वे न कभी दाएं-बाएं देखते थे और न खड़े होकर पीछे को ही देखते थे और न मर्यादित भूमि से आगे को या ऊपर आकाश में ही देखते थे। और न वे किसी से संभाषण करते थे। किसी के पूछने पर कोई उत्तर नहीं देते हुए अपने मार्ग पर बढ़ते रहते थे।

उनके विचरण के सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने त वोसिज्ज वत्थमणगारे।
पसारित्तु बाहुं परक्कमे ना अवलम्बियाण कंधंमि ।२२।

छाया—शिशिरे अध्वप्रतिपन्ने, तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः।
प्रसार्य बाहू पराक्रमते, नो अवलंब्य स्कन्धे (तिष्ठति) ॥

पदार्थ — सिसिरसि — शीतकाल मे–शिशिर ऋतु म । अद्धपडिवन्ने — मार्ग मे प्रतिपन्न हुए। अणगारे — भगवान । त वत्थ — उस वस्त्र को । वोसिज्ज — छोड कर, फिर । बाहू — भुजाओ को। पसारित्तु — पसार कर । परक्कमे — चलते हैं । कधमि — स्कन्ध कधे पर। नो अवलम्बियाण — दोनो हाथ रखकर खडे नही होते थे।

मूलार्थ—शीतकाल मे मार्ग मे चलते हुए भगवान इन्द्र प्रदत्त वस्त्र को छोडकर दोनो भुजायें फैला कर चलते थे किन्तु शीत से सन्तप्त होकर अर्थात् शीत के भय से भुजाओ का सकोच नही करते थे और न स्कन्ध मे हस्तावलम्बन से खडे होते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर की साधना विशिष्ट साधना थी। भगवान ने अपने साधना काल मे अपवाद को स्थान ही नहीं दिया है। वे परीषहों पर सदा विजय पाते रहे, सर्दी के समय शीत के परीषह से घबराकर न तो कभी उन्होंने वस्त्र का उपयोग किया और न कभी शरीर को या हाथों को सकोच कर रखा। जब कि दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् १३ महीने तक उनके कन्धे पर देव दूष्य वस्त्र पड़ा रहा, फिर भी उन्होंने उससे शीत निवारण करने का प्रयत्न नहीं किया। इसके अतिरिक्त वे दोनों हाथों को फैला कर चलते थे और दोनों हाथों को फैला कर ही खड़े होते थे। न चलते समय उन्होंने कभी हाथों को सकोच कर रखा और न खडे होते समय ही। उन्होंने खड़े होते समय न तो कभी हाथों को कन्धे पर रखा और न किसी अन्य अङ्ग पर ही रखा। वे सदा अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहे और साधना में उत्पन्न होने वाले सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहते रहे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका अपने योगों पर पूरा अधिकार था।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम् — एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रियंति ।२३। त्तिबेमि

छाया—एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते॥

पदार्थ—मईमया—ज्ञानवान। माहणेण—भगवान महावीर ने। एस—इस। विही—क्रियाविधि का। अणुक्कन्तो—स्वयं आचरण किया। बहुसो—अनेक प्रकार से। अपडिन्नेण—निदानकर्म से रहित। भगवया—भगवान ने। एवं—इस प्रकार से स्वयं ही ग्रहण किया और दूसरों के प्रति आचरण करने का उपदेश दिया अतः। रियंति—मुमुक्षुजन कर्मों का क्षय करने के लिए इस क्रिया विधि का अनुष्ठान करके मोक्षमार्ग में गमन करते हैं। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—प्रबुद्ध साधक भगवान महावीर ने इस विहार विचरण चर्या (विधि) को स्वीकार किया था और उन्होंने बिना निदान कर्म—किसी प्रकार के भौतिक सुखों की कामना के बिना इस विधि का आचरण किया और दूसरे साधकों को भी इस पथ पर चलने का आदेश दिया। इस लिए मुमुक्षु पुरुष इसका आचरण करके मोक्ष मार्ग पर कदम बढ़ाते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक में साधक के लिए जो विचरण करने की विधि बताई है वह केवल भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ही नहीं है अपितु, उनके द्वारा आचरित है इस गाथा में यह बताया है कि भगवान महावीर ने जिस साधना का उपदेश दिया है उसे पहले उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के द्वारा प्राप्त सर्वज्ञत्व से पहले भगवान महावीर भी एक साधारण प्राणी थे। वे सदा से किसी दैवी या ईश्वरी शक्ति के धारक नहीं थे। उन्होंने भी अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण किया था। अनेकों बार नरक एवं तिर्यञ्च के अनन्त दुःखों का संवेदन किया था। इस तरह संसार में भटकते हुए ज्ञान को प्राप्त किया और अपने आत्म स्वरूप को समझकर साधना पथ पर आगे बढ़े और उसी के द्वारा आत्मा का विकास करते हुए सर्वज्ञत्व एवं सिद्धत्व को प्राप्त किया। भगवान द्वारा आचरित साधना ही आत्मा को सिद्धत्व पद पर पहुंचाती है। जैन धर्म का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा में सिद्ध बनने की शक्ति है प्रत्येक आत्मा सिद्धों के जैसी ही आत्मा है और साधना पथ को स्वीकार करके सिद्ध बन सकती है। 'तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन—उपधान श्रुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे भगवान महावीर की विहार चर्या-विधि का उल्लेख किया गया था। साधक चलता है तो उसे विश्राम भी लेना होता है, ठहरना भी पड़ता है। भगवान महावीर को भी अपनी साधना के लिए, आत्म चिन्तन के लिए स्थान का सहारा लेना पड़ता था। अब प्रश्न यह है कि भगवान महावीर साधना काल मे कैसे स्थान में ठहरे थे और वहा कौन सी वस्तुओं का उन्होंने उपयोग किया था और साधक को कैसे मकान मे ठहरना चाहिए?

इसका समाधान करते हुए प्रस्तुत उद्देशक मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्—चरियासणाइं सिज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइ जाइं सेवित्था से महावीरे ।१।

छाया—चर्यासनानि शयनानि एकैकानि यानि अभिहितानि।
आचक्ष्व तानि शयनासनानि यानि सेवितवान् स महावीरः ॥

पदार्थ—एगइयाओ—एक वार, बुइयाओ—जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने। चरियासणाइ—विहार चर्या, आसन एव। सिज्जाओ—वस्तिओ के सम्बन्ध मे। आइक्ख—कहा। जाओ—जिन। सयणासणाइ—शय्या एव आसन का। जाइ—जो। से—उन भगवान महावीर ने। सेवित्था—सेवन किया।

मूलार्थ—विहार के समय मे भगवान महावीर ने जिस शय्या एव आसन का सेवन किया, उसके सवन्ध मे जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने इस प्रकार कहा।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा प्रतिज्ञा सूत्र है। इसमे सूत्रकार यह प्रतिज्ञा करता है कि इस उद्देशक मे मैं यह वताऊंगा कि भगवान ने विहार काल में कैसी वसती एव शय्या आदि का सेवन किया था। यह गाथा अपने आप में इतनी स्पष्ट है कि इसके लिए व्याख्या

की आवश्यकता ही नहीं है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत उद्देशक की इस गाथा को उद्धृत करके उसके विषय में। "एसा पुच्छा अर्थात् यह प्रश्न है।" ऐसा कहा है। परन्तु इसकी व्याख्या नहीं की किन्तु आचार्य शीलांक ने लिखा है कि प्रस्तुत गाथा शास्त्र में उपलब्ध होती है। परन्तु चिरन्तन टीकाकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। इसका कारण गाथा की सुगमता है या उन्होंने इस मूल सूत्र को नहीं माना। इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। आचार्य शीलांक ने किसी टीकाकार के नाम का उल्लेख नहीं करके केवल चिरन्तन टीकाकार शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा लगता है कि चिरन्तन टीकाकार शब्द से चूर्णिकार अभिप्रेत हो सकते हैं। क्योंकि उन्होंने इस गाथा को उद्धृत तो किया है, परन्तु, उसकी व्याख्या नहीं की और चूर्णिकार के अतिरिक्त अन्य टीकाकार भी अभिप्रेत हो सकते हैं। जिनकी टीका उनके युग में प्रचलित रही हो, और आज उपलब्ध न हो। परन्तु इतना स्पष्ट है कि शीलांक से भी पूर्व आचाराङ्ग पर टीका लिखी जा चुकी थी। इस तरह जैनागमों पर और भी अनेक टीका चूर्णि एवं भाष्य आदि लिखे गए हैं। परन्तु आज उनके अनुपलब्ध होने के कारण आगम के कई पाठों एवं उनके अर्थों में सन्देह सा बना रहता है[1]। वर्तमान में प्राप्त टीका ग्रन्थ अपने युग में प्रचलित प्राचीन टीका ग्रन्थों के आधार पर ही संक्षिप्त एवं विस्तृत रूप से रचे गए हैं। किसी किसी टीकाकार ने तो अपने पूर्व टीकाकार के भाव ही नहीं, अपितु श्लोक एवं गाथाएं भी ज्यों की त्यों उद्धृत कर ली हैं। इससे यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पुरातन टीकाएं कुछ अंश रूप वर्तमान टीकाओं में सुरक्षित हैं।

प्रस्तुत गाथा में शय्या आदि के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो।
अदुवा पलियठाणेसु पलाल पुंजेसु एगया वासो।२।

---

[1] बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जैन समाज के प्रमाद आलस्य एवं ज्ञान और स्वाध्याय की कमी के कारण जैन साहित्य को बहुत बड़ी क्षति पहुंची है। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ तो भण्डारों में पड़े-पड़े गल-सड़ गए, कुछ ग्रन्थों को दीमकों ने चट कर लिया तो कुछ ग्रन्थ चूहों के पैने दांतों के नीचे आ गए। कुछ ग्रन्थों को मुसलमानों ने आक्रमण के समय आग में जलाकर एवं जल में प्रवाहित करके नष्ट कर दिया। कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों को अर्थलोलुप पुजारियों ने विदेशियों के हाथ बेच डाला। अतः बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं कि आज उनका नाम मात्र ही शेष रह गया है और कतिपय ग्रन्थ छिन्न भिन्न अवस्था में मिलते हैं। वस्तुतः यह सब शोचनीय ही है।

छाया—आवेशनसभाप्रपासु, पण्यशालासु एकदावासः ।
अथवा कर्म स्थानेषु, पलालपुंजेषु एकदा वासः ॥

पदार्थ—आवेसण—शून्य घर में। सभा—सभा में। पवासु—पानी के स्थान-प्याउ में। पणियालासु—पण्य शाला-दुकानों में। एगया वासो—किसी समय पर भगवान ने निवास किया। पलियठाणेसु—लुहार आदि की शाला में। पलाल पुंजेसु—पलाल पुंज मे-जहा चारो ओर स्तम्भो के सहारे पलाल को एकत्रित करके रक्खा हो, ऐसे स्थान मे। एगयावासो—कभी निवास किया था ठहरे थे।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने शून्य घर मे, सभा भवन मे, पानी पिलाने को प्याऊ मे, दुकान मे, लुहार की शाला मे या जहा पलाल का समूह एकत्रित कर रखा हो ऐसे स्थान मे निवास किया अर्थात् ऐसे स्थानो मे भगवान महावीर ठहरे थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे उस युग के निवास स्थानों का वर्णन किया गया है जिन में लोग रहते थे या पथिक विश्राम लेते थे।

१-शून्य घर—जिस मकान में कोई न रहता हो तो उसे शून्य घर कहते हैं। आज कई प्राचीन शहरों एव जगलों में शून्य खण्डहर एवं मकान मिलते हैं। भगवान महावीर भी कभी ऐसे स्थानों में ठहर जाते थे। ये स्थान एकान्त एव स्त्री-पशु आदि से रहित होने के कारण साधना एव आत्मचिन्तन के अनुकूल होते हैं।

२-सभा—गाव या शहर के लोगों के विचार-विमर्श करने के लिए एक सार्वजनिक स्थान होता था। बाहर गावों से आने वाले यात्री भी उसमे ठहर जाते थे। आज भी अनेक गावों में पथ से गुजरते हुए पथिकों के ठहरने के लिए एक स्थान बना होता है और शहरों में ऐसे स्थानों को धर्मशाला कहते हैं। उस युग मे उसे सभा कहते थे। और भगवान भी कभी सूर्य अस्त हो जाने के कारण ऐसी सभाओं मे रात्रि व्यतीत करते थे।

३-प्रपा (प्याउ)—जहा राहगीरों को पानी पिलाया जाता है, उसे प्रपा या प्याउ कहते हैं। रात के समय यह स्थान प्राय खाली रहता है और चिन्तन के लिए अनुकूल रहता है।

४-पण्यशाला (दुकानें)—जहा लोगों को जीवन के लिए आवश्यक खाद्य

पदार्थ एवं वस्त्र आदि बेचे जाते हैं उन्हें पणयशाला कहते हैं। ये स्थान भी रात में खाली रहते हैं। क्योंकि दुकानदार अपनी दुकान के—जिस में सामान भरा रहता है, ताला लगा देता है फिर दुकान के आगे का छप्पर या प्रायः खाली पड़ा रहता है। अतः भगवान कई बार ऐसे स्थानों में भी ठहरे और ये स्थान भी स्त्री पशु आदि से रहित होने के कारण साधु के लिए ठहरने योग्य है।

५-पणियशाला— जहां पर कर्मकार लोग मेहनत करते हों, ऐसे स्थानों को पणिय-कर्म शाला कहते हैं। लुहार बढ़ई आदि के स्थान इसमें आ सकते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य हैं।

६-पलाल पुञ्ज— जहां पर पशुओं के लिए चार खंभों के सहारे घास का समूह एकत्रित किया जाता है उसे पलाल पुञ्ज कहते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य हैं।

इस तरह भगवान महावीर ने अपने साधना काल में ऐसे स्थानों में निवास किया। इससे साधु जीवन की कष्टसहिष्णुता एवं निस्पृहता का तथा उस समय के लोगों की उदार मनोवृत्ति का पता लगता है। प्रत्येक गांव में आने वाला व्यक्ति भूखा प्यासा एवं निराश्रित नहीं रहता था। सार्वजनिक स्थानों के अतिरिक्त लुहार एवं बढ़ई आदि श्रमजीवी लोगों की इतनी उद्योग शालाएं थीं कि कोई भी यात्री बिना रोक-टोक के विश्रान्ति कर लेता था। इससे उस युग के ऐतिहासिक रहन-सहन एवं उद्योग-धन्धे का भी पता चलता है। उस युग का रहन-सहन सादा था, मकान भी सादे होते थे। कुछ पूंजीपतियों के मकानों को छोड़कर स धारण लोग मिट्टी के बने साधारण घरों में ही रहते थे। औद्योगिक एवं कृषि कार्य अधिक था। गांवों के लोग प्रायः कृषि कर्म पर ही आधारित रहते थे। बड़े-बड़े वैश्य भी कृषि कर्म करते या करवाते थे। आगमों में अरहन्नक आदि श्रावकों का वर्णन आता है कि उन्होंने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार ५०० हल या इससे कम ज्यादा खेती करने की मर्यादा रखी थी। उस युग में कृषि कर्म को हेय नहीं माना जाता था।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि भगवान ऐसे स्थानों में ठहरते थे कि जहां किसी को किसी तरह का कष्ट न हो और अपनी साधना भी चलती रहे। वे अपने ऊपर आने वाले समस्त परीषहों को समभाव पूर्वक सह लेते थे परन्तु अपने जीवन से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देते थे।

जहां भगवान ठहरे थे ऐसे अन्य स्थानों को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्—आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगया वासो ।
सुसाणे सुण्णागारे वा रुक्खमूले व एगयावासो ।२।

छाया—आगन्तारे आरामागारे तथा च नगरे वा एकदा वासः ।
श्मशाने शून्यागारे वा वृक्षमूले वा एकदावासः ॥

पदार्थ—आगन्तारे-जहा पर श्रमजीवि लोग आकर ठहरते हो। आरामागारे—बाग में जहा घर हो। तह—तथा। नगरे—नगर मे। य—पुन। व—अथवा। एगया—एकदा। वासो—निवास किया। वा—अथवा। एगया—किसी समय। सुसाणे—श्मशान मे। व—अथवा। सुण्णागारे—शून्यागार मे। व—अथवा। रुक्खमूले—वृक्ष के नीचे। वासो—निवास किया।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने जहा पर नगर और ग्राम से बाहिर प्रसंगवशात् लोग आकर ठहरते हो ऐसे स्थान मे उद्यान. गृह मे, नगर मे, श्मशान, शून्य गृह मे और वृक्ष के मूल मे निवास किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भी भगवान महावीर के ठहरने के स्थानों का वर्णन किया गया है। जहा श्रमजीवी लोग विश्राम करते हों, या बीमार व्यक्ति स्वच्छ वायु का सेवन करने के लिए कुछ समय के लिए आकर रहते हों, ऐसे स्थानों को 'आगन्तार' कहते हैं। ये स्थान प्राय शहरों के बाहर होते हैं। क्योंकि शहरों के बाहर ही शुद्ध वायु उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त शहर के बाहर जो बाग-बगीचे होते हैं, जिनमें लोगों को एव पशु-पक्षियों को विश्राम-आराम मिलता है, उन्हें आराम कहते हैं और उनमें बने हुए मकानों को आरामागार कहते हैं। इसके अतिरिक्त श्मशान, शून्य मकान एव और कुछ नहीं तो वृक्ष की छाया तो यत्र-तत्र-सर्वत्र सुलभ हो ही जाती है।

उपरोक्त सभी स्थान एकान्त एव निर्दोष होने के कारण साधना के लिए बहुत उपयुक्त माने गए हैं। यों तो साधक के लिए सभी स्थान उपयुक्त हैं। जिस साधक का अपने योगों पर अधिकार है वह सर्वत्र अपने चिन्तन में सलग्न रह सकता है और जिसका अपने योगों पर अधिकार नहीं है वह एकान्त स्थान में भी स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए साधना मे मकान की अपेक्षा चित्तवृत्ति की स्थिरता का महत्व अधिक है। फिर भी चित्तवृत्ति के ऊपर स्थान का भी कुछ असर होता है। महान साधक को वातावरण भी हिला नहीं सकता। परन्तु, सभी साधक भगवान महावीर जैसी साधना

बाले नहीं थे और न अब है। उस युग के साधकों की साधना में भी परस्पर अन्तर था और आज के युग की साधना में भी अन्तर रहा हुआ है। इस लिए साधक को व्यवहार शुद्धि के लिए निर्दोष एवं विकारोत्पादक साधनों से रहित स्थान में ठहरना चाहिए। इसी वृत्ति का उपदेश देने के लिए समस्त विकारों एवं परीषहों पर विजय पाने में समर्थ भगवान महावीर चित्त को समाधि देने वाले एवं आत्म-चिन्तन को प्रगति देने वाले स्थानों में ठहरे। भगवान का आचार हमारे लिए जीवित शास्त्र है, जो हमारी साधना में स्फूर्ति एवं तेजस्विता लाने वाला है।

यह भी एक प्रश्न हो सकता है कि भगवान महावीर साधना काल में कब तक रहे? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ॥४॥

छाया—एतेषु मुनि शयनेषु श्रमण आसीत् प्रत्रयोदशवर्षम्।
रात्रिं दिनमपि यतमानः अप्रमत्तः समाहितः ध्यायति ॥

पदार्थ—मुणी—श्रमण भगवान महावीर। एएहिं सयणेहिं—इन पूर्वोक्त बस्तियों में। समणे—तपस्या युक्त होकर। आसि—स्थित रहे। पतेरसवासे—बारह वर्ष ६ महीना और १५ दिन। राइंदिवंपि—रात-दिन। जयमाणे—यतना पूर्वक। अपमत्ते—निद्रा आदि प्रमादों से रहित। समाहिए—समाधि युक्त होकर। झाइ—धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर इन पूर्वोक्त स्थानों में सम साधना करते हुए १२ वर्ष ६ महीने और १५ दिन तक रात-दिन यतना पूर्वक निद्रा आदि प्रमादों से रहित होकर समाधि पूर्वक धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर ने १२ वर्ष ६ महीने और १५ दिन तक पूर्व सूत्रों में उल्लिखित बस्तियों में वर्षावास एवं रात्रिवास किया। इतने समय तक भगवान अप्रमत्त रहे और सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। इतने लम्बे काल तक भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली और न प्रमाद का सेवन ही किया। प्रमाद साधना का दोष है इससे

साधना दूषित होती है। इसलिए साधक को सदा सावधानी के साथ विवेक पूर्वक क्रिया करने का आदेश दिया गया है। आदेश ही नहीं, प्रत्युत भगवान महावीर ने अपने साधना काल मे अप्रमत्त रहकर साधक के सामने प्रमाद से दूर रहने का आदर्श रखा है।

यहां एक प्रश्न होता है कि भगवान के साधना काल मे गोशालक उनके साथ
रहने लगा और वाद मे भगवान ने भी उसे अपना शिष्य मान लिया था। एक वार
विहार करते समय उसने आतापना लेते हुए वाल सन्यासी का मखौल उड़ाया तथा
उसका तिरस्कार किया। उस समय वाल तपस्वी को गोशालक पर क्रोध आ गया
और उसने उसे जलाकर भस्म करने के लिए उस पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। जव
गोशालक ने दूर से ही तेजोलेश्या को अपनी ओर आते हुए देखा तो वह चिल्लाया और
अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगा। उस समय भगवान ने गोशालक पर अनुकम्पा करके
पीछे की ओर शान्त नजर से देखा और शीतल लेश्या फैंकी। उनकी साधना एव अनन्त
शान्ति के शीतल परमाणुओं ने तेजो लब्धि के सतप्त परमाणुओं को निस्तेज कर दिया।
इस तरह गोशालक की रक्षा हो गई। कुछ लोगों का कहना है कि इसमे भगवान ने दो
गलतिया कीं— १-कुपात्र गोशालक को वचाया जिसने सदा भगवान को परेशान किया
और २-लब्धि फोडकर पाप एवं प्रमाद का सेवन किया। आगम मे कहा है कि वैक्रिय
लब्धि फोडने वाले साधक को ५ क्रियाए लगती हैं। इसी तरह तेजो लब्धि का प्रयोग करने
वाले को भी ५ क्रियाओं का दोष लगता है और भगवान ने भी शीतल लेश्या–तेजो लब्धि
के ही दूसरे रूप का प्रयोग किया था❀। इसलिए उस समय उन्हें भी ५ क्रियाए लगीं।
अत फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान ने साधना काल में प्रमाद का सेवन
नहीं किया?

आचाराङ्ग का यह कथन कि भगवान ने साढे वारह वर्ष और १५ दिन तक
अप्रमत्त भाव से साधना की, भगवान महावीर के सर्वज्ञ होने के वाद का है और सर्वज्ञ
पुरुष कभी भी किसी वात को छिपाते नहीं, घटा-बढाकर या गलत रूप में कहते नहीं।
वे अपने द्वारा किए गए दोष का भी उसी रूप मे उल्लेख कर देते हैं, उनकी वाणी मे
अन्यथा वात नहीं होती। इसलिए हम कह सकते हैं कि भगवान ने साधना काल मे
प्रमाद का सेवन नहीं किया।

भगवान महावीर ने जिस समय गोशालक को वचाया उस समय वे छद्मस्थ
तो थे, परन्तु, हम जैसे अल्पज्ञ नहीं थे। उस समय केवल ज्ञान के अतिरिक्त शेष
४ ज्ञान से युक्त थे और कल्पातीत थे। इसलिए उनके लिए कोई कल्प या मर्यादा

❀ भ्रमविध्वसन पृष्ठ

नहीं थी । वे अपने विशिष्ट ज्ञान में जैसा उपयुक्त देखते वैसा करते थे। अत उनकी साधना की हम आलोचना करने की योग्यता नहीं रखते । क्योंकि उनमें चार ज्ञान थे और हमारे में दो ज्ञान हैं वह भी विशुद्ध एवं पूर्ण नहीं हैं। इस लिए उनकी साधना के लिए जिनका उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञ होने के बाद किया है कुछ कहना अपनी अज्ञानता को ही प्रकट करना है।

साधना का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व के अस्तित्व का पता पांच कारणों से चलता है—१-सम, -संवेग, ३ निर्वेद ४ अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य। इनमें अनुकम्पा को सम्यक्त्व का चौथा लक्षण बताया है। उसके अभाव में सम्यक्त्व का ही अस्तित्व नहीं रह पाता तो श्रावकत्व एवं साधुत्व की साधना कैसे रह सकती है। ऐसी स्थिति में भगवान द्वारा की गई गोशालक की रक्षा को दोष युक्त कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान ने किसी स्वार्थवश गोशालक का संरक्षण नहीं किया अपितु अनुकम्पा एवं दया भाव से उन्होंने उसे बचाया और जब साधक के जीवन में अनुकम्पा का सागर लहराता है, उस समय वह व्यक्ति के मुख को नहीं देखता कि वह बचने वाला मेरा मित्र है या शत्रु है कपूत है या सपूत है ये सारे प्रश्न स्वार्थी जीवन में उठते हैं साधक के लिए सपूत—कपूत शत्रु-मित्र सब समान होते हैं और भगवान महावीर जैसे महान साधक के हृदय में भेद की रेखा को अवकाश ही नहीं था। अत उनकी अनुकम्पा एवं दया युक्त भावना को सदोष बताना साधना के स्वरूप को नहीं जानना है।

वैक्रिय लब्धि एवं तेजोलब्धि का प्रयोग करने में आरम्भ-समारम्भ होता है। वैक्रिय लब्धि करते समय अनेक पुद्गलों को ग्रहण करने में सूक्ष्म हिंसा हो सकती है एवं मन में अहंकार आदि विकार भी जाग सकता है और तेजोलब्धि से तो प्रत्यक्ष रूप से प्राणियों को परिताप होता ही है। जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग किया जाता है, वह व्यक्ति जलकर भस्म भी हो जाता है और उस व्यक्ति तक पहुंचने में पथ में अनेक निरपराध स्थावर एवं त्रस जीवों की भी हिंसा होती है, अत उसमें ५ क्रियाओं का लगना स्पष्ट है। परन्तु शीतल लब्धि तेजोलब्धि से भिन्न है। यह ठीक है कि यह तेजोलब्धि का ही एक रूप है, परन्तु इतना मात्र होने से वह सदोष नहीं कही जा सकती। जैसे हिंसा दया एवं अहिंसा का ही एकरूप है अहिंसा हिंसा का दूसरा बाजू है या यों कहिए हिंसा अहिंसा का विपरीत रूप है। परन्तु, इतने मात्र से दोनों समान नहीं हो जाती है। हिंसा की तरह अहिंसा को हम सदोष नहीं कह सकते। हिंसा में दूसरे को परिताप देने की एवं नुकसान पहुंचाने की भावना होने से वह सदोष है पापमय है। परन्तु अहिंसा में दूसरे की रक्षा करने की भावना रहती है, पर प्राणी को शान्ति पहुंचाने की

प्रवृत्ति रहती है। और यह सूर्य के उजेले की तरह स्पष्ट है कि परिताप, संताप देने एवं उन्हें दूर करके शान्ति-सुख पहुंचाने का प्रयत्न एक समान नहीं हो सकता।

यही बात तेजोलब्धि और शीतललब्धि के सम्बन्ध में है। तेजोलब्धि का प्रयोग क्रोध एवं आवेश के क्षण में होता है और क्रोध एवं आवेश के समय मनुष्य का मन संतप्त एवं दग्ध रहता है, इसलिए तेजोलब्धि के परमाणु भी तप्त एवं प्रज्वलित निकलते हैं और वे जिस व्यक्ति पर पड़ते हैं उसे संतप्त करते हैं, जलाकर भस्म कर देते हैं। परन्तु शीतल लेश्या शान्ति के क्षणों में प्रसारित की जाती है। उस समय साधक का मन दया, करुणा, क्षमा एवं शान्ति से आप्लावित होता है। उसके जीवन के कण-कण में प्रेम स्नेह, वात्सल्य एवं विश्व बन्धुत्व की निर्मल भावना का प्रवाह प्रवहमान रहता है। इसलिए उसके जीवन से निकलने वाले परमाणु इतने शान्त एवं शीतल होते हैं कि जिस व्यक्ति पर वे गिरते हैं उसे ताप-संताप से बचा लेते हैं। इसी अन्तर के कारण तेजोलब्धि को सदोष माना है और शीतल लब्धि को निर्दोष। क्योंकि शीतल लब्धि का प्रयोग करने वाले के लिए कहीं भी आलोचना करने का उल्लेख नहीं है। और इससे किसी प्राणी का अहित नहीं होता इसलिए इसके प्रयोग में ५ क्रियाएं नहीं लगतीं।

यह ठीक है कि इसका लब्धि के रूप में उल्लेख किया गया है, परन्तु, इसका प्रयोग वैक्रिय, तेजस आदि लब्धियों की तरह नहीं होता है। इसलिए यह कहना भी गलत है कि छद्मस्थ अवस्था में लब्धि फोड़ते हुए साधक दोष का सेवन करता है। जैसे अन्य लब्धियों का प्रयोग किया जाता है, उस तरह इसका प्रयोग नहीं किया जाता। आगमों में बताया गया है कि तीर्थंकर भगवान जहां विचरते हैं उसके आस-पास लगभग २०० माईल तक प्रायः अशान्ति एवं उपद्रव नहीं रहता। यह उनकी अनन्त शान्ति या शीतलता के परमाणुओं का ही प्रभाव है। सर्वज्ञ होने के बाद उनमें अनन्त-अनन्त शान्ति प्रकट हो जाती है और उनके जीवन में निकलने वाले शान्त परमाणु बहुत दूर तक प्रदेश में फैले हुए अशान्त परमाणुओं को शान्त कर देते हैं। फिर भी उनकी साधना सदोष नहीं मानी जाती। क्योंकि शीतलता एवं शान्ति आत्मा की विशुद्ध शक्ति है, न कि तेजोलब्धि की तरह आत्मगुणों से भिन्न शक्ति है। शीतलता आत्मा का गुण है और उष्णता आत्मा का विकार है। इसलिए दोनों को समान बताकर सदोष कहना बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करना है।

यह भी कहा जाता है कि जब आग को पानी से बुझाते हैं तो उसमें दोष लगता है। तो यहां भगवान की शीतल लब्धि के प्रयोग से बाल तपस्वी द्वारा छोड़ी गई

नहीं थी। वे अपने विशिष्ट ज्ञान में जैसा उपयुक्त देखते वैसा करते थे। अतः उनकी साधना की हम आलोचना करने की योग्यता नहीं रखते। क्योंकि उनमें चार ज्ञान थे और हमारे में दो ज्ञान हैं, वह भी विशुद्ध एवं पूर्ण नहीं है। इस लिए उनकी साधना के लिए जिसका उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञ होने के बाद किया है कुछ कहना अपनी अज्ञानता को ही प्रकट करना है।

साधना का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व के अस्तित्व का पता पांच कारणों से चलता है—१-सम, २-संवेग ३-निर्वेद ४ अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य। इनमें अनुकम्पा को सम्यक्त्व का चौथा लक्षण बताया है। उसके अभाव में सम्यक्त्व का ही अस्तित्व नहीं रह पाता तो श्रावकत्व एवं साधुत्व की साधना कैसे रह सकती है। ऐसी स्थिति में भगवान द्वारा की गई गोशालक की रक्षा को दोष युक्त कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान ने किसी रागवश गोशालक का संरक्षण नहीं किया अपितु अनुकम्पा एवं दया भाव से उन्होंने उसे बचाया और जब साधक के जीवन में अनुकम्पा का सागर लहराता है, उस समय वह व्यक्ति के मुख का नहीं देखता कि वह बचने वाला मेरा मित्र है या शत्रु है कपूत है या सपूत है ये सारे प्रश्न स्वार्थी जीवन में उठते हैं साधक के लिए सपूत–कपूत शत्रु-मित्र सब समान होते हैं और भगवान महावीर जैसे महान साधक के हृदय में वैर की रेखा को अवकाश ही नहीं था। अतः उनकी अनुकम्पा एवं दया युक्त भावना को सदोष बताना साधना के स्वरूप को नहीं जानना है।

वैक्रिय लब्धि एवं तेजोलब्धि का प्रयोग करने में आरम्भ-समारम्भ होता है। वैक्रिय लब्धि करते समय अनेक पुद्गलों को ग्रहण करने में सूक्ष्म हिंसा हो सकती है एवं मन में अहंकार आदि विकार भी जाग सकता है और तेजोलब्धि से तो प्रत्यक्ष रूप से प्राणियों को परिताप होता ही है। जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग किया जाता है, वह व्यक्ति जलकर भस्म भी हो जाता है और उस व्यक्ति तक पहुंचने में पथ में अनेक निरपराध स्थावर एवं त्रस जीवों की भी हिंसा होती है, अतः इसमें ५ क्रियाओं का लगना स्पष्ट है। परन्तु शीतल लब्धि तेजोलब्धि से भिन्न है। यह ठीक है कि यह तेजोलब्धि का ही एक रूप है, परन्तु इतना मात्र होने से वह सदोष नहीं कही जा सकती। जैसे हिंसा दया एवं अहिंसा का ही एकरूप है अहिंसा हिंसा का दूसरा पासू है या यों कहिए हिंसा अहिंसा का विपरीत रूप है। परन्तु, इतने मात्र से दोनों समान नहीं हो जाती है। हिंसा की तरह अहिंसा को हम सदोष नहीं कह सकते। हिंसा में दूसरे को परिताप देने की एवं नुकसान पहुंचाने की भावना होने से वह सदोष है, पापमय है। परन्तु अहिंसा में दूसरे को रक्षा करने की भावना रहती है, पर प्राणी को शान्ति पहुंचाने की

वृत्ति रहती है। और यह सूर्य के उजेले की तरह स्पष्ट है कि परिताप, संताप देने एवं उन्हें दूर करके शान्ति-सुख पहुचाने का प्रयत्न एक समान नहीं हो सकता।

यही बात तेजोलब्धि और शीतललब्धि के सम्बन्ध मे है। तेजोलब्धि का प्रयोग क्रोध एवं आवेश के क्षण में होता है और क्रोध एव आवेश क समय मनुष्य का मन सतप्त एवं दग्ध रहता है, इसलिए तेजोलब्धि के परमाणु भी तप्त एवं प्रज्वलित निकलते हैं और वे जिस व्यक्ति पर पड़ते हैं उसे सतप्त करते हैं, जलाकर भस्म कर देते हैं। परन्तु शीतल लेश्या शान्ति के क्षणों मे प्रसारित की जाती है। उस समय साधक का मन दया, करुणा, क्षमा एव शान्ति से आप्लावित होता है। उसके जीवन के कण-कण में प्रेम-स्नेह, वात्सल्य एव विश्व बन्धुत्व की निर्मल भावना का प्रवाह प्रवहमान रहता है। इसलिए उसके जीवन से निकलने वाले परमाणु इतने शान्त एवं शीतल होते हैं कि जिस व्यक्ति पर वे गिरते हैं उसे ताप-सताप से बचा लेते हैं। इसी अन्तर के कारण तेजोलब्धि को सदोष माना है और शीतल लब्धि को निर्दोष। क्योंकि शीतल लब्धि का प्रयोग करने वाले के लिए कहीं भी आलोचना करने का उल्लेख नहीं है। और इससे किसी प्राणी का अहित नहीं होता इसलिए इसके प्रयोग मे ५ क्रियाएं नहीं लगतीं।

यह ठीक है कि इसका लब्धि के रूप मे उल्लेख किया गया है, परन्तु, इसका प्रयोग वैक्रिय, तेजस आदि लब्धियों की तरह नहीं होता है। इसलिए यह कहना भी गलत है कि छद्मस्थ अवस्था में लब्धि फोड़ते हुए साधक दोष का सेवन करता है। जैसे अन्य लब्धियों का प्रयोग किया जाता है, उस तरह इसका प्रयोग नहीं किया जाता। आगमों में बताया गया है कि तीर्थंकर भगवान जहां विचरते है उसके आस-पास लगभग २०० माईल तक प्राय अशान्ति एवं उपद्रव नहीं रहता। यह उनकी अनन्त शान्ति या शीतलता के परमाणुओं का ही प्रभाव है। सर्वज्ञ होने के बाद उनमे अनन्त-अनन्त शान्ति प्रकट हो जाती है और उनके जीवन में निकलने वाले शान्त परमाणु बहुत दूर तक प्रदेश मे फैले हुए अशान्त परमाणुओं को शान्त कर देते हैं। फिर भी उनकी साधना सदोष नहीं मानी जाती। क्योंकि शीतलता एव शान्ति आत्मा की विशुद्ध शक्ति है, न कि तेजोलब्धि की तरह आत्मगुणों से भिन्न शक्ति है। शीतलता आत्मा का गुण है और उष्णता आत्मा का विकार है। इसलिए दोनों को समान बताकर सदोष कहना बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करना है।

यह भी कहा जाता है कि जब आग को पानी से बुझाते है तो उसमे दोष लगता है। तो यहां भगवान की शीतल लब्धि के प्रयोग से बाल तपस्वी द्वारा छोड़ी गई

तेजोलब्धि आग में ही प्रविष्ट-नष्ट कर दी गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस आग को नष्ट करना भी तो दोष युक्त है? आग और तेजोलब्धि एक नहीं है; इसलिए यहां आग पानी का उदाहरण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। किसी वस्तु में जलाने की शक्ति होने मात्र से वह वस्तु सजीव नहीं मानी जा सकती। सूर्य की प्रखर किरणों को उपयुक्त शीशे पर केन्द्रित कर लिया जाए और उसके नीचे घास या रूई रख दी जाए तो वह तुरन्त जल जाएगी। इसी तरह राजस्थान के रेगिस्तान में ग्रीष्म ऋतु के दोपहर में नङ्गे पैर चला जाए तो पैरों में फफोले चमक उठेंगे। परन्तु इतने मात्र से सूर्य की किरणां एवं उनसे तप्त रजकणों को— जो जलाने की भी शक्ति रखते हैं, सजीव नहीं कह सकते। इसी तरह तेजोलब्धि भी जलाने की शक्ति रखते हुए भी सजीव नहीं है। आगम में तेजोलब्धि के पुद्गलों को अजीव कहा है। इसलिए उनके प्रविष्ट होने में किसी तरह की हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि यहां प्रविष्ट शब्द उस ताप को शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि किसी प्राणी को नाश करने के अर्थ में। अतः इस शब्द को लेकर उसके प्रयोग को सदोष कहना समझ का अभाव है।

इतनी लम्बी विचार-चर्चा के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचे कि भगवान ने साधना काल में कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। वे सदा धर्म एवं शुक्ल ध्यान में ही संलग्न रहे। और यह वर्णन किसी गणधर या आचार्य द्वारा नहीं किया गया है, प्रत्युत स्वयं भगवान ने इसका उल्लेख किया है*।

भगवान की अप्रमत्त साधना का और उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावेइ य अप्पाणं ईसिं साईय अपडिन्ने ।५।

छाया—निद्रामपि न प्रकामतः सेवते भगवान् उत्थाय।
जागरयति च आत्मानं ईषच्छायी च अप्रतिज्ञः ॥

पदार्थ—निद्दंपि—भगवान निद्रा का भी। नोपगामाए सेवइ—सेवन नहीं करते। यदि कभी निद्रा आने लगती तो। भगवं—भगवान। उट्ठाए—उठकर। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। जग्गावेइ—जागृत करते। ईसिंसाईय—थोड़ी सी निद्रा आने लगी कि अपनी आत्मा को

* इस बात का प्रथम अध्ययन के प्रारंभ में प्रतिज्ञा सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं।

अप्रमत भाव में लाकर उसको उठाते, और । अपडिन्ने—निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर निद्रा का सेवन ' ही करते थे । यदि कभी उन्हे निद्रा आती भी तो वे सावधान होकर आत्मा को जगाने का यत्न करते । वे निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली । क्योंकि यह भी प्रमाद का एक रूप है । इसलिए भगवान सदा इससे दूर रहने का प्रयत्न करते थे । निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है । उस कर्म का क्षय होने के बाद निद्रा नहीं आती और भगवान इस कर्म को क्षय करने के लिए प्रयत्नशील थे । अत जब भी निद्रा आने लगती थी तब वे सावधान होकर जागृत होने का प्रयत्न करते । इस से स्पष्ट है कि उन्होंने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नहीं किया और कभी आने भी लगी तब भी वे उसमें जागृत ही रहे । द्रव्य से भले ही क्षण भर के लिए निद्रित हो गए हों परन्तु, भाव से वे सदा जागते रहे । क्योंकि ऐसा वर्णन आता है कि एक बार भगवान को क्षण मात्र के लिए झपकी-निद्रा आ गई थी और उसमें उन्होंने १० स्वप्न देखे थे॥ । परन्तु, उन्होंने निद्रा लेने का कभी प्रयत्न नहीं किया तथा द्रव्य निद्रा लेने की उनकी भावना न होने से इसे अनिद्रा ही कहा गया है । क्योंकि इस तरह आने वाली झपकी को भी वे सदा दूर करने का प्रयत्न करते रहे थे ।

वे निद्रा को कैसे दूर करते थे, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संबुज्झमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए ।
निक्खम एगया राओ बहि चंकमिया मुहुत्तगं ।६।

छाया—संबुध्यमान पुनरपि, अवगच्छन् भगवान् उत्थाय ।
निष्क्रम्य एकदा रात्रौ, बहिश्चक्रम्य मुहूर्तकम् ॥

पदार्थ—पुणरवि—फिर भी । संबुज्झमाणे भगव—निद्रा को प्रमाद रूप जानने वाले भगवान महावीर । उट्ठाए—सयमानुष्ठान में व्यवस्थित होकर । आसिंसु—अप्रमत भाव से विचरण करते थे । सावधानी रखते हुए भी यदि कभी झपकी आने लगती तो । एगया—कभी

॥ भगवती सूत्र

सर्दी की। राओ—रात में। बहि—बाहर निकल कर। मुहुत्तगं चंकमिया—मुहूर्त मात्र चंक्रमण करके पुनः ध्यान एवं आत्मचिन्तन में संलग्न हो जाते थे।

मूलार्थ—निद्रा रूप प्रमाद को संसार का कारण जानकर भगवान सदा अप्रमत्त भाव से संयम साधना में संलग्न रहते थे। यदि कभी शीत काल में निद्रा आने लगती तो भगवान मुहूर्त मात्र के लिए बाहर निकल कर चंक्रमण करने लगते। वे थोड़ी देर घूम फिर कर पुनः ध्यान एवं आत्म चिन्तन में संलग्न हो जाते।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि भगवान महावीर सदा प्रमाद से दूर रहे हैं। उन्होंने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है और दर्शनावरणीय कर्म संसार परिभ्रमण का कारण है। यह अनन्त दर्शन शक्ति को आवृत्त किए हुए है। अतः भगवान इसे नष्ट करने के लिए उद्यत हो गए। निद्रा आने के मुख्य कारण हैं—अति भोग विलास और अति आहार। भगवान ने भोगों का सर्वथा त्याग कर दिया था और आहार भी वे स्वल्प ही करते थे। उनके अधिक से दिन तो तपस्या में बीतते थे पारणे के दिन भी वे रूक्ष एवं स्वल्प आहार ही स्वीकार करते थे। इससे उनकी अप्रमत्त साधना में तेजस्विता बढ़ती गई। फिर भी यदि कभी उन्हें निद्रा आने लगती तो वे खड़े होकर उसे दूर करते थे यदि सर्दी के दिनों में गुफा में या किसी मकान में स्थित रहते हुए निद्रा आने लगती तो वे बाहर खुले में आकर थोड़ी देर चंक्रमण करने-टहलने लगते। इस तरह भगवान सदा द्रव्य एवं भाव से जागृत रहे। द्रव्य से उन्होंने कभी निद्रा का सेवन नहीं किया और भाव से सदा रत्नत्रय की साधना में संलग्न रहे।

भगवान की विहार चर्या में उत्पन्न होने वाले कष्टों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सयणेहिं तस्सुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति।७।

अदु कुचरा उवचरंति गामरक्खा य सत्ति हत्थाय।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगइ या पुरिसा य।८।

छाया—शयनेषु तत्रोपसर्गा भीमा आसन् अनेक रूपाश्च।
ससर्पकाश्च ये प्राणाः* अथवा ये पक्षिणः उपचरन्ति ॥

अथकुचरा उपचरंति, ग्रामरक्षकाश्च शक्तिहस्ताश्च।
अथ ग्रामिका उपसर्गाः स्त्रिय एकाकिनः पुरुषाश्च ॥

पदार्थ—तत्थ सयणेहिं—भगवान को उन वस्तियो में। जे—जो। संसप्पगा—सर्पादि। पाणा—प्राणियो से युक्त हैं। य—और। अदुवा—अथवा। पक्खिणो—गृधादि पक्षी हैं। य—पुनः। उवचरंति—भगवान के निकट मासादि का भक्षण करते हैं, वहा उन्हें। अणेगरूवा—अनेक तरह के। भीमा—भयंकर उपसर्ग। आसी—हुए।

एगया—एकाकी विचरण करने वाले भगवान का। कुचरा—चोरादि। उवचरति—आकर कष्ट देते थे। य—पुन। अदुवा—अथवा। सत्तिहत्था—सशस्त्र। गामरक्खा—ग्राम रक्षक-कोतवाल। अदु—अथवा। गामिया इत्थी—विषय-वासना से उन्मत्त हुई स्त्रियें। य—तथा। पुरिसा—पुरुष उन्हें। उवसग्गा—उपसर्ग-कष्ट देते थे।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानो मे जहा सर्पादि विषैले जन्तु एव गृधादि मासाहारी पक्षी रहते थे, उन्होने भगवान महावीर को अनेक कष्ट दिए।

इसके अतिरिक्त चोर, सशस्त्र कोतवाल, व्यभिचारी व्यक्ति, विषयोन्मत्त स्त्रियों एव दुष्ट पुरुषो के द्वारा भी एकाकी विचरण करने वाले भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग प्राप्त हुए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथाओं में बताया गया है कि भगवान महावीर को साधना काल में अनेक कष्ट उत्पन्न हुए। भगवान महावीर प्रायः शून्य मकानों, जङ्गलों एव श्मशानों में विचरते रहे हैं। शून्य घरों में सर्प, नेवले आदि हिंस्र जन्तुओं का निवास रहता ही है। अतः वे भगवान को डंक मारते, काटते और इसी तरह श्मशानों में गृधादि पक्षी उन पर चोंच मारते थे। इसके अतिरिक्त चोर-डाकू एवं धर्म-द्वेषी व्यक्तियों तथा व्यभिचारी पुरुषों एव भगवान के सौंदर्य पर मुग्ध हुई कामातुर स्त्रियों ने भगवान को अनेक तरह के कष्ट दिए। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए।

साधना मे स्थित साधक अपने शरीर एव शरीर सवन्धी सुख दुख को भूल जाता है। ध्यानस्थ अवस्था में उसका चिन्तन आत्मा की ओर लगा रहता है, अत शुद्ध

जन्तुओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट को वह अनुभव नहीं करता। साधक के लिए बताया गया है कि ध्यान के समय यदि कोई जन्तु काट खाए तो उसे उस समय अपनी साधना से विचलित नहीं होना चाहिए। साधक को उत्पन्न होने वाले कष्ट को पूर्व अशुभ कर्म का कारण या निमित्त समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे केवल शरीर को कष्ट पहुंचता है और यदि कोई शरीर का ही विनाश करने लगे तब भी यही सोचना चाहिए कि ये मेरे शरीर का नाश कर रहे हैं, परन्तु मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकते। मेरी आत्मा शरीर से भिन्न है, अविनाशी है उसका नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। इस तरह आत्मा का चिन्तन करते हुए भगवान सभी कष्टों को समभाव पूर्वक सहते हुए कर्मों का नाश करने लगे।

हिंस पशु-पक्षी एवं अधार्मिक व्यक्ति भी एकान्त स्थान पाकर उन्हें कष्ट पहुंचाते और कुछ कामुक स्त्रियें भी एकान्त स्थान पाकर उनसे विषय पूर्ति की याचना करतीं। भगवान के द्वारा उनकी प्रार्थना के स्वीकार न करने पर वे उन्हें विभिन्न तरह के कष्ट देतीं। इस तरह उन पर अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल कष्ट आए। ऐसे घोर कष्टों का सहन करना साधारण व्यक्ति के सामर्थ्य से बाहर है। प्रतिकूल उपसर्गों की अपेक्षा अनुकूल उपसर्गों को सहन करना अत्यधिक कठिन है। साधारण साधक उनसे घबरा कर भाग खड़ा होता है। परन्तु भगवान महावीर समभाव से उन सब कष्टों पर विजय पाते रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणगरूवाइं।
अवि सुब्भिदुब्भि गन्धाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ।८।

छाया—ऐह लौकिकान् पारलौकिकान् भीमान् अनेकरूपान्।
अपि सुरभिदुरभि गन्धान्, शब्दान् अनेकरूपान् ॥

पदार्थ—इहलोइयाइं—भगवान इस लोक के—मनुष्य एवं तिर्यंच द्वारा दिए जाने वाले एवं। परलोइयाइं—देवों द्वारा दिए जाने वाले उपसर्गों को सहन करते थे घोर। अपि संभावनार्थक है। सुब्भिं दुब्भि गंधाइं—सुवासित एवं दुर्वासित अथवा सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों को सूंघकर तथा। अणेग रूवाइं सद्दाइं—अनेक प्रकार के कटु एवं मधुर शब्दों को सुन कर भगवान हर्ष एवं शोक नहीं करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर देव मनुष्य एवं पशु-पक्षियों द्वारा दिए गए उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे और सुगन्धित एवं दुर्गन्धित

पदार्थों से आने वाली सुगन्ध एव दुर्गन्ध तथा कटु एवं मधुर शब्द सुनकर उन पर हर्ष एव शोक नही करते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर ने साधना काल में सबसे अधिक कष्ट सहन किए। कहा जाता है कि २३ तीर्थंकरों के कर्म और भगवान महावीर के कर्म बराबर थे। इन्हें नष्ट करने के लिए भगवान साधना पथ पर चल पड़े। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से परीषहों की बिजलियां कड़कड़ाने लगीं। उनके उपसर्गों का प्रारम्भ एक ग्वाले की अज्ञानता से हुआ और अत भी ग्वाले के हाथ से हुआ। पहला और अन्तिम कष्ट-प्रदाता ग्वाला था। बीच मे अनार्य देश मे मनुष्यों एव देवों के द्वारा भी भगवान को अनेक कष्ट दिए गए। ६ महीने के लगभग सगम देव ने भगवान को निरन्तर कष्ट दिया। एक रात्रि मे उसने भगवान को २० तरह के कष्ट दिये। फिर भी भगवान अपनी साधना मे मेरु पर्वत की तरह स्थिर रहे। भगवान का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर था, अत वह दु खों की महा आग से भी पिघला नहीं और मक्खन से भी अधिक सुकोमल था, अत वह पर दु ख को नहीं सह सका, कहा जाता है कि सगम के कष्टों से भगवान बिल्कुल विचलित नहीं हुए। परन्तु जब वह जाने लगा तो भगवान के नेत्रों से भी आंसू के दो बून्द ढुलक पडे। सगम के बढ़ते हुए कदम रुक गए और उसने भगवान से पूछा कि मैं जब आपको कष्ट दे रहा था तब आपके मन में दु ख का सवेदन नहीं देखा। अब तो मैं जा रहा हू, न तो आपको कष्ट दे रहा हूं और न भविष्य में ही दू गा, फिर आप के नेत्रों मे पानी की बून्दें क्यों? भगवान ने कहा— हे सगम! मुझे कष्टों का बिल्कुल दु:ख नहीं है। मुझे अनेक देव एव मनुष्यों ने कष्ट दिए और उनसे मैं कभी नहीं घबराया परन्तु, जितने भी व्यक्ति मुझे कष्ट देने आए थे, वे अपने अपराधों को समझकर उनकी क्षमा याचना करके और अपने हृदय मे सम्यग् ज्ञान की ज्योति जगा कर गए। परन्तु, तुम अपने दुष्ट कार्यों का बिना पश्चाताप किए और अपराध की क्षमा याचना किए बिना ही जा रहे हो। अभी तो तुम्हें ज्ञान नहीं है कि इसका परिणाम क्या आने वाला है, परन्तु, जब तुम्हें इन कर्मों का फल भोगना पडेगा तब तुम्हारी क्या स्थिति होगी, तुम्हारी उस अनागत काल की स्थिति को देखकर मेरा मन दया से भर गया है। यह है भगवान महावीर की साधना, जो घोर कष्टों मे भी मुस्कराते हुए साधना के पथ पर बढते रहे। न ग्वाले के प्रहार से घबराए, न चडकौशिक जैसे महाविषधर से डरे और न सगम जैसे देवों के द्वारा प्रदत्त घोर कष्टों से विचलित हुए। वे सदा दु खों की सतप्त दुपहरियों मे मुस्कराते हुए साधना पथ पर बढते रहे।

उनकी कष्ट सहिष्णुता के विषय मे सूत्रकार बताते हैं —

मूलम्—अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाइ ।१०।

छाया — अध्यासयति सदा समितः, स्पर्शान् विरूपरूपान् ।
अरतिंरतिं अभिभूयते माहन अबहुवादी ॥

पदार्थ — विरूवरूवाइं — भगवान महावीर नाना प्रकार के । फासाइं — दुःख रूप स्पर्शों को । अहियासए — सहन कर थे । सयासमिए — वे सदा पांच समिति से युक्त रहते थे । अरइं — अरति और । रइं — रति को । अभिभूय — पराभूत करके । माहणे — भगवान महावीर । अबहुवाई — प्रमाण से बोलने वाले थे और । रीयइ — संयमानुष्ठान में स्थित रहते थे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर विविध परीषहों को सहन करते थे । वे सदा पांचों समिति से युक्त रहते थे । उन्होंने रति अरति पर विजय प्राप्त कर ली थी । इस प्रकार संयमानुष्ठान में स्थित भगवान महावीर बहुत कम बोलते थे ।

हिन्दी विवेचन

भगवान साधना काल में समिति गुप्ति से संपन्न थे । न उन्हें भोगों के प्रति अनुराग था और न संयम में अरति थी । ये दोनों महादोष साधक को साधना पथ से भ्रष्ट करने वाले हैं और भगवान ने इन दोनों का सर्वथा त्याग कर दिया था । वे साधना काल में अत्यन्त कम बोलते थे । आहार की याचना करते समय या किसी विहार में मार्ग पूछने के लिए या किसी विशेष परिस्थिति में— जैसे गोशालक द्वारा तिल के पौधे में कितने जीव या जीव हैं के प्रश्न का उत्तर देने तथा तेजोलब्धि के प्राप्त होने की विधि बताने के लिए ही उन्हें बोलना पड़ा था । इसके अतिरिक्त वे सदा मौन ही रहते थे और इस तरह साधना में संलग्न रहते हुए उन्होंने सब परीषहों पर विजय प्राप्त की ।

भगवान के ऊपर आए हुए उपसर्गों का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु एगचरा वि एगयाराओ ।
अव्वाहिए कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ।११।

छाया—स जनैस्तत्र (पृष्ठ) पप्रच्छुरेकचरा अपि एकदातो ।
अव्याहृत कषायिताः प्रेक्षमाणः समाधिमप्रतिज्ञः ।

पदार्थ—स भगवान महावीर। जणेहिं—लोगो के द्वारा। पुच्छिसु—यह पूछने पर कि तुम कौन हो ? यहा क्यो खडे हो, तथा। एगया—कभी। राओ—रात्री में। एगचर वि—अकेले घूमने वाले व्यभिचारी व्यक्तियो के उक्त प्रश्न पूछने पर भगवान। अव्वाहिए—उसका उत्तर नहीं देते, इस कारण वे। कसाइया—कोधित होकर उन्हे मारने लगते, फिर भी भगवान। समाहिं—समाधि मे। पेहमाणे—स्थित रहते। अपडिण्णे—परन्तु, उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नही रखते।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानो मे स्थित भगवान का राह चलते व्यक्ति एव दुराचार का सेवन करने के लिए एकान्त स्थान को खोज करने वाले व्यभिचारी व्यक्ति पूछते कि तुम कौन हो ? यहा क्यो खडे हो ? भगवान उनका कोई उत्तर नही देते। इससे वे क्रोधित होकर उन्हे मारने-पीटने लगते, फिर भगवान शान्त भाव से परीषहो को सहन करते। परन्तु, वे उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नही रखते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर साधना काल मे प्राय शून्य घरों में ठहरते और वहीं ध्यान मे संलग्न रहते। ऐसे स्थानों मे प्राय चोर या व्यभिचारी या जुआरी आदि व्यसनी लोग छुपा करते थे या छुपकर दुर्व्यसनों का सेवन किया करते थे। इसलिए कुछ लोग उन्हें चोर समझ कर मारते-पीटते एव अनेक तरह से कष्ट देते। कुछ दुर्व्यसनी एवं व्यभिचारी व्यक्ति वहां अपनी दुवृत्ति का पोषण करने पहुचते और वहा भगवान को खडे देखकर उन्हें पूछते- कि तुम कौन हो ? और यहा क्यों खड़े हो ? भगवान उसका कोई उत्तर नहीं देते। तब वे उन्हें 'अपने दुराचार के पोषण मे बाधक समझ कर आवेश मे आकर उन्हे अनेक तरह के कष्ट देते। इस तरह अनेक व्यक्ति भगवान को महान कष्ट देते थे। फिर भी वह महापुरुष सुमेरु पर्वत की तरह अपनी साधना में स्थित रहता। वचन और शरीर से तो क्या मन से भी वे कभी विचलित नहीं हुए।

इस तरह कष्ट देने वाले प्राणियों पर भी मैत्री भाव रखते हुए भगवान घोर कष्टों को समभाव से सहते रहे। और इस साधना से भगवान ने कर्म समूह का नाश कर दिया। अत कर्मों की निर्जरा के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने ऊपर आने वाले परीषहों को समभाव से सहन करे। साधक को सदा-सर्वदा ध्यान रखना

चाहिए कि वह साधना काल में जहां तक संभव हो सके मौन रहे, परीषहों के समय सहिष्णु रहे उस समय भी समाधि भाव में स्थित रहे और प्रतिशोध लेने की भावना न रखे।

मौन जीवन की बहुत बड़ी शक्ति है। बोलने से मनुष्य की शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिकों ने अन्वेषण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य जितना अधिक बोलता है, वह उतना ही जल्दी मरता है। क्योंकि उसकी शक्ति अधिक नष्ट होती है और शक्ति के क्षय होने का अर्थ है—मृत्यु को प्राप्त करना। जैनागमों में आयुष्य का नाप वर्षों महीनों दिनों घड़ियों एवं मिन्टों में नहीं अपितु श्वासोच्छ्वास में माना गया है। मनुष्य जितना तेज चलता है, जितना अधिक एवं जोर से बोलता है जितना ज्यादा श्रम करता है जितना ज्यादा भोग विलास एवं व्यसनों में संलग्न रहता है उसका सांस उतनी ही तीव्र गति से चलता है और वह अपनी संचित आयु कर्म की पूंजी को थोड़े समय में ही भोगकर आगे के लिए चल पड़ता है। और जो व्यक्ति चलने बैठने बोलने खाने-पीने एवं भोग भोगने में जितना अधिक संयम एवं विवेक रखता है वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है। क्योंकि उसके श्वासोच्छ्वास तेजी से नहीं चलते। इसलिए मौन रखना एवं स्वल्प धीमे और मधु स्वर मे बोलना जीवन को सम्भाल कर रखना है। अस्तु, वैज्ञानिक एवं आगमिक दृष्टि से अधिक बोलना अहितकर है और मौन रखना या मर्यादित बोलना हितप्रद है।

अधिक बोलने से मनुष्य की शक्ति का क्षय भी होता है और साथ में मानसिक चिन्तन भी बिखर जाता है। और मौन रखने से मनुष्य की वह शक्ति चिन्तन में लगी रहती है और उससे आत्मा का विकास होता है। इस लिए मौन आत्म विकास का सहायक है।

अधिक बोलने से व्यर्थ के झगड़े बढ़ते हैं और फिर मनुष्य किसी भी बात को सहन नहीं कर सकता। और साधक के लिए यह सबसे बड़ा दोष है। क्योंकि इससे सहिष्णुता का नाश होता है। इसलिए मौन सहिष्णुता को बढ़ाने वाला है। सहिष्णुता से संसार के संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और मन समाधि भाव में संलग्न हो जाता है। जिससे वैर-विरोध एवं प्रतिशोध की भावना का नाश हो जाता है। इस तरह शुद्ध भाव से रखा गया मौन सब गुणों में अभिवृद्धि करने वाला है। यह लोकोक्ति भी बिल्कुल सही है—सब काम सिद्ध करने के लिए एक नकार मंत्रो।' अर्थात मनुष्य किसी भी संघर्ष का उत्तर न देकर आत्म चिन्तन में या अपने दोष देखने में लगा रहे तो उसके समस्त कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। श्रमण भगवान महावीर भी साधना काल में

बहुत कम बोलते थे।

किसी भी व्यक्ति के द्वारा अधिक आग्रहपूर्वक पूछने पर भगवान ने क्या उत्तर दिया, इस सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयमंतरंसि को इत्थ ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए झाइ ।१२।

छाया—अयमन्तः कोऽत्र ? अहमस्मीति भिक्षुः आहृत्य।
अयमुत्तमः सधर्म, तूष्णीकः कषायितेऽपिध्यायति।

पदार्थ—अयमतरसि—इस स्थान मे यह। कोइत्थ ?—कौन है ? ऐसा पूछने पर भी भगवान मौन ही रहते जब कोई विशेष कारण उपस्थित होता तब वे केवल इतना कहते कि। अहमसित्ति भिक्खु—मैं भिक्षु हू। आहट्टु—यह सुनकर यदि वे कहते कि तुम यहा से चले जाओ तो भगवान उस जगह को अप्रीति का स्थान समझ कर वहा से चले जाते। और यदि वे जाने के लिए न कहकर केवल उन पर क्रोध करते तो भगवान मौन वृत्ति से वही पर स्थित रहते और उनके द्वारा दिये गये उपसर्ग को समभाव पूर्वक सहन करते। से—वे। अयमुत्तमे—धम्मे—यह समझ कर कि आत्म चिन्तन एव सहिष्णुता सर्व श्रेष्ठ धर्म है, अत वे। तुसिणीए—मौन रह कर। कसाइए—उनके क्रोधित होने पर भी। झाइ—ध्यान-आत्म चिन्तन से विचलित नही होते थे।

मूलार्थ—इस स्थान के भीतर कौन है ? इस प्रकार वहां पर आए हुए व्यभिचारी व्यक्तियो के पूछने पर भगवान मौन रहते। यदि कोई विशेष कारण उपस्थित होता तो वे इतना ही कहते कि मैं भिक्षु हू। इतना कहने से भी यदि वे उन्हे वहा से चले जाने को कहते तो भगवान उस स्थान को अप्रीति का कारण समझ कर वहा से अन्यत्र चले जाते। और यदि वे उन पर क्रोधित होकर उन्हे कष्ट देते तो भगवान समभाव पूर्वक उसे सहन करते और ध्यान रूप धर्म को सर्वोतम जानकर उन गृहस्थो के क्रोधित होने पर भी वे मौन रहते हुए अपने ध्यान से विचलित नहो होते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में पूर्व गाथा की बात को ही दुहराया गया है। कुछ दुर्मनती व्यक्तियों द्वारा पूछने पर कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो? भगवान मौन रहते। यदि वे अधिक आग्रहपूर्वक पूछते और उन्हें उत्तर देना आवश्यक होता तो भगवान इतना ही कहते कि— 'मैं भिक्षु हूं।' यदि इस पर भी वे सन्तुष्ट नहीं होते और भगवान को वहां से चले जाने के लिए कहते तो भगवान शांत भाव से चले जाते। और यदि व जाने के लिए नहीं कहते तो भगवान वहीं अपने ध्यान एवं चिन्तन में संलग्न रहते और उनके द्वारा दिए गए परीषहों को समभाव से सहते। साधक जिस स्थान में स्थित है यदि वह स्थान अप्रीति का कारण बनता है तो साधक का मकान मालिक के यह कहने पर कि तुम यहां से चले जाओ साधक को अन्य स्थान में चले जाना चाहिए। और यदि वह स्थान अप्रीति का कारण नहीं बनता है तो उसे वहीं अपनी साधना में संलग्न रहते हुए परीषहों को सहन करना चाहिए।

भगवान की शीतकाल की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— जसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते।

तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति।१३।

छाया—यस्मिनप्येके प्रवेपन्त (प्रवेदयन्ति) शिशिरे मारुते प्रवाति।

तस्मिनप्येके अनगारा हिमवाते निवातमेषयन्ति।

पदार्थ—सिसिरे—शीतकाल में। जं सिप्पेगे—जिस समय शीत पड़ता है तब कई एक व्यक्ति वस्त्रादि के अभाव के कारण। पवेयन्ति—कांपते रहते हैं, और। मारुए-पवायन्ते—हिम के पड़ने से शीतल वायु चलता है। तंसिप्पेगे—उसमें कई एक। अणगारा—साधु। हिमवाए—हिम वर्षा के गिरने पर। निवायमेसन्ति—हवा रहित स्थान की गवेषणा करते हैं।

मूलार्थ—जिस समय शीत पड़ता है तब कई एक साधु काम्पने लगते हैं। शिशिर काल में जब शीतल पवन चलता है उस समय कई एक अनगार हिम के पड़ने पर निर्वात वायु रहित स्थान की गवेषणा करते हैं।

मूलम्—संघाडिओ पविसिस्सामो एहा य समादहमाणा।
पिहिया व सक्खामो अइदुक्खं हिमग संफासा।१४।

छाया—संघाटीः प्रवेक्ष्यामः, एधांश्च समादहन्तः।
पिहिताः वा शक्ष्याम अतिदुःखं हिम संस्पर्शाः।

पदार्थ—हिमग संफासा – हिम का स्पर्श [illegible]। अइदुक्खं – अत्यन्त दुःख देने वाला है, तब कई साधु सोचते हैं कि। समादहमाणा – शीत निवारण के लिए [illegible] वस्त्र [illegible]। पविसिस्सामो – [illegible]। य – और। [illegible] – [illegible] के लिए काष्ठ ढूंढते हैं। पिहिया व सक्खामो – [illegible] धारण करते हैं।

मूलार्थ—शीत काल में जब ठंडी हवा चलती है एवं बर्फ गिरती है, उस समय सर्दी को सहन करना कठिन होता है। उस समय कई साधु यह सोचते हैं कि सर्दी से बचने के लिए वस्त्र पहनेंगे या बन्द मकान में ठहरेंगे कई अन्य मत के साधु-संन्यासी शीत निवारणार्थ अग्नि जलाने के लिए ईंधन खोजते हैं तथा कम्बल धारण करते हैं।

मूलम्—तंसि भगवं अपडिन्ने अहे विगडे अहीयासए।
दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए।१५।

छाया—तस्मिन् भगवान् अप्रतिज्ञः अधोविकटेऽध्यासयति।
द्राविकः निष्क्रम्य, एकदा रात्रौ स्थितो भगवान् समतया।

पदार्थ—भगवं – भगवान। तंसि। स शीतकाल में। अपडिन्ने – निर्वात वायु रहित स्थान की याचना रूप प्रतिज्ञा से रहित होकर। अहीयासए – शीत परीषह को समता पूर्वक सहन करते। अहे विगडे – चारों तरफ की दीवारों से रहित केवल ऊपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर। भगवं – भगवान। एगया – कभी। राओ – रात्री में। निक्खम्म – बाहर निकल कर। ठाइए – वहां मुहूर्त मात्र ठहर कर। समियाए – फिर निवास स्थान में आकर। समभाव से शीत परीषह को सहन करते और। दविए – संयम साधना में संलग्न रहते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर शीतकाल में वायु रहित चारों तरफ से बन्द मकान में ठहरने की प्रतिज्ञा से रहित हो विचरते थे। वे चारों ओर दीवारों से रहित केवल ऊपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर एवं सर्दी में बाहर आकर शीत परीषह को समभाव पूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत तीन गाथाओं में शीत परीषह का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि जब हेमन्त ऋतु का पदार्पण होता है सर्दी पड़ने लगती है उस समय सब लोग कांपने लगते हैं। जब शीत काल की ठण्डी हवा चलने लगती है तो सब लोग घबरा कर गर्म स्थानों में स्थित होने का प्रयत्न करते हैं। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या। साधु भी बर्फ पड़ने एवं ठण्डी तथा बर्फीली हवा के चलने पर निर्दोष अनुकूल स्थानों में चले जाते। उस समय पार्श्वनाथ भगवान के शासन में विचरने वाले मुनि थे। वे सर्दी की मौसम में अनुकूल स्थान ढूंढने का प्रयत्न करते थे। अन्य संप्रदायों या पंथ के साधु भी स्थानों की खोज में फिरते रहते थे।

कई एक साधु शीत से बचने के लिए वस्त्र-चादर कम्बल आदि रखते थे। कुछ अन्य मत के साधु अग्नि तापते थे। इस तरह वे शीत निवारण के लिए मकान, वस्त्र गर्म कम्बल एवं आग आदि का सहारा लेते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शीत परीषह को सहन करना कठिन है। कोई मुनि निर्दोष साधनों से यथाशक्य शीत से बचने के प्रयत्न करते हैं, तो जीवाजीव के ज्ञान से रहित अपने आप को साधु कहने वाले कुछ सन्यासी-तापस आदि सदोष-निर्दोष साधनों के विवेक से रहित होकर शीत से बचने का प्रयत्न करते हैं।

परन्तु ऐसे समय में भगवान महावीर शीत परीषह पर विजय प्राप्त करके अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे। हेमन्त काल में निर्वात चारों ओर से घिरे हुए मकान में नहीं ठहरते थे। और शीत निवारण के लिए अपने शरीर पर वस्त्र भी नहीं रखते थे दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान ने जो देव दूष्य वस्त्र स्वीकार किया था वह उनके पास १३ महीने तक रहा। परन्तु इस काल में उन्होंने उसे अपने शरीर पर धारण नहीं किया। उसके बाद तो उन्होंने वस्त्र स्वीकार ही नहीं किया। इस तरह भगवान सर्दी से बचने के लिए न तो आवृत्त मकान ही ढूंढते न वस्त्र धारण करते और न आग ही जलाते एवं तापते थे। भगवान महावीर तो क्या कोई भी जैन मुनि शीत निवारण के लिए अग्नि का आरम्भ नहीं करते हैं।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कन्तो माहणेण मइमया ।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयन्ति ।१६। त्तिबेमि

छाया—एष विधि अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता ।
बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते ।

पदार्थ—मइमया—मतिमान । माहणेण—श्रमण-भगवान महावीर ने । एस—इस । विहि—विधि का । अणुक्कन्तो—आचरण किया । अपडिण्णेण—अप्रतिबन्धविहारी होने के कारण । भगवया—भगवान ने । बहुसो अनेकबार इस विधि का पालन किया । एव—इसी प्रकार अन्य साधु भी । रीयन्ति—आत्मविकासार्थ इस विधि का आचरण करते हैं । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—परम मेधावी भगवान महावीर ने निदान रहित होकर अनेकबार इस विधि का परिपालन किया और अपनी आत्मा का विकास करने के लिए अन्य साधु भी इसका आचरण करते हैं । ऐसा मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक में बताई गई विधि का भगवान महावीर ने स्वय पालन किया था । प्रथम उद्देशक के अन्त में भी उक्त गाथा दी गई है । अत इसकी व्याख्या वहां की गई है । पाठक वहीं से देख लें ।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत समझें ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन–उपधान श्रुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में भगवान जिन बस्तियों में ठहरे थे उनका वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में उक्त स्थानों में भगवान को जो परीषह उत्पन्न हुए और भगवान ने जिस सहिष्णुता से उन्हें सहन किया उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य।
अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं ॥१॥

छाया—तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शांश्च तेजः स्पर्शांश्च दंशमशकांश्च।
अध्यासयति सदा समितः स्पर्शान् विरूपरूपान्।

पदार्थ—तणफासे—तृण स्पर्श। य—और। सीयफासे—शीत स्पर्श। य—और। तेउफासे—उष्ण स्पर्श। य—और। दंसमसगे—डांस-मच्छरादि के स्पर्श। य—और। विरूवरूवाइं—अन्य विविध प्रकार के। फासाइं—स्पर्शों को। सया—भगवान सदा। समिए—समित—समितियों से युक्त हो कर। अहियासए—सहन करते थे।

मूलार्थ—समिति-गुप्ति से युक्त श्रमण भगवान महावीर तृण स्पर्श, शीतस्पर्श उष्णस्पर्श दंशमशक स्पर्श और नाना प्रकार के स्पर्शों को, सदा समभाव पूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान को तृण स्पर्श, शीत स्पर्श आदि के परीषह उत्पन्न होते थे। भगवान ने दीक्षा लेते समय जो देवदूष्य वस्त्र ग्रहण किया था उसके अतिरिक्त अन्य वस्त्र नहीं लिया। वह वस्त्र भी १३ महीने तक रहा था। उसके रहते हुए भी भगवान उसे शरीर पर धारण नहीं करते थे। वे बैठने के लिए तृण के आसन का उपयोग करते थे। अतः वस्त्राभाव में तृण का चुभना स्वाभाविक है और उससे कष्ट का होना भी सहज ही समझ में आ जाता है। इसी तरह वस्त्र का उपयोग न करने के

कारण भगवान को सर्दी एवं गर्मी का कष्ट भी होता था और मच्छर आदि भी डंक मारते थे। इस तरह भगवान को ये परीषह उत्पन्न होते। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं होते थे। वे समस्त परीषहों को समभाव पूर्वक सहते हुए आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

इतना ही नहीं, अपितु भगवान ने अनेक बार परीषहों को आमत्रण भी दिया अर्थात् वे कभी भी कष्टों से घबराए नहीं। परीषह सहने के लिए ही भगवान ने लाट-अनार्य देश मे भी विहार किया। इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अह दुच्चर लाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥२॥

छाया—अथ दुश्चरलाढं,चीर्णवान् वज्रभूमिं च शुभ्रभूमिं च।
प्रान्ता शय्यां सेवितवान्, आमनानि चैव प्रान्तानि ॥

पदार्थ—अह—अथ भगवान। दुच्चर—दुश्चर दुर्गम्य। लाढ—लाट नामक देश में। अचारि—विचरे थे। वज्ज भूमिंच—उस देश की वज्र और। सुब्भभूमिंच—शुभ्र भूमि मे और। पंत सिज्जं सेविंसु—प्रान्त शैय्या का सेवन किया। च—और। एव—निश्चय अवधारणार्थ में। आसणगाणि पताणि—प्रान्त आसन का सेवन किया।

मूलार्थ—भगवान ने दुश्चर लाढदेश की वज्र और शुभ्रभूमि मे विहार किया और प्रान्तशय्या एव प्रान्त आसन का सेवन किया।

हिन्दी विवेचन

यह हम पहले देख चुके हैं कि भगवान महावीर के कर्म का बन्धन इस काल चक्र में हुए शेष सभी तीर्थंकरों से अधिक था। अत. उसे तोड़ने के लिए भगवान ने अनार्य देश में विहार किया। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ली उसी दिन एक ग्वाले ने भगवान पर चाबुक का प्रहार किया था। उस समय इंद्र ने आकर भगवान से प्रार्थना की थी कि प्रभो! साढ़े बारह वर्ष तक आपको देव-मनुष्यों द्वारा अनेक कष्ट मिलने वाले हैं, अत आपकी आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा मे रहूं। उस समय भगवान ने कहा— हे इन्द्र! जितने भी तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ हुए हैं वे स्वयं ही अपने कर्म काट कर हुए हैं। अत प्रत्येक आत्मा को अपने बांधे हुए कर्मों को तोड़ना होगा। दूसरे की सहायता से कर्मों को नहीं तोडा जा सकता है। तुम्हारे साथ रहने से तुम्हारे डंडे के भय से लोग मुझे कष्ट नहीं देंगे, इससे मेरी भावना में सहिष्णुता का वेग नहीं आ सकेगा और परिणाम स्वरूप कर्मों का

नवम अध्ययन—उपधान श्रुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में भगवान जिन बस्तियों में ठहरे थे उनका वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में उक्त स्थानों में भगवान को जो परीषह उत्पन्न हुए और भगवान ने जिस सहिष्णुता से उन्हें सहन किया उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य।
अहियासए सयासमिए, फासाइं विरूव रूवाइं॥१॥

छाया—तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शांश्च तेजः स्पर्शांश्च दंशमशकांश्च।
अध्यासयति सदासमितः स्पर्शान् विरूपरूपान्।

पदार्थ—तणफासे—तृण स्पर्श। य—और। सीयफासे—शीत स्पर्श। य—और। तेउफासे—उष्ण स्पर्श। य—और। दंसमसगे—डांस-मच्छरादि के स्पर्श। य—और। विरूवरूवाइं—अन्य विविध प्रकार के। फासाइं—स्पर्शों को। सया—भगवान सदा। समिए—समित—समितियों से युक्त हो कर। अहियासए—सहन करते थे।

मूलार्थ—समिति-गुप्ति से युक्त श्रमण भगवान महावीर तृण स्पर्श शीतस्पर्श उष्णस्पर्श दंशमशक स्पर्श और नाना प्रकार के स्पर्शों को, सदा समभाव पूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान को तृण स्पर्श शीत स्पर्श आदि के परीषह उत्पन्न होते थे। भगवान ने दीक्षा लेते समय जो देवदूष्य वस्त्र ग्रहण किया था उसके अतिरिक्त अन्य वस्त्र नहीं लिया। वह वस्त्र भी १३ महीने तक रहा था। उसके रहते हुए भी भगवान उसे शरीर पर धारण नहीं करते थे। वे बैठने के लिए तृण के आसन का उपयोग करते थे। अतः वस्त्राभाव में तृण का चुभना स्वाभाविक है और उससे कष्ट का होना भी सहज ही समझ में आ जाता है। इसी तरह वस्त्र का उपयोग न करने के

जहा तुच्छ भोजन एवं तुच्छ तृण, तख्त आदि का आसन मिलता था‡।

इन सबसे लाढ़ देश के व्यक्ति अनार्य प्रतीत होते हैं। उस देश में भगवान के विचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लाढ़ेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंहिंसु निवइंसु।३।

छाया—लाढेषु तस्योपसर्गाः बहवः जानपदाः लूपितवन्त।
अथ रुक्षदेश्यं भक्तं, कुर्कुराः तत्र जिहिंसु निपेतुः।

पदार्थ—लाढ़ेहिं—लाढ देश में। तस्सुवसग्गा—उस भगवान को अनेक उपसर्ग हुए। बहवे—बहुत से। जाणवया—लोग। लूसिंसु—उन्हें दान्त आदि से काटते थे। अह—अन्य। लूहदेसिए—रूक्ष। भंते—अन्न-पानी मिलता था और। तत्थ—उस देश मे उन्हें। कुक्कुरा—कुत्ते भी। हिंसिंसु—काटते थे और वे भगवान को। निवइंसु—काटने के लिए छोड़े जाते थे।

मूलार्थ—लाढ देश में श्री भगवान को बहुत से उपसर्ग हुए बहुत से लोगो ने उन्हें मारा-पीटा एव दान्तो तथा नखो से उनके शरीर को क्षत-विक्षत किया। उस देश मे भगवान ने रूक्ष अन्न-पानी का सेवन किया। वहां पर कुत्तो ने भगवान को काटा। कई कुत्ते क्रोध मे आकर भगवान को काटने के लिए दौड़ते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर जब लाढ़ देश मे पधारे तो वहा के लोगों ने उनके साथ क्रूरता का व्यवहार किया। उन्होंने भगवान को डण्डों से, पत्थरों से मारा, दान्तों से काटा और कुत्तों की तरह उन पर टूट पड़े। इस तरह वहा के निवासियों ने भगवान को अनेक कष्ट दिए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका जीवन कितना भयंकर था एव उनका कर्म कितना क्रूर था। इसी अपेक्षा से वहा के लोगों को अनार्य कहा है।

‡प्रान्तानि चासनानि पांशूत्करशर्करालोष्ट्वद्युपचितानि च काष्ठानि च दुर्घटितान्या-सेवितानि। —आचारांग वृत्ति।

निर्जरा भी रुक जाएगी। अतः तीर्थंकर कोई भी अर्हन्त अपने कर्मों को तोड़ने के लिए देव या देवेन्द्र या किसी अन्य शक्ति का सहारा नहीं लेते हैं। वे स्वयं अपनी शक्ति से अपने कर्मों का नाश करते हैं।

इस तरह अपने कर्मों का क्षय करने के लिए भगवान धर्म से अपरिचित लाढ़ देश (अनार्य भूमि) में चले गए। यह देश वज्र कठोर और रुक्ष भूमि वाला है। परन्तु अधिकांश भाग वज्रभूमि वाला ही है। वहां के लोगों का हृदय भी वज्र की तरह ही कठोर था। उस देश में भगवान को स्थान भी तुच्छ ही मिलता था और शय्या-तृण आदि भी तुच्छ ही मिलते थे।

पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद में साढ़े पच्चीस आर्य देशों के नाम गिनाए हैं। उन में लाढ़ देश का नाम नहीं होने से यह अनार्य देश ही प्रतीत होता है। इस देश के लिए दिया गया 'दुरचर' विशेषण और स्थान एवं शय्या के साथ दिया गया प्रान्त तुच्छ शब्द का प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है कि यह देश आर्य देश के निकट एक अनार्य देश था।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह देश श्वेतांबिका के निकट था। कल्प सूत्र की एक कथा में बताया गया है कि भगवान महावीर जब 'सेविया' श्वेतम्बिका नगरी में पधारे तो वहां प्रदेशी राजा ने उनकी अद्भुत भक्ति की थी। संभव है कि उस नगरी के ऊपर के प्रदेश में भगवान पधारे हों, जहां उन्होंने अनेक परीषहों को सहन किया था।

प्रस्तुत गाथा में 'पंत'— प्रान्त शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। उसमें प्रान्त शब्द की व्याख्या अर्धमागधी कोष में इस प्रकार दी है— १-तुच्छ २-खराब निम्न श्रेणि का बिना रस का ३ भोजन करने के बाद बची हुई जूठन ४ पर्यन्तवर्ती, ५-खराब लक्षण ६-अपलक्षण, ७ अन्तवर्ती, ८-इन्द्रिय प्रतिकूल ९-जीर्ण फटा हुआ चीर, १०-नष्ट हुआ पदार्थ*।

प्रान्त शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने भी यही बताया है कि

---

*(प्रान्त) १ तुच्छ, असार खराब, तुच्छ, रस विना का; २ खाता बाकी ... ३ पर्यन्त, ४ खराब लक्षण ५ अप लक्षण-वा, ६ अन्तवर्ती, ७ इन्द्रिय प्रतिकूल ... जीर्ण वस्त्र तुच्छ १० व्यापन्न—विनष्ट।

—अर्धमागधी कोष पृष्ठ १८८

का प्रहार करते थे। प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि वे जब किन्हीं कुत्तों को भगवान पर झपटते हुए देखते तो उन्हें दूर नही हटाते, अपितु तमाशा देखने के लिए वहा खडे हो जाते और उन्हे छू-छू करके और अधिक काटने की प्रेरणा देते थे। ऐसे क्रूर हृदय के लोगो मे कभी कोई एक-आध व्यक्ति ही ऐसा निकलता, जो कुत्तों को दूर करता था। भगवान स्वय कुत्तों को हटाते नहीं थे। वे इस कार्य को निर्जरा का कारण समझ कर समभाव पूर्वक सहन करते थे। यह उनकी सहिष्णुता एव वीरता का एक अनूठा उदाहरण है।

उस प्रदेश मे दिए गए कष्टों के विषय मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एलिक्खए जणा भुज्जो, बहवे वज्ज भूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय नालियं, समणा तत्थ य विहरिंसु ।५।

छाया—ईदृक्षान् जनान् भूयः बहवः वज्र भूमौ परुषाशिन।
यष्टिं गृहीत्वा नालिका, श्रमणाः तत्र विजह्रुः।

पदार्थ—एलिक्खए—वहा इस प्रकार के स्वभाव वाले। बहवे जणा—बहुत से लोग थे। उस देश में श्रमण भगवान महावीर। भुज्जो—पुन पुन विचरे और उस। वज्जभूमि—बज्र भूमि मे बहुत से लोग। फरुसासि—तामसी भोजन करने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे अत। समणा—बौद्ध आदि भिक्षु। य—अथवा। नालिय लट्ठि गहाए—अपने शरीर से चार अगुल अधिक। यष्ठि—लकडी लेकर। तत्थ—उस देश मे। विहरिंसु—विचरते थे।

मूलार्थ—इस प्रकार के अनार्य देश मे श्रमण भगवान ने पुनः २ विहार किया था। उस बज्र भूमि मे निवसित क्रोधी मनुष्य भिक्षुओ के पीछे कुत्ते छोड देते थे। अतः बौद्ध भिक्षु या दूसरे परिव्राजक आदि साधु अपने शरीर से चार अ गुल अधिक लम्बी लाठी या नालिका लेकर उस देश मे विचरते थे। जिससे कुत्ते उन पर प्रहार न कर सकें।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में लाढ देश के लोगों के खान-पान एव जीवन व्यवहार का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि वे लोग तुच्छ एव तामस आहार करते थे। इससे उनकी वृत्ति क्रूर हो गई थी। आहार का भी मनुष्य के जीवन पर असर होता है। तामस पदार्थों का अधिक उपभोग करने वाले व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है।

अनार्य व्यक्तियों के हृदय में दया, प्रेम-स्नेह एवं आतिथ्य-सत्कार की भावना कम होती है। इस तरह अनेक कष्ट सहने पर भी भगवान को उपयुक्त आहार नहीं मिलता था। यों भगवान तपस्या करते थे, उनका बहुत सा समय तप में ही बीतता था और पारणे के दिन भी शुष्क एवं रूक्ष आहार उपलब्ध होता था।

इतना कष्ट होते हुए भी भगवान ने कभी दुःख की अनुभूति नहीं की। उन्होंने उसे निवारण करने का प्रयत्न नहीं किया। यदि वे चाहते तो सारे बाह्य कष्टों को भगा सकते थे। उनमें वही शक्ति थी। परन्तु महान् पुरुष वही होता है जो अपनी शक्ति का उपयोग शरीर के क्षणिक सुखों के लिए न करके आत्मा के अनन्त सुखों को प्राप्त करने के लिए करता है या जो सामर्थ्य होते हुए भी आने वाले कष्टों को हंसते हुए सह लेता है।

भगवान महावीर अपने ऊपर आने वाले कष्टों को समभाव पूर्वक सहते हुए लाढ देश में विचरे, इसका उल्लेख करते हुए फिर सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अप्प जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे।
छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुरा दसंतुत्ति ॥४॥

छाया—अल्पः जनः निवारयति लूषकान् शुनः दशतः।
छुच्छुकारयन्ति आहंसुः श्रमणं कुक्कुराः दशन्तु इति।

पदार्थ—अप्पे—बहुत थोड़े। जणे—मनुष्य ऐसे हैं जो। लूसणए—काटते हुए कुत्तों को। निवारेइ—हटाते हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति हैं जो। दसमाणे सुणए—काटते हुए कुत्तों का। छुच्छुकारिंति—छू-छू करते हुए। आहंसु—भगवान के पीछे लगाते हैं और ऐसा कथन करते हैं कि। समणं—श्रमण भगवान को। कुक्कुरा—ये कुत्ते। दसंतुत्ति—काटें।

मूलार्थ—उस प्रदेश में ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम थे जो भगवान को काटते हुए कुत्तों से छुड़ाते थे। प्रायः वहां के लोग काटते हुए कुत्तों को छू छू करके काटने के लिए और अधिक प्रोत्साहित करते थे। वे ऐसा प्रयत्न करते थे कि ये कुत्ते श्रमण भगवान महावीर को काटें।

हिन्दी विवेचन

पूर्व गाथा में बताया गया है कि अनार्य लोग भगवान पर कुत्तों की तरह दांतों

हिन्दी विवेचन

लाढ देश के लोग इतने कठोर थे कि वहा साधुओं को अनेक तरह के कष्ट दिए जाते थे। बौद्ध भिक्षु कुत्तों से बचने के लिऐ अपने साथ डण्डा रखते थे, फिर भी वे पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह पाते थे। कभी-कभी कहीं न कहीं से कुत्ते काट ही खाते थे। परन्तु, भगवान महावीर जो अपने आत्म बल पर विचरते थे, उन्हें तो अनेक बार कुत्ते काट खाते थे। फिर भी वे उनका प्रतिकार नहीं करते थे।

प्रश्न हो सकता है कि इतने भयकर देश मे भगवान ने कैसे विहार किया? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निहाय दंडं पाणेहि, त कायं वोसिज्जमणगारे।
अह गामकंटए भगवंते अहियासए अभिसमिच्चा ।७।

छाया—निधाय दड प्राणिषु, तं काय व्युत्सृज्य अनगारः।
अथ ग्रामकण्टकान् भगवान् अध्यासयति अभिसमेत्य।

पदार्थ—अणगारे—भगवान महावीर। पाणेहि—प्राणियो मे। दण्ड—मन, वचन और काया रूप दड। तं—उसको। निहाय—छोडकर और उसी प्रकार। काय—शरीर के ममत्व को। वोसिज्ज—त्यागकर विचरते थे। अह—अत। भगव—भगवान। त गामकटए—ग्रामीणो के उन कटक रूप वाक्यो को। अभिसमिच्चा—निर्जरा का कारण जानकर। अहियासए—सहन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने मन वचन और काय रूप दड एव शरीर के ममत्व का परित्याग कर दिया था, ग्रामीण लोगो के वचन रूपकटको को कर्मों की निर्जरा का कारण समझकर भगवान ने उन्हे समभाव से सहन किया।

हिन्दी विवेचन

यह नितान्त सत्य है कि कष्ट तभी तक कष्ट रूप से प्रतीत होता है, जब तक शरीर एव अन्य भौतिक साधनों पर ममत्व रहता है। जब शरीर आदि से ममत्व हट जाता है, तब कष्ट दुःख रूप से प्रतीत नहीं होता है। ममत्व भाव के नष्ट होने से आत्मा मे परीषहों को सहन करने की क्षमता आ जाती है। फिर उसके अन्दर किसी को दोष देने की वृत्ति नहीं रहती। इस तरह उसमे अहिंसा की भावना का विकास

उनका स्वभाव भी अति क्रूर था। वे साधु सन्यासियों के पीछे कुत्ते छोड़ देते थे। इस लिए बौद्ध भिक्षु आदि साधु संन्यासी भिक्षा आदि को जाते समय अपने शरीर से ४ अंगुल ऊंचा डण्डा रखते थे। इस तरह वे कुत्तों से अपना बचाव करते थे। परन्तु भगवान महावीर पूर्ण अहिंसक थे। वे किसी भी प्राणी को भयभीत नहीं करते थे। इसलिए अपने हाथ में डण्डा आदि कोई भी हथियार नहीं रखते थे। न किसी भी संकट से भयभीत नहीं होते थे वे प्रत्येक संकट का स्वागत करते थे एवं समभाव पूर्वक उसे सहन करते थे। भगवान का उस प्रदेश में भ्रमण अपने कर्मों की निर्जरा एवं अज्ञान अंधकार में भटकते हुए प्राणियों के अभ्युदय के लिए होता था।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त समण-श्रमण शब्द यहां बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि, जैन एवं बौद्ध दोनों संप्रदायों में मुनि या भिक्षु के लिए श्रमण शब्द प्रचलित था। भगवान महावीर एवं बुद्ध दोनों समकालीन थे और तथागत बुद्ध एवं उनके भिक्षुओं ने भी लाढ देश में भ्रमण किया था। व जब ऐसे प्रदेश में जाते थे तो कुत्ते आदि के भय से बचने के लिए साथ में डण्डा रखते थे। परन्तु भगवान बिना किसी शस्त्र को धारण किए निर्भय होकर विचरते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं।
संलुञ्चमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं।६।

छाया—एवमपि तत्र विहरन्तः स्पृष्टपूर्वाः आसन् श्वभिः।
संलुञ्च्यमाना श्वभिः दुश्चराणि तत्र लाढेषु।

पदार्थ—एवंपि—इस प्रकार से ही। तत्थ—उस देश में। विहरंता—विचरते हुए बौद्धादि भिक्षुगण। पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं—कुत्तों से स्पर्शित हुए। संलुंचमाणा सुणएहिं—कई बार इधर-उधर घूमते हुए उन्हें कुत्तों ने भी काट लिया था। तत्थ—उस जब। लाढेहिं—लाढ देश में। दुच्चराणि—मार्ग लोगों को चलना दुष्कर था।

मूलार्थ—उस देश में बौद्धादि भिक्षु लाठी लेकर चलते थे, फिर भी इधर उधर विचरण करते हुए कुत्ते उन्हें काट खाते थे। अतः उस अनार्य भूमि में भिक्षुओं एवं साधु-सन्तों का भ्रमण करना दुष्कर था।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि जैसे सुशिक्षित हाथी शत्रु के भालों की परवाह किए बिना उसके सैन्य-दल को रौंदता हुआ चला जाता है और शत्रु पर विजय प्राप्त करता है, उसी तरह भगवान महावीर ने लाढ देश में परीषह रूपी शत्रु सेना पर विजय प्राप्त की। वे साधना काल में परीषहों से कभी घबराए नहीं।

लाढ देश में विचरते समय एक बार भगवान को सध्या समय गाव नहीं मिला। इससे स्पष्ट होता है कि लाढ देश में गांव बहुत दूर दूर थे। रास्ते में ही सध्या हो जाने के कारण भगवान जगल में ही ध्यानस्थ हो गए। इस तरह भगवान जगल में घबराए नहीं और यह भी नहीं सोचा कि यहा जगली जानवर मुझे कष्ट देंगे। वे निश्चिन्त होकर आत्म-चिन्तन में सलग्न होगए।

अब लाढ देश में अनार्य लोगों द्वारा भगवान को दिए गए परीषहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवसंकमन्तमपडिन्नं, गामंतियम्मि अप्पत्तं ।
पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु, एयाओ परं पलेहित्ति ।६।

छाया—उपसंक्रामन्तं अप्रतिज्ञं, ग्रामान्तिकं अप्राप्तम् ।
प्रतिनिष्क्रम्य अलूलिषुः इतः परं पर्येहीति ।

पदार्थ—अपडिन्नं—प्रतिज्ञा से रहित भगवान को, उवसकमन्त—भिक्षा या स्थान के लिए। गामंतियम्मि—ग्राम के समीप जाते हुए। अप्पत्त—ग्राम के प्राप्त होने पर या अप्राप्त होने पर अथवा। पडिनिक्खमित्तु—ग्राम से बाहर निकलते हुए। लूसिंसु—उन लोगो ने भगवान को मारा और कहा कि। एयाओ—तुम इस स्थान से। परं—दूर। पलेहित्ति—चले जाओ।

मूलार्थ—जब अप्रतिज्ञ भगवान भिक्षा या स्थान के लिए ग्राम के समीप पहुंचते या नही पहुचते अथवा ग्राम से बाहर निकलते हुए अनार्य लोग पहले तो भगवान को पीटते और फिर कहते कि तुम यहा से दूर चले जाओ।

मूलम्—हय पुव्वो तत्थ दण्डेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण ।

होता है। इससे वह वैर-विरोध एवं प्रतिशोध की भावना से ऊपर उठ जाता है। वह कर्कश एवं कठोर शब्दों एवं दंड आदि के प्रहारों को अपने कर्मों की निर्जरा का साधन मानकर सहन करता है।

भगवान महावीर एक महान साधक थे। उनके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं था। और न उनके मन में प्रतिशोध की भावना थी। परीषहों को सहन करने में वे सक्षम थे। संगम देव द्वारा निरन्तर ६ महीने तक दिए गए घोर परीषहों से भी वे विचलित नहीं हुए थे। वे कष्ट देने वाले व्यक्ति से भी घृणा नहीं करते थे। उसे अपने कर्मों की निर्जरा करने में सहयोगी मानते थे। क्योंकि कष्टों के सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती थी। इस अपेक्षा से वह कष्ट दाता कर्म निर्जरा में सहायक हो जाता है। इस तरह भगवान अनार्य मनुष्यों द्वारा कहे गए कठोर शब्दों एवं प्रहारों को समभाव पूर्वक सहन करते थे।

भगवान की सहिष्णुता को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नागो संगाम सीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे।
एवंपि तत्थ लाढेहिं, अलद्ध पुव्वोवि एगया गामो ॥८॥

छाया—नागो संग्राम शीर्षे वा पारगः तत्र स महावीरः।
एवमपि तत्र लाढेषु अलब्ध पूर्वोपि एकदा ग्रामः।

पदार्थ—नागो—हस्ती। संगाम सीसे—संग्राम में वैरी को जीत कर। वा—अथवा। पारए—पारगामी होता है। एवंपि—इसी प्रकार। से—वह। महावीरे—भगवान महावीर। तत्थ लाढेहिं—उस लाढ देश में परीषह रूप सेना को जीत कर पारगामी हुए थे। एगया—एक बार। तत्थ—उस लाढ देश में। गामो—ग्राम। अलद्धपुव्वोवि—न मिलने पर उन्होंने अरण्य में ही वास किया।

मूलार्थ—जैसे रण भूमि में हाथी वैरी की सेना को जीत कर पारगामी होता है, उसी प्रकार भगवान महावीर भी उस लाढ देश में परीषह-रूपी सेना को जीत कर पारगामी हुए। एक समय उस लाढ देश में ग्राम के न मिलने पर वे अरण्य में ही ध्यानस्थ होगए।

मूलम् — मंसाणि छिन्नपुव्वाणि, उट्ठंभिया एगया कायं ।
परिसहाइं लुंचिंसु, अदुवा पंसुणा उवकरिंसु ।११।

छाया—मांसानि छिन्नपूर्वाणि, अवष्टभ्य एकदा काय ।
परीषहा च अलुञ्चिषु: अथवा पांसुना अवकीर्णवन्त: ।

पदार्थ —मसाणि छिन्नपुव्वाणि — वे अनार्य लोग उनके शरीर के मास को काटते थे। एगया — किसी समय। काय — शरीर को। उट्ठंभिया — पकडकर। परिसहाइ — नाना प्रकार के अन्य परीषह भी दिए। लुंचिसु — उन्हे दु खित भी किया। अदुवा — अथवा। पंसुणा उवकरिंसु — उन पर धूल भी फैंकी।

मूलार्थ—उस अनार्य देशमे वहा के लोगो ने किसी समय ध्यानस्थ खडे भगवान को पकड कर उनके शरीर के मास को काटा उन्हे नाना प्रकार के परीषहोपसर्गों से पीडित किया, और उन पर धूल फैंकते रहे।

मूलम — उच्चालइय निहणिंसु, अदुवा आसणाउ खलइंसु।
वोसट्ठकाय पणयाऽऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ।१२।

छाया—उत्क्षिप्य निहतवन्त:, अथवा आसनात् स्खलितवन्त ।
व्युत्सृष्ट-काय, प्रणत: आसीत्, दु खसह भगवान् अप्रतिज्ञ:

पदार्थ — उच्चालइय — वे अनार्य लोग भगवान को ऊपर उठाकर। निहणिंसु — उन्हें नीचे भूमि पर गिरा देते थे। अदुवा — अथवा। आसणाउ — गोदुहादि आसन से बैठे हुए भगवान को। खलइसु — धक्का मार कर दूर फैंक देते थे। वोसट्ठकायपणयाऽसि — परन्तु भगवान अपने शरीर के ममत्व को छोड कर परीषहो को सहन करने में सावधान थे। भगव — भगवान। दुक्खसहे — परीषहजन्य दु ख को सहन करने वाले। अपडिन्ने — प्रतिज्ञा एव निदान से रहित थे।

मूलार्थ—कभी कभी वे लोग भगवान को ऊचे उठाकर नीचे फैंकते कभी धक्का मार कर आसन से परे फैंक देते, परन्तु काया के ममत्व को त्याग कर परीषहो के सहन करने मे सावधान हुए अप्रतिज्ञ और परीषह

अदु लेलुणा कवालेण हंता हंता बहवे कंदिंसु ।१०।

छाया—हत पूर्वं तत्र दण्डेन अथवा मुष्टिना अथवा कुन्तफलेन ।
अथवा लोष्टुना कपालेन हत्वा हत्वा बहवश्चक्रन्दुः ।

पदार्थ—तत्थ—उस लाढ़ देश में विचरते हुए भगवान को उन अनार्य लोगों ने। पुव्वो—पहले किसने मारा ?। दंडेण—डंडों से। अदुवा—अथवा। मुट्ठिणा—मुक्कों से। अदु—अथवा। कुन्तफलेण—कुन्त आदि के अग्रभाग और फलक से। अदु—अथवा। लेलुणा—पत्थरों से। कवालेण—ठीकरों से। हय—मारा इसके पश्चात्। हंताहंता—उन्हें मारते मारते। बहवे—बहुत से अनार्य लोग। कंदिंसु—कोलाहल करते कि अरे लोगो! देखो देखो यह कौन है ?

मूलार्थ—उस लाढ़ देश में ग्राम से बाहर ठहरे हुए श्रमण भगवान महावीर को अनार्य लोग पहले तो डण्डों मुक्कों कुन्त फलक पत्थर और ठीकरों से मारते और उसके पश्चात् शोर मचाते कि अरे लोगो! आओ देखो यह शिर मुण्डित नग्न व्यक्ति कौन है ?

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में अनार्य लोगों के अशिष्ट व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें बताया है कि जब भगवान विहार करते हुए रात को ठहरने के लिए या भिक्षा के लिए गांव में जाते तो उस समय वहां के निवासी भगवान का उपहास करते, उन्हें मारते-पीटते और अपने गांव से बाहर चले जाने को कहते। उनके द्वारा किए गए प्रहार एवं अपमान का भगवान कोई उत्तर नहीं देते, वे मौन भाव से उन परीषहों को सहन करते हुए विचरण करते थे।

जब भगवान एकान्त स्थान में ध्यानस्थ होते तो उस समय लाढ़ देश के अनार्य लोग डण्डा लेकर वहां पहुंच जाते और भगवान को डण्डे से पीटते और इधर उधर राह चलते लोगों को इकट्ठा करके हल्ला मचाते और कहते देखो यह विचित्र व्यक्ति कौन है ? इस तरह वे अनार्य लोग भगवान को अनेक कष्ट देते फिर भी भगवान उन पर रोष नहीं करते। कितना धैर्य था उनके जीवन में एवं थी कितनी सहनशीलता। वास्तव में सहिष्णुता के द्वारा ही साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके निष्कर्म बन सकता है।

भगवान की कष्ट सहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

छाया—शूरः सग्रामशिरसि वा संवृतः तत्र स महावीरः
प्रतिसेवमानः च परुषान्, अचल. भगवान् रीयते स्म ।

पदार्थ वा—जैसे। संगाम सीसे—साग्रम के आगे। सूरो—शूरवीर। संवुडे—सवृताग होकर शस्त्रो से भेदन होता हुआ भी विजय प्राप्त करता है। इसी प्रकार। से महावीरे—भगवान महावीर। तत्थ—उन लाढ आदि देशों मे। पडिसेवमाणे—परीषह रूप। सेना मे पीडित हुए। फरुसाइ—कठिन परीपहो को सहन करते हुए। भगव—भगवान। अचले—मेरु पर्वत के समान अचल अटल एव निष्कम्प रहकर। रीयित्था—मोक्षमार्ग मे पराक्रम करते अथवा मेरु की भान्ति स्थिर चित्त से विचरते थे।

मूलार्थ—जैसे कवच आदि से सवृत, शूर वीर पुरुष सग्राम मे चारो ओर से शस्त्रादि का प्रहार होने पर भी आगे बढता चला जाता है उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर उस देश मे कठिन से कठिन परीषहो के होने पर भी धैर्य रूप कवच से सवृत होकर मेरु पर्वत की तरह स्थिर चित्त होकर संयम मार्ग पर गतिशील थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भगवान महावीर की एक वीर योद्धा से तुलना की गई है। इस में बताया गया है कि जैसे एक वीर योद्धा कवच से अपने शरीर को आवृत्त करके निर्भयता के साथ युद्ध भूमि में प्रविष्ट हो जाता है। उसी प्रकार सवर के कवच से सवृत्त भगवान महावीर परीषहों से नहीं घबराते हुए लाढ देश मे विचरे। वहा के निवासियों ने उन्हें अनेक तरह के कष्ट दिए, फिर भी वे साधना पथ से विचलित नहीं हुए। ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की साधना में सलग्न रहे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक को परीषहों से न घबराकर कर्म शत्रुओं को परास्त करने के लिए रत्नत्रय की साधना मे सलग्न रहना चाहिए। साधना करते हुए यदि कष्ट उपस्थित हो तो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

अब प्रस्तुत उद्देशक का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कतो, माहणेण मइमया।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंति।१४। त्तिबेमि

अन्य वेदनाओं को समता पूर्वक सहन करने वाले श्रमण भगवान महावीर अपने ध्यान से च्युत नहीं हुए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में भगवान की सहनशीलता का वर्णन किया गया है। इनमें बताया गया है कि जहां भगवान ध्यानस्थ खड़े थे वहां वे अनार्य लोग पहुंच जाते और उनके शरीर का मांस काट लेते उन्हें पकड़ कर अनेक तरह की यातनाएं—कष्ट देते। उन पर धूल-पत्थर आदि फैंकते। फिर भी उनके चिन्तन में बिल्कुल अन्तर नहीं आता। उनके चिन्तन का प्रवाह उसी रूप में प्रवहमान रहता था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुमुक्षु पुरुष को कैसी कठिन परीक्षा में उतरना पड़ता है। भगवान महावीर कठोर से कठोर परीक्षा में सफल रहे। वे सदा परीषहों पर विजय प्राप्त करते हुए आत्म विकास की ओर बढ़ते रहे। इसके लिए प्रस्तुत गाथा में उनके लिए 'दुक्खसहे' और 'अपडिन्ने' दो विशेषण दिए हैं। इसमें पहले विशेषण का अर्थ दुःख पर विजय पाने वाले और दूसरे का अर्थ है—प्रतिज्ञा रहित अर्थात् भौतिक सुखों एवं आराम की कामना से रहित।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते थे और उन्होंने उनका कभी भी प्रतिकार नहीं किया। यह नितान्त सत्य है कि आत्मा स्वयं ही कर्म का बन्ध करता है और स्वयं ही उन्हें तोड़ सकता है। दुनिया में व्यक्ति जो भी दुःख-सुख भोगता है वे उसके स्वयं कृत कर्म के ही फल हैं। यह समझकर भगवान महावीर उनसे घबराए नहीं अपितु समभाव पूर्वक सहकर महावीर उन्हें नष्ट करने में संलग्न रहे। जिससे वे कर्म फिर से उन्हें संतप्त न कर सकें। अस्तु भगवान महावीर सदा कर्मों का नाश करने के लिए संयम एवं तप में संलग्न रहे। संयम से वे अभिनव कर्मों के बन्ध को रोकने का प्रयत्न करते रहे और तप से पूर्व कर्मों को क्षय करते रहे।

इस तरह वे निष्कर्म बनने का प्रयत्न करते रहे। उनकी इस महासाधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सूरो संगाम सीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणो फरुसाइं, अचले भगवं रीयित्था ।।१३।।

नवम अध्ययन–उपधान श्रुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में भगवान महावीर के परीषहों का वर्णन किया गया है। और प्रस्तुत उद्देशक में उनके चिकित्सा त्याग का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर ने बीमारी के समय कभी भी चिकित्सा नहीं की। उन्होंने शारीरिक एवं आत्मिक दोनों व्याधियों को दूर करने के लिए तप का आचरण किया। तप सारे विकारों को नष्ट कर देता है। जैसे साबुन वस्त्र के मैल को दूर हटाकर वस्त्र को स्वच्छ करता है, उसी तरह तप से शरीर एवं मन शुद्ध हो जाता है। म० गांधी ने उपवास के द्वारा कई रोगों की चिकित्सा की थी। शरीर विज्ञान वेत्ता भी कई रोगों को दूर करने में उपवास का सहारा लेते हैं।

भारतीय-संस्कृति में आत्म-शुद्धि या शरीर-शुद्धि के लिए तप को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इससे बाह्य एवं आभ्यन्तर विकार नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध बन जाती है। आगम में बताया है कि ज्ञान से आत्मा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस पर श्रद्धा करता है, चारित्र से अभिनव कर्म के आगमन को रोकता है और तप से आत्मा पूर्वकर्मों को क्षय करके शुद्ध बनता है*। अत आत्म-विकास के लिए तप अत्यावश्यक है। इसी कारण भगवान महावीर ने साधना काल में कठोर तप साधना की जिसका दिग्दर्शन प्रस्तुत उद्देशक में कराया गया है†।

---

* नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ।

उत्तराध्ययन सूत्र, २८, ३५

†

तपनाम	संख्या	उसके दिन	वर्ष	मास	दिन
(१) छः मास—	१	६×३०×१=१८०,	०	६	०
(२) पांच दिन कम छः मास—	१	६×३०—५=१७५,	०	५	२५
(३) चौमासी—	६	४×३०×६=१०८०,	३	०	०

छाया—एष विधि अनुक्रान्तः माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयते। इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्ने – प्रतिज्ञा से रहित। भगवया – ऐश्वर्य युक्त। मईमया – मतिमान। माहणेण – भगवान महावीर ने। एस विही – उक्तविधि का। बहुसो – अनेक बार। अणुक्कंतो – आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी। एवं – इसी प्रकार। रीयंति – आचरण करते हैं। त्तिबेमि – इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ— प्रतिज्ञा से रहित ऐश्वर्य युक्त, परम मेधावी भगवान महावीर ने अनेक बार उक्त विधि का आचरण किया, उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी इसी प्रकार आचरण करते हैं। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में कर चुके हैं। 'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

या श्वासादि रोग के स्पर्शित होने पर भी वे औषधि सेवन की इच्छा नही करते थे।

हिन्दी विवेचन

शरीर रोगों का घर है। इसमे अनेक रोग रहे हुए हैं। जब कभी वेदनीय कर्म के उदय से कोई रोग उदय मे आता है तो लोग उसे उपशान्त करने के लिए अनुकूल औषध एवं पथ्य का सेवन करते हैं। परन्तु, भगवान महावीर अस्वस्थ अवस्था मे भी औषध का सेवन नहीं करते थे। वे स्वस्थ अवस्था मे भी स्वल्प आहार करते थे। स्वल्प आहार के कारण उन्हें कोई रोग नहीं होता था❀। फिर भी कुत्तों के काटने या अनार्य लोगों के प्रहार से जो घाव आदि हो जाते थे, तो वे उसके लिए भी चिकित्सा नहीं करते थे। यदि कभी श्वास आदि का रोग हो जाता तब भी वे औषध नहीं लेते थे। वे समस्त परीषहों एवं कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते थे और तप के द्वारा द्रव्य एवं भाव रोग को दूर करने का प्रयत्न करते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संसोहणं च वमणं च, गायब्भगणं च सिणाणं च।
संवाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए।२।

छाया—सशोधन च वमन च, गात्राभ्यगनं च स्नानं च।
संवाधनं च न तस्य कल्पते दन्तप्रक्षालन च परिज्ञाय ॥

पदार्थ—च—पुन अर्थ मे है। परिन्नाय—शरीर को अशुचि जानकर। से- भगवान् महावीर को। ससोहण—शरीर का सशोधन करना। च—पुन। वमण—वमन। च—और। गायब्भगण—शरीर को तेल आदि से मर्दन करना। च—और। सिणाण—स्नान करना। च—और। दन्तपक्खालण—काष्ठादि से दान्तो का प्रक्षालन करना। नकप्पे—नही कल्पता था, अर्थात् वे इन बातो का आचरण नही कर थे।

मूलार्थ—शरीर को अशुचिमय समझ कर भगवान रोग की शान्ति

❀ टीकाकार एव चूर्णिकार इसमे एकमत हैं कि भगवान अपने शरीर के धातु क्षोभ के कारण प्राय रोगातक नहीं होते थे। कभी बाह्य कारणो से हो सकते थे।

आचाराङ्ग चूर्णि, पृष्ठ ३२१, टीका, पृष्ठ २८४।

भगवान के तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओमोयरियं चाएइ, अपुट्ठेवि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं ।१।

छाया—अवमौदर्य शक्नोति अस्पृष्टोपि भगवान् रोगैः।
स्पृष्टो वा अस्पृष्टो वा न स स्वादयति चिकित्साम्।

पदार्थ—भगवं—भगवान। ओमोयरियं—ऊनोदरी तप करने को। चाएइ—समर्थ थे। अपुट्ठेवि रोगेहिं—रोगों के स्पर्श न होने पर भी। वा—अथवा। पुट्ठे—रोगों के स्पर्श होने पर भी। अपुट्ठे वा—न होने पर भी। से—वह श्रमण भगवान महावीर। तेइच्छं—चिकित्सा को। नो साइज्जई—नहीं चाहते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर रोगों के स्पर्श होने या न होने पर भी ऊनोदर्य तप करने में समर्थ थे। इसके अतिरिक्त श्वानादि के काटने पर

---

(४) तीन मासी—	२	३×१ ×२=१८	० — ६ —
(५) अढाई मासी—	२	२॥×१ ×२=१५०	— ५ — ०
(६) दो मासी—	६	२×१ ×६=३६	१ — — ०
(७) डेढ़ मासी—	२	१॥×१ ×२=६०	० — ३ — ०
(८) मास क्षमण—	१२	१×१ ×१२=३६,	१ — —
(९) पक्ष क्षमण—	७२	॥×१ ×७२=१०८	३ — — ०
(१०) सर्वतो भद्रप्रतिमा	१	१ दिवस की=१०	० — ० — १
(११) महाभद्रप्रतिमा—	१	४ दिवस की=४	— — ४
(१२) अष्टम—	१२	३×१२=३६	— १ — ६
(१३) षष्ठ—	२२९	२×२२९=४५८,	१ — ३ —
(१४) भद्रप्रतिमा—	१	दो दिन की=२	— — २
(१५) दीक्षा दिवस—	१	एक दिन की=१	— — १
(१६) पारणा—	३४९	३४९ दिन की=३४९,	— ११ — १९
(१७) कुल दिवस ४५१५		वर्ष १२ मास ६ दिन १५	

जैन प्रकाश के उत्थान महावीरांक में प्रकाशित
'त्रिभुवन दास महता' के लेख से

सर्दी की ऋतु मे भी छाया मे ध्यान करते थे। इस तरह वे शरीर की चिन्ता न करते हुए सदा आत्म-चिन्तन में ही सलग्न रहते थे।

साधना में योगों का गोपन करना महत्त्वपूर्ण माना गया है। मन, वचन और काय इन तीनों योगों मे मन सबसे अधिक सूक्ष्म और चचल है। उसे वश में रखने के लिए काय और वचन योग को रोक कर रखना आवश्यक है। वचन का समुचित गोपन होने पर मन को सहज ही रोका जा सकता है और मन आदि योगों का गोपन करने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है।

आगम मे वताया है कि मन का गोपन करने से आत्म चिन्तन मे एकाग्रता आती है और वह सयम का आराधक होता है। वचन गुप्ति से आत्मा निर्विकार होती है और निर्विकारता से अध्यात्म योग की साधना मे सलग्न होती है; काय गुप्ति से सवर की प्राप्ति होती है और उससे आश्रव-पापकर्म का आगमन रुकता है। इसी तरह मन समाधारणा से जीव एकाग्रता को जानता हुआ ज्ञान पर्याय को जानता है और उससे सम्यक्त्व का शोधन करता है और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है। वय समाधारणा से आत्मा दर्शन पर्याय को जानता है, उससे दर्शन की विशुद्धि करके सुलभ बोधित्व को प्राप्त करता है और दुर्लभ बोधिपन की निर्जरा करता है। काय-समाधारणा से जीव चारित्र पर्याय को जानता है और उससे विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करता है और चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है और तत्पश्चात् अवशेष चार अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध हो जाता है, समस्त कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है*। इस तरह योगों का गोपन करने से आत्मा निष्कर्म बन जाता है।

इस तरह भगवान महावीर भाषा का गोपन करते हुए एकाग्र मन से आत्म चिन्तन में संलग्न रहते थे। उनके चिन्तन की एकाग्रता एव परीषहों की सहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आयावइय गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभित्तावे।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ।४।

छाया—आतापयति ग्रीष्मेषु, तिष्ठति उत्कुटुकः अभितापम्।
अथ यापयति स्म रुक्षेण ओदन मन्थु कुल्माषेण।

* उत्तराध्ययन सूत्र, २९, ५३—५८।

के लिए शरीर संशोधनार्थ विरेचन लेना, वमन करना, शरीर पर तैलादि का मर्दन करना, स्नान करना और दातुन आदि से दान्तों को साफ करना इत्यादि क्रियाओं का आचरण नहीं करते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान महावीर का ध्यान आत्मा की ओर लगा था। शरीर पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। वे जानते थे कि यह शरीर नश्वर है। इसलिए वे किसी रोग के उत्पन्न होने पर उसे उपशान्त करने के लिए या भविष्य में रोग न हो इस भावना से कभी विरेचन-जुलाब नहीं लेते थे और उन्होंने साधना काल में अपने शरीर को स्वस्थ करने के लिए किसी भी तरह की चिकित्सा नहीं की। वे शरीर की ओर न देखकर सदा अपनी आत्मा की ओर देखते थे और आत्मा को अनावृत करने में ही प्रयत्नशील थे।

उनका चिन्तन किस ओर था। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विरए गाम धम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई।
सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय ।३।

छाया—विरतः ग्रामधर्मेभ्यः, रीयते माहनः अबहुवादी।
शिशिरे एकदा भगवान् छायायां ध्यायी आसीत्।

पदार्थ—गामधम्मेहिं—विषय-विकारों से। विरए—निवृत्त हुए। अबहुवाई—अल्प भाषी। माहणे—भगवान महावीर। रीयइ—संयम में पुरुषार्थ करते हैं। एगया—कभी कभी। भगवं—भगवान। सिसिरंमि—शीत काल में। छायाए—छाया में। झाइ आसीय—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

मूलार्थ—विषय विकारों से निवृत्त हुए अल्पभाषी भगवान महावीर संयम में पुरुषार्थ करते हुए शीतकाल में भी कभी कभी छाया में धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

हिन्दी विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील भगवान महावीर विषय-विकारों से सर्वथा निवृत्त हो गए थे। वे साधना काल में प्रायः मौन ही रहते थे और किसी के पूछने पर उत्तर देना आवश्यक हुआ तो एक ही बार बोलते थे। वे शीत आदि की परवाह नहीं करते थे।

साधक के लिए प्रकाम—गरिष्ठ आहार के त्याग का विधान किया गया है। साधक केवल शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार करता है और वह रुक्ष आहार से भली-भांति हो जाता है। इससे मन में विकार नहीं जागते और इन्द्रिए भी शांत रहती हैं। जिससे साधना में तेजस्विता आती है, आत्म-चिन्तन मे गहराई आती है। अत पूर्ण ब्रह्मचर्य के परिपालक साधु को सरस, स्निग्ध आहार नहीं करना चाहिए। उसके लिए रुक्ष आहार सर्व-श्रेष्ठ है। भगवान महावीर ने ओदन-चावल, बेर के चूर्ण एव कुल्माष आदि का आहार किया था।

यह ओदन आदि का आहार भगवान ने आठ महीने तक किया और इसी बीच एक महीने तक निराहार रहे, पानी भी नहीं पिया। इससे उनकी निस्पृह एव अनासक्त वृत्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। वे समय पर जैसा भी रूखा-सूखा आहार उपलब्ध हो जाता वैसा ही अनासक्त भाव से कर लेते थे।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'अद्धमास अदुवा मासपि' की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने लिखा है कि भगवान ने एक महीने की तपस्या में पानी पिया था* और प्रदीपिकाकार ने लिखा है कि उन्होंने महीने की तपस्या में पानी नहीं पिया†। इन दोनों मे प्रदीपिका का कथन संगत प्रतीत होता है। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र जी ने भी प्रदीपिका के मत का अनुसरण किया है। आगे की गाथा से भी जल पीने का निषेध सिद्ध होता है। इससे ऐसा लगता है कि वृत्तिकार के प्रमाद से न छूट गया हो।

अब भगवान के विशिष्ट तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि साहिए दुवेमासे अदुवा छप्पिमासे विहरित्था।
राओवरायं अपडिन्ने अन्न गिलायमेगया भुंजे।६।

छाया—अपि साधिक द्वय मासं, षड्पिमासान् अथवा विहृतवान्।
रात्रोपरात्रं अप्रतिज्ञः, पर्युषित च एकदा भुक्तवान्।

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ में है, भगवान। साहिए दुवेमासे—दो मास से कुछ अधिक। छप्पिमासे राओवराय—छ महीने तक रात-दिन बिना पानी पिए। विहरित्था—विचरे। अदुवा—अथवा। एगया—एक बार। अपडिन्ने—पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित। अन्न—

* तथा पानमप्यर्द्धमासमथवा मास भगवान् पीतवान्। आचाराङ्ग वृत्ति।
† तथा पानमप्यर्द्धमासमथवा मास भगवान् न पीतवान्। आचाराङ्ग प्रदीपिका।

पदार्थ—गिम्हाणं—वे ग्रीष्म ऋतु में। आयावइ—आतापना लेते थे। य—पुनः। उक्कुडुए—उत्कुट आसन से। अभितावे—सूर्य के सम्मुख। अच्छइ—स्थित होते थे। अदु—अथवा। लूहेण—रूक्षाहार एवं। ओयण मंथ कुम्मासेणं—चावल या बेरादि का चूर्ण या कुल्माष—उड़द आदि से शरीर का। जावइत्थ—निर्वाह करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर ग्रीष्म ऋतु में उत्कट आसन से सूर्य के सम्मुख होकर आतापना लेते थे। और धर्म साधना के कारण रूप शरीर को चलाने के लिए चावल, बेर का चूर्ण एवं उड़द के बाकले आदि रूक्ष आहार लेकर अपना निर्वाह करते थे।

मूलम्—एयाणि तिन्नि पडिसेव अट्ठमासे अजावय भगवं।
अपिइत्थ एगया भगव अद्धमास अदुवा मासंपि ।५।

छाया—एतानि त्रीणि प्रतिसेवते अष्टौ मासानयापयत् भगवान।
अपिबत् एकदा भगवान अर्द्धमासं अथवा मासमपि।

पदार्थ—एयाणि—ये। तिन्नि—तीनों आहारों का। पडिसेवे—सेवन करके। भगवं—भगवान ने। अट्ठमासे—आठ मास तक। अजावयं—काल यापन किया। एगया—एक बार। भगवं—भगवान। अद्धमासं—अर्द्ध मास। अदुवा—अथवा। मासं—मास तक। अपिइत्थ—निराहार रहे—जल भी नहीं लिया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने उक्त तीनों पदार्थों के द्वारा आठमास तक समय यापन किया। और कभी २ भगवान ने आधेमास या एक मास तक जल पान भी नहीं किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में भगवान महावीर की तपस्या का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे भगवान शीतकाल में छाया में ध्यान करते थे उसी तरह ग्रीष्म काल में उत्कट आसन से सूर्य के सम्मुख स्थित होकर ध्यानस्थ होते थे और रूक्ष आहार से अपने जीवन का निर्वाह करते थे।

आहार का मन एवं इन्द्रियों की वृत्ति पर भी असर होता है। सरस आहार से मन में विकार जागृत होता है और इन्द्रियें विषयों की ओर दौड़ती हैं। इस लिए

निर्जरा के लिए तप करना चाहिए*। इस तरह भगवान महावीर बिना किसी आकांक्षा के तप करते हुए रात-दिन धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न रहते थे।

उनके तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—छट्ठेण एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेणं।
दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने।७।

छाया—षष्ठेन एकदा भुक्ते अथवा अष्टमेन दशमेन।
द्वादशमेनैकदा भुक्तवान् प्रेक्षमाण समाधि अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—एगया—एक वार। छट्ठेण—दो उपवास के पारने में पर्युषित आहार। भुंजे—किया। अदुवा—अथवा। अट्ठमेण—तीन उपवास के पारने में पर्युषित आहार किया। एगया—एक वार। दसमेण—चार उपवास के पारने में और एक वार। दुवालसमेण—पांच उपवास के पारने में। भुंजे—बासी आहार किया। समाहिं—इस तरह भगवान समाधि का। पेहमाणे—पर्यालोचन करते हुए। अपडिन्ने—निदान रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर कभी दो उपवास के पारने में पर्युषित आहार करते, कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के पारने में पर्युषित बासी आहार करते थे वे इस तरह की कठोर तप-साधना करते हुए भी समाधि का पर्यालोचन करते हुए निदान रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

हिन्दी विवेचन

भगवान की तपस्या का वर्णन करते हुए बताया गया है कि भगवान कभी दो उपवास के बाद बासी आहार से पारणा करते थे। इसी तरह कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के बाद वे बासी आहार से पारणा करते थे। इससे भगवान की आहार एवं शरीर आदि के प्रति स्पष्ट रूप से अनासक्ति प्रकट होती है। उनका अधिक समय तप एवं आत्म चिन्तन में ही लगता था।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'छट्ठेण एगया भुंजे' का दो उपवास के बाद अर्थ कैसे

* चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ।
—दशवैकालिक सूत्र ९, ४ तवसमाहि।

गिलाय—बासी अन्न का भी रस चलित नहीं हुआ था। भुंजे—आहार किया।

मूलार्थ—भगवान महावीर ने दो मास से कुछ अधिक समय तक ६ महीने अथवा दो महीने से लेकर ६ महीने पर्यन्त बिना पानी पिये समय व्यतीत किया। वे पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित होकर रात दिन धर्म ध्यान में संलग्न रहते थे। भगवान ने एकबार पर्युषित-बासी अन्न भी जिसका रस विकृत नहीं हुआ था ग्रहण किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा से यह स्पष्ट होता है कि भगवान ने सर्वोत्कृष्ट ६ महीने की तपश्चर्या की थी। भगवान ने इतनी लम्बी तपश्चर्या में पानी का भी सेवन नहीं किया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितनी तपश्चर्या की थी, उसमें पानी नहीं पिया था। और इस तप साधना के समय एक बार भगवान ने बासी अन्न-पहले दिन का बना हुआ आहार ग्रहण किया था। मूर्तिपूजक समाज का कहना है कि साधु को बासी आहार नहीं लेना चाहिए। परन्तु, जब हम आगम का अनुशीलन करते हैं तो उसमें उसका कहीं भी निषेध नहीं मिलता। भगवान महावीर ने—जो महान् साधक थे, स्वयं बासी आहार ग्रहण किया है, ऐसी स्थिति में उसे अभक्ष्य कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है कि ऐसा बासी आहार साधु को नहीं लेना चाहिए जिसका रस विकृत हो गया हो। परन्तु जिसका वर्ण, गंध रस आदि विकृत नहीं हुआ है, उस आहार को अभक्ष्य कहना आगम विरुद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतने लम्बे तप के बाद भी भगवान इस तरह का रूखा-सूखा एवं बासी अन्न ग्रहण करते थे। इससे उनके मनोबल एवं त्याग निष्ठ तथा अनासक्त जीवन का स्पष्ट परिचय मिलता है।

इस गाथा से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितना भी तप किया था, वह सब निदान रहित किया था। उनके मन में स्वर्ग आदि की कोई आकांक्षा नहीं थी। उनका मुख्य उद्देश्य केवल कर्मों की निर्जरा करना था। उन्होंने आगम में तप आदि की साधना के लिए जो आदेश दिया है, उस पर पहले स्वयं ने आचरण किया। आगम में कहा गया है कि मुमुक्षु पुरुष को न इस लोक में सुखों की आकांक्षा से तप करना चाहिए, न परलोक में स्वर्ग आदि प्राप्त करने की अभिलाषा से तप करना चाहिए और न यश कीर्ति एवं मान-सम्मान की कामना रख कर तप करना चाहिए, परन्तु केवल कर्मों की

ने दीक्षित होने के बाद कभी भी पापकर्म का सेवन नहीं किया। वे त्रिकरण और त्रियोग से पापकर्म से निवृत्त रहे।

भगवान के त्याग-निष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयत जोगयाए सेवित्था।।६।।

छाया—ग्रामं प्रविश्य नगरं वा, ग्रासमन्वेषयेत् कृतं परार्थाय।
सुविशुद्ध एषित्वा भगवान् आयतयोगतया सेवितवान्।

पदार्थ—गाम—गांव। वा—अथवा। नगर—नगर मे। पविसे—प्रवेश करके, वे। घासमेसे—आहार की गवेषणा करते। परट्ठाए—दूसरे के गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के लिए। कड—बनाए गए आहार मे से। सुविसुद्धमेसिया—विशुद्ध आहार की गवेषणा करके। भगवं—भगवान। आयत जोगयाए—ज्ञान पूर्वक संयत योग से। सेवित्था—उस शुद्ध आहार का सेवन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर गांव या शहर में प्रविष्ट होकर गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए आहार में से अत्यन्त शुद्ध निर्दोष आहार की गवेषणा करते और उस निर्दोष आहार को संयत योगो से विवेक पूर्वक सेवन करते थ।

हिन्दी विवेचन

हम देख चुके हैं कि साधु सारे दोषों से निवृत्त होता है। वह कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे किसी प्राणी को कष्ट होता हो। यहां तक कि अपने शरीर का निर्वाह करने के लिए भी वह स्वयं भोजन नहीं बनाता। क्योंकि इसमें पृथ्वी, पानी आदि ६ काय की हिंसा होती है। अत साधु गृहस्थ के घरों में से निर्दोष आहार की गवेषणा करते हैं।

भगवान महावीर भी जब गांव या शहर में भिक्षा के लिए जाते तो वे गृहस्थ के अपने एवं अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए निर्दोष आहार की गवेषणा करते। उसमें भी आहार के ४२ दोषों को छोडकर शुद्ध आहार ग्रहण करने और आहार करने के ५ दोषों को त्याग कर आहार करते। इस तरह ४७ दोषों का त्याग करके वे आहार करते थे। उसमे १६ उद्गमन सम्बन्धी दोष हैं, जो अनुराग एवं मोह वश गृहस्थ

हुआ ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि उपवास के पहले दिन के दो भक्त में से एक भक्त आहार करते हैं, उपवास के प्रथम एवं द्वितीय दिन के दोनों भक्त आहार नहीं करते और पारणे के दिन भी दो भक्त में से एक भक्त आहार करते हैं, इस तरह १+२+२+१=६ अर्थात् षष्ठ भक्त या छट्ठ भक्त का अर्थ दो उपवास के बाद होता है*।

भगवान की जीवन चर्या का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—णच्चा णं से महावीरे, नोऽविय पावगं सयमकासी।
अन्नेहिं वा ण कारित्था, कीरंतंपि नाणुजाणित्था ।८।

छाया—ज्ञात्वा णं स महावीरः, नापि च पापकं स्वयमकार्षीत्।
अन्यैर्वा न अचीकरत् क्रियमाणमपि नानुज्ञातवान्।

पदार्थ—से—वह। महावीरे—भगवान महावीर। णच्चा—हेय-ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों को जानकर। सयं—स्वयं। पावगं—पापकर्म। नोऽविय अकासी—नहीं करते थे। च—अथवा। अन्नेहिं—दूसरों से। ण कारित्था—नहीं करवाते थे। कीरंतंपि—पाप-कर्म करने वाले व्यक्तियों का। नाणुजाणित्था—अनुमोदन भी नहीं करते थे।

मूलार्थ—हेय ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों को जान कर श्रमण भगवान महावीर ने स्वयं पापकर्म का आचरण नहीं किया, न दूसरों से करवाया और पाप कर्म करने वालों का अनुमोदन भी नहीं किया।

हिन्दी विवेचन

साधना के जीवन में प्रविष्ट होते ही मुनि सब से पहले तीन करण और तीन योग से पाप कार्य से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है। वह मन वचन और शरीर इन तीनों योगों से न स्वयं पापकर्म करता है न अन्य से करवाता है और न पाप कर्म करने वाले का समर्थन करता है। क्योंकि, पापकर्म से अशुभ कर्म का बन्ध होता है, संसार परिभ्रमण बढ़ता है। इसलिए पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञाता भगवान महावीर

* किं च षष्ठेनैकदा भुंक्ते—षष्ठं हि नाम एकस्मिन्नहनि एकं भक्तं दिने न भुज्यते उपवासद्वये चतुर्भक्तं एवं षष्ठं भक्तं, पारणादिने पुनरेकं भक्तं, एवं षष्ठं भक्तं त्यक्तं एवं भवति, एवं विमादि सूत्रमपि प्यायाम्यमिति। —आचाराङ्ग वृत्ति।

आगे या मार्ग में काग-कुत्ते एवं गरीब भिखारी रोटी की आशा से खडे होते थे। क्योंकि उनके पहुच जाने से उन्हें अन्तराय लगती थी। वह दातार उन गरीब भिखारियों को भूलकर भगवान को देने लगता था और इससे उनके मन मे द्वेष की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिए भगवान ऐसे घर में भिक्षा को नहीं जाते थे जिसके आगे अन्य प्राणी रोटी की अभिलाषा लिए हुए खडे हों।

इसी विषय मे सूत्रकार और भी बताते हैं—

मूलम् — अदुवा माहणं च समणं च, गाम पिंडोलगं च अतिहिंवा।
सोवाग मूसियारिंवा, कुकुरंवावि विट्ठियं पुरओ ।११।

छाया—अथवा माहनं च श्रमण वा ग्रामपिंडोलकं च अतिथिं वा।
श्वपाकं मूषिकारिं वा कुक्कुरंवापि विस्थितं पुरतः।

पदार्थ—**अदुवा** — अथवा। **माहण** — ब्राह्मण को। **च**-और। **समण**—शाक्यादि भिक्षु। **वा**-अथवा। **गामपिंडोलग च** — और ग्राम के भिखारी। **वा** — अथवा। **अतिहिं वा** — अतिथि। **सोवाग** — चाण्डाल। **वा** — अथवा। **मूसियारिं** — बिडाल-बिल्ली आदि। **वा** — अथवा। **कुकुर** — कुत्ता। **अवि**—समुच्चयार्थक है। **विट्ठियं** — नाना प्रकार के प्राणी। **पुरओ** — आगे उपस्थित हो तो उनकी वृत्ति का भग न करते हुए भिक्षार्थ गमन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मण, श्रमण, गाव के भिखारी अतिथि, चाडाल श्वान और नाना प्रकार के अन्यजीव यदि खडे हो तो उनकी वृत्ति का भग न करते हुए भिक्षा के लिए नही जाते थे।

हिन्दी विवेचन

इस गाथा मे पूर्व गाथा की बात को पूरी करते हुए बताया गया है कि किसी गृहस्थ के द्वार पर यदि कोई ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु, परिव्राजक, सन्यासी, शूद्र आदि खडे होते या बिल्ली, कुत्ता आदि खडे होते तो भगवान उनको उल्लघकर किसी के घर में प्रवेश नहीं करते थे। क्योंकि इससे उनकी वृत्ति का व्यवच्छेद होता था। उनके अन्तराय लगने से उनके मन में अनेक संकल्प—विकल्प उठते, द्वेष-भाव पैदा होता। इसलिए भगवान इन सब दोषों को टालते हुए आहार के लिए घरों में प्रवेश करते थे।

भगवान की भिक्षा वृत्ति पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जा सकता है, १६ उत्पादन के दोष हैं जो रस लोलुपी साधु द्वारा लगाए जा सकते हैं और १० एषणा के दोष हैं, जो गृहस्थ एवं साधु दोनों द्वारा लगाए जा सकते हैं। ५ आहार करते समय के दोष हैं, जिनका सेवन साधु के द्वारा ही होता है।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए विभिन्न पदों से भी इन दोषों की ध्वनि निकलती है। जैसे— 'परट्ठाए' पद से १६ उद्गमन के दोषों का विवेचन किया गया है। 'सुविसुद्ध' से १६ उत्पादन दोष का एवं 'एसिया' पद से १० एषणीय दोषों का वर्णन किया गया है और 'आयत जोगयाए सेविता' पदों से आहार करते समय के ५ दोषों का कथन करके समस्त दोषों का त्याग करके आहार करने का आदेश दिया गया है। भगवान महावीर समस्त दोषों से रहित आहार पानी की गवेषणा करते और ऐसे शुद्ध एवं निर्दोष आहार को अनासक्त भाव से ग्रहण करके विचरण करते थे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठन्ति सयय निवइए य पेहाए।१०।

छाया—अथ वायसा बुभुक्षार्ताः ये चान्ये रसैषिणः सत्त्वाः।
ग्रासैषणाय तिष्ठन्ति सततं निपतितान् च प्रेक्ष्य।

पदार्थ—सययं—निरन्तर। निवइए—भूमि पर गिरे हुए। घासेसणाए—आहार की खाने के लिए। दिगिंछत्ता—बुभुक्षित। वायसा—कौवे या। जे—जो। रसेसिणो—आहार के इच्छुक हैं। अन्ने सत्ता—अन्य सत्त्व-प्राणी। चिट्ठंति—मार्ग में बैठे हुए हैं। पेहाए—उन्हें देखकर विवेक पूर्वक चलते जिससे उनके आहार करने में विघ्न न पड़े।

मूलार्थ—भूख से बुभुक्षित वायसादि पक्षियों को मार्ग में गिरे हुए अन्न को खाते हुए देखकर वे उन्हें नहीं उड़ाते हुए विवेक पूर्वक चलते, जिस से उनके आहार में विघ्न न पड़े।

हिन्दी विवेचन

साधु सब जीवों का रक्षक है। वह स्वयं कष्ट सह सकता है। परन्तु अपने निमित्त से किसी भी प्राणी को कष्ट हो तो इस कार्य को वह कदापि नहीं कर सकता। साधु के लिए आदेश है कि वह भिक्षा के लिए जाते समय भी यह ध्यान रखे कि उसके कारण किसी भी प्राणी की वृत्ति में विघ्न न पड़े। भगवान महावीर ने स्वयं इस नियम का पालन किया था। वे उस घर में या उस मार्ग से आहार को नहीं जाते थे जिस पर के

की आत्मा को कष्ट देना यह इनका स्वरूप है*। भगवान महावीर इन दोषों से सर्वथा निवृत्त होकर अपनी साधना मे समाहित रहते थे। वे हिंसा से निवृत्त होकर सदा संयम में संलग्न रहते थे।

सूत्रकार फिर से इसी विषय में कहते हैं—

मूलम्—अवि सूइयं वा सुक्कं वा, सीयं पिंडं पुराण कुम्मासं।
अदु वुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए।१३।

छाया—अपिसूपिकं वा शुष्कं वा, शीत पिंडं पुराणकुल्माषं।
अथ बुक्कस पुलाकं वा, लब्धे पिंडं अलब्धे द्रविकः॥

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ मे है। सूइयं—भगवान दधि आदि के आर्द्र आहार। वा—अथवा। सुक्कं वा—चणक आदि के शुष्क आहार अथवा। सीयं पिंडं—शीत पिंड-वासी आहार तथा। पुराण कुम्मासं—पुराणे कुल्माष का आहार। अदु—अथवा। वुक्कसं—जीर्ण धान्य का आहार। पुलागं वा—जौ का आहार अथवा। लद्धेपिंडे—स्वादिष्ट आहार के मिलने पर हर्षित नहीं होते और। अलद्धे—स्वादिष्ट तथा पर्याप्त आहार न मिलने पर चिन्तातुर नहीं होते। दविए—वे सदा संयम युक्त रहकर अपने साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न शील रहते थे।

मूलार्थ—दधि आदि से मिश्रित आहार, शुष्क आहार, वासी आहार पुराने कुल्माष और पुराने धान्य का बना हुआ आहार, जौ का बना हुआ

---

* कतिण भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ? गोयमा! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ तंजहा—काइया, अहिगरणिया, पादोसिया, परियावणिया, पाणातिवाय किरिया।१। काइयाण भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—अणुवरय काइया य, दुप्पउत्त काइया य।२। अहिगरणियाण भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-संजोयणाहिगरणिया य निव्वत्तणाहिगरणिया।३। पादोसियाण भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेण अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं वा धारेति से तं पादोसिया किरिया।४। पारियावणिया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेण अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असायं वेदणं उदीरेति से तं पारियावणिया किरिया।५। पाणाइवाय किरियाण भंते! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेण अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीवियाओ ववरोवइ सेतं पाणाइवाय किरिया।६। —पन्नवणा सूत्र, पद २२

मूलम्—वित्तिच्छेयं वज्जतो, तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
मंदं परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था ।१२।

छाया—वृत्तिच्छेदं वर्जयन् तेषामप्रत्ययं परिहरन्।
मंदं पराक्रमते, भगवान् अहिंसन् ग्रासमेषितवान्।

पदार्थ—भगवं—भगवान। तेसिं—उन जीवों की। वित्तिच्छेयं—वृत्ति छेदन का। वज्जंतो—त्याग करते हुए तथा उनके। अप्पत्तियं—भय एवं अप्रीति को। परिहरन्तो—दूर करते हुए। मंदं—धीरे २। परक्कमे—पराक्रम करते हुए तथा पर जीवों की। अहिंसमाणे—हिंसा न करते हुए। घासमेसित्था—आहार पानी की गवेषणा करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर उन जीवों की वृत्ति व्यवच्छेद को दूर करते हुए और उनकी अप्रीति का परिहार करते हुए धीरे २ चलते और किसी भी जीव की हिंसा न करते हुए आहार पानी आदि की गवेषणा करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा पूर्व गाथा से संबद्ध है। इसमें बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर पहले कोई भिक्षु श्रमण ब्राह्मण आदि खड़ा होता तो भगवान उस घर में प्रवेश नहीं करते थे और न इस प्रकार का भी आचरण नहीं करते थे जिससे उन्हें उनके प्रति अप्रीति पैदा हो। क्योंकि इस तरह के कार्य से उनकी वृत्ति का छेदन होता और उनके मन में द्वेष की भावना भी पैदा होती। इस लिए भगवान उनको लांघकर किसी भी घर में नहीं जाते थे। यदि किसी व्यक्ति के द्वार पर पहले से ही कोई व्यक्ति खड़ा हो और वह अपना कार्य समाप्त करके वहां से चला न जाए तब तक साधक का वहां जाना नीति एवं सभ्यता के अनुकूल भी नहीं है। और वहां तो अन्य भिक्षुओं के वृत्ति-विच्छेद का प्रसंग होने के कारण भगवान पूरी तरह से सावधान रहते थे।

इससे स्पष्ट है कि भगवान सभी प्राणियों के रक्षक थे। वे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाते थे। इसलिए वे उन सब कार्यों से निवृत्त थे जो सावद्य थे एवं दूषित वृत्ति से किए जाते थे क्योंकि दूषित वृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है। आगम में बताया गया है कि क्रिया तीन तरह की होती है १-अधारणिका क्रिया २-परितापिनी क्रिया और ३-प्राणातिपातिकी क्रिया। जैसे अपनी आत्मा पर द्वेष करना दूसरे को परिताप देना और अपनी एवं दूसरे दोनों

छाया—अपि ध्यायति सः महावीरः, आसनस्थः अकौत्कुचः ध्यानम्।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् च प्रेक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ मे है। से—वे। महावीरे—भगवान महावीर। झाइ—ध्यान करते थे। आसणत्थे—आसनस्थ होकर। अकुक्कुए—मुखादि की चचलता को छोडकर। झाण—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। उड्ढ—ऊर्ध्व लोक। अहे—अधोलोक। य—और। तिरियं—मध्यलोक मे जो जीवादि पदार्थ है। वे उन द्रव्यों और उनकी पर्यायो की नित्यानित्यता का चिन्तन करते थे। और। समाहि—अन्त करण की शुद्धि को। पेहमाणे—देखते हुए। अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित होकर ध्यान करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, स्थिर आसन एवं स्थिर चित से धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। वे उस ध्यान मुद्रा मे ऊर्ध्व लोक, अधो-लोक और तिर्यग् लोक मे स्थित द्रव्य और उनकी पर्यायो के नित्यानित्य रूप का चिन्तन करते थे। वे अपने अन्तःकरण की शुद्धि को देखते हुए प्रतिज्ञा से रहित हो कर सदा ध्यान एव आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

हिन्दी विवेचन

साधना मे ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान के लिए सबसे पहली आवश्यकता आसन की है। ध्यान के लिए उत्कुटुक आसन, गोदुहिक आसन, वीरासन और पद्मासन आदि प्रसिद्ध हैं। इन आसनों से साधक शरीर को स्थिर करके मन को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन मे सलग्न होता है। भगवान महावीर भी दृढ आसन से धर्म एवं शुक्ल ध्यान ध्याते थे। इससे मन विषयों से हटकर आत्म-स्वरूप को समझने में लगता है, इससे कर्मों की निर्जरा होती है। ध्येय वस्तु द्रव्य और पर्याय रूप होती है। अत वह नित्यानित्य होती है। यह हम पहले बता चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है। अत ध्यान मे उसके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

पातञ्जल योग दर्शन मे भी योग के आठ अंग माने गए हैं— १-यम, २-नियम, ३-आसन, ४-प्राणायाम, ५-प्रत्याहार, ६-धारणा, ७-ध्यान और ८-समाधि। कुछ विचारक प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अग मानते हैं। कई साधक उत्साह, निश्चय, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन और देश त्याग को ही योग साधना मानते हैं

मन रुका रहता है। उसकी प्रक्रिया समाप्त हुई कि मन फिर इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगता है। इसलिए जैन दर्शन ने हठयोग आदि की साधना पर जोर न देकर सहज योग की बात कही। सहज योग कोई आगमिक प्रक्रिया का नाम नहीं है। आगम में योगों को या मन को वश मे करने के लिए ५ समिति बताई हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधक-जिस समय जो क्रिया करे उस समय तद्रूप बन जाए। यदि उसे चलना है तो उस समय अपने मन को चारों ओर के विचारों से हटाकर चलने में लगा दे, यहा तक कि चलते समय धार्मिक चिन्तन एव स्वाध्याय आदि भी न करे। इस तरह अन्य क्रियाए करते समय अपने योगों को उसमे लगा दे। जिस समय हलन-चलन की क्रिया नहीं कर रहा हो, उस समय अपने योगों का स्वाध्याय या ध्यान में लगा दे। इस तरह मन को प्रति समय किसी न किसी काम मे लगाए रखे, तो फिर उसे इधर-उधर भागने का अवकाश नहीं मिलेगा। वह सहज ही चिन्तन मे एकाग्र हो जाएगा। इसलिए इस साधना के लिए हमने सहज योग शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि इससे योगों को सहज रूप से एकाग्र किया जा सकता है।

इससे ये योग इतने सध जाते है कि निर्वाण के समय इनका निरोध करके आत्मा-सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। ससार मे रोक रखने के लिए आत्मा के साथ ६ पर्याप्त मानी गई हैं— १-आहार पर्याप्त, २-शरीर पर्याप्त, ३-इन्द्रिय पर्याप्त, ४-मन पर्याप्त, ५-भाषा पर्याप्त और ६-श्वासोच्छ्वास पर्याप्त। इनसे उन्मुक्त होकर ही आत्मा मुक्त हो सकता है। अत निर्वाण के समय आत्मा इनका भी निरोध कर लेता है। परन्तु, यकायक तो निरोध हो नहीं जाता। इसलिए साधक के लिए बताया गया है कि वह निराहार होने के लिए तप के द्वारा आहार को कम करते हुए शरीर पर से ममत्व हटाते हुए, इन्द्रिय एव मन को एकाग्र करते हुए मौन भाव को स्वीकार करके आत्म साधना में लीन रहे और समिति-गुप्ति के द्वारा योगों को अपने वश मे रखने का प्रयत्न करे। यह प्रक्रिया आत्म विकास के लिए उपयुक्त है। इसमें योगों के साथ किसी तरह की जबरदस्ती न करके उन्हें सहज भाव से आत्म साधना मे सलग्न किया जाता है।

भगवान महावीर ने इसी साधना के द्वारा योगों को अपने वश मे किया था। या यों कहिए कि अपने योगों को धर्म एव शुक्ल ध्यान मे सलग्न किया था। और आत्म-स्वरूप को पूर्णतया जानने के लिए उन्होंने अपने योगों को लोक के स्वरूप का चिन्तन करने में लगा दिया था। क्योंकि, किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही आत्मा लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। जो व्यक्ति एक पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को भी नहीं जान सकता। अत लोक के स्वरूप को जानने के लिए एक पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ

और कोई मन के निरोध को ही सर्व सिद्धि का कारण मानता है। ॥३॥

प्रस्तुत गाथा में आत्म विकास के लिए ३ साधन बताए हैं— १ आसन ध्यान और ध्येय—समाधि। आसनों के द्वारा साधक मन को एकाग्र कर लेता है। जैन योग ग्रन्थों में कुछ आसन ध्यान योग्य बताए गए हैं। जैसे— १-पर्यङ्कासन, २ अर्द्ध पर्यंकासन, ३-वज्रासन, ४-वीरासन, ५-सुखासन, ६-कमलासन और ७-कायोत्सर्ग*। इसके बाद यह बताया गया है कि जिस आसन से सुख पूर्वक स्थित होकर मुनि मन को एकाग्र कर सके, वही सबसे श्रेष्ठ आसन है†। ध्यान की विधि बताते हुए लिखा है कि अत्यन्त निश्चल सौम्यता युक्त एवं स्पन्दन से रहित दोनों नेत्रों को नाक के सामने स्थिर करे‡। ध्यान के समय मुख ऐसा शान्त हो जैसे कि वह तालाब जिसमें मत्स्य सो रहे हों। भ्रू निश्चल एवं विकार हीन हों, दोनों ओष्ठ न अधिक खुले हों और न जोर से बन्द किए हुए हों तात्पर्य यह है कि मुख पर किसी तरह की विकृति न हो वह शान्त एवं प्रसन्न हो।*

जैन दर्शन में मन, वचन और शरीर को योग कहा है। इन की शुभ वृत्तियों से चित्त की शुद्धि होती है और ध्यान, ध्याता एवं ध्येय इन तीनों की एकरूपता से समाधि प्राप्त होती है। इसी प्रारंभिक विकास को पदस्थ पिण्डस्थ रूपस्थ और रूपातीत का नाम देकर इन्हें धर्म ध्यान के अन्तर्गत माना है।

यह सत्य है कि धर्म ध्यान आत्म-विकास की प्रथम श्रेणी है और शुक्ल ध्यान चरम श्रेणी है। समस्त कर्मों का क्षय करके योगों का निरोध करते समय सर्वज्ञ पुरुष शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद का ध्यान करके ही योगों का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं। उस स्थिति तक पहुंचने के लिए या उस योग्यता को प्राप्त करने के लिए पहले धर्मध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

अन्य दर्शनों में राजयोग हठयोग आदि प्रक्रियाएं मानी हैं। इससे कुछ काल के लिए मन का निरोध होता है। जब तक हठ योग की प्रक्रिया चलती है, तब तक

---

* पर्यङ्कमर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः। —ज्ञानार्णव २८ १

† येन-येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्। —ज्ञानार्णव २८, ११

‡ नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके। —ज्ञानार्णव २८, ३५

* भ्रूवल्ली विक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं, विन्यस्तमुखपङ्कजम्। —ज्ञानार्णव २८, ३६

प्रमाद शुभ कार्य मे बाधक है, वह आत्मा को अभ्युदय के पथ पर बढ़ने नहीं देता है। इस लिए भगवान महावीर ने इसका सर्वथा परित्याग कर दिया था। छद्मस्थ अवस्था मे भगवान ने कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक की चौथी गाथा में भी बताया है कि भगवान ने अप्रमत्त भाव से साधना की और यहां इस बात को और स्पष्ट कर दिया है कि भगवान ने छद्मस्थ काल मे कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था॥।

छद्म का अर्थ होता है— छिद्र। यहा इसका तात्पर्य द्रव्य छिद्रों से नहीं, भाव-छिद्रों से है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को भाव छिद्र कहा है। अत ये भाव छिद्र जिस आत्मा मे स्थित है, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। और इनका क्षय कर देने पर व्यक्ति सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। साधना काल मे भगवान भी छद्मस्थ थे, इनका नाश करने के लिए वे प्रमाद का त्याग करके सदा आत्म-चिन्तन एव संयम-साधना में सलग्न रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सयमेव अभिसमागम्म आयतयोगमाय सोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ।१६।

छाया—स्वयमेव अभिसमागम्य, आयतयोगमात्मशुद्धया।
अभिनिर्वृत्तः अमायावी यावत् कथ भगवान् समित आसीत्॥

पदार्थ—सयमेव—स्वात्मा से तत्व का। अभिसमागम्म—जानकर भगवान तीर्थ-प्रवर्तन करने के लिए उद्यत हुए। आयसोहीए—आत्म शुद्धि से। आयत जोग—सुप्रणिहित मन, वचन और काय योग को धारण करके। अभिनिव्वुडे—वे कषायो के उपशम से अभिनिर्वृत्त हो गए थे। अमाइल्ले—माया से रहित होकर। भगव—भगवान। आवकहं—जीवन पर्यन्त। समियासी—पाच समिति और तीन गुप्तियो के परिपालक थे।

मूलार्थ—स्वतः तत्व को जानने वाले भगवान महावीर अपनी आत्मा को शुद्ध करके त्रियोग को वश मे करके कषायो से निवृत्त हो गए थे और वे समिति एव गुप्ति के परिपालक थे।

॥ इसकी व्याख्या अ० ६ उ० २ की गाथा ४ के विवेचन में विशेष रूप से की गई है।

द्रव्य और पर्याय युक्त है और लोक भी द्रव्य और पर्याय युक्त है। अतः पदार्थ के सभी पर्यायों का ज्ञान करने का अर्थ है संपूर्ण लोक का ज्ञान करना और संपूर्ण लोक का ज्ञान करने का तात्पर्य है पदार्थ को पूरी तरह जानना। इस तरह एक के ज्ञान में समस्त लोक का परिज्ञान और समस्त लोक के ज्ञान में एक का परिबोध संबद्ध है। इसलिए भगवान महावीर सदा लोक एवं आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए चिन्तन में संलग्न रहते थे*।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अकसाई विगय गेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थोवि परक्कममाणो,न पमायं सइंपि कुव्वित्था।१५।

छाया—अकषायी विगत गृद्धिश्च शब्दरूपेषु अमूर्च्छितो ध्यायति।
छद्मस्थोपि पराक्रममाणः, न प्रमादं सकृदपि कृतवान्।

पदार्थ—अकसाई—भगवान कषायों से रहित। य—और। विगयगेही—गृद्धिपन से रहित तथा। सद्दरूवेसु—शब्द रूपादि में। अमुच्छिए—अमूर्च्छित होकर। झाई—ध्यान करते थे। छउमत्थोवि—छद्मस्थ होने पर भी। परक्कममाणो—सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने। सइंपि—एक बार भी। पमायं—प्रमाद। न कुव्वित्था—नहीं किया।

मूलार्थ- श्रमण भगवान महावीर, कषाय को छोड़कर, रस गृद्धि को त्यागकर शब्दादि में अमूर्च्छित होकर ध्यान करते थे। छद्मस्थ होने पर भी सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद नहीं किया।

हिन्दी विवेचन

मन एवं चित्तवृत्ति को स्थिर करने के लिए राग द्वेष एवं कषायों का परित्याग करना आवश्यक है। जब तक जीवन में कषायों का अंधड़ चलता रहता है,तब तक मन की वृत्ति चिन्तन में एकाग्र नहीं हो सकती। दीपक की लौ हवा के झोंकों से रहित स्थान में ही स्थिर रह सकती है। इसी तरह चिन्तन की ज्योति कषायों की उपशान्त स्थिति में ही स्थिर रहती है। इसके परिज्ञाता भगवान महावीर ने साधना काल में मन एवं चित्त वृत्ति को आत्म-चिन्तन में एकाग्र करने के लिए राग-द्वेष एवं कषायों का परित्याग कर दिया और प्रमाद का भी त्याग करके राग-द्वेष का समूलतः नाश करने के लिए प्रयत्नशील हो गए।

* विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु मेरा लिखा हुआ 'अध्यात्म योग' अवश्य पढ़ें।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा मे किया जा चुका है। यहा इतना ध्यान रखे कि यह गाथा प्रस्तुत अध्ययन के चारों उद्देशकों के अन्त मे दोहराई गई है। इसमें 'माहणेण मईमया' विशेषण कुछ गम्भीरता को लिए हुए हैं। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर क्षत्रिय थे, फिर भी उनको मतिमान माहण-ब्राह्मण कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण शब्द विशेष प्रचलित रहा है। और इससे श्रमण सस्कृति के इस सिद्धान्त का भी स्पष्ट रूप से सकेत मिलता है कि जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता, बल्कि कर्म से होता है। भगवान महावीर की साधना माहण—हिंसा नहीं करने की साधना थी। वे सदा अहिंसा एव समता के झूले मे झूलते रहे हैं। इसी कारण उन्हें मतिमान ब्राह्मण कहा है। कहा वैदिक यज्ञ अनुष्ठान में उलझा हुआ, हिसा में अनुरक्त, रक्त रजित हाथों वाला ब्राह्मण और कहा अहिंसा, दया एवं क्षमा का देवता ब्राह्मण। दोनों की जीवन रेखा मे आकाश-पाताल जितना अन्तर। यही कारण है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा मे प्रचलित ब्राह्मण शब्द का अर्थ विकास करके घोर तपस्वी भगवान महावीर के लिए उसे विशेषण रूप से दिया है। इसके अतिरिक्त आचाराङ्ग सूत्र मे कई स्थलों पर आर्य, ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पण्डित, वेदविद् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर ने इन शब्दों के प्रयोग मे होने वाले हिंसा, शोषण एव उत्पीडन के जहर को अमृत के रूप मे परिणत करके इन शब्दों को गौरवान्वित किया और आर्य एव आर्यपथ को भी दिव्य-भव्य एव उन्नत बनाया।

'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया है कि भगवान ने किसी के उपदेश से दीक्षा नहीं ली थी वे स्वयं बुद्ध थे अपने ही ज्ञान के द्वारा उन्होंने साधना पथ को स्वीकार किया और राग-द्वेष, कषायों एवं प्रमाद का त्याग करके आत्म चिन्तन के द्वारा चार घातिक कर्मों का सर्वथा नाश करके व सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बने।

साधना पथ पर चलने वाले साधक के सामने कितनी कठिनाइएं आती हैं, यह भी उनके जीवन की साधना से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कह कर ही नहीं बल्कि स्वयं साधना करके यह बता दिया कि साधक को मारणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी अपने साधना मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे सदा प्रसन्न होने चित्त से परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए। इस तरह भगवान महावीर समिति-गुप्ति से युक्त होकर साढे बारह वर्ष तक विचरे और अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेष एवं घातिक कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ बने और आयु कर्म के क्षय के साथ अवशेष अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हो गए।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण, भगवया एवं रीयंति त्ति ।१७। त्तिबेमि

छाया—एष विधिः अनुक्रान्तः माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते। इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्नेण—प्रतिज्ञा से रहित। भगवया—ऐश्वर्य सम्पन्न। मईमया—मतिमान। माहणेण—भगवान महावीर ने। बहुसो—अनेक बार। एस विहि—उक्त विधि। का। अणुक्कंतो—आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधकों ने भी अपने आत्म-विकास के लिए। एवं—इसी प्रकार। रीयंति—परिपालन किया। त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हूं।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा से रहित ऐश्वर्य सम्पन्न परम मेधावी भगवान महावीर ने उक्त विधि का अनेक बार आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अपने आत्म विकास के लिए अन्य साधक भी इसी प्रकार परिपालन करते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में किया जा चुका है। यहा इतना ध्यान रखें कि यह गाथा प्रस्तुत अध्ययन के चारों उद्देशकों के अन्त मे दोहराई गई है। इसमें 'माहणेण मईमया' विशेषण कुछ गम्भीरता को लिए हुए हैं। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर क्षत्रिय थे, फिर भी उनको मतिमान माहण-ब्राह्मण कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण शब्द विशेष प्रचलित रहा है। और इससे श्रमण सस्कृति के इस सिद्धान्त का भी स्पष्ट रूप से सकेत मिलता है कि जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता, बल्कि कर्म से होता है। भगवान महावीर की साधना माहण—हिंसा नहीं करने की साधना थी। वे सदा अहिंसा एव समता के झूले में झूलते रहे हैं। इसी कारण उन्हें मतिमान ब्राह्मण कहा है। कहा वैदिक यज्ञ अनुष्ठान में उलझा हुआ, हिंसा में अनुरक्त, रक्त रंजित हाथों वाला ब्राह्मण और कहा अहिंसा, दया एव क्षमा-का देवता ब्राह्मण। दोनों की जीवन रेखा में आकाश-पाताल जितना अतर। यही कारण है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा में प्रचलित ब्राह्मण शब्द का अर्थ विकास करके घोर तपस्वी भगवान महावीर के लिए उसे विशेषण रूप से दिया है। इसके अतिरिक्त आचाराङ्ग सूत्र में कई स्थलों पर आर्य, ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पडित, वेदविद् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर ने इन शब्दों के प्रयोग में होने वाले हिंसा, शोषण एव उत्पीड़न के जहर को अमृत के रूप मे परिणत करके इन शब्दों को गौरवान्वित किया और आर्य एवं आर्यपथ को भी दिव्य-भव्य एव उन्नत बनाया।

'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ नवम अयथन समाप्त ॥

आचारांग सूत्र का उपसंहार

जैनागम में वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए सात नयों का उल्लेख किया गया है। उसमें ज्ञान एवं क्रिया नय प्रमुख हैं। इन दोनों नयों में सातों नयों का समावेश हो जाता है। और दोनों नय अपने-अपने विषय में प्रधान होते हुए भी दोनों सहयोगी हैं। साधना में न तो मात्र ज्ञान की प्रधानता है। और न अकेली क्रिया की। दोनों की सापेक्ष प्रधानता स्वीकार की गई है।

ज्ञान नय—

ज्ञान वादी का कहना है कि ज्ञान से समस्त पदार्थों के स्वरूप का परिबोध होता है। अतः वही मुक्ति का कारण है। कहा भी है कि ज्ञान से समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जाता है*। और अन्वय एवं व्यतिरेक से भी यह घटित होता है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। ज्ञान ही पुरुष को फल दे सकता है, परन्तु क्रिया से कोई फल नहीं मिलता। क्योंकि, मिथ्या ज्ञान युक्त व्यक्ति की प्रवृत्ति का यथेष्ट फल नहीं मिलता†। आगम में भी कहा है—पहले ज्ञान फिर क्रिया‡। इससे ज्ञान की महत्ता स्पष्ट सिद्ध होती है। सम्यक् ज्ञान के अभाव में कठोर से कठोर क्रिया-काण्ड का भी आत्म-विकास की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। इसलिए ज्ञान ही प्रधान है।

क्रिया नय—

क्रियावादी क्रिया को ही प्रमुख मानता है। उसकी दृष्टि में ज्ञान पंगु है वह कुछ भी नहीं कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर पहुँचना है, तो उस स्थान का ज्ञान उसे वहां नहीं पहुँचा सकता। चलने की क्रिया करके ही वह अपने निश्चित स्थान पर पहुँच सकता है। इस तरह प्रत्येक कार्य में क्रिया की प्रधानता है।

दोनों का समन्वय—

अपने अपने स्थान पर दोनों का महत्त्व है। साधना के क्षेत्र में दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु विभिन्न रूप में नहीं समन्वित रूप में। ज्ञान और क्रिया के अलग-अलग रहने से साध्य की सिद्धि नहीं है। साध्य की सिद्धि दोनों के समन्वय में

---

* ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

† विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य फलासम्भाव दर्शनात्।

‡ पढमं नाणं तओ दया। —दशवैकालिक सूत्र।

है। जैन दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति मिलती है। जैसे अकेला ज्ञान पङ्गु है, उसी तरह एकाकी क्रिया भी अन्धी है। ज्ञान देख सकता है परन्तु गति नहीं कर सकता। इस कारण वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुच सकता। इसी तरह क्रिया मे गति है परन्तु, देखने की शक्ति का अभाव होने से वह भी व्यक्ति को गन्तव्य स्थान पर सकुशल नहीं पहुचा सकती। कहीं उल्टे राह पर चल पड़ी तो उसे इधर-उधर भटका देगी। इस लिए निश्चित लक्ष्य पर पहुचने के लिए दोनों के सहयोग की आवश्यकता है।

यदि किसी स्थान मे आग लग गई है और वहा एक अधा और दूसरा पंगु है और दोनों उस स्थान से निकल कर सुरक्षित स्थान मे जाना चाहते हैं। परन्तु, वे तब तक वहां से निकल नहीं सकते जब तक दोनो एक दूसरे का आश्रय लेकर न चले। यदि अधा व्यक्ति पगु को अपने कन्धे पर न बिठाए और पगु व्यक्ति उसे मार्ग न बताए तो दोनों का मार्ग तय नहीं हो सकता। इसी तरह साध्य को सिद्ध करने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की आवश्यकता है।

आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके अयोगी गुणस्थान तक पहुच जाता है। वहा जाकर वह योगों का निरोध कर समस्त कर्मों एव कर्म जन्य साधनों से मुक्त हो जाता है। परन्तु इस साधना के लिए वहा पर भी शुक्ल ध्यान के चितन रूप क्रिया का आश्रय लेना होता है। ज्ञान के साथ उसके सयोग से ही वह सिद्धत्व को प्राप्त करता है अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इसलिए आगम मे कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया दोनों की समन्वित साधना से युक्त साधक अनादि अनन्त एव दीर्घ मार्ग वाले चार गति रूप ससार सागर से पार हो जाता है*।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साध्य को सिद्ध करने के लिए या निर्वाण पद पाने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों को समन्वित साधना की आवश्यकता है। प्रस्तुत आचाराग सूत्र मे इसी साधना का वर्णन किया गया है। पूर्व के आठ अध्ययनों मे जिस ज्ञान एव क्रिया की साधना का वर्णन किया था, प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि उसका स्वय भगवान महावीर ने आचरण किया था। और इस साधना के द्वारा ही भगवान चार घातिक कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ बने थे, और फिर आयु कर्म के साथ साथ शेष अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध बने थे। अत इस भावना के द्वारा प्रत्येक साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को सदा सयम साधना मे सलग्न रहना चाहिए

॥ श्री आचाराङ्ग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

* दोहिं ठाणेहिं अणगारे सपन्ने अणादीय, अणवयग्ग दीहमद्धं चाउरत ससार कतारं वितिवतेज्जा तजहा-विज्जाए चेव, चरणेण चेव। —स्थानाङ्ग सूत्र २, १, ६३।

❀ श्री आचाराङ्ग सूत्र ❀

॥ प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

पारिभाषिक शब्द-कोष

अकर्मभूमि-मनुष्य—जिस क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म(काम) नहीं करते। कल्पवृक्षों के द्वारा उनकी अभिलाषाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है।

अकल्पनीय—ग्रहण करने योग्य नहीं है।

अकुशल—सदोष।

अग्रबीज—जिस वनस्पति के अग्र- आगे के भाग मे बीज है, जैसे-नारियलादि

अगीतार्थ—जो साधु १६ वर्ष से कम आयु का है, वह वय-अगीतार्थ है और जो साधु श्रुत मे आचार-प्रकल्पागम अर्थात् आचाराङ्ग और व्यवहार एवं निशीथ के अर्थ का ज्ञाता नहीं है, वह श्रुत से अगीतार्थ है।

अचित्त—चेतना से रहित पदार्थ। जड पदार्थ अचित्त कहलाते है।

अचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से रहित है।

अचेलक—स्वल्प या मर्यादित वस्त्र-युक्त या वस्त्र रहित मुनि।

अतीरगम—ससार सागर को तैर कर किनारे पर पहुचने मे असमर्थ व्यक्ति।

अध्यवसाय—परिणाम या भाव-विचार।

अनगार—घर-परिवार से रहित साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ।

अनन्तानुबंधी-क्रोध—जिसके क्रोध का अनन्त-प्रगाढ अनुबन्ध-बन्धन है, अर्थात जिसके साथ वैर-विरोध हो गया, वह जीवन पर्यन्त बना रहता है, उसका क्रोध कभी समाप्त नहीं होता, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध कहते हैं।

अन्तर्द्रष्टा—आत्मा को देखने वाला, आत्म-चिन्तन करने वाला।

अन्तराय-कर्म—आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्राप्त करने मे रुकावट डालने वाला कर्म।

अन्तेवासी—गुरु की सेवा मे सलग्न रहने वाला या सदा गुरु की आज्ञा मे विचरने वाला शिष्य।

अनन्त—जिसका कहीं अन्त नहीं आता।

अनन्त चतुष्क—आत्मा मे १-अनन्त ज्ञान, २-अनन्त दर्शन, ३-अनन्त सुख और ४-अनन्त वीर्य (शक्ति) की सत्ता (अस्तित्व) रहती है।

अनन्य-आराम—जो मोक्ष-मार्ग या आत्म-साधना के अतिरिक्त अन्यत्र शान्ति या आराम का अनुभव नहीं करता। या जिसे आत्म-साधना मे ही आराम या शाति की अनुभूति होती है।

अनन्य दर्शी—यथार्थ द्रष्टा, आत्म-दर्शी।

अन्य-लिंगी—जैनेतर साधु के वेश में।

अनर्थ-गत-जिज्ञासा—ससार के स्वरूप को जानने की अभिलाषा।

अनाथी मुनि—भगवान महावीर के युग का एक श्रमण, जिसने मगधाधिपति श्रेणिक को जीवन का यथार्थ रहस्य बताया था, इन्हें प्रतिबोध दिया था।

अनादित्व—पदार्थ के अस्तित्व में आने की कोई आदि नहीं है। अर्थात् जो पदार्थ अनन्त काल से विद्यमान है उस का कभी नया अभिनव निर्माण नहीं हुआ।

अनार्य देश—जहां के लोगों में अर्थसंग-हिंसा, दया प्रेम, स्नेह सत्य आदि का अभाव था। जो कठोर हृदय वाले एवं निर्दयी तथा परपीड़न में आनन्द मनाने वाले थे।

अनावृत—ढका हुआ नग्न पर्दे से रहित।

अनुकम्पा—किसी भी दुःखी प्राणी को पीड़ित देखकर आत्मा में कम्पन होना। दया-भाव जागृत होना।

अनुपमुक्त—जो पदार्थ अभी भोगा नहीं गया है।

अनुभवन—अनुभूति या अनुभव होना।

अनुभाग बन्ध—बन्धने वाले कर्मों का अनुभाग रस कैसा है? शुभ है या अशुभ मन्द है या तीव्र? इस तरह कर्म में रस के परिपाक को अनुभाग-बन्ध कहते हैं।

अनुमोदन—समर्थन।

अनुवर्तन—अनुसरण करना घूमते रहना।

अनुष्ठान—क्रिया साधना।

अनोपत्तर—संसार-प्रवाह को तैरने में असमर्थ व्यक्ति।

अप्काय—जिन जीवों ने पानी के शरीर को धारण कर रखा है।

अनभिष्व—इच्छा वासना एवं कामना से रहित।

अप्रतिबन्ध-विहारी—वायु की तरह बिना किसी प्रतिबन्ध के विचरण करने वाला साधक।

अपरिज्ञात—अनजान जिसे किसी पदार्थ के स्वरूप का बोध नहीं है।

अपरिमित—असीम (Boundless) जिसकी कोई सीमा या मर्यादा नहीं है।

अपवर्ग—मोक्ष या मुक्ति।

अपवाद—संयम-रक्षा के लिए विशेष परिस्थिति में जिस मार्ग का अवलम्ब लिया जाय।

अपारंगम—संसार-समुद्र को पार करने में असमर्थ व्यक्ति।

अपौरुषेय—जो पुरुष द्वारा निर्मित नहीं है अर्थात् ईश्वर द्वारा उपदिष्ट शास्त्र।

अभक्ष्य—जो पदार्थ खाने योग्य नहीं है।

अभ्याख्यान—अपलाप करना।

अभिग्रह—प्रतिज्ञा विशेष।

अवमोद—चारित्र से हीन शिथिलाचारी साधु या चारित्र एवं श्रद्धा से भ्रष्ट या रहित साधु-संन्यासी।

अयोगी गुणस्थान—आत्म-साधना का चरम विकास, इस गुणस्थान की आयु

कुछ वर्णों की है— अ इ उ ऋ और लृ के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उतने समय की। यहा पहुचते ही आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके कर्म-जन्य मन, वचन और काय (शरीर)योग का निरोध कर लेता है और तुरन्त सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

अर्थगत-जिज्ञासा—मोक्ष के अर्थ को जानने की जिज्ञासा-भावना।

अरणक—भगवान महावीर के १० श्रावकों (उपासकों) मे से एक श्रावक।

अरिहन्त—कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले महापुरुष।

अवधि-ज्ञान—मन और इन्द्रियों की विना सहायता के मर्यादित क्षेत्र मे स्थित रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानना-देखना।

अवमचेलक—स्वल्प एव मर्यादित वस्त्र से युक्त।

अव्रती—त्याग से रहित।

अवसर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमे ६ आरे-समय का एक माप, होते है। इसके प्रत्येक आरे मे सुख-समृद्धि, शरीर, संघयन, आयु आदि का ह्रास होता रहता है।

अविनाभाव-सम्बन्ध—जो सम्बन्ध एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकता। जैसे गुण और गुणी दोनों एक-दूसरे के अभाव मे रह नहीं सकते।

असयत—गृहस्थ या जो सयत-साधु नहीं है।

असवृत्त—सवर-आते हुए कर्म को रोकने की एक प्रक्रिया, से रहित है।

असदभियोग—झूठा आरोप लगाना।

असम्यक्—तत्त्वों एव लोक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का अभाव।

असुरकाय— राक्षस, नीच जाति के देव। भवनपति, वाणव्यन्तर जाति के देवों को असुर कहते हैं।

अशाश्वत—क्षणिक, सदा नहीं रहने वाला।

अहिंसा—किसी प्राणी का वध नहीं करना तथा उसे सक्लेश नहीं पहुचाना

आगम—शास्त्र, सूत्र।

आचार्य हेमचन्द्र—१२वीं शताब्दी के प्राकृत-सस्कृत के विद्वान जैनाचार्य, जिन्होंने जैन शास्त्रों पर टीकाए एव जैन दर्शन, योग शास्त्र, व्याकरण, काव्य, जीवन-चरित्र आदि विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थों के निर्माता।

आचाराङ्ग—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट १२ अग शास्त्रों मे प्रथम शास्त्र, जिसमे प्राय साध्वाचार का उपदेश दिया गया है।

आजीविक—मखली पुत्र गौशालक की सम्प्रदाय, आज उसका अस्तित्व नहीं रहा और न उसका साहित्य ही उपलब्ध होता है।

आर्तदर्शी— नर्क-तिर्यञ्च आदि गति में मिलने वाले दुःखों एवं आतंक को देखने वाला। या पाप-कर्म करते हुए डरने वाला।

आत्मतुला—आत्मा का तराजू अर्थात् कार्य करने से पूर्व वह उसे अपनी आत्मा की आवाज से परख लेता है।

आत्मवादी—आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला।

आत्मश्लाघा—अपनी आत्म प्रशंसा।

आत्यन्तिक—पूर्ण रूप से।

आधाकर्मी आहार—जो आहार आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त हिंसा करके तैयार किए जाते हैं।

आप्त—पूर्ण पुरुष-जिनमें राग-द्वेष या दोषों की जरा भी कालिमा अवशेष नहीं रही है।

आम—अपक्व पाप कर्म और आधाकर्म-जो आहार-पानी आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त से बनाए जाते हैं, दोष।

आयत—कभी समाप्त नहीं होने वाला स्वरूप मोक्ष।

आयुकर्म - जिस कर्म के कारण जीव (आत्मा) अपने शरीर में स्थित रहता है और जिसके समाप्त होते ही जीव (आत्मा) शरीर को छोड़ कर दूसरी गति या मोक्ष में चला जाता है।

आर्त—राग-द्वेष एवं विषय-कषाय से आवृत घिरा हुआ।

आर्त रौद्र ध्यान—दुःख से पीड़ित होकर सदा दुःख एवं शोक में डूबे रहना तथा स्व-दूसरे का समूलतः नाश करने का भाव रखना सदा अत्यधिक दुर्भावनाओं में डूबे रहना। दूसरे का नाश करने के उपायों को सोचते रहना।

आवृत—ढका हुआ, आच्छादित।

आवर्त—संसार।

आस्तिक्य—यथार्थ देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा विश्वास होना।

आहार संज्ञा—खाद्य पदार्थों का उपभोग करने की अभिलाषा।

इङ्गित मरण—मृत्यु को निकट जानकर समाधि पूर्वक मृत्यु का आह्वान करना अथवा जीवन पर्यन्त के लिए अनशन व्रत स्वीकार करके रखी हुई मर्यादित भूमि में ही विचरण करना।

इयत्ता—परिमितता एक सीमा।

ईर्यापथिक-क्रिया—राग-द्वेष से रहित तीर्थंकरों द्वारा की जाने वाली क्रिया इससे पुण्य-पाप किसी भी तरह का बन्ध नहीं होता। केवल प्रथम समय में कर्म आते हैं द्वितीय समय में वेदन-आत्म प्रदेशों से स्पर्शित होते हैं और तीसरे समय में झड़ जाते हैं।

ईर्या समिति—चलते समय विवेक पूर्वक देखकर चलना। अपने मन

वचन और काय योग को धर्म-चर्चा, चिन्तन-मनन एव अन्य सब विषयों से हटाकर मार्ग अवलोकन में लगाना।

उपभोगावशिष्ट—उपभोग-काम मे लेने के बाद शेष बचे हुए पदार्थ।

उत्पाद—उत्पन्न होना।

उत्सर्ग—वह मार्ग जिसकी साधना सदा-सर्वदा की जा सके। सदा आचरण करने योग्य साधना-पथ।

उत्सर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमे ६ आरे समय का एक नाप, होते हैं। इसके प्रत्येक आरे में सुख समृद्धि, शरीर, सघयन, आयु आदि की वृद्धि होती रहती है।

उद्गमन के दोष—आहार के वे दोष जो अन्ध अनुरागी भक्त के द्वारा लगाए जाते हैं। आधाकर्मी आदि—साधु के निमित्त आहार आदि बनाकर देना।

उत्पादन के दोष—आहार ग्रहण करने के वे दोष जो स्वाद लोलुप साधु के द्वारा सेवन किए जाते हैं।

उद्भिज—पृथ्वी का भेदन करके उत्पन्न होने वाले प्राणी टिड्डी, पतंगे आदि।

उदीरणा—जो कर्म अभी तक उदय में नहीं आए हैं, उन्हें विशेष प्रक्रिया के द्वारा समय से पहले ही उदय मे ले आने का नाम उदीरणा है

उद्देशक—अध्ययन के अनेक विभागों मे से एक विभाग। अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न विषयों मे से अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति

उपकरण—वस्त्र- पात्र आदि साधन या सामग्री।

उपदेष्टा—उपदेशक

उपधान—तप साधना की एक प्रक्रिया।

उपयोग—आत्मा की जानने एवं देखने की शक्ति, जिसे दर्शन और ज्ञान भी कहते हैं।

उपसर्ग—किसी देव-दानव या मानव द्वारा दिया जाने वाला कष्ट।

उपशम—शात, राग-द्वेष एव काषायिक भावों को उपशात कर देना।

उपादेय—स्वीकार करने योग्य।

उष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान में उष्ण-गर्म स्पर्श पाया जाता है।

ऋजु—सरल निष्कपट।

एक देश—एक भाग, एक हिस्सा।

एक शाटक—एक वस्त्र।

एषणा के दोष—आहार के वे दोष जो अनुरागी भक्त एव स्वाद लोलुप साधु दोनों के द्वारा लगाए जाते हैं

ओघ सज्ञा—जीव की अविकसित एव अव्यक्त चेतना अवस्था।

औदयिक भाव—कर्म प्रकृतियों का उदय भाव रहना।

औदारिक—हड्डी, मास, मज्जा, रक्त, वीर्य

आदि से युक्त स्थूल शरीर, जो मनुष्य और तिर्यञ्च में पाया जाता है।

औनोदर्य—अल्पाहार क्षुधा-भूख से कम आहार करना।

औपपातिक—उत्पत्तिशील, जन्मांतर में संक्रमण करने वाला या देव और नारकी। देव और नारकी के जन्म स्थान को उपपात कहते हैं और उपपात से उत्पन्न होने के कारण ये औपपातिक कहलाते हैं।

औपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की सातों प्रकृतियों को उपशम शांत कर दिया है, दबा दिया है

अंगिरा—एक महान् ऋषि। वैदिक परंपरा की मान्यता है कि ईश्वर ने इन ऋषियों (अङ्गिरा आदि) को वेदों का रहस्य बताया था।

अंडज—अंडे से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

अंतर्द्वीपज मनुष्य— लवण समुद्र में स्थित द्वीपों में जन्मने वाले मनुष्य। ऐसे यह क्षेत्र भी अकर्मभूमि ही है

अंतरीय—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र

कर्ता—कर्म-कार्य का करने वाला।

कर्म बद्ध—कर्मों से बन्धी हुई।

कर्मभूमि मनुष्य—जिस क्षेत्र में मनुष्य कृषि व्यापार, नौकरी एवं शस्त्रास्त्र का काम करके पुरुषार्थ करके अपना जीवन यापन करता है। उसे कर्म भूमि कहते हैं और उस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य को कर्मभूमि मनुष्य।

कर्मवादी—कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला।

कर्मास्रव—कर्म के आने का द्वार।

कल्प सूत्र—आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित एक शास्त्र जिस में मुनि-कल्प (मर्यादा), भगवान ऋषभदेव नेमिनाथ पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन का वर्णन, भगवान महावीर के शासन की पाट परम्परा (स्थविरावली) का वर्णन है।

कल्पातीत—जिनके लिए उनका अपना ज्ञान एवं आचरण ही कल्प या मर्यादा थी।

कषायमूलक—वध्यमान कर्म-कषाय के मूल निमित्त से बंधे हुए कर्म।

कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग करना।

कार्मण शरीर—संसार मे स्थित आत्मा के साथ लगा हुआ एक सूक्ष्म शरीर जो कर्मों को ग्रहण करता है और सदा उसके साथ रहता है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर यहीं रह जाता है परन्तु यह सूक्ष्म शरीर साथ रहता है और यही आत्मा को अपने उत्पत्ति स्थान पर ले जाता है।

काषायिक—कषाय-क्रोध, मान माया और और लोभ से युक्त भाव।

किंपाक फल—एक प्रकार का फल जो वर्ण रूप गंध रस से सुन्दर, सुवासित एवं स्वादिष्ट लगता है

परन्तु स्वभाव से विषाक्त होता है। यह खाने वाले को निष्प्राण बना देता है।

क्रियावादी—क्रिया-आचरण को मार्ग बताने वाला।

कुरान शरीफ—मुसलमानों का धर्म ग्रथ।

कुशल—निर्दोष।

कूटस्थ—बिना किसी परिवर्तन के सदा—सर्वदा बने रहना।

कृत-अकृत—करने योग्य हो या न हो।

केवल ज्ञान—इन्द्रिय, मन एव अन्य किसी भी ज्ञान की बिना अपेक्षा के तीनों लोक मे स्थित द्रव्यों एव उनके त्रिकाल-वर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत जानना-देखना।

केशी-श्रमण—भगवान पार्श्वनाथ (२३वें तीर्थंकर) के शिष्य, जो भगवान महावीर के शासनकाल मे विद्य-मान थे और गौतम-स्वामी के साथ विचार-चर्चा करने के बाद भ० महावीर के शासन में सम्मिलित हो गए।

क्षयोपशम—कर्म की कुछ प्रकृतियों को नष्ट कर देना और कुछ को शान्त कर देना अर्थात् उन्हें उभरने नहीं देना।

क्षयोपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमे दर्शन- मोह कर्म की कुछ प्रकृति क्षय एव कुछ का उपशम होता है।

क्षायिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की ७ प्रकृतियों का क्षय कर दिया गया है।

क्षेत्रज्ञ—अग्नि के वर्ण आदि को जानने वाला।

क्षेमकरी—कल्याणकारी।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान को आवृत्त करने—ढकने वाला कर्म।

खुदा—ईश्वर।

खेदज्ञ—अग्नि की दहन शक्ति को जानने वाला।

गजसुकमाल—कृष्ण-वासुदेव के लघु-भ्राता और भगवान अरिष्टनेमिनाथ के सुशिष्य, जिन्होंने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन सिद्ध-त्व को पा लिया।

गणधर—गण (साधु-साध्वी के समूह) को धारण करने वाले अर्थात् गण की व्यवस्था करने वाले। तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी को सूत्र रूप मे ग्रथित करने वाले। भगवान महावीर के इन्द्र-भूति गौतम आदि ११ गणधर थे।

गणि-पिटक—ज्ञान का पिटारा—ज्ञान-मजूषा (Treasure of Knowldge)

गति—ऐसे गति का अर्थ होता है—चलना। और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार उत्पत्ति स्थानों को भी गति कहते हैं। यहा गति का अर्थ उक्त चार गति रूप संसार है।

गति-आगति—जीव के आवागमन के स्थान।

गति त्रस—जिन जीवों ने त्रस नाम कर्म एवं गति का बन्ध होने से त्रस-हलन-चलन करने वाले, जीवन को प्राप्त किया है उन्हें गति-त्रस कहते हैं।

गुण—किसी वस्तु में रहने वाली पर्याय विशेष। और शब्दादि विषय, विषय-विकार को भी गुण कहते हैं।

गुणार्थी—विषय-वासना का अभिलाषी।

गुणी—वह वस्तु विशेष जिसमें गुण रहते हैं।

गुप्ति—मन, वचन और काय (शरीर) योग का गोपन करना।

गुरुत्व—भारीपन।

गौतम-स्वामी—भगवान महावीर के प्रथम और प्रमुख शिष्य एवं प्रथम—गणधर।

गोशालक—मंखली जाति का एक व्यक्ति जो भगवान महावीर की प्रतिष्ठा को देखकर उनकी तरह नके साथ रहने लगा और उन्हें अपना गुरु मानने लगा। वह ६ वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा। उसके बाद अलग होकर उसने अपना आजीवक संप्रदाय चलाया।

ग्रन्थि—गाँठ।

ग्रामधर्म—काम-वासना या भोगेच्छा।

ग्लान—वृद्ध रोगी और असमर्थ।

घातिक-कर्म—ज्ञान-दर्शन सुख और वीर्य-शक्ति, आत्मा के इन चार मूल गुणों की घात करने वाले अर्थात् उन्हें आवृत्त करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं।

घ्राणेन्द्रिय—नाक, नासिका।

चक्रवर्ती—सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकछत्र राज्य करने वाला शासक।

चण्डकौशिक-सर्प—एक भयंकर विषधर (सर्प) जिसकी फूंकार से मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक भी मर जाते थे, पेड़-पौधे पत्र पुष्प एवं फलों से रहित हो जाते थे जिस को निर्भयता पूर्वक भगवान महावीर ने उसकी बाम्बी पर जाकर उपदेश दिया और उसे निर्विष बनाकर उसके एवं जनता के जीवन को शान्तिमय बनाया।

चतुरिन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा नाक और आंख चार इन्द्रियें हैं।

चतुर्दश पूर्व—तीर्थंकर भगवान द्वारा उपदिष्ट विशाल ज्ञान जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

चारज्ञान—१ मति ज्ञान, २ श्रुत ज्ञान ३ अवधि ज्ञान ४ मनःपर्यव-ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। ये पांच ज्ञान सम्यग् ज्ञान माने गए हैं। इसमें से पहले चार ज्ञान।

चारयाम—अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह व्रत।

चारित्र—आत्मा में स्थित कर्म-प्रवाह को समाप्त करने की एक साधना

प्रक्रिया।

चारित्र धर्म—ज्ञान में उपदिष्ट साधना को जीवन में साकार रूप देना।

चारित्र मोहनीय—एक प्रकार का आवरण, जिसके रहते आत्मा त्याग मार्ग को स्वीकार नहीं कर पाता।

चार्वाक—एक भारतीय दर्शन, जो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और नरक स्वर्ग को नहीं मानता।

चूलिका—मूल ग्रंथ के विषय में रही हुई कमी को पूर्ण करने या विषय को स्पष्ट करने के लिए मूल ग्रन्थ के साथ जोड़ा गया ग्रंथ या अध्ययन।

चोलपट्टक—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र।

छट्ठा गुणस्थान—पूर्ण त्याग मार्ग स्वीकार करने का स्थान।

छद्मस्थ—जिन प्राणियों को सम्पूर्ण (केवल) ज्ञान नहीं हुआ है। जिन में अभी तक राग-द्वेष के भाव स्थित हैं।

जम्बू स्वामी—भगवान महावीर के पञ्चम गणधर और प्रथम आचार्य के सुशिष्य तथा भगवान महावीर के शासन के द्वितीय शास्ता—आचार्य।

जयन्ती—भगवान महावीर की ज्ञानवती एवं सेवा-निष्ठ उपासिका जिसने अनेक बार भगवान से प्रश्न पूछे थे।

जरायुज—जेर से आवृत्त उत्पन्न होने वाले प्राणी, गाय-भैंस आदि।

जाति स्मरण ज्ञान—आत्मा की एक शुद्ध अवस्था या भावना, जिसके द्वारा आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता बिना अपने निरन्तर सन्नी पञ्चेन्द्रि (मन युक्त पशु-पक्षी या मनुष्य) के किए गए अनेक या ६०० भवों को देख लेता है।

जिनकल्प—साधु जीवन की विशिष्ट साधना संघ से अलग रहकर एकाकी साधना करने वाले, दूसरों को उपदेश न देने वाले, शिष्य न बनाने वाले, अपने शरीर की भी सार-सम्भाल न करने वाले, नग्न रहने वाले साधु की मर्यादा।

जिनेन्द्र—राग-द्वेष के विजेता।

जिनेश्वर—राग-द्वेष रूप समस्त भाव शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले या मनोविकारों के विजेता।

जिनोपदिष्ट—राग-द्वेष विजेता तीर्थंकर भगवान के द्वारा उपदेशित—प्ररूपित।

जैनदर्शन—जिन भगवान तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्धान्त। जो आप्त पुरुषों द्वारा उपदिष्ट जैनागमों को प्रमाण मानता है।

तप—आहार-पानी, स्वाद, रस एव कषायों-क्रोध मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष का त्याग करना।

तादात्म्य सम्बन्ध—गुण और गुणी को एक रूपता का सम्बन्ध अर्थात् गुणी और गुण का स्वाभाविक या सदा स्थित रहने वाला सम्बन्ध।

तितिक्षा—सहनशीलता सहिष्णुता।

तीर्थंकर— साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका चतुर्विध चार प्रकार के संघ (समूह) को तीर्थ कहते हैं और इसके संस्थापक को तीर्थंकर। वर्तमान काल चक्र में २४ तीर्थंकर हुए हैं उनमें भगवान ऋषभदेव प्रथम हैं और भगवान महावीर अन्तिम।

तेजस्काय—जिन जीवों ने अग्नि के शरीर को धारण कर रखा है।

तेजोलेश्या—एक शक्ति जिसके द्वारा तपस्वी साधक अपने प्रतिद्वन्द्वी पर प्रज्वलनमान पुद्गल फैंकता है जिस से वह जलकर भस्म हो जाता है। इसे तेजो लब्धि भी कहते हैं।

तेरहवां गुणस्थान—जहां राग-द्वेष का अभाव होने से कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु मन वचन और काय-योग का सद्भाव होने से केवल कर्म आते हैं और तुरन्त झड़ जाते हैं। यहां आत्मा को पूर्ण ज्ञान होता है।

तैजस शरीर—पाचन क्रिया करने वाला एक सूक्ष्म शरीर। यह शरीर भी संसार अवस्था में जीव के सदा साथ रहता है।

त्रस स्थावर—जो प्राणी त्रास पाकर दुःख से बचने के लिए सुख के स्थान में आ जा सकते हैं वे त्रस और जो कहीं आ जा नहीं सकते, एक जगह स्थिर रहते हैं वे स्थावर। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस और एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहलाते हैं।

त्रिकाल धर्मी—तीनों काल में वर्तने वाला।

त्रि-करण—किसी कार्य को करना, करवाना और समर्थन करना।

त्रिरत्न—सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों मार्गों का सम्मिलन।

त्रि-याम—जीवन की तीन अवस्थाएं-प्रथम याम ८ से ३० वर्ष मध्यम-याम ३० से ६० वर्ष और अन्तिम याम ६० वर्ष से लेकर अन्तिम-सांस तक का समय। या सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र या हिंसा झूठ और परिग्रह का परित्याग

त्रि-योग—मन वचन और काय (शरीर) योग।

त्रीन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा और प्राण-नाक, केवल तीन इन्द्रियां होती हैं।

त्रैकालिक रूप—अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों काल में समान रूप से विद्यमान रहने वाला।

दण्ड रूप—हिंसक।

दर्शनमोहनीय—सम्यक् श्रद्धा पर मोह कर्म का आवरण, जिससे जीव तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं कर पाता।

दर्शन सप्तक— अनन्तानुबंधी प्रगाढ क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-मोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय इन सात प्रकृतियों को दर्शन सप्तक कहते हैं। जब तक इनका उदय रहता है, तब तक सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

दर्शनावरणीय कर्म— अवलोकन करने की सामान्य दृष्टि को आवृत्त करने वाला कर्म।

दशवैकालिक सूत्र—शय्यंभवाचार्य द्वारा संकलित और चार मूल शास्त्रों मे से पहला मूल शास्त्र जिस मे साध्वाचार का वर्णन है।

दुख प्रतिघात—दु खों का नाश करना या दु खों से छुटकारा पाना।

दुष्प्रत्याख्यान—बुरा या मिथ्या त्याग।

देवदूष्य वस्त्र—तीर्थंकरों को दीक्षा लेते समय इन्द्र द्वारा दिया जाने वाला एक वस्त्र। तीर्थंकर इस वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र ग्रहण नहीं करते।

देवर्द्धिगणि-क्षमा श्रमण— भगवान महावीर के लगभग ६०० वर्ष बाद होने वाले आचार्य, इन्होंने ही वी. सं. ६८० में आगमों को सर्व प्रथम लिपिबद्ध किया था।

द्रव-द्रवित—तरल (Liquid) पदार्थ, परन्तु यहा इसका अर्थ है, सयम साधना या राग द्वेष से निवृत्त होना।

द्रविक—रागद्वेप से निवृत्त होने वाला साधक

द्रव्य—वस्तु का मूल स्वभाव। पदार्थ।

द्रव्य-उपधि—कर्म एव कर्मजन्य साधन-मन, वचन और काय (शरीर) योग।

द्वादशांगी—१२ अङ्ग सूत्र, जिन्हें शास्त्र या आगम भी कहते हैं।

द्वीन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर और जिव्हा सिर्फ दो इन्द्रियें ही हैं।

धर्म ध्यान—आत्मा एव लोक के यथार्थ स्वरूप का आत्म ज्योति को विकसित करने के लिए, चिन्तन करना

धर्म सज्ञा—धर्म पथ या साधना मार्ग पर चलने की भावना का उद्बुद्ध होना

धुत—आत्मा पर लगे हुए रागद्वेष के मैल को हटाना।

ध्यान—चिन्तन मनन।

ध्रुवाचारी—मोक्ष प्राप्ति के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र, का परिपालन करने वाला साधक।

धृति—सहनशीलता।

ध्रौव्य—नित्यत्व, वस्तु का सदा सर्वदा स्थायी रहना।

नव तत्व—जैन दर्शन जीव, अजीव (जड), पुण्य, पाप, आस्रव (कर्म के आने का द्वार), संवर (आने वाले कर्मों को रोकने की एक प्रक्रिया) निर्जरा (कर्मों को एक देश से क्षय करने की साधना), बन्ध (कर्मों का बन्धना) और मोक्ष

(कर्मों से सर्वथा मुक्त होना), इन नव को मूल तत्त्व (Elements) स्वीकार करता है।

नागासाकी और हिरोशिमा—जापान के दो बड़े शहर, जिन्हें द्वितीय विश्व-युद्ध में अमेरिका ने अणुबम गिराकर नष्ट कर दिया था।

नास्तिक—जिसे आत्मा-परमात्मा स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्मादि में विश्वास नहीं है।

निकाचित—जो कर्म इतने चिकने एवं प्रगाढ़ बन्ध गए हैं कि उन्हें जिस रूप में बन्धे हैं उस रूप में भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।

निगोद—जीव के उत्पत्ति स्थान की वह योनि जहां एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं और अनन्त काल तक वहीं जन्म-मरण करते रहते हैं।

निग्रह—दमन।

निदान—कामना फल की इच्छा एवं वासना।

निधत—कषायों के कारण जिन कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो चुका है।

निमज्जित—डूबा हुआ।

नियागप्रतिपन्न—सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र से युक्त।

निराम—पवन निष्पाप और आधाकर्म आदि दोषों से रहित।

निरावरण—आवरण या कर्म एवं अज्ञान के पर्दे से रहित।

निरुक्ति—व्याख्या।

निरुपक्रमीआयुष्य—किसी प्रकार का उपक्रम-आघात लगने पर भी जीव का आयुष्य कम नहीं होता।

निर्ग्रन्थ—धन-धान्य आदि द्रव्य परिग्रह और राग-द्वेष काम, क्रोधादि भाव परिग्रह, की गांठ से रहित साधु।

निर्जरा—आत्मा पर चिपटे हुए कर्मों को तप स्वाध्यायादि साधना के द्वारा आत्मा से अलग करना।

निर्द्वन्द्व—द्वन्द्व संघर्ष रहित।

निर्युक्ति—जैन आगमों (शास्त्रों) पर प्राकृत भाषा में की गई गद्य या पद्यमय व्याख्या (टीका)।

निर्वाण—मुक्ति।

निर्वेद—वैराग्य भाव या वेद-सांसारिक विषय-वासना से निवृत्त होना।

निवृत्ति—अपनी वृत्ति को संसार से हटा लेना।

निष्कम्प—कम्पन रहित, स्थिर।

निष्कर्म-दर्शी—निष्कर्म सिद्ध बनने की दृष्टि (भावना) या सिद्धत्व को प्राप्त करने का अभिलाषी।

निश्चय दृष्टि—वास्तविक एवं यथार्थ दृष्टि।

नैसर्गिक—स्वभाव से या दूसरे के उपदेश के बिना ज्ञान का होना।

पञ्च मुष्ठि लुञ्चन—सिर के सभी बालों को जो पांच मुष्ठि स्थान में विभक्त है, अपने हाथ से लुंचन करना (उखाड़ना)।

पञ्चाचार—१ ज्ञान आचार, २ दर्शन आचार ३ चारित्र आचार, ४ तप आचार और ५ वीर्य पुरुषार्थ आचार।

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र,तप और वीर्य पुरुषार्थ का आचरण करना।

पञ्चेन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिव्हा, नाक, आख और कान पाचों इन्द्रिए हैं।

पण्डित—ज्ञानी, सम्यग् दृष्टि। सम्यग् ज्ञान से युक्त, पापों से डरने या बचने वाला।

पण्डित मरण—ज्ञान पूर्वक मरण भाव को प्राप्त होना। अर्थात् समस्त पापों एव ममत्व भाव का परित्याग करके शान्त भाव से मृत्यु का आह्वान करना।

पाच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

पाच याम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय; ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत।

पांडित्याभिमानी—जिसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान है।

पर-प्रकाशक—ज्ञान, अपने ज्ञान से दूसरे पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है- परन्तु अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता।

परम मेधावी—श्रेष्ठ-पूर्ण ज्ञानी।

परमाणु—पुद्गल का वह सबसे छोटा हिस्सा जिसका एक से दूसरा विभाग न हो सके।

पर-व्याकरण—दूसरे का उपदेश या तीर्थंकर भगवान का उपदेश।

परिग्रह—धन-सम्पत्ति एव पदार्थों में आसक्ति ममत्व भाव एवं तृष्णा रखना।

परिग्रह सज्ञा—पदार्थों एव भोगोपभोग के साधनों तथा धन वैभव पर आसक्ति भाव एवं तृष्णा का जागृत होना।

परिणामी—परिवर्तित होने वाला।

परिणामी नित्य—वस्तु का पर्यायों की बदलती हुई स्थिति में भी द्रव्य रूप से स्थायी रहना।

परिद्यून—जीर्ण-शीर्ण।

परिताप—विशेष ताप-कष्ट।

परितापनी क्रिया—दूसरे की आत्मा को परिताप-सन्ताप का कष्ट देना।

परिबोध—ज्ञान।

परिमित—सीमित।

परिवन्दन—अभिनन्दन या प्रशसा।

परिव्राजक—संन्यासी।

परीषह—शीत उष्णादि का कष्ट।

परेतर-उपदेश—पर का अर्थ यहा तीर्थंकर है। अत तीर्थंकर से अतिरिक्त किसी अन्य महापुरुष का उपदेश।

पर्युषित—बासी आहार।

पर्व बीज—जिस वनस्पति की गांठों में बीज होता है, गन्ना, बांस आदि।

प्राणातिपातिनी क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा को कष्ट-पीड़ा देना या किसी के प्राणों का नाश कर देना।

पादोपगमन—मृत्यु को निकट जानकर साधक सदा के लिए आहार-पानी का

त्याग करके निर्लेप्ट होकर वृक्ष की टूटी हुई शाखा की तरह निष्कम्प भाव से पड़ा रहता है।

पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी या साध्वाचार से गिरे हुए अथवा जिनके पास चारित्र का प्रतीक वेश तो है, परन्तु जीवन में आचरण क्रियान्वित नहीं है।

पुद्गल—जड़ पदार्थ; अणु-परमाणु पुद्गल का शुद्ध रूप है अनन्त अनन्त परमाणुओं के मिलने से एक स्कन्ध बनता है, जिसे आत्मा कर्म रूप से ग्रहण करता है और वही स्कन्ध इन्द्रिय एवं मन के द्वारा जाना देखा जा सकता है।

पुनर्जन्म—जब तक कर्मों का पूर्णत: क्षय न हो जाए तब तक मृत्यु के बाद पुन: जन्म ग्रहण करना।

पुरुष—आत्मा। सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष शब्द से संबोधित किया है।

पुरुष प्रमाण मार्ग—चलते समय अपने सामने का साढ़े तीन हाथ लम्बा क्षेत्र।

पैगम्बर—खुदा (ईश्वर) का सन्देश वाहक।

पोतज—चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले प्राणी हाथी आदि।

प्रकृति—जड़ तत्त्व। सांख्य दर्शन जड़ पदार्थों को प्रकृति मानता है।

प्रकृति बन्ध—कर्मों की प्रकृति-स्वभाव का बंध होना अर्थात् आने वाले कर्म ज्ञानावरण हैं दर्शनावरण हैं या अन्य प्रकृति के हैं।

प्रज्ञापना सूत्र—१२ उपांग सूत्रों में से चतुर्थ उपांग शास्त्र।

प्रज्ञावान—पदार्थों के हेय और उपादेय स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता, ज्ञानी।

प्रच्छन्न—छिपी हुई।

प्रतिमासंपन्न—विशेष प्रतिज्ञा धारण करने वाला साधक।

प्रतिलेखन—वस्त्र पात्र आदि उपकरणों का सम्यक्तया अवलोकन करने की एक प्रक्रिया।

प्रत्यक्षीकरण—साक्षात् अनुभव।

प्रत्याख्यान—त्याग, नियम एवं प्रतिज्ञा ग्रहण करना।

प्रत्येक बुद्ध—अपनी आत्म प्रेरणा एवं आत्मजागृति से साधना पथ पर गतिशील साधक।

प्रदेश बंध—कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में प्रविष्ट होना।

प्रदेशी राजा—श्वेताम्बिका नगरी का राजा जो किसी समय नास्तिक था परन्तु भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण के प्रतिबोध से जैन बन गया था।

प्रद्वेषिका क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा पर द्वेष करना।

प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी सज्जन पुरुष।

प्रभूत—अत्यधिक ऐसा खजाना जो कभी समाप्त नहीं होता।

प्रमादी—विषय कषाय मद मत्सर मिथ्यात्व आदि विकार प्रमाद हैं। अतः इन विकारों में संलग्न रहने वाला

योनि—जहा जीव जन्म ग्रहण करता है।

योनिपद—प्रज्ञापना सूत्र का वह विभाग जिसमें योनि-उत्पत्ति-स्थानो का वर्णन किया है।

रजोहरण—जीवों की यतना एव मकान आदि को साफ करने के लिए रखा जाने वाला ऊन का गुच्छक, यह साधु की साधुता का चिन्ह भी है।

रत्न-त्रय—सम्यक् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र।

रम्यमान—रमण करने वाला।

रसज—खाद्य पदार्थों मे रस के विकृत होने से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

रहनेमि—भगवान अरिष्ट-नेमि का लघुभ्राता जिसने राजमति को अपने साथ भोग भोगने का आमन्त्रण दिया था और उससे प्रतिबोध पाकर साधना पथ पर दृढ हुआ।

राजमती—मथुरा के महाराज उग्रसेन की पुत्री, जिसका सम्बन्ध भगवान अरिष्ट नेमि के साथ हुआ था और पशुओं की रक्षा के लिए जब अरिष्ट नेमि उसे त्याग कर साधना करने चले गए, उस समय वह भी दीक्षित हो गई।

लोक—ससार, राग-द्वेप एव कापायिक भाव।

लोकवादी—लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला।

लोक-सज्ञा—लोक मे प्रचलित रूढ़ियों एव परम्पराओं पर विश्वास रखना।

लब्धि—शक्ति, आत्मा की एक ताकत।

लब्धि-त्रस—स्थावर नाम कर्म के उदय से जो एकेन्द्रिय जाति मे उत्पन्न हुए है, परन्तु फिर भी उनमे चारों दिशाओं मे गति करने की शक्ति है, उन्हें स्थावर होते हुए भी लब्धि-त्रस कहते है, जैसे—वायु और अग्नि।

लाघवता—हल्कापन या कमी।

लाढ़-देश—यह बङ्गाल मे विहार की सीमा के निकट स्थित है, यहा के लोग अनार्य थे। यहा की भूमि वज्र कठोर होने से इसे वज्र भूमि भी कहते हैं।

लेश्या—परिणामों की शुभाशुभ धारा।

लोकभय—परिवार, समाज एव राष्ट्र का भय

वज्रऋपभनाराचसघयण— इसमे शरीर की हड्डियां वज्र की तरह मजबूत होती है, उसमे वज्र सी हड्डी का कील और उसी का मर्कट वन्ध लगा रहता है। इस कारण वज्रऋपभनाराचसघयण वाले व्यक्ति पर शस्त्र-अस्त्र का जल्दी आघात नहीं लगता।

वज्रवत—वज्र की तरह कठोर।

वनस्पति-काय—जिन जीवों ने हरी-सब्जी, फल-फूल, पत्ते, अनाज के शरीर को धारण कर रखा है।

वात्स्यायन—एक वैदिक ऋषि, जिन्होंने काम-सूत्र (काम-शास्त्र) की रचना की है

वायु-काय—जिन जीवों ने हवा के शरीर को धारण कर रखा है।

विक्षिप्त—पागल।
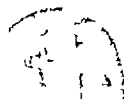
विचिकित्सा संज्ञा— सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म एवं तत्त्वों में संशय करना।

वितण्डावाद—विचार-चर्चा के समय एक दूसरे पक्ष को परास्त करने के लिए तर्क के साथ छल-कपट का सहारा लेकर या हो-हल्ला मचाकर प्रतिपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न करना।

विरूपक—बीभत्स एवं अमनोज्ञ स्वरूपवाला

विवृत-योनि—जो उत्पत्ति स्थान अनावृत है खुला है स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

विहार—पैदल घूमता पद यात्रा।

वेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख-दुःख का संवेदन होता है।

वेद—वैदिक-ब्राह्मण परम्परा के द्वारा मान्य शास्त्र।

वेदवित्—तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का बताने वाले आगम को वेद कहते हैं और इन आचारांगादि आगमों को जानने वाला वेदवित्।

वेदोदय—स्त्री पुरुष या नपुंसक वेद का उदय अस्तित्व म आना।

वैक्रिय—वह शरीर जिस में हड्डी मांस आदि नहीं होता और जो भाव इच्छानुसार विभिन्न रूपों एवं आकारों में बदला जा सकता है। वह नारकों और देवों में पाया जाता है।

वैक्रियशक्ति—एक शक्ति जिस के द्वारा साधक अपनी इच्छानुसार वि भिन्न रूप बना सकता है।

वैदिक-दर्शन—वेद एवं श्रुति-स्मृति को प्रमाण मानने वाला दर्शन।

वैदिक परम्परा—जो दर्शन या संप्रदाय वेदों को ही प्रमाण मानती है।

वैयावृत्य—सेवा।

व्यय—क्षय होना विनाश को प्राप्त होना।

व्यवच्छेद—छेदन।

संज्ञा—ज्ञान।

संगम देव—एक अज्ञानी देव जो भगवान महावीर को साधना पथ से भ्रष्ट करने आया और उन्हें ६ महीने तक विभिन्न कष्ट देता रहा, परन्तु अपने उद्देश्य में असफल रहा। भगवान को साधना पथ से नहीं गिरा सका।

संस्थान—शरीर की आकृति।

संठाण—शरीर की बनावट।

संयम—अपनी आत्मा को विषय वासना, विकारों एवं पाप कर्मों से निवृत्त करना। श्रमण मुनि या सन्त जीवन की साधना।

संलेखना—शरीर आदि पदार्थों एवं आहारादि पर ममत्व को हटाने की एक साधना जिसमें साधक तप के द्वारा अपनी वृत्तियों का संकोच कर लेता है।

संवृत योनि—जो उत्पत्ति स्थान प्रच्छन्न है, ढका हुआ है।

सवृत्त-विवृत्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान कुछ आवृत्त और कुछ अनावृत्त-खुला भी है।

संवेग—समभाव को अधिक वेग देना अर्थात् समभाव की अभिवृद्धि।

संस्तारक—तृण या घास-फूस की शय्या।

संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणी, जू, लीख आदि।

सांख्यदर्शन—भारतीय षट्-दर्शन में एक दर्शन, जिसके उपदेष्टा महात्मा कपिल थे।

सान्तरोत्तर—एक अन्तर-पट और दूसरा उत्तर-पट अर्थात् एक धोती के स्थान पर पहनने का वस्त्र और दूसरा शरीर के अन्य भाग को ढकने का वस्त्र-चद्दर।

सचित्त—चित्त अर्थात् चेतना से युक्त। हरी वनस्पति, पानी, अग्नि आदि सचित्त पदार्थ कहलाते हैं।

सचित्ताचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव एव अजीव दोनों के प्रदेशों से युक्त है।

सचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से युक्त है।

सन्धि—जोड़ना। दर्शन और चारित्र मोहनीय और ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना भाव सन्धि कहलाता है, जिससे सम्यग् दर्शन और ज्ञान चारित्र की प्राप्ति होती है। आचाराङ्ग मे 'सन्धि' शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

सन्नी—मनयोग से युक्त प्राणी अर्थात् जिन प्राणियों के मन है।

सन्मति—अच्छी बुद्धिवाला। भगवान महावीर का नाम।

समचौरंस संठाण—शरीर का एक प्रकार। सर्वांग परिपूर्ण और सुन्दर आकार को समचौरस संठाण कहते हैं।

समनोज्ञ—चारित्र एव आचार संपन्न साधु।

समवाय सम्बन्ध—किसी पदार्थ के सामने आने पर आत्मा का उसके साथ होने वाला सम्बन्ध।

समिति—विवेक एवं यत्ना पूर्वक साधना पथ में प्रवृत्त होना। साध्य की सिद्धि के लिए साधना काल मे की जाने वाली प्रवृत्ति में विवेक, यत्ना एव समभाव को बनाए रखना।

सम्मूर्च्छिम-मनुष्य—माता-पिता के संयोग के बिना मल-मूत्र आदि अशुचि-जन्य स्थानों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य।

सम्यग् ज्ञान—तत्त्वों एव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान-बोध।

सम्यक्त्व—तत्वों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा-निष्ठा रखना।

सम्यक्तया—भली-भाति, अच्छी तरह या सोच-विचार कर।

सरागता—परिणामो मे राग-द्वेष से युक्त भावों का सद्भाव।

सर्वज्ञ—सम्पूर्ण लोकालोक मे स्थित पदार्थों

के दोनों काल के स्वरूप को अपरोक्ष शुद्ध आत्म ज्योति से स्पष्ट देखने वाले महापुरुष।

सर्वथा पृथक्—पूर्ण रूप से अलग।

सागरोपम—समय का एक परिमाण। (कल्पना कीजिए कि यदि युगलियों के नव जात शिशु के बालों को इतना सूक्ष्म कर दिया जाए कि वे आंख में न खटकें इस प्रकार के बाल खण्डों से एक योजन लम्बे चौड़े और गहरे कुएं को ठसाठस भर दिया जाए। फिर उस कुएं में से एक एक बालखंड सौ-सौ वर्ष के पश्चात् निकाला जाए। जितने समय में वह कुआं खाली हो उसे एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे दस करोड़ा-करोड़ा कुएं खाली हों उतने समय को एक सागरोपम कहते हैं।)

सादित्व—पदार्थ के अस्तित्व में आने की आदि।

साधनाविमुख—साधना के पथ पर बढ़ने वाला

साध्य-सिद्धि—अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लेना या अपने मुक्ति के उद्देश्य या ध्येय को पूरा कर लेना

साम्परायिक-क्रिया—कषाय युक्त भाव से की जाने वाली क्रिया। इससे व्यक्ति सात या आठ कर्म का बन्ध करता है और संसार में परिभ्रमण करता है।

सामायिक—जिस क्रिया या साधना से सम भाव का लाभ होता हो समभाव की अभिवृद्धि होती हो।

सामिष—मांसाहार।

सावद्य—पाप-युक्त।

सावद्य औषध—सदोष औषध या साधु के निमित्त जिस औषध बनाने में अनेक जीवों का वध होता हो।

सिद्ध-बुद्ध—समस्त कर्मों का नाश करके जन्म मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त होने वाली आत्मा।

सिद्धभगवान—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके जन्म-मरण के दुःखों से एवं कर्म तथा कर्म-जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त आत्मा।

सुधर्मा-स्वामी—भगवान महावीर के पञ्चम गणधर और उनके शासन के प्रथम आचार्य-शास्ता।

सुप्रत्याख्यान—सच्चा यथार्थ एवं अच्छा त्याग

सूत्रकार—शास्त्रों के उपदेष्टा।

सोपक्रमी-आयुष्य—किसी प्रकार उपक्रम-आघात लगने पर जीव का आयुष्य कम भी हो सकता है।

स्कन्ध बीज—जिस वनस्पति के स्कन्ध में बीज है

स्थविर कल्प—संघ में रहकर मर्यादित वस्त्र पात्र रखने एवं आहारादि में मर्यादित काल के लिए रहकर धर्मोपदेश देने एवं शिष्य बनाने वाले साधु निर्ग्रन्थों का कल्प-मर्यादा।

स्थानाङ्ग सूत्र—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी वाणी में अंग शास्त्र।

स्थिति बन्ध—बन्धने वाला कर्म कितने समय की आयु वाला है अर्थात् बन्धने

पाने कर्म के काल या समय को कहते हैं।

[illegible]—आचार्य भद्रबाहु के शिष्य जिन्होंने आचार्य भद्रबाहु से १० पूर्व का अध्ययन किया था। इन नाम से ये अन्तिम १० पूर्वधर माने जाते हैं।

[illegible]—जो सर्वविरत [illegible] है।

स्याद्वाद—अनेक नयों-अपेक्षाओं से युक्त भाषा।

स्व प्रकाशक—ज्ञान अपने स्वरूप को प्रकाशित करता—जानता है।

स्वमति—अपनी बुद्धि, अपने विचार और अपना ज्ञान।

स्वर्ग—मर्त्य लोक से ऊपर एक लोक विशेष, जहाँ आत्मा मर्त्य लोक में किए हुए शुभ कर्म के फल का उपभोग करती है। या देवताओं के रहने का स्थान विशेष।

स्वलिंग—जैन साधु के वेश में।

स्वसंवेदक—अपने ज्ञान का स्वयं को संवेदन अनुभव होना।

[illegible]—अपने से अतिरिक्त-भिन्न पदार्थ।

स्वानुभूति—आत्मा को अपने ज्ञान से अपने स्वरूप का अनुभव होना।

अवगाहना—शरीर की उंचाई।

शस्त्र-परिज्ञा—शस्त्रों की भयकरता को जानकर, उसका परित्याग करना।

शाक्य—बौद्ध भिक्षु।

शीतयोनि—वह उत्पत्ति स्थान, जिसमें शीत तथा स्पर्श पाया जाता है।

शीतलेश्या—एक शक्ति, जिसके द्वारा शावक तेजोलेश्या से प्रक्षिप्त जलाने वाले पुद्गलों को शान्त, प्रशान्त कर देना है।

शीतोष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श ठण्डे और गर्मपन से मिश्रित है।

शील—संयम, महाव्रतों का परिपालन, तीन, गुप्ति का आराधन, ५ इन्द्रिय एवं कषायों का निग्रह, ब्रह्मचर्य।

शुक्ल ध्यान—राग-द्वेष से रहित होकर आत्मा की शुद्ध परिणति में रमण करना

शोक भय—प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर विलाप करना।

श्रमण—मोक्ष की साधना में श्रम करने वाले साधु। जैन, बौद्ध, आजीवक और सांख्य मत के भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था।

श्रावक-श्राविका—जैन धर्म के आचार को अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक आंशिक रूप से स्वीकार करने वाले सद् गृहस्थ (पुरुष और स्त्री)

श्रुत—तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट वाणी या आगम-शास्त्र।

श्रुत केवली—चवदह पूर्व या सपूर्ण आगमों का ज्ञाता।

श्रुत-ज्ञान—जैन आगमों का स्वाध्याय, श्रवण और चिन्तन-मनन करने से प्राप्त होने वाला ज्ञान।

श्रुत ग्राही—श्रुत-आगमों को ग्रहण करने वाला।

श्रुत धर्म—आगम में उपदिष्ट ज्ञान की साधना करना।

श्रुतस्कन्ध – शास्त्र के विभाग (Volume)।

श्रेणिक – मगध-देश का सम्राट, भगवान महावीर का उपासक भक्त जिसे बौद्ध साहित्य में बिम्बसार नाम से सम्बोधित किया गया है।

हरिकेशी मुनि – चण्डाल शूद्र कुल में उत्पन्न मुनि, जो साधना के द्वारा देवों का भी वन्दनीय बन गया। उत्तराध्ययन के १२ वें अध्ययन में इनके जीवन एवं साधना का वर्णन आता है।

हलुकर्मी – जल्दी प्रतिबोध पाने वाले व्यक्ति, जिनका संसार परिभ्रमण स्वल्प रह गया है।

हेय – त्यागने योग्य।

समाप्त